A-195
...र्वेद-भाष्यम्
(...वरण-सहितम्)
958
...यो भागः
(अ० ११-१५)
महर्षि-दयानन्दः

● ओ३म् ●

यजुर्वेद-भाष्यम्

महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितम्
संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्वितम्

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञ-पण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासु-विरचितेन

विवरणेन भूषितं संशोधितं च

तस्यायं

द्वितीयो भागः

(एकादशाध्यायात् पञ्चदशाध्यायपर्यन्तः)

स च

महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिभिः स्वयं शोधितैर्हस्तलेखैः

सम्मेल्य सम्यक् संशोधितः

ट्रस्ट के उद्देश्य---प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा, प्रचार, तथा भारतीय सम्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय विज्ञान और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा।

भाद्रपद २०२८ वि०
सितम्बर १९७१ ई०
मूल्यम् – षोडशमुद्राः (१६-००)
प्रथमं संस्करणम् — १०००

प्रकाशकः—
मन्त्री—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

मुद्रक :—
सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्राक्कथन

पदवाक्य-प्रमाणज्ञ स्व० गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु कृत **'यजुर्वेद-भाष्य-विवरण** का द्वितीय भाग अनेक विघ्न-बाधाओं के पश्चात् पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जा रहा है।

विलम्ब का कारण—श्री पूज्य गुरुवर्य ने प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण छपने के पश्चात् वि० २०१६ में ही इस भाग को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया था। इस के मुद्रण के लिए २२×३०=३२ पौण्ड का विशेष कागज भी बनवा कर मंगवा लिया था। परन्तु प्रेस की असुविधा के कारण उनके जीवनकाल में यह भाग न छप सका, और अन्त में हमें वह कागज अन्य पुस्तक में लगाना पड़ा।

प्रेस की असुविधा का कारण—ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बनारस के स्वामी स्व० श्री पं० बालकृष्ण जी शास्त्री का पूज्य गुरुवर्य के साथ हार्दिक प्रेम था। उन्होंने जब तक वाराणसी में रामलाल कपूर ट्रस्ट का कार्य रहा, प्रत्येक ग्रन्थ का मुद्रण बड़े प्रेम वा मनोयोग से किया। श्री शास्त्री जी ज्योतिष शास्त्र के विद्वान् थे। उन का पञ्चाङ्ग, जो कि वाराणसी के छपे पञ्चाङ्गों में प्रामाणिक माना जाता था, के प्रकाशक भी थे। वे वर्तमान ज्योतिषियों के समान फलित भाग पर भी विश्वास करते थे। जब प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण उनके यहां छपने लगा, ३-४ फार्म के पश्चात् ही अकस्मात् प्रेस कर्मचारियों की असहयोगात्मक घटनाओं के कारण उन्हें प्रेस बन्द करना पड़ा। श्रीमान् शास्त्री जी ने यजुर्वेद भाष्य के मुद्रण का कार्य अपने अन्य परिचित व्यक्ति के प्रेस में दिया, किन्तु वहां भी पूर्वोक्त ही गति हुई। दो वर्ष के सुदीर्घ अन्तराल के पश्चात् जब श्री शास्त्री जी ने पुनः प्रेस का कार्य आरम्भ किया, तब कहीं २-३ वर्षों में उक्त भाग छपकर प्रकाशित हुआ।

माननीय शास्त्री जी के मन पर उक्त घटना का यह प्रभाव पड़ा कि यह ग्रन्थ ही दुर्भाग्य-पूर्ण है। इस निश्चय में उन्हें लाहौर में प्रकाशित प्रथम भाग के देश-विभाजन काल में नष्ट हो जाने की घटना से भी सहायता मिली। उन्होंने इस ग्रन्थ को न छापने का निर्णय लिया, परन्तु श्री पूज्य गुरुवर्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम की भावना होने से द्वितीय भाग का मुद्रण आरम्भ करने में कारणान्तर दर्शाकर विलम्ब करते रहे। वास्तविक आन्तरिक भावना उन्होंने उनके समक्ष प्रकट न की। कभी कभी किसी के प्रति श्रद्धा-भावना के वशीभूत होकर आन्तरिक भाव को प्रकट न करने की जो दुर्बलता प्रायः मनुष्यां में होती है, उसी का फल यह हुआ कि श्री पूज्य गुरुवर्य अन्यत्र प्रबन्ध न कर सके, और यह भाग उनके जीवन काल में न छप सका।

पूज्य गुरुवर्य के स्वर्गवास के पीछे मैं श्री पं० बालकृष्णजी शास्त्री से मिला, और उन से अनुरोध किया कि 'यजुर्वेदभाष्य विवरण' के लिए कागज आया हुआ ३ वर्ष से पड़ा है, अब

उसे आरम्भ करवा दें। प्रथम भाग के मुद्रण काल और वर्तमान समय में छपाई के भाव में जो भी अन्तर हुआ है, उसके अनुसार जो भी मुद्रण भाव होगा, वह दिया जायेगा। इस पर श्री शास्त्री जी ने कहा कि आपको पता ही है कि मुद्रण दर को हम विशेष महत्त्व नहीं देते। हमारी तो सदा इच्छा रहती है कि हमारे यहां उत्तम ग्रन्थ छपें। छपाई शुद्ध और सुन्दर हो, हमारे लिए यही सन्तोष की बात होती है (उनकी यह भावना सत्य है, यह मैं भी जानता था)। परन्तु इस ग्रन्थ के मुद्रण के लिये हम असमर्थ हैं। पूर्वनिर्दिष्ट कारणों को बताते हुए कहा कि –श्री गुरुजी को अपनी भावना प्रकट करने में हमें सदा हिचकिचाहट हुई। इस कारण हम टालमटोल करते रहे।

मैं काशी में स्वास्थ्य के कारण निरन्तर रह नहीं सकता था। किसी अन्य प्रेस में छपवाने पर मेरा काशी में रहना आवश्यक था। कोई अन्य प्रेस इस योग्य नहीं था, जिसमें छपाई मेरी अनुपस्थिति में यथावत् हो सके।

श्री पूज्य गुरुवर्य के स्वर्गवास के पश्चात् ट्रस्ट के सम्पूर्ण कार्य को स्थानान्तरित करने का विचार हुआ। फलस्वरूप तीन वर्ष पश्चात् सोनीपत में ट्रस्ट के कार्य को स्थानान्तरित करने का निश्चय हुआ। मैं अकेला यहां मई १९६८ में पहुंचा। सोनीपत में कार्य स्थानान्तरित करने से पूर्व आवश्यक था कि ट्रस्ट अपना प्रेस लगा ले। क्योंकि देहली में भी ट्रस्ट के वैदिक ग्रन्थ छापने का प्रबन्ध किसी प्रेस में नहीं है। तदनुसार प्रेस का प्रबन्ध किया गया। सितम्बर ६८ से प्रेस का कार्य आरम्भ किया। फिर भी वेदभाष्य जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमारे सामने दो कठिनाइयां थीं -एक बम्बइया स्वरदार टाइप की, जो कि साधारण टाइप से तिगुना मंहगा होता है—दूसरी धन का अभाव।

प्रेस के लिये सहायता—बम्बइया स्वरदार दो प्रकार के टाइप के लिये स्व० श्री रूप लाल जी कपूर के सुपुत्र श्री बा० महेन्द्र कुमार जी तथा उनकी धर्मपत्नी ने ४००० चार सहस्र रुपये का बम्बइया टाइप देकर हमारी प्रथम कठिनाई को पूर्ण किया।

छपाई के लिये आर्थिक सहायता- इस भाग के मुद्रण में लगभग १०००० दस सहस्र रुपये की आवश्यकता थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिये झरिया निवासी वैदिकधर्म प्रेमी श्रेष्ठिवर्य श्री बा० अर्जुनदेव जी अग्रवाल ने अकस्मात् आश्रम (बहालगढ़)पर पहुंच कर ५००० पांच सहस्र रुपया देने का वचन दिया। और कुछ समय पीछे उन्होंने उक्त धन ट्रस्ट को भेज दिया। श्रीमान् अर्जुनदेव जी का दान प्राप्त होते ही हमने इस भाग के मुद्रण के लिये कागज की व्यवस्था करके इस कार्य को आरम्भ कर दिया।

द्वितीय भाग का परिमाण—यजुर्वेद के ११ से २० तक के अध्याय बहुत बड़े-बड़े हैं। यदि इन्हें एक ही भाग में प्रकाशित करते, तो यह भाग १२०० पृष्ठों का बन जाता, और इसका मूल्य (पुस्तक विक्रेताओं के कमीशन को सम्मिलित करके) ३० रु० रखना पड़ा। इतने बृहत्-काय ग्रन्थ को रखने वा स्वाध्याय करने में बहुत असुविधा होती, और वर्तमान काल की मंहगाई के कारण किसी भी स्वाध्याय-प्रेमी के लिये ३० रु० एक साथ व्यय करना कठिन होता। इस लिये हमने इस भाग में अध्याय ११ से १५ तक के पांच अध्याय ही रखे हैं।

शेष कार्य की पूर्ति—अध्याय १६ से ४० तक के यजुर्वेदभाष्य के ६००-६०० पृष्ठों के तीन भाग बनेंगे। वर्तमान मंहगाई के अनुसार हमें इन तीन भागों के लिये ३०००० तीस सहस्र

रुपया व्यय करना होगा। नित्य प्रति बढ़ती हुई मंहगाई के कारण मुद्रण व्यय ३०००० तीस सहस्र से अधिक ही बढ़ेगा, कम न होगा।

सहायता की आवश्यकता—इन तीन भागों के प्रकाशन के लिये वर्तमान अवस्था में ट्रस्ट के लिये तीस सहस्र रुपया व्यय करना कठिन होगा। ट्रस्ट का प्रकाशन कार्य अधिकतर लागत मूल्य में होता है। कुछ पुस्तकों को प्रचारार्थ लागत से भी कम मूल्य पर प्रकाशित किया जाता है। ट्रस्ट का सम्पूर्ण धन प्रकाशन कार्य पर लग चुका है। अतः इस ग्रन्थ के शेष भागों पर ३०००० तीस सहस्र रुपया व्यय करना ट्रस्ट के सामर्थ्य से बाहर है।

यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब धनीमानी वैदिकधर्मप्रेमी इन भागों को प्रकाशित करने के लिये प्रतिभाग १०००० दस सहस्र रुपये का सहयोग प्रदान करें। वैदिक धर्मप्रेमियों, पूज्य गुरुवर्य के भक्तों, और सुहृज्जनों के सहयोग से ही श्री पूज्य गुरुवर्य का यह अधूरा कार्य प्रकाशित हो सकता है।

यदि कोई वेदप्रेमी आर्यजन तृतीय भाग के मुद्रण के लिये सहयोग प्रदान करें, तो हम तृतीय भाग भी वि० सं० २०२९ (सन् १९७२) के मध्य तक प्रकाशित कर सकते हैं। हमारी इच्छा तो यह है कि आर्यसमाज स्थापना शताब्दी (मार्च १९७५) तक शेष तीनों भाग प्रकाशित करदें, परन्तु विना आर्थिक सहयोग के यह कार्य पूर्ण होना कठिन है।

श्रावणी २०२८
अगस्त १९७१

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

यजुर्वेदभाष्य (विवरण सहित) की अध्याय-सूची

अथ यजुर्वेद-भाष्यम्

(सटिप्पणं सविवरणं च)

॥ ओ३म् ॥

❋ अथैकादशाऽध्यायारम्भः ❋

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व ॥१॥

य० ३० । ३ ॥

युञ्जान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ योगाभ्यासभूगर्भविद्योपदेशमाह ॥

यु॒ञ्जा॒नः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धिय॑ः ।
अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्याऽअध्याभ॑रत् ॥१॥

यु॒ञ्जा॒नः । प्र॒थ॒मम् । मन॑ः । त॒त्त्वाय॑ । स॒वि॒ता । धिय॑ः ॥ अ॒ग्नेः । ज्योति॑ः । नि॒चाय्येति॑ नि॒चाऽय्य॑ । पृ॒थि॒व्याः । अधि॑ । आ । अ॒भ॒र॒त् ॥१॥

पदार्थः—(युञ्जानः) योगाभ्यासं भूगर्भविद्यां[1] च कुर्वाणः (प्रथमम्) आदौ[2] (मनः) मननात्मिकान्तःकरणवृत्तिः (तत्त्वाय) तेषां परमेश्वरादीनां पदार्थानां भावाय[3] (सविता)

---

१. कथमत्र भूगर्भविद्याप्रसङ्गः प्राप्तिर्वेति जिज्ञासायामुच्यते—

(क) अस्मिन्नेव (य० ११।१) मन्त्रे "अग्नेः······पृथिव्याऽध्याभरत्" इति मूलपाठादेव ज्ञायते भूमिमध्यादग्निराह्रियेतेति । "आग्नेयं वै सुवर्णम्" (द्रष्टव्यं वैशेषिक-प्रशस्तपादभाष्य-कन्दली पृ० २५, तथा ४०, ४१) इति दार्शनिकदिशा सुवर्णादीनां धातूनां पृथिवीमध्यान्निष्कासनमत्र लक्ष्यते । अस्मिन् विषयेऽग्रेऽपि (य० ११।१०) विवरणं द्रष्टव्यम् ॥

(ख) अग्रिममन्त्रेषु अग्निखननसम्बन्धे स्पष्टमेव पश्यामः—य० ११।१० मन्त्रे "वयम् अग्निं शकेम खनितुम्", य० ११।११ मन्त्रे "अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽध्याभरत्", य० ११।१६ मन्त्रे "पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यम्", य० ११।१९ मन्त्रे "पृथिवीमग्निमन्विच्छ······भूम्या······खनेम तं वयम्", य० ११।२१ मन्त्रे "पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः", य० ११।२२ मन्त्रे "ततः खनेम सुप्रतीकमग्निम्", य० ११।२८ मन्त्रे "पृथिव्याः सधस्थाद् अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि" ।

इत्यादिभिर्मन्त्रगतपदैरप्यत्र भूगर्भविद्याया उपदेशो व्यक्त एव ॥

२. ध्यानारम्भ इति तु योगपक्षे, अपरपक्षे (भूगर्भविद्यायां) तु भूगर्भविद्यायै पदार्थानां तत्त्वज्ञानमावश्यकमित्यभिप्रायः ॥

३. तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मै, तादर्थ्ये चतुर्थी । परमेश्वरादीनां तत्त्वज्ञानायेति यावत् ॥

ऐश्वर्यमिच्छुः (धियः) धारणात्मिका अन्तःकरणवृत्तीः (अग्नेः[1]) पृथिव्यादिस्थाया[2] विद्युतः (ज्योतिः) प्रकाशम् (निचाय्य) निश्चित्य (पृथिव्याः) भूमेः (अधि) उपरि (आ) समन्तात् (अभरत्) धरेत्[3] ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।१३ व्याख्यातः] ॥१॥

[4]**अन्वयः**—यः सविता मनुष्यस्तत्त्वाय प्रथमं मनो धियश्च युञ्जानोऽग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् स पदार्थविद्याविच्च जायेत ॥१॥

१. योगपक्षे—'अग्नेः' प्रकाशस्वरूपपरमेश्वरस्य ज्योतिः प्रकाशो ज्ञानमिति भावः। श्वेताश्वतरोपनिषदि (२।८) "**अग्निः परमात्मा**" इति शाङ्करभाष्ये ॥

अपरपक्षे—पृथिव्यादिषु वर्त्तमाना ये सुवर्णादिपदार्थाः ॥

२. मन्त्रगतपृथिवीपदं पञ्चानामपि भूतानामुपलक्षकम्, तेष्वदृष्टरूपेण वर्त्तमानायाः पृथिव्या ज्योतिः=प्रकाशम् ॥

३. (क) मन्त्रोऽयम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० १६२)—"**ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं सविता कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते**……।" इत्यादिनाऽध्यात्मिकप्रक्रियायां व्याख्यात इति ध्येयम् ॥

(ख) सायणाचार्योऽपि स्वतैत्तिरीयसंहिताभाष्ये (तै० ४।१।१।१), काण्वभाष्ये (१२।१) च "**सविता सर्वस्य प्रेरकः परमेश्वरः**" इत्याह ॥

(ग) श्रीमच्छङ्कराचार्यैरपि श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये (२।१)—"**ध्यानमुक्तं ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवदिति परमात्मदर्शनोपायत्वेन……तत्सिद्धयर्थं सवितारमाशास्ते—युञ्जान इति।……एतदुक्तं भवति—ज्ञाने प्रवृत्तस्य मम मनो बाह्यविषयज्ञानादुपसंहृत्य परमात्मन्येव योजयितुं…… सम्पादयेत् सविता**"। इत्याद्युक्तं, तेनाप्याध्यात्मिकार्थपरोऽयं मन्त्रः शङ्करमत इति पश्यामः ॥

सायणमते—चयने विनियुज्यमाना इमे मन्त्रास्तु 'आध्यात्मिकार्थपरा' इतिद्रष्टुं शक्यते। कुतः कथञ्चान्येऽन्यत्र विनियुक्ता मन्त्रा नाध्यात्मिकार्थपरा इति सायणपक्षिण एवानुयोक्तव्याः, नात्र शङ्काया लेशमात्रमपि पश्यामः ॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि तदीये शाङ्करभाष्ये चान्येऽग्रिमाश्चत्वारो मन्त्रा अध्यात्मपरा एव व्याख्याताः, चयनाख्यस्य कर्मणो गन्धमपि नोपलभामहे। एतेन कर्मकाण्डे विनियुक्ता मन्त्रा अध्यात्मपरतयाऽपि व्याख्यातुं शक्यन्त इति व्यक्तम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**युञ्जानः**) 'युजिर् योगे' इत्यस्मात् शानचि रुधादित्वात् 'श्नम्', शानचो ङित्वादकारलोपे चित्त्वात् **चितः** (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तः ॥

(**प्रथमम्**) पूर्वं (य० ३।१५) व्याख्यातः ॥

(**तत्त्वाय**) तस्य भावस्तत्त्वम्, **तस्य भावस्त्वतलौ** (अ० ५।१।११९) इति त्वः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

तनोतेः क्त्वाप्रत्यये छान्दसत्वादिडागमाभावे **क्त्वो यक्** (अ० ७।१।४७) इति यगागमे तत्त्वायेति पदमित्यन्ये ॥

तत्रायं विशेषः--स्वरस्यार्थस्य चोभयथाऽपि सम्भवे त्वप्रत्यये द्वितकारवान् निर्देशः, क्त्वाप्रत्ययान्ते तु एकतकारवान्। परन्तु संहितापाठ एकतकारवतोऽपि **अनचि च** (अ० ८।४।४७) इति द्वित्वे तकारनिर्देश उपपद्यत एव। वेदे च संहितापाठ एवापौरुषेय इति सर्वैः शिष्टैः स्वीक्रियत इति नात्र कश्चिद् दोषः ॥

(**निचाय्य**) निपूर्वाच्चिनोतेर्णिजन्तात् क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशे णिलोपे निचाय्येति पदं साधु। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरः ॥ आचार्यपादैर्ऋग्वेदभाष्ये (१।१०५।१८) चायृ पूजानिशामनयोरित्यस्मात् निचाय्यपदसिद्धिरुक्ता ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

४. अन्वयोऽयम्, आध्यात्मिकाधिदैविकप्रक्रिययोः स्पष्टः ॥

भावार्थः—यो जनो योगं भूगर्भविद्यां च चिकीर्षेत् स यमादिभिः[1] क्रियाकौशलैश्चाऽन्तःकरणं पवित्रीकृत्य तत्त्वानां विज्ञानाय प्रज्ञां[2] समज्यैतानि गुणकर्मस्वभावतो विदित्वोपयुञ्जीत। पुनर्यत् प्रकाशमानानां सूर्य्यादीनां प्रकाशकं ब्रह्मास्ति तद्विज्ञाय स्वात्मनि निश्चित्य सर्वाणि स्वपरप्रयोजनानि[3] साध्नुयात् ॥१॥

अब ग्यारहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है ॥

इसके प्रथम मन्त्र में योगाभ्यास और भूगर्भविद्या का उपदेश किया है ॥

पदार्थः—जो (सविता) ऐश्वर्य को चाहने वाला मनुष्य (तत्त्वाय) उन परमेश्वर आदि पदार्थों के ज्ञान होने के लिये (प्रथमम्) पहिले (मनः) विचारस्वरूप [वृत्ति तथा* (धियः) धारणा रूप] अन्तःकरण की वृत्तियों को (युञ्जानः) योगाभ्यास और भूगर्भ-विद्या† में युक्त करता हुआ (अग्नेः[4]) पृथिवी आदि में रहने वाली बिजुली के (ज्योतिः) प्रकाश को (निचाय्य) निश्चय करके (पृथिव्याः) भूमि के (अधि) ऊपर (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे, वह योगी और भूगर्भ-विद्या का जानने वाला होवे ॥१॥

भावार्थः—जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भविद्या किया चाहे वह यम आदि योग के अङ्ग और क्रिया-कौशलों से अपने हृदय को शुद्ध [करके] तत्वों को जान[ने के लिये] बुद्धि को प्राप्त होकर इन को गुण कर्म तथा स्वभाव से जान के उपयोग लेवे। फिर जो प्रकाशमान सूर्य्यादि पदार्थ§ हैं उनका भी प्रकाशक ईश्वर है उस को जान और अपने आत्मा में निश्चय करके अपने और दूसरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥१॥

युक्तेनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। सविता देवता। शङ्कुमती गायत्री छन्दः।
षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

यु॒क्तेन॒ मन॑सा व॒यं दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। स्व॒र्ग्या᳖य॒ शक्त्या॑ ॥२॥

यु॒क्तेन॑। मन॑सा। व॒यम्। दे॒वस्य॑। स॒वि॒तुः। स॒वे ॥ स्व॒र्ग्या᳖येति॑ स्वः॒ऽग्या᳖य। शक्त्या॑ ॥२॥

पदार्थः—**(युक्तेन) कृतयोगाभ्यासेन‡ (मनसा) विज्ञानेन (वयम्) योगिनः**

---

१ भूगर्भविद्यापक्षे विशेषेण ॥

२ प्राप्येत्यर्थः ॥

३ भूगर्भविद्यां प्राप्यापि स्वार्थसाधनतत्परो न भवेदपि तु परोपकारबुद्ध्या वर्त्तेतेति भावः ॥

४ "(अग्नेर्ज्योतिः) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० १६४) ॥१॥

---

* "अन्तःकरण की वृत्तियों को (धियः) धारणारूप वृत्ति" इति कपाठः। स च गकोशे त्यक्तो व्यस्तश्चेति ध्येयम् ॥

† "विद्या को करता हुआ" इति हस्तलेखपाठः। स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

§ "पदार्थ हैं" इत्यत्र 'हैं' इति पदं हस्तलेखेषु नास्ति, मुद्रणे संशोधित इति ॥

‡ 'कृतयोगतत्त्वविद्याभ्यासेन' इति कपाठः ॥

(देवस्य) सर्वद्योतकस्य (सवितुः) अखिलजगदुत्पादकस्य जगदीश्वरस्य (सवे) जगदाख्य-ऽस्मिन्नैश्वर्ये (स्वर्ग्याय) स्वः सुखं गच्छति येन तद्भावाय[1] (शक्त्या) सामर्थ्येन[2]। [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।१४ व्याख्यातः] ॥२॥

अन्वयः—हे योगं तत्त्वविद्यां[3] च जिज्ञासवो मनुष्याः! यथा वयं युक्तेन मनसा शक्त्या च देवस्य सवितुः सवे स्वर्ग्याय ज्योतिराभरेम तथा यूयमप्याभरत ॥२॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यदि मनुष्याः परमेश्वरस्य सृष्टौ समाहिताः सन्तो योगं तत्त्वविद्यां च यथाशक्ति सेवेरँस्तेषु प्रकाशितात्मनः सन्तो योगं पदार्थविज्ञानं चाभ्यस्येयुस्तर्हि सिद्धीः कथं† न प्राप्नुयुः ॥२॥

फिर भी उक्त विषय ही अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे योग और तत्त्वविद्या को जानने की इच्छा करनेहारे मनुष्यो! जैसे (वयम्) हम योगी लोग (युक्तेन) योगाभ्यास किये (मनसा) विज्ञान और (शक्त्या) सामर्थ्य से (देवस्य) सब को चिताने तथा (सवितुः) समग्र संसार को उत्पन्न करनेहारे ईश्वर के (सवे) जगत् रूप इस ऐश्वर्य में (स्वर्ग्याय) सुख प्राप्ति के लिये प्रकाश को§ उत्तम रीति से धारण करें, वैसे तुम लोग भी प्रकाश को धारण करो ॥२॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्त्व-विद्या का यथाशक्ति सेवन करें, उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थविद्या का अभ्यास करें, तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें ॥२॥

---

१. 'तद्भावाय' तत्प्राप्तय इत्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः ॥

२. (क) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० १६२) अपि द्रष्टव्यम् ॥

(ख) श्वेताश्वतरोपनिषदि शाङ्करभाष्ये (२।२) च—"**परमात्मवचनोऽत्र स्वर्गशब्दः, तत्प्रकरणात् तस्यैव सुखस्वरूपत्वात् तदंशत्वाच्चेतरस्य सुखस्य**" ॥

(ग) सायणस्तु शतपथभाष्ये "युक्तेन कर्म-विषये एकाग्रेण मनसा···" इत्यादौ याज्ञिक-कर्मण्येवेमं मन्त्रं विनियुयोज। कर्मपदस्थाने यदि 'उपासना' पदं क्रियेत (यथा च शाङ्कर-भाष्ये पश्यामः), तदापि सर्वं सङ्गच्छत एव, इत्याद्यत्रापि पूर्वमन्त्रवद् अवगन्तव्यम् ॥

३. भूगर्भविद्यापक्ष इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(युक्तेन) क्तप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सवे) 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' इत्यस्माद् **जवसवौ छन्दसि** (अ० ३।३।५६ वा०) इत्यच् प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(स्वर्ग्याय) स्वर्ग एव स्वर्ग्यम्। वसव्य आदिवत् **छन्दसि स्वार्थे यत्** (द्र० ५।४।२५)। **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वं छान्दसत्वान्न प्रवर्त्तते। **तित् स्वरितम्** (अ० ६।१।१८५) इति स्वरितत्वम् ॥

(शक्त्या) शकेः **स्त्रियां क्तिन्** (अ० ३।३।९४) इति भावे क्तिन्। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥२॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

---

†'कथं न' इति क. ग. नास्ति, मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

§'की अधिकाई' इति अ० मु० पाठः ॥

युक्त्वायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

युक्त्वार्य सवि॒ता दे॒वान्त्स्व॑र्य॒तो धि॒या दि॒वम् ।
बृ॒हज्ज्योतिः करिष्य॒तः स॑वि॒ता प्र सु॑वाति॒ तान् ॥३॥

यु॒क्त्वार्य । स॒वि॒ता । दे॒वान् । स्व॑ः । य॒तः । धि॒या । दि॒वम् ॥ बृ॒ह॒त् । ज्योतिः । क॒रि॒ष्य॒तः । स॒वि॒ता । प्र । सु॒वा॒ति॒ । तान् ॥३॥

पदार्थः—(युक्त्वाय) युक्तं कृत्वा (सविता[1]) योगपदार्थज्ञानस्य[2] प्रसविता[3] (देवान्) दिव्यान् गुणान् (स्वः) सुखस्य (यतः) प्रापकान् (धिया) प्रज्ञया (दिवम्) विद्याप्रकाशम् (बृहत्) महत् (ज्योतिः) विज्ञानम् (करिष्यतः[4]) ये करिष्यन्ति तान् (सविता) प्रेरकः[5] (प्र) (सुवाति) उत्पादयेत् (तान्)[6] ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।१५ व्याख्यातः] ॥३॥

अन्वयः—यान्[7] सविता **परमात्मनि मनो** युक्त्वाय धिया दिवं स्वर्यतो बृहज्ज्योतिः करिष्यतो देवान् प्रसुवाति तानन्योऽपि सविता[8] प्रसुवेत् ॥३॥

भावार्थः—**ये योगपदार्थविद्ये अभ्यस्यन्ति तेऽविद्यादिक्लेशानां निवारकान् शुद्धान् गुणान् जनितुं* शक्नुवन्ति । य उपदेशकाद्योगं तत्त्वज्ञानं च प्राप्यैवमभ्यस्येत्सोऽप्येतान् प्राप्नुयात्** ॥३॥

---

१. **"पुरुष एव सविता"** ॥ **जै० उ०** ४।२७।१७ ॥ **"सविता वै प्रसविता"** ॥ **कौ०** ६।१४ ॥

२. योगश्च पदार्थश्च योगपदार्थौ, तयोर्ज्ञानं योगपदार्थज्ञानं तस्य ॥

३. ज्ञानस्योत्पादक आचार्य इत्यर्थः ॥

४. करिष्यतः कुर्वत इत्यर्थः, अत्र कालसामान्ये लृट् ॥

५. उपदेशकादिः ॥

६. (क) मन्त्रोऽयमध्यात्मपरतयाऽऽग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० १६२-१६४) व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः ॥

(ख) श्वेताश्वतरोपनिषदि (२।३) तच्छाङ्करभाष्ये, काण्वसंहितासायणभाष्ये, शतपथसायणभाष्ये च पूर्ववदेव सर्वमिति न कश्चिद् विशेषः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(युक्त्वाय) क्त्वाप्रत्यये **क्त्वो यक्** (अ० ७।१।४७) इति यगागमः । तस्य **"आगमा अनुदात्ताः"** इत्यनुदात्तत्वे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(यतः) शतृप्रत्ययान्तात् **शतुरनुमो नद्यजादी** (अ० ६।१।१७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(करिष्यतः) शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६।१।१७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(ज्योतिः) पूर्वत्र (२।६) व्याख्यातः ॥

(सुवाति) लेटि, **लेटोऽडाटौ** (अ० ३।४।९४) इति आट्पक्षे रूपम् । सिपोऽभावे तुदादित्वात् 'शः' । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

७. करिष्यतो यान् देवान् इत्यन्वयः ॥

८. अध्यापक उपदेशको वा यः कश्चिदपि प्रेरकः ॥

---

*'जनयितुं' इति साम्प्रतिकानां मते द्रष्टव्यम् ॥

फिर भी उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—जिन को (सविता) योग और† पदार्थों के ज्ञान के रचने§हारा जान परमात्मा में मन को (युक्त्वाय) युक्त करके (धिया) बुद्धि से (दिवम्) विद्या के प्रकाश को [और] (स्वः) सुख को (यतः) प्राप्त कराने वाले (बृहत्) बड़े (ज्योतिः) विज्ञान को (करिष्यतः)$ जो करेंगे उन (देवान्) दिव्य गुणों को (प्रसुवाति) उत्पन्न करे (तान्) उन [दिव्य गुणों] को अन्य भी [(सविता)] उत्पादक∫ जन उत्पन्न करे[1] ।।३।।

भावार्थः—जो पुरुष योग‡ [और पदार्थविद्या का] अभ्यास करते हैं वे अविद्या आदि क्लेशों को हटाने वाले शुद्ध गुणों को प्रकट कर सकते हैं। जो उपदेशक पुरुष से योग और तत्त्वज्ञान को प्राप्त हो के ऐसा अभ्यास करे वह भी इन गुणों को प्राप्त होवे ।।३।।

युञ्जत इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । जगती छन्दः ।
निषादः स्वरः ।।

योगाभ्यासं[2] कृत्वा मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ।।

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।।४।।

युञ्जते । मनः । उत । युञ्जते । धियः । विप्राः । विप्रस्य । बृहतः । विपश्चित इति विपःऽचितः ॥ वि । होत्राः । दधे । वयुनावित् । वयुनविदिति* वयुनऽवित् । एकः । इत् । मही । देवस्य । सवितुः । परिष्टुतिः । परिस्तुतिरिति परिऽस्तुतिः ॥४॥

पदार्थः—(युञ्जते) परमात्मनि तत्त्वविज्ञाने वा†† समादधते (मनः) चित्तम् (उत) अपि (युञ्जते) (धियः) बुद्धीः (विप्राः) मेधाविनः (विप्रस्य) सर्वशास्त्रविदो मेधाविनः (बृहतः) महतो गुणान् प्राप्तस्य (विपश्चितः) अखिलविद्यायुक्तस्याप्तस्येव वर्त्तमानस्य (वि) (होत्राः) दातुं ग्रहीतुं शीलाः (दधे) (वयुनावित्) यो वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्ति सः । अत्रान्येषामपि० (६।३।१३७) इति दीर्घः (एकः) असहायः (इत्) एव (मही) महती (देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वस्य जगतः प्रसवितुरीश्वरस्य (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुवन्ति यया सा[3] ।। [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।१६ व्याख्यातः] ।।४।।

१. यहां भाषा संस्कृत के भाव को पूर्णतया स्पष्ट नहीं करती थी, अतः संस्कृतानुसार की गई है ।।३।।

२. 'पदार्थविद्यां च प्राप्य' इत्यपि ध्येयम् ।।

३. मन्त्रोऽयं स्वल्पभेदेनान्यत्रापि व्याख्यातः, पूर्वं य० ५।१४ (पृ० ४५१) टिप्पणेऽपि द्रष्टव्यम् । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० १६२,१६३) सम्यग् व्याख्यातोऽयं मन्त्रस्तत एव द्रष्टव्यः ।।

†" योग के पदार्थों" इति अ० मु० कोशयोश्च पाठः ।।

§ "चरने हारा जन" इति अ० मु० पाठः । "रचने हारा जन" इति गपाठः । "रचने हारा" इति कपाठः ।।

$ "अर्थात् करने वाले" ।।

∫ अर्थात् प्रेरक वा उपदेशक ।।

‡ 'योगाभ्यास करते हैं' इति अ० मु० पाठः ।।

* 'वयुनाविदिति' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ।।

†† 'च' इति हस्तलेखपाठः ।।

अन्वयः—ये होत्रा विप्रा यस्य बृहतो विपश्चित **इव वर्तमानस्य** विप्रस्य **सकाशात्** प्राप्तधियः **सन्तो** या सवितुर्देवस्य **जगदीश्वरस्य** मही परिष्टुति**रस्ति तत्र यथा** मनो युञ्जते [उत] धियो युञ्जते तथा वयुनाविदेक **[इद्] अहं [अपि]** विदधे ॥४॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः

भावार्थः—ये युक्ताहारविहारा* एकान्ते देशे परत्मामानं युञ्जते ते तत्त्वविज्ञानं प्राप्य नित्यं सुखं यान्ति ॥४॥

योगाभ्यास करके मनुष्य क्या करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—जो (होत्राः) दान देने लेने के स्वभाव वाले (विप्राः) बुद्धिमान् पुरुष जिस (बृहतः) बड़े (विपश्चितः) सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त आप्त पुरुष के समान वर्त्तमान (विप्रस्य) सब शास्त्रों के जाननेहारे बुद्धिमान् पुरुष से विद्याओं को प्राप्त हुए† विज्ञानयुक्त जन [जो] (सवितुः) सब जगत् को उत्पन्न और (देवस्य) सब के प्रकाशक जगदीश्वर की (मही) बड़ी (परिष्टुतिः) सब प्रकार की स्तुति है उस∫ के विषय में जैसे (मनः) अपने चित्त को (युञ्जते) समाहित‡ करते [(उत)] और (धियः) अपनी बुद्धियों को [(युञ्जते)] युक्त करते हैं, वैसे ही (वयुनावित्) प्रकृष्टज्ञान वाला (एकः) अन्य के सहाय की अपेक्षा से रहित (इत्) ही मैं (विदधे) विधान$ करता हूं ॥४॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

यद्यप्याध्यात्मिकप्रक्रियायां तत्र-तत्र स्वल्पभेदेन पदानि व्याख्यातानि, पुनरपि सर्वत्र समान एवावसितार्थो भविष्यति इति ध्येयम्। याज्ञिकप्रक्रियायाम् आधिदैविकप्रक्रियायां च तत्र-तत्र प्रकरणभेदेनार्थभेदोऽनुसन्धेय इत्यपि विज्ञेयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(युञ्जते) युजेर्लटि प्रथमाबहुवचने रुधादित्वात् **'श्नम्'**। **सतिशिष्टस्वरो बलीयान्** (वा० ६।१।१५८) इति नियमेन विकरणस्वरे प्राप्ते **सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते** (वा० ६।१।१५८) इत्यनेन तद्बाधे लसार्वधातुकस्य प्रत्ययस्वरः। शेषानुदात्तत्वे **श्नसोरल्लोपः** (अ० ६।४।१११) इत्यकारलोपः।

यद्वा—श्नम आगमपक्षे 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' तस्य च धातुग्रहणेन ग्रहणात् 'धातोः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। ततः शेषमनुदात्तम्। **श्नसोरल्लोपः** (अ० ६।४।१११) इति लोप उदात्तनिवृत्तिस्वरे मध्योदात्तत्वम् ॥

श्नम आगमपक्षोऽपि कैश्चित् स्वीक्रियते तेषां मतेन धातुस्वरो भवति ॥

अपरत्र—**तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

शिष्टानि पदानि य० ५।१४ (पृ० ४४२) व्याख्यातानि, तत एव द्रष्टव्यानि ॥४॥

इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

*"युक्ताहारविहारा जितेन्द्रियाः एकान्ते देशे परमात्मना सहात्मानं" इति पाठः कहस्तलेखे ॥

†'हुए विद्वानों से विज्ञान' इति अ० मु० पाठः। 'विद्वानों से विज्ञानयुक्त जन' इत्यस्य स्थाने 'जो' इत्येव पाठः कहस्तलेखे ॥

∫'उस तत्त्वज्ञान के विषय' इति अ० मु० पाठः ॥ ‡'समाधान करते' इति अ० मु० पाठः ॥

$अर्थात् अपने मन और बुद्धियों को परमात्मा की स्तुति में समाहित करता हूँ ॥

भावार्थः—जो नियम से आहार विहार करनेहारे जितेन्द्रिय पुरुष एकान्त देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं, वे तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही सुख भोगते हैं ॥४॥

युजे वामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । *भुरिगार्षीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्याः परब्रह्मप्राप्तिं कथं कुर्य्युरित्युपदिश्यते ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

युजे । वाम् । ब्रह्म । पूर्व्यम् । नमोभिरिति नमःऽभिः । वि । श्लोकः । एतु । पथ्येवेति पथ्याऽइव । सूरेः ॥ शृण्वन्तु । विश्वे । अमृतस्य । पुत्राः । आ । ये । धामानि । दिव्यानि । तस्थुः ॥५॥

पदार्थः—(युजे) आत्मनि समादधे (वाम्) युवयोर्योगानुष्ठात्रुपदेशकयोः सकाशाच्छ्रुतवन्तौ (ब्रह्म) बृहद् व्यापकम् (पूर्व्यम्) पूर्वैर्योगिभिः प्रत्यक्षीकृतम् (नमोभिः) सत्कारैः (वि) विविधेऽर्थे (श्लोकः) सत्यवाक्संयुक्तः (एतुः) प्राप्नोतु (पथ्येव) यथा पथि साध्वी गतिः (सूरेः) विदुषः (शृण्वन्तु) (विश्वे) सर्वे (अमृतस्य) अविनाशिनो जगदीश्वरस्य (पुत्राः) सुसन्ताना आज्ञापालका इव (आ) (ये) (धामानि) स्थानानि (दिव्यानि) दिवि सुखप्रकाशे भवानि (तस्थुः) आस्थितवन्तः[1] ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।१७ व्याख्यातः]॥५॥

---

१. (क) मन्त्रोऽयमृग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० १६३,१६४) सुव्याख्यातः ॥

(ख) **शतपथब्राह्मणे** (श० ६।३।१।१७) सायणाचार्योऽस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने 'वाम्' इति **'पत्नीयजमानावुच्येते'** इत्याह ॥

ऐतरेयब्राह्मणे (ऐ० १।२९।२) "**हविर्धानाभ्यां प्रोह्यमानाभ्यामनुब्रूहीत्याहाध्वर्युः युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम्**" इत्यत्र 'वाम्' इति पदेन हविर्धानशकटे गृह्येते, तथैव च सायणभाष्येऽपि ।

ऋग्वेद (ऋ० १०।१३।१) सायणभाष्ये 'वाम्' इत्यनेन हविर्धानशकटे गृह्येते । 'हे हविर्धाने इति अथर्ववेद (अ० १८।३।३७) सायणभाष्ये । कौशिकगृह्यसूत्रे (८०।१) च—"**अथ पितृमेधं व्याख्यास्यामः । दहननिधानदेशे परिवृक्षाणि निधानकाल इति ब्राह्मणोक्तम्**" । इत्यनेन पितृमेधप्रकरणमध्ये पठितोऽयं मन्त्रो हविर्धाने कथं व्याख्यातुं शक्यत इति विचारास्पदं विदुषाम् ॥

हौत्रकर्मणि मन्त्रोऽयम् ऐतरेयब्राह्मणे, ऋग्वेदभाष्ये च हविर्धानपरो व्याख्यायते सायणेन, शतपथभाष्ये तु पत्नीयजमानपर इति, विनियोगभेदेन मन्त्रा अपि भिन्नार्थका भवन्तीति विस्पष्टम् ॥

समान एव मन्त्रो विनियोगभेदेनार्थभेदं प्रतिपद्यते इति वेदार्थविद्भिरवगन्तव्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(युजे) 'युज् समाधौ' दैवादिक आत्मनेभाषः । अत्र व्यत्ययेन श्यनः स्थाने शः । अनुदात्तङिदुपदेशादित्यादिनोत्तमपुरुषैकवचनस्य निघाते एकादेशे **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्यादिनोदात्तत्वम् । यद्वा—श्यन्भाविनः शपो **बहुलं छन्दसि** (अ० २।४।७३) इति लुक् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

अन्वयः—हे योगजिज्ञासवो जनाः ! भवन्तो यथा श्लोकोऽहं नमोभिर्यत् पूर्व्यं ब्रह्म युजे, तद्वां सूरेः पथ्येव व्येतु । यथा [ये] विश्वे पुत्राः प्राप्तमोक्षा[1] विद्वांसोऽमृतस्य[2] योगेन दिव्यानि धामान्यातस्थुस्तेभ्य[3] एतां योगविद्यां शृण्वन्तु ॥५॥

अत्रोपमालङ्कारः[4] ।

भावार्थः—योगं जिज्ञासुभिराप्ता योगारूढा विद्वांसः संगन्तव्याः । तत्संगेन योगविधिं विज्ञाय ब्रह्माभ्यसनीयम् । यथा विद्वत्प्रकाशितो धर्ममार्गः सर्वान् सुखेन प्राप्नोति तथैव कृतयोगाभ्यासानां संगाद्योगविधिः सहजतया प्राप्नोति, नहि कश्चिदेतत्संगमकृत्वा ब्रह्माभ्यासेन विनाऽऽत्मा पवित्रो भूत्वा सर्वं सुखमश्नुते । तस्माद्योगविधिना सहैव सर्वे परं ब्रह्मोपासताम् ॥५॥

मनुष्य लोग ईश्वर की प्राप्ति कैसे करें, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे योगशास्त्र के ज्ञान की इच्छा करने वाले मनुष्यो ! आप लोग जैसे (श्लोकः) सत्य वाणी से संयुक्त मैं (नमोभिः) सत्कारों से जिस (पूर्व्यम्) पूर्व योगियों द्वारा प्रत्यक्ष किये (ब्रह्म) सबसे बड़े व्यापक ईश्वर को (युजे) अपने आत्मा में युक्त करता हूं, वह ईश्वर (वाम्) तुम योग के अनुष्ठान और उपदेश करने हारे दोनों को (सूरेः) विद्वान् को (पथ्येव) [जैसे] उत्तम गति के अर्थ [धर्म] मार्ग प्राप्त होता है, वैसे (व्येतु) विविध प्रकार[5] से प्राप्त होवे । जैसे [(ये) जो] (विश्वे) सब (पुत्राः)

(पूर्व्यम्) पूर्वैः कृतमिनियौ च (अ० ४।४।१३३) इति 'य' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(श्लोकः) पूर्वत्र (य० १०।५ पृ० ८३२) व्याख्यातः ॥

(पथ्येव) पथ्याशब्दः चतुर्ष्वपि वेदेषु सकृदेव (य० ६।१२) आद्युदात्त उपलभ्यते । अन्यत्र सर्वत्रान्तस्वरित एव । शतपथब्राह्मणे (६।३।१।१७) तु संहितायामन्तस्वरितो दृष्टोऽप्याद्युदात्तः पठ्यते । तेनानुमीयते पथ्याशब्द उभयथाप्यस्ति । तत्र च **यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३)** इत्यस्य छान्दसत्वाद् वैकल्पिका प्रवृत्तिरनुमेया । **इवेन नित्यसमासवचनं पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (२।२।१८ वा०)** इति समासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

यत्तु विश्वेश्वरानन्दट्रस्टमुद्रिते ब्राह्मणारण्यकपदानुक्रमे तैत्तिरीयारण्यकेऽन्तस्वरितत्वेन पठितस्यापि पथ्याशब्दस्याद्युदात्तपथ्याशब्दे निवेशः कृतः, स तु चिन्त्य एव ॥

(सूरेः) व्याख्यातं पूर्वत्र (य० ६।५ पृ० ५२२) ॥

(शृण्वन्तु) सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (वा० ६।१।१५८) इति लसार्वधातुकस्वरः ॥

(धामानि) पूर्वत्र (य० ४।३७ पृ० ४२१) व्याख्यातः ॥

(दिव्यानि) व्याख्यातः पूर्वत्र (य० २।२२ पृ० २११)॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. प्राप्तमोक्षा जीवन्मुक्ता इत्यर्थः ॥

२. अमृतस्य योगेन ईश्वरस्योपासनयेत्यर्थः ॥

३. तेभ्यः प्राप्तमोक्षेभ्यो जीवन्मुक्तेभ्य इत्यर्थः ॥

४. मन्त्रे **'पथ्येव'** इत्यत्र **'इव'** पदप्रयोगाद् अन्वये च **'यथा तथा'** इति प्रयोगाद् **वाचकलुप्तोपमालङ्कारो**ऽप्यत्र द्रष्टव्यः ॥

५. 'विविध प्रकार से वह पूर्वोक्त ईश्वर प्राप्त होवे' ऐसा यहां सम्बन्ध समझना चाहिए ॥

---

* 'विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥ [पूर्वपृष्ठस्य छन्दोविषयिकाऽवशिष्टा टि०]

अच्छे सन्तानों के तुल्य आज्ञाकारी, मोक्ष को प्राप्त[1] हुए विद्वान् लोग (अमृतस्य) अविनाशी ईश्वर के योग[2] से (दिव्यानि) सुख के प्रकाश में होने वाले (धामानि) स्थानों को (आतस्थुः) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं, †वैसे उनसे योगविद्या को [शृण्वन्तु] सीखो ॥५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का सङ्ग करें। उन के सङ्ग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। जैसे विद्वान् का प्रकाशित किया हुआ [धर्म] मार्ग सब को सुख से प्राप्त होता है, वैसे ही योगाभ्यासियों के संग से योगविधि सहज में प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस संग और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के विना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता, इसीलिये उस योगविधि के साथ ही सब मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें ॥५॥

*यस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। सविता देवता। निचृदार्षी जगती छन्दः।
निषादः स्वरः ॥

मनुष्याः कस्योपासनं कुर्युरित्याह ॥

यस्य॑ प्र॒याण॒मन्व॒न्यऽइद्य॒युर्दे॒वा दे॒वस्य॒ महि॒मान॒मोज॑सा।
यः पार्थि॑वानि विम॒मे सऽए॑त॒शो रजा॑ꣳसि दे॒वः स॑वि॒ता म॑हित्व॒ना ॥६॥

यस्य॑। प्र॒याण॑म्। प्र॒यान॒मिति॑ प्र॒ऽयान॑म्। अनु॑। अ॒न्ये। इत्। य॒युः। दे॒वाः। दे॒वस्य॑। म॒हि॒मान॑म्। ओज॑सा ॥ यः। पार्थि॑वानि। वि॒म॒म इति॑ वि॒ऽम॒मे। सः। एत॑शः। रजा॑ꣳसि। दे॒वः। स॒वि॒ता। म॒हि॒त्वेनेति॑ महि॒ऽत्व॒ना ॥६॥

पदार्थः—(यस्य) परमेश्वरस्य (प्रयाणम्[3]) प्रयान्ति सर्वाणि सुखानि येन तत्प्रकृष्टं §यानं (अनु) पश्चात् (अन्ये) जीवादयः (इत्) एव (ययुः) प्राप्नुयुः (देवाः) विद्वांसः (देवस्य) सर्वसुखप्रदातुः (महिमानम्) स्तुतिविषयम् (ओजसा) पराक्रमेण (यः)

---

१. अर्थात् जीवन्मुक्त हुये ॥
२. ईश्वर के योग से अर्थात् ईश्वर की उपासना से ॥५॥
३. 'प्रकर्षेण याति गच्छति येन' इति ऋ० ५।८१।३ भाष्ये ॥

---

† 'वैसे मैं भी उनको प्राप्त होऊं' इति अ० मुद्रिते पाठः। अत्र संस्कृतान्वयान्ते पाठो व्यस्त इव प्रतिभाति ॥

* "यस्ये०……निषादः स्वरः" इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे प्रमादेन त्यक्त इति ध्ययेम् ॥

§ "प्राणम्" इति अ०मुद्रिते गकोशे च पाठः। "प्रापणम्" इति कपाठः। स च शुद्धः, गकोशे प्रमादेन व्यस्तः स्यात ॥

परमेश्वरः (पार्थिवानि) पृथिव्यां विदितानि (विममे[1]) विमानयानवन्निर्मिमीते (सः) (एतशः) सर्वं जगदितः स्वव्याप्त्या प्राप्तः। इणस्तश[न्]तशसुनौ ॥ उ० ३। १४७। (रजांसि) सर्वान् लोकान् (देवः) दिव्यस्वरूपः (सविता) सर्वस्य जगतो निर्माता (महित्वना) स्वमहिम्ना। अत्र बाहुलकादौणादिक §इत्वनच् प्रत्ययः[2] ॥ [अयं मंत्रः श० ६।३।१।१८ व्याख्यातः] ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे योगिनः! युष्माभिर्यस्य देवस्य महिमानं प्रयाणमन्वन्ये देवा ययुः। $य एतशः सविता देवो भगवान् महित्वनौजसा पार्थिवानि रजांसि [विममे] स इदेव सतत-मुपास्यो मन्तव्यः ॥ ६ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसः सर्वस्य जगतोऽन्तरिक्षेऽनन्तबलेन धर्त्तारं निर्मातारं सुखप्रदं शुद्धं सर्वशक्तिमन्तं सर्वान्तर्यामिणमीश्वरमुपासते त एव सुखयन्ति नेतरे ॥६॥

मनुष्य किस की उपासना करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे योगी पुरुषो! तुमको चाहिये कि (यस्य) जिस (देवस्य) सब सुख देने हारे ईश्वर के (महिमानम्) स्तुति विषय को (प्रयाणम्) कि जिससे सब सुख प्राप्त होवे, उस के (अनु) पीछे (अन्ये) जीवादि और (देवाः) विद्वान् लोग (ययुः) प्राप्त होवें। (यः) जो (एतशः) सब जगत् में अपनी व्याप्ति से प्राप्त हुआ (सविता) सब जगत का रचने हारा (देवः) शुद्धस्वरूप भगवान् (महित्वना) अपनी महिमा और (ओजसा) पराक्रम से (पार्थिवानि) पृथिवी पर प्रसिद्ध (रजांसि) सब लोकों को (विममे) विमान

---

१. 'विशेषेण मिमीते विधत्ते' इति ऋ० ५।८१।३ भाष्ये ॥

२. मन्त्रोऽयं ऋ० ५।८१।३ स्वल्पभेदेन व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रयाणम्) प्रपूर्वात् यातेर्ल्युट्। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणाकार उदात्तः। तस्यैकादेशे **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्युदात्तः। **कृत्यचः** (अ० ८।४।२९) इति णत्वम् ॥

(महिमानम्) पूर्वं (य० ८।३० पृ० ७०१) व्याख्यातः ॥

(विममे) पूर्वत्र (य०५।१८ पृ० ४६०) व्याख्यातः ॥

(एतशः) पूर्वत्र (य० ४।३२ पृ० ४१२) व्याख्यातः ॥

(महित्वना) 'मह' धातोर्बाहुलकाद् 'इत्वनच्' प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तः। यद्वा-महत् पर्यायाद् महिशब्दाद् भावे त्वनच् प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तः। **सुपां सुलुक्०** (अ० ७।१।३९) इत्याजादेशः। **"तं वर्धन्त स्वतवसो महित्वना"** इति ऋग्भाष्ये (१।८५।७) आहुराचार्यपादाः—**"महित्वनेनेति प्राप्ते 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति'** (भा० १।४।९) इति विभक्तेराकारादेशः। अत्र सायणाचार्येण व्यत्ययेन नाभावः कृतः, सोऽशुद्धः। सायणाचार्येण पक्षान्तरे **सुपां सुलुक्०** (अ० ७।१।३९) इति आजादेशो नकारोपजनश्च इत्यपि तत्रैवोक्तं तदपि चिन्त्यम्। अन्यत्र **'महित्वनम्'** (ऋ० १।१६६।१२) इत्यादिप्रयोगदर्शनात् **'महित्वन'** इत्यन्तोदात्तप्रातिपदिकस्य निर्विवादत्वात् ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

---

§ "इत्वनिः प्रत्ययः" इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

$ "यः" इति कपाठः, स च गकोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥

आदि यानों के समान रचता है [(सः)] वह (इत्) ही निरन्तर उपासनीय §मानना चाहिये ॥६॥

भावार्थः—जो विद्वान् †लोग सब जगत् के आकाश में अपने अनन्त बल से धारण करने‡ रचने और सुख देने हारे शुद्ध सर्वशक्तिमान् सब के हृदयों में व्यापक ईश्वर की उपासना करते हैं, वे ही सुख पाते हैं अन्य नहीं ॥६॥

देव सवितरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ किमर्थं परमेश्वर उपास्यः प्रार्थनीयश्चास्तीत्याह ॥

देव॑ सवितः॒ प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य ।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु ॥७॥

दे॑व । स॒वि॒त॒रिति॑ सवितः । प्र । सु॒व । य॒ज्ञम् । प्र । सु॒व । य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् । भगा॑य ॥ दि॒व्यः । ग॒न्ध॒र्वः । के॒त॒पूरिति॑ केत॒ऽपूः । केत॒म् । नः । पु॒ना॒तु॒ । वा॒चः । पतिः॑ । वाच॑म् । न॒ः । स्व॒द॒तु॒ ॥७॥

पदार्थः—(देव) दिव्य विज्ञानप्रद (सवितः) सर्वसिद्ध्युत्पादक (प्र) (सुव) उत्पादय (यज्ञम्) सुखानां संगमकं व्यवहारम् (प्र) (सुव) (यज्ञपतिम्) एतस्य यज्ञस्य पालकम् (भगाय) अखिलैश्वर्याय (दिव्यः) दिवि शुद्धगुणकर्मसु साधुः (गन्धर्वः) यो गां पृथिवीं धरति सः (केतपूः) यः केतेन विज्ञानेन पुनाति (केतम्) विज्ञानम् (नः) अस्माकम् (पुनातु) पवित्रीकरोतु (वाचः) सत्यविद्यान्वितायाः वेदवाण्याः (पतिः) प्रचारेण रक्षकः (वाचम्) वाणीम् (नः) अस्माकम् (स्वदतु) [1]स्वदतां स्वदिष्ठां करोतु, अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम्[2] ॥ [अयं मंत्रः श० ६।३।१।१९ व्याख्यातः] ॥७॥

अन्वयः—हे देव सत्ययोगविद्ययोपासनीय सवितर्भगवन् ! त्वं नो भगाय यज्ञं प्रसुव, यज्ञपतिं प्रसुव । गन्धर्वो दिव्यः केतपूर्भवान्नोस्माकं केतं पुनातु वाचस्पतिर्भवान्नो वाचं स्वदतु ॥७॥

भावार्थः—ये सकलैश्वर्य्योपपन्नं शुद्धं ब्रह्मोपासते, योगप्राप्तये प्रार्थयन्ते, तेऽखिलै-

१. आस्वादयितुम् इति (य० ३०।१), मधुरभाषिणीं स्निग्धां कोमलां करोत्वित्यर्थः ॥
२. मन्त्रोऽयं (य० ३०।१) अर्थभेदेन व्याख्यातः । (य० ९।१) स्वल्पपाठभेदेनार्थभेदेन चापि व्याख्यातः । व्याख्यातोऽयं मन्त्रः पूर्वत्र (य० ९।१ पृ० ७५४, ७५५) ॥

§ "मा नो" इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

† "जो विद्वान् लोग सब जगत् के बीच बीच पोल में अपने अनन्त बल से धारण करने"······ इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

श्वर्य्यं *शुद्धात्मानं कर्त्तुं योगं च प्राप्तुं शक्नुवन्ति । ये जगदीश्वरवाग्वत्स्ववाचं शुन्धन्ति, ते सत्यवाचः[1] सन्तः सर्वक्रियाफलान्याप्नुवन्ति ॥७॥

अब किसलिये परमेश्वर की उपासना और प्रार्थना करनी चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (देव) सत्य योगविद्या से उपासना के योग्य शुद्ध ज्ञान देने (सवितः) और सब सिद्धियों को उत्पन्न करने हारे परमेश्वर! आप (नः) हमारे †(भगाय) सब ऐश्वर्य होने के लिये (यज्ञम्) सुखों को प्राप्त कराने हारे व्यवहार को (प्रसुव) उत्पन्न कीजिये तथा (यज्ञपतिम्) इस सुखदायक व्यवहार के रक्षक जन को (प्रसुव) उत्पन्न कीजिये, (गन्धर्वः) पृथिवी को धरने (दिव्यः) शुद्ध गुण कर्म और स्वभावों में उत्तम और (केतपूः) विज्ञान से पवित्र करने हारे आप (न) हमारे (केतम्) विज्ञान को (पुनातु) पवित्र कीजिये, और (वाचस्पतिः) सत्य विद्याओं से युक्त वेदवाणी के प्रचार से रक्षा करने वाले आप (नः) हमारी (वाचम्) वाणी को (स्वदतु)§ स्वादिष्ट अर्थात् कोमल मधुर कीजिये ॥७॥

भावार्थः—जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना और योगविद्या की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं, वे सब ऐश्वर्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योगविद्या को सिद्ध कर सकते हैं। §जो ईश्वर की वाणी के समान अपनी वाणी को शुद्ध करते हैं, वे सत्यवादी होके सब क्रियाओं के फलों को प्राप्त होते हैं ॥७॥

इम न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । [भुरिक्] शक्वरी छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ सखिविदꣳ सत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्तनि स्वाहा ॥८॥

---

[1]. 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'—(योगसूत्र २।३६)। इस सूत्र का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृ० १८१) में निम्न प्रकार किया है—"सत्याचरण का ठीक ठीक मूल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे वे सब सफल हो जाते हैं" ॥

---

*आत्मानं शुद्धं कर्तुमित्यर्थः ॥

† "(भगाय) सब ऐश्वर्य होने के लिए" इति कपाठः, स च गकोशे प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

§ '(स्वदतु)' इति पाठः कगकोशयोः सन्नपि मुद्रणे प्रमादेन त्यक्तः ॥

§ "जो ईश्वर...करते हैं" इति पाठः ककोशे उपलभ्यते, स गकोशे प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

इमम् । नः । देव । सवितः । यज्ञम् । प्र । नय । देवाव्यमिति देवऽअव्यम् । सखिविदमिति सखिऽविदम् । सत्राजितमिति सत्राऽजितम् । धनजितमिति धनऽजितम् । स्वर्जितमिति स्वःऽजितम् ॥ ऋचा । स्तोमम् । सम् । अर्धय । गायत्रेण । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । बृहत् । गायत्रऽवर्तनीति गायत्रऽवर्तनि । स्वाहा ॥८॥

पदार्थः—(इमम्) उक्तं वक्ष्यमाणं च (नः) अस्माकम् (देव) सत्यकामनाप्रद (सवितः) अन्तर्यामिरूपेण प्रेरक (यज्ञम्) विद्याधर्मसंगमयितारम् (प्र) (नय) प्रापय (देवाव्यम्) देवान् दिव्यान् विदुषो गुणान् वाऽवन्ति येन स देवावीस्तम् । अत्रौणादिक [1]ईप्रत्ययः (सखिविदम्) सखीन् सुहृदो विन्दति येन तम् (सत्राजितम्) सत्रा[2] सत्यं जयत्युत्कर्षति येन तम् (धनजितम्) धनं जगत्युत्कर्षति येन तम् (स्वर्जितम्) स्वः सुखं जयत्युत्कर्षति येन तम् (ऋचा) ऋग्वेदेन (स्तोमम्[3]) स्तूयते यस्तम् (सम्) (अर्धय) वर्धय (गायत्रेण) गायत्रीप्रभृति छन्दसैव (रथन्तरम) रथं रमणीयैर्यानैस्तरन्ति येन तत् (बृहत्*) महत् (गायत्रवर्त्तनि) गायत्रस्य वर्त्तनिर्मार्गो वर्त्तनं यस्मिन् तत् (स्वाहा) सत्य-क्रियया वाचा वा ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।२० व्याख्यातः] ॥८॥

अन्वयः—हे देव सवितर्जगदीश ! त्वं न इमं देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितमृचा स्तोमं यज्ञं स्वाहा प्रणय, गायत्रेण गायत्रवर्त्तनि बृहद्रथन्तरं च समर्धय ॥८॥

भावार्थः—ये जना ईर्ष्याद्वेषादिदोषान् विहायेश्वर इव सर्वैः सह सुहृद्भावमाचरन्ति ते संवर्धितुं शक्नुवन्ति ॥८॥

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (देव) सत्य कामनाओं को पूर्ण करने और (सवितः) अन्तर्यामिरूप से प्रेरणा करने हारे जगदीश्वर ! आप (नः) हमारे (इमम्) पीछे कहे और आगे जिसको कहेंगे उस (देवाव्यम्) दिव्य विद्वान् वा दिव्य गुणों की जिससे रक्षा हो, (सखिविदम्) मित्रों को जिससे प्राप्त हों, (सत्राजितम्) सत्य को जिससे जीतें, (धनजितम्) धन की जिससे उन्नति होवे, (स्वर्जितम्) सुख को जिससे बढ़ावें और (ऋचा) ऋग्वेद से जिसकी (स्तोमम्) स्तुति हो, उस (यज्ञम्) विद्या और धर्म का संयोग कराने हारे यज्ञ को (स्वाहा)

१. 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३।१५८) ॥
२. 'सत्रा' इति सत्यनाम (निघ० ३।१०) ॥
३. ऋचा ऋग्वेदेन, स्तोमेन साम्ना, स्वाहा इति यजुषेत्यपि केचित् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(देवाव्यम्) पूर्वं (य० ७।२२ पृ० ६११) व्याख्यातः ॥

(सखिविदम्) सत्सूद्विषद्रुह० (अ० ३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृति-स्वरश्च ॥

(सत्राजितम्) (धनजितम्) (स्वर्जितम्) अत्र सत्रादिषूपपदेषु जयतेः सत्सूद्विषद्रुह० (अ० ३।२।६१) इत्यादिना क्विप्, कृदुत्तरपदप्रकृति-स्वरश्च ॥

(गायत्रवर्त्तनिः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-पदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे गायत्रशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । पूर्वं (य० ८।४७ पृ० ७२८) व्याख्यातः । (द्र० य० १।२७ पृ० १२५; य० ४।२४ पृ० ३६६) ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* "(बृहत्) महत्" इति कगपाठः, स च मुद्रणे व्यस्त इति ध्येयम् ॥

सत्य क्रिया के साथ (प्रणय) प्राप्त †कराइये, (गायत्रेण) गायत्री आदि छन्द से (गायत्रवर्त्तनि) गायत्री आदि छन्दों को गानविद्या§ के (बृहत्) बड़े [और] (रथन्तरम्) अच्छे अच्छे यानों से जिस के [द्वारा] पार हों उस मार्ग को (समर्धय) अच्छे प्रकार बढ़ाइये ॥८॥

भावार्थः—जो मनुष्य ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़ ईश्वर के समान सब जीवों के साथ मित्रभाव रखते हैं, वे संपत् को प्राप्त हो $सकते हैं ॥८॥

देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । *भुरिगतिशक्वरी छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्या भूमितत्त्वादिभ्यो विद्युतं स्वीकुर्यु रित्याह ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्थादग्निं
पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥९॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसवः‡ इति प्रऽसवे । अश्विनोः । ‡बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ॥ आ । ददे । गायत्रेण । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । पृथिव्याः । सधस्थादिति सधऽस्थात् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । आ । भर । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् ॥९॥

पदार्थः—(देवस्य) सूर्यादिजगतः↓ प्रदीपकस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) सर्वेषामैश्वर्यव्यवस्थां प्रति प्रेरकस्य (प्रसवे) निष्पन्नैश्वर्ये (अश्विनोः) प्राणोदानयोः (बाहुभ्याम्) बलाकर्षणाभ्याम् (पूष्णः) ∫पुष्टिकर्त्र्या विद्युतः (हस्ताभ्याम्) धारणाकर्षणाभ्याम् (आ) (ददे) स्वीकरोमि (गायत्रेण) गायत्रीनिर्मितेनार्थेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरोभिरङ्गारैस्तुल्यम्[1] (पृथिव्याः) (सधस्थात्) सहस्थानात् तलात् (अग्निम्) विद्युदादिस्वरूपं (पुरीष्यम्) पुरीष उदके साधुम् । अत्र पृधातोरौणादिक[2]

१. यथाङ्गारा हस्ताभ्यां दुर्ग्राह्या भवन्ति तथैव विद्वांसोऽपि दुराराध्या इति भावः ॥

२. शॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४।२७) ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अङ्गिरस्वत्) तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः (अ० ५।१।११५) इति वतिः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

† 'कीजिये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥ § 'गान विद्या के' इति कगपाठः ॥

$ 'हो सकते हैं' इति कपाठः । 'होते हैं' इति ग अ० मुद्रिते च पाठः ॥

* "भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिच्छन्दः" इति कपाठः ॥ ‡ "प्रसव, इति प्रऽसवे" इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

‡ "बाहुभ्याम्" इति द्विरावृत्त्यवग्रहरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

↓ "जगते" इति अ० मुद्रिते अपपाठः । कगकोशयोः 'जगतः' इति सम्यगुपलभ्यते ॥

∫ "पुष्टिकर्त्र्या विद्युतः" इति कपाठः । स च गकोशे व्यस्तः ॥

ईषन् किच्च । पुरीषमित्युदकनामसु पठितम् ।। निघ० १ । १२ । (**अङ्गिरस्वत्**) अङ्गिरोभिः प्राणैस्तुल्यम् (**आ**) (**भर**) धर (**त्रैष्टुभेन**) त्रिष्टुभा निर्मितेनार्थेन (**छन्दसा**) स्वच्छन्देन (**अङ्गिरस्वत्**) अङ्गिरोभिरङ्गैस्तुल्यम् ।। [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।३८ व्याख्यातः] ।। ६ ।।

अन्वयः—हे विद्वन् ! अहं यं त्वा देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामङ्गिरस्वदाददे, स त्वं गायत्रेण छन्दसा पृथिव्याः सधस्थादङ्गिरस्वत् त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निमाभर ।। ६ ।।

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—[1]मनुष्यैरीश्वरसृष्टिगुणविदं विद्वांसं संसेव्य पृथिव्यादिस्थोऽग्निः स्वीकार्य्यः ।।६।।

मनुष्य भूमि आदि तत्वों से बिजुली का ग्रहण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष ! मैं जिस (त्वा) आप को (देवस्य) सूर्य आदि सब जगत् के प्रकाश करने और (सवितुः) सब ऐश्वर्य ‡के लिये व्यवस्था की प्रेरणा करने वाले ईश्वर के (प्रसवे) सिद्ध हुये ऐश्वर्य में (अश्विनोः) प्राण और उदान के (बाहुभ्याम्) बल और आकर्षण से तथा (पूष्णः) पुष्टिकारक बिजुली के (हस्ताभ्याम्) धारण और आकर्षण से (अङ्गिरस्वत्) अंगारों के समान[2] (आददे) ग्रहण करता हूं, सो आप (गायत्रेण) गायत्री मंत्र से निकले (छन्दसा) आनन्ददायक अर्थ के साथ (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थात्) †एक स्थान से (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य और (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् मन्त्र से निकले (छन्दसा) स्वतन्त्र अर्थ के साथ (अङ्गिरस्वत्) §अङ्गों के सदृश (पुरीष्यम्) जल को उत्पन्न करने हारे (अग्निम्) बिजुली आदि तीन प्रकार के अग्नि को (आभर) धारण कीजिये ।।६।।

इस मंत्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर की सृष्टि के गुणों को जानने हारे विद्वान् की अच्छे प्रकार सेवा ʃकरके पृथिवी आदि पदार्थों में रहने वाले अग्नि को स्वीकार करें ।।६।।

(**सधस्थात्**) पूर्व (य० ५।१८ पृ० ४६७) व्याख्यातः ।।

(**पुरीष्यम्**) 'पुरीषम्' इति पूर्व (य० ५। १३ पृ० ४५१) व्याख्यातः । ततः **तत्र साधु** (अ० ४।४।९८) इति यत् । **तित् स्वरितम्** (अ० ६।१।१८५) इत्यन्तस्वरितः ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ।।

१ "मनुष्यैः······स्वीकार्यः" इति दूरान्वयी सम्बन्धोऽत्र बोध्यः ।।

२ जैसे अङ्गारों को हाथ में उठाना कठिन कार्य है, वैसे ही विद्वानों की सेवा भी महा कठिन कार्य है । इतने अंश में ही इसका तात्पर्य समझना चाहिये ।।६।।

---

‡ "के लिए······(प्रसवे) सिद्ध हुए ऐश्वर्य में" इति कपाठः । गकोशे मुद्रणे च प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ।।

† 'समान स्थान से' इत्यभिप्रायः ।।

§ "चिह्नों" इति अ० मुद्रिते पाठः ।।

ʃ "करने और पृथिवी" इति अ० मुद्रिते पाठः ।।

अभ्रिरसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं भूम्यादेः सुवर्णादीनि प्राप्तव्यानीत्याह ॥

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ सधस्थ आ ।
जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥१०॥

अभ्रिः । असि । नारी । असि । त्वया । वयम् । अग्निम् । शकेम । खनितुम् । सधस्थ इति सधऽस्थे । आ ॥ जागतेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् ॥ १० ॥

पदार्थः—(**अभ्रिः**) **अयोमयं खननसाधनम्** (**असि**) *__अस्ति__ (**नारी**) **नरस्य स्त्रीव साध्यसाधिका** (**असि**) **अस्ति** (**त्वया**) †**त्वया** (**वयम्**) ([1]**अग्निम्**) **विद्युदादिम्** (**शकेम**) **शक्नुयाम** (**खनितुम्**) (**सधस्थे**) **समानस्थाने** (**आ**) (**जागतेन**) **जगत्या विहितेन साधनेन** (**छन्दसा**) (**अङ्गिरस्वत्**) **प्राणैस्तुल्यम्** ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।३९ व्याख्यातः]॥१०॥

§**अन्वयः**—हे शिल्पिन् ! त्वया **सह** सधस्थे **वर्त्तमाना** वयं **या**ऽभ्रिरसि नार्य्यसि **यां** गृहीत्वा जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदग्निं खनितुं [आ शकेम] **शक्नुयाम, तां त्वं** [2]**निर्मिमीष्व**$ ॥ १० ॥

भावार्थः—**मनुष्यैः सुसाधनैः पृथिवीं खनित्वाऽग्निना** [**च**] **संयोज्य सुवर्णादीनि निर्मातव्यानि, परन्तु पूर्वं भूगर्भतत्त्वविद्यां प्राप्यैवं कर्त्तुं शक्यमिति वेदितव्यम्** ॥ १० ॥

१. अत्र (आरम्भतो दशमन्त्रेषु) अग्निशब्देन आग्नेयं सुवर्णं ग्राह्यम् । कुतः ? सुवर्णादयो धातवः आग्नेया इति नैयायिकाः प्रतिजानते (द्रष्टव्यं वैशेषिकप्रशस्तपादभाष्ये तेजोनिरूपणे कन्दलीटीकायामपि पृ० २५,२६ तथा ४०,४१) । न च पृथिवीस्थस्याग्नेः कथमपि खननसम्भव इति कृत्वाऽग्निकार्ये सुवर्णादौ कारणशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । अत एवास्य मन्त्रस्यारम्भिकसङ्गतौ "मनुष्यैः कथं भूम्यादेः सुवर्णादीनि प्राप्तव्यानीत्याह" इत्युक्तम् । यथा भूम्यामग्न्यादीनां यथावत्संयोगेन सुवर्णादयो धातवो निष्पद्यन्ते, तेषां यथावद् विज्ञानेन तत्प्रयोगेण च लोकेऽपि सुवर्णादयो निष्पादयितुं शक्यन्ते, तदेव निदर्शयितुं भावार्थ उक्तम्—"अग्निना संयोज्य सुवर्णादीनि निर्मातव्यानीति"॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**अभ्रिः**) अभ्रवभ्रमभ्रचर गत्यर्थाः । **सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४।११८) इति 'इन्' । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(**नारी**) पूर्वं (भाग १, पृ० ४६७) व्याख्यातः ॥

(**खनितुम्**) खनतेः तुमुनि नित्त्वादाद्युदात्तः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

२. (i) ताम् अभ्रिमिति शेषः । (ii) अयमन्वयः ककोशे स्वल्पभेदेनास्ति, स च गकोशे परिवर्त्तितस्तथैव भाषापदार्थेऽपीति ध्येयम् ॥ १० ॥

* 'अस्ति, अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः' इति कपाठः ॥

† 'यया' इति अ० मुद्रिते पाठः । ककोशेऽस्य भाषापदार्थः संशोधितः, तदनुसारम् अत्र 'त्वया' इत्येव सम्यक् पाठः ॥

§ ककोशस्यान्वये भिन्नः पाठः, भाषापदार्थेऽपि । गकोशे परिवर्त्तने व्यस्तोऽभूत् ॥

$ 'निर्मिमीरन्' इति कपाठः; 'निर्मातव्यम्' इति गपाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

मनुष्य लोग भूमि आदि से सुवर्ण आदि पदार्थों को कैसे प्राप्त करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे कारीगर $पुरुष ! (त्वया) तेरे साथ (सधस्थे) एक स्थान में वर्त्तमान (वयम्) हम लोग जो (अभ्रिः) भूमि खोदने [हारो (असि) है] और (नारी) विवाहित उत्तम स्त्री के समान कार्यों को सिद्ध करने हारी लोहे आदि की कसी (असि) है, जिससे कारीगर लोग भूगर्भविद्या को जान सकें, उसको ग्रहण करके (जागतेन) जगती मन्त्र से विधान किये (छन्दसा) सुखदायक स्वतन्त्र साधन से (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य (अग्निम्) विद्युत् आदि अग्नि को (खनितुम्) ʃखोदने के लिये (आ शकेम) सब प्रकार समर्थ हों, उसको तू बना ।। १० ।।

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि अच्छे खोदने के साधनों से पृथिवी को खोद और अग्नि के साथ संयुक्त करके सुवर्ण आदि पदार्थों को बनावें । परन्तु पहले भूगर्भ की तत्त्व-विद्या को प्राप्त होके ऐसा कर सकते हैं, ऐसा निश्चय जानना चाहिये ।। १० ।।

हस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । [भुरिग्] आर्षी [पङ्क्तिः] छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।।

पुनः स एव विषय उच्यते ।।

हस्तऽआधाय सविता बिभ्रदभ्रिᳬ हिरण्ययीम् ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ।। ११ ।।

हस्ते । आधायेत्याऽधाय । सविता । बिभ्रत् । अभ्रिम् । हिरण्ययीम् ।। अग्नेः । ज्योतिः । निचाय्येति निऽचाय्य । पृथिव्याः । अधि । आ । अभरत् । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् ।। ११ ।।

पदार्थः—(हस्ते) करे (आधाय) (सविता) ऐश्वर्यवान् (बिभ्रत्) धरन् (अभ्रिम्) खननसाधकं शस्त्रम् (हिरण्ययीम्) तेजोमयीम् (अग्नेः) विद्युदादेः (ज्योतिः) द्योतमानम् (निचाय्य) (पृथिव्याः) (अधि) (आ) (अभरत्) धरेत् (आनुष्टुभेन) अनुष्टुब्विहितार्थ-युक्तेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरसा [1]प्राणेन *तुल्यस्य ।। [अयं मन्त्रः श० ६।३।१।४१ व्याख्यातः] ।। ११ ।।

१. अङ्गिरसा प्राणेन तुल्यम् (ऋक् २।१७।१ भाष्ये) ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आधाय) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लित्-स्वरेण 'धा' उदात्तः ।।

(बिभ्रत्) पूर्वं (य० ३।४१ पृ० ३१७) व्याख्यातः ।।

(हिरण्ययीम्) पूर्वं (य० ८।२६ पृ० ६६९) व्याख्यातः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

$ 'पुरुष जो (त्वया)' इति अ० मुद्रिते पाठः ।।

ʃ अत्र 'खोजने' इत्यपि सम्भवति, अग्रे (य० ११।२१) भाषापदार्थे "(खनन्तः) खोज करते हुये" इत्युपलम्भात् ।।

* 'तुल्यस्य' अग्नेर्विशेषणत्वादत्र षष्ठी ।।

अन्वयः—सविता ऐश्वर्य्यप्रसावकः [1]शिल्प्यानुष्टुभेन छन्दसा हिरण्ययीमभ्रिं हस्ते †आधाय बिभ्रत् सन्नङ्गिरस्वदग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ ११ ॥

भावार्थः—[2]मनुष्यैर्यथाऽयसि पाषाणे च विद्युद्वर्त्तते तथैव सर्वत्र पदार्थेषु प्रविष्टास्ति, तद्विद्यां §विज्ञाय कार्य्येषूपयुज्य भूमावाग्नेयादीन्यस्त्राणि विमानादीनि यानानि वा साधनीयानि ॥ ११ ॥

फिर भी उसी उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

पदार्थः—(सविता) ऐश्वर्य का उत्पन्न करने हारा कारीगर मनुष्य (आनुष्टुभेन) अनुष्टुप् छन्द में कहे हुए (छन्दसा) स्वतन्त्र अर्थ के योग से (हिरण्ययीम्) तेजोमय शुद्ध धातु से बने (अभ्रिम्) खोदने के शस्त्र को (हस्ते) हाथ में [(आधाय)] लिये [(बिभ्रत्) धारण किये] हुए (अङ्गिरस्वत्) प्राण के तुल्य (अग्नेः) विद्युत् आदि अग्नि के (ज्योतिः) तेज को (निचाय्य) निश्चय करके (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि) ऊपर (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जैसे लोहे और पत्थरों में बिजुली रहती है, वैसे ही सब पदार्थों में प्रवेश कर रही है, उस की विद्या को ठीक ठीक जान और कार्यों में उपयुक्त करके इस पृथिवी पर आग्नेय आदि अस्त्र और विमान आदि यानों को सिद्ध करें ॥ ११ ॥

प्रतूर्तमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । वाजी देवता । आस्तारपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम् ।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित् ॥ १२ ॥

प्रतूर्तमिति प्रऽतूर्तम् । वाजिन् । आ । द्रव । वरिष्ठाम् । अनु । *संवतमिति सम्ऽवतम् ॥ दिवि । ते । जन्म । परमम् । अन्तरिक्षे । तव । नाभिः । पृथिव्याम् । अधि । योनिः । इत् ॥ १२ ॥

---

१. ऐश्वर्योत्पादनहेतुत्वादत्र सवितृपदेन शिल्पी ग्रहीतुं शक्यत इति ध्येयम् ॥ २. 'मनुष्यैः…… … … ……साधनीयानीति' सम्बन्धः ॥ ११ ॥

---

† 'आधाय' इति कगकोशयोर्नास्त्येव, मुद्रणे परिवर्धित इति ध्येयम् ॥

§ 'विज्ञायैताम्' इति कगपाठः, स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

* 'सम्बतमिति सम्ऽबतम्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । एवं सर्वत्र पदार्थादावपि वस्थाने बः पठ्यते ॥

पदार्थः—(प्रतूर्तम्) [1]अतितूर्णम् (वाजिन्) प्रशस्तज्ञानयुक्त विद्वन् (आ) (द्रव) आगच्छ (वरिष्ठाम्) अतिशयेन वरां गतिम् (अनु) (संवतम्) सम्यग्विभक्ताम् (दिवि) सूर्यप्रकाशे (ते) तव (जन्म) प्रादुर्भावः (परमम्) (अन्तरिक्षे) अवकाशे (तव) (नाभिः) (पृथिव्याम्) (अधि) उपरि (योनिः) निमित्तं प्रयोजनम् (इत्) एव ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।२।२ व्याख्यातः] ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे वाजिन् ! यस्य ते तव शिल्पविद्यया दिवि परमं जन्म, तवाऽन्तरिक्षे नाभिः, पृथिव्यां योनिरस्ति, स त्वं विमानान्यधिष्ठाय वरिष्ठां संवतं गतिं प्रतूर्त्तमिदन्वाद्रव ॥ १२ ॥

भावार्थः—यदा मनुष्या विद्याहस्तक्रिययोर्मध्ये परमप्रयत्नेन [2]प्रादुर्भूत्वा विमानादीनि यानानि [3]विधाय गतानुगतं शीघ्रं कुर्वन्ति, तदा तेषां श्रीः सुलभा भवति ॥ १२ ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) प्रशंसित ज्ञान से युक्त विद्वन् ! जिस (ते) आपका [4]शिल्प-विद्या से (दिवि) सूर्य्य के प्रकाश में (परमम्) उत्तम (†जन्म) प्रादुर्भाव, (तव) आप का (अन्तरिक्षे) आकाश में (नाभिः) बन्धन, और (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (योनिः) निमित्त प्रयोजन है, सो आप विमानादि यानों के [(अधि)] अधिष्ठाता होकर (वरिष्ठाम्) अत्यन्त उत्तम (संवतम्) अच्छे प्रकार विभाग की हुई गति को (प्रतूर्तम्) अतिशीघ्र (इत्) ही (अनु) पश्चात् (आ) (द्रव) अच्छे प्रकार §प्राप्त हूजिये ॥ १२ ॥

---

१. **यद्वै क्षिप्रं तत् तूर्तम्, अथ यत् क्षिप्रात् क्षेपीस्तत् प्रतूर्तम् ॥ श० ६।३।२।२ ॥**

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रतूर्तम्) प्रपूर्वाद् **'जित्वरा सम्भ्रमे'** (भ्वा० आ०) इत्यस्मात् क्तः प्रत्ययः । प्रादिसमासे **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।१) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । **नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्त०** (अ० ८।२।६१) इति नत्वाभावः ॥

(वरिष्ठाम्) वरशब्दाद् **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (अ० ५।३।५५) इति 'इष्ठन्' । नित्वादाद्युदात्तः । ततः स्त्रियां टाप् । उरुशब्दस्य वरादेशः (अ० ६।४।१५७) इति तु व्युत्पत्त्यन्तरम् ॥

(संवतम्) संपूर्वाद् **'वन षण सम्भक्तौ'** (भ्वा०प०) इत्यस्मात् क्विप् । **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्०** (अ० ६।४।३७) इत्यादिना नकारलोपः, ततः **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (अ० ६।१।७१) इति तुक् ॥

(जन्म) पूर्वं (य० ८।३ पृ० ६५६) व्याख्यातः ॥

(नाभिः) पूर्वं (भाग १, पृ० ६५) व्याख्यातः ॥

(योनिः) पूर्वं (भाग १, पृ० १६६) व्याख्यातः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

२. साम्प्रतिकानां मते 'प्रादुर्भूय' इति ॥

३. विपूर्वो धाञ् करोत्यर्थेऽभिपूर्वस्तु भाषणे ।
सम्पूर्वो मेलने प्रोक्तो निपूर्वः स्थापने मतः ॥
इति वैयाकरणाः ॥

४. शिल्पविद्यावित् मनुष्य की (अर्थात् उसके ज्ञान की) उत्पत्ति, स्थिति और प्रयोजन का वर्णन इस मन्त्र में है । शिल्पविद्या से युक्त विद्वान् का सूर्य के प्रकाश में ज्ञान का प्रादुर्भाव, आकाश में बन्धन=उस ज्ञान की स्थिति, तथा उस ज्ञान का प्रयोजन, तथा पृथिवीस्थ पदार्थों में उपयोग यहां अभिप्रेत है। अर्थात् सूर्य, अन्तरिक्ष और पृथिवी इन तीनों से शिल्पविद्यावित् को यथायोग्य उपकार लेना चाहिये ॥१२॥

---

† '(जन्म) प्रसिद्धि' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

§ 'चलिये' इति अ० मुद्रिते पाठः । गत्यर्थात्तु 'चाल चलिये' इति वा स्यात् ॥

भावार्थः—जब मनुष्य लोग विद्या और क्रिया के बीच में परम प्रयत्न के साथ प्रसिद्ध हो [कर] और विमान आदि यानों को रच के शीघ्र जाना आना करते हैं, तब उन को धन की प्राप्ति सुगम होती है ॥ १२ ॥

युञ्जाथामित्यस्य कुश्रिर्ऋषिः । वाजी देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं क्व योजनीयमित्याह ॥

युञ्जाथाꣳ रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू । अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥ १३ ॥

युञ्जाथाम् । रासभम् । युवम् । अस्मिन् । यामे । वृषण्वसू इति वृषण्ऽवसू ॥ अग्निम् । भरन्तम् । अस्मयुमित्यस्मऽयुम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(युञ्जाथाम्) (रासभम्) जलाग्न्योर्वेगगुणाख्यमश्वम् (युवम्) युवां शिल्पितत्स्वामिनौ (अस्मिन्) (यामे) याति येन यानेन तस्मिन् (वृषण्वसू) [1]वर्षकौ वसन्तौ च (अग्निम्) प्रसिद्धं विद्युतं वा (भरन्तम्) धरन्तम् (अस्मयुम्) अस्मान् यापयितारम् । अत्रास्मदुपपदाद्याधातोरौणादिकः कुः । छान्दसो वर्णलोपो वेति [महा० ८।२।२५] दलोपः ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।२।३ व्याख्यातः] ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे वृषण्वसू सूर्यवायूइव शिल्पिनौ ! युवमस्मिन् यामे रासभमस्मयुं भरन्तमग्निं युञ्जाथाम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—यैर्मनुष्यैरस्मिन्* याने यन्त्रकलाजलाग्निप्रयोगाः क्रियन्ते ते सुखेन देशान्तरं गन्तुं शक्नुवन्ति ॥ १३ ॥

---

१. सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात् (अ० २।२।२९ भा०वा०) इति भाष्यवार्तिकेन युगपद्विवक्षायामेव द्वन्द्वो भवति । इयं च युगपदधिकरणता सरूपाणाम्० (अ० १।२।६४) सूत्रभाष्ये सूपपादिता तत्रापि द्रष्टव्या, तद्यथा—'अथापि निदर्शयितुं बुद्धिः, एवं निदर्शयितव्यम्—वृक्षौ च वृक्षौ च वृक्षौ, वृक्षाश्च वृक्षाश्च वृक्षाश्च वृक्षाः' (पृ० ८२) ॥

अथ व्याकरण प्रक्रिया

(रासभम्) रासति शब्दयतीति रासभस्तम्, रासिवल्लिभ्यां च (उ० ३।१२५) इत्यभच् । निदनुवृत्तेर्नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(यामे) अर्त्तिस्तुसुहु० (उ० १।१४०) इत्यादिना यातेर्मन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(भरन्तम्) भरतेः शतृप्रत्यये शब्विकरणे कृते तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशा० (अ० ६।१।१८६) इत्यादिना लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । विभक्तेर्वा बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७६) इति शपः श्लुर्न भवति ॥

(अस्मयुम्) अस्मदुपपदाद् यातेः मृगय्वादयश्च (उ० १।३७) इति कुः प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । पक्षान्तरे—'अस्मत्' शब्दात् सुप आत्मनः क्यच् (अ० ३।१।८) इति क्यच् । क्याच्छन्दसि (अ० ३।२।१७०) इत्युः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । छान्दसो दकारलोप उभयत्र समानः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'यस्मिन्' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'यस्मिन्' इति पाठे 'क्रियन्ते' इत्यत उत्तरं 'तेन' इति पदं योजनीयं, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् ॥

फिर मनुष्यों को क्या कहां जोड़ना चाहिए, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (वृषण्वसू) सूर्य्य और वायु के समान सुख वर्षाने वा सुख में वसने हारे कारीगर तथा उसके स्वामी लोगो ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मिन्) इस (यामे) यान में (रासभम्) जल और अग्नि के वेगगुणरूप अश्व तथा (अस्मयुम्) हम को ले चलने तथा (भरन्तम्) धारण करने हारे (अग्निम्) प्रसिद्ध वा बिजुली रूप अग्नि को (युञ्जाथाम्) युक्त करो ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य इस विमान आदि यान में यन्त्र कला जल और अग्नि के प्रयोग करते है, वे सुख से दूसरे देशों में जाने को समर्थ होते हैं ॥ १३ ॥

योगेयोग इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । गायत्री छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

प्रजाजनाः कीदृशं राजानमङ्गीकुर्य्युरित्याह ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखायऽइन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

योगेयोग इति योगेऽयोगे । तवस्तरमिति तवःऽतरम् । वाजेवाज इति वाजेऽवाजे । हवामहे ॥ सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥ १४ ॥

पदार्थः—(योगेयोगे) युञ्जते यस्मिन् यस्मिन् (तवस्तरम्) अत्यन्तं बलयुक्तम् तव इति बलनामसु पठितम् ॥ निघं० २।९ । ततस्तरप् । (वाजेवाजे) सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे (हवामहे) आह्वयामहे (सखायः) परस्परं सुहृदः सन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्ययुक्तं राजानम् (ऊतये) रक्षणाद्याय ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।२।४ व्याख्यातः] ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे सखायः ! यथा वयमूतये योगेयोगे वाजेवाजे तवस्तरमिन्द्रं हवामहे, तथा यूयमप्येतमाह्वयत ॥ १४ ॥

भावार्थः—ये परस्परं [1]मित्रा भूत्वाऽन्योन्यस्य रक्षार्थं बलिष्ठं धार्मिकं राजानं स्वीकुर्वन्ति, ते निर्विघ्नाः सन्तः सुखमेधन्ते[2] ॥ १४ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(योगेयोगे) 'युजिर योगे' (रु० उ०) इत्यस्माद् हलश्च (अ० ३।३।१२१) इति घञ् । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । वीप्सायां द्वित्वे, परस्य **अनुदात्तं च** (अ० ८।१।३) इत्यनुदात्तत्वम् ॥

(तवस्तरम्) 'तु गतिवृद्धिहिंसासु' (अ० प०) इत्यस्मात् **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४। १८९) इत्यसुन्, वृषादेराकृतिगणत्वादन्तोदात्तत्वम् । **गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्** (अ० ५।२। ९४ वा०) इति लुकि, अतिशायने तरप् प्रत्ययः, स च पित्त्वादनुदात्तः ॥

(वाजेवाजे) निरुक्तोऽयं वाजशब्दः पूर्वं (भाग १, पृ० १७१) । द्वित्वे परस्यानुदात्तत्वं च पूर्ववत् ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. 'मित्र' शब्दोऽर्धर्चादिपाठादुभयलिङ्गः । देवतावाची पुंल्लिङ्गः, सुहृद्वाची नपुंसकलिङ्ग इत्यर्वाचीनाः । विषयविभागस्त्वयं प्रामाणिकग्रन्थेषु नोपलभ्यते, इत्यतः सामान्येनैवास्योभयलिङ्गत्वं द्रष्टव्यम् ॥

२. अत्रान्तर्भूतो ण्यर्थ इति ध्येयम् ॥ १४ ॥

प्रजाजन कैसे पुरुष को राजा मानें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सखायः) परस्पर मित्रता रखने हारे लोगो ! जैसे हम लोग (ऊतये) रक्षा आदि के लिये (योगेयोगे) *जिस जिस में युक्त होते हैं, उस उस तथा (वाजेवाजे) सङ्ग्राम सङ्ग्राम के बीच (तवस्तरम्) अत्यन्त बलवान् (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्त पुरुष को राजा (हवामहे) मानते हैं, वैसे ही तुम लोग भी मानो ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परस्पर मित्र हो के एक दूसरे की रक्षा के लिये अत्यन्त बलवान् धर्मात्मा पुरुष को राजा मानते हैं, वे सब विघ्नों से अलग हो के सुख की उन्नति कर सकते हैं ॥ १४ ॥

प्रतूर्वन्नित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । गणपतिर्देवता । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुना राजा किं कृत्वा किं प्राप्नुयादित्याह ॥

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

प्रतूर्वन्निति प्रऽतूर्वन् । आ । इहि । अवक्रामन्नित्यवऽक्रामन् । अशस्तीः । रुद्रस्य । गाणपत्यमिति गाणऽपत्यम् । मयोभूरिति मयःऽभूः । आ । इहि ॥ उरु । अन्तरिक्षम् । वि । इहि । स्वस्तिगव्यूतिरिति स्वस्तिऽगव्यूतिः । अभयानि । कृण्वन् । पूष्णा । सयुजेति सऽयुजा । सह ॥ १५ ॥

पदार्थः—(प्रतूर्वन्) हिंसन् (आ) (इहि) आगच्छ (अवक्रामन्) †देशदेशान्तरानुल्लङ्घयन् (अशस्तीः) अप्रशस्ताः शत्रुसेनाः (रुद्रस्य) शत्रुरोदकस्य स्वसेनापतेः (गाणपत्यम्) गणानां सेनासमूहानां पतित्वम् (मयोभूः) मयः सुखं भावयन् (आ) (इहि) (उरु) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (वि) (इहि) विविधतया गच्छ (स्वस्तिगव्यूतिः) स्वस्ति सुखेन सह गव्यूतिर्मार्गो यस्य सः (अभयानि) स्वराज्ये सेनायां चाविद्यमानं भयं येषु तानि (कृण्वन्) सम्पादयन् (पूष्णा) पुष्टेन स्वकीयेन सैन्येन (सयुजा) यत्समानं युनक्ति तेन सहितः (सह) साकम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।२।७,८ व्याख्यातः] ॥ १५ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रतूर्वन्) (अवक्रामन्) प्रावपूर्वाभ्यां तूर्वतिक्रामतिभ्यां शतृप्रत्ययः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा०** (अ० ६।१।१८६) इत्यादिना शतुर्निघाते कृते धातुस्वरः ॥

(अशस्तीः) नञ्समासे तत्पुरुषे **तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(गाणपत्यम्) **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (अ० ५।१।१२४) इत्यनेन ष्यञ्, ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(स्वस्तिगव्यूतिः) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।

* 'जिस-जिस में (वाजे-वाजे) हों संग्राम' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

† 'देशदेशान्तराणि' इति तु साम्प्रतिकानां मते स्यात् ॥

अन्वयः—हे राजन् ! स्वस्तिगव्यूतिस्त्वं सयुजा §पूष्णा सहाशस्तीः प्रतूर्वन्नेहि, शत्रुदेशानवक्रामन्नेहि, मयोभूस्त्वं रुद्रस्य गाणपत्यमेहि, अभयानि कृण्वन् $सन्नुर्वन्तरिक्षं वीहि ॥१५॥

भावार्थः—राजा सदैव स्वसेनां सुशिक्षितां हृष्टां पुष्टां रक्षेत् । यदाऽरिभिः सह योद्धुमिच्छेत् तदा स्वराज्यमनुपद्रवं संरक्ष्य युक्त्या बलेन च शत्रून् हिंसेत् ∫श्रेष्ठान् [1]वा पालयित्वा सर्वत्र सत्कीर्तिं प्रसारयेत् ॥ १५ ॥

फिर राजा क्या करके किसको प्राप्त हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजन् ! (स्वस्तिगव्यूतिः) सुख के साथ जिस का मार्ग[2] है ऐसे आप (सयुजा) एक साथ युक्त करने वाली (पूष्णा) बल पुष्टि से युक्त अपनी सेना के (सह) साथ (अशस्तीः) शत्रुओं की ‡निन्दित सेनाओं को (प्रतूर्वन्) मारते हुए (एहि) प्राप्त हूजिये । शत्रुओं के देशों का (अवक्रामन्) उल्लङ्घन करते हुए (एहि) आइये । (मयोभूः) सुख को उत्पन्न करने वाले आप (रुद्रस्य) शत्रुओं को रुलाने हारे अपने सेनापति के (गाणपत्यम्) सेनासमूह के स्वामीपन को प्राप्त हूजिये, और (अभयानि) अपने राज्य में सब प्राणियों को भयरहित (कृण्वन्) ††करते हुए (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वीहि) विविध प्रकार से प्राप्त हूजिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—राजा को अति उचित है कि अपनी सेना को सदैव अच्छी शिक्षा हर्ष उत्साह और पोषण से युक्त रक्खे । जब शत्रुओं के साथ युद्ध किया चाहे तब अपने राज्य को उपद्रवरहित कर युक्ति तथा बल से शत्रुओं को मारे, और सज्जनों की रक्षा करके सर्वत्र सुन्दर कीर्ति फैलावे ॥ १५ ॥

पृथिव्या इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अग्निर्देवता । *भुरिगार्षीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः छन्दः ॥

मनुष्यैः कस्माद् विद्युत् स्वीकार्य्येत्याह ॥

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः ॥ १६ ॥

'स्वस्ति' शब्दः पूर्वं (य० ४।३३ पृ० २७८) व्याख्यातः ॥

(अभयानि) आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।९१ भा० वा०) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(सयुजा) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. चार्थेऽत्र 'वा' शब्दः ॥

२. अर्थात् जिस का मार्ग सुखदायक है ॥१५॥

§ 'पूष्णा सयुजा' इति अ० मुद्रिते पाठक्रमः ॥ $ 'सन्नन्तरिक्षमुरु' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

∫ 'वा श्रेष्ठान्' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥ ‡ 'निन्दित शत्रुओं की सेनाओं' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

†† 'करते हुए (अन्तरिक्षम्) (उरु) परिपूर्ण' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

* 'निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

पृथिव्याः । सधस्थादिति सधऽस्थात् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । आ । भर । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । अच्छ । इमः । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । भरिष्यामः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(पृथिव्याः) भूमेरन्तरिक्षस्य[1] वा (सधस्थात्) सहस्थानात् (अग्निम्) भूमिस्थं विद्युतं वा (पुरीष्यम्) यः सुखं पृणाति स पुरीषस्तत्र साधुम् (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरसा [2]सूर्येण तुल्यम् (आ) (भर) धर (अग्निम्) अन्तरिक्षे वाय्वादिस्थम् (पुरीष्यम्) (अङ्गिरस्वत्) (अच्छ) उत्तमरीत्या (इमः) प्राप्नुमः (अग्निम्) (पुरीष्यम्) (अङ्गिरस्वत्) (भरिष्यामः) धरिष्यामः ॥[अयं मन्त्रः श० ६।३।२।६; ६।३।३।५ व्याख्यातः]॥१६॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यथा [3]वयं पृथिव्याः सधस्थादङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निमच्छेमः, यथा चाङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निं भरिष्यामस्तथा त्वमप्यङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निमाभर ॥ १६ ॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—मनुष्यैर्विदुषामेवाऽनुकरणं कर्त्तव्यं नाऽविदुषाम् । सर्वदोत्साहेनाऽग्न्यादिपदार्थविद्यां गृहीत्वा सुखं वर्द्धनीयम् ॥ १६ ॥

मनुष्य किस पदार्थ से बिजुली का ग्रहण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थः—हे विद्वन् ! जैसे हम लोग (पृथिव्याः) भूमि और अन्तरिक्ष के (सधस्थात्) समान स्थान से (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के समान (पुरीष्यम्) अच्छा सुख देने हारे (अग्निम्) [4]भूमिमण्डल की बिजुली को (अच्छ) उत्तम रीति से (इमः) प्राप्त होते [हैं], और जैसे [हम] (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के समान (पुरीष्यम्) उत्तम सुखदायक (अग्निम्) अन्तरिक्षस्थ बिजुली को (भरिष्यामः) धारण करें, वैसे आप भी (अङ्गिरस्वत्) सूर्य्य के समान (पुरीष्यम्) उत्तम सुख देनेवाले (अग्निम्) पृथिवी पर वर्त्तमान अग्नि को (आभर) अच्छे प्रकार धारण कीजिये ॥१६॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों †का अनुकरण करें मूर्खों का नहीं, और सब काल में उत्साह के साथ अग्नि आदि की पदार्थविद्या का ग्रहण करके सुख बढ़ाते रहें ॥१६॥

---

१. 'पृथिवी' इति द्यावापृथिव्योर्नामधेयम् (निघ० ३।३०)। यद्वा—पृथिवी शब्दस्यान्तरिक्षस्थदेवतासु पाठादन्तरिक्षवाचित्वं द्रष्टव्यम् ॥

२. अङ्गारेष्वङ्गिराः (निरु० ३।१७) ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सधस्थात्) पूर्वं (भाग १, पृ० ४६०) व्याख्यातः ॥

(पुरीष्यम्) पूर्वं (य० ३।४० पृ० ३१५) व्याख्यातः ॥ **॥इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

३. पदार्थविद्याविदो विद्वांस आहुरित्यभिप्रायः ॥

४. अर्थात् भूमि के भीतर रहने वाली बिजुली वा अग्नि को ॥ १६ ॥

---

† 'विद्वानों के समान काम करें, मूर्खवत् नहीं' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

अन्वग्निरित्यस्य पुरोधा ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ।।

विद्वांसः किंवत्किं कुर्य्युरित्युपदिश्यते ।।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवीऽआ ततन्थ ।। १७ ।।

अनु । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । अनु । अहानि । प्रथमः । जातवेदा इति जातऽवेदाः ।। अनु । सूर्यस्य । पुरुत्रेति पुरुऽत्रा । च । रश्मीन् । अनु । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । आ । ततन्थ ।। १७ ।।

पदार्थः—(अनु) (अग्निः) पावकः **(उषसाम्) (अग्रम्) पूर्वम् (**[1]**अख्यत्) प्रख्यातो भवति (अनु) (अहानि) दिनानि (प्रथमः) (जातवेदाः) यो जातेषु विद्यते स** [2]**सूर्य्यः (अनु) (सूर्यस्य) (पुरुत्रा) बहून् (च) (रश्मीन्) (अनु) (द्यावापृथिवी) (आ) (ततन्थ) तनोति ।।** [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।६ व्याख्यातः] ।। १७ ।।

अन्वयः—हे विद्वन् ! त्वं यथा प्रथमो जातवेदा अग्निरुषसामग्रमहान्यन्वख्यत्, सूर्य्यस्याग्रं पुरुत्रा रश्मीनन्वाततन्थ, द्यावापृथिवी च अन्वख्यत्, **तथा विद्याव्यवहारानन्वातनु**[3] ।। १७ ।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा कारणकार्य्याख्यो विद्युदग्निरनुपूर्वं [4]**सवित्रुषोदिनानि कृत्वा पृथिव्यादीनि प्रकाशयति, तथा विद्वद्भिः सुशिक्षां कृत्वा ब्रह्मचर्य्यविद्याधर्माऽनुष्ठानसुशीलानि सर्वत्र प्रचार्य सर्वे** [जनाः] **ज्ञानानन्दाभ्यां प्रकाशनीयाः ।। १७ ।।**

विद्वान् लोग किस के समान क्या करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थः—हे विद्वन् ! आप जैसे (प्रथमः) (जातवेदाः) उत्पन्न हुए पदार्थों में पहिले ही विद्यमान सूर्य्यलोक और (अग्निः) [अग्नि] (उषसाम्) उषःकाल से (अग्रम्) पहिले ही (अहानि) दिनों को (अन्वख्यत्) प्रसिद्ध करता है, (सूर्य्यस्य) सूर्य्य के (अग्रम्) पहिले (पुरुत्रा) बहुत (रश्मीन्) किरणों को (अन्वाततन्थ) फैलाता [है (च)] तथा (द्यावा-

---

१. **अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (अ० ३।१।५२)** इति लुङि रूपम् ।।

२. **अप्युत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते । (निरु० ७।२०)** ।।

३. 'आतनुहि' इति त्वजमेरमुद्रितेऽपपाठः । **उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम् (अ० ६।४।१०६ वा०)** इति छन्दसि 'आतनुहि' इत्यपि सम्भवति ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उषसाम्) शब्दोऽयं पूर्वं (य० ३।१० पृ० २६२) व्याख्यातः ।।

(पुरुत्रा) पूर्वं (भाग १, पृ० ७५०) व्याख्यातः ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

४. कार्याख्याग्नेः प्रथमं सूर्यस्य प्रादुर्भावः, तत उषस उत्पत्तिः, ततश्च दिनस्येति भावः ।।१७।।

पृथिवी) सूर्य्य और पृथिवी लोक को [(अनु)] प्रसिद्ध करता है, वैसे विद्या के व्यवहारों का [(अनु)] *विस्तार कीजिये ॥ १७ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे कारण रूप विद्युत् और कार्य्यरूप प्रसिद्ध अग्नि क्रम से सूर्य्य, उषःकाल और दिनों को उत्पन्न करके पृथिवी आदि पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, वैसे ही विद्वानों को चाहिये कि सुन्दर शिक्षा दे ब्रह्मचर्य्य विद्या धर्म्म के अनुष्ठान और अच्छे स्वभाव आदि का सर्वत्र प्रचार करके सब मनुष्यों को ज्ञान और आनन्द से प्रकाशयुक्त करें ॥ १७ ॥

आगत्येत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ सभेशः किंवत्किं कुर्य्यादित्याह ॥

आगत्यं वाज्यध्वानꣳ सर्वा मृधो वि धूनुते ।
अग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा नि चिकीषते ॥ १८ ॥

आगत्येत्याऽगत्यं । वाजी । अध्वानम् । सर्वाः । मृधः । वि । धूनुते ॥ अग्निम् । सधस्थ इति सध-ऽस्थे । महति । चक्षुषा । नि । चिकीषते ॥ १८ ॥

पदार्थः—(आगत्य) (वाजी) वेगवानश्वः (अध्वानम्) मार्गम् (सर्वाः) ([1]मृधः) संग्रामान् (वि) (धूनुते) कम्पयति (अग्निम्) (सधस्थे) सहस्थाने (महति) विशाले (चक्षुषा) नेत्रेण (नि) ([2]चिकीषते) चेतुमिच्छति ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।८ व्याख्यातः] ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् राजन् ! भवान् यथा वाज्यश्वोऽध्वानमागत्य सर्वा मृधो विधूनुते, **यथा गृहस्थश्चक्षुषा** महति सधस्थेऽग्निं निचिकीषते, **तथा सर्वान् संग्रामान् विधूनोतु गृहे गृहे विद्यानिचयं च करोतु ॥ १८ ॥**

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—गृहस्था अश्ववद् गत्वागत्य शत्रून् जित्वाग्नेयास्त्रादिविद्यां संपाद्य बलाबलं पर्य्यालोच्य रागद्वेषादीन् शमित्वाऽधार्मिकान् शत्रून् जयेयुः ॥ १८ ॥

अब सभापति राजा किस के समान क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थः—हे †विद्वन् राजन् ! आप जैसे (वाजी) वेगवान् घोड़ा (अध्वानम्) अपने मार्ग को (आगत्य) प्राप्त हो के (सर्वाः) सब (मृधः) संग्रामों को (विधूनुते) कंपाता है,

१. 'मृधः' इति सङ्ग्रामनाम । (निघ० २।१७) ॥
२. विभाषा चेः (अ० ७।३।५८) इति कुत्वविकल्पः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आगत्य) आङ्पूर्वाद् गमेः क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् ॥१८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'व्यवहारों की प्रवृत्ति कीजिये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
† 'विद्वन्' इति शब्दः ककोशेऽस्ति, ग अजमेरमुद्रिते च नास्ति ॥

और जैसे गृहस्थ पुरुष (चक्षुषा) नेत्रों से (महति) सुन्दर (सधस्थे) समान स्थान में (अग्निम्) अग्नि का (निचिकीषते) चयन किया चाहता है, वैसे सब संग्रामों को कंपाइये और घर घर में विद्या का प्रचार कीजिये ।। १८ ।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—गृहस्थों को चाहिये कि घोड़ों के समान जाना आना कर, शत्रुओं को जीत, आग्नेयादि अस्त्रविद्या को सिद्ध कर, अपने बलाबल को विचार और राग द्वेष आदि दोषों की शान्ति करके अधर्मी शत्रुओं को जीतें ।। १८ ।।

आक्रम्येत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।।

मनुष्यजन्म प्राप्य विद्या अधीत्यातः *परं किं कर्त्तव्यमित्याह ।।

आक्रम्यं वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम् ।
भूम्यां वृत्वायं नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम् ।। १९ ।।

आक्रम्येत्याऽक्रम्यं । वाजिन् । पृथिवीम् । अग्निम् । इच्छ । रुचा । त्वम् ।। भूम्याः । वृत्वायं । नः । ब्रूहि । यतः । खनेम । तम् । वयम् ।। १९ ।।

पदार्थः—(आक्रम्य) (वाजिन्) प्रशस्तविज्ञानवन् (पृथिवीम्) भूमिराज्यम् (अग्निम्) अग्निविद्याम् (इच्छ) (रुचा) प्रीत्या (त्वम्) (भूम्याः) क्षितेर्मध्ये (वृत्वाय) स्वीकृत्य । अत्र क्त्वो यक् [अ० ७।१।४७] इति यगागमः । (नः) अस्मान् (ब्रूहि) भूगर्भाग्निविद्यामुपदिश (यतः) (खनेम) (तम्) भूगोलम् (वयम्) ।। [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।११ व्याख्यातः] ।। १९ ।।

अन्वयः—हे वाजिन् विद्वन् सभेश राजंस्त्वं रुचा शत्रूनाक्रम्य पृथिवीमग्निं चेच्छ भूम्या नो वृत्वाय ब्रूहि यतो वयं तं खनेम ।। १९ ।।

भावार्थः—मनुष्यैर्भूगर्भाग्निविद्यया पार्थिवान् पदार्थान् सुपरीक्ष्य सुवर्णादीनि रत्नान्युत्साहेन प्राप्तव्यानि । ये खनितारो भृत्याः सन्ति तान् प्रति तद्विद्योपदेष्टव्या ।। १९ ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आक्रम्य) आङ्पूर्वात् क्रमेः क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशे तस्यानुदात्तत्वे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे **लिति** (अ० ६।१।१८८) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् ।।

(रुचा) **साबेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः** (अ० ६।१।१६८) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ।।

(वृत्वाय) वृणोतेः क्त्वाप्रत्यये, **क्त्वो यक्** (अ० ७।१।४७) इति यगागमे, तस्य **'आगमा अनुदात्ता भवन्ति'** इत्यनुदात्तत्वे प्रत्ययस्वरः ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

---

* 'अतः किं' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'अतः परं किं' इति कपाठः, स च गकोशे लेखकप्रमादात् त्यक्तः ।।

मनुष्य जन्म पा और विद्या पढ़ के पश्चात् क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थः— हे (वाजिन्) प्रशंसित ज्ञान वाले सभापति विद्वान् राजा ! (त्वम्) आप (रुचा) प्रीति से शत्रुओं को (आक्रम्य) पादाक्रान्त कर (पृथिवीम्) भूमि के राज्य और (अग्निम्) [अग्नि] विद्या की (इच्छ) इच्छा कीजिये, और (भूम्याः) पृथिवी के बीच (नः) हम लोगों को (वृत्वाय) स्वीकार करके हमारे लिये (ब्रूहि) भूगर्भ और अग्निविद्या का उपदेश कीजिये, (यतः) जिस से (वयम्) हम लोग (तम्) उस विद्या में (खनेम) [1]प्रविष्ट होवें ।। १९ ।।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि भूगर्भ और अग्नि विद्या से पृथिवी के पदार्थों की† अच्छे प्रकार परीक्षा करके, सुवर्ण आदि रत्नों को उत्साह के साथ §प्राप्त करें, और जो पृथिवी को खोदने वाले नौकर चाकर हैं, उन को इस विद्या का उपदेश करें ।। १९ ।।

द्यौस्त इत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । निचृदार्षी बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ।।

मनुष्याः किं कृत्वा *किं साध्नुयुरित्याह ।।

द्यौस्ते॑ पृ॒ष्ठं पृ॑थि॒वी स॒धस्थ॑मा॒त्मान्तरि॑क्षꣳ समु॒द्रो योनि॑ः ।
वि॒ख्याय॒ चक्षु॑षा॒ त्वम॒भि ति॑ष्ठ पृतन्य॒तः ।। २० ।।

द्यौः । ते॒ । पृ॒ष्ठम् । पृ॒थि॒वी । स॒धस्थ॒मिति॑ स॒धऽस्थ॑म् । आ॒त्मा । अ॒न्तरि॑क्षम् । स॒मु॒द्रः । योनि॑ः ।। वि॒ख्याये॒ति॑ विऽख्याय॑ । चक्षु॑षा । त्वम् । अ॒भि । ति॒ष्ठ । पृ॒त॒न्य॒तः ।। २० ।।

पदार्थः—(द्यौः) प्रकाश इव विनयः (ते) तव (पृष्ठम्) अर्वाग्व्यवहारः (पृथिवी) भूमिरिव (सधस्थम्) सहस्थानम् (आत्मा) स्वस्वरूपम् (अन्तरिक्षम्) आकाशइवाक्षयोऽक्षोभः (समुद्रः) सागर इव (योनिः) निमित्तम् (विख्याय) प्रसिद्धीकृत्य (चक्षुषा) [2]लोचनेन (त्वम्) (अभि) आभिमुख्ये (तिष्ठ) (पृतन्यतः) आत्मनः [3]पृतनामिच्छतो जनस्य ।। [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।१२ व्याख्यातः] ।। २० ।।

अन्वयः—हे विद्वन् राजन् ! यस्य ते तव द्यौ पृष्ठं पृथिवी सधस्थमन्तरिक्षमात्मा समुद्रो योनिरस्ति स त्वं चक्षुषा विख्याय पृतन्यतोऽभितिष्ठ ।। २० ।।

---

१. अर्थात् उस विद्या का अन्वेषण करें ।। १९ ।।
२. 'विचारेण' इत्यर्थः ।।
३. 'पृतना' इति सङ्ग्रामनाम ।(निघ० १।१७)।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(विख्याय) विपूर्वात् ख्याधातोः क्त्वा-प्रत्यये ल्यबादेशे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरः।। **(पृतन्यतः)** पूर्वं (भाग १, पृ० ७२३) व्याख्यातः ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

---

† 'पदार्थों की' इति कपाठः । गकोशेऽजमेरमुद्रिते च 'पदार्थों को' इत्यपपाठः ।।

§ 'प्राप्त होवें' इति अ० मुद्रिते पाठः ।।

* 'किं साध्नुयुः.........' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'किं कृत्वा किं साध्नुयुः' इति कग-कोशयोः पाठः । स च मुद्रण समये प्रमादात् त्यक्तः स्यादिति प्रतिभाति ।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः[1] ।

भावार्थः—यो न्यायपथानुगामी, दृढोत्साहस्थानात्मा यस्य प्रयोजनानि विवेकसाध्यानि सन्ति, तस्य वीरसेना जायते, स ध्रुवं विजयं कर्त्तुं शक्नुयात् ॥ २० ॥

मनुष्य क्या करके क्या सिद्ध करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थः—हे विद्वन् राजन् ! जिस (ते) आप का (द्यौः) प्रकाश के तुल्य विनय (पृष्ठम्) इधर का व्यवहार (पृथिवी) भूमि के समान (सधस्थम्) साथ स्थिति (अन्तरिक्षम्) आकाश के समान अविनाशी धैर्ययुक्त (आत्मा) अपना स्वरूप और (समुद्रः) समुद्र के तुल्य (योनिः) निमित्त है, सो (त्वम्) आप (चक्षुषा) विचार के साथ (विख्याय) अपना ऐश्वर्य प्रसिद्ध करके (पृतन्यतः) अपनी सेना को लड़ाने की इच्छा करते हुये मनुष्य के (अभि) सन्मुख (तिष्ठ) स्थित हूजिये ॥ २० ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है[1] ।

भावार्थः—†जो पुरुष न्याय मार्ग के अनुसार चले, उत्साह स्थान और आत्मा जिसके दृढ़ हों, जिसके प्रयोजन विचार से सिद्ध करने योग्य हों, उसकी सेना वीर होती है, वह निश्चय विजय करने को समर्थ होवे ॥ २० ॥

❀

उत्क्रामेत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । द्रविणोदा देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैरिह परमपुरुषार्थेनैश्वर्य्यं *जनितव्यमित्याह ॥

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् ।
वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थेऽअस्याः ॥ २१ ॥

उत् । क्राम । महते । सौभगाय । अस्मात् । आस्थानादित्याऽस्थानात् । द्रविणोदा इति द्रविणःऽदाः । वाजिन् ॥ वयम् । स्याम । सुमताविति सुऽमतौ । पृथिव्याः । अग्निम् । खनन्तः । उपस्थ इत्युपऽस्थे । अस्याः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(उत्) (क्राम) (महते) (सौभगाय) शोभनैश्वर्य्याय (अस्मात्) ([2]आस्थानात्) निवासस्थानस्य सकाशात् (द्रविणोदाः) धनप्रदः (वाजिन्) प्राप्तैश्वर्य्य (वयम्)

१. संस्कृतपदार्थे '(द्यौः) प्रकाश इव विनयः' इत्यनेकत्र 'इव' पदप्रयोगादत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारो द्रष्टव्यः ॥ २० ॥

२. सम्यक् तिष्ठन्ति यस्मिन् तदिदमास्थानम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सौभगाय) सुभगमेव सौभाग्यम्, 'सुभगमन्त्रे' इत्युद्गात्राद्यन्तर्गतगणसूत्रेण (अ० ५।१।१२९) अञ् । हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च

† 'जो पुरुष न्यायमार्ग के अनुसार उत्साह स्थान और आत्मा जिसके दृढ हों, विचार से सिद्ध करने योग्य जिसके प्रयोजन हों, उसकी.........' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

*साम्प्रतिकानां मते 'जनयितव्यम्' इति स्यात् ॥

(स्याम) (सुमतौ) शोभनप्रज्ञायाम् (पृथिव्याः) भूमेः (अग्निम्) (खनन्तः) (उपस्थे) सामीप्ये (अस्याः) ।। [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।१३ व्याख्यातः] ।। २१ ।।

(अ० ७।३।१९) इत्युभयपदवृद्धिः प्राप्ता, तत्र दृष्टानुविधिश्छन्दसीति नियमादुत्तरपदवृद्धिर्नेष्यते, ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

(आस्थानात्) **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।।

(द्रविणोदाः) **द्रुदक्षिभ्यामिनन्** (उ० २। ५०) इति 'इनन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तोऽयं 'द्रविण' शब्दः । तद् ददातीति **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः । यद्वा—'**द्रविणांसि विद्याबलराज्यधनानि ददातीति स परमेश्वरो भौतिको वा** (ऋ० १।१५।७ द० भा०)' । अस्मिन् पक्षे—**द्रुदक्षिभ्यामिनन्** (उ० २।५०) इति इनन् प्रत्ययः । द्रविणमिवाचरति द्रविणति, **सर्वधातुभ्य आचारे क्विब् वक्तव्यः** (अ० ३।१।१० वा०) इति क्विप् । तस्मात् **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इति असुन्प्रत्यये 'द्रविणस्' शब्दः सकारान्तः । तद् ददातीति व्युत्पत्तौ **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४। १८९) इति दाधातोरपि पुनः असुन्प्रत्यये 'द्रविणोदस्' शब्दः । ततः सौ **अत्वसन्तस्य चाधातोः** (अ० ६।४।१४) इत्युपधादीर्घत्वे द्रविणोदाः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेऽन्तोदात्तत्व इष्टस्वरसिद्धिः ।।

अत्राभिसन्धिः—

यत्त्वत्र **सायणाचार्येण** ऋ० १।१५।७ भाष्ये—'**नित्त्वादाद्युदात्तो द्रविणशब्दः । तद् ददातीति द्रविणोदाः । क्विप् च** (अ० ३।२। ७६) **इति क्विप् । पूर्वपदस्य सकारोपजनश्छान्दसः** ।' इत्याद्युक्तम् तदसत् । कुतः ? निरुक्तकारेण (निरु० ८। १-२) '**द्रविणोदसम्**' इत्यादिप्रयोगादस्य शब्दस्य सकारान्तत्वमभिमतम्, न तु दीर्घान्तत्वम् इति । तद्यथा—'**अथाप्यग्निं द्रविणोदसमाह ।......यथो एतदग्निं द्रविणोदसमाहेति । ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते**' (निरु० ८।२) ।।

अनेन सकारान्तोऽयं द्रविणोदस् शब्दो यास्कमतनास्मिन् मन्त्र इति सुव्यक्तम् । क्विपि न सकारान्तत्वं सम्पद्यते, सौ (प्रथमैकवचने) तु 'द्रविणोदाः' इति सिद्ध्येदपि, अमि (द्वितीयैकवचने) तु 'द्रविणोदसं' 'द्राविणोदसं' वा न कथमपि निष्पत्स्यते, इत्यशुद्धमेव 'क्विप् च' इति व्याख्यानं सायणाचार्यस्य ।

अत एवाचार्यदयानन्देन **ऋ०** १।१५।७ भाष्ये असुन्प्रत्ययं प्रदर्शयता साधूक्तम्—"**सायणाचार्येण 'द्रविणोदाः' इति पदं क्विबन्तं साधितं, तदप्यशुद्धमेवास्ति । निरुक्तकारस्य द्रविणोदसमित्यादिव्याख्यानविरोधात् ।।**"

अत्र निरुक्तकारेण सहास्य सायणभाष्यस्य विरोध इत्येव प्रदर्शितं भवत्याचार्यदयानन्देन ।।

यत्तु सायणः ऋ० १।९६।१ भाष्य आह—'**सकारान्तं त्वसुनि कृते निष्पद्यते ।**' तत्तु साधुः।।

ननु च 'द्रविणोद' इत्यकारान्तः, 'द्रविणोदा' इत्याकारान्तः, 'द्रविणोदस्' इति सकारान्तः । एवं त्रयोऽपि समानार्था ऋग्वेदे दृश्यन्ते । ते च 'क' 'विच्' 'असुन्' प्रत्ययान्ताः । तस्मात् क्विबन्तोऽपि सम्भवति । एवं द्रविणद्रविणसौ अपि समानार्थौ, इति चेन्न । त्रिविधोऽयं शब्द इति तु वयमपि मन्यामहे । विच्-प्रत्ययान्तोऽयमिति त्वाचार्यदयानन्देन स्वयमपि व्युत्पाद्यते (द्र० ऋ० १।९६।१ द० भाष्ये) । क्विप्प्रत्ययान्तोऽयं शब्दः सम्भवत्येव नेति तु नास्माकं पक्षः । ऋ० १।१५।७ प्रकृतमन्त्रव्याख्याने यास्केन सकारान्तोऽयं शब्द इति व्याख्यातम् । तेन ज्ञायते 'दसु उपक्षये' इत्येतस्येदं रूपं, निरुक्ते सकारान्तस्वीकारादिति भावः । विशेषतस्त्वस्यैव मन्त्रव्याख्याने यास्केनेदं सर्वमुक्तमित्यप्यत्र विचारार्हमिति ।।

देवराजस्तु—पृ० ४६१ 'ऋतुयाजप्रैषेषु सकारलोपो द्रष्टव्यः' इत्याह । 'द्रविणोदाम्' इत्यादिष्विति भावः । सोऽपि ऋ० १।१५।७ इति मन्त्रमुद्धृत्यैव निर्दिशतीति ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

[1]अन्वयः—हे वाजिन् विद्वन् ! यथा द्रविणोदा अस्याः पृथिव्याः अस्मादास्थानादुपस्थेऽग्निं खनन्तो वयं महते सौभगाय सुमतौ प्रवृत्ताः स्याम, तथा त्वमुत्क्राम ॥ २१ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः[2] ॥]

भावार्थः—मनुष्या इहैश्वर्य्यप्राप्तये सततमुत्तिष्ठेरन्, परस्परं सम्मत्या पृथिव्यादेः सकाशाद्रत्नानि प्राप्नुयुः ॥ २१ ॥

मनुष्यों को योग्य है कि इस संसार में परम पुरुषार्थ से ऐश्वर्य उत्पन्न करें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थ[3]:—हे (वाजिन्) ऐश्वर्य्य को प्राप्त हुए विद्वन् ! जैसे (द्रविणोदाः) धनदाता (अस्याः) इस (पृथिव्याः) भूमि के (अस्मात्) इस (आस्थानात्) निवास के स्थान से (उपस्थे) समीप में (अग्निम्) अग्नि विद्या का (खनन्तः) खोज करते हुए (वयम्) हम लोग (महते) बड़े (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य्य के लिये (सुमतौ) अच्छी बुद्धि में प्रवृत्त (स्याम) होवें, वैसे आप (उत्क्राम) उन्नति को प्राप्त हूजिये ॥ २१ ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है[2] ॥]

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि इस संसार में ऐश्वर्य पाने के लिये निरन्तर उद्यत रहें, और आपस में हिल मिल के पृथिवी आदि पदार्थों से रत्नों को प्राप्त होवें ॥२१॥

उदक्रमीदित्यस्य मयोभूर्ऋषिः । द्रविणोदा देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

मनुष्या इह किंवद् भूत्वा किं प्राप्नुयुरित्याह ॥

उद॑क्रमीद् द्रवि॒णोदा॑ वा॒ज्यर्वाकः॑ सु॒लोक॑ꣳ सुकृ॑तं पृथि॒व्याम् ।
तत॑: खनेम सु॒प्रती॑कम॒ग्निꣳ स्वो॒ रुहा॑णा॒ऽअधि॒नाक॑मुत्त॒मम् ॥ २२ ॥

---

१. मुद्रितान्वये 'द्रविणोदाः' 'अस्मादास्थानात्' इति पदद्वयम् अनन्वितम् इव प्रतिभाति, वयं तु—'हे वाजिन् विद्वन् ! यथाऽस्याः पृथिव्या उपस्थेऽग्निं खनन्तो वयं महते सौभगाय सुमतौ प्रवृत्ताः स्याम, तथा त्वं द्रविणोदाः अस्मादास्थानादुत्क्राम'—एवं सम्यक्तरोऽन्वयः स्यादिति प्रतीमः ॥

२. कोष्ठान्तर्गतः पाठो लेखकप्रमादात् त्यक्त इति प्रतीमः तथैव भाषायामपीति ध्येयम् ॥

३. संस्कृत में लिखे अन्वय के अनुसार हिन्दी पदार्थ भी यहां इस प्रकार समझना चाहिये—'हे (वाजिन्) ऐश्वर्य को प्राप्त हुए विद्वन् ! जैसे (अस्याः) इस (पृथिव्याः) भूमि के (उपस्थे) समीप में (अग्निम्) अग्नि विद्या का (खनन्तः) खोज करते हुए (वयम्) हम लोग (महते) (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिए (सुमतौ) अच्छी बुद्धि में (स्याम) प्रवृत्त होवें, वैसे (द्रविणोदाः) धनदाता आप (अस्मात्) इस (आस्थानात्) स्थिति से (उत्क्राम) उन्नति को प्राप्त हूजिये ॥ २१ ॥

उत् । अक्रमीत् । द्रविणोदा इति द्रविणःऽदाः । वाजी । अर्वा । अकरित्यकः । सु । लोकम् । सुकृतमिति सुऽकृतम् । पृथिव्याम् ॥ ततः । खनेम । सुप्रतीकमिति सुऽप्रतीकम् । अग्निम् । *स्वरिति स्वः । रुहाणाः । अधि । नाकम् । उत्तममित्युत्ऽतमम् ॥ २२ ॥

पदार्थः—(उत्) (अक्रमीत्) उत्तमतया क्रमणं कुर्यात् (द्रविणोदाः) धनदाता (वाजी) वेगवान् (अर्वा) अश्व इव (अकः) कुर्यात् (सु) (लोकम्) द्रष्टव्यम् (†सुकृतम्) धर्माचारेण प्राप्यम् (पृथिव्याम्) (ततः) (खनेम) ([1]सुप्रतीकम्) शोभना §प्रतीतिर्यस्य तम् (अग्निम्) व्यापकं विद्युदाख्यम् (स्वः) सुखम् (रुहाणाः) प्रादुर्भवन्तः (अधि) (नाकम्) अविद्यमानदुःखम् (उत्तमम्) अतिश्रेष्ठम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।१४ व्याख्यातः] ॥२२॥

अन्वयः—हे भूगर्भविद्याविद्विद्वन् ! द्रविणोदा भवान् यथा वाज्यर्वा तथा पृथिव्यामभ्युदक्रमीत्, सुलोकं सुकृतमुत्तमं नाकमकः सिद्धं कुर्य्यात् । ततः स्वो रुहाणा वयमप्यस्यां सुप्रतीकमग्निं खनेम ॥ २२ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! सर्वे वयं मिलित्वा यथा पृथिव्यामश्वो विक्रमते तथा पुरुषार्थिनो भूत्वा पृथिव्यादिविद्यां प्राप्य दुःखान्युत्क्रम्य$ [(च)] सर्वोत्तमं सुखं ∫प्राप्नुयाम ॥२२॥

मनुष्य इस संसार में किस के समान होके किस को प्राप्त हों,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

पदार्थः—हे भूगर्भ विद्या के जानने हारे विद्वन् ! (द्रविणोदाः) धनदाता आप जैसे (वाजी) बल [वेग] वाला (अर्वा) घोड़ा ऊपर को [2]उछलता है, वैसे (पृथिव्याम्)

---

१. 'सुष्ठु प्रतीकं प्रतीतिकर ज्ञानं यस्य' (य० १७।५३ भाष्ये)। 'शोभनानि प्रतीकानि कृतानि येन तम्' (ऋ० ६।१५।१३ भाष्ये) ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सुप्रतीकम्) शोभनः प्रतीको यस्य स सुप्रतीकः । **क्त्वादयश्च** (अ० ६।२।११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । प्रतीकशब्दस्तु प्रतिपूर्वाद् 'इण् गतौ' इत्यस्माद् **अलीकादयश्च** (उ० ४।२५) इति निपातनादीकन्, गुणाभावः समुदायाद्युदात्तत्वं च निपातनादेव ॥

(रुहाणाः) रुह धातोर्व्यत्ययेन शानच्, **बहुलं छन्दसि** (अ० २।४।७३) इति शपो लुक्, शानचो ङित्त्वाद् गुणाभावः । चित्स्वरे प्राप्ते बाहुलकाद् धातुस्वरोऽत्र बोध्यः ॥

सायणस्तु—ऋग्भाष्ये (ऋ० १।३२।८) व्यत्ययेन शानच् शब्विकरणश्च । अनित्यमागमशासनमिति मुगभावः, विकरणस्वरे प्राप्ते बाहुलकादेव धातुस्वर इत्याह ॥

॥ इति व्याकरण प्रक्रिया ॥

२. अर्थात् जब तक घोड़ा बलयुक्त, हृष्ट पुष्ट न हो तब तक वह उछल नहीं सकता । इससे विद्वान् को भी हृष्ट पुष्ट होना चाहिये ॥२२॥

---

* 'स्वीतति स्व' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† '(सुकृतम्) धर्माचरणं प्राप्यम्' इति तु कपाठः ॥

§ 'शोभना प्रीतिर्यस्य' इति अ० मुद्रिते पाठः । कगकोशयोस्तु 'शोभना प्रतीतिर्यस्य' इत्येव शुद्धः पाठः ॥

$ 'उत्क्राम्य' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः, 'उत्क्रम्य' इति तु कगपाठः ॥

∫ 'प्राप्नुयामः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । कगकोशयोस्तु 'प्राप्नुयाम' इत्येव शुद्धः पाठः ॥

पृथिवी के बीच (अधि) (उदक्रमीत्) सब से अधिक उन्नति को ‡प्राप्त हूजिये, (सुलोकम्) अच्छा देखने योग्य (सुकृतम्) धर्माचरण से प्राप्त होने योग्य (उत्तमम्) अति श्रेष्ठ (नाकम्) सब दुखों से रहित सुख को (अकः) सिद्ध कीजिये, (ततः) इसके पश्चात् (स्वः) सुखपूर्वक (रुहाणाः) प्रकट होते हुए हम लोग भी इस पृथिवी पर (सुप्रतीकम्) §§अच्छी प्रतीति अर्थात् ज्ञान के विषय (अग्निम्) व्यापक ∫∫बिजुली रूप अग्नि विद्या को (खनेम) खोज करें ॥ २२ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे पृथिवी पर [वेगवान्] घोड़े अच्छी अच्छी चाल चलते हैं, वैसे हम तुम सब मिल कर पुरुषार्थी हों, पृथिवी आदि की पदार्थविद्या को प्राप्त हों, और दुःखों को दूर करके सब से उत्तम सुख को प्राप्त हों ॥ २२ ॥

आ त्वेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

मनुष्या व्यापिनं वायुं केन जानीयुरित्याह ॥

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा ।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम् ॥ २३ ॥

आ । त्वा । जिघर्मि । मनसा । घृतेन । प्रतिक्षियन्तमिति प्रतिऽक्षियन्तम् । भुवनानि । विश्वा ॥ पृथुम् । तिरश्चा । वयसा । बृहन्तम् । व्यचिष्ठम् । अन्नैः । रभसम् । दृशानम् ॥२३॥

पदार्थः—(आ) (त्वा) त्वाम् ([1]जिघर्मि) (मनसा) (घृतेन) आज्येन (प्रतिक्षियन्तम्) *प्रत्यक्षं निवसन्तम् (भुवनानि) भवन्ति येषु तानि वस्तूनि (विश्वा) सर्वाणि (पृथुम्) विस्तीर्णम् (तिरश्चा) येन तिरोऽञ्चति तेन (वयसा) जीवनेन (बृहन्तम्) महान्तम् (व्यचिष्ठम्) अतिशयेन [2]विचितारं प्रक्षेप्तारम् (अन्नैः) यवादिभिः (रभसम्) वेगवन्तम् (दृशानम्) संप्रेक्षणीयम्[3] ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।१९ व्याख्यातः] ॥ २३ ॥[4]

१. 'घृ क्षरणदीप्त्योः' (जु० प०) इति छान्दसो धातुः ॥

२. व्यच् धातोस्तृचि कुटादित्वान् ङित्त्वे ग्रहिज्या० (अ० ६।१।१६) इति सम्प्रसारणम् ॥

३. अत्र ज्ञानसामान्यमभिप्रेतम्, न चाक्षुषप्रत्यक्षम्, वायोश्चाक्षुषप्रत्यक्षत्वाभावात् त्वाचप्रत्यक्षत्वाच्च ॥

४. 'जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा' (ऋ० २।१०।४) स्वल्पपाठभेदेन मन्त्रोऽयं तत्राग्निविद्याग्रहणविषये शोभनो व्याख्यातस्तत एव द्रष्टव्यः ॥

‡ 'प्राप्त हूजिये । (सुकृतम्) धर्माचरण से प्राप्त होने योग्य (सुलोकम्) अच्छा देखने योग्य (उत्तमम्)' इत्यजमेरमुद्रिते क्रमः, स चान्वयाननुगतः ॥

§§ 'सुन्दर प्रीति का विषय' इत्यजमेरमुद्रिते गकोशे च पाठः ॥

∫∫ 'बिजुली रूप अग्नि का' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'बिजुली रूप अग्नि विद्या का' इति कपाठः॥

* 'प्रत्यक्षं निवसन्तं क्षियन्तम्' इति कगकोशयोः पाठः ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासो ! यथाऽहं मनसा घृतेन सह विश्वा भुवनानि प्रतिक्षियन्तं तिरश्चा वयसा पृथुं बृहन्तमन्नैः [च] सह रभसं व्यचिष्ठं दृशानं वायुमाजिघर्मि तथा [त्वा] त्वामप्येनं धारयामि ॥ २३ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्या अग्निद्वारा सुगन्ध्यादीनि द्रव्याणि वायौ प्रक्षिप्य तेन †सुगन्धेनारोगीकृत्य दीर्घं जीवनं प्राप्नुवन्तु ॥ २३ ॥

मनुष्य व्यापक वायु को किस साधन से जानें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे ज्ञान चाहने वाले पुरुष ! जैसे मैं (मनसा) मन तथा (घृतेन) घी के साथ (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकस्थ वस्तुओं में (प्रतिक्षियन्तम्) प्रत्यक्ष निवास और निश्चयकारक (तिरश्चा) [1]तिरछे चलने रूप (वयसा) जीवन से (पृथुम्) विस्तारयुक्त (बृहन्तम्) बड़े (अन्नैः) जौ आदि अन्नों के साथ (रभसम्) बल वाले (व्यचिष्ठम्) अतिशय करके फेंकने वाले[2] (दृशानम्) §जानने योग्य वायु के गुणों को (आजिघर्मि) अच्छे प्रकार प्रकाशित करता हूं, वैसे (त्वा) आप को भी इस वायु$ के गुणों का धारण कराता हूं ॥२३॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्य अग्नि के द्वारा सुगन्धि आदि द्रव्यों को वायु में पहुंचा उस सुगन्ध से रोगों को दूर कर अधिक अवस्था को प्राप्त होवें ॥ २३ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रतिक्षियन्तम्) प्रतिपूर्वात् क्षियतेः शतृप्रत्यये शविकरणे च कृते **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे विकरणस्वरः ॥

(तिरश्चा) तिरःपूर्वादञ्चतेः क्विपि तृतीयैकवचने **अचः** (अ० ६।४।१३८) इत्यकारलोपे **अञ्चतेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्** (अ० ६।१।१७०) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(वयसा) वेतेः **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इत्यसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(व्यचिष्ठम्) **'व्यच व्याजीकरणे'** (तु० ५०) इत्यस्मात् **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इत्यसुन, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । **गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्** (अ० १।२।१) इति ङित्त्वे प्राप्ते **व्यचेः कुटादित्वमनसि** (अ० १।२।१ वा०) इति ङित्त्वाभावे **ग्रहिज्यावयिव्यधि**० (अ० ६।१।१६) इति सम्प्रसारणाभावः । ततः **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (अ० ५।३।५५) इतीष्ठन्, नित्स्वरः ॥ यद्वा—व्यचस्शब्दाद् **अस्मायामेधास्रजो विनिः** (अ० ५।२।१२१) इति विनिः । **विन्मतोर्लुक्** (अ० ५।३।६५) इति इष्ठन् लुक् च । टिलोपे नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(दृशानः) **युधिबुधिदृशेः किच्च** (उ० २।९०) इत्यानच् प्रत्ययः किच्च । चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते बाहुलकादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा—दृशानपदस्यान्तोदात्तत्वस्यापि दर्शनात् (य० १२।१) **विभाषा वेण्विन्धानयोरित्यत्रोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्** ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

१. तिर्यग्गमनस्वभावः । वैशेषिकप्रशस्तपादभाष्ये वायुनिरूपणे ॥

२. शब्दधृतिकम्पलिङ्गः । वैशेषिक प्रशस्तपादभाष्ये वायुनिरूपणे ॥२३॥

---

† 'तेन युक्तसुगन्धेन' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'तद्युक्तसुगन्धेन' इति कपाठः, स च साधीयान् ॥

§ 'देखने योग्य' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥ $ 'वायु के गुण जनाता हूं' इति कपाठः ॥

आ विश्वत इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः कीदृशौ वाय्वग्नी स्त इत्याह ॥

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत ।
मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णोऽअग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २४ ॥

आ । विश्वतः । प्रत्यञ्चम् । जिघर्मि । अरक्षसा । मनसा । तत् । जुषेत ॥ मर्यश्रीरिति मर्यऽश्रीः । स्पृहयद्वर्ण इति स्पृहयत्ऽवर्णः । अग्निः । न । अभिमृश इत्यभिऽमृशे । तन्वा । जर्भुराणः ॥२४॥

पदार्थः—(आ) (विश्वतः) सर्वतः (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यगञ्चतीति शरीरस्थं वायुम् (जिघर्मि) (अरक्षसा) [1]**रक्षोवद्दुष्टतारहितेन (मनसा) चित्तेन (तत्) तेजः (*जुषेत) सेवेत (मर्य्यश्रीः)** [2]**मर्य्याणां मनुष्याणां श्रीरिव [श्रीर्यस्य] (स्पृहयद्वर्णः) यः स्पृहयद्भि-र्वर्ण्यते स्वीक्रियते स इव (अग्निः) शरीरस्था विद्युत् (न) इव (अभिमृशे) आभिमुख्येन मृशन्ति सहन्ते येन तस्मै (तन्वा) शरीरेण (जर्भुराणः) भृशं गात्राणि विनामयत् । अत्र जृभीधातो-रौणादिक [बाहुलकात्] उरानन् प्रत्ययः ।।** [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।२० व्याख्यातः] ॥२४॥[3]

[4]**अन्वयः—**†**मनुष्यो** न **यथा** विश्वतोऽग्नि**र्वायुश्चा**भिमृशे [**हितकारी**]ऽस्ति, **यथा** तन्वा जर्भुराणः स्पृहयद्वर्णो मर्यश्रीरहं यं प्रत्यञ्चमरक्षसा मनसाऽऽजिघर्मि **तथा** तज्जुषेत§ ॥२४॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं लक्ष्मीप्रापकैरग्न्यादिपदार्थैर्विदितैः कार्य्येषु $**संयुक्तैः श्रीमन्तो भवत ॥२४॥**

१. रक्षोभावनाऽभावेनेत्यर्थः ॥

२. भाषापदार्थे बहुव्रीह्यर्थस्य विद्यमानत्वात् 'श्रीर्यस्य' इति पाठोऽस्माभिः पूरितः ॥

३. मन्त्रोऽयम् (ऋ० २।१०।५) अग्निविद्याग्रहणप०ो व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मर्यश्रीः) मर्याणां श्रीरिव श्रीरस्य सः । **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । मर्यशब्दः छन्दसि **निष्टर्क्यदेवहूय०** (अ० ३।१।१२३) इत्यादिना यत्प्रत्ययान्तो निपात्यते । **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(स्पृहयद्वर्णः) स्पृहयतां वर्ण इव वर्णो यस्य सः । अत्रापि पूर्ववद् भाष्यपदार्थोऽर्थ-निदर्शनपरः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे स्पृहयत् शतृस्वरेणान्तोदात्तः । **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (अ० ६।१।१८६) इति तु छान्दसत्वान्न प्रवर्त्तते ॥

(अभिमृशे) अभिपूर्वान्मृशेः **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) इति वार्त्तिकेन करणे क्विप् । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(जर्भुराणः) जृभेर्बाहुलकाद् 'उरानन्' प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

४. अत्रान्वये 'मनुष्याः' इति पदं 'तज्जुषेत' इत्येतस्मात् पूर्वं योजनीयम् । 'न तथा' इति पदद्वयं च 'आजिघर्मि' इत्येतस्मात् पूर्वं सङ्गच्छेतेति

* '(जुषेत) सेवेत' इति कपाठः ॥ †'मनुष्यो यथा' इति कपाठः । 'न' इति मध्ये नास्ति ॥

§ ककोशे त्वित्थमन्वयः—'मनुष्यो यथाग्निनाभिमृशते तन्वा जर्भुराणः स्पृहयद्वर्णो मर्यश्रीर्वायुः सर्वान् जिघर्ति तथा यं प्रत्यञ्चमरक्षसा मनसा जिघर्मि तज्जुषेत ॥'

$ 'संयोजितैः' इति कखकोशयोः पाठः ॥

फिर वायु और अग्नि कैसे गुण वाले हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे ‡मनुष्य ! (न) जैसे (विश्वतः) सब ओर से (अग्निः) बिजुली और प्राणवायु शरीर में व्यापक होके (अभिमृशे) सहने वाले के लिये हितकारी हैं, जैसे (तन्वा) शरीर से (जर्भुराणः) शीघ्र हाथ पांव आदि अङ्गों को चलाता हुआ (स्पृहयद्वर्णः) ‡इच्छा करने वालों से स्वीकार किये हुए के समान (मर्य्यश्रीः) मनुष्यों की शोभा के ∫तुल्य शोभा वाला मैं जिस (प्रत्यञ्चम्) शरीर के वायु को§§ (अरक्षसा) राक्षसों की दुष्टता से रहित (मनसा) चित्त से (आजिघर्मि) प्रकाशित करता हूं, वैसे (तत्) उस [वायु और अग्नि]∫∫ को (जुषेत) सेवन कर ॥ २४ ॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग लक्ष्मी प्राप्त करानेहारे अग्नि आदि पदार्थों को जान और उनको कार्यों में संयुक्त करके धनवान् होओ ॥ २४ ॥

परि वाजपतिरित्यस्य सोमक ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थः कीदृशो भवेदित्याह ॥

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत् । दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ २५ ॥

परि॑ । वाज॑पति॒रिति॒ वाज॑ऽपतिः । क॒विः । अ॒ग्निः । ह॒व्यानि॑ । अ॒क्र॒मी॒त् ॥ दध॑त् । रत्ना॑नि । दा॒शुषे॑ ॥२५॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः (वाजपतिः) अन्नादिरक्षको गृहस्थ इव ([1]कविः) क्रान्तदर्शनः ([2]अग्निः) प्रकाशमानः (हव्यानि) होतुं *ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि (अक्रमीत्)

प्रतीमः । 'यथा तन्वा' इत्यत्र 'यथा' इति पदं व्यर्थमेव प्रत्यभाद् इति कृत्वाऽस्माभिः पृथक्कृत इति ध्येयम् । अस्मन्मते त्वित्थमन्वयः शोभनतरः स्यात्—

'विश्वतोऽग्निः अभिमृशेऽस्ति, तन्वा जर्भुराणः स्पृहयद्वर्णो मर्यश्रीरहं यं प्रत्यञ्चमरक्षसा मनसा न यथाऽऽजिघर्मि, तथा मनुष्यस्तज्जुषेत' ॥ २४ ॥

१. 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति' । निरु० १२।१३॥

२. अग्निः अञ्जनाद् वा (द्र० निरु० ७।१४)॥

---

‡ संस्कृतान्वये 'मनुष्यः' इति प्रथमान्तः पाठः । भाषापदार्थे तु 'हे मनुष्य' इति । गकोशे 'हे मनुष्य' इति वर्त्तत इति ध्येयम् ॥

‡ 'इच्छा वालों ने स्वीकार किये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

∫ इतोऽग्रे—'वायु के समान वेगवाला हो के मैं' इति अ० मुद्रिते पाठः । सोऽसमञ्जस इति ध्येयम् । 'वायु के समान वेग वाला हो के सब पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे' इति कपाठः । ककोशे संस्कृतान्वय एव भिन्न इति हेतोरत्रापि व्यस्तता द्रष्टव्या ॥

§§ इतोऽग्रे—'निरन्तर चलाने वाली विद्युत् को' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

∫∫ 'उस तेज को' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

* 'गृहीतुं' इति अ० मुद्रिते अपपाठः । 'दातुं ग्रहीतुं' इति कपाठः ॥

क्रामति (दधत्) धरन् (रत्नानि) सुवर्णादीनि (दाशुषे) दातुं योग्याय विदुषे ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।२५ व्याख्यातः] ॥२५॥

[1]**अन्वयः**—हे विद्वन् ! यो वाजपतिः कविर्दाता गृहस्थो दाशुषे रत्नानि [2]दधदिवाग्निर्हव्यानि पर्य्यक्रमीत्, तं त्वं जानीहि ॥२५॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—विद्वानग्निना पृथीवीस्थपदार्थेभ्यो धनं प्राप्य, सुमार्गे सत्पात्रेभ्यो दत्वा विद्याप्रचारेण सर्वान् सुखयेत् ॥२५॥

फिर [वह] गृहस्थ कैसे होवें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! जो (वाजपतिः) अन्न आदि की रक्षा *करनेहारा (कविः) बहुदर्शी, दाता गृहस्थ पुरुष (दाशुषे) दान देने योग्य विद्वान् के लिये (रत्नानि) सुवर्ण आदि उत्तम पदार्थ (दधत्) †धारण करते हुए के समान (अग्निः) प्रकाशमान (हव्यानि) देने योग्य वस्तुओं को (परि) सब ओर से (अक्रमीत्) प्राप्त होता है, उस को तू जान ॥२५॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—विद्वान् पुरुष को चाहिये कि अग्निविद्या के सहाय से पृथिवी के पदार्थों से धन को प्राप्त हो, [उसे] अच्छे मार्ग में खर्च कर और धर्मात्माओं को दान दे के विद्या के प्रचार से सब को सुख पहुंचावे ॥ २५ ॥

परि त्वेत्यस्य पायुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कीदृशः सेनापतिः कार्य्य इत्याह ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ꣳ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भ॒ङ्गुरा॑वताम् ॥ २६ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वाजपतिः) पत्यावैश्वर्ये (अ० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः । 'वाज' शब्दः पूर्व (यजु० २।७ पृ० १५७) व्याख्यातः ॥

(रत्नानि) रमेस्त च (उ० ३।१४) इति 'न' प्रत्ययस्तकारादेशश्च । निदनुवर्त्तनादाद्युदात्तः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. मन्त्रोऽयम् (ऋ० ४।१५।३) सम्यग् व्याख्यातः । तत्र त्वेवमन्वयः—'यो वाजपतिरग्निरिव दाशुषे रत्नानि दधत् सन् हव्यानि पर्यक्रमीत् स एव सततं सुखी जायते ।'

२. 'यो वाजपतिः......दधदिव' इति वाक्यान्ते 'इव' शब्दः, 'अग्निरिव माणवकः' इत्यत्र 'यथाग्निः प्रकाशमानस्तथाऽयं माणवक इति', तद्वदत्रापि 'यथा वाजपतिः रत्नानि दधत् दधाति, तथैवाग्निर्हव्यान्यक्रमीत्' इति बोध्यम् ॥२५॥

* 'करने हारे गृहस्थों के समान (कविः) बहुदर्शी' इति अ० मुद्रिते पाठः । ककोशे तु—'(कविः) बहुत विद्याओं को देखने वाला' इति पाठः ॥

† 'धारण करते हुए के समान (अग्निः) प्रकाशमान पुरुष' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

परि। त्वा। अग्ने। पुरम्। वयम्। विप्रम्। सहस्य। धीमहि ॥ धृषद्वर्णमिति धृषत्ऽवर्णम्। दिवेदिव इति दिवेऽदिवे। हन्तारम्। भङ्गुरावताम्। भङ्गुरवतामिति भङ्गुरऽवताम् ॥२६॥

पदार्थः—(परि) (त्वा) त्वाम् (अग्ने) विद्यया प्रकाशमान (पुरम्) येन सर्वान् पिपर्ति तत् (वयम्) (विप्रम्) विद्वांसम् (सहस्य) य आत्मनः सहो बलमिच्छति तत्सम्बुद्धौ (धीमहि) धरेम, अत्र डुधाञ् धातोर्लिङ [1]आर्धधातुकत्वाच्छबभावः। (धृषद्वर्णम्) धृषत्प्रगल्भो दृढो वर्णो यस्य तम् (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (हन्तारम्) ([2]भङ्गुरावताम्) कुत्सिता [3]भङ्गुराः प्रहताः प्रकृतयो विद्यन्ते येषां तेषाम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।२५ व्याख्यातः] ॥२६॥

अन्वयः—हे सहस्याग्ने! यथा वयं दिवेदिवे भङ्गुरावतां पुरमग्निमिव हन्तारं धृषद्वर्णं विप्रं त्वा परिधीमहि तथा त्वमस्मान् धर ॥२६॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—राजप्रजाजनैर्यथेन प्रजारक्षकोऽग्निवच्छत्रुहन्ता सर्वदा सुखप्रदः सेनेशो विधेयः ॥२६॥

कैसा सेनापति करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (सहस्य) अपने बल को चाहने वाले (अग्ने) अग्निवत् विद्या से प्रकाशमान विद्वन् पुरुष! जैसे (वयम्) हम लोग (दिवेदिवे) प्रतिदिन (भंगुरावताम्) खोटे स्वभाव वालों के (पुरम्) नगर को, अग्नि के समान (*हन्तारम्) नष्ट करने वाले (धृषद्वर्णम्) दृढ़ सुन्दर वर्ण से युक्त (विप्रम्) विद्वान् (त्वा) आप को (परि) सब प्रकार से (धीमहि) धारण करें, वैसे तू हम को धारण कर ॥ २६ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

---

१. छन्दस्युभयथा (अ० ३।४।११७) इति सूत्रेणेति शेषः। घुमास्थागापा० (अ० ६।४।६६) इत्यादिनेकारः। सार्वधातुकत्वाच्च लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (अ० ७।२।७९) इति सलोपः ॥

२. अत्र—'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥' इति वचनाद् निन्दायां 'मतुप्' इति ध्येयम् ॥

३. भङ्गुरा नश्वरा इत्यर्थः। प्रहता नष्टाः प्रकृतयः स्वभावा विद्यन्ते येषां तेषामित्यर्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुरम्) 'पॄ पालनपूरणयोः' अस्मात् क्विपि उदोष्ठ्यपूर्वस्य (अ० ७।१।१०२) इति उदादेशः। स च उरण् रपरः (अ० १।१।५१) इति रपरः। धातुस्वरेणोदात्तः ॥

(धृषद्वर्णम्) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे धृषच्छब्दः शतृप्रत्ययान्तः। व्यत्ययेन श्नुस्थाने शः। तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इत्यादिना शतुरनुदात्तत्वे विकरणस्वरः। तत एकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्युदात्तः ॥

(भङ्गुरावताम्) भञ्जभासमिदो घुरच् (अ० ३।२।१६१) इति घुरच्। चित्त्वादन्तोदात्तः। ततो मतुप्, स च पित्त्वादनुदात्तः।

---

* '(हन्तारम्) मारने' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—राजा और प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि न्याय से प्रजा की रक्षा करने [वाले] अग्नि के समान शत्रुओं को मारने [वाले] और सब काल में सुख देनेहारे पुरुष को सेनापति करें ॥ २६ ॥

त्वमग्न इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सभेशः कीदृशो भवेदित्याह ॥

त्वम॑ग्ने द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑ ।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचिः॑ ॥ २७ ॥

त्वम् । अ॒ग्ने । द्यु॒भि॒रिति॑ द्युऽभिः॑ । त्वम् । आ॒शु॒शु॒क्षणिः॑ । त्वम् । अ॒द्भ्य इत्य॒त्ऽभ्यः । त्वम् । अश्म॑नः । परि॑ ॥ त्वम् । वने॑भ्यः । त्वम् । ओष॑धीभ्यः । त्वम् । नृ॒णाम् । नृ॒प॒त इति॑ नृऽपते । जा॒य॒से॒ । शुचिः॑ ॥२७॥

पदार्थः—(त्वम्) (अग्ने) अग्निवत् प्रकाशमान न्यायाधीश राजन् ! (द्युभिः) *दिनैरिव[1] प्रकाशमानैर्न्यायादिगुणैः (त्वम्) (आशुशुक्षणिः) शीघ्रं शीघ्रं दुष्टान् क्षिणोति †हिनस्ति यः सः (त्वम्) (अद्भ्यः) [2]वायुभ्यो जलेभ्यो वा (त्वम्) (अश्मनः) मेघात् पाषाणाद्वा, अश्मेति मेघनामसु पठितम् ॥ निघण्टु १।१० । (परि) सर्वतोभावे (त्वम्)

मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (अ० ६।३।११६) इति दीर्घः ॥२६॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अत्र पाठः किञ्चिद् व्यस्त इव प्रतिभाति । ऋ० २।१।१ भाष्ये संस्कृतपदार्थे तु—'(द्युभिः) प्रकाशैः' इति पाठ उपलभ्यते । '(द्युभिः) प्रकाशादिभिर्गुणविशेषैः' य० ३।८ भाष्ये चापि । अत्रान्वयेऽपि 'द्युभिः सूर्य इव' इति पाठदर्शनाच्चापि ॥

२. '(अद्भ्यः) जलेभ्यः' इति (ऋ० २।१।१) भाष्यपाठः । अपरपक्षे—'आपो वै सर्वा देवताः' ऐ० ब्रा० २।१६ ॥ 'एष वा अपां रसो योऽयं (वायुः) पवते' श० ५।१।२।७ ॥ अनेन आपः = वायुरित्यवगन्तुं शक्यते ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आशुशुक्षणिः) आङ्पूर्वात् शुषेः आङि शुषेः सनश्छन्दसि (उ० २।१०४) इति 'अनिः' प्रत्ययः । निरुक्तकारस्तु—'आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात् चिकीर्षितज उत्तरः, आशुशोचयिषुरिति' (निरु० ६।१) आह । तथा चाङ्पूर्वाच्छुषेः प्रयोगः ।

नारायणश्वेतवनवासिनौ स्ववृत्त्योः आङि शुचेः' इत्येव पेठतुः । यास्कस्तु 'आशु इति च शु इति च क्षिप्रनाम्नी भवतः क्षणिरुत्तरः' इत्यन्यथापि निरबोचत् । भाष्यकारेण चेयमेव व्युत्पत्तिरत्र स्वीकृता । तथा सत्याम् 'आशु' 'शु' इति ह्युपपदपूर्वात् क्षणोतेः सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इति इन् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे नित्त्वादाद्युदात्तः क्षणिः ॥

(अश्मनः) अशिशकिभ्यां छन्दसि (उ० ४।१४७) इति मनिन् । क्वचिद् इदं सूत्रं न पठ्यते, तथा सति सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४।१४५) इति मनिन्, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'सूर्य इव' इति तु युक्ततरं प्रतिभाति, अन्वये 'द्युभिः सूर्य इव' इति दर्शनात् ॥

† 'हिनस्तीव' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

(वनेभ्यः) जङ्गलेभ्यो रश्मिभ्यो वा (त्वम्) (ओषधीभ्यः) सोमलतादिभ्यः (त्वम्) (नृणाम्) मनुष्याणाम् (नृपते) नृणां पालक (जायसे) प्रादुर्भवसि (शुचिः) पवित्रः ।।

इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं व्याचष्टे—त्वमग्ने द्युभिरहोभिस्त्वमाशुशुक्षणिराशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः, क्षणिरुत्तरः क्षणोतेराशु शुचा क्षणोतीति वा सनोतीति वा, शुक् शोचतेः, पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा, तथाहि वाक्यसंयोगः, आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्ताच्चिकीर्षितज उत्तर आशुशोचयिषुरिति, शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव, निष्षिक्तमस्मात् पापकमिति नैरुक्ताः।। निरु० ६।१।। [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।२५ व्याख्यातः] ।।२७।।

[1]**अन्वयः**—हे नृपते अग्ने **सभाध्यक्ष राजन् ! यस्त्वं** द्युभिः **सूर्य्य इव** त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां **मध्ये** शुचिः परिजायसे **तस्मात् त्वामाश्रित्य वयमप्येवंभूता भवेम ।।२७।।**

भावार्थः—यो राजा सभ्यः प्रजाजनो वा, सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यो गुणग्रहणविद्याक्रियाकौशलाभ्यामुपकारान् ग्रहीतुं शक्नोति, धर्माचरणेन पवित्रः शीघ्रकारी च भवति, स सर्वाणि सुखानि प्राप्नोति नेतरोऽलसः ।।२७।।

फिर *सभाध्यक्ष कैसा होना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

[2]**पदार्थः**—हे (नृपते) मनुष्यों के पालने हारे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान न्यायाधीश राजन् ! [जो] (त्वम्) आप ($द्युभिः) सूर्य्य के समान प्रकाशमान न्याय आदि गुणों से (त्वम्) आप (आशुशुक्षणिः) शीघ्र शीघ्र दुष्टों को ‡मारने की सामर्थ्य वाले, (त्वम्) आप (अद्भ्यः) वायु वा जलों से (त्वम्) आप (अश्मनः) मेघ वा पाषाणादि से, (त्वम्) आप (वनेभ्यः) जङ्गल वा किरणों से, (त्वम्) आप (ओषधीभ्यः) सोमलता आदि ओषधियों से (त्वम्) आप (नृणाम्) मनुष्यों के बीच (शुचिः) पवित्र (परि) सब प्रकार (जायसे) प्रसिद्ध होते हो, इस कारण आप का आश्रय लेके हम लोग भी ऐसे ही होवें ।। २७ ।।

---

१. ऋ० २।१।१ भाष्यान्वयस्तु—'हे अग्ने नृपते यस्त्वं द्युभिरग्निरिव त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यः पालको मेघ इव त्वमश्मनस्परि रत्नमिव त्वं वनेभ्यश्चन्द्र इव त्वमोषधीभ्यो वैद्य इव त्वं च नृणां मध्ये शुचिर्जायसे सोऽस्माभिः सत्कर्त्तव्योऽसि ।।' 'अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ' इत्यपि तत्राधिकः पाठः ।।

२. 'हे (अग्ने) अग्नि के समान (नृपते) मनुष्यों की पालना करने वाले जो (त्वम्) आप (द्युभिः) विद्यादि प्रकाशों से विराजमान (त्वम्) आप (आशुशुक्षणिः) शीघ्रकारी (त्वम्) आप (अद्भ्यः) जलों से पालना करने वाले मेघ के समान (त्वम्) आप (अश्मनः परि) पाषाण के सब ओर से निकले रत्न के समान (त्वम्) आप (वनेभ्यः) जङ्गलों में चन्द्रमा के तुल्य (त्वम्) आप (ओषधिभ्यः) ओषधियों से वैद्य के समान और (त्वम्) आप (नृणाम्) मनुष्यों के मध्य (शुचिः) पवित्र शुद्ध (जायसे) होते

---

* 'सभापति' इति गकोशे पाठः ।।

$ '(द्युभिः) दिनों के समान प्रकाशमान न्याय आदि गुणों से सूर्य के समान' इति अ० मुद्रिते पाठः । स च व्यस्तः ।।

‡ 'मारने हारे' इति अ० मुद्रिते पाठः ।।

भावार्थः—जो राजा सभासद् वा प्रजा का पुरुष सब पदार्थों से गुण ग्रहण और विद्या तथा क्रिया की कुशलता से उपकार ले सकता [है और] धर्म के आचरण से पवित्र तथा शीघ्रकारी [=पुरुषार्थी] होता है, वही सब सुखों को प्राप्त हो सकता है, अन्य आलसी पुरुष नहीं ।। २७ ।।

देवस्य त्वेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । *प्रकृतिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

मनुष्याः किं कृत्वा कस्माद्विद्युतं गृह्णीयुरित्याह ।।

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि ।
ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम् ।
शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः ।।२८।।

देवस्यं । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । †बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ।। पृथिव्याः । सधस्थादिति सधऽस्थात् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । खनामि ।। ज्योतिष्मन्तम् । त्वा । अग्ने । सुप्रतीकमिति सुऽप्रतीकम् । अजस्रेण । भानुना । दीद्यतम् ।। शिवम् । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः । अहिंसन्तम् । पृथिव्याः । सधस्थादिति सधऽस्थात् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । खनामः ।।२८।।

पदार्थः—(देवस्य) प्रकाशमानस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) सर्वस्योत्पादकस्येश्वरस्य (प्रसवे) प्रसूतेऽस्मिन् संसारे (अश्विनोः) द्यावापृथिव्योः (बाहुभ्याम्) §आकर्षणधारणाभ्यामिव (पूष्णः) प्राणस्य (हस्ताभ्याम्) $बलपराक्रमाभ्यामिव (पृथिव्याः) (सधस्थात्) सहस्थानात् (अग्निम्) विद्युतम् (पुरीष्यम्) सुखैः पूरकेषु भवम् (अङ्गिरस्वत्) वायुवद् वर्त्तमानम् (खनामि) [1]निष्पादयामि (ज्योतिष्मन्तम्) बहूनि ज्योतींषि विद्यन्ते यस्मिंस्तम्

हैं, सो आप हम लोगों से सत्कार करने योग्य हैं ।।' इति ऋ० २।१।१ पाठः ।। २७ ।।

१. धातूनामनेकार्थत्वादिति ध्येयम् ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ज्योतिष्मन्तम्) मतुप्, पित्त्वादनुदात्तः । ज्योतिः शब्दः पूर्वं (य० २।९ पृ० १७७) व्याख्यातः ।।

(अजस्रेण) 'जसु हिंसायाम्' नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः (अ० ३।२।१६७) इति रः । न जस्रमजस्रम् । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ।। अमरसिंहादयोऽजस्रपदस्याव्ययत्वमाहुः, तच्च क्रियाविशेषणपक्ष इति बोध्यम् ।।

* 'भुरिक् प्रकृतिश्छन्दः' इति अ० मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः । ८४ अक्षराणि सन्तीति 'प्रकृतिः' एव छन्द इति ध्येयम् ।।

† 'बाहुभ्याम्' इत्येव द्विरावृत्त्यवग्रहादिरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ।।

§ 'आकर्षणधारणाभ्यामिव (बाहुभ्याम्)' इति अ० मुद्रिते पाठः, स च प्रमादव्यस्तः ।।

$ बलपराक्रमाभ्यामिव (हस्ताभ्याम्)' इति अ० मुद्रिते पाठः, स च प्रमादव्यस्तः ।।

(त्वा) त्वाम् (अग्ने) भूगर्भादिविद्याविद् विद्वन्! (सुप्रतीकम्) सुष्ठु प्रतियन्ति सुखानि यस्मात् तम् (अजस्रेण) निरन्तरेण (भानुना) दीप्त्या (दीद्यतम्) देदीप्यमानम् (शिवम्) मङ्गलमयम् (प्रजाभ्यः) प्रसूताभ्यः (अहिंसन्तम्) अताडयन्तम् (पृथिव्याः) अन्तरिक्षात् (सधस्थात्) सहस्थानात् (अग्निम्) वायुस्थं विद्युतम् (पुरीष्यम्) पालकेषु साधनेषु साधुम् (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मवायुवद् वर्त्तमानम् (खनामः) विलिखामः ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।४।१, २ व्याख्यातः] ॥२८॥

अन्वयः—हे अग्ने शिल्पविद्याविद् विद्वन् ! यथाऽहं सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा पुरस्कृत्य पृथिव्याः सधस्थात्पुरीष्यं ज्योतिष्मन्तमजस्रेण भानुना दीद्यतं पुरीष्यं [सुप्रतीक]मग्निमङ्गिरस्वत्खनामि, ʃतथा [त्वा] त्वामाश्रिता वयं पृथिव्याः सधस्थादङ्गिरस्वदहिंसन्तं पुरीष्यं प्रजाभ्यः शिवमग्निं खनामस्तथा सर्व आचरन्तु ॥२८॥

भावार्थः—ये राजप्रजाजनाः सर्वत्र स्थितं विद्युद्रूपमग्निं सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः साधनोपसाधनैः प्रसिद्धीकृत्य कार्येषु प्रयुञ्जते, ते शंकरमैश्वर्य्यं लभन्ते । नहि किञ्चिदपि प्रजातं वस्तु विद्युद्व्याप्त्या विना वर्त्तत इति विजानन्तु ॥२८॥

मनुष्य क्या करके किस पदार्थ से बिजुली का ग्रहण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) भूगर्भ तथा शिल्पविद्या के जाननेहारे विद्वन् ! जैसे मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करनेहारे (देवस्य) प्रकाशमान ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में (अश्विनोः) आकाश और पृथिवी के (बाहुभ्याम्) आकर्षण तथा धारण रूप बाहुओं के समान और (पूष्णः) प्राण के (हस्ताभ्याम्) बल और पराक्रम के तुल्य (त्वा) आप को आगे करके (पृथिव्याः) भूमि के (सधस्थात्) एक स्थान से (पुरीष्यम्) पूर्ण सुख देनेहारे (ज्योतिष्मन्तम्) बहुत ज्योति वाले (अजस्रेण) निरन्तर (भानुना) दीप्ति से (दीद्यतम्) अत्यन्त प्रकाशमान (पुरीष्यम्) सुन्दर रक्षा करने वाले [(सुप्रतीकम्) जिससे उत्तम सुख प्राप्त हो, ऐसी] (‡अग्निम्) बिजुली को (अङ्गिरस्वत्) वायु के समान (खनामि) सिद्ध करता हूं, और जैसे (त्वा) आप का आश्रय लेके हम लोग (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष के (सधस्थात्) एक प्रदेश से (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मवायु के समान वर्त्तमान (अहिंसन्तम्) जो कि ताड़ना न करे,§§ ऐसे पालनहारे पदार्थों में उत्तम (प्रजाभ्यः) प्रजा के लिये (शिवम्) मङ्गलकारक (ʃʃअग्निम्) वायु में रहने वाली विद्युत् को (खनामः) प्रकट करते हैं, वैसे सब लोग किया करें ॥ २८ ॥

(भानुना) दाभाभ्यां नुः (उ० ३।३२) इति नुः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(दीद्यतम्) दीदयति ज्वलतिकर्मा नैरुक्तो धातुः (निघ० १।१६), स च दीदयति, दीदयसि, दीदयत् इत्यादिष्वन्तोदात्तदर्शनात् धातुस्वरेणान्तोदात्तः । क्वचिद् दीदयत् (ऋ० १०।३०।४; ९५।१२), दीद्यतम् इत्यादिष्वाद्युदात्तत्वदर्शनाद्याद्युदात्तोऽपि दीदिर्धातुर्द्रष्टव्यः । दीदिधातोः

ʃ अत्र 'यथा' इति पाठः ककोश उपलभ्यते । स च सम्यक् प्रतिभाति, भाषापदार्थे तथैव दर्शनात् ॥

‡ '(अग्निम्) वायु में रहने वाली बिजुली को' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

§§ 'ऐसे (पुरीष्यम्) पालने हारे' अ० मुद्रिते पाठः ॥

ʃʃ '(अग्निम्) अग्नि को' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—जो राजा और प्रजा के पुरुष सर्वत्र रहने वाले बिजुली रूपी अग्नि को सब पदार्थों से साधन तथा उपसाधनों के द्वारा प्रसिद्ध करके कार्य्यों में प्रयुक्त करते हैं, वे कल्याणकारक ऐश्वर्य्य को प्राप्त होते हैं । कोई भी उत्पन्न हुआ पदार्थ बिजुली की व्याप्ति के बिना खाली नहीं रहता, ऐसा तुम सब लोग जानो ॥ २८ ॥

अपां पृष्ठमित्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः कीदृशं *विद्युतं गृह्णीयुरित्याह ॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महाँ२ऽ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥२९॥

अपाम् । पृष्ठम् । असि । योनिः । अग्नेः । समुद्रम् । अभितः । पिन्वमानम् ॥ वर्धमानः । महान् । आ । च । पुष्करे । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथस्व ॥२९॥

पदार्थः—(**अपाम्**) जलानाम् (**पृष्ठम्**) आधारः (**असि**) (**योनिः**) [1]**संयोगविभागवित्** (**अग्नेः**) **सर्वतोऽभिव्याप्तस्य विद्युद्रूपस्य**† (**समुद्रम्**) **सम्यगूर्ध्वं द्रवन्त्यापो यस्मात्सागरात्तम्** (**अभितः**) **सर्वतः** (**पिन्वमानम्**) **सिञ्चन्तम्** (**वर्धमानः**) **यो विद्यया क्रियाकौशलेन नित्यं वर्धते** (**महान्**) **पूज्यः** (**आ**) (**च**) **सर्वमूर्त्तद्रव्यसमुच्चये** (**पुष्करे**) §**अन्तरिक्षे** । पुष्करमित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघ० १।३। (**दिवः**) **दीप्तेः** (**मात्रया**) **विभागेन** (**वरिम्णा**) **उरोर्बहोर्भावेन** (**प्रथस्व**) **विस्तृतसुखो भव** ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।४।८ व्याख्यातः] ॥२९॥

अन्वयः—**हे विद्वन्! यतोऽग्नेर्योनिर्महान् वर्धमानस्त्वमसि, तस्मादभितः पिन्वमानमपां पृष्ठं** $**पुष्करे वर्त्तमानायाः** दिवो मात्रया **वर्धमानं समुद्रं तत्स्थान् पदार्थांश्च विदित्वा वरिम्णाऽऽप्रथस्व ॥२९॥**

शतरि शपि गुणेऽयादेशे दकाराकारलोपश्छान्दसः, अमि नुमभावश्च । लसार्वधातुकस्वरेण शतुरनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥२८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. संयोगविभागयोः कर्त्ता, कर्त्तरि 'निः' प्रत्ययः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पिन्वमानम्) 'पिवि सेचने' इत्यस्माद् **इदितो नुम् धातोः (अ० ७।१।५८)** इति नुमि व्यत्ययेन लटः स्थाने शानच्, ततः शप् । **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६।१।१८६)** इति शानचोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(वर्धमानः) पूर्वं (य० ६।२५ पृ० ७६५) व्याख्यातः ॥

(पुष्करे) पुषः कित् (उ० ४।४) इति 'करन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ अत्र निरुक्तकारः—**'पुष्करमन्तरिक्षम्...उदकं पुष्करम्**

---

* 'विद्युतं' इति कगपाठः, मुद्रणे प्रमादेन त्यक्तः ॥

† इतोऽग्रे 'सकाशात् प्रचलन्तम्' इति अ० मुद्रिते पाठः । स चानावश्यक इति ॥

§ 'अन्तरिक्षे वर्त्तमानायाः' इति अ० मुद्रिते पाठः । स चासम्यक् ॥

$ 'पुष्करे दिवो मात्रया' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं यथा मूर्त्तेषु पृथिव्यादिषु पदार्थेषु विद्युद्वर्त्तते तथाऽप्स्वपि [इति] मत्वा तामुपकृत्य विस्तृतानि सुखानि संपादयत ।।२९।।

फिर मनुष्य कैसी बिजुली का ग्रहण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विद्वन् ! जिस कारण (अग्नेः) सर्वत्र अभिव्याप्त बिजुलीरूप अग्नि के (योनिः) संयोग वियोगों के जानने[1] (महान्) पूजनीय (वर्धमानः) विद्या तथा क्रिया की कुशलता से नित्य बढ़ने वाले आप (असि) हैं, इसलिये (अभितः) सब ओर से (पिन्वमानम्) जल वर्षाते हुए (अपाम्) जलों के (पृष्ठम्) आधारभूत (पुष्करे) अन्तरिक्ष में वर्तमान (दिवः) दीप्ति के (मात्रया) ‡विभाग से बढ़े हुए (समुद्रम्) अच्छे प्रकार जिस में ऊपर को जल उठते हैं उस समुद्र (च) और वहां के सब पदार्थों को जान के (वरिम्णा) बहुत्व के साथ (आप्रथस्व) अच्छे प्रकार सुखों को विस्तार करने वाले हूजिये ।। २९ ।।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों में बिजुली जिस प्रकार वर्त्तमान है, वैसे ही जलों में भी है, ऐसा समझ कर उससे उपकार ले के बड़े बड़े विस्तारयुक्त सुखों को सिद्ध करो ।। २९ ।।

शर्म चेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । दम्पती देवते । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

अथ स्त्रीपुरुषाभ्यां गृहे स्थित्वा किं किं* साधनीयमित्याह ।।

शर्म॑ च॒ स्थो॒ वर्म॑ च॒ स्थोऽछि॑द्रे बहु॒लेऽ उ॒भे ।
व्य॒चस्व॑ती॒ संव॑साथां भृ॒तम॒ग्निं पु॑री॒ष्य॑म् ।।३०।।

...पुष्करं वपुष्करम् वा (निरु० ५।१४) ।। यत्त्वत्र देवराज आह—"**पुष्करम्** । पुष पुष्टौ (स्वा०प०)पुषः कित्(उ० ४।४) इति करन् प्रत्ययः । पुषिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः । पोषयति भूतान्यवकाशदानेन उदकाद्युपकारेण च । 'पुष्कं वारि रातीति पुष्करम्'इति क्षीरस्वामी । पुषेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'सृमृभृशुषियुधिभ्यः कित्' इति विहितः करन्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति । 'हृदृकृसृपृवीचीपुषिमुषिमूङ्शूभ्यः कित्'इति करः श्रीभोजदेवः । पोषयति भूतानीति । पुष्कोपपदाद् रातेः 'आतोऽनुपसर्गे कः' (अ० ३।२।३) । यद्वा—वपुरित्युदकनाम (निघ० १।१२) तत् कर्त्तुं शीलमस्येति 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु'(अ० ३।२।२०) इति टः । वपुष्करं सद् वकारलोपेन पुष्करम्, पृषोदरादिः ।।" तदपि सम्यक् । ण्यन्तपक्षे णिलोप इष्टस्वरसिद्धिः । क्षीरस्वामिपक्षे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९)इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसमाद्युदात्तत्वं भविष्यतीति ध्येयम् । पृषोदरादिपक्षे तु तत एवेष्टस्वरसिद्धिरित्यपि ध्येयम ।।

(मात्रया) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ०४।१६८) इति त्रन् । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. 'संयोग विभाग का कारण' इति सम्यक्तरं स्यात् । 'संयोग विभागों के जानने हारे' इति गकोशे पाठ उपलभ्यते च ।।२९।।

‡ 'विभाग से बढ़े हुए' इति गकोशे पाठः । 'विभाग बढ़े हुए' इति अ० मुद्रिते पाठः ।।

* 'किं किं साधनीयमिति' इति ककोशे पाठः । 'किं साधनीयम्' इति अ० मुद्रिते पाठः ।।

शर्म॑ । च॒ । स्थः॒ । वर्म॑ । च॒ । स्थः॒ । अछि॑द्रे॒ऽइत्यछि॑द्रे । ब॒हु॒लेऽइति॑ बहु॒ले । †उ॒भेऽइत्यु॒भे ॥ व्यच॑स्वती॒ऽइति॒ व्यच॑स्वती । सम् । व॒सा॒था॒म् । भृ॒तम् । अ॒ग्निम् । पु॒री॒ष्य᳖म् ॥३०॥

पदार्थः—(शर्म) गृहम् (च) तत्सामग्रीम् (स्थः) §भवथः (वर्म[1]) सर्वतो रक्षणम् (च) तत्सहायान् (स्थः) (अच्छिद्रे) अदोषे (बहुले) बहूनर्थान् लान्ति याभ्यां [2]ते (उभे) द्वे (व्यचस्वती) सुखव्याप्तियुक्ते (सम्) (वसाथाम्) आच्छादयतम् (भृतम्) धृतम् (अग्निम्) (पुरीष्यम्) पालनेषु साधुम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।३।४।१० व्याख्यातः] ॥३०॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां शर्म्म च प्राप्तौ स्थ वर्म्म च [यत्र] उभे बहुले व्यचस्वती अच्छिद्रे विद्युदन्तरिक्ष इव स्थः । तत्र गृहे भृतं पुरीष्यमग्निं गृहीत्वा संवसाथाम् ॥३०॥

भावार्थः—गृहस्थैर्ब्रह्मचर्येण सत्करणोपकरणक्रियाकुशलां विद्यां संगृह्य बहुद्वाराणि सर्वर्त्तुसुखप्रदानि सर्वतोऽभिरक्षान्वितान्यग्न्यादिसाधनोपेतानि गृहाणि निर्माय तत्र सुखेन $वसितव्यम् ॥३०॥

अब स्त्री और पुरुष घर में रह के क्या क्या सिद्ध करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों (शर्म) गृहाश्रम (च) और उस की ∫सामग्री को [तथा] (वर्म) सब ओर ‡से रक्षा (च) और उसके सहायकारी पदार्थों को प्राप्त हुए (स्थः) हो, जिस घर में (‡उभे) धर्म अर्थ के कार्य्य (बहुले) बहुत अर्थों को प्राप्त कराने हारे (व्यचस्वती) सुख की व्याप्ति से युक्त (अच्छिद्रे) निर्दोष बिजुली और अन्तरिक्ष के समान§§ (स्थः) [होते] हैं, उस घर में (भृतम्) पोषण करनेहारे (पुरीष्यम्) रक्षा करने में उत्तम (अग्निम्) अग्नि को ग्रहण करके [दोनों] (संवसाथाम्) अच्छे प्रकार आच्छादन∫∫ अर्थात् रक्षा करो ॥ ३० ॥

---

१. 'वृञ् वरणे' इति भावे मनिन् प्रत्ययः ॥

२. धर्मार्थरूपे इति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वर्म) पूर्वं (य० १।१३ पृ० ७७) व्याख्यातः ॥

(व्यचस्वती) व्यचः शब्दः पूर्वं (य० ११।२३) व्याख्यातः । ततो मतुपि ङीपि च प्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(भृतम्) क्तप्रत्यये प्रत्ययस्वरः ॥३०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'उभे । इत्युभे' इत्यपपाठः अ० मुद्रिते ॥

§ 'भवतः' इत्यजमेरमुद्रिते कोशेषु च पाठः । स च लेखकप्रमादपरः स्यात् ॥

$ साम्प्रतिकानां मते तु 'वस्तव्यम्' इति स्यात् ॥

∫ 'सामग्री को प्राप्त हुए (स्थः) हो (वर्म) सब ओर सहायकारी पदार्थों को (उभे)' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'से रक्षा (च) और' इति पाठः कगकोशयोरुपलभ्यमानोऽपि मुद्रणे प्रमादात् त्यक्त इति ध्येयम् ॥

‡ '(उभे) दो (बहुले) बहुत अर्थों को ग्रहण करने हारे' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

§§ इतोऽग्रे 'जिस घर में धर्म अर्थ के कार्य (स्थः) हैं' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

∫∫ 'आच्छादन करके वसो' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—गृहस्थ लोगों को चाहिये कि ब्रह्मचर्य्य से सत्कार और ‡‡साधनपूर्वक क्रिया की कुशलता रूपी विद्या का ग्रहण कर, बहुत द्वारों से युक्त, सब ऋतुओं में सुखदायक, सब ओर से रक्षा और अग्नि आदि साधनों से युक्त घरों को बना के उनमें सुखपूर्वक निवास करें ॥३०॥

संवसाथामित्यस्य गृत्समद ऋषिः । जायापती देवते । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

संवसाथाᳬ स्वर्विदा समीचीऽ उरसा त्मना ।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥३१॥

सम् । वसाथाम् । स्वर्विदेति स्वःऽविदा । समीचीऽइति समीची । उरसा । त्मना ॥ अग्निम् । अन्तः । भरिष्यन्तीऽइति भरिष्यन्ती । ज्योतिष्मन्तम् । अजस्रम् । इत् ॥३१॥

पदार्थः—(सम्) सम्यक् (वसाथाम्) [1]आच्छादयतम् (स्वर्विदा) यौ सुखं विन्दतस्तौ (समीची) यौ सम्यगञ्चतो विजानीतस्तौ (उरसा) [2]अन्तःकरणेन (त्मना) आत्मना (अग्निम्) विद्युतम् (अन्तः) सर्वेषां मध्ये वर्त्तमानम् (भरिष्यन्ती) सर्वान् पालयन्तौ (ज्योतिष्मन्तम्) प्रशस्तज्योतिर्युक्तम् (अजस्रम्) निरन्तरम् (इत्) एव ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।४।१।११ व्याख्यातः] ॥ ३१ ॥

१. आच्छादयतम्, सम्यक् प्राप्नुतम् । सम्पूर्वो 'वस्' धातुरत्र प्रापणार्थ इति ध्येयम् ॥

२. तात्स्थ्योपाधिना हृदयेनेत्यर्थः, तस्य हृदयस्योरसि स्थितत्वात् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(स्वर्विदा) अयं शब्दः पूर्वं (य० ७।१२ पृ० ५९४) व्याख्यातः ॥

(समीची) सम्पूर्वाद् **अञ्चतेः** (भ्वा०प०) **ऋत्विग्दधृक्०** (अ० ३।२।५९) इति क्विन् । **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (अ०६।४।२४) इति नलोपः । **समः समिः** (अ०६।३।९३) इति समिरादेशः । ततः स्त्रियाम् **अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्** (अ० ४।१।६ वा०) इति ङीपि भसंज्ञायाम् **अचः** (अ० ६।४।१३८) इत्यकारलोपे **चौ** (अ० ६।३।१३८) इति पूर्वपददीर्घे **अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः** (अ० ६।१।१५५) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरे प्राप्ते **चौ** (अ० ६।१।२२२) इतीकारस्योदात्तत्वम् ॥

'समीची' इत्ययं शब्दोऽत्र य० ११।३१, य० १४।२५ च मध्योदात्त उपलभ्यते । अन्यत्र य० १२।२, १७।७० त्वन्तोदात्तोऽस्ति । तथैव ऋग्वेदे च सर्वत्रान्तोदात्त एवोपलभ्यते । पदकारास्तु यत्रान्तोदात्तस्तत्र 'समऽ ईची' इत्येवावगृह्णन्ति । अन्तोदात्तपक्षे **उद ईत्** (अ० ६।४।१३९) इति छान्दसत्वात् समः परोऽपि 'ईत्' भवति, स्वरोऽपि छान्दसत्वात् । अत्र ङीप् इत्येव सम्भवति ॥

(उरसा) **अर्त्तेरुच्च** (उ० ४।२००) इत्यसुन् प्रत्यय उकारादेशश्च । कित्वाच्च गुणा-

‡‡ 'उपकारपूर्वक क्रिया की कुशलता और विद्या' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां यदि समीची भरिष्यन्ती स्वर्विदा सन्तौ ज्योतिष्मन्तमन्तरग्निमित् त्मनोरसाऽजस्रं संवसाथां, तर्हि श्रियमश्नुवाथाम्* ॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्युतमुत्पाद्य स्वीकर्त्तुं शक्नुवन्ति न† ते व्यवहारे दरिद्रा भवन्ति ॥३१॥

फिर भी वही उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों, जो (समीची) अच्छे प्रकार पदार्थों को जानने (भरिष्यन्ती) और सबका पालन करने हारे (स्वर्विदा) सुख को प्राप्त होते हुए (ज्योतिष्मन्तम्) §उत्तम प्रकाश से युक्त (अन्तः) सब पदार्थों के बीच वर्त्तमान (अग्निम्) बिजुली को (इत्) ही (त्मना) अपने [आत्मा और] (उरसा) अन्तःकरण से (अजस्रम्) निरन्तर (संवसाथाम्) $अच्छी तरह प्राप्त करो, तो लक्ष्मी भोग सको ॥३१॥

भावार्थः—जो गृहस्थ मनुष्य बिजुली को उत्पन्न करके ग्रहण कर सकते हैं, वे व्यवहार में दरिद्र कभी नहीं होते ॥३१॥

पुरीष्य इत्यस्य §§भारद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वान् विद्युतं कथमुत्पादयेदित्याह ॥

पुरीष्योऽसि विश्वभराऽ अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥३२॥

पुरीष्यः । असि । विश्वभरा इति विश्वऽभराः । अथर्वा । त्वा । प्रथमः । निः । अमन्थत् । अग्ने ॥ त्वाम् । अग्ने । पुष्करात् । अधि । अथर्वा । निः । अमन्थत ॥ मूर्ध्नः । विश्वस्य । वाघतः ॥३२॥

पदार्थः—(पुरीष्यः) पुरीषेषु [1]पशुषु साधुः (असि) (विश्वभराः) यो विश्वं बिभर्ति सः (अथर्वा) अहिंसको विद्वान् (त्वा) त्वाम् (प्रथमः) आद्यः (निः) नितराम् (अमन्थत्) (अग्ने‡) संपादितक्रियाकौशल (त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् ! (पुष्करात्) अन्तरिक्षात् (अधि)

भावः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ (भरिष्यन्ती) तास्यनुदात्तेन्ङिददुप० (अ० ६।१।१८६) इति शतुरनुदात्तत्वे विकरणस्वरः । शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६।१।१७३) इति तु न प्रवर्त्तते, नुमः सद्भावात् ॥३१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. प्रजा पशवः पुरीषम् । तै० ३।२।८।६ ॥ पशवो वै पुरीषम् । श० ७।५।१।६ ॥

* 'अश्नुवाताम्' इति अ० मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठ इति ध्येयम् ॥

† 'न च ते व्यवहारे' इति अ० मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ॥

§ 'अच्छे प्रकार से युक्त' इति अ० मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः, स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

$ 'अच्छी तरह आच्छादन करो' इति अ० मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ॥

§§ 'भरद्वाजः' इति कगकोशयोः पाठः, तथैव च ११।३३, ३४ मन्त्रयोरपीति ध्येयम् ॥

‡ '(अग्ने) विज्ञानवन् (त्वा) त्वाम् (अग्ने)' इति पाठः कगकोशयोरुपलभ्यते । स च व्यस्त

(अथर्वा) हिंसादिदोषरहितः (निः) ([1]अमन्थत) (मूर्ध्नः) मूर्धेव वर्त्तमानस्य (विश्वस्य) समग्रस्य संसारस्य (वाघतः) [2]मेधावी । वाघत इति मेधाविनामसु पठितम् ।। निघ० ३।१५ । [अयं मन्त्रः श० ६।४।२।१-२ व्याख्यातः] ।।३२।।

§अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! यो [3]वाघतो भवान् पुरीष्योसि तं त्वाऽथर्वा प्रथमो विश्वभरा विश्वस्य मूर्ध्नो वर्त्तमानात् पुष्करादध्यग्निं निरमन्थत् स ऐश्वर्य्यमाप्नोति[4] ।।३२।।

भावार्थः—येऽस्मिन् जगति विद्वांसो भवेयुस्ते सुविचारपुरुषार्थाभ्यामग्न्यादिविद्यां प्रसिद्धीकृत्य सर्वेभ्यः शिक्षेरन् ।।३२।।

विद्वान् पुरुष बिजुली को कैसे उत्पन्न करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) क्रिया की कुशलता को सिद्ध करने हारे विद्वन् ! जो (वाघतः) शास्त्रवित् आप (पुरीष्यः) पशुओं को सुख देने हारे (असि) हैं, उस (त्वा) आपको (अथर्वा) रक्षक (प्रथमः) उत्तम (विश्वभराः) सब का पोषक विद्वान् (विश्वस्य) सब संसार के (मूर्ध्नः) ऊपर वर्त्तमान (पुष्करात्) अन्तरिक्ष से (अधि) समीप अग्नि को (निरमन्थत्) नित्य मन्थन करके ग्रहण करता है, वह ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता है[5] ।।३२।।

भावार्थः—जो इस जगत् में विद्वान् पुरुष होवें, वे अपने अच्छे विचार और पुरुषार्थ से अग्नि आदि की पदार्थविद्या को प्रसिद्ध करके सब मनुष्यों को शिक्षा करें ।।३२।।

---

१. छान्दसत्वादात्मनेपद्यपि ।।

२. अत्र कदाचित् 'मेधावी' स्थाने 'मेधाविनः' इति स्यात् । अन्वये च 'यो भवान् वाघतः मेधाविनः पुरीष्योऽसि' इत्येवं स्यात् ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(विश्वभराः) **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इत्यसुन् । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।२।१९९ वा०) इत्यनेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ।।

(**अथर्वा**) थर्वतिश्चरतिकर्मा नैरुक्तो धातुः (निरु० ११।१८), ततः **कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्वि०** (उ० १।१५६) इति कनिन् । न थर्वाऽथर्वा, **तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युप०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।।

(वाघतः) वह धातोः **संश्चतृपद्वेहद्०** **इत्यादयः** (स० कं० २।१।२६०) इत्यत्रादिग्रहणात् 'अति' प्रत्ययान्तोऽयं निपात्यते । निपातनाद् हकारस्य घकार उपधादीर्घत्वं च ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

३. अन्यत्र ऋ० १।३।५, ऋ० १।५७।७, ऋ० १।११०।४, ऋ० ३।३७।२ इत्यादिस्थलेषु 'वाघतः' इति वर्त्तते, ऋ० १।३१।१४ इत्यादौ च तकारान्तोऽयं शब्द इति नास्ति विवादः ।।

४. 'त्वाम्' 'अग्ने' 'अथर्वा' 'निरमन्थत' इति पदचतुष्टयं त्यक्तमत्रान्वये । न च वाक्यविन्यासोऽपि समन्वेति ।।

५. भाषापदार्थेऽपि 'त्वाम्' 'अग्ने' 'अथर्वा' 'निरमन्थत' इति चत्वरि पदान्यर्थश्चाप्येषा त्यक्ता इति ध्येयम् ।।३२।।

आसीत्, अत एव मुद्रणे सम्यक् कृतः ।।

§ 'त्वाम्, अग्ने, अथर्वा, निरमन्थत' इत्येतानि मन्त्रगतपदानि संस्कृतान्वये भाषापदार्थे च त्यक्तानीति, संस्कृतपदार्थे पदपाठे च सन्तीत्यपि ध्येयम् ।।

तमु त्वेत्यस्य भारद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्ज स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषिः॑ पु॒त्रऽ ई॑धे॒ऽ अथ॑र्वणः । वृ॒त्र॒हणं॑ पुर॒न्द॒रम् ॥३३॥

तम् । ऊँ इत्यूँ । त्वा । द॒ध्यङ् । ऋषिः॑ । पु॒त्रः । ई॒धे । अथ॑र्वणः ॥ वृ॒त्र॒हणं॑म् । वृ॒त्र॒हन॒मिति॑ वृ॒त्र॒ऽ-हनं॑म् । पुर॒न्द॒रमिति॑ पुरम्ऽद॒रम् ॥३३॥

पदार्थः—(तम्) (उ) वितर्के (त्वा) त्वाम् (दध्यङ्) यो दधीन् सुखधारकानग्न्यादिपदार्थानञ्चति सः (ऋषिः) वेदार्थवित् (पुत्रः) पवित्रः शिष्यः (ईधे) प्रदीपयेत् । अत्र लोपस्त आत्मनेपदेषु (अ० ७।१।४१) इति तकारलोपः[1] (अथर्वणः) अहिंसकस्य विदुषः (वृत्रहणम्) यथा सूर्य्यो वृत्रं हन्ति तथा शत्रुहन्तारम् (पुरन्दरम्) यः शत्रूणां पुराणि दृणाति तम् । [अयं मन्त्रः श० ६।४।२।३ व्याख्यातः] ॥३३॥

अन्वयः—हे राजन् ! [2]यथाऽथर्वणः पुत्रो दध्यङ्ङृषिरु सकलविद्याविद् वृत्रहणं पुरन्दरमीधे *तथा तं त्वा त्वां सर्वे विद्वांसो विद्याविनयाभ्यां वर्द्धयन्तु ॥३३॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः]

भावार्थः—ये याश्च साङ्गोपाङ्गान् †वेदानधीत्य विद्वांसो विदुष्यश्च भवेयुस्ते ताश्च राजपुत्रादीन् राजकन्यादींश्च विदुषो विदुषीश्च संपाद्य §ताभिर्धर्मेण राजप्रजाव्यवहारान् कारयेयुः ॥३३॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजन् ! जैसे (अथर्वणः) रक्षक [=अहिंसक] विद्वान् का (पुत्रः) पवित्र शिष्य (दध्यङ्) सुखदायक अग्नि आदि पदार्थों को प्राप्त हुआ (ऋषिः) वेदार्थ का

---

१. शपो लुक् चेति शेषः, तेन श्नमोऽभावः, छान्दसं दीर्घत्वं च । यद्वा—लिटि रूपम् । यथा च ऋ० १।३६।११ भाष्य आचार्येण व्याख्यातम्—'अत्र लङर्थे लिट् । **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (अ० ३।१।३६) इत्यमन्त्र इति प्रतिषेधाद् आम्-निषेधः । **इन्धिभवतिभ्यां च** (अ० १।२।६) इति लिटः कित्त्वाद् **अनिदितां हल०** (अ० ६।४।२४) इति नलोपो गुणाभावश्च' ।

२. ऋ०६।१६।४ स्वल्पभेदेनान्वयो द्रष्टव्यः । तत्र 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः' इत्युपलभ्यते ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दध्यङ्) **आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च** (अ० ३।३।१७१) इत्यदिना क्विन्प्रत्ययान्तो दधि-शब्दः । ततोऽञ्जतेः **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** (अ० ३।२।५९) इति क्विनि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे नित्त्वादुत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(वृत्रहणम्) वृत्रोपपदे हन्तेः **ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्** (अ० ३।२।८७) इति क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

---

* 'तथैतं सर्वे' इति अ० मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ॥

† 'सार्थकान् वेदानधीत्य' इति तु ककोशे पाठः ॥

§ 'तैर्धर्मेण' इति कगकोशयोः पाठः । अत्र 'तैस्ताभिश्च' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥

जानने हारा (उ) तर्क वितर्क के साथ सम्पूर्ण विद्याओं का वेत्ता, जिस (वृत्रहणम्) सूर्य्य के समान शत्रुओं को मारने और (पुरन्दरम्) शत्रुओं के नगरों को नष्ट करने वाले आप को (ईधे) प्रकाशित$ करता है, वैसे उन [(त्वा)] आपको सब विद्वान् लोग विद्या और विनय से उन्नतियुक्त करें ॥३३॥

[यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।]

भावार्थः—जो पुरुष वा स्त्री साङ्गोपाङ्ग सार्थक वेदों को पढ़ के विद्वान् वा विदुषी होवें, वे राजपुत्र और राजकन्याओं को विद्वान् और विदुषी करके उनसे धर्मानुकूल राज्य तथा प्रजा का व्यवहार करवावें ॥३३॥

तमु त्वेत्यस्य भारद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्ज स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम्। ध॒न॒ञ्ज॒यꣳ रणे॑रणे ॥३४॥

तम्। ऊँ इत्यूँ। त्वा। पाथ्यः। वृषा॑। सम्। ई॒धे। द॒स्यु॒हन्त॑म॒मिति॑ दस्युहनऽत॑मम् ॥ ध॒न॒ञ्ज॒य॒मिति॑ धनम्ऽज॒यम्। रणे॑रण इति॒ रणेऽरणे ॥३४॥

पदार्थः—(तम्) पूर्वोक्तं पदार्थविद्याविदम् (उ) (त्वा) त्वाम् (पाथ्यः) पाथःसु [1]जलान्नादिपदार्थेषु साधुः (वृषा) वीर्य्यवान् (सम्) (ईधे) राजधर्मशिक्षया प्रदीप्यताम् (दस्युहन्तमम्) अतिशयेन दस्यूनां हन्तारम् (धनञ्जयम्) यः शत्रुभ्यो धनं जयति तम् (रणेरणे) युद्धेयुद्धे। [अयं मन्त्रः श० ६।४।२।४ व्याख्यातः] ॥३४॥

(पुरन्दरम्) पूःसर्वयोर्दारिसहोः (अ० ३।२।४१) इत्यनेन खच्। वाचंयमपुरन्दरौ च (अ० ६।३।६९) इति निपातनाद् अम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥३३॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. "उदकमपि पाथः, पिबतेस्थुट् च (अनुपलब्धमूलम्) इति असुन्। पीयते ह्युदकम्। अन्ने पिबतिरभ्यवहारार्थः, 'आचष्ट आसां पाथो नदीनाम्' (ऋ० ७।३४।१०) इत्युदकस्य। 'देवानां पाथ उप प्र विद्वान्' (ऋ० १०।७०।९) इत्यन्नस्य" इति देवराजः पृ० ४३३ ॥ उणादिवृत्तौ—'उदके थुट् च' (उ० ४।२०४) इति असुन्प्रत्यये थुडागमः। पातीति पाथो जलम्। अन्ने च (उ० ४।२०५) पाति रक्षतीति पाथो भक्तम् ॥ उदकमपि पाथ उच्यते पानात् (निरु० ६।७) इति वचनात् पिबतेरपि व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या। तथा '**पा पाने पीयते पाथः जलम्**' इति कातन्त्रोणादिवृत्तौ दुर्गसिंहः (२।१०) ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पाथ्यः) पाथस्शब्दात् **पाथोनदीभ्यां ड्यण्** (अ० ४।४।१११) इति हितार्थे भवार्थे वा छन्दसि ड्यण्। डित्वाट्टिलोपः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(ईधे) अत्र लोडर्थे लिट्। **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (अ० ३।१।३६) इत्यमन्त्र इति प्रतिषेधाद् आम्प्रतिषेधः। **इन्धिभवतिभ्यां च** (अ० १।२।६) इति लिटः कित्वाद् **अनिदितां**

$ 'तेजस्वी करता है' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

अन्वयः—हे वीर ! [1]यस्त्वं पाथ्यो वृषा रणेरणे विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तोऽसि तं धनञ्जयम् दस्युहन्तमं त्वा त्वां वीरसेनया समीधे ॥३४॥

भावार्थः—राजादयो राजपुरुषा आप्तेभ्यो विद्वद्भ्यो विनयं *युद्धविद्यां प्राप्य प्रजारक्षायै चोरान् हत्वा, शत्रून् विजित्य परमैश्वर्य्यमुन्नयेयुः ॥३४॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे वीर पुरुष ! जो आप (पाथ्यः) अन्न जल आदि पदार्थों की सिद्धि में कुशल (वृषा) †पराक्रमी (रणे रणे) युद्ध युद्ध में शूरता आदि गुण युक्त विद्वान् हैं, (तम्) पूर्वोक्त पदार्थविद्या जानने (धनञ्जयम्) शत्रुओं से धन जीतने (उ) और (दस्युहन्तमम्) अतिशय करके डाकुओं को मारने वाले (त्वा) आप को वीरों की सेना [और] राजधर्म की शिक्षा से [हम] (समीधे) प्रदीप्त करें ॥३४॥

भावार्थः—राजा और राजपुरुषों को चाहिये कि आप्त धर्मात्मा विद्वानों से विनय और युद्धविद्या को प्राप्त हो, प्रजा की रक्षा के लिये चोरों को मार, शत्रुओं को जीत कर परम ऐश्वर्य्य की उन्नति करें ॥३४॥

❧

सीदेत्यस्य देवश्रवो देववातावृषी । होता देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्विदुषः किं कृत्यमस्तीत्याह ॥

सीदं होतः स्वऽउं लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञꣳ सुकृतस्य योनौ ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥३५॥

हल उपधायाः क्ङिति (अ० ६।४।२४) इति नलोपो गुणाभावश्च । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(दस्युहन्तमम्) दस्युपपदाद् हन्तेः क्विपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ततः अतिशायने तमबिष्ठनौ (अ० ५।३।५५) इति तमप् । स च पित्त्वादनुदात्तः । नाद् घस्य (अ० ८।२।१७) इति नुडागमः । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (अ० ८।२।७) इति नकारलोपः ॥

(धनञ्जयम्) धनोपपदात् संज्ञायां भृतृवृजिधारि० (अ० ३।२।४६) इत्यादिना छान्दसत्वाद् असंज्ञायामपि खच् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (अ० ६।३।६७) इति मुमागमः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. ऋ० ६।१६।१५ भाष्यान्वये 'यथा तथा' शब्दप्रयोगाद् वाचकलुप्तोपमालङ्कारेण व्याख्यात इति ततोऽपि द्रष्टव्यम् ॥३४॥

---

* 'युद्धविद्या प्राप्य' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । कगकोशयोस्तु 'युद्धविद्यां' इत्यस्यैवोपलम्भात् ॥

† अ० मुद्रिते 'पराक्रमी शूरता आदि युक्त' इति पाठः । 'पराक्रमी (रणे रणे) युद्ध युद्ध में शूरतादिगुणयुक्त' इति पाठः ककोश उपलभ्यते ॥

सीद । होतुरिति होतः । स्वे । ऊँ इत्यूँ । लोके । चिकित्वान् । सादय । यज्ञम् । सुकृतस्येति सुऽकृतस्य । योनौ ॥ देवावीरिति देवऽअवीः । देवान् । हविषा । यजासि । अग्ने । बृहत् । यजमाने । वयः । धाः ॥३५॥

पदार्थः—(सीद) अवस्थितो भव (होतः) दातर्ग्रहीतः (स्वे) [स्वकीये] सुखे (उ) (लोके) *लोकनीये (चिकित्वान्) विज्ञानयुक्तः (सादय) गमय । अत्र अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३७) इति दीर्घः (यज्ञम्) धर्म्यं राजप्रजाव्यवहारम् ([1]सुकृतस्य) †सुष्ठुकृतस्य धार्मिकस्य (योनौ) §गृहे (देवावीः[2]) देवै रक्षितः शिक्षितश्च (देवान्) विदुषो दिव्यगुणान् वा (हविषा) दानग्रहणयोग्येन न्यायेन (यजासि) याजयेः (अग्ने) विद्वन् (बृहत्) महत् (यजमाने) राजादौ $जने (वयः) दीर्घं जीवनम् (धाः) धेहि । [अयं मन्त्रः श० ६।४।२।६ व्याख्यातः] ॥३५॥

अन्वयः—हे अग्ने ! होतश्चिकित्वाँस्त्वं स्वे लोके [उ] सीद । सुकृतस्य योनौ यज्ञं सादय । देवावीः संस्त्वं हविषा देवान् यजासि यजमाने [बृहत्] वयोधाः ॥३५॥

भावार्थः—विद्वद्भिरस्मिन् जगति द्वे कर्मणी सततं कार्य्ये । आद्यं ब्रह्मचर्य्यजितेन्द्रियत्वादिशिक्षया शरीरारोग्यबलादियुक्तं चिरं जीवनमुत्तरं विद्याक्रियाकौशलग्रहणेनात्मबलं च संसाध्यम्, यतः सर्वे मनुष्याः शरीरात्मबलयुक्ताः सन्तः सर्वदानन्देयुः ॥३५॥

फिर विद्वान् का क्या काम है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् ! (होतः) दान∫ देने [और लेने] वाले (चिकित्वान्) विज्ञान से युक्त आप (लोके) देखने योग्य (स्वे) [अपने इष्ट] सुख में [(उ) ही] (सीद) स्थित हूजिये, (सुकृतस्य) अच्छे करने योग्य कर्म करने हारे धर्म्मात्मा के (योनौ) गृह‡ में (यज्ञम्) धर्मयुक्त राज्य और प्रजा के व्यवहार को (सादय) प्राप्त कराइये∫, [और‡ (देवावीः) विद्वानों की रक्षा और शिक्षा को प्राप्त होते हुए] (हविषा) देने लेने

---

१. सुष्ठु करोतीति सुकृतः, आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च (अ० ३।४।७१) इति कर्त्तरि क्तः ॥

२. 'देवावीः' पूर्वं (य० ७।२२ पृ० ६११) व्याख्यातः । अत्र कर्मण्यौणादिक 'ई' प्रत्यय इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(चिकित्वान्) पूर्वं (य० ७।१२ पृ० ५९९) व्याख्यातः ॥

(सुकृतस्य) थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६।२।१४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

---

* 'लोकनीये चिकित्वा विज्ञानयुक्तः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'सुष्ठु कर्त्तव्यं कृतं येन तस्य धार्मिकस्य' इति पाठः ककोश उपलभ्यते ॥

§ 'कारणे' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'कारणे गृहे वा' इति ऋ० ३।२९।८ भाष्ये पाठः । स च साधीयान् ॥

$ 'राजादौ जने चिरं जीविनम्' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

∫ 'दान देने लेने वाले' इति गपाठः ॥

‡ 'कारण में' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'प्राप्त कीजिये' इति कपाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

‡ 'और (देवावीः) विद्वानों की रक्षा और शिक्षा को प्राप्त होते हुए' इति पाठः ककोश उपलभ्यते । गकोशलेखकेन प्रमादात् त्यक्त इति प्रतिभाति ॥

योग्य न्याय से (देवान्) विद्वानों वा दिव्य गुणों को (यजासि) सत्कार, सेवा, संयोग कीजिये, (यजमाने) राजा आदि मनुष्यों में [(बृहत्)] बड़ी (वयः) उमर को (धाः) धारण कीजिये ॥३५॥

भावार्थः—विद्वान् लोगों को चाहिये कि इस जगत् में दो कर्म निरन्तर करें। प्रथम ब्रह्मचर्य्य और जितेन्द्रियता आदि की शिक्षा से शरीर को रोगरहित बल से युक्त और पूर्ण अवस्था वाला करें। दूसरे विद्या और क्रिया की कुशलता के ग्रहण से आत्मा का बल अच्छे प्रकार साधें, कि जिससे सब मनुष्य शरीर और आत्मा के बल से युक्त हुए सब काल में आनन्द भोगें ॥३५॥

नि होतेत्यस्य गृत्समद ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनर्मनुष्यकृत्यमाह॥

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ऽ असदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽ अग्निः॥३६॥

नि। होता। होतृषदने। होतृसदन इति होतृऽसदने। विदानः। त्वेषः। दीदिवानिति दीदिऽवान्। असदत्। सुदक्ष इति सुऽदक्षः॥ अदब्धव्रतप्रमतिरित्यदब्धव्रतऽप्रमतिः। वसिष्ठः। सहस्रम्भर इति सहस्रम्ऽभरः। शुचिजिह्व इति शुचिऽजिह्वः। अग्निः॥३६॥

पदार्थः—**(नि) *नितराम् (होता) शुभगुणग्रहीता (होतृषदने) दातॄणां विदुषां स्थाने (विदानः) विविदिषुः सन् (त्वेषः) शुभगुणैर्दीप्यमानः (दीदिवान्) धर्म्यं व्यवहारं चिकीर्षुः (असदत्) सीदेत् (सुदक्षः) सुष्ठु दक्षो बलं यस्य सः (अदब्धव्रतप्रमतिः) अदब्धैरहिंसनीयैर्व्रतैर्धर्माचरणैः प्रकृष्टा मतिर्मेधा यस्य सः (१वसिष्ठः) अतिशयेन †वसिता (सहस्रम्भरः) यः सहस्रमसंख्यं शुभगुणसमूहं बिभर्ति सः (शुचिजिह्वः) शुचिः पवित्रा सत्यभाषणेन जिह्वा वाग् यस्य स (अग्निः) पावक इव वर्त्तमान।** [अयं मन्त्रः श० ६।४।२।७ व्याख्यातः]॥३६॥

(देवाव्यः) पूर्वं (य० ७।२२ पृ० ६११) व्याख्यातः। कृत्स्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥३५॥

॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

१. **तुरिष्ठेमेयस्सु** (अ० ६।४।१५४) इति तृलोपः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(होतृषदने) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे **लिति** (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम्॥

(विदानः) 'विद ज्ञाने' (अ० प०) इत्यस्मादादादिकात् **पूङ्यजोः शानन्** (अ० ३।२।१२८) इत्येवं विहितः शानन् प्रत्ययो द्रष्टव्यः। पवमान-यजमान-शब्दौ शानच्प्रत्ययान्तावपि सिध्यतः। स्वरोऽपि शानचो लादेशत्वात् तदनुदात्तत्वे धातुस्वरेण सिध्यत्येव। एवं तर्हि प्रत्ययान्तरविधानं ज्ञापकम्—अयमन्येभ्योऽपि भवतीति। **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (अ० २।४।७२) इति शपो लुक्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

सायणस्तु ऋ० १।१६५।९ भाष्य आद्युदात्तविदानशब्दे 'व्यत्ययेन शानच्' इत्याह। तच्चिन्त्यम्, शानचि चित्त्वादन्तोदात्तप्रसक्तेः।

---

* 'नित्यम्' इति ककोशे पाठः॥ † साम्प्रतिकानां मते 'वस्ता' इति स्यात्॥

अन्वयः—यदि [अग्निः पावक इव] नरो मनुष्यजन्म प्राप्य होतृषदने दीदिवान् त्वेषो विदानः शुचिजिह्वः सुदक्षोऽदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरो होता सततं न्यसदत्तर्हि समग्रं सुखं प्राप्नुयात् ॥३६॥

भावार्थः—यदा मातापितरः स्वपुत्रान् कन्याश्च सुशिक्ष्य पुनर्विदुषो §विदुष्याश्च समीपे चिरं संस्थाप्याध्यापयेयुस्तदा [ते] ताः [च] सूर्य्यइव कुलदेशोद्दीपकाः स्युः ॥३६॥

फिर मनुष्यों का कर्त्तव्य अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो [(अग्निः) अग्नि के समान पवित्र] जन मनुष्यजन्म को पाके (होतृषदने) दानशील विद्वानों के स्थान में (दीदिवान्) धर्मयुक्त व्यवहार का चाहने [वाला] (त्वेषः) शुभगुणों से प्रकाशमान (विदानः) ज्ञान बढ़ाने की इच्छा रखने [वाला] (शुचिजिह्वः) सत्यभाषण से पवित्र वाणीयुक्त (सुदक्षः) अच्छे बल वाला (अदब्धव्रतप्रमतिः) रक्षा करने योग्य धर्माचरणरूपी व्रतों से उत्तम बुद्धियुक्त (वसिष्ठः) [शुभगुणों में] अत्यन्त वसने [वाला] (सहस्रम्भरः) असंख्य शुभगुणों को धारण करने वाला (होता) शुभगुणों का ग्राहक पुरुष निरन्तर (न्यसदत्) स्थित होवे, तो वह संपूर्ण सुख को प्राप्त हो जावे ॥३६॥

भावार्थः—जब माता पिता अपने पुत्र तथा कन्याओं को अच्छी शिक्षा देके पीछे विद्वान् और विदुषी के समीप बहुत काल तक$ रख के पढ़वावें, तब वे कन्या और पुत्र सूर्य्य के समान अपने कुल और देश के प्रकाशक∫ हों ॥३६॥

न चाद्युदात्तत्वे छान्दसत्वकल्पना समर्था। अन्तोदात्तविदानशब्दस्याप्यसकृदुपलम्भात्, आद्युदात्तस्वरसाधकस्य शानचो विद्यमानत्वाच्च ॥

(दीदिवान्) दिवुधातोः **छन्दसि लिट्** (अ० ३।२।१०५) इति लिट्। **क्वसुश्च** (अ० ३।२।१०७) इति लिटः स्थाने क्वसुः। **वस्वेकाजाद्घसाम्** (अ० ७।२।६७) इति नियमादिडभावः। **तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य** (अ० ६।१।७) इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सुदक्षः) **आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि** (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्, अत्र दक्षशब्दो घञन्तः। ञित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अदब्धव्रतप्रमतिः) दब्धं च तद् व्रतं च दब्धव्रतम्। न दब्धव्रतम् अदब्धव्रतम्। **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। ततो बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे स एव स्वरः प्रवर्त्तते ॥

(सहस्रम्भरः) **संज्ञायां भृतॄवृजिधारि०** (अ० ३।२।४६) इत्यादिना छान्दसत्वादसंज्ञायामपि खच्। **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (अ० ६।३।६७) इत्यनेन मुम्। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(शुचिजिह्वः) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। शुचिशब्दस्तु इन्प्रत्ययान्तः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। पूर्वं (य० ४।२ पृ० ३५६) व्याख्यातः ॥३६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ 'विदुष्यश्च' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते, कगकोशयोस्तु 'विदुषीश्च' इति पाठ उपलभ्यते ॥

$ 'स्थितिपूर्वक' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

∫ 'प्रकाश करने वाले' इति कगकोशयोः पाठः ॥

सं सीदस्वेत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथेहाध्यापकः कीदृशः स्यादित्याह ॥

सꣳसीदस्व म॒हाँ२ऽ अ॑सि॒ शोच॑स्व देव॒वीत॑मः ।
वि धू॒मम॑ग्नेऽ अरु॒षं मि॑येध्य सृ॒ज प्र॑शस्त द॒र्श॒तम् ॥३७॥

सम् । सी॒द॒स्व॒ । म॒हान् । अ॒सि॒ । शोच॑स्व । दे॒व॒वीत॑म॒ इति॑ देव॒ऽवीत॑मः ॥ वि । धू॒मम् । अ॒ग्ने॒ । अ॒रु॒षम् । मि॒ये॒ध्य॒ । सृ॒ज । प्र॒श॒स्तेति॑ प्रऽशस्त । द॒र्श॒तम् ॥३७॥

पदार्थः—(सम्) ([1]सीदस्व) *अध्यापने आस्स्व (महान्) महागुणविशिष्टः (असि) (शोचस्व) पवित्रो भव (देववीतमः) देवैर्विद्वद्भिः कमनीयतमः ([2]विधूमम्) विगतमलम् (अग्ने) विद्वत्तम ! (अरुषम्) शोभनस्वरूपम् । अरुषमिति रूपनामसु पठितम् ॥ निघ० ३।७ । ([3]मियेध्य) मिनोति प्रक्षिपति दुष्टान् तत्सम्बुद्धौ । अत्र बाहुलकादौणादिक 'एध्य' प्रत्ययः किच्च (सृज) निष्पद्यस्व (प्रशस्त) श्लाघ्य (दर्शतम्) द्रष्टव्यम् । [अयं मन्त्रः श० ६।४।२।६ व्याख्यातः] ॥३७॥

अन्वयः—हे प्रशस्त मियेध्याग्ने ! देववीतमस्त्वं विधूमं दर्शतमरुषं सृज शोचस्व च यतस्त्वं महान् विद्वानसि तस्मादध्यापने† संसीदस्व ॥३७॥

---

१. 'व्यत्ययेनात्रात्मनेपदम्' इति १।३६।६ ऋग्-भाष्ये ।

२. (विधूमम्) इति पदद्वयम्, द्व्युदात्तत्वात् । द्वयोरपि पदयोरेकीकृत्य व्याख्यानं संभवत्येव । तथा चोक्तं शौनकेन—

अनेकं सत् तथा चान्यद् एकमेव निरुक्तवान् ।
अरुणो मासकृन्मन्त्रे मा सकृद् विग्रहेण तु ॥
पदव्यवायेऽपि पदे एकीकृत्य निरुक्तवान् ।
गर्भं निधानमित्येते न जामय इति त्वृचि ॥
(बृहद्देवता २।११२, ११३)

अत्र निर्दिष्टं प्रथमोदाहरणं निरुक्ते ५।२१ स्थले द्रष्टव्यम्, अपरं च चकार **गर्भं सनितुर्निधानम्** इत्यत्र **चकारेनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य** (नि० ३।६) इत्यत्र द्रष्टव्यम् । यदा व्यवहितयोरपि पदयोरेकीकृत्य व्याख्यानं सम्भवति तदा सहप्रयुक्तयोस्तु का कथा ॥

३. ऋ० १।२६।१ भाष्ये 'केध्यच्' प्रत्ययः । सोऽपि साधुः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सीदस्व) व्यत्ययेनात्रात्मनेपदम् । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(शोचस्व) तिङः परत्वान्निघाताभावे **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा०** (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(देववीतमः) देवोपपदात् **वी गतिव्याप्तिकान्त्यसनखादनेषु** (अ० प०) इत्यस्मात् क्विप् । **गतिकारकोपदात् कृत्** (अ०६।२।१३६) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । ततोऽतिशायिकस्तमप् । स च पित्त्वादनुदात्तः ॥

(अरुषम्) **ऋहनिभ्यामुषन्** (दश० उ० ६।१३) । अर्यते वा तदर्थिभिरिति 'उषन्' ।

---

* 'अध्यापनासने आस्व' इति कगकोशयोः पाठः, संस्कृतान्वयेऽपि । अत एव भाषापदार्थेऽपि 'गद्दी पर' इत्युपलभ्यते । पश्चात् संस्कृते संशोधितं, भाषापदार्थे च त्यक्तमिति दिक् ॥

† अत्रापि पूर्ववदेव पाठ उपलभ्यते ॥

भावार्थः—यो मनुष्यो विदुषां प्रियतमः, सुरूपगुणलावण्यसंपन्नः, पवित्रोपचितो महानाप्तो विद्वान् भवेत्, स एव शास्त्राण्यध्यापयितुं शक्नोति ।।३७।।

इस पठन पाठन विषय में अध्यापक कैसा होवे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (प्रशस्त) प्रशंसा के योग्य (मियेध्य) दुष्टों को पृथक् करने वाले (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् ! (देववीतमः) विद्वानों को अत्यन्त इष्ट आप, (विधूमम्) निर्मल (दर्शतम्) देखने योग्य (अरुषम्) सुन्दर रूप को (सृज) सिद्ध कीजिये तथा (शोचस्व) पवित्र हूजिये । जिस कारण आप (महान्) बड़े बड़े गुणों से युक्त विद्वान् (असि) हैं, इसलिए पढ़ाने की गद्दी पर (संसीदस्व) अच्छे प्रकार स्थित हूजिये ।।३७।।

भावार्थः—जो मनुष्य विद्वानों का अत्यन्त प्रिय, अच्छे रूप गुण और लावण्य से युक्त, पवित्र, बड़ा धर्मात्मा, आप्त विद्वान् होवे, वही शास्त्रों के पढ़ाने को समर्थ होता है ।।३७।।

अपो देवीरित्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । न्यङ्कुसारिणी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ।।

अथ जलादिपदार्थशोधनेन प्रजासु किं जायत इत्याह ।।

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ।।३८।।

अपः । देवीः । उप । सृज । मधुमतीरिति मधुऽमतीः । अयक्ष्माय । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥ तासाम् । आस्थानादित्याऽस्थानात् । उत् । जिहताम् । ओषधयः । सुपिप्पला इति सुऽपिप्पलाः ॥३८॥

पदार्थः—(अपः) जलानि (देवीः) दिव्यानि पवित्राणि (उप) (सृज) निष्पादय (मधुमतीः) प्रशस्ता मधवो मधुरादयो गुणा विद्यन्ते यासु ताः (अयक्ष्माय) यक्ष्मादिरोगनिवारणाय (प्रजाभ्यः) पालनीयाभ्यः (तासाम्) अपाम् (आस्थानात्) आस्थायाः (उत्)

नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते उञ्छादित्वादन्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ।। केषुचित् कोशेषु 'उषच्' इत्यपि पाठान्तरम् । तेनात्र स्वरे सिद्धेऽपि नहुषशब्दे वृषादित्वादाद्युदात्तत्वं वक्तव्यं स्यात् । तेनोभयथाऽपि स्वरकल्पनया न मुच्यामहे ।। यद्वा—'रुष हिंसार्थकः (भ्वा० प०)' इत्यतो **घञर्थे कविधानम्** (अ० ३।३।५८ वा०) इति भावे 'क' प्रत्ययः । न विद्यते रुषो यस्मिन् इति बहुव्रीहौ **नञ्सुभ्याम्** (अ०६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ।। यद्वा—'अरुषति'नैरुक्तो धातुः। **विधूममग्ने अरुषं मियेध्य । ऋ०१।३६।९** इति देवराजः । ततोऽच्प्रत्ययः, चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ।।

(दर्शतम्) भृदृशीङ्यजिपर्विपच्यमि० (उ० ३।१०३) इति कर्मणि कृत्यार्थे 'अतच्' प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ।।३७।।

।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अयक्ष्माय) न विद्यते यक्ष्मा रोगो यस्मिन्, तस्मै । **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ।।

(आस्थानात्) आङ्पूर्वात् तिष्ठतेर्ल्युटि **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे **लिति** (अ० ६।१।१९३)

(जिहताम्) प्राप्नुवन्तु (ओषधयः) सोमादयः (सुपिप्पलाः) शोभनानि पिप्पलानि [1]फलानि यासां ताः। [अयं मन्त्रः श० ६।४।३।१ व्याख्यातः] ॥३८॥

अन्वयः—हे सद्वैद्य ! त्वं मधुमतीर्देवीरप उपसृज, यतस्तासामास्थानात् सुपिप्पला ओषधयः प्रजाभ्योऽयक्ष्मायोज्जिहताम् ॥३८॥

भावार्थः—राज्ञा *द्विविधा वैद्याः संरक्षणीयाः। एके सुगन्धादिहोमेन वायुवृष्टचोषधीः शुद्धाः संपादयेयुः। अपरे सन्तो भिषजो विद्वांसो निदानादिद्वारा सर्वान् प्राणिनोऽरोगान् सततं रक्षयेयुः। नैतत्कर्मणा विना समष्टिसुखं कदाचित् संपद्यते ॥३८॥

आगे जल आदि पदार्थों के शोधने से प्रजा में क्या होता है, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे श्रेष्ठ वैद्य पुरुष ! आप (मधुमतीः) प्रशंसित मधुर आदि गुणयुक्त (देवीः) पवित्र (अपः) जलों को (उपसृज) उत्पन्न कीजिये, जिस से (तासाम्) उन जलों के (आस्थानात्) आश्रय से (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलों वाली (ओषधयः) सोमलता आदि †ओषधियां (प्रजाभ्यः) रक्षा करने योग्य प्राणियों के (अयक्ष्माय) यक्ष्मा आदि रोगों की निवृत्ति के लिये (उज्जिहताम्) प्राप्त§ होवें ॥३८॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि दो प्रकार के वैद्य रक्खे। एक तो सुगन्ध आदि पदार्थों के होम से वायु वर्षा जल और ओषधियों को शुद्ध करें। दूसरे श्रेष्ठ विद्वान् वैद्य$ निदान आदि के द्वारा सब प्राणियों को रोगरहित रक्खें। इस कर्म के विना संसार में सार्वजनिक सुख नहीं हो सकता ॥३८॥

सं त इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। वायुर्देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ स्त्रीपुरुषयोः कर्त्तव्यकर्माह ॥

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥३९॥

सम्। ते। वायुः। मातरिश्वा। दधातु। उत्तानायाः। हृदयम्। यत्। विकस्तमिति विऽकस्तम् ॥ यः। देवानाम्। चरसि। प्राणथेन। कस्मै। देव। वषट्। अस्तु। तुभ्यम् ॥३९॥

इति प्रत्ययात् पूर्वं धातोराकार उदात्तः। तत **एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५)** इत्युदात्तः ॥

(**जिहताम्**) 'ओहाङ् गतौ' इत्यस्य लोटि रूपम्। **भृञामित् (अ० ७।४।७६)** इत्यभ्यासस्येत्वम्। **तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८)** इति निघातः ॥

(सुपिप्पलाः) पूर्व (य० ६।२ पृ० ५१६) व्याख्यातः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (ऋ० १।१६४।२०) इति सामान्यफलवाचकत्वम् ॥३८॥

---

* 'विविधा' इति अ०मुद्रिते पाठः कगकोशयोश्चापि ॥ † 'ओषधियों को' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

§ 'प्राप्त हूजिये' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥ $ 'वैद्य होकर' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

पदार्थः—(सम्) (ते) तव (वायुः) पवनः (मातरिश्वा) यो मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति सः (दधातु) धरतु पुष्णातु वा (उत्तानायाः) उत्कृष्टस्तानः शुभलक्षणविस्तारो यस्या राज्यास्तस्याः (हृदयम्) अन्तःकरणम् (यत्) [(विकस्तम्) विविधतया कस्यते [1]शिष्यते यत् तत् (यः) विद्वान् (देवानाम्) धार्मिकाणां विदुषाम् (चरसि) गच्छसि प्राप्नोषि (प्राणथेन) येन प्राणन्ति सुखयन्ति तेन (कस्मै) सुखस्वरूपाय (देव) दिव्यसुखप्रद (वषट्) क्रियाकौशलम् (अस्तु) (तुभ्यम्)। [अयं मन्त्रः श० ६।४।३।४ व्याख्यातः] ॥३९॥

अन्वयः—हे पत्नि! उत्तानायास्ते यद्विकस्तं हृदयं तद्यज्ञशोधितो मातरिश्वा वायुः संदधातु। हे देव पते स्वामिन्! यस्त्वं प्राणथेन देवानां यद्विकस्तं हृदयं चरसि, तस्मै कस्मै तुभ्यं मत्तो वषडस्तु ॥३९॥

भावार्थः—पूर्णयुवा पुरुषो [यया] ब्रह्मचारिण्या सह विवाहं कुर्यात् तस्या अप्रियं कदाचिन्नाचरेत्। या स्त्री[2] कन्या [येन] ब्रह्मचारिणा सहोपयमं कुर्यात् तस्यानिष्टं मनसापि न चिन्तयेत्। एवं प्रमुदितौ सन्तौ परस्परं संप्रीत्या गृहकृत्यानि संसाधयेताम् ॥३९॥

अब स्त्रीपुरुष का कर्त्तव्यकर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे पत्नि राणी! (उत्तानायाः) बड़े शुभलक्षणों के विस्तार से युक्त (ते) आप का (यत्) जो (विकस्तम्) अनेक प्रकार से शिक्षा को प्राप्त हुआ (हृदयम्) अन्तःकरण हो, उस को यज्ञ से शुद्ध हुआ (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला (वायुः) पवन (संदधातु) अच्छे प्रकार पुष्ट करे। हे (देव) अच्छे सुख देने हारे पति स्वामी! (यः) जो विद्वान् आप (प्राणथेन) सुख के हेतु प्राणवायु से (देवानाम्) धर्मात्मा विद्वानों के जिस अनेक प्रकार से शिक्षित हृदय को (चरसि) प्राप्त होते हो, उस (कस्मै) सुखस्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये मुझ से (वषट्) क्रिया की कुशलता (अस्तु) प्राप्त होवे ॥३९॥

भावार्थः—पूर्ण जवान पुरुष जिस ब्रह्मचारिणी कुमारी कन्या के साथ विवाह करे, उस के साथ विरुद्ध* आचरण कभी न करे। जो कन्या पूर्ण युवती स्त्री जिस कुमार ब्रह्मचारी के के साथ विवाह करे, उस का अनिष्ट कभी मन से भी न विचारे। इस प्रकार दोनों परस्पर प्रसन्न हुए प्रीति के साथ घर के कार्य्य संभालें ॥३९॥

---

१. कस गतिशासनयोः (अदा० प०) ॥

२. स्त्री स्त्यायत्यस्यां गर्भः, युवतिरित्यर्थः, कन्या = ब्रह्मचारिणी ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उत्तानायाः) पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१९९ वा०) इत्यनेनान्तोदात्तः ॥

(विकस्तम्) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। असितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्तविकस्त० (अ० ७।२।३४) इति इडभावश्छान्दसः ॥

(चरसि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः। निघाताभावे शप्तिपोरनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(प्राणथेन) शीङ्शपिरुगमिवञ्चिजीविप्राणिभ्योऽथः (उ० ३।१०६) इति करणे 'अथ' प्रत्ययः। छान्दसत्वात् थाथादिस्वरं (अ० ६।२।१४४) बाधित्वा प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(वषड्) निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(तुभ्यम्) ङयि च (अ० ६।१।२१२) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥३९॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'विरुद्ध कभी न करे' इति अ०मुद्रिते पाठः। 'विरुद्ध आचरण कभी न करे' इति कपाठः ॥

सुजात इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः ।
वासोऽ अग्ने विश्वरूपꣳ संव्ययस्व विभावसो ॥४०॥

सुजात इति सुऽजातः । ज्योतिषा । सह । शर्म्म । वरूथम् । आ । असदत् । स्वरिति स्वः ॥ वासः । अग्ने । विश्वरूपमिति विश्वऽरूपम् । सम् । व्ययस्व । विभावसो इति विभाऽवसो ॥४०॥

पदार्थः—(सुजातः) *सुष्ठु प्रसिद्धः (ज्योतिषा) विद्याप्रकाशेन (सह) (शर्म) गृहम् (वरूथम्) वरम् (आ) (असदत्) [1]सीद (स्वः) †सुखदम् (वासः) वस्त्रम् (अग्ने) अग्निरिव प्रकाशमान (विश्वरूपम्) विविधस्वरूपम् (सम्) (व्ययस्व) धरस्व (विभावसो) विविधया भया दीप्त्या सहितं वसु धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ । [अयं मन्त्रः श० ६।४।३।६-८ व्याख्यातः] ॥४०॥

अन्वयः—हे विभावसोऽग्ने ! ज्योतिषा सह सुजातस्त्वं स्वर्वरूथं शर्मासिदत्**सीद** विश्वरूपं वासो संव्ययस्व ॥४०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—**विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ यथा सूर्य्यो भास्वरतया सर्वं [2]प्रकाशते, तथा सुवस्त्रालङ्कारैरुज्ज्वलौ भूत्वा गृहादीनि वस्तूनि सदा पवित्राणि रक्षेताम् ॥४०॥**

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (विभावसो) प्रकाशसहित धन से युक्त (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी ! (ज्योतिषा) विद्या-प्रकाश के [(सह)] साथ (सुजातः) अच्छे [प्रकार] प्रसिद्ध आप (स्वः) सुखदायक (वरूथम्) श्रेष्ठ (शर्म्म) घर को (आसदत्) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये, (विश्वरूपम्) अनेक चित्र विचित्र रूपवाले (वासः) वस्त्र को (संव्ययस्व) धारण कीजिये ॥४०॥

---

१. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) इति कालसामान्ये लुङ् ॥

२. अत्रान्तर्गतो ण्यर्थ इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सुजातः) सुः पूजायाम् (अ० १।४।९३) इति कर्मप्रवचनीये, **स्वती पूजायाम्** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासे, **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(विभावसो) अस्मिन् विग्रहे **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः, सम्बुद्धौ तु **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इति सर्वनिघात एकश्रुतिस्वरः ॥

---

* 'सुष्ठ प्रसिद्ध' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः, ककोशे तु शुद्धः पाठः ॥

† 'शुखम्' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः, 'सुखम्' इति गकोशे । ककोशे तु 'सुखदम्' इति शुद्धः पाठः ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—विवाहित स्त्रीपुरुषों को चाहिए कि जैसे सूर्य्य अपने प्रकाश से सब जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही अपने सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से शोभायमान होके घर आदि वस्तुओं को सदा पवित्र रक्खें ॥४०॥

उदु तिष्ठेत्यस्य विश्वमना ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्विद्वत्कृत्यमाह ॥

उदु॑ तिष्ठ स्वध्व॒राऽवा॑ नो दे॒व्या धि॒या ।
दृ॒शे च॑ भा॒सा बृ॑ह॒ता सु॑शु॒क्वनि॒राग्ने॑ याहि सु॒श॒स्तिभिः॑ ॥४१॥

उत् । ऊँ इत्यूँ । ति॒ष्ठ । स्व॒ध्व॒रेति॑ सुऽअध्वर । अव॑ । नः॒ । दे॒व्या । धि॒या ॥ दृ॒शे । च॒ । भा॒सा । बृ॒ह॒ता । सु॒शु॒क्व॒नि॒रिति॑ सुऽशु॒क्वनिः । आ । अ॒ग्ने॒ । या॒हि॒ । सु॒श॒स्तिभि॒रिति॑ सु॒श॒स्तिऽभिः ॥४१॥

पदार्थः—(उत्) उ (तिष्ठ) (स्वध्वर) शोभना अध्वरा अहिंसनीया [1]माननीया व्यवहारा यस्य तत्सम्बुद्धौ (अव) रक्ष । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (नः) अस्मान् (देव्या) शुद्धविद्याशिक्षापन्नया (धिया) प्रज्ञया, क्रियया वा (दृशे) द्रष्टुम् (च) (भासा) प्रकाशेन (बृहता) महता (सुशुक्वनिः) [2]सुष्ठु शुचां पवित्राणां वनिः संभक्ता (आ) (अग्ने) विद्वन् (याहि) प्राप्नुहि (सुशस्तिभिः) शोभनैः प्रशसितैर्गुणैः । [अयं मन्त्रः श० ६।४।३।९ व्याख्यातः] ॥४१॥

अन्वयः—हे स्वध्वर सज्जन विद्वन् गृहस्थ ! त्वं सततमुतिष्ठ सर्वदा प्रयतस्व । देव्या धिया नोऽव । हे अग्ने *अग्निवत् प्रकाशमान ! सुशुक्वनिस्त्वमु दृशे बृहता भासा सूर्य्य इव सुशस्तिभिः सर्वा विद्या [आ] याहि, अस्मांश्च प्रापय ॥४१॥

अग्रे य० १२।३१ अपि द्रष्टव्यम्, तत्रोपपदसमासः प्रदर्शितः ॥४०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'माननीया' इति तात्पर्यार्थः, अतिरस्करणीया इत्यर्थः ॥

२. अर्थप्रदर्शनमिदम् । विग्रहस्तु—सुष्ठु शुक् सुशुक्, तं वनतीति 'सुशुक्वनिः' । **छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्** (अ० ३।२।२७) इति 'इन्' प्रत्ययः । **उभयसंज्ञान्यपि** (१।४।२० भा० वा०) इति पदत्वात् कुत्वं, भत्वाद् जश्त्वं न भवति । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे नित्त्वाद् वकार उदात्तः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अव) वाक्यादित्वात्, **आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्** (अ० ८।१।७२) इत्यविद्यमानवद्भावाद् वा निघाताभावः । शपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(देव्या) पचादित्वाद् देवशब्दोऽच्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः । ततष्टित्त्वाद् ङीपि, देवीशब्द उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तः । विभक्तौ यणादेशे **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (अ० ६।१।१७४) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

---

* 'अग्निरिव' इति कपाठः ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—विद्वद्भिः शुद्धविद्याप्रज्ञादानेन सर्वे सततं संरक्ष्याः । नहि सुशिक्षामन्तरा मनुष्याणां सुखायान्यत् किञ्चिच्छरणमस्ति, तस्मादालस्यकपटादीनि कुकर्माणि विहाय विद्या-प्रचाराय सदा प्रयतितव्यम् ॥४१॥

फिर भी विद्वानों का कृत्य अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (स्वध्वर) अच्छे माननीय व्यवहार करने वाले सज्जन विद्वन् गृहस्थ ! आप निरन्तर (उत्तिष्ठ) पुरुषार्थ से उन्नति को प्राप्त हो के† सदा प्रयत्न कीजिये, (देव्या) शुद्ध विद्या और शिक्षा से युक्त (धिया) बुद्धि वा क्रिया से (नः) हम लोगों की (अव) रक्षा कीजिये । हे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान ! (सुशुक्वनिः) अच्छे पवित्र पदार्थों के विभाग करने हारे आप (उ) तर्क के साथ (दृशे) देखने को (बृहता) बड़े (भासा) प्रकाशरूप सूर्य के तुल्य (सुशस्तिभिः) सुन्दर प्रशंसित गुणों के साथ, सब विद्याओं को ([आ]याहि) प्राप्त हूजिये§ [(च)] और हमको भी सब विद्याएं प्राप्त कराइये ॥४१॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—विद्वान् लोगों को चाहिये कि शुद्ध विद्या और बुद्धि के दान से सब मनुष्यों की निरन्तर रक्षा करें, क्योंकि अच्छी शिक्षा के विना मनुष्यों के सुख के लिये और कोई भी आश्रय नहीं है । इसलिये सब को उचित है कि आलस्य और कपट आदि कुकर्मों को छोड़ के विद्या के प्रचार के लिये सदा प्रयत्न किया करें ॥४१॥

ऊर्ध्व इत्यस्य कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । उपरिष्टाद्बृहती छन्दः ।
मध्यम स्वरः ॥

पुनर्विद्वत्कृत्यमाह ॥

ऊर्ध्वऽ ऊ षु णऽ ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥४२॥

ऊर्ध्वः । ऊँ इत्यूँ । सु । नः । ऊतये । तिष्ठ । देवः । न । सविता ॥ ऊर्ध्वः । वाजस्य । सनिता । यत् । अञ्जिभिरित्यञ्जिऽभिः । वाघद्भिरिति वाघत्ऽभिः । विह्वयामह इति विऽह्वयामहे ॥४२॥

(सुशुक्वनिः) उपरि व्याख्यातः । (सुशस्तिभिः) सूपपदात् शंसतेः क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (अ० ३।३।१७४) इति 'क्तिच्' । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्स्वरेणान्तोदात्तः ॥४१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'हो के अन्य मनुष्यों को प्राप्त सदा किया कीजिये' इति अ०मुद्रिते पाठः । ककोशे च 'पुरुषार्थ से उन्नति को प्राप्त और सदा प्रयत्न किया कीजिये' इति पाठः ॥

§ 'हूजिये । और हमारे लिये भी सब विद्याओं को प्राप्त कीजिये' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वः) उपरिस्थः ([1]उ) (सु) (नः) अस्माकम् (ऊतये) [2]रक्षणाद्याय (तिष्ठ) द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (देवः) द्योतकः (न) इव (सविता) भास्करः (ऊर्ध्वः) उत्कृष्टः (वाजस्य) विज्ञानस्य (सनिता) संभाजकः (यत्) यः (अञ्जिभिः) व्यक्तिकारकैः किरणैः [इव] (वाघद्भिः) युद्धविद्याकुशलैर्मेधाविभिः[3] (विह्वयामहे) विशेषेण स्पर्द्धामिहे। [अयं मन्त्रः श० ६।४।३।१० व्याख्यातः] ॥४२॥

अन्वयः—हे विद्वन्नध्यापक ! त्वमूर्ध्वः सविता देवो न न ऊतये सुतिष्ठ सुस्थिरो भव। यद्यस्त्वमञ्जिभिर्वाघद्भिः सह वाजस्य [ऊर्ध्व† उत्कृष्टः] सनिता *भवसि तमु वयं विह्वयामहे ॥४२॥

१. (ऊ) इति इकः सुञि (अ० ६।३।१३४) इति दीर्घः ॥ (षु) सुञः (अ० ८।३।१०७) इति षत्वम् ॥ (णः) नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः (अ० ८।४।२४) इति मूर्द्धन्यादेशः ॥

२. 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणयाचनक्रियेच्छादीप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु'। रक्षणमादौ यस्य स रक्षणादिः, तत्र भवो दिगादिभ्यो यत् (अ० ४।३।५४) इति यत्, रक्षणाद्यः, तस्मै ॥

३. 'वाघतः' इति मेधाविनामसु (निघ० ३।१५)॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ऊतये) पूर्वं (य० ८।४५ पृ० ७२४) व्याख्यातः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च (अ० ३।३।९७) इति निपातनादन्तोदात्तत्वम् ॥

(तिष्ठ) पादादित्वान्निघाताभावः। धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(सनिता) 'तृन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ अत्र स्कन्दः—'ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता। सनितिर्लाभः। चतुर्थ्याश्चायं डादेशः' ऋ० १।३६।१३ भाष्ये ॥

लुटि रूपे तु स्वरे दोषः, उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वप्राप्तेः ॥

यत्तु सायणः ऋ० १।८।१३ भाष्ये—'सनिता। षणु दाने। लुटि तासिः। वलादिलक्षण इट् (अ० ७।२।३५)। तिपो डादेशः (अ० २।४।८५)। टिलोपः। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तिबादेशस्योदात्तत्वे प्राप्ते तास्यनुदात्तेत्० (अ० ६।१।१८०) इति तास्यानुदात्तत्वम्। धातुस्वरः। न लुट् (अ० ८।१।२९) इति निघातप्रतिषेधः, इति लुटचप्याद्युदात्तत्वमाह। तदसम्यक्। लसार्वधातुकानुदात्तत्वस्य प्रत्ययस्वरापवादत्वेनोदात्तनिवृत्तिस्वरस्याबाधादन्तोदात्तत्वस्यैव प्राप्तेः। तथा च—तै सं० ५।७।७।१ 'अन्वागन्ता' इति लुटि अन्तोदात्तत्वं दृश्यते।

भट्टभास्करोऽपि — 'अन्वागन्ता अनुक्रमेणानन्तरमेवागमिष्यति। 'न लुट्' इति निघातप्रतिषेधः। तास्यनुदात्तेत् इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वम्। टिलोप उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्यैवोदात्तत्वम्' ॥ स्वरसिद्धान्तचन्द्रिकाकारोऽपि तथैव प्रतिपेदे (पृ० ३२१) ॥

सायणोक्ता प्रक्रिया तु वैयाकरणानामनभिमता। किञ्च सायणानुसारेण 'विन्दाते' इत्यत्र लसार्वधातुकानुदात्तत्वं प्राप्नोति। इदञ्चानिष्टम्, उदात्तनिवृत्तिस्वरेण मध्योदात्तत्वस्यैव दर्शनात्। यथा च महाभाष्यम्—'अन्त इति चेत् श्नम्वसयुष्मदस्मदिदंकिलोपेषु स्वरो न सिध्यति—श्नम्—विन्दाते खिन्दाते ॥' उदात्तनिवृत्तिस्वरेण मध्योदात्तत्वमेवेष्टं भाष्यकारस्य ॥

(अञ्जिभिः) अञ्जूधातोः खनिकस्यञ्ज्यसिवसि० (उ० ४।१४९) इत्यनेन 'इः'। प्रत्ययस्वरः ॥

† 'ऊर्ध्वः' इत्येकं मन्त्रगतं पदं संस्कृतान्वये भाषापदार्थे च त्यक्तमिति ध्येयम्। तत्तूभयत्रापि पूरितमस्माभिः ॥

* 'भव' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः। कगकोशयोस्तु शुद्ध एव पाठ उपलभ्यत इति ध्येयम् ॥

§अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—अध्यापकोपदेशका जना यथा सविता भूमिचन्द्रादिभ्य उपरिस्थः सन् स्वज्योतिषा सर्वं संरक्ष्य प्रकाशयति, तथोत्कृष्टगुणैर्विद्यान्यायं प्रकाश्य §सर्वाः प्रजाः सदा सुशोभयेयुः ॥४२॥

फिर भी उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे अध्यापक विद्वन् ! आप (ऊर्ध्वः) ऊपर आकाश में रहने वाले (देवः) प्रकाशक (सविता) सूर्य्य के (न) समान (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा आदि के लिये (सुतिष्ठ) अच्छे प्रकार स्थित हूजिये । (यत्) जो आप (अञ्जिभिः) प्रकट करने हारे किरणों के सदृश (वाघद्भिः) युद्धविद्या में कुशल बुद्धिमानों के साथ (वाजस्य) विज्ञान के [(ऊर्ध्वः) उत्कृष्ट] (सनिता) ∫सेवने हारे हो, (उ) उसी [आप] को हम लोग (विह्वयामहे) विशेष करके बुलाते हैं ॥४२॥

‡इस मन्त्र में उपमालङ्कार तथा वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—अध्यापक और उपदेशक ‡विद्वानों को चाहिये कि जैसे सूर्य्य, भूमि और चन्द्रमा आदि लोकों से ऊपर स्थित होके, अपनी किरणों से सब जगत् की रक्षा के लिये प्रकाश करता है, वैसे उत्तम गुणों से विद्या और न्याय का प्रकाश करके सब प्रजाओं को सदा सुशोभित करें ॥४२॥

स जात इत्यस्य त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ जनकापत्यव्यवहारमाह ॥

स जातो गर्भोऽ असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृतऽ ओषधीषु ।
चित्रः शिशुः परि तमांᳬस्यक्तून् प्र मातृभ्योऽ अधि कनिक्रदद् गाः ॥४३॥

(वाघतः) 'वह प्रापणे' इत्यस्मात् संश्चत्तृपद्वेहत० (उ० २।८५) इत्यादिना विहितोऽतिः बाहुलकात्. उपधादीर्घत्वं हकारस्य च घकारः। प्रत्ययस्वरः ॥

(विह्वयामहे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः। तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतेर्निघातत्वम् ॥४२॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः' इति अ०मुद्रिते पाठः । न इवार्थे, तस्यात्र विद्यमानत्वादत्रोपमालङ्कार इत्यपि ज्ञेयः । कगकोशयोरपि 'अत्रोपमावाचकलु०' शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते ॥

§ 'सर्वा प्रजाः' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्चापपाठः ॥

∫ 'सेवने हारे हूजिये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'विद्वान्' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'विद्वानों को' इति कगपाठः, स च मुद्रणे व्यस्त इति ध्येयम् ॥

सः । जातः । गर्भः । असि । रोदस्योः । अग्ने । चारुः । विभृत इति विऽभृतः । ओषधीषु ॥ चित्रः । शिशुः । परि । तमांᳫसि । अक्तून् । प्र । मातृभ्य इति मातृऽभ्यः । अधि । कनिक्रदत् । गाः ॥४३॥

पदार्थः—(सः) (जातः) प्रसिद्धः ([1]गर्भः) यो गीर्यते स्वीक्रियते सः (असि) (रोदस्योः) द्यावापृथिव्योः (अग्ने) विद्वन् (चारुः) सुन्दरः (विभृतः) विशेषेण धृतः पोषितो वा (ओषधीषु) सोमादिषु (चित्रः) अद्भुतः (शिशुः) बालकः (परि) (*तमांसि) अन्धकारान् (अक्तून्) रात्रीः (प्र) (मातृभ्यः) मान्यकर्त्रीभ्यः (अधि) (कनिक्रदत्) गच्छन् (गाः) गच्छति । अत्राऽडभावः । [अयं मन्त्रः श० ६।४।४ २ व्याख्यातः] ॥४३॥

†**अन्वयः**—हे अग्ने ! यस्त्वं यथा रोदस्योर्जातश्चारुरोषधीषु विभृतश्चित्रो [2]गर्भोऽर्को मातृभ्यस्तमांस्यक्तून् पर्य्यधिकनिक्रदत्सन् गा गच्छति तथाभूतः शिशुर्गा विद्याः प्राप्नुहि[3] ॥४३॥

भावार्थः—यथा ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्जनितः पुत्रो विद्या अधीत्य पितरौ सुखयति, तथैव जनकौ प्रजाः सुखयेताम् ॥४३॥

अब पिता पुत्र का व्यवहार अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! जो आप जैसे (रोदस्योः) आकाश और पृथिवी में (जातः) प्रसिद्ध (चारुः) सुन्दर (ओषधीषु) सोमलतादि ओषधियों में (विभृतः) विशेष करके धारण वा पोषण किया (चित्रः) आश्चर्य्यरूप (गर्भः) स्वीकार करने योग्य सूर्य (मातृभ्यः) मान्य करने हारी माता अर्थात् किरणों से (§तमांसि) अन्धेरों तथा (अक्तून्)

१. अत्र निरुक्तकारः (निरु० १०।२३)—'गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा । यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति ॥

२. 'एष वै गर्भो देवानां (य० ३७।१४) य एष (सूर्यः) तपति । एष हीदᳫ सर्वं गृह्णात्येने नेदᳫ सर्वं गृभीतम् ॥ श० १४।१।४।२ ॥

३. 'स' 'असि' 'प्र' इति पदत्रयं त्यक्तमत्रान्वये, न च क्वचिदन्वयं लभन्ते । एवं भाषापदार्थेऽपीति ध्येयम् ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(चारुः) चरतेः दृसनिजनिचरि० (उ० १।३) इत्यादिना 'ञुण्' । णित्त्वादुपधावृद्धिः । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(विभृतः) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अक्तून्) अञ्जूधातोः पाञ्ज्यर्त्तिभ्यः कित् (भोज उ० २।१।६३) इति 'नुः' किच्च । कित्वान्नलोपः । प्रत्ययस्वरः ॥

* '(तमांसि) रात्रीः (अक्तून्) अन्धकारान्' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'अक्तुः' इति रात्रिनामसु पठितम् (निघ० १।७), इत्यतो ज्ञायते व्यस्तो जातोऽयं पाठ इति ॥

† (क) अयमन्वयोऽनन्वित इव प्रतिभाति ॥

(ख) अत्र चान्वये 'सः, असि, प्र' इति मन्त्रगतं पदत्रयं त्यक्तं, भाषापदार्थेऽपि । पदानि चैतानि न क्वचिदनुयन्तीति ध्येयम् ॥

§ '(तमांसि) रात्रियों तथा (अक्तून्) अन्धकारों को' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः । उपपत्तिस्तु संस्कृतपदार्थटिप्पण्यां पूर्वमेवोक्ताऽस्माभिः ॥

रात्रियों को (पर्य्यधि कनिक्रदत्) §सब ओर से हटाता हुआ (गाः) प्राप्त होता है, वैसे ही (शिशुः) बालक विद्या को प्राप्त होवे ।।४३।।

भावार्थः—जैसे ब्रह्मचर्य्य आदि अच्छे नियमों से उत्पन्न किया पुत्र विद्या पढ़ के माता पिता को सुख देता है, वैसे ही माता पिता को चाहिये कि प्रजा को सुख देवें ।।४३।।

स्थिरो भवेत्यस्य त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।।

अथ पितरौ स्वापत्यानि कथं शिक्षेयातामित्युपदिश्यते ।।

स्थिरो भव वीड्वङ्गऽ आशुर्भव वाज्यर्वन् ।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ।।४४।।

स्थिरः । भव । वीड्वङ्ग इति वीडुऽअङ्गः । आशुः । भव । वाजी । अर्वन् ।। पृथुः । भव । सुषदः । सुसद इति सुऽसदः । त्वम् । अग्नेः । पुरीषवाहणः । पुरीषवाहन इति पुरीषऽवाहनः ।।४४।।

पदार्थः—(स्थिरः) निश्चलः (भव) (वीड्वङ्गः) वीडूनि दृढानि [1]बलिष्ठान्यङ्गानि यस्य सः (आशुः) शीघ्रकारी (भव) (वाजी) प्राप्तनीतिः (अर्वन्) विज्ञानयुक्त (पृथुः) विस्तृतसुखः (भव) (सुषदः[2]) यः शोभनेषु व्यवहारेषु सीदति सः (त्वम्) (अग्नेः)

(**कनिक्रदत्**) क्रन्दतेः शतृप्रत्यये शपः श्लौ द्विर्वचनेऽभ्यासस्य निगागमो निपात्यते । पदमिदं भगवता पाणिनिना **दाधर्त्तिदर्धर्त्ति०** (अ० ७।४।६५) इत्यादिसूत्रे निपातितः । **अभ्यस्तानामादिः** (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ।।

काशिकाकृता लुङि निपातनमुक्तम् । तथा सति संहितायां पदात् पदस्य निघातत्वं प्राप्नोति, दृश्यते तु सर्वत्राद्युदात्तत्वमेव, तस्मात् काशिकाकारस्य वचनमप्रमाणम् ।।४३।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. **'वीडु' इति बलनामसु (निघ० २।९) ।।**

२. अत्र **'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'** (भ्वा० प०) इत्येतस्माद् **अजपि सर्वधातुभ्यः** (अ० ३।१। १३४ वा०) इति 'अच्' प्रत्ययः **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे चित्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादुत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ।। यद्वा—'यः शोभनेषु व्यवहारेषु सीदति तस्य (अग्नेः)' इति षष्ठयन्तं स्यात् । अस्मिन् पक्षे **सत्सूद्विष०** (अ० ३।२। ६१) इत्यादिना क्विपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।। तथा भाषापदार्थं एवं योजनीयः—'तू (सुषदः) सुन्दर व्यवहारों में स्थित (अग्नेः) अग्नि सम्बन्धी (पुरीषवाहणः) पालनादि० ।।'

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**स्थिरः**) तिष्ठतेः **अजिरशिशिरशिथिल०** (उ० १।५३) इत्यादिना 'किरच्' प्रत्ययान्तो निपात्यते । धातोराकारलोपः । चित्वादन्तोदात्तत्वम् ।।

(**वीड्वङ्गः**) 'वीडु' शब्दः पूर्वं (य० ६।३५ पृ० ५७१) व्याख्यातः । ततो **बहुव्रीहौ प्रकृत्या**

§ 'सब ओर से अधिक करके चलता हुआ (गाः) चलाता है' इति अ०मुद्रिते पाठः, अस्पष्टः सन्नस्माभिः स्पष्टीकृतो वेदितव्यः ।।

पावकस्य (पुरीषवाहणः) य [1]पुरीषाणि पालनादीनि कर्माणि वाहयति प्रापयति सः । [अयं मन्त्रः श० ६।४।४।३ व्याख्यातः] ॥

अन्वयः—हे अर्वन् पुत्र ! त्वं विद्याग्रहणाय स्थिरो भव वाजी वीड्वङ्ग आशुर्भव । त्वमग्नेः सुषदः पुरीषवाहणः पृथुर्भव ॥४४॥

भावार्थः—हे सुसन्तानाः ! युष्माभिर्ब्रह्मचर्येण शरीरबलं विद्यासुशिक्षाभ्यामात्मबलं पूर्णं दृढं कृत्वा स्थिरतया रक्षा विधेया । आग्नेयाऽस्त्रादिना शत्रुविनाशश्चेति मातापितरः स्वसन्तानान् [2]सुशिक्षेयुः ॥४४॥

अब माता पिता अपने सन्तानों को किस प्रकार शिक्षा करें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अर्वन्) विज्ञानयुक्त पुत्र ! तू विद्या-ग्रहण के लिये (स्थिरः) दृढ़ (भव) हो, (वाजी) नीति को प्राप्त (वीड्वङ्गः) दृढ़ अति बलवान् अवयवों से युक्त (आशुः) शीघ्र कर्म करने वाला (भव) हो । [(त्वम्)] तू (अग्नेः) अग्निसम्बन्धी (सुषदः) सुन्दर व्यवहारों में स्थित और (पुरीषवाहणः) पालन आदि शुभ कर्मों को प्राप्त कराने वाला, (पृथुः) सुख का विस्तार करने हारा (भव) हो ॥४४॥

भावार्थः—हे अच्छे सन्तानो ! तुमको चाहिये कि ब्रह्मचर्य सेवन से शरीर का बल और विद्या तथा अच्छी शिक्षा से आत्मा का बल पूर्ण दृढ़ कर स्थिरता से रक्षा करो, और आग्नेय आदि अस्त्रविद्या से शत्रुओं का विनाश करो । इस प्रकार माता-पिता अपने सन्तानों को शिक्षा करें ॥४४॥

❧

शिव इत्यस्य *त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् पथ्याबृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तैः प्रजासु कथं वर्तितव्यमित्याह ॥

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः ।
मा द्यावापृथिवीऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥४५॥

पूर्वपदवत् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्रत्यय स्वरेणान्तोदात्तो वीडुशब्दः, ततो यणादेशे उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति स्वरितत्वम् ॥

(सुषदः) स्वरस्तूपरि व्याख्यातः ॥

(पुरीषवाहणः) कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् (अ० ३।२।६५) इति कर्त्तरि 'ञ्युट्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इति ञित्स्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'पॄ पालनपूरणयोः' (जु० प०) इत्यस्मात् शॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४।२८) इति 'कीषन्' प्रत्ययः ॥

२. 'सुशिक्षयेयुः' इति सम्यक् स्यात् । यद्वा—आचारे क्विपि साधुः स्यात् ॥ य० ११।३२ भावार्थे 'शिक्षेरन्' इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥४४॥

---

* 'चित्र ऋषिः' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'त्रितः' इति कगकोशयोः पाठः ॥

शिवः । भव । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः† । मानुषीभ्यः । त्वम् । अङ्गिरः ॥ मा । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । अभि । शोचीः । मा । अन्तरिक्षम् । मा । वनस्पतीन् ॥४५॥

पदार्थः—(शिवः) कल्याणकरो मङ्गलमयः (भव) (प्रजाभ्यः) प्रसिद्धाभ्यः (मानुषीभ्यः) मनुष्यादिभ्यः (त्वम्) (अङ्गिरः) प्राण इव प्रिय (मा) निषेधे (द्यावापृथिवी) विद्युद्भूमी (अभि) आभ्यन्तरे (शोचीः) शोकं कुर्य्याः (मा) (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (मा) (वनस्पतीन्) [1]वटादीन् । [अयं मन्त्रः श० ६।४।४।४ व्याख्यातः] ॥४५॥

अन्वयः—हे अङ्गिरः ! त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवो भव, द्यावापृथिवी माभिशोचीरन्तरिक्षं माभिशोचीर्वनस्पतीन् माभिशोचीः ॥४५॥

भावार्थः—[सु] सन्तानैः [2]प्रजाः प्रति §मङ्गलाचरणैर्भूत्वा पृथिव्यादीनां $विषये निश्शोकैः स्थातव्यम् । किन्त्वेतेषां रक्षां विधायोपकारायोत्साहतया प्रयतितव्यम् ॥४५॥

फिर उन को प्रजा में कैसे वर्त्तना चाहिए, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (अङ्गिरः) प्राणों के समान प्रिय सुसन्तान ! [(त्वम्)] तू (मानुषीभ्यः) मनुष्य आदि (प्रजाभ्यः) प्रसिद्ध प्रजाओं के लिये (शिवः) कल्याणकारी मङ्गलमय (भव) हो । (द्यावापृथिवी) बिजुली और भूमि के विषय में (मा) मत (अभिशोचीः) अति शोच कर । (अन्तरिक्षम्) अवकाश के विषय में (मा) मत शोच कर, और (वनस्पतीन्) वट आदि वनस्पतियों का [(मा)] शोच मत कर ॥४५॥

भावार्थः—सुसन्तानों को चाहिये कि प्रजा के प्रति मङ्गलाचारी हो के पृथिव्यादि पदार्थों के विषय में शोकरहित होवें, किन्तु इन सब पदार्थों की रक्षा [का] विधान कर उपकार के लिये उत्साह के साथ प्रयत्न करें ॥४५॥

---

१. 'फली वनस्पतिर्ज्ञेयः' इति मनुवचनाद् वटादयोऽत्र गृह्यन्ते ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मानुषीभ्यः) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (अ० ४।१।१६१) इति अञ्, षुगागमश्च । ञित्त्वादादिवृद्धिः । **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् । **टिड्ढाणञ्०** (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्' । तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे **अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः** (अ० ६।१।१६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(वनस्पतीन्) उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६।२।१४०) इति द्व्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. मनुष्यान् प्रतीत्यर्थः ॥४५॥

---

† 'प्रजाऽभ्यः' इति अजमेरमुद्रितेऽस्थानेऽवग्रहचिह्नम् ॥

§ (क) 'मङ्गलाचरणेन भूत्वा' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥

(ख) मङ्गलमाचरणं येषां तैः, मङ्गलाचारिभिरित्यर्थः ॥

$ 'पृथिव्यां मध्ये' इति अ०मुद्रिते पाठः, स च 'पृथिव्यादि पदार्थों के विषय में' इत्युपलम्भादपपाठ इति प्रतीमः ॥

प्रैतु वाजीत्यस्य त्रित ऋषिः। अग्निर्देवता। ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते॥

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्। अग्न आयाहि वीतये॥४६॥

प्र। एतु। वाजी। कनिक्रदत्। नानदत्। रासभः। पत्वा॥ भरन्। अग्निम्। पुरीष्यम्। मा। पादि। आयुषः। पुरा॥ वृषा। अग्निम्। वृषणम्। भरन्। अपाम्। गर्भम्। समुद्रियम्॥ अग्ने। आ। याहि। वीतये॥४६॥

पदार्थः—(प्र) (एतु) गच्छतु (वाजी) अश्वः (कनिक्रदत्) गच्छन् (नानदत्) भृशं शब्दं कुर्वन् (रासभः[1]) दातुं योग्यः (पत्वा) पतति गच्छतीति (भरन्) धरन् (अग्निम्) विद्युतम् (पुरीष्यम्) [2]पुरीषेषु पालनेषु साधुम् (मा) (पादि) गच्छ (आयुषः) [3]नियतवर्षाज्जीवनात् (पुरा) पूर्वम् (वृषा) बलिष्ठः (अग्निम्) सूर्याख्यम् (वृषणम्) वर्षयितारम् (भरन्) (अपाम्) जलानाम् (गर्भम्) (समुद्रियम्) समुद्रे भवम् (अग्ने) विद्वन् *(आ) (याहि) प्राप्नुहि (वीतये) विविधसुखानां व्याप्तये। [अयं मन्त्रः श० ६।४।४।७ व्याख्यातः]॥४६॥

अन्वयः—हे अग्ने [4]सुसन्तान! भवान् कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा वाजीवायुषः पुरा मा प्रैतु।। पुरीष्यमग्निं भरन्मा पादि, इतस्ततो मा गच्छ वृषापां गर्भं समुद्रियं वृषणमग्निं भरन् सन् वीतय आयाहि॥४६॥

---

१. 'रासति' दानकर्मा (निघ० ३।२०)। 'ददातिना समानार्थान् रातिरासतिदासतिमंहतिप्रीणातिप्रभृतीनाहुः' इति महाभाष्ये १।१।१६॥

२. शॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४।२८) इति 'कीषन्' प्रत्ययः, स च कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ वा०) इति भावेऽत्र वेदितव्यः॥

३. विशेषणमिदं 'नियतवर्षात्' इति॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नानदत्) यङ्लुगन्तात् 'नदतेः' शतरि रूपम्। अभ्यस्तानामादिः (अ० ६।१।१८६) इत्याद्युदात्तत्वम्॥

(रासभः) रासिवल्लिभ्यां च (उ० ३।१२५) इति 'अभच्'। पूर्वसूत्रान्निदनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम्॥

(पत्वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यते (अ० ३।२।७५) इति 'वनिप्'। पित्त्वात् प्रत्ययानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(भरन्) पूर्वं (य० ३।२२ पृ० २८५) व्याख्यातः॥

(पुरीष्यम्) पूर्वं (य० ३।४० पृ० ३१५) व्याख्यातः॥

(वृषणम्) पूर्वं (य० ५।२ पृ० ४२६) व्याख्यातः॥

(समुद्रियम्) समुद्राभ्राद् घः (अ० ४।४।११८) इति 'घः'। आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (अ० ७।१।२) इति इयादेशः। प्रत्ययस्वरेणोपोत्तम उदात्तः॥

(वीतये) मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः (अ० ३।३।९६) इत्यनेन 'क्तिन्', स चोदात्तः॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

४. विशेषणमात्रमध्याहारेणेति, वाच्यार्थस्तु 'विद्वन्' इत्येव॥

---

* '(आ) याहि प्राप्नुहि' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

भावार्थः—मनुष्या विषयलोलुपतात्यागेन ब्रह्मचर्य्येण पूर्णजीवनं धृत्वाऽग्न्यादिपदार्थ-विज्ञानाद्धर्म्यं व्यवहारमुन्नयेयुः ॥४६॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् उत्तम सन्तान ! तू (कनिक्रदत्) चलते और (नानदत्) शीघ्र शब्द करते हुये (रासभः) देने योग्य (पत्वा) चलने वाले† (वाजी) घोड़े के समान (आयुषः) नियत वर्षों की अवस्था से (पुरा) पहिले (मा) न (प्रैतु) मरे। (पुरीष्यम्) रक्षा के हेतु पदार्थों में उत्तम (अग्निम्) बिजुली (भरन्) धारण करता हुआ (मा पादि) इधर उधर मत भाग§, (वृषा) अति बलवान् (अपाम्) जलों के (समुद्रियम्) समुद्र में हुए (गर्भम्) स्वीकार करने योग्य (वृषणम्) वर्षा करने हारे (अग्निम्) सूर्य्य को (भरन्) धारण करता हुआ (वीतये) सुखों की व्याप्ति के लिये (आयाहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो ॥४६॥

भावार्थः—[1]राजा आदि मनुष्यों को योग्य है कि अपने सन्तानों को विषयों की लोलुपता से छुड़ा के ब्रह्मचर्य्य के साथ पूर्ण अवस्था को धारण कर अग्नि आदि पदार्थों के विज्ञान से धर्म्मयुक्त व्यवहार की उन्नति करावें ॥४६॥

ऋतमित्यस्य त्रित ऋषिः। अग्निर्देवता। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

मनुष्यैः किं किमाचरणीयं किं किं च त्यक्तव्यमित्याह॥

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः।
ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः।
व्यस्यन् विश्वाऽअनिराऽअमीवा निषीदन्नोऽअप दुर्मतिं जहि॥४७॥

ऋतम्। सत्यम्। ऋतम्। सत्यम्। अग्निम्। पुरीष्यम्। अङ्गिरस्वत्। भरामः॥ ओषधयः। प्रति। मोदध्वम्। अग्निम्। एतम्। शिवम्। आयन्तमित्याऽयन्तम्। अभि। अत्र। युष्माः॥ व्यस्यन्निति विऽअस्यन्। विश्वाः। अनिराः। अमीवाः। निषीदन्। निसीदन्निति निऽसीदन्। नः। अप। दुर्मतिमिति दुःऽमतिम्। जहि॥४७॥

---

1. 'राजादि मनुष्यों को योग्य है कि अपने संतानों को' पाठोऽयं भूतपूर्वसंस्कृतानुसारी स्यात्, अन्यथा वर्त्तमानसंस्कृतानुसार तु —'मनुष्य विषयों की लोलुपता के त्याग से……… व्यवहार की उन्नति करें' इत्येव सम्भवति॥४६॥

---

† इतोऽग्रे 'वा' इति पदम् अजमेरमुद्रिते, तच्च व्यर्थमिति ध्येयम्॥

§ 'जैसे (वृषा)' इति अ०मुद्रिते पाठः। संस्कृतेऽभावात् व्यस्त इति ध्येयम्॥

पदार्थः—(ऋतम्) यथार्थम् (सत्यम्) अविनश्वरम् (ऋतम्) *अव्यभिचारः (सत्यम्) [1]सत्सु पुरुषेषु साधु, सत्यं मानं भाषणं कर्म च (अग्निम्) विद्युतम् (पुरीष्यम्) पालनसाधनेषु भवम् (अङ्गिरस्वतः) वायुवत् (भरामः) धरामः (ओषधयः) यवादयः (प्रति) (मोदध्वम्) सुखयत (अग्निम्) (एतम्) पूर्वोक्तम् (शिवम्) मङ्गलकारिणम् (आयन्तम्) प्राप्नुवन्तम् (अभि) आभिमुख्ये (अत्र) (युष्माः) युष्मान् । अत्र वाच्छन्दसि (अ० १।४।९ वा०) इति शसो नादेशाभावः (व्यस्यन्) विविधतया प्रक्षिपन् (विश्वाः) सर्वाः (अनिराः) नितरां दातुमयोग्याः (अमीवाः) रोगपीडाः (निषीदन्) अवस्थितः सन् (नः) अस्माकम् (अप) दूरीकरणे (दुर्मतिम्) दुष्टां मतिम् (जहि) नाशय । [अयं मन्त्रः श० ६।४।४।१० व्याख्यातः] ।।४७।।

अन्वयः—हे सन्तानाः ! यथा वयमृतं सत्यमृतं सत्यं पुरीष्यमग्निमङ्गिरस्वद्भरामः, [तथा] एतमायन्तं शिवमग्निं भृत्वा यूयमप्यभिमोदध्वम् । या ओषधयो युष्माः प्रति प्राप्नुवन्ति, ता वयं भरामः । हे वैद्य ! त्वं विश्वा अनिरा अमीवा व्यस्यन्नत्र निषीदन्नो दुर्मतिमपजहि दूरीकुर्वित्येनं प्रार्थयत ।।४७।।

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।]

भावार्थः—[2]मनुष्या ऋतं सत्यं परं सत्यं कारणं ब्रह्मापरमृतं सत्यमव्यक्तं जीवाख्यं सत्यभाषणादिकं प्रकृतिजमग्न्योषधिसमूहं च [धृत्वा] विद्यया शरीरस्य ज्वरादिरोगानात्मनोऽविद्यादींश्च निरस्य, मादकद्रव्यत्यागेन सुमतिं संपाद्य, सुखं प्राप्य नित्यं मोदन्ताम् । मा कदाचिदेतद्विपरीताचरणेन सुखं हित्वा दुःखसागरे [3]पतन्तु ।।४७।।

---

१. अत्र 'सत्सु साधु' इत्येव पाठः शोभनतरो भवेत्, 'सत्यम्' इत्यस्याग्निविशेषणत्वात् । यद्यत्र '(अग्निम्) विद्युतम्' इति स्थाने (अग्निम्) विद्वांसं विद्युतं वा' इति स्यात्, तदा तु पुनरपि सङ्गच्छेत ।। यद्वा—'ऋतं' 'सत्यम्'इति पदद्वयं नाग्निविशेषणम्, अपितु स्वतन्त्रम् । अस्मिन् पक्षे यथोक्तः पाठ एव साधुः सम्भवति ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ऋतम्) पूर्वं (य० २।६ पृ० १६१) व्याख्यातः ।।

(पुरीष्यम्)पदमिदं पूर्वमन्त्रे व्याख्यातम् ।।

(आयन्तम्)(व्यस्यन्)(निषीदन्) सर्वत्र 'शतृ' प्रत्ययः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (६।२।१३९)इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्र 'आयन्तम्' इत्यत्र **इणो यण्** (अ० ६।४।८१) इति यणादेशे विकरणलुकि च प्रत्ययस्वरः । उत्तरयोः 'अदुपदेशत्वात्' लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ।।

(ओषधयः)पूर्वं (य० १।२१ पृ० १०७) व्याख्यातः ।।

(अनिराः)**तत्पुरुषे तुल्यार्थसप्तम्युपमान०** (अ० ६।२।२)इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् ।।

(दुर्मतिम्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे मतिशब्दे **मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः** (अ० ३।३।९१) इति 'क्तिन्' उदात्तश्च ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

२. इतः पूर्वम् 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।' इति भवितव्यम् ।।

३. 'पतन्तु' इत्यस्याः क्रियायाः कर्त्ता 'मनुष्याः' इति । यदि तु 'मनुष्याः' इति सम्बोधनपदं, तदा 'भवन्तः' इत्यध्याहार्यम् ।।

---

* 'अव्यभिचारी' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

मनुष्यों को क्या-क्या आचरण करना और क्या-क्या छोड़ना चाहिए,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे सुसन्तानो ! जैसे हम लोग (ऋतम्) यथार्थ (सत्यम्) नाशरहित (ऋतम्) अव्यभिचारी (सत्यम्) [1]सत्पुरुषों में श्रेष्ठ तथा सत्य मानना बोलना और करना (पुरीष्यम्) रक्षा के साधनों में उत्तम (अग्निम्) बिजुली को (अङ्गिरस्वत्) वायु के तुल्य (भरामः) धारण करते हैं, [वैसे] (एतम्) इस पूर्वोक्त (आयन्तम्) प्राप्त हुए (शिवम्) मङ्गलकारी (†अग्निम्) बिजुली को प्राप्त हो के तुम लोग भी (§अभिमोदध्वम्) आनन्दित रहो। जो (ओषधयः) जौ आदि ओषधि (युष्माः) तुम्हारे (प्रति) लिये प्राप्त होवें, उन को हम लोग धारण करते हैं$। हे वैद्य ! आप (विश्वाः) सब (अनिराः) जो निरन्तर देने योग्य न हों (अमीवाः) ऐसी रोगों की पीड़ा [को] (व्यस्यन्) अनेक प्रकार से अलग करते [हुए] और (अत्र) इस आयुर्वेदविद्या में (निषीदन्) स्थित हो के (नः) हम लोगों की (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि को (अपजहि) सब प्रकार दूर कीजिये, इस प्रकार इस वैद्य की प्रार्थना करो ॥४७॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।]

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को उचित है कि [एक] यथार्थ अविनाशी परकारण ब्रह्म, दूसरा कारण यथार्थ अविनाशी अव्यक्त जीव सत्यभाषणादि तथा प्रकृति से उत्पन्न हुए अग्नि और ओषधि आदि पदार्थों के [समूह के] धारण [और विद्या] से शरीर के ज्वर आदि रोगों और आत्मा के अविद्या आदि दोषों को छुड़ा के मद्य आदि द्रव्यों के त्याग से अच्छी बुद्धि कर और सुख को प्राप्त हो के नित्य आनन्द में रहो, और कभी इससे विपरीत आचरण कर सुख को छोड़ के दुःखसागर में मत गिरो ॥४७॥

ओषधय इत्यस्य त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

स्त्रियोऽपि किं किमाचरेयुरित्याह ॥

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः ।
अयं वो गर्भऽ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमासदत् ॥४८॥

ओषधयः । प्रति । गृभ्णीत । पुष्पवतीरिति पुष्पऽवतीः । सुपिप्पला इति सुऽपिप्पलाः ॥ अयम् । वः । गर्भः । ऋत्वियः । प्रत्नम् । सधस्थमिति सधऽस्थम् । आ । असदत् ॥४८॥

---

१. यहां 'सत्य' शब्द अग्नि (विद्युत्) का विशेषण होने से 'सत्पदार्थों में श्रेष्ठ' ऐसा अर्थ अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है ॥४७॥

---

† '(अग्निम्) बिजुली रूप अग्नि को धारण करके' इति कपाठः ॥

§ '(अभिमादध्वम्) आनन्दित रहो जो' इति कपाठः ॥

$ इतोऽग्रे 'वैसे तुम भी करो' इति पाठो व्यर्थः, संस्कृते च नास्तीति ध्येयम् ॥

पदार्थः—(ओषधयः) सोमादयः (प्रति) (गृभ्णीत) गृह्णीत (पुष्पवतीः) श्रेष्ठानि [1]पुष्पाणि यासां ताः (सुपिप्पलाः) शोभनफलाः (अयम्) (वः) युष्माकम् (गर्भः) (ऋत्वियः) ऋतुः प्राप्तोऽस्य सः (प्रत्नम्) पुरातनम् (सधस्थम्) सहस्थानम् (आ) (असदत्) प्राप्नुयात्। [अयं मन्त्रः श० ६।४।४।१७ व्याख्यातः] ॥४८॥

अन्वयः—हे स्त्रियः! यूयं या ओषधयः सन्ति याभ्योऽयमृत्वियो गर्भो वः प्रत्नं सधस्थं गर्भाशयमासदत् ताः पुष्पवतीः सुपिप्पला ओषधीः प्रति गृभ्णीत ॥४८॥

भावार्थः—मातापितृभ्यां*कन्या [2]व्याकरणादिकमध्याप्य वैद्यकशास्त्रमप्यध्यापनीयम्। यत इमा आरोग्यकारिका गर्भसंपादिनीरोषधीर्विज्ञाय सुसन्तानान्युत्पाद्य सततं प्रमोदेरन्॥४८॥

स्त्रियों को क्या-क्या आचरण करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे स्त्रियो! तुम लोग, जो (ओषधयः) सोमलता आदि ओषधि हैं, जिन से (अयम्) यह (ऋत्वियः) ठीक ऋतु काल को प्राप्त हुआ (गर्भः) गर्भ (वः) तुम्हारे (प्रत्नम्) प्राचीन (सधस्थम्) नित्य स्थान गर्भाशय को [(†आसदत्)] प्राप्त होवे, उन (पुष्पवतीः) श्रेष्ठ पुष्पों वाली (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलों से युक्त ओषधियों को (प्रति-गृभ्णीत) निश्चय करके ग्रहण करो॥४८॥

भावार्थः—माता पिता को चाहिये कि अपनी कन्याओं को [2]व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ा के वैद्यक शास्त्र पढ़ावें। जिससे ये कन्या लोग रोगों का नाश और गर्भ का स्थापन करने वाली ओषधियों को जान और अच्छे सन्तानों को उत्पन्न करके निरन्तर आनन्द भोगें॥४८॥

वि पाजसेत्यस्योत्कील ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वर॥

विवाहसमये स्त्रीपुरुषौ किं किं प्रतिजानीयातामित्युपदिश्यते॥

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसोऽ अमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीतौ॥४९॥

---

१. अन्यत्र 'पुष्पवती' इत्ययं शब्द ऋतुमत्यर्थेऽपि वर्त्तते। सोऽप्यर्थोऽत्र योजयितव्यः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुष्पवतीः) 'पुष्प विकसने' इत्यस्माद् 'अच्'। चित्त्वादन्तोदात्ते प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्। ततो मतुपि ङीपि च तयोः पित्त्वात् स एव स्वरः॥

(सुपिप्पलाः) पूर्वं (य० ६।२ पृ० ५१६) व्याख्यातः॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया॥**

२. 'सत्यार्थप्रकाश' पृ० ७५—
'स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये'॥४८॥

---

* 'कन्याभ्यः' इति अजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः॥

† '(आसदत्)' इति कगपाठः। लेखकप्रमादात् मुद्रिते त्यक्तः स्यादिति॥

वि। पाजसा। पृथुना। शोशुचानः। बाधस्व। द्विषः। रक्षसः। अमीवाः॥ सुशर्मण इति सुऽशर्मणः। बृहतः। शर्मणि। स्याम्। अग्नेः। अहम्। सुहवस्येति सुऽहवस्य। प्रणीतौ। प्रणीताविति प्रऽनीतौ॥४९॥

पदार्थः—(वि) विविधेन (पाजसा) बलेन। पातेर्बले जुट् च॥ उ० ४।२१०। इत्यसुन्। पाज इति बलनामसु पठितम्॥ निघ० २।६। (पृथुना) विस्तीर्णेन (शोशुचानः) भृशं शुचिः सन् (बाधस्व) (द्विषः) शत्रुभूता [1]व्यभिचारिणीर्वृषलीः (रक्षसः) दुष्टाः (अमीवाः) रोग इव प्राणिनां पीडकाः (सुशर्मणः) सुशोभितगृहस्य (बृहतः) †महतः (शर्मणि) सुखकारके गृहे (स्याम्) वर्त्तेय (अग्नेः) §अग्निवद् देदीप्यमानस्य (अहम्) पत्नी (सुहवस्य) शोभनो हवो ग्रहणं दानं वा यस्य $तस्य (प्रणीतौ) प्रकृष्टायां धर्म्यायां नीतौ। [अयं मन्त्रः श० ६।४।४।२१ व्याख्यातः]॥४६॥

अन्वयः—हे पते ! यदि त्वं पृथुना वि पाजसा बलेन सह शोशुचानः सदा वर्त्तेथाः, अमीवा रक्षसो द्विषो बाधस्व, तर्हि बृहतः सुशर्मणः सुहवस्याग्नेस्ते शर्मणि प्रणीतौ चाहं पत्नी स्याम्॥४६॥

भावार्थः—विवाहसमये पुरुषेण स्त्रिया ʃच व्यभिचारत्यागस्य प्रतिज्ञां कृत्वा, व्यभिचारिणीनां स्त्रीणां लम्पटानां पुरुषाणां च सर्वथा सङ्गं त्यक्त्वा, परस्परमप्यतिविषयासक्तिं विहाय, ऋतुगामिनौ भूत्वान्योऽन्यं प्रीत्या वीर्यवन्त्यपत्यान्युत्पादयेताम्। नहि व्यभिचारेण तुल्यं स्त्रियाः पुरुषस्य चाप्रियमनायुष्यमकीर्तिकरं कर्म विद्यते, तस्मादेतत् सर्वथा त्यक्त्वा धर्माचारिणौ भूत्वा दीर्घायुषौ स्याताम्॥४६॥

विवाह के समय स्त्री और पुरुष क्या-क्या प्रतिज्ञा करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे पते ! जो आप (पृथुना) विस्तृत (वि) विविध प्रकार के (पाजसा) बल के साथ (शोशुचानः) शीघ्र ‡शुद्धता से सदा वर्तें और (अमीवाः) रोगों के समान प्राणियों को पीड़ा देनेहारी (रक्षसः) दुष्ट (द्विषः) शत्रुरूप व्यभिचारिणी स्त्रियों को (बाधस्व)

---

१. सामर्थ्यादत्राध्याहारो वेदितव्यः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पाजसा) असुनि नित्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(पृथुना) पूर्वं (य० १।१४ पृ० ७८) व्याख्यातः॥

(शोशुचानः) शुचेर्यङ्लुगन्तात् शानचि रूपम्। अदादौ '**चर्करीतं च**' इति पाठात् शपो लुक्। **अभ्यस्तानामादिः** (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम्॥

(बाधस्व) पादादित्वान्न निहन्यते। अदुपदेशत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(सुशर्मणः) पूर्वं (य० ८।८ पृ० ६६७) व्याख्यातः॥

(सुहवस्य) हवनं हवः। **ऋदोरप्** (अ० ३।३।५७) इत्यप्। ततो बहुव्रीहौ **आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि** (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्॥

---

† 'महतः जनस्य' इति कपाठः॥ § 'अग्निरिव' इति कपाठः॥

$ 'तस्य' इति पाठः ककोशे नास्ति॥ ʃ इतोऽग्रे 'एवमाचरणीयं यत्' इत्यध्याहारः कर्त्तव्यः॥

‡ 'शुद्ध सदा वर्त्तें' इति अ०मुद्रिते पाठः। 'शुद्धता से सदा वर्त्तें' इति कपाठः। गकोशे व्यस्तः॥

∫समीप न आने दो, तो (बृहतः) बड़े (सुशर्मणः) अच्छे शोभायमान [गृह वाले] (सुहवस्य) सुन्दर लेना देना §§व्यवहार जिस का है, ऐसे (अग्नेः) अग्नि के तुल्य प्रकाशमान आपके (शर्मणि) सुखकारक घर में और (प्रणीतौ) उत्तम धर्मयुक्त नीति में [(अहम्)] मैं आप की स्त्री (स्याम्) होऊं ॥४६॥

भावार्थः—विवाह समय में स्त्री पुरुष को चाहिये कि व्यभिचार छोड़ने की प्रतिज्ञा कर व्यभिचारिणी स्त्री और लम्पट पुरुषों का सङ्ग सर्वथा छोड़, आपस में भी अति विषयासक्ति को छोड़ और ऋतुगामी होके परस्पर प्रीति के साथ पराक्रम वाले सन्तानों को उत्पन्न करें, क्योंकि स्त्री वा पुरुष के लिये अप्रिय, आयु का नाशक, निन्दा के योग्य कर्म व्यभिचार के समान दूसरा कोई भी नहीं है, इसलिये इस व्यभिचार कर्म को सब प्रकार छोड़ और धर्माचरण करनेवाले हो के पूर्ण अवस्था के सुख को भोगें ॥४६॥

आपो हि ष्ठेत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ कृतविवाहाः स्त्रीपुरुषा अन्योन्यं कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥५०॥

आपः । हि । स्थ । मयोभुव इति मयःऽभुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन ॥ महे । रणाय । चक्षसे ॥५०॥

पदार्थः—(आपः) आप इव शुभगुणव्यापिकाः (हि) खलु (स्थ) भवत । अत्रान्येषामपि० (अ० ६।३।१३६) इति दीर्घः (मयोभुवः) सुखं भावुकाः (ताः) (*नः) अस्माकम् (ऊर्जे) बलयुक्ताय (दधातन) धरत (महे) महते (रणाय) संग्रामाय (चक्षसे) ख्यातुं योग्याय । [अयं मन्त्रः श० ६।५।१।२ व्याख्यातः] ॥५०॥

सायणस्तु—(ऋ० १।५८।६) 'सूपपदाद् ह्वयतेः ईषद्दुःसुषु० (अ० ३।३।१२६) इति 'खल्' । बहुलं छन्दसि (अ० ६।१।३४) इति सम्प्रसारणम् । परपूर्वत्वम् । गुणावादेशौ । लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्' इत्याह ॥

(प्रणीतौ) पूर्वं (य० ७।३५ पृ० ६३२) व्याख्यातः ॥४६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मयोभुवः) 'मीञ् हिंसायाम्' (क्र्या० प०) इत्यस्माद् 'असुन्', मीनाति हिनस्ति दुःखानीति मयः । नित्वादाद्युदात्तः । ततो गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे, विभक्तिरनुदात्ता ॥

(महे) 'मह पूजायाम्' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् क्विपि सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(रणाय) पूर्वं (य० ७।३८ पृ० ६३७)

∫ 'ताड़ना देवें' इति अ०मुद्रिते पाठः, कगकोशयोश्चापि ॥

§§ 'व्यवहार जिसमें हो' इति अ०मुद्रिते पाठः, कगकोशयोश्चापि ॥

* '(नः) अस्मान् (ऊर्जे) बलयुक्ताय पराक्रमाय' इति कगपाठः । प्रूफसंशोधने संशोधितः स्यात् ॥

अन्वयः—हे जलवद्वर्त्तमाना आप इव †स्त्रियः ! याः यूयं मयोभुवः स्थ ता ऊर्जे महे रणाय चक्षसे नो §हि दधातन १ ॥५०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा स्त्रियः स्वपतीन् प्रीणयेयुस्तथैव पतयः $स्वस्वस्त्रियं सदा सुखयन्तु । एते युद्धकर्मण्यपि २पृथङ् न वसेयुरर्थात्सहैव सदा वर्त्तेरन् ॥५०॥

अब विवाह किये स्त्री और पुरुष आपस में कैसे वर्त्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (आपः) जलों के समान शुभ गुणों में व्याप्त होने वाली श्रेष्ठ स्त्रियो ! जो तुम लोग (मयोभुवः) सुख भोगने वाली (स्थ) हो, (ताः) वे तुम (ऊर्जे) बलयुक्त पराक्रम और (महे) बड़े बड़े (चक्षसे) कहने योग्य (रणाय) संग्राम के लिये (नः) हम लोगों को (हि) निश्चय करके (दधातन) धारण करो ॥५०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे स्त्री अपने पतियों को ʃतृप्त रक्खें वैसे पति भी अपनी अपनी स्त्रियों को सदा सुख देवें । ये दोनों युद्धकर्म में भी २पृथक् पृथक् न बसें, अर्थात् इकट्ठे ही सदा वर्त्ताव रक्खें ॥५०॥

❦

यो व इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

यो वः॒ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ ।
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥५१॥

यः । वः॒ । शि॒वत॑म॒ इति॑ शि॒वऽत॑मः । रसः॑ । तस्य॑ । भा॒ज॒य॒त॒ । इ॒ह । नः॒ ॥ उ॒श॒तीरि॒वेत्यु॑श॒तीःऽइ॑व । मा॒तरः॑ ॥५१॥

व्याख्यातः ॥

(चक्षसे) पूर्व (य० ४।३५ पृ० ४१७) व्याख्यातः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अस्य मन्त्रस्यान्वयो भावार्थश्च य० ३६।४ अपि द्रष्टव्यः ॥

२. (क) 'दूर देश में यात्रार्थ जावे तो स्त्री को भी साथ रखें । इसका प्रयोजन यह है कि बहुत समय तक वियोग न रहना चाहिये ।'

(ख) मनुः ९।१०२—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्ताावितरेतरम् ॥५०॥

† 'याः स्त्रियो यूयम्' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

§ 'हि दधातन' इति गकोशे पाठः । स च मुद्रणे प्रमादात् त्यक्तः स्यात् ॥

$ 'स्वस्य स्त्रियः' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'स्वं स्वं स्त्रियम्' इति तु कपाठः । गकोशे लेखकप्रमादाद् व्यस्तः स्यादिति ॥

ʃ 'तृप्त रखें' इति ककोशे पाठः, प्रमादात् गकोशे व्यस्तः स्यात् ॥

पदार्थः—(यः) (वः) युष्माकम् (शिवतमः) अतिशयेन सुखकारी (रसः) आनन्दः ([1]तस्य) (भाजयत) सेवयत (इह) अस्मिन् गृहाश्रमे (नः) अस्माकमस्मान् वा (उशतीरिव) यथा कामयमानाः (मातरः) जनन्यः[2] ॥५१॥

अन्वयः—हे स्त्रियः ! वो न इह यः शिवतमो रसोऽस्ति, तस्य मातरः पुत्रानुशतीरिव भाजयत[3] ॥५१॥

[अत्रोपमालङ्कारः ।][4]

भावार्थः—*मातापितरौ पुत्रानिव स्वं स्वं पतिं स्वा स्वा पत्नी प्रीत्या †सेवताम्, [5]एवमेव स्वां स्वां स्त्रियं पतिश्च । यथा जलानि तृषातुरान् प्राणिनस्तृप्यन्ति, तथैव सुशीलतयानन्देन तृप्ताः सन्तु ॥५१॥

फिर भी वही उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रियो ! (वः) तुम्हारा और (नः) हमारा (इह) इस गृहाश्रम में (§यः) जो (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) कर्त्तव्य आनन्द है, (तस्य) उस का (मातरः) (उशतीरिव) जैसे कामयमान माता अपने पुत्रों को सेवन करती है, वैसे (भाजयत) सेवन करो ॥५१॥

[इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।]

भावार्थः—स्त्रियों को चाहिये कि जैसे माता पिता अपने पुत्रों का सेवन करते हैं, वैसे अपने-अपने पतियों की प्रीतिपूर्वक सेवा करें, ऐसे ही अपनी-अपनी स्त्रियों की पति भी सेवा करें। जैसे प्यासे प्राणियों को जल तृप्त करता है, वैसे अच्छे स्वभाव के आनन्द से स्त्री पुरुष भी परस्पर प्रसन्न $रहें ॥५१॥

---

१. '(तस्य) रसम्, कर्मणि षष्ठी' य० ३६।१५ भाष्ये ॥

२. मन्त्रोऽयमत्र प्रकरणे शतपथब्राह्मणेऽनिर्दिष्टः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(शिवतमः) 'शिव' शब्दः पूर्वं (य० २।१६ पृ० २०३) व्याख्यातः, तस्मादातिशायिकस्तमप् । स चानुदात्तः ॥

(उशतीरिव) 'वश कान्तौ' (अ० प०) इत्यस्माच्छतृप्रत्ययः । स च **सार्वधातुकमपित्** (अ० १।२।४) इति ङिद्वत् । **ग्रहिज्या०** (अ० ६।१।१६) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । **उगितश्च** (अ० ४।१।६) इति ङीपि **शतुरनुमो नद्यजादी** (अ० ६।१।१७३) इति ङीप उदात्तत्वम् । तत **इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च** (अ० २।२।१८ वा०) इति वार्त्तिकेन समासः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरश्च ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. य० ३६।१५ अन्वयस्तु—'**हे सत्स्त्रियो यो वः शिवतमो रसोऽस्ति, तस्येह नो मातरः पुत्रानुशतीरिव भाजयत** ।।' स च शोभनः ॥

४. य० ३६।१५ भाषापदार्थे उपमालङ्कार इति दर्शितम् ॥

५. 'एवमेव स्वां स्वां स्त्रियं पतिश्च' इत्येतदानुषङ्गिकं, न तु मन्त्रगतमिति ध्येयम् ॥५१॥

---

* 'स्त्रीभिर्मातापितरौ' इति अ०मुद्रिते पाठः । अत्र 'स्त्रीभिः' इति पदं व्यर्थं क्रियापदेनानन्वयात् । ककोशे तु 'स्त्रीभिर्मातापितरौ पुत्रानिव स्वस्वपतयः प्रीत्या सेव्यन्ताम्' इति पाठः ॥

† यथाभाषापदार्थस्तथा तु 'सेवध्वम्' इति स्यात् ॥ § '(यः)' इति पाठः गकोशे उपलभ्यते ॥

$ 'रहैं' इति अ०मुद्रिते पाठः । कगकोशयोस्तु 'रहें' इत्येव शुद्धः पाठः ॥

तस्मा इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। आपो देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

तस्मा॒ऽ अरँ॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ।
आपो॑ ज॒नय॑था च नः॥५२॥

तस्मै॑। अर॑म्। ग॒मा॒म॒। वः॒। यस्य॑। क्षया॑य। जिन्व॑थ॥ आप॑ः। ज॒नय॑थ। च॒। नः॒॥५२॥

पदार्थः—(तस्मै) वक्ष्यमाणाय (अरम्) अलम्। अत्र [1]कपिलकादित्वाल्लत्वम् (गमाम) गच्छेम (वः) युष्मान् (यस्य) जनस्य (क्षयाय) [2]निवासार्थाय गृहाय (जिन्वथ) प्रीणयत (आपः) जलानीव (जनयथ) उत्पादयत। अत्रान्येषामपि० (अ० ६।३।१३६) इति दीर्घः (च) सुखादीनां समुच्चये (नः) अस्माकम्[3]॥५२॥

[4]अन्वयः—हे आपः! जलवद्वर्त्तमानाः *स्त्रियो या यूयं नः क्षयाय जिन्वथ जनयथ च ता वो युष्मान् वयमरं गमाम, यस्य प्रतिज्ञातस्य धर्म्यव्यवहारस्य पालिका भवत तस्यैव वयमपि भवेम[5]॥५२॥

भावार्थः—पुरुषो यस्याः स्त्रियः पतिर्यस्य पुरुषस्य [वा] या स्त्री पत्नी भवेत् स सा च परस्परस्यानिष्टं कदापि न कुर्य्यात्। एवं सुखसन्तानैरलङ्कृतौ भूत्वा धर्मेण गृहकृत्यानि कुर्य्यातान्॥५२॥

---

१. संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनाम् (अ० ८।२।१८ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन रस्य लो वा विधीयते इति बोध्यम्॥

२. निवासयोग्याय गृहाय इत्यर्थः॥

३. मन्त्रोऽयमत्र शतपथब्राह्मणेऽनिर्दिष्ट इति ध्येयम्॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अरम्) निपाताद्युदात्तत्वम्॥

(क्षयाय) पूर्वं (य० ३।२१ पृ० २८३) व्याख्यातः॥

(जिन्वथ) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(जनयथ) जायतेर्णिचि जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च (भ्वा० गणसूत्र) इति मित्त्वम्, मितां ह्रस्वः (अ० ६।४।९२) इति ह्रस्वत्वे, तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातोः (अ० ६।१।१५६) इत्यन्तोदात्तत्वम्। आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८।१।७२) इत्यविद्यमानवद्भावात् तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातत्वं न प्रवर्त्तते॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

४. य० ३६।१६ अन्वयस्तु—'हे स्त्रियो यूयं नोऽस्मानाप इव शान्ताञ्जनयथ, तथा वो युष्मान् शान्ता वयं जनयेम, यूयं यस्य क्षयाय जिन्वथ, तस्मै वयमरङ्गमाम॥' स च शोभनः॥

५. अत्र 'तस्मै' इति पदं नान्वयेऽन्वेति, कर्त्तव्योऽत्र यत्नः। एवमेव मन्त्रगतस्य 'यस्य' पदस्य पदार्थे 'जनस्य' इत्यर्थोऽभ्यधायि। अन्वये 'यस्य प्रति-

---

* 'स्त्रियो' इति ककोशे पाठः॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (आपः) जलों के समान शान्त स्वभाव से वर्त्तमान स्त्रियो ! जो तुम लोग (नः) हम लोगों के (क्षयाय) निवासस्थान के लिये (जिन्वथ) तृप्त और (जनयथ) अच्छे सन्तान उत्पन्न करो, उन (वः) तुम लोगों को हम लोग (अरम्) सामर्थ्य के साथ (गमाम) प्राप्त होवें। [(यस्य)] जिस धर्मयुक्त व्यवहार की प्रतिज्ञा करो, उसका पालन करने वाली होओ, और उसी [धर्म-व्यवहार] का पालन करने वाले हम लोग भी होवें ॥५२॥

भावार्थः—जिस पुरुष की जो स्त्री वा जिस स्त्री का जो पुरुष हो, वे आपस में किसी का अनिष्ट-चिन्तन कदापि न करें। ऐसे ही सुख और सन्तानों से शोभायमान हो के धर्म से घर के कार्य करें ॥५२॥

मित्र इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । मित्रो देवता । उपरिष्टाद् बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मि॒त्रः स॒ꣳसृज्य॑ पृथि॒वीं भूमिं॑ च॒ ज्योति॑षा स॒ह ।
सु॒जा॑तं जा॒तवे॑दसमय॒क्ष्माय॑ त्वा॒ सꣳसृ॑जामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥५३॥

मि॒त्रः । स॒ꣳसृज्येति॑ स॒म्ऽसृज्य॑ । पृ॒थि॒वीम् । भूमि॑म् । च॒ । ज्योति॑षा । स॒ह ॥ सु॒जा॑त॒मिति॑ सु॒ऽजा॑तम् । जा॒तवे॑द॒समिति॑ जा॒तऽवे॑दसम् । अ॒य॒क्ष्माय॑ । त्वा॒ । सम् । सृ॒जा॒मि॒ । प्र॒जाभ्य॒ इति॑ प्र॒ऽजाभ्यः॑ ॥५३॥

पदार्थः—(मित्रः) सर्वेषां सुहृत्सन्[1] (संसृज्य) संसर्गी भूत्वा (पृथिवीम्) [2]अन्तरिक्षम् (भूमिम्) क्षितिम् (च) (ज्योतिषा) विद्यान्यायसुशिक्षाप्रकाशेन (सह) (सुजातम्) सुष्ठु प्रसिद्धम् (जातवेदसम्) *उत्पन्नवेदविज्ञानम् (अयक्ष्माय) अ[।] रोग्याय (त्वा) त्वाम् (सम्) (सृजामि) निष्पादयामि (प्रजाभ्यः) [3]पालनीयाभ्यः । [अयं मन्त्रः श० ६।५।१।५ व्याख्यातः] ॥५३॥

ज्ञातस्य धर्मव्यवहारस्य' इत्युक्तम्, तदपि न सङ्गच्छत इव परस्परम् । भाषापदार्थे तु अन्वयानुसार्येवार्थो निर्दिष्टः ॥५२॥

१. 'सन्' इत्यध्याहारः । स च भाष्यकारशीलेन व्यर्थ इव प्रतिभाति ॥

२. 'पृथिवी' इत्यन्तरिक्षनाम (निघ० १।३) ॥

३. अत्र 'अयक्ष्माय' इति सम्बन्धेन तादर्थ्ये चतुर्थीति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(संसृज्य) सम्पूर्वात् **'सृज विसर्गे'** (तु० प०) इत्यस्मात् 'क्त्वा' । **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (अ० ७।१।३७) इति ल्यबादेशः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण मध्योदात्तः ॥

---

* 'उत्पन्नं वेदविज्ञानम्' इति अ०मुद्रिते पाठः । स च न सम्यक् ॥

अन्वयः—हे पते ! यस्त्वं मित्रः प्रजाभ्योऽयक्ष्माय ज्योतिषा सह पृथिवीं भूमिं च संसृज्य [१]मां सुखयसि, तं सुजातं जातवेदसं त्वाऽहमप्येतदर्थं संसृजामि ॥५३॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषाभ्यां सद्गुणविद्वत्संगाच्छ्रेष्ठाचारं कृत्वा, †शरीरात्मनोरारोग्यं संपाद्य, सुप्रजा उत्पादनीयाः ॥५३॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे पते ! जो आप (मित्रः) सब के मित्र होके (प्रजाभ्यः) पालने योग्य प्रजाओं के (अयक्ष्माय) आरोग्य के लिये (ज्योतिषा) विद्या, न्याय और अच्छी शिक्षा के प्रकाश के (सह) साथ (पृथिवीम्) अन्तरिक्ष (च) और (भूमिम्) पृथिवी के साथ (संसृज्य) सम्बन्ध करके मुझ को सुख देते हो, उस (सुजातम्) अच्छे प्रकार प्रसिद्ध (जातवेदसम्) वेदों के जानने हारे (§त्वा) आपसे मैं (संसृजामि) सम्बन्धित होती हूं ॥५३॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि श्रेष्ठ गुणवान् विद्वानों के संग से शुद्ध आचार का ग्रहण कर, शरीर और आत्मा के आरोग्य को प्राप्त हो के, अच्छे-अच्छे सन्तानों को उत्पन्न करें ॥५३॥

रुद्रा इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । रुद्रा देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे ।
तेषां भानुरजस्रऽ इच्छुक्रो देवेषु रोचते ॥५४॥

रुद्राः । सꣳसृज्येति *सम्ऽसृज्य । पृथिवीम् । बृहत् । ज्योतिः । सम् । ईधिरे ॥ तेषाम् । भानुः । अजस्रः । इत् । शुक्रः । देवेषु । रोचते ॥५४॥

पदार्थः—(रुद्राः) †प्राणरूपा वायवः (संसृज्य) [२]सूर्य्यमुत्पाद्य (पृथिवीम्) भूमिम् (बृहत्) महत् (ज्योतिः) प्रकाशम् (सम्) (ईधिरे) दीपयन्ति (तेषाम्) वायूनां

(सुजातम्) पूर्वं (य० ११।४०) व्याख्यातः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'मां सुखयसि' इत्यध्याहारोऽत्र वेदितव्यः ॥५३॥

२. 'सूर्यम्' इति त्वध्याहारः, स च व्यर्थः प्रतिभाति भाष्यकारशैलीविरोधात् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(भानुः) पूर्वं (य० ११।२८) व्याख्यातः ॥

(अजस्रः) पूर्वं (य० ११।२८) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

† 'शरीरस्यात्मन आरोग्यम्' इति कपाठः । 'शरीरात्मानौ ह्यस्याश्चारोग्यम्' इति गपाठः । मुद्रणे संशोधितः स्यादिति ॥

§ '(त्वा) आप को मैं (संसृजामि) प्रसिद्ध करती हूं' इति अ०मुद्रिते पाठः । स चासम्बद्धः ॥

* 'सम् सृज्य' इत्यवग्रहचिह्नरहितः पाठः अ०मुद्रिते ॥

† 'यथा प्राणरूपा वायवः' इति अ०मुद्रिते पाठः । अत्र 'यथा' इति पदमनावश्यकं भाष्यशैलीविरोधात् ॥

[1]सकाशादुत्पाद्य (भानुः) सूर्य्यः (अजस्रः) §अजस्रं निरन्तरः बहुः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् सः। अत्र [2]अर्शआदित्वादच् (इत्) इव (शुक्रः) भास्वरः (देवेषु) दिव्येषु पृथिव्यादिषु (रोचते) प्रकाशते। [अयं मन्त्रः श० ६।५।१।७ व्याख्यातः] ॥५४॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषाः$! रुद्राः सूर्य्यं संसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे, [3]तेषां सकाशादुत्पन्नः शुक्रो भानुर्देवेष्वजस्रो रोचते, [तस्य] इदिव विद्यान्यायार्कमुत्पाद्य प्रजाजनान्∫ प्रकाशयत, तेभ्यः [च] प्रजासु दिव्यानि सुखानि प्रचारयत ॥५४॥

अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा वायुः सूर्य्यस्य, सूर्य्यः प्रकाशस्य, प्रकाशश्चाक्षुषव्यवहारस्य च [4]कारणमस्ति, तथैव स्त्रीपुरुषाः परस्परस्य सुखस्य साधनोपसाधनकारिणो भूत्वा सुखानि साधयेयुः ॥५४॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! (रुद्राः) प्राणवायु के अवयवरूप समानादि वायु (संसृज्य) [5]सूर्य्य को उत्पन्न करके (पृथिवीम्) भूमि‡ [और] (बृहत्) बड़े (ज्योतिः) प्रकाश को (समीधिरे) प्रकाशित करते है, (तेषाम्) उन से उत्पन्न हुआ (शुक्रः) कान्तिमान् (भानुः) सूर्य्य (देवेषु) दिव्य पृथिवी‡ आदि पदार्थों में (अजस्रः) निरन्तर (§§इत्) जैसे (रोचते) प्रकाश करता है, वैसे ही विद्यारूपी न्याय सूर्य्य को उत्पन्न करके प्रजापुरुषों को प्रकाशित और उन से प्रजाओं में दिव्य सुख का प्रचार करो ॥५४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे वायु सूर्य्य का, सूर्य्य प्रकाश का, प्रकाश नेत्रों से देखने के व्यवहार का कारण है, वैसे ही स्त्रीपुरुष आपस के सुख के साधन उपसाधन करनेवाले होके सुखों को सिद्ध करें ॥५४॥

---

१. 'सकाशादुत्पाद्य' इत्ययं पाठो भाष्यकारशैली-विरोधादनावश्यक एवेति ध्येयम् ॥
२. अ० ५।२।१२७ इति सूत्रेणेति भावः ॥
३. तेषां रुद्रादीनामित्यर्थः ॥
४. तत्सत्त्वे तस्याग्नेः सद्भाव इत्यभिप्रायः ॥
५. 'वायु से अग्नि उत्पन्न होती है' इत्यभिप्रायः॥५४

§ 'बहुरजस्रं प्रकाशो निरन्तरः विद्यते यस्मिन् सः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। स च व्यस्त इति कृत्वास्माभिः संशोधितो वेदितव्यः ॥

$ इतोऽग्रे 'यथा रुद्राः' इति अ०मुद्रिते पाठः। अत्र 'यथा' इति पदमसम्बद्धमेवास्ति, अग्रे 'इदिव' इत्युपलम्भादपि ॥

∫ 'प्रजाजनान् प्रकाशयते तेभ्यः' इति अ०मुद्रिते पाठः। 'प्रजाजनान् प्रकाशयत, तेभ्यः' इति शुद्धः पाठः ककोश उपलभ्यते। गकोशे व्यस्तः स्यात् ॥

‡ 'भूमि को (बृहत्) बड़े (ज्योतिः) प्रकाश के साथ' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'पृथिवी आदि में' इति अ०मुद्रिते पाठ.। 'पृथिवी आदि पदार्थों में' इति ककोशे पाठः। गकोशे लेखकप्रमादात् त्यक्तः स्यात् ॥

§§ '(इत्) जैसे' इत्ययं पाठः 'हे स्त्रीपुरुषो' इत्येतस्मादग्र आसीद् अ०मुद्रिते। स च संस्कृतानुसारमस्माभिरत्रानीतः ॥

संसृष्टामित्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । सिनीवाली देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

स्त्रीभिः किं भूताः सेविका रक्षणीया इत्याह ।।

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम् ।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ।।५५।।

सꣳसृष्टामिति सम्ऽसृष्टाम् । वसुभिरिति वसुऽभिः । रुद्रैः । धीरैः । कर्मण्याम् । मृदम् । हस्ताभ्याम् । मृद्वीम् । कृत्वा । सिनीवाली । कृणोतु । ताम् ।।५५।।

[1]पदार्थः—(संसृष्टाम्) सम्यक् सुशिक्षया निष्पादिताम् (वसुभिः) कृतेन चतुर्विंशति-वर्षब्रह्मचर्य्येण प्राप्तविद्यैः (रुद्रैः) सेवितेन चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्येण विद्याबलयुक्तैः (धीरैः) सुसंयमैः (कर्मण्याम्) या कर्मभिः संपद्यते ताम् । अत्र कर्मवेषाद्यत् ।। अ० ५।१। १०० । **इति कर्मशब्दात् संपादिन्यर्थे यत् (*मृदम्) कोमलाङ्गीम् (हस्ताभ्याम्) (†मृद्वीम्) मृदुगुणस्वभावाम् (कृत्वा) (सिनीवाली) या सिनीः §प्रेमबद्धाः कन्या वलयति सा (कृणोतु) करोतु (ताम्) ।** [अयं मन्त्रः श० ६।५।१।६ व्याख्यातः] ।।

अन्वयः—हे पते ! भवान् शिल्पी हस्ताभ्यां कर्मण्यां मृदमिव धीरैर्वसुभी ∫रुद्रैर्या **शिक्षया संसृष्टां** मृद्वीं कृणोतु, **या** सिनीवाली **वर्त्तते,** तां **स्त्रियं** कृत्वा **सुखयतु**$ **।।५५।।**

---

१. अस्य मन्त्रस्य भाष्यं सर्वमेव प्रायशो व्यस्तं वर्त्तते, इति सुधियो विभावयन्तु ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(संसृष्टाम्) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४६) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ।।

(कर्मण्याम्) यति **तित् स्वरितम्** (अ० ६।१।१८५) इत्यन्तस्वरितत्वम् । ततष्टाप् । एकादेशे स एव स्वरः ।।

---

* '(मृदम्) मृदमिव' इति त्वत्र शोभनतरं स्यात् ।।

† '(मृद्वीम्) मृदुगुणस्वभावां कोमलाङ्गीं वा' इति शोभनतरं भवेत् ।।

§ 'प्रेमबद्धाः सन्ततीर्वलयति सा' इति सम्यक् प्रतिभाति ।। ∫रुद्रैर्मातापितृभिरिति भावः ।

$ यथा तु भावार्थस्तथैत्थमन्वयो योजनीयः—

'हे ब्रह्मचारिन् ! शिल्पी हस्ताभ्यां कर्मण्यां मृदमिव या सिनीवाली वर्त्तते, तां धीरैर्वसुभी रुद्रैः संसृष्टां मृद्वीं स्त्रियं कृत्वा सुखं कृणोतु ।' एवं 'या शिक्षया········ सुखयतु' इत्येतेषां सम्बन्धो विचारणीयः । अस्मिन् पक्षे मन्त्रसङ्गतिरपि—'कथम्भूताभिः कन्याभिर्विवाहः कर्त्तव्य इत्याह' इत्येवं योजनीया । उपरि मुद्रितपाठस्त्वग्रिममन्त्रस्य सङ्गतिर्वेदितव्या ।।

यद्वा—मुद्रितमन्त्रसङ्गत्यनुसारस्त्वन्वय इत्थं समन्वेति—

'हे गृहस्थपुरुष ! भवान् यथा शिल्पी हस्ताभ्यां मृदं मृद्वीं करोति, तथा धीरैर्वसुभी रुद्रैर्मातापितृभिः शिक्षितां कर्मण्यां मृद्वीं कृणोतु । या सिनीवाली वर्त्तते, तां सेविकां कृत्वा-ऽस्मान् सुखयतु ।।'

अस्मिन् पक्षे भावार्थस्यान्तिमभाग इत्थमधिकः पाठस्तत्र योजनीयः—'सिनीवाली या सिनीः प्रेमबद्धाः सन्ततीर्वलयति, एवम्भूतास्ति तां सेविकां कुर्मः ।।'

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा ʃकुलालादयः शिल्पिनो जलेन मृत्तिकां कोमलां कृत्वा, तत्संभूतान् घटादीन् रचयित्वा सुखकार्य्याणि साध्नुवन्ति, तथैव ‡विद्वांसोः मातापितरः शिक्षिता हृद्याः कन्याः ब्रह्मचारिणो विवाहाय संगृह्य गृहकृत्यानि साध्नुवन्तु ॥५५॥

स्त्रियों को कैसी दासी रखनी चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे पते ! आप, जैसे कारीगर मनुष्य (हस्ताभ्याम्) हाथों से (कर्मण्याम्) क्रिया से सिद्ध की हुई (मृदम्) मट्टी को योग्य करता है, वैसे (धीरैः) अच्छा संयम रखने (वसुभिः) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य के सेवन से विद्या को प्राप्त हुए (रुद्रैः) और जिन्होंने चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य के सेवन से विद्या बल को पूर्ण किया हो, उन्हों से[1] (संसृष्टाम्) अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई हो, उस ब्रह्मचारिणी युवती को (मृद्वीम्) कोमल गुण स्वभाव वाली (कृणोतु) कीजिये, और जो स्त्री (सिनीवाली) प्रेमबद्ध कन्याओं को बलवान् करने वाली है, (ताम्) ‡उस स्त्री को अपनी [(कृत्वा)] बना कर सुख कीजिये ॥५५॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे कुम्हार आदि कारीगर लोग ⸸जल से मट्टी को कोमल कर उससे घड़े आदि पदार्थ बना के सुख के काम सिद्ध करते हैं, वैसे ही विद्वान् माता-पिता से शिक्षा को प्राप्त हुई, हृदय को प्रिय, ब्रह्मचारिणी कन्याओं को पुरुष लोग विवाह के लिये ग्रहण कर के ʃʃघर के सब काम सिद्ध करें ॥५५॥

(मृदम्) 'मृद क्षोदे' (क्र्या० प०) इत्यस्मात् क्विपि, धातुस्वरः ॥

(मृद्वीम्) 'म्रद मर्दने' (भ्वा० आ०) इत्यस्मात् **प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं च** (उ० १।२८) इति 'कुः', सम्प्रसारणं च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो **वोतो गुणवचनात्** (अ० ४।१।४४) इति 'ङीष्' । प्रत्ययस्वरः ॥

(सिनीवाली) 'षिञ् बन्धने' (स्वा० उ०) इत्यस्माद् **इण्सिञ्जिदी०** (उ० ३।२) इति 'नक्' प्रत्ययः=सिनः, सोऽस्या अस्तीति **छन्दसीवनिपौ** (अ० ५।२।१०९ वा०) इति मत्वर्थीयः 'ईः' प्रत्ययः । सिनीर्वलयतीति ण्यन्ताद् **अच इः** (उ० ४।१३९) इति 'इ' प्रत्ययः । **कृदिकारादक्तिनः** (ग० सू० ४।१।४१) इति ङीष् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा—सिनीर्वलयतीति **कर्मण्यण्** (अ० ३।२।१) इत्यण् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । ततो 'ङीप्' । उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥५५॥

॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

१. अर्थात् ऐसे माता पिताओं से ।

ʃ 'कुलालादिभिः शिल्पिभिः' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥

‡ 'विद्वद्भिर्मातापितृभिः इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥

‡ 'उस को अपनी स्त्री करके सुखी कीजिये' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'उस को अपनी स्त्री कर के सुख कीजिये' इति कगपाठः, स च साधीयान् । मुद्रणे व्यस्तः स्यात् ॥

⸸ 'जल मट्टी को' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'जल से मट्टी को' इति कगपाठः । मुद्रणे व्यस्तः ॥

ʃʃ 'घर के' इति अ०मुद्रिते नास्ति । 'घर के सब काम सिद्ध करें' इतिं कगकोशयोः पाठः ।

सिनीवालीत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अदितिर्देवता । *विराडुष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

†पुनस्तदेवाह ॥

सि॒नी॒वा॒ली सु॑क॒प॒र्दा सु॑कु॒रीरा॒ स्वौ॑प॒शा ।
सा तुभ्य॑मदिते म॒ह्योखां द॑धातु॒ हस्त॑योः ॥५६॥

सि॒नी॒वा॒ली । सु॒क॒प॒र्देति॑ सुऽक॒प॒र्दा । सु॒कु॒रीरेति॑ सुऽकु॒रीरा । स्वौ॒प॒शेति॑ सुऽऔ॒प॒शा ॥ सा । तुभ्य॑म् । अदि॑ते । म॒हि॒ । आ । उ॒खाम् । द॒धा॒तु॒ । हस्त॑योः ॥५६॥

पदार्थः—(सिनीवाली[1]) प्रेमास्पदाढ्या (सुकपर्दा) सुकेशी (सुकुरीरा) शोभनानि कुरीराण्यलंकृतान्याभूषणानि [कर्माणि वा] यया सा । कृञ उच्च ॥ उ० ४।३४ । इति 'ईरन्' प्रत्ययः (स्वौपशा) उप समीपे श्यति तनूकरोति यया पाकक्रियया सोपशा, तस्या इदं कर्म औपशं, तच्छोभनं विद्यते यस्याः सा (सा) (तुभ्यम्) (अदिते) अखण्डितानन्दे (महि) पूज्ये (आ) (उखाम्) [2]सूपादिसाधनीं स्थालीम् (दधातु) (हस्तयोः) । [अयं मन्त्रः श० ६।५।१।१० व्याख्यातः] ॥५६॥

अन्वयः—हे मह्यदिते ! या सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा §स्वौपशा तुभ्यं हस्तयोरुखां [आ] दधातु, सा त्वया संसेव्या ॥५६॥

भावार्थः—सतीभिः स्त्रीभिः सुशिक्षिताश्चतुराः परिचारिका रक्षणीया, यतः $सर्वाः पाकादिसेवा यथाकालं स्युः ॥५६॥

∫फिर भी पूर्वोक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (महि) सत्कार के योग्य (अदिते) अखंडित आनन्द भोगने वाली स्त्री ! जो (सिनीवाली) प्रेम से युक्त (सुकपर्दा) अच्छे केशों वाली (सुकुरीरा) सुन्दर श्रेष्ठ कर्मों को सेवने हारी (स्वौपशा) अच्छे स्वादिष्ट भोजन के पदार्थ बनाने वाली‡ (तुभ्यम्) तेरे

---

१. (क) योषा वै सिनीवाल्येतद्‌ वै योषायै समृद्धꣳ रूपं यत् सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा समर्धयत्येवैनामेतत् ॥ श० ६।५।१।१० ॥
(ख) सिनाति भूतानि । निरु० ११।३१ ॥
(ग) सिनीवालि पृथुजघने······पृथुकेशस्तुके । निरु० ११।३२ ॥

२. पाचनादियोगादत्र पाचनस्थालीग्रहणम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सुकपर्दा, सुकुरीरा) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥
(स्वौपशा) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

---

* 'विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥
† यदा तु पूर्वमन्त्रे—'कथम्भूताभिः कन्याभिर्विवाहः कर्त्तव्यः' इति सङ्गतिः स्यात्, तदास्मिन् मन्त्रे—'स्त्रीभिः कथम्भूताः सेविका रक्षणीया इत्याह' इत्येवम्भूतया सङ्गत्याऽत्र भाव्यम् ॥
§ 'स्वौपशा यस्यै तुभ्यम्' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥
$ 'सर्वाः पाचकादिसेवाः' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः । भाषापदार्थे तु सम्यगुपलभ्यते ॥
∫ भाषासङ्गतिविषयेऽत्रापि पूर्ववद् वेदितव्यम् ॥
‡ 'पदार्थ बनाने वाली जिस (तुभ्यम्) तेरे (हस्तयोः) हाथों में' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

(हस्तयोः) हाथों में (उखाम्) दाल आदि रांधने की बटलोई को [(आ)] (दधातु) धारण करे, (सा) उस का तू सेवन कर ॥५६॥

भावार्थः—श्रेष्ठ स्त्रियों को उचित है कि अच्छी शिक्षित चतुर दासियों को रक्खें, कि जिससे सब पाक आदि की सेवा ठीक-ठीक समय पर होती रहे ॥५६॥

❧

उखामित्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। अदितिर्देवता। भुरिग् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

*पुनर्दम्पती किं कृत्वा किं कुर्यातामित्युपदिश्यते॥

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ ऽ आ।
मखस्य शिरोऽसि॥५७॥

उखाम्। कृणोतु। शक्त्या। बाहुभ्यामिति †बाहुऽभ्याम्। अदितिः। धिया॥ माता। पुत्रम्। यथा। उपस्थ इत्युपऽस्थे। सा। अग्निम्। बिभर्तु। गर्भे। आ॥ मखस्य। शिरः। असि॥५७॥

पदार्थः—(उखाम्) [1]पाकस्थालीम् ([2]कृणोतु) (शक्त्या) पाकविद्यासामर्थ्येन (बाहुभ्याम्) (अदितिः) [3]जननी (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (माता) (पुत्रम्) (यथा) (उपस्थे) स्वाङ्के (सा) पत्नी (अग्निम्) अग्निमिव वर्त्तमानं वीर्य्यम् (बिभर्तु) (गर्भे) कुक्षौ (आ) (मखस्य) [4]यज्ञस्य (शिरः) [5]उत्तमाङ्गवद्वर्त्तमानः (असि)। [अयं मन्त्रः श० ६।५।१।११ व्याख्यातः] ॥५७॥

(उखाम्) माङ् धातोः माङ उखा (दश पा० उ० ३।५७ ॥ नारायण ५।२६) इत्युणादिसूत्रेण 'उखा' शब्दोऽन्तोदात्तो निपात्यते॥ यद्वा—गत्यर्थाद् 'उख' धातोः प्रापणार्थे (प्रापयतीत्यर्थे) 'कः' प्रत्ययः ॥५६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

१. उपलक्षणेन साधनसामग्रीमित्यर्थोऽत्र ग्राह्यः॥
२. कृवि हिंसाकरणयोश्च (भ्वा० प०) इत्यस्माद् धिन्विकृण्व्योर च (अ० ३।१।८०) इति 'उ' प्रत्ययः॥
३. ऋ० १।८९।१०—'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः'। इति अदितिशब्देन जननी गृह्यते॥
४. गृहाश्रमरूपयज्ञस्येत्यर्थोऽत्र ग्राह्यः॥
५. मुख्य इत्यर्थः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(शक्त्या) 'शक्लृ शक्तौ' इत्यस्मात् स्त्रियां क्तिन् (अ० ३।३।९४) इति 'क्तिन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। वेदे बहुत्र शक्तिपदमन्तोदात्तमपि दृश्यते। तत्र क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (अ० ३।३।१७४) इति छान्दसः क्तिच्। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्॥

---

* अग्रिममन्त्रस्य सङ्गतिरत्र समन्वेतीत्यस्माभिस्ततोऽत्रानीता। अ०मुद्रिते पाठस्तु 'पुनस्तमेव विषयमाह' इति त्वसम्बद्धः॥

† 'बाहुभ्याम्' इत्यवग्रहचिह्नरहितः पाठोऽजमेरमुद्रिते॥

अन्वयः—हे गृहस्थ ! यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्माद् भवान् धिया शक्त्या बाहुभ्या-मुखां कृणोतु । याऽदितिस्ते स्त्री वर्त्तते, सा गर्भे यथा मातोपस्थे पुत्रं धरति, तथाऽग्निमा-बिभर्तु ॥५७॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

[1]**भावार्थः**—कुमारौ कन्यावरौ ब्रह्मचर्य्येण विद्यासुशिक्षे पूर्णे कृत्वा, बलबुद्धिपराक्रम-युक्तसन्तानोत्पादनाय विवाहं कृत्वा,वैद्यकशास्त्ररीत्या महौषधिजं पाकं विधाय, विधिवद्गर्भा-धानं कृत्वोत्तरपथ्यं विदध्याताम् । परस्परं सुहृत्तया वर्त्तित्वाऽपत्यस्य गर्भाधानादिकर्माणि कुर्याताम् ॥५७॥

§फिर स्त्रीपुरुष क्या करके क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे गृहस्थ पुरुष ! जिस कारण तू (मखस्य) यज्ञ के (शिरः) उत्तमाङ्ग के समान (असि) है, इस कारण आप (धिया) बुद्धि वा कर्म से तथा (शक्त्या) पाकविद्या के सामर्थ्य और (बाहुभ्याम्) दोनों बाहुओं से (उखाम्) पकाने की [2]बटलोई को (कृणोतु) सिद्ध करें, जो (अदितिः) जननी आपकी स्त्री है, (सा) वह (गर्भे) अपनी कोख में (यथा) $जैसे (माता) माता (उपस्थे) अपनी गोद में (पुत्रम्) पुत्र को सुखपूर्वक बैठावे∫, वैसे (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी वीर्य्य को (‡आ) (बिभर्तु) धारण करे ॥५७॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—कुमार स्त्रीपुरुषों को योग्य है कि ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या और अच्छी शिक्षा को पूर्ण कर, बल बुद्धि और पराक्रमयुक्त सन्तान उत्पन्न होने के लिये‡ वैद्यकशास्त्र की रीति से बड़ी-बड़ी ओषधियों से पाक बना के और विधिपूर्वक गर्भाधान करके पीछे पथ्य से रहें, और आपस में मित्रता के साथ वर्त्त के पुत्रों के गर्भाधानादि कर्म किया करें ॥५७॥

(उपस्थे) पूर्वं (य० १।११ पृ० ६५) व्याख्यातः ॥

(मखस्य) 'मह पूजायाम्' इत्यस्माद् **महेश्च (दश० उ० ३।५४, श्वेत० ५।२३)** इति 'ख' प्रत्ययो हलोपश्च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'साऽग्नि बिभर्त्तु गर्भे' इत्यादिपदेभ्यो भावार्थो-ऽयं गृह्यते इति वेदितव्यम् ॥

२. 'बटलोई आदि सामग्री को' अत्रापि पूर्ववदेव योजनीयम् ॥५७॥

---

§ 'फिर भी वही विषय०' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

$ 'जैसे माता (उपस्थे)' इति अ०मुद्रिते पाठः । गकोशे तु '(यथा) (माता) जैसे माता' इति पाठः ॥

∫ 'बैठाती है' इति गपाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

‡ '(आ) (बिभर्त्तु) इति गपाठः । स च प्रमादेन भ्रष्ट इति ध्येयम् ॥

‡ इतोऽग्रे 'विवाह कर के वैद्यक शास्त्र की रीति से' इति गपाठः ॥

वसवस्त्वेत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । वसुरुद्रादित्यविश्वेदेवा देवताः । *पूर्वार्द्धस्योत्कृतिश्छन्दः । षड्ज स्वरः । उत्तरार्द्धस्य विराट्संकृतिश्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

†पुनस्तमेव विषयमाह ॥

वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानायादित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानाय ॥५८॥

वसवः । त्वा । कृण्वन्तु । गायत्रेण । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । पृथिवी । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्यमिति सुऽवीर्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय । रुद्राः । त्वा । कृण्वन्तु । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । अन्तरिक्षम् । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्यमिति सुऽवीर्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय । आदित्याः । त्वा । कृण्वन्तु । जागतेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । द्यौः । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्यमिति सुवीर्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय । विश्वे । त्वा । देवाः । वैश्वानराः । कृण्वन्तु । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । दिशः । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्यमिति सुऽवीर्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय ॥५८॥

पदार्थः—(वसवः) वसुसंज्ञका विद्वांसः (त्वा) त्वाम् (कृण्वन्तु) (गायत्रेण) वेदविहितेन [गायत्रीसंज्ञकेन] (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) [1]धनञ्जयप्राणवत् (ध्रुवा) निश्चला (असि) (पृथिवी) पृथुसुखकारिणी (असि) (धारय) स्थापय। अत्रान्येषामपि० (अ० ६।३।१३६) इति दीर्घः (मयि) त्वत्प्रीतायां पत्न्याम् (प्रजाम्) सुसन्तानम् (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् (गौपत्यम्) गोर्धेनोः पृथिव्या वाचो वा पतिस्तस्य भावम् (सुवीर्य्यम्)

१. अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने—'प्राणो वाऽङ्गिराः । श० ६।५।२।३-४' इति वचनाद् अङ्गिरस्शब्देन सर्वे प्राणा गृह्यन्ते । 'अङ्गिरस्वद्' इति पदस्य मन्त्रे बहुशः पाठात् प्राणविशेषोऽत्र गृह्यते इति ध्येयम् ॥

* 'पूर्वार्धस्योत्तरार्धस्य चोत्कृती छन्दसी । षड्जः स्वरः' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

† 'पुनर्दम्पती किं कृत्वा किं कुर्यातां इत्यु०' इति अ० मुद्रिते पाठः । स च पूर्वमन्त्रोक्तरीत्याऽत्र न सम्यक् ॥

शोभनं च तद्वीर्य्यं च तत् (सजातान्) समानात्प्रादुर्भावादुत्पन्नान् (यजमानाय[1]) विद्यासंगमयित्र आचार्य्याय (रुद्राः) रुद्रसंज्ञका विद्वांसः (त्वा) (कृण्वन्तु) (त्रैष्टुभेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) आकाशवत् (ध्रुवा) अक्षुब्धा (असि) (अन्तरिक्षम्) [2]अक्षयप्रेमयुक्ता (असि) (धारय) (मयि) (प्रजाम्) सत्यबलधर्मयुक्ताम् [प्रजाम्] (रायः) राजश्रियः (पोषम्) (गौपत्यम्) [3]अध्यापकत्वम् (सुवीर्य्यम्) सुष्ठुपराक्रमम् (सजातान्) (यजमानाय) साङ्गोपाङ्गवेदाध्यापकाय (आदित्याः) पूर्णविद्याबलप्राप्त्या विपश्चितः (त्वा) (कृण्वन्तु) (जागतेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवा) निष्कम्पा (असि) (द्यौः) सूर्य्यइव वर्त्तमानः (असि) (धारय) (मयि) (प्रजाम्) सुप्रजाताम् (रायः) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्याः (पोषम्) (गौपत्यम्) सकलविद्याधिस्वामित्वम् (सुवीर्य्यम्) (सजातान्) (यजमानाय) क्रियाकौशलसहितानां सर्वासां विद्यानां प्रवक्त्रे (विश्वे) सर्वे (त्वा) (देवाः) उपदेशका विद्वांसः (वैश्वानराः) ये §विश्वेषु नायकेषु राजन्ते (कृण्वन्तु) (आनुष्टुभेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मप्राणवत् (ध्रुवा) सुस्थिरा (असि) (दिशः) सर्वासु दिक्षु व्याप्तकीर्त्तिः (असि) (धारय) (मयि) (प्रजाम्) (रायः) समग्रैश्वर्यस्य (पोषम्) (गौपत्यम्) वाक्चातुर्य्यम् (सुवीर्य्यम्) (सजातान्) (यजमानाय) सत्योपदेशकाय। [अयं मन्त्रः श० ६।५।२।३-६ व्याख्यातः] ॥५८॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचारिणि कुमारिके ! या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवाऽसि, पृथिव्यसि, तां त्वा गायत्रेण छन्दसा वसवो मम स्त्रियं कृण्वन्तु। हे कुमार ब्रह्मचारिन्! यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽसि, भूमिवत् क्षमावानसि, यं त्वा वसवो गायत्रेण छन्दसा मम पतिं कृण्वन्तु, स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय। आवां सजातान् संतानान् सर्वान् यजमानाय विद्याग्रहणार्थं समर्पयेव। हे स्त्रि ! या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवाऽस्यन्तरिक्षमसि, तां त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम पत्नीं कृण्वन्तु। हे वीर ! यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽस्यन्तरिक्षमसि, यं त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम स्वामिनं कृण्वन्तु, स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय। आवां सजातान सुशिक्ष्य वेदशिक्षाध्ययनाय यजमानाय प्रदद्याव। हे विदुषि ! या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवाऽसि, द्यौरसि, तां त्वादित्या जागतेन छन्दसा मम भार्यां कृण्वन्तु। हे विद्वन् ! यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽसि, द्यौरसि, यं त्वाऽऽदित्या जागतेन छन्दसा ममाधिष्ठातारं कृण्वन्तु, स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय। आवां सजातान् जन्मतः सूपदिश्य सर्वविद्याग्रहणार्थं$ यजमानाय समर्प्पयेव। हे सुभगे ! या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवाऽसि, दिशोऽसि, तां त्वा वैश्वानरा विश्वे देवा आनुष्टुभेन छन्दसा मदधीनां कृण्वन्तु। हे पुरुष ! यस्त्वमङ्गिरस्वद्

१. यजति देवपूजां सङ्गतिकरणं दानं च यः करोति तस्मै। एवमग्रेऽपि यजमानपदस्यार्थविषये वेदितव्यम् ॥

२. अन्तरक्षयमिति वा (निरु० २।१०) ॥

३. गौरिति वाङ्नामसु पठितम् (निघ० १।११)। तस्याः पतिर्गोपतिरध्यापकः, तस्य भावः कर्म वा गौपत्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आनुष्टुभेन) अनुष्टुप् शब्दस्य उत्सादिभ्योऽञ् (अ० ४।१।८६) इति प्राग्दीव्यतीयोऽञ्। ञित्त्वादाद्युदात्तः ॥ यद्वा- छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थे उपसंख्यानम् (अ० ४।२।५५ भा० वा०) इति स्वार्थे एव उत्सादिषु पठितत्वाद् 'अञ्'प्रत्ययः ॥५८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

§ 'विश्वेषु नरेषु नायकेषु' इति कपाठः ॥ $ 'ग्रहणाय' इति कगपाठः ॥

ध्रुवोऽसि,दिशोऽसि, यं त्वा वैश्वानरा विश्वे देवा मदधीनं कृण्वन्तु, स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय । आवां सूपदेशार्थं सजातान् यजमानाय समर्पयेव ।।५८।।

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यदा स्त्रीपुरुषौ परस्परं परीक्षां कृत्वाऽन्योन्यं दृढ़प्रीतौ स्याताम्, तदा वेद-विधिना यज्ञं प्रतत्य, वेदोक्तनियमान् स्वीकृत्य, विवाहं विधाय, धर्मेण संतानान्युत्पाद्य, याव-दष्टवार्षिकाः पुत्राः पुत्र्यश्च भवेयुस्तावन्मातापितरौ तान् सुशिक्षयेतामत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं ग्राहयित्वा विद्याध्ययनाय स्वगृहादतिदूरे आप्तानां विदुषां विदुषीणां च पाठशालासु प्रेषये-ताम् । अत्र यावतो धनस्य व्ययः कर्त्तुं योग्योऽस्ति तावन्तं कुर्य्याताम् । नहि संतानानां विद्यादानमन्तरा कश्चिदुपकारो धर्मश्चास्ति, तस्मादेतत्सततं समाचरेताम् ।।५८।।

ʃफिर उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे ब्रह्मचारिणि कुमारि स्त्री ! जो तू (अङ्गिरस्वत्) धनंजय प्राणवायु के समतुल्य (ध्रुवा) निश्चल (असि) है, और (पृथिव्यसि) विस्तृत सुख करने हारी है, उस (त्वा) तुझ को (गायत्रेण) वेद में विधान किये (छन्दसा) गायत्री आदि छन्दों से (वसवः) चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य से रहने वाले विद्वान् लोग मेरी स्त्री (कृण्वन्तु) करें। हे कुमार ब्रह्मचारी पुरुष ! जो तू (‡अङ्गिरस्वत्) प्राणवायु के समान निश्चल है, और (‡पृथिवी) पृथिवी के समान क्षमायुक्त (‡असि) है, जिस (‡त्वा) तुझ को (‡वसवः) उक्त वसुसंज्ञक विद्वान् लोग (‡गायत्रेण) वेद में प्रतिपादन किये (‡छन्दसा) गायत्री आदि छन्दों से मेरा पति (‡कृण्वन्तु) करें, सो तू (मयि) अपनी प्रिय पत्नी मुझ में (प्रजाम्) सुन्दर सन्तानों, (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि, (गौपत्यम्) गौ पृथिवी वा वाणी के स्वामीपन और (सुवीर्य्यम्) सुन्दर पराक्रम को (धारय) स्थापन कर। मैं तू दोनों (सजातान्) एक गर्भाशय से उत्पन्न हुये सब सन्तानों को (यजमानाय) विद्या देने हारे आचार्य्य को विद्या-ग्रहण के लिये समर्पण करें। हे स्त्रि ! जो तू (अङ्गिरस्वत्) आकाश के समान (ध्रुवा) निश्चल (असि) है, और (अन्तरिक्षम्) अविनाशी प्रेमयुक्त (असि) है, उस (त्वा) तुझको (रुद्राः) रुद्रसंज्ञक चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य सेवने हारे विद्वान् लोग (त्रैष्टुभेन) वेद में कहे हुए (छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्द से मेरी स्त्री (कृण्वन्तु) करें। हे वीर पुरुष ! जो तू आकाश के समान निश्चल है और दृढ़ प्रेम से युक्त है, जिस तुझ को चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य करने हारे विद्वान् लोग, वेद में प्रतिपादन किए त्रिष्टुप् छन्द से मेरा स्वामी करें, वह तू (मयि) अपनी प्रिय पत्नी मुझ में (प्रजाम्) बल तथा सत्य धर्म से युक्त सन्तानों, (रायः) राज्यलक्ष्मी की (पोषम्) पुष्टि, (गौपत्यम्) पढ़ाने के अधिष्ठातृत्व और (सुवीर्य्यम्) अच्छे पराक्रम को (धारय) धारण कर। मैं तू दोनों (सजातान्) एक उदर से उत्पन्न हुए सब सन्तानों को अच्छी शिक्षा देकर वेदविद्या की शिक्षा होने के लिये (यजमानाय) अङ्ग उपाङ्गों के सहित वेद पढ़ाने हारे अध्यापक को देवें। हे विदुषि स्त्री ! जो तू (अङ्गिर-स्वत्) आकाश के समान (ध्रुवा) अचल (असि) है, (द्यौः) सूर्य के सदृश प्रकाशमान (असि) है, उस (त्वा) तुझ को (आदित्याः) अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य करके पूर्ण विद्या

ʃ 'फिर स्त्रीपुरुष क्या करके क्या करें, यह वि०' इति अ०मुद्रिते पाठः। स च पूर्वोक्त-रीत्यात्र न सम्यक् ।।

‡ कोष्ठान्तर्गतानीमान्यष्ट पदानि स्त्रीपक्षेऽधिकानि प्रदर्श्यन्त इति ध्येयम् ।।

श्रौर बल की प्राप्ति से श्राप्त सत्यवादी धर्मात्मा विद्वान् लोग (जागतेन) वेद में कहे (छन्दसा) जगती छन्द से मेरी पत्नी (कृण्वन्तु) करें। हे विद्वन् पुरुष ! जो तू श्राकाश के तुल्य दृढ़ श्रौर सूर्य्य के तुल्य तेजस्वी है, *जिस तुझ को अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य सेवने वाले, पूर्ण विद्या से युक्त, धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदोक्त जगती छन्द से मेरा पति करें, वह तू (मयि) अपनी प्रिय भार्या मुझ में (प्रजाम्) शुभ गुणों से युक्त सन्तानों, (रायः) चक्रवर्त्ति राज्यलक्ष्मी की (पोषम्) पुष्टि, (गौपत्यम्) सम्पूर्ण विद्या के स्वामीपन श्रौर (सुवीर्यम्) सुन्दर पराक्रम को (धारय) धारण कर। मैं तू दोनों (सजातान्) अपने ‡सन्तानों को जन्म से उपदेश करके सब विद्या ग्रहण करने के लिये (यजमानाय) क्रिया-कौशल के सहित सब विद्याश्रों के पढ़ाने हारे श्राचार्य को समर्पण करें। हे सुन्दर ऐश्वर्य्य-युक्त पत्नि ! जो तू (श्रङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मा प्राणवायु के समान (ध्रुवा) निश्चल (श्रसि) है, श्रौर (दिशः) सब दिशाश्रों में कीर्तिवाली (श्रसि) है, उस [(त्वा)] तुझ को (वैश्वानराः) सब मनुष्यों में शोभायमान (विश्वे) सब (देवाः) उपदेशक विद्वान् लोग (श्रानुष्टुभेन) वेद में कहे (छन्दसा) श्रनुष्टुप् छन्द से मेरे श्राधीन (कृण्वन्तु) करें। हे पुरुष ! जो तू सूत्रात्मा वायु के सदृश §§स्थित है, (‡‡दिशः) सब दिशाश्रों में कीर्तिवाला (‡‡श्रसि) है, जिस (‡‡त्वा) तुझ को सब प्रजा में शोभायमान सब विद्वान् लोग मेरे श्राधीन करें, सो श्राप (मयि) मुझ में (प्रजाम्) शुभलक्षणयुक्त सन्तानों, (रायः) सब ऐश्वर्य्य की (पोषम्) पुष्टि, (गौपत्यम्) वाणी की चतुराई श्रौर (सुवीर्य्यम्) सुन्दर पराक्रम को (धारय) धारण करें। मैं तू दोनों जने श्रच्छा उपदेश होने के लिये (सजातान्) ‡‡अपने सन्तानों को (यजमानाय) सत्य के उपदेशक श्रध्यापक के समीप समर्पण करें ॥५८॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—जब स्त्रीपुरुष एक दूसरे की परीक्षा करके श्रापस में दृढ़ प्रीति वाले होवें, तब वेदोक्त रीति से यज्ञ का विस्तार श्रौर वेदोक्त नियमानुसार विवाह करके धर्म से सन्तानों को उत्पन्न करें। जब [तक] पुत्र कन्या श्राठ वर्ष के हों, तब [तक] माता-पिता उनको श्रच्छी शिक्षा देवें। इसके पीछे ब्रह्मचर्य्य धारण करा के विद्या पढ़ने के लिये अपने घर से बहुत दूर श्राप्त विद्वान् पुरुषों श्रौर श्राप्त विदुषी स्त्रियों की पाठशालाश्रों में भेज देवें। ∫∫इस में जितने धन का खर्च करना उचित हो, उतना करें। क्योंकि सन्तानों को विद्यादान के विना कोई उपकार वा धर्म नहीं बन सकता। इसलिए इसका निरन्तर श्रनुष्ठान किया करें ॥५८॥

---

*‘उस’ इति श्र०मुद्रितेऽपपाठः ॥ ‡ ‘श्रौरस सन्तानों को’ इति कगपाठः ॥

§§ ‘स्थिर’ इति कगपाठः ॥

‡‡ एतानि कोष्ठान्तर्गतानि पदानि पुनः प्रदर्शितानीति वेदितव्यम् ॥

‡‡ ‘श्रौरस सन्तानों को’ इति कगपाठः ॥ ∫∫ ‘वहां पाठशाला में’ इति श्र०मुद्रिते पाठः ।

अदित्या इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अदितिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

*विदुष्यः स्त्रियः कन्याः प्रति किं किं शिक्षेरन्, इत्युपदिश्यते ॥

अदि॑त्यै रास्ना॒स्यदि॑तिष्टे॒ बिलं॑ गृभ्णातु ।
कृ॒त्वाय॒ सा म॒हीमु॒खां मृ॒न्मयीं॒ योनि॑म॒ग्नये॑ ।
पु॒त्रेभ्य॒ः प्राय॑च्छ॒ददि॑तिः श्र॒पया॒निति॑ ॥५९॥

अदि॑त्यै । रास्ना॑ । अ॒सि॒ । अदि॑तिः । ते॒ । बिल॑म् । गृ॒भ्णा॒तु॒ ॥ कृ॒त्वाय॑ । सा । म॒हीम् । उ॒खाम् । मृ॒न्मयी॒मिति॑ मृ॒त्ऽमयी॑म् । योनि॑म् । अ॒ग्नये॑ ॥ पु॒त्रेभ्य॑ः । प्र । अ॒य॒च्छ॒त् । अदि॑तिः । श्र॒पया॑न् । इति॑ ॥५९॥

पदार्थः—(**अदित्यै**) दिवे विद्याप्रकाशाय (**रास्ना**) दात्री (**असि**) (**अदितिः**) [1]**पुत्रः पुत्री च** (**ते**) **तव सकाशात्** (**बिलम्**) **भरणं धारणम्** । बिलं भरं भवति बिभर्तेः ॥ निरु० २।१७। (**गृभ्णातु**) **गृह्णातु** (**कृत्वाय**) (**सा**) (**महीम्**) **महतीम्** (**उखाम्**) **पाकस्थालीम्** (**मृन्मयीम्**) **मृद्विकाराम्** (**योनिम्**) †**मिश्रिताम्** (**अग्नये**) §**अग्निसविधे स्थापनाय** ([2]**पुत्रेभ्यः**) **सन्तानेभ्यः** (**प्र**) (**अयच्छत्**) **दद्यात्** (**अदितिः**) [3]**माता** (**श्रपयान्**) **श्रपयन्तु परिपाचयन्तु** (**इति**) **अनेन प्रकारेण** । [अयं मन्त्रः श० ६।५।२।१३,२०,२१ व्याख्यातः] ॥५९॥

१. '**अदितिर्माता स पिता स पुत्रः** (ऋ० १।८९।१०) ॥

२. पुत्राश्च पुत्र्यश्च इत्येकशेषविवक्षायां **पुमान् स्त्रिया** (अ० १।२।६७) इति पुंशब्दस्य शेष इति ध्येयम् ॥

३. भावार्थानुसारं पुत्रपक्षे अदितिशब्देनात्र 'पिता' इत्ययमर्थोऽपि ग्राह्यः । एतस्मिन् पक्षे 'सा' इति लिङ्गव्यत्ययेनेत्यपि बोध्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**बिलम्**) '**बिल भेदने**' (तुदा० प०) इत्यस्मात् **घञर्थे कविधानम्** (अ० ३।३।५८वा०) इति 'क' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्ते प्राप्ते **वृषादीनाम्** (अ० ६।१।२०३) आकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥

(**कृत्वाय**) कृञः 'क्त्वा' प्रत्ययः प्रत्ययस्वरः । **क्त्वो यक्** (अ० ७।१।४७) इति यगागमः । आगमा अनुदात्ता भवन्ति (पारि० ११०) इति यकोऽनुदात्तत्वम् ॥

(**महीम्**) '**मह पूजायाम्**' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् **सर्वधातुभ्यः इन्** (उ० ४।११८) इति 'इन्' । **कृदिकारादक्तिनः** (ग० सू० ४।१।४१) इति 'ङीष्' । सति शिष्टत्वान् ङीष्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

सायणस्तु ऋग्भाष्ये—मही इत्यस्य 'मही महती' 'उगितश्च' (अ० ४।१।६) इति ङीप्, तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे प्राप्ते 'शतुरनुमो नद्यजादी' (अ० ६।१।१७३) इत्यत्र 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' (अ० ६।१।१७३ वा०) इत्युदात्तत्वम्, अच्छब्दलोपश्छान्दस इत्याह ॥

(**मृन्मयीम्**) नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (अ० ४।३।१४४) इति 'मयट्' । अत्र सूत्रे 'भाषायाम्' इत्यनुवृत्तौ तु **तत्प्रकृतवचने मयट्** (अ०

* 'पुनस्तमेव विषयमाह' इति अ०मुद्रिते पाठः । स चात्रानन्वित इति ध्येयम् ॥

† 'मिश्रितामिश्रिताम्' इति कगकोशयोः पाठः ॥

§ 'अग्निसम्बन्धे स्थापनाय' इति अ०मुद्रिते पाठः । स च भाषार्थाननुसारीति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे अध्यापिके विदुषि ! यतस्त्वमदित्यै रास्नासि, तस्मात् ते तव सकाशाद् बिलं ब्रह्मचर्य्यधारणं कृत्वायादितिर्विद्या गृभ्णातु [1]साऽदितिर्भवती मृन्मयीं योनिं महीमुखामग्नये पुत्रेभ्यश्च प्रायच्छत्, [उपदिशेच्च] विद्यासुशिक्षाभ्यां §युक्ता भूत्वोखामिति अपयानन्नादिपाकं कुर्वन्तु ।।५६।।

भावार्थः—कुमाराः पुरुषशालां कुमार्य्यश्च स्त्रीशालां गत्वा, ब्रह्मचर्य्यं विधाय सुशीलतया विद्याः [2]पाकविधिं च गृह्णीयुः । आहारविहारानपि सुनियमेन ʃसेवेरन्, न कदाचिद्विषयकथां शृणुयुः । मद्यमांसालस्यातिनिद्रां‡ विहायाध्यापकसेवानुकूलताभ्यां वर्त्तित्वा सुव्रतानि ‡धरेयुः ।।५६।।

↓विदुषी स्त्रियां कन्याओं को क्या-क्या शिक्षा देवें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे पढ़ाने हारी §§विदुषि स्त्री ! जिस कारण तू (अदित्यै) विद्याप्रकाश के लिये (रास्ना) दानशील (असि) है, इसलिये (ते) तुझ से (बिलम्) ब्रह्मचर्य को धारण (कृत्वाय) करके (अदितिः) पुत्र और कन्या, विद्या को (गृभ्णातु) ग्रहण करें, सो (सा) तू (अदितिः) माता (मृन्मयीम्) मट्टी की (योनिम्) मिली और [3]पृथक् (महीम्) बड़ी (उखाम्) पकाने की बटलोई को (अग्नये) अग्नि के निकट (पुत्रेभ्यः) पुत्रों [और पुत्रियों] को (प्रायच्छत्) देवे [और बतलावे कि] विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त होकर ʃʃबटलोई में (इति) इस प्रकार (अपयान्) अन्नादि पदार्थों को पकाओ ।।५६।।

भावार्थः—लड़के पुरुषों और लड़कियां स्त्रियों की पाठशाला में जा, ‡‡ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, सुशीलता से विद्या और भोजन बनाने की क्रिया सीखें, और आहार विहार भी अच्छे ‡‡नियम से करें, विषय की कथा कभी न सुनें । मद्य मांस आलस्य और अत्यन्त निद्रा को त्याग के पढ़ाने वाले की सेवा और उस के अनुकूल वर्त्त के अच्छे नियमों को धारण करें ।।५६।।

५।४।२१) इति प्राचुर्यार्थे 'मयट्' द्रष्टव्यः । प्रत्ययस्वरः । टित्त्वान् ङीप् ।।

(अपयान्) अपयतेर्लेटि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् । इतश्च (अ० ३।४।९७) इतीकारलोपः । तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे णिजन्तधातुस्वरः । छान्दसत्वान्निघाताभावः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. अध्यापिका इत्यर्थः ।।
२. वैज्ञानिकरीत्या विविधभोजनौषधविषये पदार्थविद्याविषये चेत्यर्थः ।।
३. 'और पृथक्' इति संस्कृते नास्ति ।।५६।।

---

§ 'युक्ता' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणसमये प्रवर्धितः स्यात् ।।
ʃ 'सेवयेयुः' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ।।
‡ कदाचिदत्र 'मद्यमांससेवनालस्यातिनिद्रां विहाय' इति पाठः स्यात् ।।
‡ 'धारयेयुः' इति कपाठः ।।
↓ 'फिर भी वही वि०' इति अ०मुद्रिते पाठः । स च पूर्वोक्तरीत्याऽसम्यक् ।।
§§ 'विद्वान् स्त्री' इति कगपाठः ।।
ʃʃ 'बटलोई को' इति कगपाठः ।।
‡‡ 'ब्रह्मचर्य की विधिपूर्वक सुशीलता' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।
‡‡ 'नियम से सेवें । कभी विषय की कथा न सुनें' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

वसवस्त्वेत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः। स्वराट् संकृतिश्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनर्विद्वांसोऽध्येतॄनुपदेश्यान् मनुष्यान् कथं कथं शोधयेयुरित्याह॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु॥६०॥

वसवः। त्वा। धूपयन्तु। गायत्रेण। छन्दसा। अङ्गिरस्वत्। रुद्राः। त्वा। धूपयन्तु। त्रैष्टुभेन। त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन। छन्दसा। अङ्गिरस्वत्। आदित्याः। त्वा। धूपयन्तु। जागतेन। छन्दसा। अङ्गिरस्वत्। विश्वे। त्वा। देवाः। वैश्वानराः। धूपयन्तु। आनुष्टुभेन। आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन। छन्दसा। अङ्गिरस्वत्। इन्द्रः। त्वा। धूपयतु। वरुणः। त्वा। धूपयतु। विष्णुः। त्वा। धूपयतु॥६०॥

पदार्थः—(वसवः) आदिमा विद्वांसः (त्वा) त्वाम् (धूपयन्तु) सुगन्धाग्न्यादिभिः संस्कुर्वन्तु (गायत्रेण) वेदस्थेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) प्राणैस्तुल्यम् (रुद्राः) मध्यमा विपश्चितः (त्वा) (धूपयन्तु) विद्यासुशिक्षाभ्यां संस्कुर्वन्तु (त्रैष्टुभेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) विज्ञानवत् (आदित्याः) उत्तमा विद्वांसोऽध्यापकाः (त्वा) (धूपयन्तु) *सत्यव्यवहारग्रहणेन संस्कुर्वन्तु (जागतेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) ब्रह्माण्डस्थशुद्धवायुवत् (विश्वे) सर्वे (त्वा) (देवाः) सत्योपदेशका विद्वांसः (वैश्वानराः) सर्वेषु मनुष्येष्विमे सत्यधर्मविद्याप्रकाशकाः (धूपयन्तु) सत्योपदेशेन संस्कुर्वन्तु (आनुष्टुभेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) विद्युद्वत् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (त्वा) (धूपयतु) राजविद्यया संस्करोतु (वरुणः) वरो [1]न्यायाधीशः (त्वा) (धूपयतु) राजनीत्या संस्करोतु (विष्णुः) सकलविद्यायोगाङ्गव्यापी [2]योगिराजः (त्वा) (धूपयतु) योगविद्याङ्गैः संस्करोतु। [अयं मन्त्रः श० ६।५।३।१० व्याख्यातः]॥६०॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचारिन्, हे ब्रह्मचारिणि वा! ये वसवो गायत्रेण छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु, रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु, आदित्या जागतेन छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु, वैश्वानरा विश्वेदेवा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु, इन्द्रस्त्वा धूपयतु, वरुणस्त्वा धूपयतु, विष्णुस्त्वा धूपयत्वेतांस्त्वं सततं सेवस्व॥६०॥

भावार्थः—सर्वेऽध्यापका अखिला अध्यापिकाश्च सर्वाभिः सत्क्रियाभिर्ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचारिणीश्च विद्यासुशिक्षाभ्यां †युक्ताः सद्यः संपादयेयुः। यत एते कृतपूर्णब्रह्मचर्या गृहाश्रमादीन् यथाकालमाचरेयुः॥६०॥

---

१. 'उरुं हि राजा वरुणश्चकार' (ऋ०१।२४।८)॥
२. वेवेष्टि विविधमाध्यात्मिकज्ञानमिति विष्णुर्योगीराजः॥६०॥

---

* 'धर्म्यव्यवहारग्रहणेन' इति कपाठः॥ † 'युक्तान् युक्ताश्च' इति कपाठः॥

फिर विद्वान् लोग पढ़नेहारे और उपदेश के योग्य मनुष्यों को कैसे शुद्ध करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे §ब्रह्मचारिन् [वा] ब्रह्मचारिणि ! जो (वसवः) प्रथम [कोटि के] विद्वान् लोग (गायत्रेण) वेद के (छन्दसा) गायत्री छन्द से (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य सुगन्धित अन्नादि पदार्थों के समान (धूपयन्तु) संस्कारयुक्त करें, (रुद्राः) मध्यम विद्वान् लोग (त्रैष्टुभेन) वेदोक्त (छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्द से (अङ्गिरस्वत्) विज्ञान के समान (त्वा) तेरा (धूपयन्तु) विद्या और अच्छी शिक्षा से संस्कार करें, (आदित्याः) सर्वोत्तम अध्यापक विद्वान् लोग (जागतेन) (छन्दसा) वेदोक्त जगती छन्द से (अङ्गिरस्वत्) ब्रह्माण्ड के शुद्ध वायु के सदृश (त्वा) तेरा (धूपयन्तु) धर्मयुक्त व्यवहार के ग्रहण से संस्कार करें, (वैश्वानराः) सब मनुष्यों में सत्य धर्म और विद्या के प्रकाश करने वाले (विश्वे) सब (देवाः) सत्योपदेष्टा विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन) वेदोक्त अनुष्टुप् (छन्दसा) छन्द से (अङ्गिरस्वत्) बिजुली के समान (त्वा) तेरा (धूपयन्तु) सत्योपदेश से संस्कार करें, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्ययुक्त राजा (त्वा) तेरा (धूपयतु) राजनीति विद्या से संस्कार करे, (वरुणः) श्रेष्ठ न्यायाधीश (त्वा) तुझ को (धूपयतु) न्यायक्रिया से संयुक्त करे, और (विष्णुः) सब विद्या और योगाङ्गों का वेत्ता योगीजन (त्वा) तुझ को (धूपयतु) योगविद्या से संस्कारयुक्त करे, तू इन सब की सेवा किया कर ।।६०।।

भावार्थः—सब अध्यापक स्त्री और पुरुषों को चाहिये कि सब श्रेष्ठ क्रियाओं से $कन्या [और] पुत्रों को विद्या और शिक्षा से युक्त शीघ्र करें। जिससे ये पूर्ण ∫ब्रह्मचर्य्य का पालन करके गृहाश्रम आदि का यथोक्त काल में आचरण करें ।।६०।।

अदितिष्ट्वेत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अदित्यादयो लिङ्गोक्ता देवताः ।
भुरिक्कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ।। उखे वरूत्रीत्युत्तरस्य
[भुरिक्] प्रकृतिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

विदुष्यः स्त्रियः कन्याः सुशिक्ष्य धार्मिकीर्विदुषीः कृत्वैहिकपारलौकिकसुखे प्रापयेयुरित्याह ।।

अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत् ख॑नत्ववट दे॒वानां॑ त्वा॒ पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽ अङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽ अङ्गिर॒स्वद॒भीन्धतामुखे॒ वरू॑त्रीष्ट्वा दे॒वी-र्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽ अङ्गिर॒स्वच्छ्र॑पयन्तूखे॒ ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽ अङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे॒ जन॑य॒स्त्वाछि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽ अङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे ।।६१।।

---

§ 'हे ब्रह्मचारिन् वा' इति पाठः कगकोशयोरुपलभ्यमानोऽपि कथं गत इति न जानीमः, संस्कृतान्वये चास्त्येव ।।

$ 'कन्या और पुत्रों को' इति कपाठः । गकोशे 'और' इति पाठः प्रमादेन त्यक्तः स्यात् ।।

∫ 'ब्रह्मचर्य ही करके' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

अदितिः । त्वा । देवी । विश्वदेव्यावती । विश्वदेव्यवतीति विश्वदेव्यऽवती । पृथिव्याः । सधस्थ इति सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । खनतु । अवट । देवानाम् । त्वा । पत्नीः । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थ इति सधऽस्थे । आङ्गिरस्वत् । दधतु । उखे । धिषणाः । त्वा । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थ इति सधऽस्थे । आङ्गिरस्वत् । अभि । इन्धताम् । उखे । वरूत्रीः । त्वा । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थ इति *सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । श्रपयन्तु । उखे । ग्नाः । त्वा । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थ इति *सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । पचन्तु । उखे । जनयः । त्वा । अच्छिन्नपत्रा इत्यच्छिन्नऽपत्राः । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यवतीः । पृथिव्याः । सधस्थ इति सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । पचन्तु । उखे ॥६१॥

पदार्थः—(अदितिः) [१]अध्यापिका (त्वा) त्वाम् (देवी) विदुषी ([२]विश्वदेव्यावती) विश्वेषु देवेषु विद्वत्सु भवं विज्ञानं प्रशस्तं विद्यते यस्यां सा । अत्र मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ ॥ अ० ६।३।१३१ । इति दीर्घत्वम् (पृथिव्याः) भूमेः (सधस्थे) सहस्थाने (अङ्गिरस्वत्) अग्निवत (खनतु) भूमिं खनित्वा [३]कूपजलवद्विद्यायुक्तान्निष्पादयतु (अवट) अपरिभाषितानिन्दित (देवानाम्) विदुषाम् (त्वा) (पत्नीः) †स्त्रियः ([४]देवीः) §विदुष्यः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (दधतु) (उखे) [५]ज्ञानयुक्ते (धिषणाः) प्रशंसितवाग्युक्ता धियः (त्वा) (देवीः) विद्यायुक्ताः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) (अभि) आभिमुख्ये (इन्धताम्) प्रदीपयन्तु (उखे) विज्ञानमिच्छुके ([६]वरूत्रीः) वराः (त्वा) (देवीः) कमनीयाः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) आदित्यवत् (श्रपयन्तु) [७]पाचयन्तु (उखे) अन्नाधारा स्थालीव विद्याधारे (ग्नाः) वेदवाचः । ग्ना इति वाङ्नामसु ॥ निघं १।११ । (त्वा) (देवीः) दिव्यविद्यासम्पन्नाः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्य (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) विद्युद्वत् (पचन्तु) परिपक्वां कुर्वन्तु (उखे) ज्ञानयुक्ते (जनयः) शुभगुणैः प्रसिद्धाः (त्वा) (अच्छिन्नपत्राः) अखण्डितानि पत्राणि [८]वस्त्राणि यानानि वा यासां ताः (देवीः) दिव्य-

---

१. अज्ञानमवद्यतीत्यतः ॥

२. देवेषु विद्वत्सु भवं देव्यं, विश्वं देव्यं विद्यते यस्येति स विश्वदेव्यः, तद्वती । **बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्** (अ०६।२।१०६) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

३. खननं गम्भीरकार्येषु संलग्नतेत्युपचर्यते । तद्यथा-
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥
मनु० २।१२८ ॥

४. 'पत्नीः', 'देवीः', 'वरूत्रीः' जसि रूपाणि, **वा छन्दसि** (अ० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घस्य निषेधे विकल्पः ॥

५. 'उख उखि वख वखि······गत्यर्थाः' इत्येतस्य धातो रूपम् । एवमग्रेऽपि ॥

६. **ग्रसितस्कभित०** (अ० ७।२।३४) इति निपातनादिडभावः ॥

७. 'शुद्ध तेजस्विनी करो' इति भाषापदार्थः । परिपक्वां दृढां वा कुर्वन्त्वित्यर्थः । अग्रेऽप्येवम् ॥

८. पद्धातोरिदं रूपम्; सामर्थ्यात् पत्राणि वस्त्राणि ॥

---

* 'सधस्थे' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

† 'स्त्रीः' इति अ०मुद्रिते पाठः । स चान्वयाननुगत इत्यसम्यक् ॥

§ 'विदुषीः' इति अ०मुद्रिते पाठः । स चान्वयाननुगत इत्यसम्यक् ॥

गुणप्रदाः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) ओषधिरसवत (पचन्तु) (उखे) जिज्ञासो । [अयं मन्त्रः श० ६।५।४।३-८ व्याख्यातः] ॥६१॥

अन्वयः—हे अवट शिशो ! विश्वदेव्यावत्यदितिर्देवी पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् खनतु । हे उखे **कन्ये !** देवानां पत्नीर्विश्वदेव्यावतीर्देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वद् दधतु । हे उखे ! विश्वदेव्यावतीर्धिषणा देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वदभीन्धताम् । हे उखे ! विश्वदेव्यावतीर्वरूत्रीर्देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तु । हे उखे ! विश्वदेव्यावतीर्देवीर्ग्नाः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु । हे उखे ! विश्वदेव्यावतीरच्छिन्नपत्रा जनयो देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु । **हे उखे ! त्वमेताभ्यः सर्वाभ्यो ब्रह्मचर्येण विद्यां गृहाण ॥६१॥**

भावार्थः—मातापित्राचार्यातिथिभिर्यथा चतुराः पाचकाः स्थाल्यादिष्वन्नादीनि संस्कृत्योत्तमानि §सम्पादयन्ति, तथैव बाल्यावस्थामारभ्य विवाहात् पूर्वं कुमाराः कुमार्यश्चात्युत्तमा ∫भावनीयाः ॥६१॥

विदुषी स्त्रियां कन्याओं को उत्तम शिक्षा से धर्मात्मा विद्यायुक्त करके, इस लोक और परलोक के सुखों को प्राप्त करावें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अवट) बुराई और निन्दारहित बालक ! (विश्वदेव्यावती) सम्पूर्ण विद्वानों में प्रशस्त ज्ञानवाली (अदितिः) अखण्ड विद्या पढ़ाने हारी (देवी) विदुषी स्त्री (पृथिव्याः) भूमि के (सधस्थे) समान‡ शुभस्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(विश्वदेव्यावती) अर्थप्रदर्शनमात्रमिदम् । विग्रहस्तूपरि दर्शितः, स्वरोऽपि ॥

(अवट) अनेकार्थत्वादत्र 'वट परिभाषणे' वटतीति वटः परिभाषको निन्दक इत्यर्थः । पचाद्यच् । न विद्यते परिभाषको यस्य सोऽवटः । **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । अत्र सम्बुद्धित्वादाष्टमिको निघातः ॥

अन्ये तु—अवधातोः अटन्प्रत्यये व्युत्पादयन्ति । दश०उणा०५।२॥ तथा सति नित्त्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्नोति । उञ्छादीनामाकृतिगणत्वाद्, उणादीनां बाहुलकाद् वाऽन्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ।

श्री भोजस्तु **कृसृभृपृकृष०** (उ० २।२। ६७) इत्यादिना 'अटच्' प्रत्ययान्तमाह । तत्र चित्त्वादन्तोदात्तत्वं सिद्धमेव ॥ अवटविषयेऽग्रे य० १३।७ व्याकरणप्रक्रियायामपि द्रष्टव्यम् ॥

(वरूत्रीः) ग्रसितस्कभित० (अ० ७।२। ३४) इति तृच्प्रत्ययान्तात् स्त्रियां ङीपि आद्युदात्तो निपात्यते । यत्तु 'काशिकाकृता' **'प्रपञ्चार्थमेव ङीबन्तस्य निपातनम्, वरूतृशब्दो हि निपातितस्तत एव ङीपि सिद्धो वरूत्रीशब्दः'** इति तदयुक्तम्, तृजन्तान् ङीपि **उदात्तयणोर्हल्पूर्वात्** (अ०६।१।१६८) इत्यनेनान्तोदात्तत्वं प्राप्नोति, वेदे तु आद्युदात्त एव दृश्यते । तस्मादाद्युदात्तत्वसिद्ध्यर्थं निपातनमावश्यकमेव ॥

(अच्छिन्नपत्राः) न छिन्नम् अच्छिन्नम्, ततो बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे पूर्वपदे **तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्यु०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥६१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ 'सम्पाद्यन्ते' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥ ∫ 'भावयन्तु' इति अ०मुद्रिते पाठः । स चासम्यक् ॥

‡ 'एक शुभ स्थान में' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

अग्नि के समान (खनतु) जैसे भूमि को खोद के कूप-जल निष्पन्न करते हैं, वैसे विद्यायुक्त करे। हे (उखे) ज्ञानयुक्त कुमारी ! (देवानाम्) विद्वानों की (पत्नीः) स्त्री जो (विश्वदेव्यावतीः) सम्पूर्ण विद्वानों में अधिक विद्यायुक्त (देवीः) विदुषी [हैं, वे] (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थे) एक स्थान में (त्वा‡) तुझको (दधतु) धारण करें। हे (उखे) विज्ञान की इच्छा करने वाली (विश्वदेव्यावतीः) सब विद्वानों में उत्तम (धिषणाः) प्रशंसित वाणीयुक्त बुद्धिमती (देवीः) विद्यायुक्त स्त्री लोग (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थे) एक स्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) प्राण के तुल्य (अभीन्धताम्) प्रदीप्त करें। हे (उखे) अन्न आदि पकाने की बटलोई के समान विद्या को धारण करने हारी कन्ये ! (विश्वदेव्यावतीः) उत्तम विदुषी (वरूत्रीः) विद्या-ग्रहण के लिये स्वीकार करने योग्य (देवीः) रूपवती स्त्री लोग (पृथिव्याः) भूमि के (सधस्थे) एक शुद्ध स्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) सूर्य के तुल्य (श्रपयन्तु) शुद्ध तेजस्विनी करें। हे (उखे) ज्ञान चाहने हारी कुमारी ! (विश्वदेव्यावतीः) बहुत विद्यावानों में उत्तम (देवीः) शुद्ध विद्या से युक्त (ग्नाः) वेदवाणी को जानने वाली स्त्री लोग (पृथिव्याः) भूमि के एक (सधस्थे) उत्तम स्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) बिजुली के तुल्य (पचन्तु) दृढ़ बलधारिणी करें। हे (उखे) ज्ञान की इच्छा रखने वाली कुमारी ! (विश्वदेव्यावतीः) उत्तम विद्या पढ़ी (अच्छिन्नपत्राः) अखण्डित नवीन शुद्ध वस्त्रों को धारने वा यानों में चलने वाली (जनयः) शुभ गुणों से प्रसिद्ध (देवीः) दिव्य गुणों की देने हारी स्त्री लोग (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थे) उत्तम प्रदेश में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) ओषधियों के रस के समान (पचन्तु) संस्कारयुक्त करें। हे कुमारि कन्ये ! तू इन पूर्वोक्त सब स्त्रियों से ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या ग्रहण कर ॥६१॥

भावार्थः—माता पिता आचार्य्य और अतिथि अर्थात् भ्रमणशील विरक्त पुरुषों को चाहिए कि जैसे चतुर रसोइया बटलोई आदि पात्रों में संस्कार कर के अन्न को† उत्तम सिद्ध करते हैं [अर्थात् बनाते हैं]। वैसे ही बाल्यावस्था से लेके विवाह से पहिले-पहिले लड़कों और लड़कियों को उत्तम विद्या और शिक्षा से सम्पन्न करें ॥६१॥

मित्रस्येत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। मित्रो देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

या यस्य स्त्री भवेत् सा तस्यैश्वर्यं सततं रक्षेदित्याह ॥

मि॒त्रस्य॑ चर्षणी॒धृतोऽवो॑ दे॒वस्य॑ सान॒सि ।
द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम् ॥६२॥

मि॒त्रस्य॑ । *च॒र्ष॒णी॒धृत॒ः । च॒र्ष॒णि॒धृत॒ इति॑ चर्षणि॒ऽधृत॒ः । अवः॑ । दे॒वस्य॑ । सा॒न॒सि ॥ द्यु॒म्नम् । चि॒त्रश्र॑वस्तम॒मिति॑ चि॒त्रश्र॑वःऽतमम् ॥६२॥

‡ '(त्वा) तुझ को' इति पाठः 'दधतु' इत्यतः पूर्वं सन्नस्माभिरत्रानीत इति दिक् ॥

* 'च॒र्ष॒णी॒धृत॒ः' इति अ०मुद्रिते नास्ति ॥

† 'पात्रों में अन्न का संस्कार करके उत्तम' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

पदार्थः—(मित्रस्य) सुहृदः (चर्षणीधृतः) [1]सुशिक्षया मनुष्याणां धर्त्तुः ([2]अव) रक्ष (देवस्य) कमनीयस्य [3]पत्युः ([4]सानसि) संभक्तव्यं [5]पुराणम् (द्युम्नम्) धनम् (चित्रश्रवस्तमम्) चित्राण्याश्चर्य्यभूतानि श्रवांस्यन्नादीनि यस्मात् †तम् । [अयं मन्त्रः श० ६।५।४।१० व्याख्यातः] ॥६२॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! त्वं चर्षणीधृतो मित्रस्य देवस्य पत्युश्चित्रश्रवस्तमं सानसि द्युम्नमवः ॥६२॥

भावार्थः—गृहकृत्यकुशलया स्त्रिया सर्वाण्यन्तर्गृहकृत्यानि स्वाधीनानि रक्षित्वा यथावदुन्नेयानि ॥६२॥

जो जिस पुरुष की स्त्री होवे, वह उसके ऐश्वर्य की निरन्तर रक्षा करे,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! तू (चर्षणीधृतः) अच्छी शिक्षा से मनुष्यों का धारण करने हारे (मित्रस्य) मित्र (देवस्य) कमनीय अपने पति के (चित्रश्रवस्तमम्) आश्चर्य्यरूप अन्नादि पदार्थ जिससे [प्राप्त] हो, ऐसे (सानसि) सेवन योग्य [5]प्राचीन (द्युम्नम्) धन की (अवः) रक्षा कर ॥६२॥

भावार्थः—घर के काम करने में कुशल स्त्री को चाहिये कि घर के भीतर के सब काम अपने आधीन रख के ठीक-ठीक बढ़ाया करे ॥६२॥

देवस्त्वेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । भुरिग्बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या ।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण ॥६३॥

१. सुशिक्षयेति त्वध्याहारेण । 'चर्षणीधृतः' इति पूर्वं (य० ७।३३ पृ० ६२६) व्याख्यातः ॥

२. '(अवः) रक्षणादिकम्' इति ऋ० ३।५९।६ भाष्ये, नामरूपं पदमिति तत्र व्याख्यातम् ॥

३. 'पत्युः' इत्यध्याहारेण ॥

४. **सनतेः सनोतेर्वा 'असिः' प्रत्ययः, उपधादीर्घत्वं च निपात्यते, दशपाद्युणादिवृत्तिः (१०।१७) ॥**

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(चित्रश्रवस्तमः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । चित्र-पदं पूर्वत्र (य० ३।१५ पृ० २७२) व्याख्यातम् ॥

(सानसि) सानसिवर्णसि० (उ० ४।१०७) इत्यत्र सनधातोरसिः प्रत्ययो निपातितः। निपातनादुपधावृद्धिरन्तोदात्तत्व च ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

५. अर्थात् पित्र्यं=पिता पितामह आदि से प्राप्त ॥

† 'तम्' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणसमये परिवर्धितः स्यात् ॥

देवः । त्वा । सविता । उत् । वपतु । सुपाणिरिति सुऽपाणिः । स्वङ्गुरिरिति सुऽअङ्गुरिः । सुबाहुरिति सुऽबाहुः । उत । शक्त्या ॥ अव्यथमाना । पृथिव्याम् । आशाः । दिशः । आ । पृण ॥६३॥

पदार्थः—(देवः) दिव्यगुणकर्मस्वभावः पतिः (त्वा) त्वाम् (सविता) सूर्यइवैश्वर्य्यप्रदः (उत्) उत्कृष्टतया (वपतु) बीजवत् संतनोतु (सुपाणिः) प्रशस्तहस्तः (स्वङ्गुरिः) शोभना अङ्गुलयो यस्य सः । कपिलकादित्वात् [अ० ८।२।१८ वा०] लत्वम् (सुबाहुः) शोभनभुजः (उत) अपि (शक्त्या) सामर्थ्येन सह [1]वर्त्तमानो वर्त्तमाना वा (अव्यथमाना) अभीताऽचलिता सती (पृथिव्याम्) पृथिवीस्थायाम् (आशाः) इच्छाः (दिशः) काष्ठाः (आ) (पृण) *पिपूर्हि । [अयं मन्त्रः श० ६।५।४।११ व्याख्यातः] ॥६३॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! सुबाहुः सुपाणिः स्वङ्गुरिः सवितेव देवः पतिः शक्त्या पृथिव्यां त्वोद्वपतु [उत] शक्त्याऽव्यथमाना सती त्व पत्युः सेवनेन स्वकीया आशा यशसा दिशश्च आपृण ॥६३॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतौ हृद्यौ सुपरीक्षितौ स्वेच्छया स्वयंवरं विवाहं कृत्वाऽतिविषयाशक्तिं विहाय, ऋतुगामिनौ सन्तौ सामर्थ्यहानिं कदाचिन्न कुर्य्यातम् । नहि जितेन्द्रिययोः स्त्रीपुरुषयो रोगप्रादुर्भावो बलहानिश्च जायते, तस्मादेतदनुतिष्ठेताम् ॥६३॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! (सुबाहुः) अच्छे जिसके भुजा (सुपाणिः) सुन्दर हाथ और (स्वङ्गुरिः) शोभायुक्त जिसकी अंगुली हों, ऐसा (सविता) सूर्य के समान ऐश्वर्यदाता (देवः) अच्छे गुण-कर्म और स्वभावों से युक्त पति (शक्त्या) अपने सामर्थ्य से (पृथिव्याम्) पृथिवी पर स्थित (त्वा) तुझ को (उद्वपतु) †उत्तम रीति से गर्भवती करे [(उत)] और तू भी अपने सामर्थ्य से (अव्यथमाना) निर्भय हुई पति के सेवन से अपनी (आशाः) इच्छा और कीर्त्ति से सब (दिशः) दिशाओं को (आपृण) पूरण कर ॥६३॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि आपस में प्रसन्न, एक दूसरे को हृदय से चाहने वाले, परस्पर परीक्षा कर, अपनी-अपनी इच्छा से स्वयंवर विवाह कर अत्यन्त विषयासक्ति को त्याग, ऋतुकाल में गमन करनेवाले होकर अपने सामर्थ्य की हानि कभी न करें, क्योंकि इसी से जितेन्द्रिय स्त्री पुरुषों के शरीर में कोई रोग प्रगट और बल की हानि भी नहीं होती, इसलिये इसका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये ॥६३॥

---

१. अत्र 'वर्त्तमानो वर्त्तमाना वा' इत्येतौ शब्दावभिप्रायबोधकौ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**सुपाणिः**) (**स्वङ्गुरिः**) (**सुबाहुः**) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(**अव्यथमाना**) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'पिपूर्द्धि' इति तु अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥ † 'वृद्धि के साथ' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

उत्थायेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । *मित्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।।

पुनः सा कीदृशीत्युपदिश्यते ।।

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम् ।
मित्रैतां तऽउखां परिददाम्यभित्त्याऽएषा मा भेदि ।।६४।।

उत्थाय । बृहती । भव । उत् । ऊँ इत्यूँ । तिष्ठ । ध्रुवा । त्वम् ॥ मित्र । एताम् । ते । उखाम् । परि । ददामि । अभित्त्यै । एषा । मा । भेदि ॥६४॥

पदार्थः—(उत्थाय) आलस्यं विहाय (बृहती) महापुरुषार्थयुक्ता (भव) (उत्) (उ) (तिष्ठ) (ध्रुवा) मङ्गलकार्येषु कृतनिश्चया (त्वम्) (मित्र) सुहृद् (एताम्) (ते) तुभ्यम् (उखाम्) [1]प्राप्तव्यां कन्याम् (परि) सर्वतः (ददामि) (अभित्त्यै) [2]भेदराहित्याय (एषा) प्रत्यक्षप्राप्ता पत्नी (मा) निषेधे (भेदि) भिद्यताम् । [अयं मन्त्रः श० ६।५।४।१३-१४ व्याख्यातः] ।।६४।।

अन्वयः—हे विदुषी कन्ये ! त्वं ध्रुवा बृहती भव विवाहायोत्तिष्ठ । उत्थायैतं पतिं स्वीकुरु । हे मित्र ! त एतामुखामभित्त्यै [3]परिददामि । उ त्वयैषा मा भेदि ।।६४।।

भावार्थः—कन्या वरश्च स्वप्रियं पुरुषं, स्वकान्तां कन्यां च स्वयं परीक्ष्य स्वीकर्तुमिच्छेत् । यदा द्वयोर्विवाहकरणे निश्चयः स्यात्, तदैव मातापित्राचार्यादय एतयोर्विवाहं कुर्यु रेतौ परस्परं भेदभावं व्यभिचारं च कदाचिन्न कुर्याताम् । किं तु स्वस्त्रीव्रतः पुमान् स्वपतिव्रता स्त्री च संगतौ स्याताम् ।।६४।।

---

१. 'उख गतौ' (भ्वा० प०) इत्येतस्य रूपम् । 'कन्या' इति त्वध्याहारमात्रमेव ।।

२. 'भेदराहित्याय' इति तु भावार्थानुसारं भाषा-पदार्थानुसारं च संशोधितः । अ०मुद्रिते 'भय-रहिताय' पाठ आसीत् । 'अभित्त्यै' इति **उवट-महीधर सायण**-शतपथानुसारं तु द्वितकारको निर्देशः । स च साधीयान् प्रतिभाति ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उत्थाय) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ल्यपि लिति (अ० ६।१।१८७) इति प्रत्ययात् पूर्व-मुदात्तम् ।।

(बृहती) बृहच्छब्दः पूर्वत्र (य० २।४ पृ० १६३) व्याख्यातः । ततो **बृहन्महतोरुप-संख्यानम्** (अ० ६।१।१७३) इति ङीप उदा-त्तत्वम् । बृहच्छब्दो गौरादिष्वपि पठ्यते ततो ङीषि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । गौरादिषु बृहन्महतोः पाठ औत्तरकालिक इति कैयटः (अ० ६।१।१७३) ।। ङीषर्थं गौरादिषु बृह-न्महतोः पाठे सत्यपि तृतीयादिविभक्त्युदात्त-त्वविधानाय वार्त्तिकमावश्यकमेव ।

(अभित्त्यै) भिदिर् धातोः क्तिनि भित्तिः, ततो नञि **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

३. ईश्वरवचनम्; अहमीश्वरः परिददादीत्यर्थः।।६४

---

* 'मित्रो देवता' इति कगकोशयोरुपलभ्यमानोऽपि प्रमादात् त्यक्त इति ध्येयम् ।।

फिर वह कैसी होवे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विदुषि कन्ये ! (†त्वम्) तू (ध्रुवा) मङ्गल कार्य्यों में निश्चित बुद्धिवाली और (बृहती) बड़े पुरुषार्थ से युक्त (भव) हो। विवाह करने के लिये (उत्तिष्ठ) उद्यत हो, (उत्थाय) आलस्य [अर्थात् संकल्प-विकल्प] छोड़ के उठकर इस पति को स्वीकार कर। हे (मित्र) [सुहृत् अच्छे स्वभाव वाले] मित्र (ते) तेरे लिये (एताम्) इस (उखाम्) प्राप्त होने योग्य कन्या को (अभित्त्यै) ∫भेदरहित होने के लिये (परिददामि) §सब प्रकार से देता हूं (उ) इसलिये तू (एषा) इस प्रत्यक्ष प्राप्त हुई स्त्री को (मा भेदि) भिन्न [=दूर] मत कर ।।६४।।

भावार्थः—कन्या और वर $दोनों को चाहिए कि अपनी-अपनी प्रसन्नता से कन्या पुरुष की और पुरुष कन्या की आप ही परीक्षा कर के ग्रहण करने की इच्छा करें। जब दोनों का विवाह करने में निश्चय होवे, तभी माता-पिता और आचार्य आदि इन दोनों का विवाह करें और ये दोनों आपस में भेद [भाव] वा व्यभिचार कभी न करें, किन्तु अपनी स्त्री के नियम में [अर्थात् पत्नीव्रत] पुरुष और पतिव्रता स्त्री होकर मिल के चलें ।।६४।।

वसवस्त्वेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । वस्वादवो लिङ्गोक्ता देवताः ।
[भुरिक्] धृतिश्छन्दः । *ऋषभः स्वरः ।।

पुनस्तौ स्त्रीपुरुषौ प्रति विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ।।

वस॑वस्त्वाछृ॑न्दन्तु गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्रु॒द्रास्त्वा॑छृ॑न्दन्तु त्रै॑ष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदा॑दि॒त्यास्त्वा॑छृ॑न्दन्तु॒ जाग॑तेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्वि॒श्वे॑ त्वा दे॒वा वै॑श्वान॒राऽआछृ॑न्दन्त्वानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत् ।।६५।।

वस॑वः । त्वा॒ । आ । छृ॒न्द॒न्तु॒ । गा॒य॒त्रेण॑ । छन्द॑सा । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । रु॒द्राः । त्वा॒ । आ । छृ॒न्द॒न्तु॒ । त्रै॑ष्टु॑भेन । त्रैस्तु॒भे॒नेति॒ त्रैऽस्तु॑भेन । छन्द॑सा । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । आ॒दि॒त्याः । त्वा॒ । आ । छृ॒न्द॒न्तु॒ । जाग॑तेन । छन्द॑सा । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । विश्वे॑ । त्वा॒ । दे॒वाः । वै॒श्वा॒न॒राः । आ । छृ॒न्द॒न्तु॒ । आनु॑ष्टुभेन । आनु॒स्तु॒भे॒नेत्यानु॑ऽस्तुभेन । छन्द॑सा । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् ।।६५।।

पदार्थः—(वसवः) [१]आदिमा विद्वांसः (त्वा) त्वां पुमांसं स्त्रियं च (आ) समन्तात् (छृन्दन्तु) [२]प्रदीप्यन्ताम् (गायत्रेण) गायन्ति सद्विद्या येन तेन वेदस्थविभक्तेन स्तोत्रेण

१. अत्र भाष्ये 'आदिम-मध्यम-उत्तमा विद्वांसः' पदैः क्रमशः२४-४४-४८ वर्षीयब्रह्मचर्येणाधीतविद्या अभिप्रेताः ।

२. छृदिर् दीप्तिदेवनयोः (रु० प०) इत्यतस्य धातो रूपम् ।।

† 'त्वम्' इति गकोशे पाठः ।। ∫ 'भय रहित' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।
§ 'सब प्रकार' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'सब प्रकार से' इति कगकोशयोः पाठः ।।
$ 'दोनों' इति कगपाठः ।। * 'षड्जः स्वरः' इति अ०मुद्रिते कोशयोश्च पाठः ।।

(छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) अग्निवत्, (रुद्राः) मध्यमा विद्वांसः (त्वा) (आ) (छृन्दन्तु) (त्रैष्टुभेन) त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तोभन्ते स्थिरीकुर्वन्ति येन [तेन] (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत्, (आदित्याः) उत्तमा विपश्चितः (त्वा) (आ) (छृन्दन्तु) ([1]जागतेन) जगद्विद्याप्रकाशकेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत) सूर्यवत्, (विश्वे) सर्वे (त्वा) (देवाः) सदुपदेशप्रदातारः (वैश्वानराः) सर्वेषु नरेषु [2]राजन्तः (आ) (छृन्दन्तु) (आनुष्टुभेन) विद्यां गृहीत्वा पश्चाद् दुःखानि स्तभ्नुवन्ति येन तेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) समस्तौषधिरसवत् । [अयं मन्त्रः श० ६।५।४।१७ व्याख्यातः] ॥६५॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा ! वसवो गायत्रेण †छन्दसा त्वाऽङ्गिरस्वदाछृन्दन्तु, रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वाऽङ्गिरस्वदाछृन्दन्तु । आदित्या जागतेन छन्दसा त्वाङ्गिरस्वदा-छृन्दन्तु वैश्वानरा विश्वदेवा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वाऽङ्गिरस्वदाछृन्दन्तु ॥६५॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां ये याश्च विद्वांसो विदुष्यश्च शरीरात्मबलकारोपदेशेन सुशोभयेयुस्तेषामेव सेवासङ्गौ सततं §कुर्यातम्, नेतरेषां क्षुद्राणाम् ॥६५॥

फिर उन स्त्रीपुरुषों के प्रति विद्वान् लोग क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि वा पुरुष ! (वसवः) [3]प्रथम विद्वान लोग (गायत्रेण) श्रेष्ठ विद्याओं का जिस से गान किया जावे उस वेद के विभागरूप स्तोत्र (छन्दसा) गायत्री छन्द से$ (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के तुल्य (आछृन्दन्तु) प्रकाशमान करें (रुद्राः) [3]मध्यम विद्वान् लोग (त्रैष्टुभेन) कर्म उपासना और ज्ञान जिस से स्थिर हों उस (छन्दसा) वेद के स्तोत्रभाग से ∫(त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान (आछृन्दन्तु) प्रज्वलित करें (आदित्याः) [3]उत्तम विद्वान् लोग (जागतेन) जगत् की विद्या प्रकाश करने हारे (छन्दसा) वेद के स्तोत्र भाग से (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) सूर्य्य के सदृश तेजधारी (आछृन्दन्तु) शुद्ध करें (वैश्वानराः) सम्पूर्ण मनुष्यों में शोभायमान (‡विश्वे) सब (देवाः) सत्य उपदेश देने हारे विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन) विद्या ग्रहण के पश्चात् जिससे दुःखों को छुड़ावें उस (छन्दसा) वेदभाग से (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) समस्त ओषधियों के रस के समान (आछृन्दन्तु) ‡‡शुद्ध करें ॥६५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

---

१. 'जगत्यां भवो जागतः' इति तु शोभनतरः स्यात् ॥
२. 'राजन्तः' इति त्वध्याहारो वेदितव्यः ॥६५॥
३. यहां 'प्रथम-मध्यम-उत्तम विद्वान्' इन शब्दों से क्रमशः २४-४४-४८ वर्ष ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़े हुए अभिप्रेत हैं ॥

---

† इतोऽग्रे 'यां यं' इति त्वनावश्यकः पाठो अ०मुद्रित इति ध्येयम् । स च ककोशे नास्त्येव, गकोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥ § 'कुर्यातम्' इति अ०मुद्रिते पाठः, स चाशुद्धः ॥

$ 'से जिस (त्वा)' इति अ०मुद्रिते पाठः । अत्र 'जिस' इति ककोशे नास्ति ॥

∫ '(त्वा) मुझ को' इति पाठः (आछृन्दन्तु)' इत्येतस्मान् पूर्वमासीत्, शोभनतरत्वादत्रानीत इति ध्येयम् ॥ ‡ '(विश्वे) सब' इति पाठोऽग्र आसीदस्माभिरत्रानीतः ॥

‡‡ 'शुद्ध सम्पादित करें' इति अ०मुद्रिते पाठः, 'शुद्ध सम्पादन करे' इति तु ककोशे पाठः ॥

भावार्थः—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों को चाहिए कि जो विद्वान् पुरुष और विदुषि स्त्री लोग तुम को शरीर और आत्मा का बल कराने हारे उपदेश से सुशोभित करें उनकी सेवा और सत्सङ्ग निरन्तर करो और अन्य तुच्छ बुद्धिवाले पुरुषों वा स्त्रियों का सङ्ग कभी मत करो ॥६५॥

आकूतिमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्नयादयो मन्त्रोक्ता देवताः ।
विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्ते स्त्रीपुरुषाः किं कुर्य्युरित्याह ॥

आकूतिमग्निं प्रयुज॑ स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुज॑ स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुज॑ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुज॑ स्वाहा । प्रजापतये मनवे स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

आकूतिमित्याऽकूतिम् । अग्निम् । प्रयुजमिति प्रऽयुजम् । स्वाहा । मनः । मेधाम् । अग्निम् । प्रयुजमिति प्रऽयुजम् । स्वाहा । चित्तम् । विज्ञातमिति विऽज्ञातम् । अग्निम् । प्रयुजमिति प्रऽयुजम् । स्वाहा । वाचः । विधृतिमिति विऽधृतिम् । अग्निम् । प्रयुजमिति प्रऽयुजम् । स्वाहा ॥ प्रजापतय इति प्रजाऽपतये । मनवे । स्वाहा । अग्नये । वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

पदार्थः—(आकूतिम्) उत्साहकारिकां [1]क्रियाम (अग्निम्) प्रसिद्धं पावकम् (प्रयुजम्) यः सर्वान् [प्रकर्षेण] युनक्ति तम् (स्वाहा) सत्यया क्रियया (मनः) इच्छा-साधनम् (मेधाम्) प्रज्ञाम् (अग्निम्) विद्युतम् (प्रयुजम्) (स्वाहा) सत्यया वाचा (चित्तम्) चेतति येन तत् (विज्ञातम्) (अग्निम) अग्निमिव भास्वरम् (प्रयुजम्) व्यवहारेषु प्रयुक्तम् (स्वाहा) सत्येन व्यवहारेण (वाचः) वाण्याः (विधृतिम्) विविधं धारणम् (अग्निम्) [2]योगाभ्यासजनितां विद्युतम् (प्रयुजम्) संप्रयुक्तम् (स्वाहा) क्रिया-योगरीत्या (प्रजापतये) प्रजास्वामिने (मनवे) मननशीलाय (स्वाहा) सत्यां वाणीम् (अग्नये) विज्ञानस्वरूपाय (वैश्वानराय) विश्वेषु नरेषु [3]राजमानाय जगदीश्वराय (स्वाहा) धर्म्यां क्रियाम् । [अयं मन्त्रः श० ६।६।१।१५-२० व्याख्यातः] ॥६६॥

---

१. क्रियामित्यध्याहारः ॥

२. 'योगाभ्यासजनिताम्' इति तु विशेषणमात्रम् ॥

३. राजमानायेति त्वध्याहारो वेदितव्यः । यद्वा शेषे (अ० ४।२।९२) इति लक्षणं चाधिकार-श्चेति कृत्वा राजमानायेति तद्धितार्थ एवेति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आकूतिम्) पूर्वं (य० ४।७ पृ० ३६७) व्याख्यातः ॥

(प्रयुजम्) प्रपूर्वाद् युजेः क्विपि गति-कारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्यु-त्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(चित्तम्) चिती संज्ञाने (चु० उ०) इत्यस्मात् क्तः, प्रत्ययस्वरः ॥

(विज्ञातम्) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषाः ! भवन्तो वेदस्थैर्गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः स्वाहा आकूतिं प्रयुजमग्निं स्वाहा [आछृन्दन्तु] मनो मेधां प्रयुजमग्निं स्वाहा चित्तं विज्ञातं *प्रयुजमग्निं [आछृन्दन्तु] मनवे प्रजापतये स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा **च प्रापय्य सततमाछृन्दन्तु** ॥६६॥

भावार्थः—अत्राऽऽछृन्दन्त्विति पदं पूर्वमन्त्रादनुवर्त्तते। मनुष्याः पुरुषार्थेन वेदादिशास्त्राण्यधीत्योत्साहादीनुन्नीय व्यवहारपरमार्थक्रियाप्रयोगेणाभ्युदयिकनिःश्रेयसे [1]समाप्नुवन्तु॥६६॥

फिर वे स्त्रीपुरुष क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुषो ! तुम लोग वेद के गायत्री आदि मन्त्रों से (स्वाहा) सत्यक्रिया से (आकूतिम्) उत्साह से देने वाली क्रिया के (प्रयुजम्) प्रेरणा करने हारे (अग्निम्) प्रसिद्ध अग्नि को (स्वाहा) सत्यवाणी से [शुद्ध करो] (मन.) इच्छा के साधन भूत मन (मेधाम्) बुद्धि और (प्रयुजम्) सम्बन्ध करने हारी (अग्निम्) बिजुली को (स्वाहा) सत्य व्यवहारों से (विज्ञातम्) जाने हुए विषय (प्रयुजम्) व्यवहारों में प्रयोग किए (अग्निम्) अग्नि के समान प्रकाशित (चित्तम्) चित्त को (स्वाहा) योगक्रिया की रीति से [शुद्ध करो] (वाचः) वाणियों की (विधृतम्) विविध प्रकार की धारणा को (प्रयुजम्) संप्रयोग किए हुए (अग्निम्) योगाभ्यास से उत्पन्न की हुई बिजुली को (प्रजापतये) प्रजा के स्वामी (मनवे) मननशील पुरुष के लिए, (स्वाहा) सत्यवाणी को, और (अग्नये) विज्ञानस्वरूप (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के बीच प्रकाशमान जगदीश्वर के लिए (स्वाहा) धर्मयुक्त क्रिया को युक्त करा के निरन्तर ([2]आछृन्दन्तु) अच्छे प्रकार शुद्ध करो ॥६६॥

भावार्थः—यहां पूर्व मन्त्र से (आछृन्दतु) इस पद की अनुवृत्ति आती है। मनुष्यों को चाहिए कि पुरुषार्थ से वेदादि शास्त्रों को पढ़ और उत्साह आदि को बढ़ा कर व्यवहार परमार्थ की क्रियाओं के सम्बन्ध से इस लोक और परलोक के सुखों को प्राप्त हों ॥६६॥

❧

विश्वो देवस्येत्यस्यात्रेय ऋषिः। सविता देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थैः किं कार्य्यमित्याह ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् ।
विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥६७॥

विश्वः॑। दे॒वस्य॑। ने॒तुः। मर्तः॑। वु॒रीत॒। स॒ख्यम् ॥ विश्वः॑। रा॒ये। इ॒षु॒ध्य॒ति॒। द्यु॒म्नम्। वृ॒णी॒त॒। पु॒ष्यसे॑। स्वाहा॑ ॥६७॥

(विधृतिम्) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'समाप्नुवन्तु' प्राप्त्यर्थोऽत्र गृह्यते, न त्वन्तकरणम् ॥

२. यह पद पूर्वमन्त्र से अनुवृत्त है ॥६६॥

* 'स्वाहा वाचो विधृतिं प्रयुजमग्निम्' इति गकोशे पाठः, स चेह प्रमादात् त्यक्तः स्यात् ॥

पदार्थः—(विश्वः) सर्वः (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य परमेश्वरस्य (नेतुः) सर्वनायकस्य (मर्त्तः) मनुष्यः ([1]वुरीत) स्वीकुर्यात् (सख्यम्) सख्युर्भावं कर्म वा (विश्वः) अखिलः (राये) श्रियै (इषुध्यति) शरादीनि शस्त्राणि धरेत्। लेट्प्रयोगोऽयम् (द्युम्नम्) प्रकाशयुक्तं यशोऽन्नं वा। द्युम्नं द्योततेर्यशो [वा] ऽन्नं वा। निरु० ५।५ (वृणीत) स्वीकुर्य्यात् (पुष्यसे) पुष्टो भवेः (स्वाहा) सत्यां वाचम्। [अयं मन्त्रः श० ६।६।१।२१ व्याख्यातः] ॥६७॥

अन्वयः—यथा विद्वांस्तथा विश्वो मर्त्तो नेतुर्देवस्य सख्यं वुरीत, विश्वो मनुष्यो राय इषुध्यति, स्वाहा द्युम्नं वृणीत, यथा चैतेन त्वं पुष्यसे तथा वयमपि भवेम[2] ॥६७॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—गृहस्थैर्मनुष्यैः परमेश्वरेण सह मैत्रीं कृत्वा, सत्येन व्यवहारेण श्रियं प्राप्य यशस्वीनि कर्माणि नित्यं कार्य्याणि ॥६७॥

फिर गृहस्थों को क्या करना चाहिए, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जैसे विद्वान् लोग ग्रहण करते हैं [वैसे] (विश्वः) सब (मर्त्तः) मनुष्य (नेतुः) सब के नायक (देवस्य) सब जगत् के प्रकाशक परमेश्वर की (सख्यम्) मित्रता को (वुरीत) स्वीकार करें, (विश्वः) सब मनुष्य (राये) शोभा वा लक्ष्मी के लिए (इषुध्यति) बाणादि आयुधों को धारण करें, (स्वाहा) सत्यवाणी और (द्युम्नम्) प्रकाशयुक्त यश वा अन्न को (वृणीत) ग्रहण करें, और जैसे इस से तू (पुष्यसे) पुष्ट होता है, वैसे हम लोग भी होवें ॥६७॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—गृहस्थ मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर के साथ मित्रता कर, सत्य व्यवहार से धन को प्राप्त हो के, कीर्त्ति कराने हारे कर्मों को नित्य किया करें ॥६७॥

मा स्वित्यस्य आत्रेय ऋषिः। अम्बा देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मातापितरौ प्रति पुत्रादयः किं किं ब्रूयुरित्याह ॥

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु।
अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥६८॥

मा। सु। भित्थाः। मा। सु। रिषः। अम्ब। धृष्णु। वीरयस्व। सु॥ अग्निः। च। इदम्। करिष्यथः ॥६८॥

---

१. पूर्वं य० ४।८ भाष्यव्याख्याने बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इति विकरणस्य लुक्, इत्युक्तम् ॥

२. अस्य मन्त्रस्याग्रे (य० २२।२१) शोभनोऽन्वयो द्रष्टव्यः ॥६७॥

पदार्थः—(मा) (सु) (भित्थाः) भेदं कुर्य्याः (मा) (सु) (रिषः) हिंस्याः (अम्ब) मातः (धृष्णु) दाढर्च्यम् (वीरयस्व[1]) आरब्धस्य कर्मणः समाप्तिमाचर (सु) (अग्निः) पावक इव (च) (इदम्) (करिष्यथः) करिष्यमाणं साधयिष्यथः। [अयं मन्त्रः श० ६।६।२।५ व्याख्यातः] ॥६८॥

अन्वयः—हे अम्ब त्वमस्मान् विद्यातो मा सु भित्था मा सुरिषो, धृष्णु सुवीरयस्व चैवं कुर्वन्तौ युवां [2]मातापुत्रावग्निरिवेदं करिष्यथः ॥६८॥

भावार्थः—माता *स्वसन्तानान् सुशिक्षेत, यत इमे परस्परं प्रीता भवेयुर्वीराश्च, यत्कर्त्तव्यं तत्कुर्युरकर्त्तव्यं च नाचरेयुः ॥६८॥

फिर माता पिता के प्रति पुत्रादि क्या-क्या कहें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे (अम्ब) माता! तू हम को विद्या से (मा) मत (सुभित्थाः) छुड़ावे, और (मा) मत (सुरिषः) दुःख दे, (च) [और] (धृष्णु) दृढ़ता से (सुवीरयस्व) †आरम्भ किए कर्म की [अच्छे प्रकार] समाप्ति कर। ऐसे करते हुए तुम माता और पुत्र दोनों (अग्निः) अग्नि के समान (इदम्) करने योग्य इस सब कर्म्म को (करिष्यथः) आचरण करो ॥६८॥

भावार्थः—माता को चाहिए कि अपने सन्तानों को अच्छी शिक्षा देवे, जिससे ये परस्पर प्रीतियुक्त और वीर होवें, और जो करने योग्य है वही करें, न करने योग्य कभी न करें ॥६८॥

दृंहस्वेत्यस्यात्रेय ऋषिः। अम्बा देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः पतिः स्वपत्नीं प्रति किं किं वदेदित्याह॥

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तयऽ आसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्यऽ इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञेऽ अस्मिन् ॥६९॥

---

१. वीरयस्व विशेषेण प्रेरयेत्यर्थः, अभिप्रायार्थेनेदं सम्भवति। यद्वा—'शूर वीर विक्रान्तौ' इति धातो रूपम्, भाष्यं तु फलितार्थपरमिति ध्येयम्॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(धृष्णु) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः (अ० ३।२।१४०) इति 'क्नुः'। कित्त्वाद् गुणाभावः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(वीरयस्व) 'शूर वीर विक्रान्तौ' (चु० आ०) इति धातोर्णिचि, धातुस्वरेणान्तोदात्तः। ततः शपि लोण्मध्यमैकवचनम्। **तास्यनुदात्तेद्०** (अ० ६।२।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वर एव ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया**॥

२. 'पुत्रपुत्र्यौ' इत्यत्र शोभनतरं स्यात् ॥६८॥

---

* 'सुसन्तानान्' इति अ०मुद्रिते पाठः, स चानुपपन्नः। 'स्वसन्तानान्' इति तु कगपाठः, मुद्रणे भ्रष्टः स्यात्॥

† 'सुन्दर आरम्भ किये कर्म की समाप्ति कर' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

दृꣳहस्व । देवि । पृथिवि । स्वस्तये । आसुरी । माया । स्वधया । कृता । असि ॥ जुष्टम् । देवेभ्यः । इदम् । अस्तु । हव्यम् । अरिष्टा । त्वम् । उत् । इहि । यज्ञे । अस्मिन् ॥६९॥

पदार्थः—(दृंहस्व) *वर्द्धस्व (देवी) विद्यायुक्ते (पृथिवि) भूमिरिव पृथुविद्ये (स्वस्तये) सुखाय (आसुरी) येऽसुषु प्राणेषु रमन्ते तेषां [1]स्वा (माया) प्रज्ञा (स्वधया) उदकेनान्नेन वा (कृता) निष्पादिता (असि) (जुष्टम्) सेवितम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्येभ्यो गुणेभ्यो वा (इदम्) (अस्तु) (हव्यम्) दातुं योग्यं विज्ञानम् (अरिष्टा) अहिंसिता (त्वम्) (उत्) (इहि) प्राप्नुहि (यज्ञे) संगन्तव्ये गृहाश्रमे (अस्मिन्) वर्त्तमाने। [अयं मन्त्रः श० ६।६।२।६ व्याख्यातः] ॥६९॥

अन्वयः—हे पृथिवि देवि पत्नि ! त्वया स्वस्तये स्वधया याऽऽसुरी मायाऽस्ति, सा [2]कृतासि [अस्ति], तया त्वं मां पतिं दृंहस्वाऽरिष्टा सत्यस्मिन् यज्ञ उदिहि, यत् त्वयेदं जुष्टं †हव्यं कृतमस्ति, तद् देवेभ्योऽस्तु ॥६९॥

भावार्थः—या स्त्री पतिं प्राप्य गृहे[3] वर्त्तते, तया सुबुद्धया सुखाय प्रयत्नो विधेयः। सुसंस्कृतं सर्वमन्नादि प्रीतिकरं संपादनीयम् । न कदाचित् कस्यचिद्धिंसा वैरबुद्धिर्वा क्वचित् कार्या ॥६९॥

फिर पति अपनी स्त्री से क्या-क्या कहे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (पृथिवि) भूमि के समान विद्या के विस्तार को प्राप्त हुई (देवि) विद्या से युक्त पत्नि ! तू ने (स्वस्तये) सुख के लिए (स्वधया) अन्न वा जल से जो (आसुरी) प्राणपोषक पुरुषों की (माया) बुद्धि है, उस को (कृता) सिद्ध किया (असि) है, उस से [(त्वम्)] तू मुझ पति को (दृंहस्व) उन्नति दे, (अरिष्टा) हिंसारहित हुई (अस्मिन्) इस (यज्ञे) संग करने योग्य गृहाश्रम में (उदिहि) प्रकाश को प्राप्त हो । जो तू ने (जुष्टम्) सेवन किया (इदम्) यह (हव्यम्) देने लेने योग्य पदार्थ है, वह (देवेभ्यः) विद्वानों वा उत्तम गुण होने के लिए (अस्तु) होवे ॥६९॥

भावार्थः—जो स्त्री पति को प्राप्त हो के घर [=गृहस्थाश्रम] में वर्त्तती है, वह अच्छी बुद्धि से सुख के लिए प्रयत्न करे । अन्न आदि खाने पीने के सब पदार्थ रुचिकारक बनवावे वा बनावे, और किसी को दुःख वा किसी के साथ वैरबुद्धि कभी न करे ॥६९॥

---

१. 'स्वा माया' इत्यन्वयः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आसुरी) असुरशब्दात् मायायामण् (अ० ४।४।१२४) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः । टिड्ढाणञ्० (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्' । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीबुदात्तः ॥

(माया) माङ्धातोः माच्छाशासिभ्यो यः (उ० ४।१०९) इति 'यः' । प्रत्ययस्वरः । ततष्टाप् । एकादेशे स एव स्वरः ॥

(स्वधया) स्वशब्दोपपदाद् 'डुधाञः' आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३।२।३) इति 'कः' । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. 'सा त्वया कृताऽस्यस्ति' इति भावः ॥

३. 'गृहे वर्त्तते' गृहाश्रमधर्मं पालयति, गृहाश्रमे व्यवहरतीति भावः ॥६९॥

---

* 'अन्तर्भावितो ण्यर्थः' इति ध्येयम् ॥ † 'हव्यम्' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे त्यक्तः स्यात् ॥

द्रवन्न इत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ।।

पुनः सा स्वभर्त्तारं प्रति कथं कथं संवदेतेत्याह ।।

द्रवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः ।
सहसस्पुत्रोऽ अद्भुतः ।।७०।।

द्रवन्न इति द्रुऽअन्नः । सर्पिरासुतिरिति सर्पिःऽआसुतिः । प्रत्नः । होता । वरेण्यः ॥ सहसः । पुत्रः । अद्भुतः ॥७०॥

पदार्थः—(द्रवन्नः) द्रवो [1]वृक्षादय *ओषधयो वाऽन्नानि यस्य सः (सर्पिरासुतिः) सर्पिषो घृतादेरासुतिः [2]सवनं यस्य सः (प्रत्नः) पुरातनः (होता) दाता ग्रहीता (वरेण्यः) स्वीकर्त्तुमर्हः ([3]सहसः) बलवतः (पुत्रः) अपत्यम् (अद्भुतः) आश्चर्य्यगुणकर्मस्वभावः । [अयं मन्त्रः श० ६।६।२।१४ व्याख्यातः] ।।७०।।

अन्वयः—हे पते ! द्रवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः सहसस्पुत्रोऽद्भुतस्त्वं स्वस्तयेऽस्मिन् यज्ञ उदिहि उदितो भव ।।७०।।

भावार्थः—[4]अत्र 'स्वस्तये' 'अस्मिन्' 'यज्ञ' 'उदिहि' इति पदचतुष्टयं पूर्वतोऽनुवर्त्तते । कन्यया यस्य पिता कृतब्रह्मचर्यो बलवान् भवेद्यः पुरुषार्थेन बह्वन्यन्नादीन्यर्जयितुं शक्नुयात्, पवित्रस्वभावः पुरुषो भवेत्तेन साकं विवाहं कृत्वा सततं सुखं भोक्तव्यम् ।।७०।।

फिर वह स्त्री अपने पति से कैसे-कैसे कहे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे पते ! (द्रवन्नः) वृक्षादि [फल वा] ओषधि ही जिस के अन्न [खाने के योग्य] हैं, ऐसे (सर्पिरासुतिः) घृत आदि पदार्थों को शोधने वाले, (प्रत्नः) सनातन (होता) देने लेने हारे, (वरेण्यः) स्वीकार करने योग्य, (सहसः) बलवान् के (पुत्रः) पुत्र, (अद्भुतः)

१. वृक्षफलानीत्यर्थः ।।
२. सवनं = शोधनम् इति भाषापदार्थानुसारं, तच्चाध्याहारेणेति ।।
३. '(सहसः) बलिष्ठस्य वायोः' इति ऋ० २।७।६ भाष्यव्याख्याने ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(द्रवन्नः) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । ततो यणादेशे **उदात्तस्वरितयोर्यणः०** (अ० ८।२।४) इति स्वरितत्वम् ।।

(सर्पिरासुतिः) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । सर्पिश्शब्दः **अर्चिशुचिहुसृपि०** (उ० २।१०८) इत्यादिना 'इसि' प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः ।।

(सहसः) सहधातोः **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इत्यसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

४. 'अत्र वाचकलु०' इति ऋ० २।७।६ भाष्यव्याख्याने ।।७०।।

* 'ओषधयोऽन्नानि वा' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'वा' इति पदं कगकोशयोर्नास्त्येव । तच्च मुद्रणेऽस्थाने प्रवर्द्धितं स्यात् ।।

आश्चर्य्य गुण कर्म और स्वभाव से युक्त आप, सुख होने के लिए इस गृहाश्रम के बीच शोभायमान हूजिये ॥७०॥

भावार्थः—यहां पूर्व मन्त्र से (स्वस्तये) (अस्मिन्) (यज्ञे) (उदिहि) इन चार पदों की अनुवृत्ति आती है ॥

कन्या को उचित है कि जिसका पिता ब्रह्मचर्य्य से बलवान् हो, और जो पुरुषार्थ से से बहुत अन्नादि पदार्थों को इकट्ठा कर सके, †उस शुद्ध स्वभाव से युक्त पुरुष के साथ विवाह करके निरन्तर सुख भोगे ॥७०॥

परस्या इत्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। विराड् गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः पतिः[1] स्वपत्नीं प्रति किं किमुपदिशेद्[2] इत्याह ॥

परस्याऽ अधि संवतोऽवराँ२ऽ अभ्यातर।
यत्राहमस्मि ताँ२ऽ अव ॥७१॥

परस्याः। अधि। सम्वत इति सम्ऽवतः। अवरान्। अभि। आ। तर ॥ यत्र। अहम्। अस्मि। तान्। अव ॥७१॥

पदार्थः—(परस्याः) प्रकृष्टायाः कन्यायाः (अधि) (संवतः[3]) संविभक्तान्[4] (अवरान्) नीचाननुत्कृष्टगुणस्वभावान् (अभि) (आ) (तर) *प्लव (यत्र) (अहम्) (अस्मि) (तान्) (अव)। [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।१ व्याख्यातः] ॥७१॥

---

१. (क) 'भाविनीयं संज्ञा विज्ञायते। तद्यथा—कश्चित् कञ्चित् तन्तुवायमाह—अस्य सूत्रस्य शाटकं वय इति। स पश्यति—यदि शाटको न वातव्यः, अथ वातव्यो न शाटकः। शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता, स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवतीति'। ('इग्यणः' इति सूत्रभाष्ये अ० १।१।४४)। तथैव प्रकृतेऽपि भाविनी संज्ञा पतिः पत्नी चेत्यभिप्रेता ॥

(ख) कन्यावरौ विवाहात् पूर्वं परस्परं परीक्षणसमय इत्थं वदेयुरिति भावः ॥

२. दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति। महाभाष्ये १।३।२ ॥

३. 'वन षण सम्भक्तौ' (भ्वा० प०) इत्येतस्मात् क्विपि गमादीनामिति वक्तव्यम् (अ० ६।४।४० वा०) इत्यनुनासिकलोपे शसि रूपम्।

४. त्रिविधेषु पुरुषेषु अधमरूपेण विभागं प्राप्तानित्यर्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(परस्याः) 'पॄ पूरणे' (जु० प०) इत्येतस्माद् ॠदोरप् (अ० ३।३।५७) इत्यप्। पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(संवतः) सम्पूर्वाद् वनेः क्विपि, छान्दसोऽनुनासिकलोपः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। यद्वा—संपूर्वाद् 'वय गतौ' (भ्वा० आ०) इत्येतस्मात्

---

† 'ऐसे शुद्ध' इति गपाठः। 'ऐसा शुद्ध स्वभाव का जो पुरुष हो उस के साथ' इति कपाठः ॥

* साम्प्रतिकानां मते 'प्लवस्व' इति स्यात् ॥

अन्वयः—हे कन्ये ! यस्याः परस्यास्तवाहम[ध्य]धिष्ठाता भवितुमिच्छामि, सा त्वं संवतो[1]ऽवरानभ्यातर, यत्र कुलेऽहमस्मि तानव ॥७१॥

भावार्थः—कन्यया स्वस्या उत्कृष्टस्तुल्यो वा वरः स्वीकार्य्यः, न नीचः। यस्य पाणिग्रहणं कुर्य्यात् तस्य सम्बन्धिनो मित्राणि च सर्वदा सन्तोषणीयानि ॥७१॥

फिर पति अपनी स्त्री को †क्या क्या कहे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे कन्ये ! जिस (परस्याः) उत्तम कन्या तेरा मैं (अधि) स्वामी हुआ चाहता हूं, सो तू (संवतः) [2]संविभाग को प्राप्त हुए (अवरान्) नीच स्वभावों को (अभ्यातर) उल्लङ्घन [कर, अर्थात् मन से छोड़ दे], और (यत्र) जिस कुल में (अहम्) मैं (अस्मि) हूं (तान्) उन उत्तम मनुष्यों की (अव) रक्षा कर ॥७१॥

भावार्थः—कन्या को चाहिए कि अपने से अधिक बल और विद्या वाले वा बराबर के पति को स्वीकार करे, किन्तु छोटे वा न्यून विद्या वाले को नहीं। जिस के साथ विवाह करे, उसके सम्बन्धी और मित्रों को सब काल में प्रसन्न रक्खे ॥७१॥

परमस्या इत्यस्य वारुणिर्ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पुनः सा स्वस्वामिनं प्रति *किमादिशेद्[3] इत्याह ॥

परमस्याः परावतो रोहिदश्वऽइहागहि।
पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥७२॥

परमस्याः। परावत इति पराऽवतः। रोहिदश्व इति रोहित्ऽअश्वः। इह। आ। गहि॥ पुरीष्यः। पुरुप्रिय इति पुरुऽप्रियः। अग्ने। त्वम्। तर। मृधः ॥७२॥

'क्विप्'। लोपो व्योर्वलि (अ० ६।१।६६) इति यलोपः। ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (अ० ६।१।७१) इति 'तुक्'। यद्वा—उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (अ० ५।१।११८) इति वतिः प्रत्ययः। शेषः पूर्ववत् ॥

(अवरान्) पूर्वं (य० ७।५ पृ० ५८३) व्याख्यातः ॥

(अस्मि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः। मिपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अल्पमेधसोऽवरान् मनसापि त्यजेदिति भावः ॥

२. अर्थात् 'तीन प्रकार के पुरुषों में अधमरूप विभाग को प्राप्त' ॥७१॥

३. दिशिरुच्चारणक्रियः, उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति (महाभाष्य १।३।२) ॥

---

† क्या क्या 'उपदेश करे' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

* 'किं किमा०' इति अ०मुद्रिते पाठः, भाषायामपि ॥

पदार्थः—(परमस्याः) [1]अनुत्तमगुणरूपशीलायाः ([2]परावतः) दूरदेशात् (रोहिदश्वः) [3]रोहितोऽग्न्यादयोऽश्वा वाहनानि यस्य सः (इह) (आ) ([4]गहि) आगच्छ (पुरीष्यः) पुरीषेषु पालनेषु साधुः (पुरुप्रियः) पुरूणां बहूनां जनानां मध्ये प्रियः प्रीतः (अग्ने) अग्नि-प्रकाशवद्विज्ञानयुक्त (त्वम्) (तर) उल्लंघ। अत्र द्व्यचोतस्तिङः [अ० ६।३।१३४] इति दीर्घः (मृधः) परपदार्थाभिकांक्षिणः शत्रून्। [अयं मन्त्रः श० ६।३।३।४ व्याख्यातः]॥७२॥

अन्वयः—हे अग्ने पावक इव तेजस्विन् [5]स्वामिन्! रोहिदश्वः पुरीष्यः पुरुप्रिय-स्त्वमिह परावतो देशात् परमस्याः [मम] कन्यायाः कीर्त्तिं [6]श्रुत्वाऽऽगहि, §मया प्राप्तय सह मृधस्तर[7]॥७२॥

भावार्थः—मनुष्यैः स्वस्याः कन्यायाः पुत्रस्य वा समीपदेशे विवाहः कदाचिन्नैव कार्य्यः। यावद् दूरे विवाहः क्रियते तावदेवाऽधिकं सुखं जायते, निकटे कलह एव॥७२॥

फिर वह स्त्री अपने स्वामी से क्या कहे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

पदार्थः—हे (अग्ने) पावक के समान तेजस्विन् विज्ञानयुक्त पते! (रोहिदश्वः) अग्नि आदि पदार्थों से युक्त वाहनों से युक्त, (पुरीष्यः) पालने में श्रेष्ठ, (पुरुप्रियः) $बहुत मनुष्यों में प्रिय (त्वम्) आप (इह) इस गृहाश्रम में (परावतः) दूर देश से (परमस्याः) अति उत्तम गुण रूप और स्वभाव वाली [मुझ] कन्या की कीर्त्ति [अन्यों से] सुन के

---

१. अनुत्तम इति बहुव्रीहिः, न विद्यते उत्तमं यस्मात्॥

२. 'परावतः' इति दूरनामसु (निघ० ३।२७)॥ अत्र देवराजः—'ईरयतेर्वहतेर्गतिकर्मणो वा संसाधनेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रोपसर्गाद् परोपसर्गाद् वा उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे(अ० ५।१।११८)इति 'वतिः'। पृषोदरादित्वात् प्रशब्दस्य पराभावः। प्रकर्षेण ईरयति विक्षिप्तं परागतमिव वा तद् भवति। परावतं परमां गन्तवा उ(ऋ० १०।६५।१४)' निघ० वृ० पृ० ३६७॥

३. 'रोहितोऽग्नेः' इति निरु० २।२८॥

४. आमन्त्रणेऽत्र लोट्॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(परमस्याः) पूर्वं (य० १।२५ पृ० ११८) व्याख्यातः॥

(परावतः) 'परः' उपरि (टि० २) व्याख्यातः। वतिप्रत्यये प्रत्ययस्वरः॥

(रोहिदश्वः) हसुरुहियुविभ्य इतिः (उ० १।९५) इति 'इतिः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण 'रोहित्' शब्दोऽन्तोदात्तः। बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे 'रोहित्' शब्द एवान्तोदात्तः॥

(पुरुप्रियः) प्रीणातीति प्रियः, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति 'कः' प्रत्ययः। प्रियशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। तत्पुरुषसमासे समासान्तोदात्तत्वम्॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

५. 'हे स्वामिन्' 'हे पते' अत्रापि पूर्वमन्त्रवद् भाविनी संज्ञा विज्ञायते इति ध्येयम्॥

६. 'मम कन्यायाः कीर्त्तिमन्येभ्योऽपि श्रुत्वा' इति भावः। परस्परं परीक्षासमये कन्यावचनमिदमिति भावः॥

७. पूर्ववदत्राप्यामन्त्रणे लोडिति भावः॥७२॥

---

§ 'तया' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

$ 'बहुत मनुष्यों की प्रीति रखने वाले' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

(आगहि) ʃआइये और मेरे साथ (मृधः) दूसरों के पदार्थों की आकांक्षा करने हारे शत्रुओं का (तर) तिरस्कार कीजिए ॥७२॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अपनी कन्या वा पुत्र का समीप देश में विवाह कभी न करें। जितना ही दूर विवाह किया जावे उतना ही अधिक सुख होवे, निकट करने में कलह ही होता है ॥७२॥

यदग्ने इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः॥

पुनः स्त्रीपुरुषौ प्रति सम्बन्धिनः किं किं प्रतिजानीरन्नित्याह॥

यद॑ग्ने॒ कानि॒ कानि॑ चि॒दा ते॒ दारू॑णि द॒ध्मसि॑।
सर्वं॒ तद॑स्तु ते घृ॒तं तज्जु॑षस्व यविष्ठ्य ॥७३॥

यत्। अ॒ग्ने॒। कानि॑। कानि॑। चि॒त्। आ। ते॒। दारू॑णि। द॒ध्मसि॑॥ सर्व॑म्। तत्। अ॒स्तु॒। ते॒। घृ॒तम्। तत्। जु॒ष॒स्व॒। य॒वि॒ष्ठ्य॒ ॥७३॥

पदार्थः—(यत्) (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमान (कानि) (कानि) (चित्) अपि (आ) (ते) तुभ्यं तव वा (दारुणि) [1]काष्ठे (दध्मसि) धरामः (सर्वम्) (तत्) (अस्तु) (ते) तव (घृतम्) आज्यम् (तत्) (जुषस्व) *सेवस्व (यविष्ठ्य) अतिशयेन युवा यविष्ठः, [2]स एव, तत्सम्बुद्धौ। [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।५ व्याख्यातः] ॥७३॥

अन्वयः—हे यविष्ठ्याऽग्ने †विद्वन् पुरुष स्त्रि वा! यथा कानि कानिचिद्वस्तूनि ते सन्ति तद्द्वयं दारुण्यादध्मसि। यदस्माकं वस्त्वस्ति तत्सर्वं तेऽस्तु यदस्माकं घृतं तत्त्वं जुषस्व। यत्ते वस्त्वस्ति तत्सर्वमस्माकमस्तु, यत्ते घृतादिकं वस्त्वस्ति §तद् वयं $गृह्णीमः ॥७३॥

१. काष्ठनिर्मितमञ्जूषायाम् इति भावः॥ यथा तु वैदिकानां मन्त्रपाठः पदपाठश्च तथा तु 'दारू॑णि' इत्येव पाठोऽत्र ज्ञेयः।

२. 'वसु, अयस······यविष्ठ' इत्येतेभ्यः छन्दसि स्वार्थे यत्प्रत्ययः (अ० ५।४।२५ वा०) इति स्वार्थे 'यत्' प्रत्ययः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दारुणि) दृधातोः दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण् (उ० १।३) इति 'ञुण्' प्रत्ययः। ञित्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(दध्मसि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः। इदन्तो मसिः (अ० ७।१।४६) इति इकारागमः, प्रत्ययस्वरेण मसिराद्युदात्तः॥

(यविष्ठ्य) पूर्वं (य० ३।३ पृ० २४३) व्याख्यातः॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

ʃ 'आइये और उसके साथ' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

* 'सेवस्व' अ०मुद्रिते गकोशे च नास्ति। '(जुषस्व) सेवस्व' इति कपाठः॥

† 'विद्वान् पते स्त्रि वा' इति अ०मुद्रिते पाठः, सङ्गत्यनुसारं न सम्यक् प्रतिभाति॥

§ 'यद्वयम्' इति अ०मुद्रिते पाठः। स चासम्यक्॥ $ 'जुषेमहि' इति कपाठः॥

भावार्थः—ब्रह्मचार्यादिभिर्मनुष्यैः स्वकीयाः सर्वे पदार्थाः सर्वार्था [1]निधातव्याः। न कदाचिदीर्ष्यया परस्परं भेत्तव्यं, यतः सर्वेषां सर्वाणि सुखानि वर्धेरन् विघ्नाश्च ʃनोत्तिष्ठेरन्, एवं[2] स्त्रीपुरुषावपि परस्परं वर्त्तेयाताम्॥७३॥

फिर स्त्रीपुरुषों के प्रति सम्बन्धी लोग क्या क्या प्रतिज्ञा करें और करावें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे (यविष्ठच) अत्यन्त युवावस्था को प्राप्त हुए (अग्ने) अग्नि के ‡समान तेजस्वी विद्वन् पुरुष वा स्त्री! आप जैसे (कानि कानिचित्) जो ‡कोई भी वस्तु (ते) तेरी हैं, वे हम लोग (दारुणि) काष्ठ के पात्र में [(आ)] (दध्मसि) धारण करें, (यत्) जो कुछ हमारी चीज है (तत्) सो (सर्वम्) सब (ते) तेरी (अस्तु) होवे, जो हमारा (घृतम्) घृतादि उत्तम पदार्थ है (तत्) उस को तू (जुषस्व) सेवन कर। जो कुछ तेरा पदार्थ है सो सब हमारा हो, जो तेरा घृतादि पदार्थ है उसको हम ग्रहण करें॥७३॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी आदि मनुष्य अपने सब पदार्थ सब के उपकार के लिये रक्खें, किन्तु ईर्ष्या से आपस में कभी भेद [भाव] न करें, जिस से सब के लिए सब सुखों की वृद्धि होवे और विघ्न न उठें। इसी प्रकार स्त्री पुरुष भी परस्पर वर्त्तें॥७३॥

यदत्तीत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः। अग्निर्देवता। विराडनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रोऽ अतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥७४॥

यत्। अत्ति। उपजिह्विकेत्युपऽजिह्विका। यत्। वम्रः। अतिसर्पतीत्यतिऽसर्पति॥ सर्वम्। तत्। अस्तु। ते। घृतम्। तत्। जुषस्व। यविष्ठ्य॥७४॥

पदार्थः—(यत्) (अत्ति) भुङ्क्ते (उपजिह्विका) उपगताऽनुकूला जिह्वा यस्याः [3]पत्न्याः सा (यत्) ([4]वम्रः) उद्गलितोदानः (अतिसर्पति) अतिशयेन गच्छति (सर्वम्)

---

१. निपूर्वो धाञ् करोत्यर्थेऽभिपूर्वस्तु भाषणे।
सम्पूर्वो मेलने प्रोक्तो निपूर्वः स्थापने मतः॥
इति स्थापनमत्र गृह्यते, स्वपार्श्वे इति शेषः॥

२. परस्परभेदभावं विहायेत्यर्थः॥७३॥

३. 'पत्न्या' इत्यध्याहारः॥

४. वमत्युद्गिरतीति व्युत्पत्या॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वम्रः) वमतीति वम्रः। स्फायितञ्चिवञ्चि० (उ० २।१३) इत्यादिना बाहुलकाद् 'रक्' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

ʃ साम्प्रतिकानां मते 'उत्तिष्ठेयुः' इति स्यात्॥ ‡ 'तुल्य तेजस्वी' इति कगपाठः॥
‡ 'कोई-कोई भी वस्तु' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

(तत्) (अस्तु) (ते) (घृतम्) (तत्) (जुषस्व) (यविष्ठ्य)। [अयं मन्त्र श० ६।६।३।६ व्याख्यातः] ॥७४॥

[1]**अन्वयः**—हे यविष्ठ्य ! त्वमुजिह्विका च यदत्ति वम्रो यदतिसर्पति तत्सर्वं तेऽस्तु, यत्ते घृतमस्ति तत्त्वं जुषस्व ॥७४॥

भावार्थः—यत्प्रति पतिः प्रवर्त्तते स्त्री वा तदनुकूलौ दम्पती स्याताम्। यत्स्त्रियाः स्वं तत्पुरुषस्य यत्पुरुषस्य तत्स्त्रिया भवतु। नात्र कथंचिद् द्वेषो विधेयः, किंतु परस्परं मिलित्वाऽऽनन्दं भुञ्जीयाताम् ॥७४॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ्य) अत्यन्त युवावस्था को प्राप्त हुए पते ! आप और (उपजिह्विका) जिस की जिह्वा इन्द्रिय अनुकूल अर्थात् वश में हो ऐसी स्त्री (यत्) जो (अत्ति) भोजन करे, (यत्) जो (वम्रः) मुख से बाहर निकाला प्राणवायु (अतिसर्पति) अत्यन्त चलता है, (तत्) वह (सर्वम्) सब (ते) तेरा (अस्तु) होवे। जो तेरा (घृतम्) घी आदि उत्तम पदार्थ है (तत्) उस को (जुषस्व) सेवन किया कर ॥७४॥

भावार्थः—जिस पुरुष से पुरुष वा स्त्री का व्यवहार सिद्ध होता हो, उस के अनुकूल स्त्री पुरुष दोनों वर्त्तें। जो स्त्री का पदार्थ है वह पुरुष का और जो पुरुष का है वह स्त्री का भी होवे। इस विषय में कभी द्वेष नहीं करना चाहिए, किन्तु आपस में मिल के आनन्द भोगें ॥७४॥

अहरहरित्यस्य *नाभानेदिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थाः परस्परं कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥७५॥

अहरहरित्यहःऽअहः। अप्रयावमित्यप्रऽयावम्। भरन्तः। अश्वायेवेत्यश्वायऽइव। तिष्ठते। घासम्। अस्मै ॥ रायः। पोषेण। सम्। इषा। मदन्तः। अग्ने। मा। ते। प्रतिवेशा इति प्रतिऽवेशाः। रिषाम ॥७५॥

(अतिसर्पति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः। शप्तिपोरनुदात्तत्वे धातुस्वरः। **उदात्तवता गतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः। **तिङि चोदात्तवति** (अ० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अत्रान्वयो भाषापदार्थश्चाप्यस्पष्ट एवोपलभ्यते। 'यद्वम्रो अतिसर्पति' इत्यस्यार्थोऽस्पष्टः ॥७४॥

---

* 'नाभानेदिॠषिः' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

पदार्थः--(अहरहः) प्रतिदिनम् (अप्रयावम्) प्रयुवत्यन्यायं यस्मिन् स प्रयावो, न विद्यते प्रयावो यस्मिन् †गृहाश्रमयोग्ये तम् (भरन्तः) धरन्तः (अश्वायेव) यथाऽश्वाय (तिष्ठते) वर्त्तमानाय (घासम्) भक्ष्यम् (अस्मै) गृहाश्रमाय (रायः) धनस्य (पोषेण) पुष्ट्या (सम्) (इषा) अन्नादिना (मदन्तः) §हर्षन्तः (अग्ने) विद्वन् (मा) (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतीता वेशा [1]धर्मप्रवेशा येषां ते (रिषाम) $हिंस्याम, अत्र लिङर्थे लुङ् । [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।८ व्याख्यातः] ॥७५॥

अन्वयः—हे अग्ने ! अहरहस्तिष्ठतेऽश्वायेवास्मा अप्रयावं घासं भरन्तो रायस्पोषेणेषा संमदन्तः प्रतिवेशाः सन्तो वयं त ऐश्वर्य्यं मा रिषाम ॥७५॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—गृहस्था यथा अश्वादिपशूनां भोजनार्थं यवदुग्धादिकमश्वपालकाः नित्यं [2]संचिन्वन्ति, तथैश्वर्य्यं समुन्नीय सुखयेयुः । धनमदेन केनचित् सहेर्ष्यां कदाचिन्न कुर्य्युः, परस्योत्कर्षं श्रुत्वा दृष्ट्वा च सदा हृष्येयुः ॥७५॥

फिर गृहस्थ लोग आपस में कैसे वर्त्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! (अहरहः) नित्यप्रति (तिष्ठते) वर्त्तमान (अश्वायेव) जैसे घोड़े के लिए घास आदि खाने का पदार्थ आगे धरते हैं, वैसे (अस्मै) इस ∫गृहाश्रम के लिए (अप्रयावम्) अन्याय से पृथक् गृहाश्रम के योग्य (घासम्) भोगने योग्य पदार्थों को (भरन्तः) धारण करते हुए, (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि तथा (इषा) अन्नादि से (संमदन्तः) सम्यक् आनन्द को प्राप्त हुए, (प्रतिवेशाः) धर्म्मविषयक प्रवेश में निश्चित हम लोग (ते) तेरे ऐश्वर्य्य को (मा रिषाम) कभी नष्ट न करें ॥७५॥

---

१. 'धर्मप्रवेशाः' इति 'वेशाः' इत्यस्य तात्पर्यार्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अप्रयावम्) उत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसाद्युदात्तत्वम् । यद्वाऽर्थप्रदर्शनमिदम् । विग्रहस्तु—न प्रयावम् अप्रयावम् । **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर आद्युदात्तत्वम् ॥

(अश्वायेव) अश्वशब्दः क्वन्प्रत्ययान्तः (उ० १।१५१), नित्त्वादाद्युदात्तः । तत **इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च** (अ० २।२।१८) इति स एव स्वरः ॥

(तिष्ठते) शतरि लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(घासम्) अद्यत इति **अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्** (अ० ३।३।१९) इति 'घञ्' । **घञपोश्च** (अ० २।४।३८) इति 'घस्लृ' आदेशः । **कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः** (अ० ६।१।१५९) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(मदन्तः) पूर्ववदत्रापि शतरि लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(प्रतिवेशाः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण **उपसर्गाश्चाभिवर्जम्** (फि० ८१) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(रिषाम) पुषादित्वादत्र 'अङ्' बोध्यः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. 'ऐश्वर्यस्य संग्रहं कुर्वन्ति' इति भावः ॥७५॥

---

† 'गृहाश्रमे' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥ § 'हर्षन्तः सन्तः' इति कपाठः ॥

$ 'हिंस्याम् । अत्र लिङर्थे लङ्' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

∫ 'गृहस्थ पुरुष के लिये' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—गृहस्थ मनुष्यों को चाहिए कि जैसे घोड़े आदि पशुओं के खाने के लिए जो दूध आदि पदार्थों को पशुओं के पालक नित्य इकट्ठे करते हैं, वैसे अपने ऐश्वर्य्य को बढ़ाके ‡सुख प्राप्त करें, और धन के अहङ्कार से किसी के साथ ईर्ष्या कभी न करें, किन्तु दूसरों की वृद्धि वा धन देख के सदा आनन्द मानें ॥७५॥

नाभेत्यस्य *नाभानेदिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरेते परस्परं कथं संवदेरन्नित्याह ॥

नाभा॑ पृथि॒व्याः स॑मिधा॒नेऽ अ॒ग्नौ रा॒यस्पोषा॑य बृह॒ते ह॑वामहे ।
इ॒र॒म्म॒दं बृ॒हदु॑क्थं॒ यज॑त्रं॒ जेता॑रम॒ग्निं पृत॑नासु सा॒स॒हिम् ॥७६॥

नाभा॑ । पृ॒थि॒व्याः । स॒मि॒धा॒न इति॑ सम्ऽइ॒धा॒ने । अ॒ग्नौ । रा॒यः । पोषा॑य । बृ॒ह॒ते । ह॒वा॒म॒हे ॥ इ॒र॒म्म॒दमिती॑रम्ऽम॒दम् । बृ॒हदु॑क्थ॒मिति॑ बृ॒हत्ऽउ॑क्थम् । यज॑त्रम् । जेता॑रम् । अ॒ग्निम् । पृत॑नासु । सा॒स॒हिम् । स॒स॒हिमिति॑ सऽस॒हिम् ॥७६॥

पदार्थः—(नाभा) नाभौ मध्ये (पृथिव्याः) ([1]समिधाने) सम्यक् प्रदीप्ते (अग्नौ) वह्नौ (रायः) श्रियः (पोषाय) पोषणकराय (बृहते) महते ([2]हवामहे) स्पर्द्धामहे (इरम्मदम्) य इरयाऽन्नेन माद्यति हृष्यति तम् । उग्रं पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च । अ० ३।२।२७ । इति खश्प्रत्ययान्तो [3]निपातः (बृहदुक्थम्) बृहन्महदुक्थं प्रशंसनं यस्य तम् (यजत्रम्) संगन्तव्यम् (जेतारम्) जयशीलम् (अग्निम्) विद्युद्वद्वर्त्तमानम् (पृतनासु) सेनासु ([4]सासहिम्) अतिशयेन सोढारम् । [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।६ व्याख्यातः] ॥७६॥

---

१. सम्पूर्वाद् **'इन्धी दीप्तौ'** (रु० आ०) इत्येतस्मात् 'शानच्' । छान्दसत्वात् शपो लुक् । **सार्वधातुकमपित्** (अ० १।२।४) इति ङित्त्वाद् **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (अ० ६।४।२४) इति न लोपः ॥

२. 'ह्वेञ्'धातोर्लटि, **बहुलं छन्दसि** (अ० ६।१।३४) इति सम्प्रसारणम् ॥

३. (क) निपातनमिति भावः ॥
(ख) ऋ० १।१६४।४५ द० भाष्ये—**'ये चाविद्वांसस्ते नामाख्यातोपसर्गान्नि जानन्ति, किन्तु निपातरूपं साधनज्ञानरहितं सिद्धं शब्दं प्रयुञ्जते'** ॥
(ग) निपातनशब्दार्थे **'निपातः'** इत्युणादिवृत्तौ (उ० ३।२८ द०) प्रायेण प्रयोगः । 'महीधरो'ऽपि **'अर्यः स्वामिवैश्ययोः'** इति निपात इत्याह २०।१७ ॥

४. **सहिवहिचलिपतिभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ** (अ० ३।२।१७१ वा०) इति 'कि' प्रत्ययः । **तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य** (अ० ६।१।७) इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(समिधाने) चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(इरम्मदम्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्यय-

---

‡ 'सुख देवें' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥ * 'नाभानेदिष्ठ ऋषिः' इति अ०मुद्रिते पाठः, अग्रेऽप्येवम् ॥

अन्वयः—हे गृहिणो ! यथा वयं बृहते रायस्पोषाय पृथिव्या नाभा समिधानेऽग्नौ पृतनासु सासहिमिरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रमग्निमिव जेतारं सेनापतिं हवामहे, तथा यूयमप्याह्वयत ॥७६॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—भूभिराज्यं †कुर्वद्भिर्जनैः शस्त्रास्त्राणि संचित्य, पूर्णबुद्धिविद्याशरीरात्मबलसहितं पुरुषं सेनापतिं विधाय निर्भयतया §प्रवर्तनीयम् ॥७६॥

फिर ये मनुष्य लोग आपस में कैसे संवाद करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे गृही लोगो ! जैसे हम लोग (बृहते) बड़े (रायः) लक्ष्मी के (पोषाय) पुष्ट करने हारे पुरुष के लिए (पृथिव्याः) पृथिवी के (नाभा) बीच (समिधाने) अच्छे प्रकार प्रज्वलित हुए (अग्नौ) [1]अग्नि में और (पृतनासु) सेनाओं में (सासहिम्) अत्यन्त सहनशील (इरम्मदम्) अन्न से आनन्दित होने वाले, (बृहदुक्थम्) बड़ी प्रशंसा से युक्त, (यजत्रम्) $संगम करने योग्य, (अग्निम्) बिजुली के समान शीघ्रता करने हारे [=शीघ्रकारी] (जेतारम्) विजयशील सेनापति पुरुष को (हवामहे) बुलाते हैं, वैसे तुम लोग भी इसको बुलाओ ॥७६॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।]

भावार्थः—पृथिवी का राज्य करते हुए मनुष्यों को चाहिए कि आग्नेय आदि अस्त्रों और तलवार आदि शस्त्रों का सञ्चय कर और पूर्ण बुद्धि तथा शरीरबल से युक्त पुरुष को सेनापति कर के निर्भयता के साथ वर्तें ॥७६॥

याः सेना इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः पुनरेते चोरादीन् प्रयत्नेन निवर्त्तयेयुरित्याह ॥

याः सेना॑ऽ अ॒भीत्व॑रीराव्या॒धिनी॒रुग॑णाऽ उ॒त ।
ये स्ते॒ना ये च तस्क॑रा॒स्ताँस्ते॑ऽ अ॒ग्नेऽपि॑दधाम्या॒स्ये ॥७७॥

स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(बृहदुक्थम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे, वर्त्तमाने पृषद्बृहत्० (उ० २।८४) इत्यतिप्रत्ययान्तो निपातित, इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(जेतारम्) जिधातोस्तृनि रूपम् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(सासहिम्) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अर्थात् भयानक अग्निकाण्ड उपस्थित होने पर ॥७६॥

† 'कुर्वन्तो मनुष्याः' इति कपाठः, गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

§ 'प्रवर्त्तन्ताम्' इति अ०मुद्रिते पाठः, स च ककोशपाठानुसारीति ज्ञेयः ॥

$ 'संग्राम' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः । 'संगम' इति कपाठः, स च सम्यक् ॥

याः । सेनाः । अभीत्वरीरित्यभिऽइत्वरीः । आव्याधिनीरित्याऽव्याधिनीः । उगणाः । उत ॥ ये । स्तेनाः । ये । च । तस्कराः । तान् । ते । अग्ने । अपि । दधामि । आस्ये ॥७७॥

पदार्थः—(याः) (सेनाः) ([1]अभीत्वरीः) आभिमुख्यं [2]राजविरोधं कुर्वतीः (आव्याधिनीः) समन्ताद् बहुरोगयुक्तास्ताडयितुं शीला वा ([3]उगणाः) उद्यतायुधसमूहाः। पृषोदरादित्वादभीष्टसिद्धिः (उत) अपि (ये) (स्तेनाः) [4]सुरङ्गं दत्वा परपदार्थापहारिणः (ये) च दस्यवः (तस्कराः) द्यूतादिकापटयेन परपदार्थापहर्त्तारः (तान्) (ते) अस्य, अत्र व्यत्ययः (अग्ने) पावकस्य (अपि) (दधामि) प्रक्षिपामि (आस्ये) प्रज्वलिते ज्वालासमूहेऽग्नौ। [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।१० व्याख्यातः] ॥७७॥

अन्वयः—हे सेनासभापते ! [5]यथाऽहं या अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाः सेनाः सन्ति, ता उत ये स्तेना ये तस्कराश्च सन्ति, ताँस्तेऽस्याग्ने पावकस्यास्येऽपिदधामि, तथा त्वमेतानि धेहि ॥७७॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—धार्मिकै राजपुरुषैर्या अनुकूलाः सेनाः प्रजाश्च सन्ति ताः सततं संपूज्या, या [6]विरोधिन्यो ये च दस्य्वादयश्चोरा दुष्टवाचोऽनृतवादिनो व्यभिचारिणो मनुष्या भवेयुः [7]तानग्निदाहाद्युद्वेजनकरैर्दण्डैर्भृशं ताडयित्वा वशं नेयाः ॥७७॥

---

१. इण्नश्जिसर्त्तिभ्यः क्वरप् (अ० ३।२।१६३) इति कर्त्तरि 'क्वरप्'। ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (अ० ६।१।७१) इति 'तुक्'। टिड्ढाणञ्० (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्'॥

२. 'राजविरोधम्' इति त्वध्याहारेण॥

३. 'उद्गणाः' इत्यस्य स्थाने 'उगणाः'॥

४. 'सुरङ्गं दत्त्वा' इति त्वाध्याहारेण॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अभीत्वरीः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण धातुस्वरः॥

(आव्याधिनीः) आङ्पूर्वाद् 'व्यधेः' आव्याधः, सोऽस्यास्तीति आव्याधी। प्रत्ययस्वरः। स्त्रियाम् आव्याधिनी, ङीपि स एव स्वरः॥

(उगणाः) उद्गता गणा आयुधसमूहा यासां ताः सेनाः, **प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदलोपश्च** (अ० २।२।२४ वा०) इति समासः। **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर आद्युदात्तत्वम्॥

(तस्कराः) तत् करोति **कियत्तद्बहुषु०** (अ० ३।२।२१) इत्यच् प्रत्ययः। **तद्बृहतोः करपत्योः०** (अ० ६।१।१५७ गणसूत्रम्) इति 'सुट्'। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्स्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वेदे प्रायेण सर्वत्राद्युदात्तस्योपलम्भात् छान्दसादाद्युदात्तत्वम्॥

यद्वा—'तसु उपक्षये' तसनम् तस्, करणं करः। तस् हिंसा करः कर्म यस्य स तस्करः, **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

(आस्ये) पूर्वं (य० २।११ पृ० १८२) व्याख्यातः॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया॥**

५. चक्रवर्त्तिनो राज्ञ एतद् वचनम्॥

६. 'सेनाः' इति भावः॥

७. 'तान्' इत्यस्य 'ताडयित्वा' इत्यनेन सह सम्बन्धः॥७७॥

राजपुरुषों को योग्य है कि अपने प्रयत्न से चोर आदि दुष्टों का बार बार निवारण करें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः– हे सेना और सभा के स्वामी ! जैसे मैं (याः) जो (अभीत्वरीः) सम्मुख होके युद्ध करने हारी, (आव्याधिनीः) बहुत रोगों से युक्त वा ताड़ना देने हारी, (उगणाः) शस्त्रों को लेके विरोध में उद्यत हुई (सेनाः) सेना हैं, उन (उत) और (ये) जो (स्तेनाः) सुरङ्ग लगा के दूसरों के पदार्थ को हरने वाले, (च) और (ये) जो (तस्कराः) द्यूत आदि कपट से दूसरों के पदार्थ लेने हारे हैं, (तान्) उनको (ते) इस (अग्ने) अग्नि की (आस्ये) जलती हुई लपट में (अपिदधामि) गेरता हूं, वैसे तू भी इन को इस में धरा कर ॥७७॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—धर्मात्मा राजपुरुषों को चाहिए कि जो अपने अनुकूल सेना और प्रजा हों, उनका निरन्तर सत्कार करें, और जो सेना तथा प्रजा विरोधी हों तथा डाकू, चोर, खोटे वचन बोलने हारे, मिथ्यावादी, व्यभिचारी मनुष्य होवें, उन को अग्नि से जलाने आदि भयंकर दण्डों से शीघ्र ताड़ना देकर वश में करें ॥७७॥

दंष्ट्राभ्यामित्यस्य *नाभानेदिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तान् कथं ताडयेयुरित्याह ॥

द॒ꣳष्ट्रा॑भ्यां म॒लिम्लू॑न् जम्भ्यै॑स्तस्क॑राँ२ऽ उ॒त ।
हनु॑भ्या॒ꣳ स्ते॒नान् भ॑गव॒स्ताँस्त्वं खा॑द सु॒खा॑दितान् ॥७८॥

द॒ꣳष्ट्रा॑भ्याम् । म॒लिम्लू॑न् । जम्भ्यैः॑ । तस्क॑रान् । उ॒त ॥ हनु॑भ्या॒मिति॒ हनु॑ऽभ्याम् । स्ते॒नान् । भ॒ग॒व॒ इति॑ भगऽवः । तान् । त्वम् । खा॒द॒ । सु॒खा॑दि॒ता॒निति॒ सुऽखा॑दितान् ॥७८॥

पदार्थः—(दंष्ट्राभ्याम्) [1]तीक्ष्णाग्राभ्यां दन्ताभ्याम् [वा] (मलिम्लून्) मलिनाचारान् सिंहादीन् [वा] (जम्भ्यैः) †जम्भेषु मुखेषु भवैर्जिह्वादिभिः [वा] (तस्करान्) चोर इव वर्त्तमानान् (उत) अपि (हनुभ्याम्) ओष्ठमूलाभ्याम् [साधनाभ्याम्] (स्तेनान्) परपदार्थापहर्तॄन् (भगवः) ऐश्वर्यसंपन्न राजन् (तान्) (त्वम्) (खाद) विनाशय [विनाशयेः वा] (सुखादितान्) अन्यायेन परपदार्थानां भोक्तॄन् । [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।१० व्याख्यातः] ॥७८॥

---

१. इत्थंगुणाभ्यां साधनाभ्याम् इति भावः । एवमेवाग्रेऽपि बोध्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(द्रंष्ट्राभ्याम्) 'दंश दशने' (भ्वा० प०) इत्यस्माद् **दाम्नीशसयुयुज······दशनहः करणे** (अ० ३।२।१८२) इति 'ष्ट्रन्' । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(मलिम्लून्) मल धारणे (भ्वा० आ०) इत्यस्माद् 'इः' प्रत्ययः, मलिः । तान् म्लोचतीति **डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्** (अ० ३।२।१८० वा०) इति डुप्रत्ययः, टिलोपे मलिम्लुशब्दः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

---

* 'नाभानेदिर्ऋषिः' इति अ०मुद्रिते पाठः, अग्रेऽप्येवम् ॥ † 'जम्भेषु सुखेषु' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

अन्वयः—हे भगवः सभासेनेश ! यथा त्वं जम्भ्यैर्दंष्ट्राभ्यां यान् मलिम्लून् तस्करान् हनुभ्यां सुखादितान् स्तेनान् खाद विनाशयेस्तान् वयमुत [1]विनाशयेम ॥७८॥

भावार्थः—राजपुरुषैर्ये गवादिहिंसकाः पशवः पुरुषाश्च ये च स्तेनास्ते विविधेन बंधनेन ताडनेन नाशनेन वा वशं नेयाः ॥७८॥

फिर उन दुष्टों को किस किस प्रकार ताड़ना करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (भगवः) ऐश्वर्य्य वाले सभा [और] सेना के स्वामी ! जैसे (त्वम्) आप (जम्भ्यैः) मुख के जीभ आदि अवयवों और (दंष्ट्राभ्याम्) तीक्ष्ण दांतों [अर्थात् ऐसे साधनों] से जिन (मलिम्लून्) मलीन आचरण वाले [अथवा] सिंह आदि को और और [ऐसे साधनों से] (तस्करान्) चोरों के समान वर्त्तमान [व्यक्तियों को नष्ट करें,] (§हनुभ्याम्) मसूड़ों से (सुखादितान्) अन्याय से दूसरों के पदार्थों को भोगने और (स्तेनान्) रात में भीति आदि फोड़-तोड़ के पराया माल मारने हारे मनुष्यों को (खाद) जड़ से नष्ट करें, वैसे (तान्) उन को हम लोग (उत) भी नष्ट करें ॥७८॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिए कि जो गौ आदि बड़े उपकार के पशुओं को मारने वाले सिंह आदि वा मनुष्य हों, उन तथा जो चोर आदि मनुष्य हैं, उनको अनेक प्रकार के बन्धनों से बांध ताड़ना दें, नष्ट कर वश में लावें ॥७८॥

ये जनेष्वित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । सेनापतिर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

पुनरेते कांस्कान् निवर्त्तयेयुरित्याह ॥

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः ॥७९॥

(जम्भ्यैः) अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् इति **'जभि जृभि अदने'** इत्यस्माद् **हलश्च** (अ० ३।३।१२१) इति करणे 'घञ्' । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । **भवे छन्दसि** (अ० ४।४।११०) इति 'यत्' । **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(**हनुभ्याम्**) हन्यतेऽनेनेति हनुः, कपोलावयवः, मृत्युर्वा (उ० १।१० वृत्ति) । वेदे आद्युदात्तदर्शाद् अनुमीयते उपरिष्टाद् (उ० १।९) 'नित्' इत्यनुवर्त्तत इति ॥

(**भगवः**) सम्बुद्धौ **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१८) इति सर्वानुदात्तत्वम् ॥

(**सुखादितान्**) अर्थप्रदर्शनमिदम् । विग्रहस्तु—सुष्ठु खादति यैः, तान् । छान्दसं पूर्वपदाद्युदात्तत्वम् । यद्वा—**आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च** (अ० ३।४।७१) इति 'क्तः', ततः **कुगतिप्रादयः** (अ० २।२।१८) इति समासे **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. प्रजाजना आहुः ॥७८॥

---

§ '(हनुभ्याम्) मसूड़ों से' इति पाठः '(तस्करान्)' इत्यतः पूर्वमासीदस्माभिरत्रानीतः ॥

ये। जनेषु। मलिम्लवः। स्तेनासः। तस्कराः। वने ॥ ये। कक्षेषु। अघायवः। अघयव इत्यघऽयवः। तान्। ते। दधामि। जम्भयोः ॥७९॥

पदार्थः—(ये) (जनेषु) मनुष्येषु (मलिम्लवः) ये मलिनाः सन्तो म्लोचन्ति §गच्छन्ति ते (स्तेनासः) गुप्ताश्चोराः (तस्कराः) प्रसिद्धाः (वने) अरण्ये (ये) (कक्षेषु)[1] सामन्तेषु (अघायवः[2]) आत्मनोऽघेन पापेनायुरिच्छवः (तान्) (ते) तव (दधामि) (जम्भयोः) बन्धने मुखमध्ये ग्रासमिव। [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।१० व्याख्यातः] ॥७९॥

अन्वयः—हे सभेश! सेनापतिरहं ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासो ये वने तस्करा ये कक्षेष्वघायवः सन्ति तांस्ते जम्भयोर्ग्रासमिव[3] दधामि ॥७९॥

भावार्थः—सेनापत्यादिराजपुरुषाणामिदमेव कर्त्तव्यमस्ति, यद् ग्रामारण्यस्थाः प्रसिद्धा अप्रसिद्धाश्चोराः, पापाचाराश्च पुरुषाः सन्ति, तेषां राजाधीनत्वं कुर्युरिति ॥७९॥

फिर ये राजपुरुष किस किस का निवारण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे सभापते! मैं सेनाध्यक्ष (ये) जो (जनेषु) मनुष्यों में (मलिम्लवः) मलीन §स्वभाव से वर्त्तमान (स्तेनासः) गुप्त चोर, जो (वने) वन में (तस्कराः) प्रसिद्ध चोर लुटेरे, और (ये) जो (कक्षेषु) कटरी आदि में (अघायवः) पाप करते हुए जीवन की इच्छा करने वाले हैं, (तान्) उन को (ते) आप के (जम्भयोः) फैलाए मुख में ग्रास के समान (दधामि) धरता हूं ॥७९॥

भावार्थः—सेनापति आदि राजपुरुषों का यही मुख्य कर्त्तव्य है कि जो ग्राम और वनों में प्रसिद्ध [अप्रसिद्ध] चोर तथा लुटेरे आदि पापी पुरुष हैं, उनको राजा के आधीन करें ॥७९॥

यो अस्मभ्यमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः। अध्यापकोपदेशकौ देवते। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

योऽ अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥८०॥

---

1. सीमासु इति भावः ॥
2. 'अघायतः, यः परस्याघमिच्छत्यघायति……' इति य० २।२६ द० भाष्ये। 'आत्मनोऽन्यायाचरणेनाघमिच्छतः' इति ऋ० १।१२०।७ द० भाष्ये। प्रकृतमन्त्रेऽप्यर्थप्रदर्शनमिदं न व्युत्पत्तिप्रदर्शनम्, अघेन पापेनेति तृतीयाप्रयोगात्, द्वितीयान्तेन प्रत्ययोत्पत्तिरिति भावः ॥ यत्तु ऋ० १।१४७।४ भाष्ये—'आत्मनोऽघमिच्छुः' तदपि 'अघम्' इति व्यसनमुच्यते, तदात्मन इच्छतीति सम्बन्धो वेदितव्यः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(कक्षेषु) कषधातोः वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः (उ० ३।६२) इति 'सः'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनामाकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(जम्भयोः) पूर्वमन्त्रे (य० ११।७८) व्याख्यातः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

3. 'ग्रासमिव' इति त्वध्याहारः ॥७९॥

---

§ 'गच्छन्ति आगच्छन्ति ते' इति कगपाठः ॥

§ 'स्वभाव से आते-जाते' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

यः । अस्मभ्यम् । अरातीयात् । अरातियादित्यरातिऽयात् । यः । च । नः । द्वेषते । जनः ॥ निन्दात् । यः । अस्मान् । धिप्सात् । च । सर्वम् । तम् । भस्मसा । कुरु ॥८०॥

पदार्थः—(यः) मनुष्यः (अस्मभ्यम्) धार्मिकेभ्यः (अरातीयात्) शत्रुत्वमाचरेत् (यः) (च) (नः) अस्मान् (द्वेषते) अप्रीतयति, अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति शपो लुगभावः (जनः) (निन्दात्) निन्देत् (यः) (अस्मान्) (धिप्सात्) दम्भितुमिच्छेत् (च) (सर्वम्) (तम्) ([1]भस्मसा) कृत्स्नम्भस्मेति भस्मसा, अत्र छान्दसो वर्णलोप इति तलोपः (कुरु) सम्पादय। [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।१० व्याख्यातः] ॥८०॥

अन्वयः—हे सभासेनेश ! त्वं यो जनोऽस्मभ्यमरातीयाद्, यो नो द्वेषते निन्दाच्च, योऽस्मान् धिप्साच्छलेच्च, तं सर्वं भस्मसा कुरु ॥८०॥

भावार्थः—अध्यापकोपदेशकराजपुरुषाणामिदं योग्यमस्ति, यदध्यापनेन शिक्षयोपदेशेन दण्डेन च विरोधस्य सततं [2]विनाशकरणमिति ।८०॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे सभा और सेना के स्वामिन् ! आप (यः) जो (जनः) मनुष्य (अस्मभ्यम्) हम धर्मात्माओं के लिए (अरातीयात्) शत्रुता करे, (यः) जो (नः) हमारे साथ (द्वेषते) दुष्टता करे (च) और हमारी (निन्दात्) निन्दा करे, (यः) जो (अस्मान्) हम को (धिप्सात्) दम्भ दिखावे, [च] और हमारे साथ छल करे, (तम्) उस (सर्वम्) सब को (भस्मसा) जला के सम्पूर्ण भस्म (कुरु) कीजिए ॥८०॥

भावार्थः—अध्यापक, उपदेशक और राजपुरुषों को चाहिए कि पढ़ाने, शिक्षा, उपदेश और दण्ड से निरन्तर विरोध का विनाश करें ॥८०॥

---

१. अत्र 'भस्मसा' इति सार्वत्रिको मूलपाठः। भाष्यकारेण तु 'भस्मसा' इत्येव पाठः पदपाठे, पदार्थे, अन्वये, भावार्थे चाभिमत इति ध्येयम्। उदयप्रकाशभाष्येऽपि मन्त्रे भाष्ये च सर्वत्र 'भस्मसा' इत्येव पाठ उपलभ्यते ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अरातीयात्) अरातीवाचर त, **उपमानादाचारे** (अ० ३।१।१०) इति 'क्यच्'। **अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः** (अ० ७।४।२५) इति दीर्घत्वम्। ततो लेटि प्रथमैकवचने रूपम्। **यद्वृतान्नित्यम्**० (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे धातुस्वरः ॥

(द्वेषते) यद्वृत्तत्वान्निघाताभावे **तास्यनुदात्तेन्ङिद्**० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(धिप्सात्) दम्भुधातोः **धातोः कर्मणः समानकर्तृ**० (अ० ३।१।७) इति 'सन्'। **सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भु**० (अ० ७।२।४९) इति पक्ष इडभावः। **सन्यङोः** (अ० ६।१।९) इति द्विर्वचने **दम्भ इच्च** (अ० ७।२।५६) इति इत्वम्, अभ्यासलोपः। **हलन्ताच्च** (अ० १।२।१०) इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सनः कित्त्वे **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (अ० ६।४।२४) इत्यनुनासिकलोपः। **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** (अ० ८।२।३७) इति धकारादेशे, **खरि च** (अ० ८।४।५५) इति चर्त्वे 'धिप्स' इति रूपम्। ततो लेटि रूपम्। धातोरन्तोदात्तत्वे प्राप्ते सनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(भस्मसा) **विभाषा साति कार्त्स्न्ये** (अ० ५।४।५२) इति 'साति' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः। छान्दसस्तकारलोपः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. 'विनाशं कुर्याद्' इत्यर्थः ॥८०॥

संशितमित्यस्य *नाभानेदिष्ठ ऋषिः । पुरोहितयजमानौ देवते ।
†भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ पुरोहितो यजमानादिभ्यः किं किमिच्छेत्कुर्याच्चेत्याह ॥

सꣳशि॑तं मे॒ ब्रह्म॒ सꣳशि॑तं वी॒र्य॑ꣳ बल॑म् ।
सꣳशि॑तं क्ष॒त्रं जि॒ष्णु य॒स्याह॒मस्मि॑ पु॒रोहि॑तः ॥८१॥

सꣳशि॑त॒मिति॑ सम्ऽशि॑तम् । मे॒ । ब्रह्म॑ । सꣳशि॑त॒मिति॑ सम्ऽशि॑तम् । वी॒र्य॑म् । बल॑म् ॥ सꣳशि॑त॒मिति॑ सम्ऽशि॑तम् । क्ष॒त्रम् । जि॒ष्णु । यस्य॑ । अ॒हम् । अस्मि॑ । पु॒रोहि॑त॒ इति॑ पु॒रःऽहि॑तः ॥८१॥

पदार्थः—(संशितम्) [1]**प्रशंसनीयम्** (मे) **मम यजमानस्य** (ब्रह्म) वेदविज्ञानम् (संशितम्) (वीर्य्यम्) पराक्रमः (बलम्) (संशितम्) (क्षत्रम्) क्षत्रियकुलम् (जिष्णु) जयशीलम् (यस्य) जनस्य (अहम्) (अस्मि) (पुरोहितः) **यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति सः** । पुरोहितः पुर एनं दधति । निरु० २।१२ । [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।१४ व्याख्यातः] ॥८१॥

अन्वयः—अहं यस्य पुरोहितोऽस्मि, **तस्य** मे §**मम च** संशितं $ब्रह्म **तस्य च** संशितं वीर्य्यं संशितं बलं संशितं जिष्णु क्षत्रं **चास्तु** ॥८१॥

भावार्थः—**यो यस्य पुरोहितो यजमानश्च भवेत् तावन्योऽन्यस्य यया विद्यया योगबलेन, धर्माचरणेन चात्मोन्नतिर्ब्रह्मचर्य्येण जितेन्द्रियत्वेनारोग्येण च शरीरस्य बलं वर्धेत, तदेव कर्म सततं कुर्याताम्** ॥८१॥

अब पुरोहित यजमानादि से किस किस पदार्थ की इच्छा करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (यस्य) जिस यजमान पुरुष का (पुरोहितः) प्रथम धारण करने हारा (अस्मि) हूं, उसका और (मे) मेरा (संशितम्) प्रशंसा के योग्य (ब्रह्म) वेद का विज्ञान और उस यजमान का (संशितम्) प्रशंसा के योग्य (वीर्य्यम्) पराक्रम, प्रशंसित (बलम्) बल, (संशितम्) और प्रशंसा के योग्य (जिष्णु) जय का स्वभाव वाला (क्षत्रम्) क्षत्रियकुल होवे ॥८१॥

---

१. तीक्ष्णीकृतं प्रशंसनीयमित्यर्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(संशितम्) 'शो तनूकरणे' (दि० प०), ततः सम्पूर्वात् 'क्तः' । गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(बलम्) पूर्वं (य० ६।१६ पृ० ७६५) व्याख्यातः । बकारवकारयोर्भ्रमसम्भवात् दन्त्योष्ठ्यविधिग्रन्थेऽनयोर्भेदमाह — 'आद्युदात्ते बले वाणे बिलशब्दे तथैव च' । (अथर्ववेदीय दन्त्योष्ठ्यविधि) । अनेनाद्युदात्तो बकारादिः,

---

* 'नाभानेदिष्ठ ऋषिः इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

† 'निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

§ 'मम तस्य च' इति अ०मुद्रिते पाठः, स चासम्यक् । एषु 'तस्य' इति पदं ककोशे नास्त्येव । स च गकोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

$ 'ब्रह्म मे तस्य च' इति अ०मुद्रिते पाठः, स चासम्बद्धः ॥

भावार्थः—जो जिसका पुरोहित और जो जिसका यजमान हो, वे दोनों आपस में जिस विद्या से योगबल, और धर्माचरण से आत्मा की उन्नति, और ब्रह्मचर्य्य जितेन्द्रियता तथा आरोग्यता से शरीर का बल बढ़े, वही कर्म निरन्तर किया करें ॥८१॥

उदेषामित्यस्य *नाभानेदिष्ठ ऋषिः । सभापतिर्यजमानो देवता ।
विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्यजमानः पुरोहितं प्रति कथं वर्त्ततेत्याह ॥

उदे॑षां बा॒हूऽ अति॑र॒मुद्वर्चो॒ऽ अथो॒ बल॑म् ।
क्षि॒णोमि॒ ब्रह्म॑णा॒मित्रा॒नुन्न॑यामि॒ स्वाँ२ऽ अ॒हम् ॥८२॥

उत् । ए॒षाम् । बा॒हूऽइति॑ बा॒हू । अति॑र॒म् । उत् । वर्चः॑ । अथो॒ऽइत्यथो॑ । बल॑म् ॥ क्षि॒णोमि॑ । ब्रह्म॑णा । अ॒मित्रा॑न् । उत् । न॒या॒मि॒ । स्वान् । अ॒हम् ॥८२॥

पदार्थः—(उत्) (एषाम्) पूर्वोक्तानां चोरादीनां दुष्कर्मकारिणाम् (बाहू) बलवीर्य्ये (अतिरम्) सन्तरेयमुल्लङ्घेयम् (उत्) (वर्चः) तेजः (अथो) आनन्तर्ये (बलम्) सामर्थ्यम् (क्षिणोमि) हिनस्मि (ब्रह्मणा) [1]**वेदेश्वरविज्ञानप्रदानेन (अमित्रान्) शत्रून् (उत्) (नयामि) ऊर्ध्वं बध्नामि (स्वान्) स्वकीयान् (अहम्)** । [अयं मन्त्रः श० ६।६।३।१५ व्याख्यातः] ॥८२॥

अन्वयः—अहं यजमानः पुरोहितो वा ब्रह्मणैषां बाहू उदतिरम् । [**एषां**] वर्चो बलममित्रांश्च [उत्] क्षिणोम्यथो स्वान् सुहृदो वर्चो बलं चोन्नयामि प्रापयामि ॥८२॥

भावार्थः—राजादिभिर्यजमानैः पुरोहितादिभिश्च पापिनां सर्वस्वक्षयो धर्मात्मनां सर्वस्ववृद्धिश्च सर्वथा कार्य्या ॥८२ ॥

फिर यजमान पुरोहित के साथ कैसे वर्त्ते, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं यजमान वा पुरोहित (ब्रह्मणा) वेद और ईश्वर के ज्ञान से (एषाम्) इन पूर्वोक्त चोर आदि दुष्टों के (बाहू) बल और पराक्रम को (उदतिरम्) अच्छे प्रकार उल्लंघन करूं । [इनके] (वर्चः) तेज तथा (बलम्) सामर्थ्य को, और

अन्तोदात्तो वकारादिरिति वेदे सार्वत्रिको विभागो ज्ञेयः ॥

(जिष्णुः) ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः (अ० ३। २।१३९) इति 'ग्स्नु' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥८१॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।**

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(क्षिणोमि) पादादित्वान्निघाताभावे विकरणस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. वेदेनेत्यर्थः ॥८२॥

---

* 'नाभानेदिॠषिः' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

(अमित्रान्) शत्रुओं को (उत्क्षणोमि) मारता हूं। (अथो) इस के पश्चात् (स्वान्) अपने मित्रों के तेज और सामर्थ्य को (उन्नयामि) †बढ़ाता हूं ॥८२॥

भावार्थः—राजा आदि यजमान तथा पुरोहितों को चाहिए कि पापियों के सब पदार्थों का नाश और धर्मात्माओं के सब पदार्थों की वृद्धि सदैव सब प्रकार से किया करें ॥८२॥

अन्नपत इत्यस्य *नाभानेदिष्ठ ऋषिः। यजमानपुरोहितौ देवते।
उपरिष्टाद् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

अथ मनुष्यैः कथं कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिषऽ ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥८३॥

अन्नपत इत्यन्नऽपते। अन्नस्य। नः। देहि। अनमीवस्य। शुष्मिणः॥ प्रप्रेति प्रऽप्र। दातारम्। तारिषः। ऊर्जम्। नः। धेहि। द्विपद इति द्विऽपदे। चतुष्पदे। चतुःपद इति चतुःऽपदे ॥८३॥

पदार्थः—(अन्नपते) अन्नानां पालक (अन्नस्य) (नः) अस्मभ्यम् (देहि) (अनमीवस्य) रोगरहितस्य सुखकरस्य (शुष्मिणः) बहु शुष्मं बलं भवति यस्मात् तस्य (प्रप्र) अतिप्रकृष्टतया (दातारम्) (तारीषः) संतर (ऊर्जम्) पराक्रमम् (नः) अस्माकम् (धेहि) (द्विपदे) द्वौ पादौ यस्य मनुष्यादेस्तस्मै (चतुष्पदे) चत्वारः पादा यस्य गवादेस्तस्मै। [अयं मन्त्रः श० ६।६।४।७ व्याख्यातः] ॥८३॥

अन्वयः—हे अन्नपते यजमान पुरोहित वा! त्वं नोऽनमीवस्य शुष्मिणोऽन्नस्य प्रप्रदेहि। अस्याऽन्नस्य दातारं तारिषः। नोऽस्माकं द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं धेहि ॥८३॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अन्नपते) कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उ० ३।१०) इति अनितेर्नः प्रत्ययो नित्त्वादाद्युदात्तत्वं च। उज्ज्वलदत्तस्तु अदोऽनन्ने (अ० ३।२।६८) इति निपातनाद् अदेर्जग्धादेशाभावेऽनिग्रहणं प्रपञ्चार्थमित्याह; तच्चिन्त्यम्, । तथा सति अन्तोदात्तत्वप्रसक्तेः, अत एव श्वेतवनवासिना स्वरार्थं व्युत्पादनमित्युक्तम्।

महाभाष्यकारस्तु 'यदि तावददेरन्नम्' (महा० ५।१।११९) इति वचनात् अदेरप्याह। तथा च तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्—'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'। (तै०उ०२।१०)।

अन्नशब्दस्य पतिना समासे सति पत्यावैश्वर्ये (अ० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण स एवाद्युदात्तः स्वरः। इह तु आमन्त्रितत्वेऽपि स एव स्वरः॥

(अन्नस्य) उपरि व्याख्यातः॥

(शुष्मिणः) अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति 'इन्' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

† 'वृद्धि के साथ प्राप्त करूं' इति अ०मुद्रिते पाठः॥
* 'नाभानेदिर्ऋषिः' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैवारोग्यबलकारकमन्नं [1]स्वैर्भोक्तव्यमन्येभ्यः प्रदातव्यं च । मनुष्याणां पशूनां च सुखबले संवर्धनीये, यत ईश्वरसृष्टिक्रमानुकूलाचरणेन सर्वेषां सुखोन्नतिः सदा वर्धेत ।।८३।।

अत्र गृहस्थराजपुरोहितसभासेनाधीशप्रजाजनकर्त्तव्यकर्मादिवर्णनादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह संगतिरस्तीत्यवगन्तव्यम् ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्य
एकादशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।११।।

अब मनुष्यों को इस संसार में कैसे कैसे वर्त्तना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे (अन्नपते) ओषधि अन्नों के पालन करने हारे यजमान वा पुरोहित ! आप (नः) हमारे लिए (अनमीवस्य) रोगों के नाश से सुख को बढ़ाने, (शुष्मिणः) बहुत लकारी (अन्नस्य) अन्न को (प्रप्रदेहि) अतिप्रकर्ष के साथ दीजिए, और इस अन्न के (दातारम्) देने हारे को (तारिषः) [2]तृप्त कर, तथा (नः) हमारे (द्विपदे) दो पग वाले मनुष्यादि तथा (चतुष्पदे) चार पगवाले गौ आदि पशुओं के लिए (ऊर्जम्) पराक्रम को (धेहि) धारण कर ।।८३।।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिए कि सदैव बलकारी आरोग्य अन्न आप सेवें और दूसरों को देवें। मनुष्य तथा पशुओं के सुख और बल बढ़ावें, जिससे ईश्वर की सृष्टि-क्रमाऽनुकूल आचरण से सब के सुखों की सदा उन्नति होवे ।।८३।।

इस अध्याय में गृहस्थ, राजा के पुरोहित, सभा और सेना के अध्यक्ष और प्रजा के मनुष्यों को करने योग्य कर्म आदि के वर्णन से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिए ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्य
एकादशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।११।।

* इत्येकादशोऽध्यायः *

१. स्वयमित्यर्थः ।।   २. 'तार दो' इति भावः ।।८३।।

अथ द्वादशोऽध्यायः

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न ऽआ सुव ॥१॥

दृशान इत्यस्य वत्सप्री ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

तत्रादौ विद्वद्गुणानाह ॥

दृशानो रुक्मऽ उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतोऽ अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनय सुरेताः ॥१॥

दृशानः । रुक्मः । उर्व्या । वि । अद्यौत् । दुर्मर्षमिति दुःऽमर्षम् । आयुः । श्रिये । रुचानः ॥ अग्निः । अमृतः । अभवत् । वयोभिरिति वयःऽभिः । यत् । एनम् । द्यौः । अजनयत् । सुरेता इति सुऽरेताः ॥१॥

पदार्थः—(दृशानः) दर्शकः (रुक्मः) दीप्तिमान् (उर्व्या) महत्या पृथिव्या सह (वि) (अद्यौत्) द्योतयति) (दुर्मर्षम्) दुःखेन मर्षितुं सोढुं शीलम् (आयुः) [1]अन्नम् आयुरित्यन्ननामसु पठितम् ॥ निघ० २।७। (श्रिये) शोभायै (रुचानः) रोचकः (अग्निः) कारणाख्यः पावकः (अमृतः) नाशरहितः (अभवत्) भवति ([2]वयोभिः) यावज्जीवनैः (यत्) यम् (एनम्) (द्यौः) [3]विज्ञानादिभिः प्रकाशमानः (अजनयत्) जनयति (सुरेताः) शोभनानि रेतांसि वीर्याणि यस्य सः । [अयं मन्त्रः श० ६।७।२।१-२ व्याख्यातः] ॥१॥

---

१. 'अत्तुं योग्यं वस्तु' इत्यन्नपदेनात्र ग्राह्यम् । 'जीवनम्' इति य० १२।२५ व्याख्याने । 'ज्ञानं जीवनं वा' ऋ० १।९४।१६ भाष्य आचार्यो व्याचष्टे ॥

२. 'सम्पूर्णायुषा' इत्यर्थः ॥

३. विज्ञानसाधनैः किरणैरित्यर्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दृशानः) युधिबुधिदृशः किच्च (उ० २।९०) इति 'आनच्' । चित्त्वादन्तोदात्तः । कित्त्वाद् गुणाभावः । कर्त्तरियं प्रत्ययः ॥

(रुक्मः) युजिरुचितिजां कुश्च (उ० १।१४६) इकि 'मक्' प्रत्ययः, धात्वन्तस्य कुत्वं च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अद्यौत्) द्युतेः छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) इति सामान्यकाले लुङ् । द्युद्भ्यो लुङि (अ० १।३।९१) इति परस्मैपदम् । पुगन्तलघूपधस्य च (अ० ७।३।८६) इति गुणप्राप्तौ छान्दसी वृद्धिः । वस्तुतस्तु

[1]अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा दृशानो द्यौरग्निः सूर्य उर्व्या सह [2]सर्वान्मूर्त्तान् पदार्थान् व्यद्यौत्, तथा यः श्रिये रुचानो रुक्मो [[3]विद्वत्] जनोऽभवद् यश्च* सुरेता [4]अमृतो दुर्मर्षमायुरजनयद् वयोभिः[5] सह [यद्] यमेनं विद्वांसमजनयत् तं यूयं सततं सेवध्वम् ॥१॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

'द्यु अभिगमने' (अदा० प०) इत्येतस्माल्लङि उतो वृद्धिर्लुकि हलि (अ० ७।३।८९) इति वृद्धौ सम्यक्तरं स्यात् ॥

यत्तु सायणभाष्ये (ऋ० १।१२२।१५) 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (अ० ७।२।१) इति वृद्धिः' इत्याद्युक्तम्, तत्त्वसाधुः, सिचि वृद्धि० (अ० ७।२।१) इति वृद्धे रिगन्तलक्षणत्वात् सर्वथाप्यसम्भव एव ॥

यच्च ऋ० १०।१११।२ सायणभाष्ये च्लेर्लुक् छान्दसः, हलन्तलक्षणा वृद्धिरपि'। तदप्यकिञ्चित्करम्, वृद्धेः सिज्निमित्तत्वात्, न चेह सिज्भवति च्लेर्लुका तन्निमित्तस्यापहारात् ॥

यदपि ऋ० १।११३।४ सायण भाष्ये—'व्यत्ययेन च्लेर्लुक्,गुणे प्राप्ते वृद्धिश्छान्दसी'। तत्तु सम्यगेव ।

यत्तु पूना वैदिकसंशोधनमण्डलतः प्रकाशिते सायणभाष्ये (ऋ० १।१२२।१५ पृ० ७७७) टिप्पणे 'भ ज ट वदव्रजेति वृद्धिः' इत्युक्तम् । तत्तु सम्यगेव । पाठभेदादिविचारप्रकरणे (पृ० १६)चापि यदुक्तं, तत् सर्वं सम्पादकस्य योग्यतासूचकमेव ॥ परञ्चात्रेदवमधेयम्—३४ हस्तलेखानां मध्ये केवलं भ ज ट एतेषु त्रिष्वेव हस्तलेखेषूपर्युक्तपाठ उपलभ्यते । एषु प्रथमौ केरललिप्यां लिखितौ स्तः, अपरश्च ग्रन्थाक्षरेषु । अतीव त्रुटिता इमे हस्तलेखा न च प्राचीना इत्यपि ध्येयम् । सर्वमेवेदमनवधानपरमिति मन्येतेति तु शोभनतरं स्यात् । 'धावतः स्खलनं न दोषाय भवति' इत्येव शोभनः समाधिः ॥

महीधरोऽप्यस्यैव मन्त्रस्य व्याख्यान आह—'द्युत द्योतने व्यत्ययेन शपि लुप्ते वृद्धौ लङि रूपम्' । तदसत्, वृद्धेरसम्भवात् । गुणस्तु प्राप्तः, स केन बाध्यते इति वक्तव्यमासीत् ॥

(दुर्मर्षम्) ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (अ० ३।३।१२६) इति 'खल्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् ॥

(रुचानः) युधिबुधिदृशः किच्च (उ० २।९०) इत्यनेन विहित 'आनच्' बाहुलकाद् रुचेरपि द्रष्टव्यः । कित्वाद् गुणाभावः । अयमपि कर्त्तरि ॥

(सुरेताः) सोर्मनस अलोमोषसी (अ० ६।२।११७) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ।

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अग्रे य० १२।२५ अयमेव मन्त्रो व्याख्यायते, कोऽनयोः परस्परं भेद इति प्रदर्श्यते—

अत्र मन्त्रे विद्वद्गुणा उच्यन्ते, तत्र तु 'किं किं वेद्यम्' इति भेदः । तेनात्रान्वये 'द्यौः' इति पदं भौतिकाग्निविशेषणत्वेन वर्त्तते । तत्र तु 'द्यौरेनमग्निमजनयत्' इति परमेश्वरोऽग्निं जनयतीति भेदोऽवगन्तव्यः । किं च तत्र विनापि वाचकलुप्तोपमालङ्कारेणायमेव मन्त्रो व्याख्यायते, इति चाप्यर्थभेदः ॥

२. सर्वान् मूर्त्तान् पदार्थान् इत्यध्याहारः ॥

३. सङ्गतौ 'विद्वद्गुणानाह' इति वचनात् ॥

४. आत्मा हि स्वरूपेण नित्य इति भावः ॥

५. वयं त्वत्रेत्थमवबुध्यामहे—'वयोभिः(पूर्णायुषा) सह यद् य एनं पूर्वोक्तगुणविशिष्टं विद्वांसमजनयत् तं महाविद्वांसं पुरुषं यूयं सततं सेवध्वम् ॥

---

* 'यश्च' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् । तथैवाग्रे 'वयोभिः' इतः पूर्वं 'यश्च' इति कगकोशयोरासीत्, सोऽपि मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

भावार्थः—यथाऽस्मिन् जगति सूर्योदयः सर्वे पदार्थाः [1]स्वदृष्टान्तैः परमेश्वरं निश्चाययन्ति, तथा [विद्वन्–] मनुष्या अपि भवेयुः[2] ॥१॥

अब बारहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है, उस के प्रथम मन्त्र में विद्वानों के गुणों का उपदेश किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (दृशानः) दिखलाने हारा (द्यौः) †विज्ञान [साधक किरणों] द्वारा प्रकाशमान (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (उर्व्या) अति स्थूल [अर्थात् महती] भूमि के साथ सब मूर्त्तिमान् पदार्थों को (व्यद्यौत्) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है, वैसे जो (श्रिये) §सौभाग्यलक्ष्मी के अर्थ (रुचानः) रुचिकर्त्ता (रुक्मः) सुशोभित [विद्वान्] जन (अभवत्) होता [है], और$ जो (सुरेताः) उत्तम वीर्ययुक्त (∫अमृतः) नाशरहित (दुर्मर्षम्) शत्रुओं‡ से [3]दुःख से निवारण के योग्य (‡आयुः) अन्नादि पदार्थों को (अजनयत्) प्रकट करता है, (वयोभिः) ⸸जीवनों के साथ (=सम्पूर्ण आयु लगाकर) [यत्] जो (एनम्) §§इस विद्वान् [4]को प्रकट करता हो, उस [विद्वान्] को तुम सदा ∫∫निरन्तर सेवन करो ॥१॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे इस जगत् में सूर्य आदि सब पदार्थ अपने अपने दृष्टान्त से परमेश्वर को निश्चय कराते हैं, वैसे ही [विद्वान्] मनुष्यों को होना चाहिए[5] ॥१॥

---

१. 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यम्, स दृष्टान्तः'। गौतम न्यायसूत्र १।१।२५ ॥ तथा चात्र भाष्यकारः—'यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः' ॥

२. 'परमेश्वरस्य निश्चायका' इति शेषः ॥

३. अर्थात् जिसको शत्रुगण सहसा नाश न कर सकें ॥

४. पूर्वोक्त गुणों से युक्त विद्वान् को जो महाविद्वान् सम्पूर्ण आयु लगाकर योग्य बनाता है, उस महाविद्वान् का तुम निरन्तर सेवन करो ॥

५. अर्थात् वैसे ही विद्वान् लोग भी परमेश्वर के निश्चय को कराने वाले हों ॥१॥

---

† 'स्वय प्रकाशस्वरूप' इति अ०मुद्रिते पाठः। स च संस्कृतपदार्थाननुसारीति ध्येयम् ॥

§ 'शोभा वा' इति कपाठः। '(रुचानः) सौभाग्यलक्ष्मी के अर्थ' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

$ 'और जो' इति गकोशे त्यक्तः, ककोशे त्वस्ति ॥

∫ '(अमृतः) नाशरहित' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

‡ 'शत्रुओं से' इति कगकोशयोःपाठः, प्रथमसंस्करणे चापि। 'शत्रुओं के' इति द्वितीयसंस्करणेऽपपाठः ॥

‡ '[आयुः]जीवन को' इति अ०मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः। स च संस्कृतपदार्थाननुसारीति ध्येयम् ॥

⸸ 'अवस्थाओं के साथ' इति अ०मुद्रिते पाठः। स च संस्कृताननुसारीति संशोधितः ॥ 'जीवनों के साथ' इति कपाठः। स च सम्यक् ॥

§§ 'इस विद्वान् को प्रसिद्ध करता है' इति कगपाठः ॥ ∫∫ 'निरन्तर' इति कगकोशयोर्नास्ति ॥

नक्तोषासेत्यस्य कुत्स ऋषिः । अग्निर्देवता । *आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

†विद्युद्गुणानाह ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳ समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽ अन्तर्विभाति देवाऽ अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥२॥

नक्तोषासा । नक्तोषसेति नक्तोषसा । समनसेति सऽमनसा । विरूपे इति विऽरूपे । धापयेते इति धापयेते । शिशुम् । एकम् । समीची इति सम्ऽईची ॥ द्यावाक्षामा । रुक्मः । अन्तः । वि । भाति । देवाः । अग्निम् । धारयन् । द्रविणोदा इति द्रविणःऽदाः ॥२॥

पदार्थः—([1]नक्तोषासा) नक्तं §रात्रिश्चोषा दिनं च ते (समनसा) समानं मनो $विज्ञानं ययोस्ते (विरूपे) तमःप्रकाशाभ्यां विरुद्धरूपे (धापयेते) पाययतः (शिशुम्) बालकम् (एकम्) असहायम् (समीची) ये सम्यगञ्चतः सर्वान् प्राप्नुतस्ते (द्यावाक्षामा) प्रकाशभूमी । अत्रान्येषामपि० [अ० ६।३।१३६] इति दीर्घः (रुक्मः) रुचिकरः ([2]अन्तः)

---

१. **अहोरात्रे वै नक्तोषासा ॥ श० ६।७।२।३ ॥** अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने ॥

२. अत्र 'अन्तः' इति पदं क्रियाविशेषणम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नक्तोषासा) मकारलोप उपधादीर्घत्वं च छान्दसम् । **देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२। १४१)** इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः ॥

(समनसा) समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु (अ० ६।३।८४) इति सादेशः, स चोदात्तो निपातितः । **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१)** इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(विरूपे) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाद्वितीयाकृत्याः (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(धापयेते) निगरणचलनार्थेभ्यश्च (अ० १।३।८७) इत्यादिना प्राप्तं परस्मैपदं **पादिषु धेट उपसंख्यानम् (अ० १।३।८९ वा०)** इति वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते । पादादित्वान्निघाताभावः । **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाद्० (अ० ६।१।१८६)** इत्यादिना लसार्वधातुकानुदात्तत्वे णिजन्तस्य धातुस्वरः ॥

(समीची) पूर्वं (य० ११।३) व्याख्यातः ॥

(द्यावाक्षामा) देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२। १४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः ॥

(धारयन्) लेटि रूपम् । **तिङ् ङतिङः (अ० ८।१।२८)** इति निघातः । यद्वा **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६)** इति कालसामान्ये लङ् । अडभावश्छान्दसः ॥

(द्रविणोदाः) पूर्वं (य० ११।२१) विस्तरेण व्याख्यातस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'भुरिगार्षी त्रिष्टुप्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'पुनस्तमेव विषयमाह' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । पूर्वमन्त्रे 'विद्वद्गुणानाह' इत्युक्तम् । अत्र मन्त्रे अग्निशब्देन विद्युद् गृह्यते, अतः 'विद्युत्गुणानाह' इत्येवात्र साधीयान् स्यात् ॥

§ 'रात्रि चोषा च' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

$ 'विचारणं' इति कपाठः ॥

आभ्यन्तरे (वि) (भाति) प्रकाशते (देवाः) दिव्याः [1]प्राणाः (अग्निम्) विद्युतम् (धारयन्) धारयेयुः [धारयन्ति वा] (द्रविणोदाः) ये द्रविणं बलं ददति ते । द्रविणोदाः कस्माद्धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति, बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति, तस्य दाता द्रविणोदाः ॥ निरु० ८।१ । [अयं मन्त्रः श० ६।७।२।३ व्याख्यातः] ॥२॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यमग्निं द्रविणोदा देवा धारयन्, यो रुक्मः सन्नन्तर्विभाति ∫यं समनसा विरूपे समीची द्यावाक्षामा नक्तोषासा ‡यथैकं शिशुं द्वे [2]मातरौ धापयेते ‡तथा [रक्षतः] तं वर्त्तमानं [भवन्तो] विजानन्तु ॥२॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा जननी धात्री च बालकं पालयतस्तथाहोरात्रौ सर्वान् पालयतः । यश्च विद्युद्रूपेणाभिव्याप्तोऽस्ति, सोऽग्निः सूर्य्यादेः कारणमस्तीति सर्वे निश्चिन्वन्तु ॥२॥

ǂविद्युत् के गुणों का विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जिस (अग्निम्) बिजुली को (द्रविणोदाः) बलदाता (देवाः) दिव्य प्राण (धारयन्) धारण करें [वा करते हैं], जो (रुक्मः) रुचिकारक हो के (अन्तः) ∫∫सब पदार्थों के मध्य में (विभाति) प्रकाशित होता है, §§जिस की (समनसा) समान विचार से विदित (विरूपे) अन्धकार और प्रकाश से ‡‡विरुद्ध रूपयुक्त (समीची) सब प्रकार सब को प्राप्त होने वाली (द्यावाक्षामा) प्रकाश और भूमि तथा (नक्तोषासा) रात्रि और दिन जैसे (एकम्) ‡‡असहाय एक (शिशुम्) बालक को दो माता [जननी और धायी] (धापयेते) दूध पिलाती हैं, वैसे [रक्षा करते हैं], उस [अग्नि] को तुम लोग जानो ॥२॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

---

१. 'देवाः प्राणाः' इति (श० ६।७।२।३) अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने ॥

२. (क) 'मातरौ धापयेते', माता च धात्री च पाययतः पालयतो वा, यथा च भावार्थे पश्यामः ॥

(ख) रुग्णाया निर्बलाया वा मातुः शिशुं धात्री दुग्धं पाययेत् इति भावः । तथा सति शिशोर्द्वे मातरौ भवतः, जननी धात्री चापि ॥२॥

∫ 'यः समनसा······' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

‡ 'यथा······तथा' इति पदे गकोशे न स्तः, भाषापदार्थेऽपीति ध्येयम् ॥

‡ 'तथा वर्त्तमानं तं विजानन्तु' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

ǂ 'फिर भी वही'० इति अ०मुद्रिते पाठः । अस्मिन् विषये पूर्वपृष्ठस्था टि० २ द्रष्टव्या ॥

∫∫ 'अन्तःकरण में' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

§§ 'जो (समनसा) एक विचार से विदित' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

‡‡ 'विरुद्ध रूप' इति गपाठः, अ०मुद्रिते च, ककोशे 'रूप' इति नास्ति ॥

‡‡ 'एक' इति अ०मुद्रिते पाठः । संस्कृते 'असहायः' इति वर्त्तते । 'असहायी' इति कपाठः । स च सम्यक् ॥

भावार्थः—जैसे जननी माता और धायी बालक को दूध पिलाती हैं, वैसे ही दिन और रात्रि सब की रक्षा §§करते हैं, और जो **बिजुली रूप से सर्वत्र व्यापक है, ∫∫∫वह अग्नि सूर्यादिक का कारण है, इस बात को तुम सब निश्चय§§§ से जानो ॥२॥

विश्वा रूपाणीत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । सविता देवता । विराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथाग्रे [1]परमात्मनः [सूर्यस्य वा] कृत्यमुपदिश्यते ॥

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥३॥

विश्वा । रूपाणि । प्रति । मुञ्चते । कविः । प्र । असवीत् । भद्रम् । द्विपद इति द्विऽपदे । चतुष्पदे । चतुःपद इति चतुःऽपदे ॥ वि । नाकम् । अख्यत् । सविता । वरेण्यः । अनु । प्रयाणम् । प्रयानमिति प्रऽयानम् । उषसः । वि । राजति ॥३॥

पदार्थः—(विश्वा) सर्वाणि ([2]रूपाणि) (प्रति[3]) (मुञ्चते) (कविः[4]) क्रान्तदर्शनः क्रान्तप्रज्ञः सर्वज्ञो वा (प्र) (असावीत्) उत्पादयति [प्रेरयति वा] (भद्रम्)

१. श्लेषालङ्कारेणान्वये पदार्थे च परमात्मनः सूर्यस्य चोभयोरपि ग्रहणादत्रापि तयोर्ग्रहणं स्यादिति हेतोः परमात्मनः [सूर्यस्य वा] इत्येवं भवितव्यम् । तथैव भावार्थसङ्गतावपीति । श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽप्यर्थः पृथक् पृथगपि प्रदर्शयितुं शक्यते ॥

२. **'रूपाणि प्रज्ञानानि' इति निरु० १२।१३** अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने यास्केनोच्यते । तच्चात्राध्यात्मिकार्थे सम्यगन्वेतीति ॥

३. प्रतिमुञ्चते स्वस्मिन् स्वीकरोति, व्यवस्थायां स्थापयतीत्यर्थः, धारयतीति वा ॥

४. **'असौ वा आदित्यः कविः ॥ श० ६।७।२।५ ॥** अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(कविः) पूर्वं (य० ४।२५) व्याख्यातः ॥

(द्विपदे चतुष्पदे) पूर्वं (य० ६।३१) व्याख्याते एते पदे ॥

(प्रयाणम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे **लिति** (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तमिति धातुरुदात्तः । तत **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्युदात्तत्वम् । **कृत्यचः** (अ० ८।४।२९) इति णत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

§§ 'करती है' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'करते हैं' इति कपाठः ॥

** 'बिजुली के स्वरूप से सर्वत्र व्यापक' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

∫∫∫ 'वह अग्नि सूर्यादि का कारण है' इति संस्कृतानुसारी पाठः । स च ककोशे अस्ति, गकोशे प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

§§§ 'निश्चय करो' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

*भजनीयं सुखम् (द्विपदे) [1]मनुष्याद्याय (चतुष्पदे) [1]गवाद्याय (वि) (नाकम्) सर्व-दुःखरहितं ([2]अख्यत्) प्रकाशयति (सविता) सकलजगत्प्रसविता जगदीश्वरः सूर्यो वा (वरेण्यः) स्वीकर्त्तुमर्हः (अनु) (प्रयाणम्) प्रकृष्टं प्रापणम् (उषसः) प्रभातस्य (वि) (राजति) प्रकाशते[3] । [अयं मन्त्रः श० ६।७।२।४ व्याख्यातः] ॥३॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो वरेण्यः कविः सवितोषसः प्रयाणमनुविराजति विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते । द्विपदे चतुष्पदे नाकं व्यख्यत् भद्रं प्रासावीत् तमीदृशमुत्पादकं सूर्यं परमेश्वरं [वा] विजानीत[4] ॥३॥

[5]अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—येन जगदीश्वरेण सकलरूपप्रकाशकः प्राणिनां सुखहेतुः प्रकाशमानः सूर्य्यो रचितस्तस्यैव भक्तिं सर्वे मनुष्याः कुर्वन्त्विति[6] ॥३॥

अब अगले मन्त्र में परमेश्वर [वा सूर्य] के †कार्यों का उपदेश किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (वरेण्यः) ग्रहण करने योग्य (कविः) जिस की [7]दृष्टि और बुद्धि सर्वत्र है वा सर्वज्ञ (सविता) सब संसार का उत्पादक जगदीश्वर वा सूर्य्य

---

१. मनुष्यादिकायेत्यर्थः । एवं गवाद्यायेत्यत्रापि । आदौ भव आद्यः, दिगादिभ्यो यत् (अ० ४।३।५४) इति 'यत्' प्रत्ययः ॥

२. (क) ख्यातिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः । तथैव स्कन्द-निरु० टि० १२।१३ ॥

(ख) 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, दर्शनेऽपि' इत्यतो लुङि अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (अ० ३।१।५२) इति 'अङ्' ॥

(ग) प्रसिद्धं करोतीत्यर्थः ॥

३. निरुक्तकारो यास्कमुनिरिमं मन्त्रमित्थं व्याख्यातवान्—

'सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च चतुष्पाद्भ्यश्च व्यचिख्यपन्नाकं सविता वरणीयः प्रयाणमनूषसो विराजति' । निरु० १२।१३ ॥

४. (क) अत्रान्वये पदार्थे चेश्वरसूर्ययोः कार्यमुच्यते । भावार्थे तु स सूर्योऽपि तेनैव रचित इत्युक्तम् । तेन सूर्यस्य पृथक् सत्ताया निषेध इत्युक्तं भवति ॥

(ख) 'उषसः प्रयाणमनु' अत्र 'ज्ञानस्य' इति पूर्वमध्याहारो ज्ञेयः । सविता परमेश्वरो ज्ञानस्य=उषःकालस्य प्राप्त्यनन्तरमेव प्रकाशत इत्यर्थोऽत्र ग्राह्यः ॥

(ग) सूर्यः प्रातः उषःकालमनुविराजति प्रकाशत इत्यर्थ आधिदैविकपक्ष इति ॥

५. ऋ० ५।८१।२ भाष्ये त्वाचार्येण मन्त्रोऽयं श्लेषालङ्कारमन्तरैव व्याख्यातः । सुव्यक्तश्चापीति ॥

६. तस्य परमेश्वरस्य सूर्यस्य वा सेवनं (भक्ति) सर्वे कुर्युरित्यभिप्रायः ॥

७. सूर्य (आधिदैविक) पक्ष में यहां 'दृष्टि से' दर्शन (प्रकाश) अर्थ समझना चाहिये । निरु० १२।१३ में कवि का अर्थ क्रान्तदर्शन किया है ॥

---

* 'जननीयं सुखम्' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'जननीयम्' इति कपाठः, तथैव च भावार्थेऽपि दृश्यते ॥

† 'परमेश्वर के कर्त्तव्यों का' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

(उषसः) [1]प्रातःकाल के समय [को] (प्रयाणम्) §प्राप्त होने के (अनु) [अनन्तर] (विराजति) प्रकाशित होता है, [वह] (विश्वा) सब (रूपाणि) पदार्थों के स्वरूप [को] (प्रतिमुञ्चते) प्रसिद्ध करता है, और (द्विपदे) मनुष्यादि दो पग वाले (चतुष्पदे) तथा गौ आदि चार पग वाले प्राणियों के लिए (नाकम्) सब दुःखों से पृथक् (भद्रम्) सेवने योग्य सुख को (व्यख्यत्) प्रकाशित करता, और (प्रासावीत्) $उत्पन्न करता है, ∫ऐसे उत्पन्न करने वाले सूर्य्यलोक [और] ईश्वर को तुम लोग जानो ।।३।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थः—जिस परमेश्वर ने सम्पूर्ण रूपवान् द्रव्यों का प्रकाशक, प्राणियों के सुख का हेतु, प्रकाशमान सूर्यलोक रचा है, उसी की भक्ति [=सेवन] सब मनुष्य करें ।।३।।

❧

सुपर्णोऽसीत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । [2]गरुत्मान् देवता । [निचृद्] धृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ।।

पुनर्विद्वद्गुणा उपदिश्यते ।।

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ ।
स्तोमऽ आत्मा छन्दाᳬस्यङ्गानि यजूᳬषि नाम ।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत ।।४।।

सुपर्ण इति सुऽपर्णः । असि । गरुत्मान् । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । ते । शिरः । गायत्रम् । चक्षुः । बृहद्रथन्तरे इति बृहत्ऽरथन्तरे । पक्षौ ।। स्तोमः । आत्मा । छन्दांᳬसि । अङ्गानि । यजूᳬषि । नाम । साम । ते । तनूः । वामदेव्यमिति वामऽदेव्यम् । यज्ञायज्ञियमिति यज्ञाऽयज्ञियम् । पुच्छम् । धिष्ण्याः । शफाः सुपर्ण । इति सुऽपर्णः । असि । गरुत्मान् । दिवम् । गच्छ । स्वरिति स्वः । पत ।।४।।

---

१. आध्यात्मिक पक्ष में 'अथवा ज्ञानरूपी उषः-काल' प्राप्त होने के पश्चात् वह परमात्मा प्राप्त होता है ।।३।।

२. गरुत्मान् अग्निरत्र ग्राह्यः, स च विद्वान् इति सम्बन्धोऽवगन्तव्यः ।।

---

§ 'प्राप्त करने को' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

$ 'उन्नति करता है' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'उत्पन्न है' इति तु गपाठः ।।

∫ 'ऐसे उस सूर्य लोक को उत्पन्न करने वाले ईश्वर को तुम लोग' इति अ०मुद्रिते पाठः । स च मूलसंस्कृताननुगत इति ध्येयम् ।।

पदार्थः—([1]सुपर्णः) शोभनानि *पर्णानि लक्षणानि यस्य सः (असि) (गरुत्मान्) [2]गुर्वात्मा ([3]त्रिवृत्) त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि वर्त्तन्ते यस्मिन् तत् (ते) तव (शिरः) शृणाति हिनस्ति दुःखानि येन तत् (गायत्रम्) गायत्र्या विहितं विज्ञानम् (चक्षुः) नेत्रमिव (बृहद्रथन्तरे) बृहद्भी [4]रथंस्तरन्ति दुःखानि याभ्यां सामभ्यां ते (पक्षौ) पार्श्वाविव ([5]स्तोमः) स्तोतुमर्हं ऋग्वेदः (आत्मा) स्वरूपम् (छन्दांसि) [6]उष्णिगादीनि (अङ्गानि) श्रोत्रादीनि (यजूंषि) यजुः श्रुतय (नाम) आख्या (साम) तृतीयो वेदः (ते) तव (तनूः) शरीरम् (वामदेव्यम्) [7]वामदेवेन दृष्टं विज्ञातं विज्ञापितं वा ([8]यज्ञायज्ञियम्) यज्ञाः संगन्तव्या व्यवहारा अयज्ञास्त्यक्तव्याश्च तान् यदर्हति तत् (पुच्छम्) पुच्छमिवान्त्योऽवयवः ([9]धिष्णयाः) दिधिषति शब्दयन्ति यैस्ते †धिषाणः §खुरोपरिभागास्तेषु साधवः ([10]शफाः खुराः (सुपर्णः) शोभनपतनशीलः (असि) अस्ति (गरुत्मान्) [11]गरुतः $प्रशस्ताः

१. पुरुषः सुपर्णः । श० ७।४।२।५ ।।

२. गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति । निरु० ७।१८।।

३. अस्मिन् मन्त्रे पठिताः 'त्रिवृत्, गायत्रं, बृहद्रथन्तरे, स्तोमः, वामदेव्यं, यज्ञायज्ञियम्' इति सर्वेऽन्यत्र सामविशेषवाचकाः सन्ति । तेषां लक्षणानि तत्र यथास्थानं द्रष्टव्यानि ।।

४. (क) रथम्=रमणीयं विद्याप्रकाशं तैर्दुःखानि तरन्तीति भावः ।।

(ख) मनो वै बृहत् । तां० ७।६।१७ ।।
वाग् वै रथन्तरम् ।।ऐ० ४।२८ ।।

५. स्तोमो वेदस्तुतिसमूहः । ऋ० १।५।८ तथा ऋ० १।८।१० द० भाष्ये ।।

६. अत्र कुत्वम् ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चु० (अ० ३।२।५९) इति निपातनादेव । अत एव वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् (अ० ८।२।३३) इति कुत्वविकल्पो न भवति ।।

७. सुरूपयुक्तेन विदुषा । ऋ० ४।१६।१८ द० भाष्ये ।।

दृष्टं न तु कृतमिति विशेषः । अत्र वामदेवः शोभनलक्षणो यः कश्चिदपि विद्वान्, इत्येवाचार्यस्याभिप्रायः ।।

८. यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (अ० ५।१।७१) इति विहितो घश्छान्दसत्वाद् यज्ञायज्ञशब्दादपि द्रष्टव्यः । तस्य आयनेयीनीयियः० (अ० ७। १। २) इति सूत्रेण इयादेशः, प्रत्ययस्वरश्च । यस्तु यज्ञायज्ञीयशब्दः सामवाचकस्तत्र मतौ छः सूक्तसाम्नोः (अ० ५।२।५९) इत्यनेन यज्ञायज्ञशब्दोऽस्मिन् अस्तीति यज्ञायज्ञीयं साम । तस्य लक्षणम्—'यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे' (ऋ० ६।४८।१) इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम यज्ञायज्ञीयं इत्युच्यते ।।

९. धिषणा वाक् (निघ० १।११), प्रज्ञा, द्यौः, पृथिवी वेति । ऋ० ६।११।३ द० भाष्ये ।।

१०. शं फणन्ति इति शफाः।।ऋ०भा० १।१६३।५।।

११. 'गॄ शब्दे' (क्र्या० प०) मृग्रोरुतिः (उ० १। ९४) गरुत् शब्दः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सुपर्णः) बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् (अ० ६। २।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ।।

(गरुत्मान्) 'गॄ शब्दे' (क्र्या० प०) इत्येतस्माद् मृग्रोरुतिः (उ० १।९४) इति 'उतिः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । गरुतः पक्षाः शब्दा वा सन्त्यस्य तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (अ० ५।२।९४) इति 'मतुप्' । झयः (अ० ८।

* 'पर्णानि पूर्णानि लक्षणानि' इति कपाठः ।।

† अत्र 'धिषणाः' इत्यपपाठः, प्रयोगानिष्पत्तेः । य० १२।४९ भाष्ये '(धिष्ण्याः) दिधिषन्ति ब्रुवन्ति ते धिषाणस्तेषु साधवः' इति पाठस्य दर्शनाच्च ।।

§ अत्र कदाचिद् 'मुखोपरिभागास्तेषु' इति स्यात् ।।

$ 'गरुतः प्रशस्ताः शब्दाः' इति तु कगकोशयोपाठः । स च प्रमादेन त्यक्तः, भाषार्थे उपलम्भात् ।।

शब्दा विद्यन्ते यस्य सः (दिवम्) दिव्यं विज्ञानम् (गच्छ) प्राप्नुहि (स्वः) सुखम् (पत) गृहाण। [अयं मन्त्रः श० ६।७।२।६ व्याख्यातः]। ।४॥

¹अन्वयः—हे विद्वन् ! यतस्ते तव त्रिवृत् शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम यज्ञायज्ञियं वामदेव्यं साम ते तनूश्चास्ति ∫तस्मात् त्वं

२।६) इति वत्वं यवादिप्रतिषेधाद् न भवति॥ गरुत्मान् गरणवान् गर्वात्मा महात्मेति। निरु० ७।१८॥

(**बृहद्रथन्तरे**) बृहद्रथोपपदात् **संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः** (अ० ३।२।४६) इति 'खच्' प्रत्ययः, स च छान्दसत्वादसंज्ञायामपि। ततो 'मुम्'। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३६) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तत्वम्।

(**पक्षौ**) **गृधिपण्योर्दकौ च** (उ० ३।६६) इत्यनेन 'पण्' धातोः 'स' प्रत्ययः, णकारस्य ककारादेशश्च। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(**वामदेव्यम्**) **वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ** (अ० ४।२।६) इति ड्यप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(**यज्ञायज्ञियम्**) पूर्वत्र टिप्पण्यां द्रष्टव्यम्॥

(**पुच्छम्**) **पुङ्पीङोर्ह्रस्वश्च** (भो० २।२।८४) इति भोजीयसूत्रेण 'छक्' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(**धिष्ण्याः**) अस्य व्युत्पत्तिराचार्यैरुपरिष्टाद् (य० १२।४६) स्वयं वक्ष्यते। 'अत्र 'धिष' धातोर्बाहुलकादौणादिकः 'कनिन्', ततो 'यत्'॥ अत्र **ये चाभावकर्मणोः** (अ० ६।४।१६८) इति अल्लोपटिलोपयोः प्रकृतिभावे प्राप्ते छान्दसत्वादल्लोपो द्रष्टव्यः। ततो **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम्। यद्वा—'धिष शब्दे' जौहोत्यादिकः। अस्मात् **सानसिवर्णसि०** (उ० ४।१०७) इत्यादिना 'यत्' प्रत्ययः, नुमागमश्च निपात्यते। **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम्॥ अन्यत्राचार्यैः (ऋ० १।१८२।१,३ द० भा०) प्रगल्भार्थ उच्यते, तेन 'ञिधृषा प्रगल्भे' इत्यस्मादप्ययं सिध्यतीति ज्ञाप्यते। **भोजराजस्तु मध्यविन्ध्यशिक्ष्याग्य०** (भो० उ० २।३।४) इत्यादिसूत्रे क्यप्प्रत्ययान्तं निपातयति, तद्वृत्तिकारश्च 'धृषेर्नुम्, धिष् च' इत्याह। पिति धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥

(**शफाः**) **कलिगलिभ्यां फगस्योच्च** (उ० ५।२६) इति बाहुलकात् 'शो तनूकरणे' (दि० प०) इत्येतस्मादपि 'फक्'प्रत्ययः। बाहुलकादेव धातोर्ह्रस्वत्वं च। **भोजराजस्तु—शिफाशफकफादयः** (भो० उ० २।२।२१८) इति सूत्रे 'फकि' निपातयति। निपातनादेव धातोर्ह्रस्वत्वं च। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः।

यद्वा—श फणतीति **'फण गतौ'** (भ्वा०प०) इत्यस्माद् **अन्येष्वपि दृश्यते** (अ० ३।२।१०१ वा०) इति 'डः' प्रत्ययः। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३६) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। पृषोदरादिर्वा॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

१. अन्वयेऽत्र 'पुच्छं' 'धिष्ण्याः' 'शफाः' 'सुपर्णः' 'असि' 'गरुत्मान्' इति पदानि त्यक्तानि, पङ्क्तिरेवैका पूर्णा त्यक्ता प्रतिभाति। भाषार्थे तु पदान्येतानि सन्ति, परं च संस्कृतान्वयस्ततोऽप्यस्पष्ट एव॥

वयन्त्वत्रेत्थमवबुध्यामहे—

हे विद्वन् ! यतस्ते तव त्रिवृत् शिरः, गायत्रं चक्षुः, बृहद्रथन्तरे पक्षौ, स्तोम आत्मा,

∫ इतोऽग्रे 'यज्ञायज्ञियं, पुच्छं, धिष्ण्याः, शफाः सन्ति, तस्मात् त्वं गरुत्मान् सुपर्णोऽसि। यथा गरुत्मान् सुपर्णः पक्षयस्यस्ति, स इव त्वं दिवं गच्छ स्वः पत' इति पाठः साधीयान् प्रतिभाति॥

गरुत्मान् सुपर्णोऽसि ‡यस्य धिष्ण्याः शफा दीर्घं पुच्छमस्ति तद्वद् यो गरुत्मान् सुपर्णोऽस्यस्ति, स इव त्वं दिवं गच्छ स्वः पत[१] ॥४॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा [२]सुन्दरशाखापत्रपुष्पफलमूला वृक्षाः §सुशोभन्ते, तथा वेदादिशास्त्राऽध्येतारोऽध्यापकाः सुरोचन्ते । यथा पशवः पुच्छाद्यवयवैः स्वकार्याणि साध्नुवन्ति, यथा च पक्षी पक्षाभ्यामाकाशमार्गेण गत्वाऽऽगत्य च मोदते, तथा मनुष्या विद्यासुशिक्षाः प्राप्य पुरुषार्थेन सुखान्याप्नुवन्तु ॥४॥

फिर विद्वानों के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

⁂पदार्थः—हे विद्वन् ! जिस से (ते) आपका (त्रिवृत्) तीन कर्म्म उपासना और ज्ञानों से युक्त (शिरः) दुःखों का जिस से नाश हो (गायत्रम्) गायत्री छन्द से कहे विज्ञानरूप अर्थ (चक्षुः) नेत्र, (बृहद्रथन्तरे) बड़े बड़े रथों के सहाय से दुःखों को छुड़ाने वाले (पक्षौ) इधर उधर के अवयव, (स्तोमः) स्तुति के योग्य ऋग्वेद (आत्मा) अपना स्वरूप, (छन्दांसि) उष्णिक् आदि छन्द (अङ्गानि) कान आदि, (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र (नाम)

छन्दांस्यङ्गानि, यजूंषि नाम, वामदेव्यं साम ते तनूश्चास्ति, यज्ञायज्ञियं पुच्छं, धिष्ण्याश्च शफाः सन्ति, तस्मात् त्वं गरुत्मान् सुपर्णोऽसि, यथा गरुत्मान् सुपर्णः पक्ष्यस्यस्ति, स इव त्वं दिवं गच्छ स्वः पत' ॥

१. अध्यात्मपरोऽयमन्वय इत्यवगन्तव्यम्, अधियज्ञार्थोऽपि स्पष्ट एव ॥

२. अर्थोऽयं 'सुपर्णोऽसि' इत्यतो गृह्यते, अग्रे तु यो द्वितीयः सुपर्णशब्दः स पक्षिपर इति ध्येयम् ॥४॥

---

‡ 'यस्य धिष्ण्याः शफा दीर्घं पुच्छमस्ति तद्वद् यो' इति पाठः कगकोशयोरुपलभ्यमानोऽपि प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

§ 'शोभन्ते' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'सुशोभन्ते' इति कगकोशयोः पाठः ॥

⁂ स्वप्रदर्शितपूर्वोक्तान्वयानुसारमस्माभिः स्वल्पशोधनेन भाष्यकारानुवादशब्दैरेव भाषापदार्थोऽत्र प्रदर्श्यते—

भाषापदार्थः—हे विद्वन् ! जिस कारण (ते) आप [के आध्यात्मिकानुष्ठानरूप यज्ञ] का (त्रिवृत्) कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों से युक्त [व्यवहार] (शिरः) जिससे दुःखों का नाश हो [ऐसे शिर के समान है], (गायत्रम्) गायत्री छन्द से कहा विज्ञान रूप पदार्थ (चक्षुः) नेत्र [के समान है], (बृहद्रथन्तरे) बड़े बड़े रथों [साधनों] के सहाय से दुःखों को छुड़ाने वाले [[१]प्राणापान वा मन वाणी के व्यवहार] (पक्षौ) [२]दोनों पार्श्व वा बाहु के समान हैं, (स्तोमः) (स्तुतिः) स्तुति के योग्य ऋग्वेद [के मन्त्र वा उन का ज्ञान (आत्मा) स्वरूप है, (छन्दांसि)

---

१. मनो वै बृहत् ॥ तां० ७।६।१७ ॥
वाग् वै रथन्तरम् ॥ ऐ० ४।२८ ॥ प्राणापानौ वै बृहद्रथन्तरे ॥ तां० ७।६।१२ ॥

२. 'इधर उधर के अवयव' इति पूर्वमुद्रितः पाठः ॥

नाम, (यज्ञायज्ञियम्) ग्रहण करने और छोड़ने योग्य व्यवहारों के योग्य (वामदेव्यम्) §§वामदेव ने जाने वा पढ़ाये (साम) तीसरे सामवेद (ते) आपका (तनूः) शरीर है, इसमें आप (गरुत्मान्) महात्मा (सुपर्णः) सुन्दर सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त (असि) हैं। जिस के (धिष्ण्याः) शब्द करने के हेतुओं में साधु (शफा) खुर तथा (पुच्छम्) बड़ी पूंछ के समान अन्त्य का अवयव है, उस के समान जो (गरुत्मान्) प्रशंसित शब्दोच्चारण से युक्त (सुपर्णः) सुन्दर उड़ने वाले (असि) हैं, उस पक्षी के समान आप (दिवम्) सुन्दर विज्ञान को (गच्छ) प्राप्त हूजिए और (स्वः) सुख को (पत) ग्रहण कीजिये ।।४।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे सुन्दर शाखा पत्र पुष्प फल और मूलों से युक्त वृक्ष शोभित होते हैं, वैसे ही वेदादि शास्त्रों के पढ़ने और पढ़ाने हारे ∫∫सुशोभित होते हैं। जैसे पशु पूंछ आदि अवयवों से अपने काम करते और जैसे पक्षी पंखों से आकाश मार्ग से जाते आते आनन्दित होते हैं, वैसे मनुष्य विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त हो पुरुषार्थ के साथ सुखों को प्राप्त हों ।।४।।

उष्णिक् आदि छन्द (अङ्गानि) कान आदि [अङ्गस्थानी हैं], (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र (नाम) नामस्थानी हैं, (वामदेव्यम्) [1]वामदेव [अर्थात् उत्तम रूप से युक्त विद्वान्] ने जाने वा पढ़ाये (साम) तीसरे सामवेद के मन्त्र (ते) आप के (तनूः) शरीर [के समान हैं], और (यज्ञायज्ञियम्) ग्रहण करने और छोड़ने योग्य व्यवहार (पुच्छम्) अन्त्य अवयव पूंछ के समान [सुखदायक हैं], और (धिष्ण्याः) शब्द करने के हेतुओं [मुखादि ऊपर के भागों] में साधु [मन और वाणी के व्यवहार] (शफाः) खुर [[2]वृक्षों के मूल वा अश्वादि के खुर] के समान [सुखदायक] हैं, इस कारण आप (गरुत्मान्) महान् आत्मा और (सुपर्णः) सुन्दर सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त (असि) हैं। जैसे (गरुत्मान्) प्रशंसित शब्दोच्चारण से युक्त सुन्दर उड़ने वाला पक्षी है, उस के समान आप (दिवम्) सुन्दर विज्ञान को (गच्छ) प्राप्त हूजिये और (स्वः) सुख को (पत) ग्रहण कीजिये ।।

§§ अत्र संस्कृतपदार्थे 'वामदेवेन दृष्टं विज्ञातं विज्ञापितं वा' इत्येव पाठो वर्त्तते। भाषापदार्थेऽपि कहस्तलेखे 'वामदेव ने जाने वा पढ़ाये' इत्येव पाठ उपलभ्यते। तत्र च रक्तमसिना केनचिद् 'ऋषि' इति पदं भाषापदार्थे प्रवर्द्धितम्, तच्च संस्कृताननुसारीत्यस्माभिः पृथक् कृतमिति ध्येयम् ।।

∫∫ 'शोभित होते हैं' इति कपाठः। 'सु' इति गकोशे प्रवर्द्धितः ।।

---

१. 'वामदेव ऋषि ने जाने वा पढ़ाये' इति पूर्वमुद्रितानुसारी पाठः। स चायुक्तः। कुतः? संस्कृतपदार्थे तस्याभावात् ।। किञ्च ऋ० ४।१६।१८ भाष्ये वामदेवशब्दार्थ इत्थं प्रदर्शितः—'(वामदेवस्य) सुरूपयुक्तस्य विदुषः=उत्तम रूप से युक्त विद्वान् के'। अनेन वामदेवशब्देन='सुरूपयुक्तो विद्वान्' इत्यर्थ आचार्यदयानन्देन गृह्यते इति स्पष्टम्। इतोऽपि पूर्वोक्त एवार्थोऽत्र युक्त इति ध्येयम् ।।

२. 'शफं मूले तरूणां स्यात्, गवादीनां खुरेऽपि च' इति मेदिनीकारः ।।

विष्णोः क्रम इत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुना राजधर्ममाह ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽ आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व
विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दऽ आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व
विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽ आरोह दिवमनु विक्रमस्व
विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु
विक्रमस्व ॥५॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्नहेति सपत्नऽहा । गायत्रम् । छन्दः । आ । रोह । पृथिवीम् । अनु । वि । क्रमस्व । विष्णोः । क्रमः । असि । अभिमातिहेत्यभिमातिऽहा । त्रैष्टुभम् । त्रैस्तुभमिति त्रैस्तुभम् । छन्दः । आ । रोह । अन्तरिक्षम् । अनु । वि । क्रमस्व । विष्णोः । क्रमः । असि । अरातीयतः । अरातियत इत्यरातिऽयतः । हन्ता । जागतम् । छन्दः । आ । रोह । दिवम् । अनु । वि । क्रमस्व । विष्णोः । क्रमः । असि । शत्रूयतः । शत्रुयत इति शत्रुऽयतः । हन्ता । आनुष्टुभम् । आनुस्तुभमित्यानुऽस्तुभम् । छन्दः । आ । रोह । दिशः । अनु । वि । क्रमस्व ॥५॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापकस्य जगदीश्वरस्य ([1]क्रमः) [2]व्यवहारः (असि) (सपत्नहा) यः सपत्नानरीन् हन्ति सः ([3]गायत्रम्) गायत्रीनिष्पन्नमर्थम् (छन्दः) स्वच्छम् [पदार्थम्] (आ) (रोह) आरुढो भव, (पृथिवीम्) पृथिव्यादिकम् (अनु) (वि) (क्रमस्व) व्यवहर । (विष्णोः) [4]व्यापकस्य कारणस्य (क्रमः) अवस्थान्तरम् (असि) (अभिमातिहा) योऽभिमातीनभिमानयुक्तान् हन्ति ([5]त्रैष्टुभम्) त्रिभिः सुखैः संबद्धम् (छन्दः) [6]बलप्रदम् (आ) (रोह), (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (अनु) (वि) (क्रमस्व) । (विष्णोः) व्याप्तुं शीलस्य विद्युद्रूपाग्नेः (क्रमः) (असि), (अरातीयतः) विद्यादिदानं कर्त्तुमनिच्छतः (हन्ता) नाशकः ([7]जागतम्) जगज्जानाति येन तत् (छन्दः) सृष्टिविद्याबलकरम्[8] (आ) (रोह), (दिवम्) सूर्याद्यग्निम् (अनु) (वि) (क्रमस्व) । (विष्णोः) हिरण्यगर्भस्य वायोः (क्रमः) (असि) (शत्रूयतः) आत्मनः शत्रुम् [इवा]चरतः (हन्ता) (आनुष्टुभम्[9]) अनुकूलतया

---

१. 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा० प०) गत्यर्थोऽयं धातुः । अतोऽनेनात्र व्यवहारो गमनम् । अवस्थान्तरकार्यरूपप्राप्तिः । ज्ञानमपि गतिः, एतेऽर्था ग्रहीतुं शक्यन्ते ॥

२. व्यवहारसाधन इत्यर्थः ॥

३. गायत्रोऽयं (भूः) लोकः ॥कौ० ८।९॥

४. व्यापकस्य प्रकृतेः कारणस्यावस्थान्तरमसि, देहं धारितवानसीत्यर्थः ॥

५. त्रैष्टुभमन्तरिक्षम् ॥ श० ८।३।४।११ ॥

६. इन्द्रियं वै वीर्यम् ॥ तां० ६।९।२६ ॥ प्राणा वा छन्दांसि ॥ कौ० ७।९ ॥

७. जागतेऽमुष्मिँल्लोकेऽसावादित्योऽध्यूढः ॥ कौ० १४।३ ॥

८. रसो वै छन्दांसि ॥ श० ७।१।३।३७ ॥

९. अनुष्टुबुदीची (दिक्) ॥ श० ८।३।१।१२ ॥ अनुष्टुबेषा (उत्तरा) दिक् ॥ श० १३।२।२।१९ ॥

स्तोभते सुखं बध्नाति येन तत् (छन्दः) आनन्दकरम् (आ) (रोह), (दिशः) *पूर्वादीः (अनु) (वि) (क्रमस्व) प्रयतस्व । [अयं मन्त्रः श० ६।७।२।१३–१६ व्याख्यातः] ॥५॥

अन्वयः—हे विद्वन्[1] ! यतस्त्वं विष्णोः क्रमः सपत्नहाऽसि, तस्माद् गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनुविक्रमस्व । यतस्त्वं विष्णोः क्रमोऽभिमातिहासि, तस्मात्त्वं त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनुविक्रमस्व । यतस्त्वं विष्णोः क्रमोऽरातीयतो† हन्ताऽसि, तस्माज्जागतं छन्द आरोह दिवमनुविक्रमस्व । यस्त्वं विष्णोः क्रमः शत्रूयतो हन्ताऽसि, स त्वमानुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनुविक्रमस्व ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वेदविद्यया भूगर्भादिविद्या निश्चित्य पराक्रमेणोन्नीय रोगाः शत्रवश्च निहन्तव्याः ॥५॥

फिर अगले मन्त्र में राजधर्म का उपदेश किया है ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष ! जिससे आप (विष्णोः) व्यापक जगदीश्वर के (क्रमः) व्यवहार से शोधक और (सपत्नहा) शत्रुओं के मारने हारे (असि) हो, इस से (गायत्रम्) गायत्री मन्त्र से निकले (छन्दः) शुद्ध अर्थ पर (आरोह) आरूढ़ हूजिये, (पृथिवीम्) पृथिव्यादि पदार्थों से (अनुविक्रमस्व) अपने अनुकूल व्यवहार साधिये। तथा जिस कारण आप (विष्णोः) व्यापक कारण के (क्रमः) कार्य्यरूप (अभिमातिहा) अभिमानियों को मारने हारे (असि) हैं, इस से आप (त्रैष्टुभम्) तीन प्रकार के सुखों से संयुक्त (छन्दः) बलदायक वेदार्थ को (आरोह) ग्रहण [कीजिये], और (अन्तरिक्षम्) आकाश को (अनुविक्रमस्व) अनुकूल व्यवहार में युक्त कीजिये । जिस से आप (विष्णोः) व्यापनशील

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(गायत्रम्) पूर्वं (य० ४।२४) व्याख्यातः । यद्वा—गायत्र्येव गायत्रं छन्दसः **प्रत्ययविधाने नपुंसके स्वार्थ उपसंख्यानम्** (अ० ४।२।५२ वा०) इति स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सपत्नहा) (अभिमातिहा) सपत्नपूर्वाद् 'हन्' धातोः, अभिपूर्वात्'माङ् माने' इत्येतस्मात् क्तिच्प्रत्ययान्ताद् 'अभिमाति' उपपदाच्च सपत्नान् हन्ति, अभिमातीन् हन्तीति । **ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्** (अ० ३।२।८७) इत्यत्र भाष्यकारेण धातुकालयोरेव नियमः स्वीक्रियते, तेन तत्पक्षे **'बहुलं छन्दसि'** (अ० ३।२।८८) इत्यत्र बहुलग्रहणाद् वर्त्तमान उपपदान्तरे च क्विप् द्रष्टव्यः ॥

(अरातीयतः) अरातिशब्दात् **सुप आत्मनः क्यच्** (अ० ३।१।८) इति 'क्यच्' । **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (अ० ७।४।२५) इति दीर्घत्वम् । **सनाद्यन्ता धातवः** (अ० ३।१।३२) इति धातुसंज्ञायां लटि शतरि रूपम् । **शतुरनुमो नद्यजादी** (अ० ६।१।१७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(शत्रूयतः) उपमानादाचारे (अ० ३।१।१०) इति क्यच् । **शतुरनुमो नद्यजादी** (अ० ६।१।१७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(आनुष्टुभम्) (त्रैष्टुभम्) (जागतम्) **उत्सादिभ्योऽञ्** (अ० ४।१।८६) इत्यञ् । ञ्नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. विद्वच्छब्देनात्र राजगुरुः, विद्वान् राजा वा ग्राह्यः ॥५॥

* 'पूर्वादीन्' इति अ०मुद्रिते पाठः, कगकोशयोश्चापि ॥

† 'अरातीयतो' इति गकोशे पाठः । 'अरातीय' इति तु अ०मुद्रिते पाठः ॥

बिजुली रूप अग्नि के (क्रमः) जानने हारे (अरातीयतः) विद्या आदि दान के विरोधी पुरुष के (हन्ता) नाश करने हारे (असि) हैं, इस से आप (जागतम्) जगत् को जानने का हेतु (छन्दः) सृष्टिविद्या को बलयुक्त करने हारे विज्ञान को (आरोह) प्राप्त हूजिए, और (दिवम्) सूर्य आदि अग्नि को (अनुविक्रमस्व) अनुक्रम से उपयुक्त कीजिए। जो आप (विष्णोः) हिरण्यगर्भ वायु के (क्रमः) ज्ञापक तथा (शत्रूयतः) अपने को शत्रु का आचरण करने वाले पुरुषों के (हन्ता) मारने वाले (असि) हैं, सो आप (आनुष्टुभम्) अनुकूलता के साथ सुख सम्बन्ध के हेतु (छन्दः) आनन्दकारक वेदभाग को (आरोह) उपयुक्त कीजिए, और (दिशः) पूर्व आदि दिशाओं के (अनुविक्रमस्व) अनुकूल प्रयत्न कीजिये ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि वेदविद्या से भूगर्भ विद्याओं का निश्चय तथा पराक्रम से उन की उन्नति करके रोग और शत्रुओं का नाश करें ॥५॥

अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः।
धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽ अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥६॥

अक्रन्दत्। अग्निः। स्तनयन्निवेति स्तनयन्ऽइव। द्यौः। [1]क्षामा। रेरिहत्। वीरुधः। समञ्जन्निति सम्ऽअञ्जन्॥ सद्यः। जज्ञानः। वि। हि। ईम्। इद्धः। अख्यत्। आ। रोदसीऽइति रोदसी। भानुना। भाति। अन्तरित्यन्तः॥६॥

पदार्थः—(अक्रन्दत्) [2]प्राप्नोति (अग्निः) [3]विद्युत् (स्तनयन्निव) यथा दिव्यं शब्दं

१. भाष्यानुमार्यियं पदपाठः। प्राचीने पदपाठे 'क्षाम' इति विच्छेदः। तत्रान्त्याकारस्य छान्दसं दीर्घत्वं बोध्यम्। निघण्टावपि पृथिवी-नामसु क्षमास्थाने केषुचित् कोशेषु 'क्षाम' इत्यपि पाठो दृश्यते। प्रयुज्यते चायं बहुत्र वेदेषु। यथा ऋ० ४।२।१६; ४।१३।४॥ एवमन्यत्रापि॥

२. अत्र अक्रन्दत् प्राप्नोति, य० १२।२१ गमयति, य० १२।३३ विजानाति, इत्याह भाष्यकारः। अन्यत्र तु क्रन्दति श्रेष्ठान् आह्वयति दुष्टान् रोदयति (अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः) ऋ० १।१००।१३॥ क्रन्दते आह्वानं रोदनं वा कुर्वते (य० २२।७) इत्याद्याह॥

अत्रार्थभेदे प्रमाणं तु — वैदिकनिघण्टौ 'इति द्वाविंशशतं गत्यर्थाः, इति यास्कः। पठितानां निदर्शनार्थत्वादन्येऽपि गत्यर्थाः सन्ति। यावन्तः शब्दा निघण्टावुक्तास्तावन्त एव तेष्व-र्थेष्विति नात्रैषः प्रतिबन्ध इति ध्येयम्। कुतः? यास्कमुनिना (निरु० २।९) ऋ० १।१६४।२९ **मन्त्रव्याख्याने 'चित्तिभिः कर्मभिः'** इति प्रति-पादयता विज्ञाप्यतेऽनुक्तमपि कर्मनाम तद्वाचको भवतीति। अयमेव सिद्धान्तोऽत्रापि बोध्यः॥ यद्वा—**अनेकार्था हि धातवो भवन्ति** (महा० १।३।१) इति महाभाष्यकारवचनमत्र शरणम्। तेनात्र गत्यर्थो गृहीतो भवति॥

३. अग्रे य० १२।१३ अग्निरिति शत्रुदाहको

कुर्वन् (द्यौः) सूर्य्यप्रकाशः (क्षामा) क्षामा पृथिवी । क्षामेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० ।१।१ । अत्रान्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३६) इत्युपधादीर्घः[1] (रेरिहत्) भृशं फलानि [2]ददाति (वीरुधः) वृक्षान् (समञ्जन) सम्यक् प्रकाशयन् (सद्यः) समानेऽह्नि (जज्ञानः) प्रादुर्भूतः सन् (वि) (हि) खलु ([3]ईम्) सर्वतः (इद्धः) प्रदीप्तः (अख्यत्) प्रकाशयति (आ) (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (भानुना) स्वदीप्त्या (भाति) प्रकाशते (अन्तः) मध्ये वर्त्तमानः सन् । [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।१-२ व्याख्यातः] ॥६॥

विद्वान् गृह्यते । य० १२।२१ इत्यत्र 'द्यौः' इत्यनेन 'सूर्य' इति गृह्यते । य० १२।३३ इत्यत्र 'विद्यान्यायप्रकाशकः' इति गृह्यते, तत् सर्वं दिवुधात्वर्थेनावगन्तव्यम् ॥

१. धातोरिति शेषः ॥

२. रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु (तु० प०) पठ्यते, इतोऽग्रे 'रिह इत्येके' इत्यपि वर्त्तते । तेन 'ददाति' इत्यर्थो गृह्यते । अग्रे य० १२।२१ 'ताडयति' इत्यपि । य० १२।३१ 'युध्यस्व'। ऋ० १०।१२३।१, य०७।१६ इत्येतस्मिन् मन्त्रे 'शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति' इत्युपलभ्यते । अत्र च निरु०१०।३९ 'शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा' ॥ तेन निरुक्ताभिमता अर्थाः धातुपाठाद् भिन्ना एवेति स्पष्टम्, उपलक्षणार्थत्वात् तेषाम् ॥ **रिहति अर्चतिकर्मा इति** । निघ० ३।१४ पठ्यते । यैस्तु रिहति धातुरेव नास्तीति न गृह्यते, लिहेर्वा वर्णविकारमात्रमेवेति स्वीक्रियते, तत् सर्वं तेषामज्ञानविजृम्भितमेवेति, वेदे निरुक्तकारादिभिरस्य निरूपणादिति ध्येयम् ॥

३. **'ईम्'** इति **निपातोऽनर्थकः** । नार्थान्तरवाचक इत्यर्थः (निरु० १।६) ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अक्रन्दत्) **'क्रदि क्लदि'** **आह्वाने रोदने च** (भ्वा० प०), **आङः क्रन्द सातत्ये** (चुरा० उ०) । **लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (अ० ६।४।७१) इत्यट्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(स्तनयन्) **'स्तनगदी देवशब्दे'** चौरादिकाण्णिजन्तात् लटि शतरि प्रथमैकवचने रूपम् । **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण द्वितीयोऽनुदात्तः ॥

(क्षामा) अत्र प्राचीनपदपाठेषु 'क्षाम॑' इति पाठ उपलभ्यते । निघण्टावपि 'क्षमा' इत्यन्तोदात्तस्य स्थाने 'क्षाम॑' इत्याद्युदात्तः क्वचिन्निघण्टुकोशेषूपलभ्यते । द्रष्टव्यमाचार्यदयानन्दसंशोधितनिघण्टुः (पृ० १ टि० १), तथा सति 'क्षाम॑' 'क्षमा' इति स्वतन्त्रौ शब्दाविति विज्ञायते ॥

'क्षि निवासगत्योः' (तु० प०), 'क्षमूष् सहने' (दि० प०) । क्षियन्ति निवसन्त्यस्याम्, अधिकरणे, क्षमते वा सर्वपदार्थान् इति । आभ्यां **सर्वधातुभ्यो मनिन्** (उ० ४।१४५) इति 'मनिन्' प्रत्ययः । क्षिपक्षेऽत्वं छान्दसम्, आद्यदीर्घत्वं च । क्षमूष्पक्षे तु मलोपोऽप्यधिकः । **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(रेरिहत्) यङ्लुकि **अभ्यस्तानामादिः** (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तः ॥

(वीरुधः) विरोहतीति वीरुध्, हकारस्य धकारः दीर्घत्वं च । क्विपि **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तो 'वीरुध्' शब्दः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(समञ्जन्) **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(सद्यः) **सद्यःपरुत्परार्यैषमः०** (अ० ५।३।२२) इति निपातनात्, समानस्य सभावो

'अन्वयः—हे मनुष्या! यः सभेशः सद्यो जज्ञानो द्यौरग्निः स्तनयन्निवारीनाक्रन्दद् यथा क्षामा विरुधस्तथा प्रजाभ्यः सुखानि रेरिहत्, यथा सवितेद्धः समञ्जन् रोदसी व्यख्यद् भानुनाऽन्तराभाति तथा यः शुभगुणकर्मस्वभावैः प्रकाशते, तं हि राजकर्मसु प्रयुङ्ध्वम्* ॥६॥

निपात्यते यश्च प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(जज्ञानः) 'जन जनने' (जु० प०) शानचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । यद्वा—'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०) छान्दसत्वात् शपः श्लुः, ततः शानचि पूर्ववदन्तोदात्तत्वम् । यद्वा—कानचि रूपम्, स्वरः पूर्ववदेव ॥

(ईम्) चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४) इत्यनुदात्तः ॥

(अख्यत्) अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (अ० ३।१।५२) इत्यङ् । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातत्वे प्राप्ते हि च (अ० ८।१।३४) इति निषेधेऽट्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(रोदसी) रोदसी द्यावापृथिव्योर्नामधेयम् (निघ० ३।१०) । 'रुधिर्' आवरणे (रु० प०) इत्यतः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इति 'असुन्' । पृषोदरादित्वाद् धकारस्य दकारः । नित्त्वादाद्युदात्तः । तत उगितश्च (अ० ४।१।६) इति ङीप् । वा छन्दसि (अ० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णः ॥

(भानुना) दाभाभ्यां नुः (उ० ३।३२) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अन्तः) एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. मन्त्रोऽयं सर्वथापि समानोऽस्मिन्नेव द्वादशाध्याये १२।६; १२।२१; १२।३३ त्रिरुपलभ्यते । सर्वत्र 'अग्निः' समानमेव देवता, छन्दआदयोऽपि समाना एव विद्यन्ते । कुतोऽयं त्रिः पठितः ? अन्यत्र बहवोऽपि मन्त्राः प्रायेण पृथक् पृथगध्यायेषूपलभ्यन्ते । अयं मन्त्रोऽत्रैकस्मिन्नेवाध्याये त्रिः पठचते, को न्वत्र विशेषः ?

अथ समाधिः—

(१) **'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः । कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह (निरु० १।२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्'** । स्कन्दनिरुटीका ७।५ पृ ३७ ॥ तथा चास्माभिः (भाग १ पृ० २२) प्रदर्शितम् ॥ त्रिविधार्थप्रकाशका मन्त्रा इति ज्ञापनाय परमदेवेन परमात्मनाऽयं मन्त्रः त्रिनिश्वसितः । देवताभेदेन प्रकरणभेदेन तु समाना मन्त्रा बहवः सन्त्येव वेदेषु, प्रकरणादिनैव तेषामर्था भिन्ना इत्यवगम्यते । अभिन्नदेवताका अभिन्नप्रकरणाश्च समाना मन्त्राः कथं स्युः, इत्याकाङ्क्षायामुच्यते—तेषां सर्वदर्शनेषु सर्वप्रक्रियासु त्वर्थाः सन्त्येव, आध्यात्मिकयाम्, आधिदैविक्याम्, आधिभौतिक्यामपि **कस्याञ्चिदप्येकस्यां प्रक्रियायाम् 'एकस्य मन्त्रस्य बहवोऽप्यर्थाः'** इति परमाचार्यपरमर्षिपरमात्मनः प्रवृत्तिर्ज्ञापयति । एतज्ज्ञापनायैवास्मिन्नध्यायेऽयं मन्त्रस्त्रिः पठित इत्यवगच्छामः ॥

(२) एतन्मत्वैव भाष्यकारेण (आचार्यदयानन्देन) अस्मिन्नध्याये १२।६, १२।२१, १२।३३ त्रिष्वपि स्थलेषु एकस्मिन्नेव (राजधर्मप्रकरणे) पृथगर्था एव प्रदर्शिताः, इति सुधियो विभावयन्तु ॥

वयं त्वत्रेत्थमवबुध्यामहे—

(क) प्रथममन्त्रे (य० १२।६) तु राजधर्मविषये राज्ञो गुणा उच्यन्ते । कथँल्लक्षणो राजा राज्ये नियोजनीय इत्येव मन्त्रस्यान्वयेन, सङ्गत्या, भावार्थेन, पदार्थेनापि प्रदर्श्यते । आधि-

* अत्र संस्कृतान्वये भाषापदार्थे च 'ईम्' इति मन्त्रगतं पदं त्यक्तम् । भाषापदार्थे 'हि' इति पदं त्यक्तम् इति ध्येयम् ॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा सूर्यः सर्वलोकमध्यस्थः सर्वान् प्रकाश्याकर्षति, यथा पृथिवी बहुफलदा वर्त्तते, तथाभूतः पुरुषः राज्यकार्येषु सम्यगुपयोक्तव्यः ।।६।।

दैविकार्थोऽत्र प्राधान्येन इति पदार्थेनावगम्यते ॥

(ख) अपरस्मिन् (य० १२।२१) मन्त्रे तु राजधर्मप्रकरण एव मनुष्या विशेषेण राजपुरुषाः कथं वर्त्तेरन्, कथं तैर्व्यवहर्त्तव्यमिति पूर्ववद् अन्वये, सङ्गत्यां, भावार्थे, पदार्थे चापि प्रदर्शितं भवति । संस्कृतपदार्थेनात्राप्याधिदैविकप्रधानोऽर्थः प्रकाश्यते ।।

(ग) अन्तिमे (य० १२।३३) मन्त्रे तु राजधर्मविषये राजप्रबन्धः प्राधान्येन प्रदर्शितो भवति सर्वेष्वप्यन्वयादिषु—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।
मनु० १२।१०० ।।

अनेन विद्वांस एव राजप्रबन्धे क्षमा इति वर्ण्यते ।।

संस्कृतपदार्थ आध्यात्मिकप्रधानोऽत्रार्थः प्रकाशितः ।।

(३) त्रयाणामपि मन्त्राणां भाष्यकारेण प्रदर्शित एवान्वय आध्यात्मिकार्थे इत्थं नेयः—

(क) य० १२।६—हे मनुष्याः ! यः परमेश्वरः सद्यो जज्ञानः प्रादुर्भूतः (शुद्धान्तःकरणेषु), द्यौः सूर्य इव वर्त्तमानः, अग्निः प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः स्तनयन्निवारीन् (धर्मस्य, आध्यात्मिकावरोधान् वा) अक्रन्दत् रोदयति । यथा क्षामा वीरुधस्तथा प्रजाभ्यः सुखानि रेरिहद् ददाति । यथा सवितेद्धः समञ्जन् रोदसी व्यख्यत्, भानुनान्तराभाति, तद्वद् यः शुभगुणकर्मस्वभावैः प्रकाश्यते, तं परमेश्वरं यूयमुपाध्वम् । आधिदैविकोऽधियज्ञार्थश्चापि तत एवोहनीयो भवति ॥

(ख) य० १२।२१—हे मनुष्याः [राजपुरुषा वा] यूयं यथा द्यौः प्रकाशमानः परमात्माऽग्नि स्तनयन्निव वीरुधः समञ्जन् क्षामा रेरिहद्, जज्ञान इद्धः सद्यो व्यख्यत्, भानुना हि रोदसी ईं व्यख्यत्, ब्रह्माण्डस्यान्तराभातीति तथा भवथ । अपरावप्यर्थावित एव द्रष्टव्यौ ॥

(ग) य० १२।३३ अपि—हे प्रजाजनाः ! युष्माभिर्यथा द्यौर्विद्यान्यायप्रकाशकोऽग्निर्दुष्टानां दाहकः परमेश्वरः स्तनयन्निवाक्रन्दद् वीरुधः समञ्जन् क्षामा रेरिहद्, जज्ञान इद्धः सद्यो व्यख्यत्, भानुना हि रोदसी अन्तराभाति, तद्वद् यः प्रकाशते स राजप्रबन्धे नियोजनीयः । अपरावप्यर्थौ पूर्ववदेवावगन्तव्यौ ।।

(४) शतपथब्राह्मणे कात्यायनश्रौतसूत्रे च मन्त्रोऽयं पृथक्त्वेन विनियुक्तः, तद्यथा—

(क) य० १२।६ चयनप्रकरणे (का० श्रौ० १६।५।१४) उखायां योऽग्निः, तमीशान्यां दिश्यनेन मन्त्रेण प्रेरयति ।।

(ख) य० १२।२१ चयनप्रकरणे 'दिवस्परीत्येकादशभिः' (य० १२।१८-२८) इत्युखास्थमग्निमासन्द्यां स्थापयित्वा एकादशभिर्मन्त्रैरुपस्थानं कुर्यात् ।।

(ग) य० १२।३३ अयमपि मन्त्रः चयनप्रकरण एव यजमानः शकटमारोहति, तदनु अक्षे खर्जति शब्दं कुर्वति जपे विनियुक्तः ।।

एवं विनियोगभेदेन मन्त्रोऽयमर्थभेदपरो व्याख्यातव्यः, इति श्रौतसूत्रकारस्याभिप्रेतम् ।।

शतपथकारस्तु य० १२।६ विष्णुक्रमब्राह्मणे ऊर्ध्वबाहुधारणप्रकारं प्रदर्शयन्नाह — **'अथैनं प्रगृह्णातीति** (श० ६।७।३।१) इति मन्त्रोऽयं ग्रहणे विनियुक्तः ।।

य० १२।२१ तु शतपथब्राह्मणे व्याख्यात एव ।।

य० १२।३३ इति तु **शतपथ ६।८।१।११** **'अथैवैनमयमेतदुपस्तौत्युपमहयति'** इति वनीवाहनब्राह्मणे जप एव विनियुज्यते ।।

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो सभापति (सद्यः) एक दिन में (जज्ञानः) प्रसिद्ध हुआ (द्यौः) सूर्य प्रकाश रूप (अग्निः) विद्युत् अग्नि के समान (स्तनयन्निव) शब्द करता हुआ शत्रुओं को (अक्रन्दत्) प्राप्त होता है, जैसे (क्षामा) पृथिवी (वीरुधः) वृक्षों को फल फूलों से युक्त करती है, वैसे प्रजाओं के लिए सुखों को (रेरिहत्) अच्छे बुरे कर्मों का शीघ्र फल देता है, जैसे सूर्य (इद्धः) प्रदीप्त और (समञ्जन्) सम्यक् पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ (रोदसी) आकाश और पृथिवी को (व्यख्यत्) प्रसिद्ध करता और (भानुना) अपनी दीप्ति के साथ (अन्तः) सब लोकों के बीच (आभाति) प्रकाशित होता है, वैसे जो सभापति शुभ गुण कर्मों से प्रकाशित हो, उसको तुम लोग राजकार्य्यों में संयुक्त करो ।।६।।

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य सब लोकों के बीच में स्थित हुआ सब को प्रकाशित और आकर्षण करता है, और जैसे पृथिवी बहुत फलों को देती है, वैसे मनुष्य को ही राज्य के कार्यों में अच्छे †प्रकार उपयुक्त करो ।।६।।

अग्न इत्यस्य वत्सप्रीऋर्षिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।।

पुनर्विद्वद्गुणानुपदिशति ।।

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन ।
सन्या मेधया रय्या पोषेण ।।७।।

अग्ने । अभ्यावर्त्तिन्नित्यभिऽआवर्त्तिन् । अभि । मा । नि । वर्त्तस्व । आयुषा । वर्चसा । प्रजयेति प्रऽजया । धनेन ।। सन्या । मेधया । रय्या । पोषेण ।।७।।

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् ! (अभ्यावर्त्तिन्) आभिमुख्येन वर्त्तितुं शीलमस्य तत्सम्बुद्धौ (अभि) (मा) माम् (नि) नितराम् (वर्त्तस्व) (आयुषा) चिरंजीवनेन (वर्चसा)

(५) यत्तूवटादिभिः 'पूर्वं व्याख्यातः' इत्याद्युच्यते, तन्न साधु । कुतः ? तत्तु यज्ञपरोऽयं वेद इति मत्वैव तैरेक एव मन्त्रो बहुत्रपठितो न व्याख्यायते । अन्यैश्च नव्यभाष्यकारैरप्येषामेवानुकरणमात्रं क्रियते । अन्यथा कुतो नैभिर्नवीनभाष्यकारैरस्मिन् विषये स्ववैदुष्यं विचारो वा प्रदर्शितः ।। एवंविधा आधुनिकभाष्यकारास्त्वत एवोपेक्षणीयाः ।।

प्रस्तुतेऽस्मिन् विषयेऽन्यैरपि महाविद्वद्धुरीणैः स्वोहितमवश्यमेव जगदुपकारदृशा प्रकाशनीयमित्यभ्यर्थ्यते ।।६।।

† 'अच्छे प्रकार उपयुक्त करो' इति कगकोशयो पाठः, अ०मुद्रिते चापि । स च सम्यक् । 'अच्छे प्रकार से' इत्यत्र 'से' इति व्यर्थ एव द्वितीये संस्करणे ।।

[1]अन्नाध्ययनादिना (प्रजया) सन्तानेन (धनेन) (सन्या) सर्वासां विद्यानां संविभागकर्त्र्या (मेधया) प्रज्ञया (रय्या) विद्याश्रिया (पोषेण) पुष्ट्या। [अयं मन्त्रः श० ६ ७।३।६ व्याख्यातः] ॥७॥

अन्वयः—हे अभ्यावर्तिन्नग्ने पुरुषार्थिन् विद्वन्! त्वमायुषा वर्चसा प्रजया धनेन सन्या मेधया रय्या पोषेण च सहाभिनिवर्त्तस्व [मा] मां चैतैः संयोजय ॥७॥

भावार्थः—मनुष्यैर्भूगर्भादिविद्यया[2] विनैश्वर्य्यं प्राप्तुं नैव शक्येत, न प्रज्ञया विना विद्या भवितुं शक्या ॥७॥

---

१. (क) 'वर्च दीप्तौ' (भ्वा०आ०) अध्ययनमपि दीप्तिः प्रकाश एव ॥

(ख) 'वर्चः' इत्यन्ननाम । निघ० २।७ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**अभ्यावर्तिन्**) अभि आङ्पूर्वाद् '**वृतु वर्त्तने**' (भ्वा० आ०) इत्यस्मात् **सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये** (अ० ३।२।७८) इति 'णिनिः'। **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इति निघातः। **नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्** (अ० ८।१।७३) इति पूर्वामन्त्रितस्याविद्यमानवद्भावप्रतिषेधः ॥

(**अभि**) **उपसर्गाश्चाभिवर्जम्** (फि०८१) इत्यनेन 'अभि' अन्तोदात्तः ॥

(**प्रजया**) पूर्वं (य० १।२३) व्याख्यातः॥

(**धनेन**) '**धन धान्ये**' (जु० प०) इत्यस्मात् **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (अ० ३।१।१३४) इति पचादेराकृतिगणत्वाद् 'अच्'। चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते **वृषादीनां च** (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम्। कुतः? वेदेषु धनशब्द आद्युदात्त एवोपलभ्यते सर्वत्र। अनेनास्य वृषादित्वं सिद्धमेव ॥

निरुक्तकारस्त्वाह—'**धनं कस्माद् धिनोतीति सतः**'।

अत्र दुर्गः—'**धिनोतीति सतः शब्दस्य कर्त्तरि कारके सत इति कारकावधारणात्, धिनोतिस्तर्पणार्थः**'। **निरु० ३।९** ॥

स्कन्दस्तु—'**प्रीजयति हि तद् दृश्यमानमपि किमङ्ग पुनर्भुज्यमानम्**'। भाग २ पृ० १४३ ॥

यास्केन टीकाकारैश्च 'धिवि प्रीणनार्थः' इति धिविधातो व्युत्पाद्यते। नैरुक्तानां मते धिविधातोः 'डनन्' प्रत्यये सर्वेष्टसिद्धिः स्वरश्चापि ॥

(**सन्या**) '**वणषण सम्भक्तौ**' (भ्वा० प०), **षणु दाने** (तना० प०) इत्यतः **खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनि०**(उ० ४।१४०) इति 'इ' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः 'सनि' शब्दः। ततः **कृदिकारादक्तिनः** (अ० ४।१।४१ गणसूत्र) इति 'ङीष्', स चोदात्तः। तत एकादेशे तृतीयैकवचने **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (अ० ६।१।१७४) इति विभक्तिरुदात्ता ॥ पूर्वत्रेदं (यजुः ९।७) अर्थानुरोधादन्यथा व्युत्पादितं, तदप्यनुसन्धेयम् ॥

(**मेधया**) पूर्वं (य० ४।७) व्याख्यातः। यद्वा—**षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (अ० ३।३।१०४) इति भिदादिपाठाद् 'अङ्' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे ततष्टापि, **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तो 'मेधा' शब्दः। ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

(**रय्या**) पूर्वं (य० ६।२२) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. अनेका विद्याः, तत्र भूगर्भविद्यापि तदन्तर्भूतैव, अत्र तूपलक्षणमात्रमेवेति ध्येयम् ॥७॥

फिर विद्वानों के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में *किया है ॥

पदार्थः—हे (अभ्यावर्त्तिन्) सम्मुख हो के वर्त्तने वाले (अग्ने) तेजस्वी पुरुषार्थी विद्वन् पुरुष ! आप (आयुषा) बड़े जीवन (वर्चसा) अन्न तथा पढ़ने आदि (प्रजया) सन्तानों (धनेन) धन (सन्या) सब विद्याओं का विभाग करने हारी (मेधया) बुद्धि (रय्या) विद्या की शोभा और (पोषेण) पुष्टि के साथ (अभिनिवर्त्तस्व) निरन्तर वर्त्तमान हूजिये और (मा) मुझ को भी इन उक्त पदार्थों से संयुक्त कीजिये ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य लोग भूगर्भादि विद्या के विना ऐश्वर्य्य को प्राप्त [नहीं हो सकते,] और बुद्धि के विना विद्या भी नहीं हो सकती ॥७॥

अग्ने अङ्गिर इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः । †धैवतः स्वरः ॥

पुनर्विद्याभ्यासमाह ॥

अग्ने॑ऽ आङ्गिरः श॒तं ते॑ सन्त्वा॒वृतः॑ स॒हस्र॑ त॒ऽउपा॒वृतः॑ ।
अधा॒ पोष॑स्य॒ पोषे॑ण॒ पुन॑र्नो न॒ष्टमाकृ॑धि॒ पुन॑र्नो र॒यिमाकृ॑धि ॥८॥

अग्ने॑ । अ॒ङ्गि॒रः॒ । श॒तम् । ते॒ । स॒न्तु॒ । आ॒वृत॒ इत्या॒ऽवृतः॑ । स॒हस्र॑म् । ते॒ । उ॒पा॒वृत॒ इत्यु॑पऽआ॒वृतः॑ ॥
अध॑ । पोष॑स्य । पोषे॑ण । पुन॒रिति॒ पुनः॑ । नः॒ । न॒ष्टम् । आ । कृ॒धि॒ । पुन॒रिति॒ पुनः॑ । नः॒ । र॒यिम् । आ । कृ॒धि॒ ॥८॥

पदार्थः—(अग्ने) [1]पदार्थविद्यावित् (अङ्गिरः) विद्यारसयुक्त (शतम्) (ते) तव (सन्तु) ([2]आवृतः) आवृत्तिरूपाः क्रियाः (सहस्रम्) (ते) (उपावृतः) ये भोगा [3]उपावर्त्तन्ते (अध) अथ निपातस्य च [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (पोषस्य) [4]पोषकस्य जनस्य (पोषेण) पालनेन (पुनः) (नः) अस्मभ्यम् (नष्टम्) [5]अदृष्टम् विज्ञानम् (आ) समन्तात् (कृधि) कुरु (पुनः) (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) प्रशस्तां श्रियम् ([6]आ) (कृधि) कुरु । [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।६ व्याख्यातः] ॥८॥

---

१. पदार्थ इति पदं प्रसङ्गतोऽध्याह्रियते ॥

२. आवृत्यत इत्यावृत्, कर्मणि 'क्विप्' ॥

३. प्रत्यावर्त्तन्त इत्यर्थः ॥

४. कर्त्तरि घञ् । कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ वा०) इति वचनात् ॥

५. 'णश अदर्शने' (दि० प०), संसारे नात्यन्ताभावो वस्तुन इति भावः ॥

६. आकृधि आगमय । करोतिरत्र गत्यर्थ इत्यपि केचित्, तदपि साधु ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(शतम्) पूर्वं (य० १।२४) व्याख्यातः ॥

(आवृतः) पूर्वं (य० २।२६) व्याख्यातः ॥

(उपावृतः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

---

* 'किया है' इति कगकोशयोः पाठः । स च सम्यक् । 'करता है' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

† 'निषादः स्वरः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—हे अग्नेऽङ्गिरो विद्वन् ! यस्य पुरुषार्थिनस्ते तवाऽग्नेरिव शतमावृतः सहस्रं ते तवोपावृतः सन्तु, अध त्वमेतैः पोषस्य पोषेण नष्टमपि नः पुनराकृधि रयिं पुनः [नः] आकृधि ॥८॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्यासु शतश आवृत्तीः शिल्पविद्यासु सहस्रमुपावृत्तीश्च कृत्वा गुप्तागुप्ता विद्याः प्रकाश्य सर्वेषां श्रीसुखं जननीयम् ॥८॥

फिर विद्याभ्यास करना चाहिए, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) पदार्थविद्या के जानने हारे (अङ्गिरः) विद्या के रसिक विद्वन् पुरुष ! जिस पुरुषार्थी (ते) आप की अग्नि के समान (शतम्) सैकड़ों (आवृतः) आवृत्तिरूप क्रिया और (सहस्रम्) हजारह (ते) आप के (उपावृतः) आवृत्तिरूप सुखों के भोग (सन्तु) होवें, (अध) इस के पश्चात् आप इन से (पोषस्य) पोषक मनुष्य की (पोषेण) रक्षा से (नष्टम्) परोक्ष विज्ञान को (नः) हमारे लिए (पुनः) फिर भी (आकृधि) अच्छे प्रकार [सम्पन्न] कीजिये, तथा बिगड़ी हुई (रयिम्) प्रशंसित शोभा को (पुनः) फिर भी (नः) हमारे अर्थ (आकृधि) अच्छे प्रकार कीजिये ॥८॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि विद्याओं में सैकड़ों आवृत्ति और शिल्प विद्याओं में हजारह प्रकार की प्रवृत्ति से †प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध विद्याओं का प्रकाश करके सब प्राणियों के लिए लक्ष्मी और सुख उत्पन्न करें ॥८॥

❧

पुनरूर्जेत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरध्यापककृत्यमाह ॥

पुन॑रू॒र्जा निव॑र्त्तस्व॒ पुन॑रग्नऽइ॒षायु॑षा ।
पुन॑र्नः पा॒ह्यꣳह॑सः ॥९॥

(**सहस्रम्**) पूर्वं (य० ५।४३) व्याख्यातः। यद्वा—'**षह मर्षणे**' (भ्वा० आ०) इत्यतः **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९), ततो 'रः' मत्वर्थीयः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते **सहस्रेण सम्मितौ घः** (अ० ४।४।१३५) इति निपातनान्मध्योदात्तत्वम् । अव्युत्पत्तिपक्षे—**कर्दमादीनां च**(फि० ५९)इति मध्योदात्तत्वम्।। यद्वा—सहो राति ददातीति **आतोऽनुपसर्गे कः** (अ० ३।२।३) इति 'कः' । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ०६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते **मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।२। १०६ भा०वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(पुनः) स्वरादिगणे '**पुनराद्युदात्तः**' इति पाठादाद्युदात्तः ॥

(**नष्टम्**) निष्ठायां प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥८॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

---

† 'प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे प्रमादेन त्यक्तः । स च सम्यक् संस्कृतानुसारी चापि ॥

पुनः । ऊर्जा । नि । वर्त्तस्व । पुनः । अग्ने । इषा । आयुषा ॥ पुनः । नः । पाहि । अꣳहसः ॥९॥

पदार्थः—(पुनः) (ऊर्जा) पराक्रमयुक्तानि कर्माणि (नि) (वर्त्तस्व) (पुनः) (अग्ने) विद्वन् ! (इषा[1]) इच्छया (आयुषा) [2]अन्नेन (पुनः) (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (अंहसः) पापात् । [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।६ व्याख्यातः] ॥९॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं नोऽस्मानंहसः पुनर्निवर्त्तस्व[3], पुनरस्मान् पाहि, पुनरिषाऽऽयुषोर्जा प्रापय[4] ॥९॥

भावार्थः—विद्वांसः सर्वानुपदेश्यान् मनुष्यान् पापात्सततं निवर्त्य शरीरात्मबलयुक्तान् संपादयन्तु, स्वयं च पापान्निवृत्ताः परमपुरुषार्थिनः स्युः ॥९॥

फिर पढ़ाने हारे का कर्त्तव्य अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी अध्यापक विद्वान् जन ! आप (नः) हम लोगों को (अंहसः) पापों से (पुनः) वार-वार (निवर्तस्व[3]) बचाइये. (पुनः) फिर हम लोगों की (पाहि) रक्षा कीजिये, और (पुनः) फिर (इषा) इच्छा तथा (आयुषा) अन्न से (ऊर्जा) पराक्रमयुक्त कर्मों को प्राप्त कीजिये ॥९॥

भावार्थः—विद्वान् लोगों को चाहिये कि सब उपदेश के योग्य मनुष्यों को पापों से निरन्तर हटा के शरीर और आत्मा के बल से युक्त करें, और आप भी पापों से बच के परम पुरुषार्थी होवें ॥९॥

सह रय्येत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥१०॥

सह । रय्या । नि । वर्त्तस्व । अग्ने । पिन्वस्व । धारया ॥ विश्वप्स्न्येति विश्वऽप्स्न्या । विश्वतः । परि ॥१०॥

---

१. एषणमिट्, सम्पदादिभ्यः क्विप् (अ० ३।३।१०८ भा० वा०) इति भावे 'क्विप्' ॥

२. आयुः इत्यन्ननाम । निघ० २।७ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अंहसः) पूर्व (य० ४।१०) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. निपूर्वाद् 'वृतु वर्त्तने' (भ्वा० आ०) इति धातोः निवृत्तिरूपोऽर्थोऽत्र भाष्यकारेण गृह्यते, न तु यथापूर्वं (य० १२।७) 'नितरां वर्त्तस्व' इत्यर्थो गृहीतः । कुतः ? उभयथाऽपि सम्भवाद् यथेष्टं ग्रहीतुं शक्यते इति ध्येयम् ॥

अस्य क्रियावाचिपदस्यापरपादस्थेनाग्ने पदेनान्वयस्तु भाष्यकारस्यार्थप्राधान्यमभिलक्ष्येति सुधियो विभावयन्तु ॥

४. प्रकरणभेदेन सङ्गतिभेदेन च मन्त्रोऽयमग्रे (य० १२।४०) व्याख्यातः ॥९॥

पदार्थः—(सह) (रय्या) धनेन (नि) (वर्त्तस्व) (अग्ने) विद्वन् (पिन्वस्व) [1]सेवस्व (धारया) धरति सकलाविद्या यया सा वाक् तया। धारेति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १।११ ॥ (विश्वप्स्न्या) विश्वं सर्वं भोग्यं वस्तु प्सायते भक्ष्यते यया (विश्वतः) सर्वतः (परि)। [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।६ व्याख्यातः] ॥१०॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! त्वं दुष्टाद् व्यवहारान्निवर्तस्व, विश्वप्स्न्या धारया रय्या च सह विश्वतः परि पिन्वस्व सर्वदा सुखानि सेवस्व[2] ॥१०॥

भावार्थः—न खलु विद्वांसः कदाचिदप्यधर्म्ममाचरेयुः, न चान्यानुपदिशेयुः। एवं सकलशास्त्रविद्यया [3]विराजमानाः सन्तः प्रशंसिताः स्युः ॥१०॥

फिर भी उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः--हे (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् पुरुष! आप दुष्ट व्यवहारों से (निवर्त्तस्व) पृथक् हूजिये, (विश्वप्स्न्या) सब भोगने योग्य पदार्थों की भुगवाने हारी (धारया) सम्पूर्ण विद्याओं के धारण करने का हेतु वाणी तथा (रय्या) धन के (सह) साथ (विश्वतः) सब ओर से (परि) सब प्रकार (पिन्वस्व) [सदा] सुखों का सेवन कीजिये ॥१०॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुषों को चाहिये कि कभी अधर्म्म का आचरण न करें, और दूसरों को वैसा उपदेश भी न करें। इस प्रकार सब शास्त्र और विद्याओं से विराजमान [विशेष प्रकाशमान] हुए प्रशंसा के योग्य होवें ॥१०॥

---

१. पिवि मिवि णिवि सेवने (भ्वा० प०) ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पिन्वस्व) **आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्** (अ० ८।१।७२) इत्यग्ने पदस्याविद्यमानत्वान्निघातत्वं न प्रवर्त्तते। **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (अ० ६।१।१८०) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(धारया) 'धृञ् धारणे' (भ्वा० उ०) इत्यस्मात् **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (अ० ३।३।१०४) इति भिदादिपाठादेव 'अङ्' प्रत्ययः। **ऋदृशोऽङि गुणः** (अ० ७।४।१६) इति गुणे कृते, दीर्घत्वं च निपात्यते। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादिगणे पाठादाद्युदात्तत्वम् ॥

(विश्वप्स्न्या) **प्सायते जनिदाच्यु०** (उ० ४।१०४) इति बाहुलकात् कर्मणि 'निक्' प्रत्ययः, धातोष्टिलोपश्च। उपपदसमासे उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते **पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।२।१९९) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा—**कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति करणे प्रत्ययः। शेषः पूर्ववत् ॥ यद्वा—विश्वोपपदात् प्सातेः औणादिको 'ड्न्यः' प्रत्ययोऽत्र द्रष्टव्यः। ततस्तृतीयैकवचने **सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०** (अ० ७।१।३९) इत्यादिना पूर्वसवर्णः ॥

(विश्वतः) पूर्वं (य० ३।३६) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. प्रकरणभेदेन सङ्गतिभेदेन च मन्त्रोऽयमग्रे (य० १२।४१) व्याख्यातः ॥

३. विशेषेण प्रकाशमाना इत्यर्थः ॥१०॥

आ त्वेत्यस्य ध्रुव ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुना *राजप्रजाकर्म्माह ॥

आ त्वाहार्षम॒न्तर॑भूर्ध्रु॒वस्ति॒ष्ठावि॑चाचलिः ।
विश॑स्त्वा॒ सर्वा॑ वाञ्छन्तु॒ मा त्वद्रा॒ष्ट्रमधि॑भ्रशत् ॥११॥

आ । त्वा । अहा॒र्षम् । अ॒न्तः । अ॒भूः । ध्रु॒वः । ति॒ष्ठ । अवि॑चाचलि॒रित्यवि॑ऽचाचलिः ॥ विशः । त्वा । सर्वाः । वा॒ञ्छ॒न्तु॒ । मा । त्वत् । रा॒ष्ट्रम् । अधि॑ । भ्र॒श॒त् ॥११॥

पदार्थः—(आ) (त्वा) त्वां राजानम् (अहार्षम्) हरेयम् (अन्तः) सभामध्ये (अभूः) भवेः (ध्रुवः) न्यायेन राज्यपालने निश्चितः (तिष्ठ) स्थिरो भव (अविचाचलिः) सर्वथा निश्चलः (विशः) प्रजाः (त्वा) त्वाम् (सर्वाः) अखिलाः (वाञ्छन्तु) अभिलषन्तु (मा) न (त्वत्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (अधि) (भ्रशत्) †नष्टं स्यात् । [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।८ व्याख्यातः] ॥११॥

अन्वयः—हे शुभगुणलक्षण सभेश राजन् ! त्वा राज्यपालनायाहमन्तराहार्षम् । त्वमन्तरभूः, अविचाचलिर्ध्रुवस्तिष्ठ । सर्वा विशस्त्वा वाञ्छन्तु, त्वत् तव सकाशाद् राष्ट्रं माऽधिभ्रशत् ॥११॥

भावार्थः—उत्तमाः प्रजाजनाः सर्वोत्तमं पुरुषं सभाध्यक्षं राजानं कृत्वाऽनूपदिशन्तु—त्वं जितेन्द्रियः सन् सर्वदा धर्मात्मा पुरुषार्थी भवेः । न तवानाचाराद् राष्ट्रं कदाचिन्नष्टं भवेद्, यतः सर्वाः प्रजास्त्वदनुकूलाः स्युः ॥११॥

फिर राजा और प्रजा के कर्मों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे शुभ गुण और लक्षणों से युक्त सभापति राजन् ! (त्वा) आप को राज्य की रक्षा के लिये मैं (अन्तः) सभा के बीच (आहार्षम्) अच्छे प्रकार ग्रहण करूं । आप सभा में (अभूः) विराजमान हूजिये, (अविचाचलिः) सर्वथा निश्चल (ध्रुवः) न्याय से राज्यपालन में निश्चित बुद्धि होकर (तिष्ठ) स्थिर हूजिये । (सर्वाः) सम्पूर्ण (विशः)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ध्रुवः) पूर्वं (य० १।१७) व्याख्यातः ॥

(अविचाचलिः) विपूर्वात् 'चल' धातोर्यङन्तात् सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ (अ० ३।२।१७१ वा०) इति 'किन्' प्रत्ययः । अभ्यासे दीर्घोऽकितः (अ० ७।४।८३) इति दीर्घत्वम् । ततो नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(राष्ट्रम्) पूर्वं (य० ६।२३) व्याख्यातः ॥११॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'पुनः प्रजाकर्म आह' इति गकोशे अ०मुद्रिते च पाठः । ककोशे तु 'पुना राजप्रजाकर्म्माह' इत्येव शुद्धः पाठः । गकोशे प्रमादेन त्यक्तः स्यात् ॥

† 'नष्टा स्यात्' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

प्रजा (त्वा) आप की (वाञ्छन्तु) चाहना करें, (त्वत्) आप के पालने से (राष्ट्रम्) राज्य (माधिभ्रशत्) नष्ट-भ्रष्ट न होवे ॥११॥

भावार्थः—उत्तम प्रजाजनों को चाहिये कि सब से उत्तम पुरुष को सभाध्यक्ष राजा मान के उस को उपदेश करें कि आप जितेन्द्रिय हुए सब काल में धार्मिक पुरुषार्थी हूजिये। आप के बुरे आचरणों से राज्य कभी नष्ट न होवे, जिससे सब प्रजापुरुष आप के अनुकूल वर्तें ॥११॥

उदुत्तममित्यस्य शुनःशेप ऋषिः। वरुणो देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मꣳ श्र॑थाय।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ऽ अदि॑तये स्याम ॥१२॥

उत्। उ॒त्त॒ममित्यु॑त्ऽत॒मम्। व॒रु॒ण॒। पाश॑म्। अ॒स्मत्। अव॑। अ॒ध॒मम्। वि। म॒ध्य॒मम्। श्र॒था॒य॒। श्र॒थ॒येति॑ श्रथय॥ अथ॑। व॒यम्। आ॒दि॒त्य॒। व्र॒ते। तव॑। अना॑गसः। अदि॑तये। स्या॒म॒ ॥१२॥

पदार्थः—(उत्) (उत्तमम्) (वरुण) [1]शत्रूणां बन्धक (पाशम्) बन्धनम् (अस्मत्) **अस्माकं सकाशात् (अव) (अधमम्) निकृष्टम् (वि) (मध्यमम्) मध्यस्थम् ([2]श्रथाय) विमोचय (अथ) पश्चात्।** अत्र निपातस्य च [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (वयम्) **प्रजास्थाः (आदित्य) अविनाशिस्वरूप सूर्य्य इव सत्यन्यायप्रकाशक (व्रते) सत्यन्यायपालन-नियमे (तव) (अनागसः) अनपराधिनः (अदितये) पृथिवीराज्याय।** अदितिरिति पृथिवी-नामसु पठितम्। निघं० १।१। **(स्याम) भवेम।** [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।८ व्याख्यातः]॥१२॥

---

१. क्षत्रं वरुणः ॥ श० २।५।२।६॥ वरुणो वा एतं गृह्णति यः पाप्मना गृहीतो भवति ॥ श० १२।७।२।१७॥

२. छन्दसि शायजपि (अ० ३।१।८४) इति श्ना-स्थाने 'शायच्'॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उत्तमम्) पूर्व (य० ६।३) व्याख्यातः॥

(अधमम्) पूर्व (य० ६।६) व्याख्यातः॥

(मध्यमम्) मध्यान्मः (अ० ४।३।८) इति 'मः'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(श्रथाय) चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(अनागसः) इण आगोऽपराधे च (उ० ४।२१२) इति 'असुन्', आगोऽपराधः। **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते **पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।२।९१ भा० वा०) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वम्॥

(अदितये) पूर्व (य० १।११) व्याख्यातः॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

[1]अन्वयः—हे वरुणादित्य ! त्वमस्मदधमं मध्यममुत्तमं पाशमुदवविश्रथायाथ वयमदितये तव व्रतेऽनागसः स्याम ॥१२॥

भावार्थः—यथेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावानुकूला धार्मिका जनाः सत्याचरणे वर्त्तमानाः सन्तः *पापबन्धान्मुक्ता सुखिनो भवन्ति, तथैवोत्तमं राजानं प्राप्य प्रजाजना आनन्दिता जायन्ते ॥१२॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (वरुण) शत्रुओं को बांधने [वाले,] (आदित्य) स्वरूप से अविनाशी, सूर्य्य के समान सत्य न्याय के †प्रकाशक, सभापति विद्वन् ! आप (अस्मत्) हम से (अधमम्) निकृष्ट (मध्यमम्) मध्यस्थ और (उत्तमम्) उत्तम (पाशम्) बन्धन को (उदवविश्रथाय) विविध प्रकार से छुड़ाइये । (अथ) इस के पश्चात् (वयम्) हम प्रजा के पुरुष (अदितये) पृथिवी के अखण्डित राज्य के लिये (तव) आप के (व्रते) सत्य न्याय के पालनरूप नियम में (अनागसः) अपराधरहित (स्याम) होवें ॥१२॥

भावार्थः—जैसे ईश्वर के गुण कर्म और स्वभाव के अनुकूल सत्य आचरणों में वर्त्तमान हुए धर्मात्मा मनुष्य पाप के बन्धनों से छूट के सुखी होते हैं, वैसे ही उत्तम राजा को प्राप्त हो के प्रजा के पुरुष आनन्दित होते हैं ॥१२॥

अग्ने बृहन्नित्यस्य त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षीपङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अग्ने बृहन्नुषसामूर्ध्वोऽ अस्थान्निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात् ।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्गऽ आ जातो विश्वा सद्मान्यप्राः ॥१३॥

अग्ने । बृहन् । उषसाम् । ऊर्ध्वः । अस्थात् । निर्जगन्वानिति निःऽजगन्वान् । तमसः । ज्योतिषा । आ । अगात् ॥ अग्निः । भानुना । रुशता । स्वङ्ग इति सुऽअङ्गः । आ । जातः । विश्वा । सद्मानि । अप्राः ॥१३॥

पदार्थः—(अग्रे) प्रथमतः (बृहन्) महान् (उषसाम्) प्रभातानाम् (ऊर्ध्वः) उपर्य्याकाशस्थः (अस्थात्) तिष्ठति ([2]निर्जगन्वान्) निर्गतः सन् (तमसः) अन्धकारात् (ज्योतिषा) प्रकाशेन (आ) (अगात्) §प्राप्नोति (अग्निः) पावकः (भानुना) दीप्त्या ([3]रुशता) सुरूपेण (स्वङ्गः) शोभनान्यङ्गानि यस्य सः (आ) (जातः) निष्पन्नः (विश्वा)

१. ऋ० १।२५।१५ ईश्वरपरस्तत्र व्याख्यातः ।१२।
२. गमधातो र्लिटि क्वसौ रूपम् ॥
३. रुशत् वर्ण नाम, रोचतेर्ज्वलति कर्मणः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया
(अग्ने) ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २।३१) इत्यादिना 'रन्' प्रत्ययः । नित्स्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

* 'बन्धात्' इति कपाठः ॥ † 'प्रकाश करने हारे' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥
§ 'गच्छति प्राप्नोति' इति गपाठः ॥

(सद्मानि) साकाराणि स्थानानि (अप्राः) व्याप्नोति । [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।१० व्याख्यातः] ॥१३॥

अन्वयः—हे राजन् ! यस्त्वमग्रे यथा [अग्निः] [1]सूर्य्यः स्वङ्ग आ जातो बृहन्नुषसामूर्ध्वोऽस्थाद् रुशता भानुना ज्योतिषा तमसो निर्जगन्वान् सन्नागाद्विश्वा सद्मान्यप्रास्तद्वत् प्रजायां भव ॥१३॥

भावार्थः—यः सूर्य्यवत् सद्गुणैर्महान्, सत्पुरुषाणां शिक्षयोत्कृष्टो, दुर्व्यसनेभ्यः पृथग्वर्त्तमानः, सत्यन्यायप्रकाशितः, सुन्दराङ्गः, प्रसिद्धः, सर्वैः सत्कर्त्तुं योग्यो, विदितवेदितव्यो, दूतैः सर्वजनहृदयाशयविच्छुभन्यायेन प्रजा व्याप्नोति, स एव राजा भवितुं योग्यः ॥१३॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजन् ! जो आप (अग्रे) पहिले से जैसे [(अग्निः)] सूर्य्य (स्वङ्गः) सुन्दर अवयवों से युक्त (आजातः) प्रकट हुआ (बृहन्) बड़ा (उषसाम्) प्रभातों के (ऊर्ध्वः) ऊपर आकाश में (अस्थात्) †स्थिर होता, और (रुशता) सुन्दर (भानुना) दीप्ति तथा (ज्योतिषा) प्रकाश से (तमसः) अन्धकार को (निर्जगन्वान्) निरन्तर पृथक् करता हुआ (आगात्) सब लोक लोकान्तरों को प्राप्त होता है, [तथा] (विश्वा) सब (सद्मानि) स्थूल स्थानों को (अप्राः) प्राप्त होता है, उसके समान प्रजा के बीच आप हूजिये ॥१३॥

(बृहन्) पूर्वं (य० २।१८) सुविख्यातः॥

(उषसाम्) पूर्वं (य० ३।१०) सुव्याख्यातः ॥

(ऊर्ध्वः) पूर्वं (य० २।८) व्याख्यातः ॥

(निर्जगन्वान्) गमेः 'क्वसु' प्रत्ययः । विभाषा गमहनविदविशाम् (अ० ७।२।६८) इति पक्ष इडभावः । म्वोश्च (अ० ८।२।६५) इति मकारस्य नकारः । ततो गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(तमसः) ताम्यतेरसुन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(ज्योतिषा) पूर्वं (य० २।६) व्याख्यातः ॥

(भानुना) दाभाभ्यां नुः (उ० ३।३२) प्रत्ययस्वरः ॥

(रुशता) रुशेर्हिंसार्थात् तुदादेः रोचत्यर्थे वर्त्तमानात् लटः शतरि प्रत्यये तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशा० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे शप्रत्ययस्वरप्राप्तौ छान्दसाद्युदात्तत्वम् ॥

(स्वङ्गः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्त्वे प्राप्ते आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(सद्मानि) सदेर्मनिन्, नित्त्वादाद्युदात्तः, सीदन्ति यस्मिन् इत्यधिकरणे ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अग्निरेव सविता ॥ जै० उ० ४।२७।१ ॥ गो० पू० १।३३ ॥१३॥

---

† 'स्थित' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

भावार्थः—जो सूर्य के समान श्रेष्ठ गुणों से प्रकाशित, सत्पुरुषों की शिक्षा से उत्कृष्ट, बुरे व्यसनों से अलग, सत्य न्याय से प्रकाशित, सुन्दर अवयव वाला, सर्वत्र प्रसिद्ध, सबके सत्कार [योग्य] और जानने योग्य व्यवहारों का ज्ञाता, और दूतों के द्वारा सब मनुष्यों के आशय को जानने वाला, शुद्ध न्याय से प्रजाओं में प्रवेश करता है, वही पुरुष राजा होने के योग्य होता है ॥१३॥

हंस इत्यस्य त्रित ऋषिः । जीवेश्वरौ देवते । *निचृद् जगती छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

अथात्मलक्षणान्याह ॥

हुꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजाऽ ऋतजाऽ अद्रिजाऽ ऋतं बृहत् ॥१४॥

हुꣳसः । शुचिषत् । शुचिसदिति शुचिऽसत् । वसुः । अन्तरिक्षसदित्यन्तरिक्षऽसत् । होता । वेदिषत् । वेदिसदिति वेदिऽसत् । अतिथिः । दुरोणसदिति दुरोणऽसत् । नृषत् । नृसदिति नृऽसत् । वरसदिति वरऽसत् ॥ ऋतसदित्यृतऽसत् । व्योमसदिति व्योमऽसत् । अब्जा इत्यप्ऽजाः । गोजा इति गोऽजाः । ऋतजा इत्यृतऽजाः । अद्रिजा इत्यद्रिऽजाः । ऋतम् । बृहत् ॥१४॥

पदार्थः—(हंसः) [1]दुष्टकर्महन्ता (शुचिषत्) शुचिषु पवित्रेषु व्यवहारेषु वर्त्तमानः (वसुः) सज्जनेषु निवस्ता तेषां निवासयिता वा (अन्तरिक्षसत्) यो धर्मावकाशे सीदति (होता) सत्यस्य ग्रहीता ग्राहयिता वा (वेदिषत्) यो वेद्यां [2]जगत्यां यज्ञशालायां वा सीदति (अतिथिः) अविद्यमाना तिथिर्यस्य स राज्यरक्षणाय यथासमयं भ्रमणकर्त्ता [वा] (दुरोणसत्) यो दुरोणे सर्वर्त्तुसुखप्रापके [आकाशे] गृहे वा सीदति सः (नृषत्) यो नायकेषु सीदति सः (वरसत्) यः [दिव्येषु पदार्थेषु] उत्तमेषु विद्वत्सु [वा] सीदति (ऋतसत्) य ऋते सत्ये संस्थितः (व्योमसत्) यो व्योमवद् व्यापके परमेश्वरे [आकाशे वा] सीदति (अब्जाः) योऽपः प्राणान् जनयति (गोजाः) यो †गाः इन्द्रियाणि पशून् वा जनयति

१. (क) यो हन्ति पापानि सः । ऋ० ४।४०।५ भाष्ये । गमकत्वादत्र समासः ॥
(ख) स्वप्रेरणया दुष्टस्वभावानामपाकरणेन दुष्टकर्मनिवारक इत्यर्थः ॥

२. पृथिवी वेदिः ॥ ऐ० ब्रा० ५।२८ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(शुचिषत्) पूर्वं (य० १।२४) व्याख्याने सर्वेऽपीमे शब्दा व्याख्याताः ॥

(अब्जाः) (गोजाः) (ऋतजाः) (अद्रिजाः) सर्वेऽपीमे शब्दास्तेषु तेषूपपदेषु अन्तर्भावितण्यर्थाद् 'जनी प्रादुर्भावे' धातोः जनसनखनक्रमगमो विट् (अ० ३।२।६७) इति 'विट्' । विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ६।४।४१) इत्यात्वम् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'स्वराड् जगती' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥ † 'गाव' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

(ऋतजाः) य ऋतं सत्यं ज्ञानं जनयति सः (अद्रिजाः) योऽद्रीन् मेघान् जनयति (ऋतम्) सत्यम् (बृहत्) महत्। [अयं मन्त्रः श०६।७।३।११व्याख्यातः] ॥ १४ ॥

[1]अन्वयः—हे प्रजाजनाः! यूयं यो हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसन्नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहद् ब्रह्म जीवश्चास्ति, यस्तौ जानीयात्, तं सभाधीशं राजानं कृत्वा सततमानन्दत ॥१४॥

भावार्थः—य ईश्वरवत् प्रजाः पालयितुं सुखयितुं शक्नुयात् स एव राजा भवितुं योग्यः स्यान्न हीदृशेन† राज्ञा विना प्रजाः सुखिन्यो भवितुमर्हन्ति ॥१४॥

अब अगले मन्त्र में परमात्मा और जीव के लक्षण कहे हैं ॥

पदार्थः—हे प्रजा के पुरुषो! तुम लोग जो (हंसः) दुष्ट कर्मों का नाशक (शुचिषत्) पवित्र व्यवहारों में वर्त्तमान (वसुः) सज्जनों में वसने वा उन को वसाने वाला (अन्तरिक्षसत्) धर्म के अवकाश में स्थित (होता) सत्य का ग्रहण करने और कराने वाला (वेदिषत्) सब पृथिवी वा यज्ञ के स्थान में स्थित (अतिथिः) अतिथि वा राज्य की रक्षा के लिये यथोचित समय में भ्रमण करने वाला (दुरोणसत्) ऋतुओं में सुखदायक आकाश में व्याप्त वा घर में रहने वाला (नृषत्) सेना आदि के नायकों का अधिष्ठाता (वरसत्) [2][दिव्य पदार्थों में अथवा] उत्तम विद्वानों की आज्ञा में स्थित (ऋतसत्) सत्याचरणों में आरुढ़ (व्योमसत्) आकाश के समान सर्वव्यापक ईश्वर वा §आकाश में स्थित (अब्जाः) प्राणों के प्रकट करने हारा (गोजाः) इन्द्रिय वा पशुओं को प्रसिद्ध करने हारा (ऋतजाः) सत्य विज्ञान को उत्पन्न करने हारा (अद्रिजाः) मेघों को वर्षाने वाला विद्वान् (ऋतम्) सत्यस्वरूप (बृहत्) अनन्त ब्रह्म और जीव को जाने, उस पुरुष को सभा का स्वामी राजा वना के निरन्तर आनन्द में रहो ॥१४॥

भावार्थः—जो पुरुष ईश्वर के समान प्रजाओं को पालने और सुख देने को समर्थ हो, वही राजा होने के योग्य होता है, और ऐसे राजा के बिना प्रजाओं को सुख भी नहीं हो सकता ॥१४॥

सीद त्वमित्यस्य त्रित ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः।
धैवतः स्वरः॥

पुनर्मातृकृत्यमाह॥

सीद॒ त्वं मा॒तुर॒स्याऽ उ॒पस्थे॒ विश्वा॑न्यग्ने व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
मैनां॒ तप॑सा॒ मार्चिषा॒ऽभि शो॑चीर॒न्तर॑स्याᳪं शु॒क्रज्यो॑ति॒र्विभा॑हि ॥१५॥

१. मन्त्रोऽयं पूर्वं (य० १०।२४) व्याख्यातः॥ २. 'दिव्य पदार्थों में' इतीश्वरपक्षे ॥१४॥

† 'नहीदृशेन' इति पाठः ककोशेऽस्ति, प्रमादेन गकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा त्यक्त इति ध्येयम्॥
§ 'वा जीव स्थित' इति अ०मुद्रिते पाठः। स च ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितः॥

सीद । त्वम् । मातुः । अस्याः । उपस्थ इत्युपऽस्थे । विश्वानि । अग्ने । वयुनानि । विद्वान् ॥ मा । एनाम् । तपसा । मा । अर्चिषा । अभि । शोचीः । अन्तः । अस्याम् । शुक्रज्योतिरिति शुक्रऽज्योतिः । वि । भाहि ॥१५॥

पदार्थः—(सीद) तिष्ठ (त्वम्) (मातुः) जनन्याः (अस्याः) प्रत्यक्षाया भूमेरिव (उपस्थे) समीपे (विश्वानि) सर्वाणि (अग्ने) [1]विद्यामभीप्सो (वयुनानि) [2]प्रज्ञानानि (विद्वान्) यो वेत्ति सः (मा) (एनाम्) (तपसा) सन्तापेन (मा) (अर्चिषा) तेजसा (अभि) (शोचीः) शोकयुक्तां कुर्याः (अन्तः) आभ्यन्तरे (अस्याम्) मातरि (शुक्रज्योतिः) शुक्रं शुद्धाचरणं ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः (वि) (भाहि) प्रकाशय। [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।१५ व्याख्यातः] ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वमस्यां मातरि सत्यां विभाहि प्रकाशितो भव, *शुक्रज्योतिर्विद्वान् अस्या भूमेरिव मातुरुपस्थे सीद ; अस्याः सकाशाद् विश्वानि वयुनानि प्राप्नुहि । एनामन्तर्मा तपसार्चिषा माभिशोचीः किन्त्वेतच्छिक्षां प्राप्य विभाहि ॥१५॥

भावार्थः—यो विदुष्या मात्रा विद्यासुशिक्षां प्रापितो मातृसेवको जननीवत् प्रजाः पालयेत्, स राज्यैश्वर्येण †प्रकाशेत ॥१५॥

माता का कर्म्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्या को चाहने वाले पुरुष ! (त्वम्) आप (अस्याम्) इस माता के §विद्यमान होने पर (विभाहि) प्रकाशित हों। (शुक्रज्योतिः) शुद्ध आचरणों के प्रकाश से युक्त (विद्वान्) विद्यावान् आप [(अस्याः) इस प्रत्यक्ष] पृथिवी के समान आधार [रूप] (मातुः) इस माता की (उपस्थे) गोद में (सीद) स्थित हूजिये। इस माता से (विश्वानि) सब प्रकार की (वयुनानि) बुद्धियों को प्राप्त हूजिये। [(एनाम्)] इस माता को (अन्तः) अन्तःकरण में (मा) मत (तपसा) सन्ताप से तथा (अर्चिषा) तेज से (मा) मत (अभिशोचीः) शोकयुक्त कीजिये, किन्तु इस माता से शिक्षा को प्राप्त होके प्रकाशित हूजिये ॥१५॥

---

१. तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि, कुमारो नवमः ॥ श० ६।१।३।१८ ॥

२. वयुनं प्रज्ञानाम ॥ निघ० ३।६ ॥ कान्तिर्वा प्रज्ञा वा । निरु०५।१५॥ वयुनानि प्रज्ञानानि । निरु० ८।२० ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उपस्थे) पूर्व (य० १।११)व्याख्यातः ॥

(अर्चिषा) अर्चिशुचिहुसृपि० (उ० २।१०८) इति 'इसिः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ॥

(अस्याम्) इदमोऽन्वादेशे० (अ० २।४।३२) इत्यनुदात्तत्वम् ॥

(शुक्रज्योतिः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ शुक्रशब्दः 'शुच शोके' (भ्वा० प०) इति धातोः ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र०(उ० २।२८)इति 'रन्' । निपातनात् कुत्वमन्तोदात्तत्वं च ॥१५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'अस्या भूमेरिव शुक्रज्योतिर्विद्वान्' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

† 'प्रकाशितो भवेत्' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

§ 'होने में' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'समय में' इति कपाठः ॥

भावार्थः—जो *विदुषी माता द्वारा विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त किया हुआ, माता का सेवक, जैसे माता पुत्रों को पालती है वैसे प्रजाओं का पालन करे, वह पुरुष §राज्य के ऐश्वर्य्य से प्रकाशित होवे ॥१५॥

अन्तरग्न इत्यस्य त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

पुना राजकर्म्माह ॥

अ॒न्तर॑ग्ने रु॒चा त्वमु॒खाया॒: सद॑ने॒ स्वे ।
तस्या॒स्त्वꣳ हर॑सा॒ तप॒ञ्जात॑वेदः शि॒वो भ॑व ॥१६॥

अ॒न्तः । अ॒ग्ने॒ । रु॒चा । त्वम् । उ॒खायाः॑ । सद॑ने । स्वे ॥ तस्याः॑ । त्वम् । हर॑सा । तप॑न् । जात॑वेदु इति॑ जात॑ऽवेदः । शि॒वः । भ॒व ॥१६॥

पदार्थः—(**अन्तः**) मध्ये (**अग्ने**) विद्वन् (**रुचा**) प्रीत्या (**त्वम्**) ([1]**उखायाः**) प्राप्तायाः प्रजायाः (**सदने**) अध्ययनस्थाने (**स्वे**) स्वकीये (**तस्याः**) (**त्वम्**) (**हरसा**) ज्वलनेन । हर इति ज्वलतो नामसु पठितम् ॥ निघं० १।१७। (**तपन्**) शत्रून् सन्तापयन् (**जातवेदः**) जाता विदिता वेदा यस्य तत्संबुद्धौ (**शिवः**) मङ्गलकारी (**भव**) । [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।१५ व्याख्यातः] ॥१६॥

अन्वयः—हे जातवेदोऽग्ने ! यस्त्वं यस्या उखाया अधोऽग्निरिव स्वे सदने तपन् सन्नन्ता रुचा वर्त्तथास्तस्या हरसा सन्तपंस्त्वं शिवो भव ॥१६॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—**यथा सभाध्यक्षो राजा न्यायासने स्थित्वा परमरुच्या राज्यपालनकृत्यानि कुर्यात् तथा प्रजा राजानं सुखयन्ती सती दुष्टान् संतापयेत् ॥१६॥**

१. (क) **प्राजापत्यमेतत् कर्म यदुखा ॥** श० ६।२।२।२३ ॥ **अयं वाऽग्निरुख्यः ॥** श० ८।२।१।४ ॥

(ख) उख इति गत्यर्थोऽयं धातुः, अत्र गतिः प्राप्त्यर्थो गृह्यते ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**रुचा**) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(**उखायाः**) 'उख गतौ' (भ्वा० प०) इत्येतस्मात् इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति 'कः' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततष्टाप्येकादेशे स एव स्वरः ॥

यदा तु माङः उखः (ना० उणादि० ५।३२) इति माङ्धातोः खान्त उखशब्दो निपात्यते, मीयतेऽसावित्युखा (इति दशपाद्युणादि वृ० ३।५७), तदापि प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तत्वम् । उज्ज्वलपाठानुसारी मयूखस्त्वत्र साधीयानिव प्रतिभाति ॥

(**सदनम्**) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु

* 'विद्वान् माता' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥
§ 'राजा के ऐश्वर्य से' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'राज्य के ऐश्वर्य से' इति कपाठः ॥

फिर राजा क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) वेदों के ज्ञाता (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् ! (त्वम्) आप जिस (उखायाः) प्राप्त हुई प्रजा के *नीचे अग्नि के समान, (स्वे) अपने (सदने) पढ़ने के स्थान में (तपन्) शत्रुओं को संताप कराते हुए (अन्तः) मध्य में (रुचा) प्रीति से वर्तो, (तस्याः) उस प्रजा के (हरसा) प्रज्वलित तेज से शत्रुओं का निवारण करते हुए [(त्वम्) आप] (शिवः) मङ्गलकारी (भव) हूजिये ॥१६॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे सभाध्यक्ष राजा को चाहिये कि न्याय करने की गद्दी पर बैठ के अत्यन्त प्रीति के साथ राज्य के पालन रूप कार्यों को करे, वैसे प्रजाओं को चाहिये कि राजा को सुख देती हुई दुष्टों को ताड़ना करें ॥१६॥

शिवो भूत्वेत्यस्य त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽ अथो सीद शिवस्त्वम् ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥१७॥

शिवः । भूत्वा । मह्यम् । अग्ने । अथोऽइत्यथो । सीद । शिवः । त्वम् ॥ शिवाः । कृत्वा । दिशः । सर्वाः । स्वम् । योनिम् । इह । आ । असदः ॥१७॥

पदार्थः—(शिवः) स्वयं मङ्गलाचारी (भूत्वा) (मह्यम्) प्रजाजनाय (अग्ने) शत्रुविदारक (अथो) (सीद) (शिवः) मङ्गलकारी (त्वम्) (शिवः) मङ्गलचारिणीः (कृत्वा) (दिशः) या $दिश्यन्त उपदिश्यन्ते दिग्भिः सहचरितास्ताः प्रजाः (सर्वाः) (स्वम्) (योनिम्) [1]राजधर्मासनम् (इह) अस्मिन् जगति (आ) (असदः) आस्स्व । [अयं मन्त्रः श० ६।७।३।१५ व्याख्यातः] ॥१७॥

(भ्वा० प०) इत्यतः करणाधिकरणयोश्च (अ० ३।३।११७) इति सामान्यविवक्षायां कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ वा०) इति वा 'ल्युट्' । लिति (अ० ६।१।१९३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(हरसा) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९), नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥१६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. योनिरेव वरुणः ॥ श० १२।९।१।१७ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मह्यम्) ङयि च (अ० ६।१।२१२) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

---

* 'नीचे से अग्नि के समान' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

$ 'दिव्यन्त' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं मह्यं शिवो भूत्वेह शिवः सन्, सर्वा दिशः शिवाः कृत्वा स्वं योनिमासदोऽथो राजधर्मे सीद ॥१७॥

भावार्थः—राजा स्वयं धार्मिको भूत्वा प्रजाजनानपि धार्मिकान् संपाद्य, न्यायासनमधिष्ठाय, सततं न्यायं कुर्यात् ॥१७॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुओं को जलाने वाले विद्वन् पुरुष ! (त्वम्) आप (मह्यम्) हम प्रजाजनों के लिये (शिवः) मङ्गलाचरण करने हारे (भूत्वा) होकर (इह) इस संसार में (शिवः) मङ्गलकारी हुए, (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं में रहने हारी प्रजाओं को (शिवाः) मङ्गलाचरण से युक्त (कृत्वा) करके (स्वम्) अपने (योनिम्) राजधर्म के आसन पर (आसदः) बैठिये, और (अथो) इसके पश्चात् राजधर्म में (सीद) स्थिर हूजिये ॥१७॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि आप धर्मात्मा होके प्रजा के मनुष्यों को धार्मिक कर और न्याय की गद्दी पर बैठ के निरन्तर न्याय किया करे ॥१७॥

दिवस्परीत्यस्य वत्सप्री ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुना राजविषयमाह ॥

दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽ अग्निरस्मद्द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणाऽ अजस्रमिन्धानऽ एनं जरते स्वाधीः ॥१८॥

दिवः । परि । प्रथमम् । जज्ञे । अग्निः । अस्मत् । द्वितीयम् । परि । जातवेदा इति जातऽवेदाः ॥ तृतीयम् । अप्स्वित्यप्ऽसु । नृमणाः । नृमना इति नृऽमनाः । अजस्रम् । इन्धानः । एनम् । जरते । स्वाधीरिति सुऽआधीः ॥१८॥

पदार्थः—(दिवः) विद्युतः (परि) [1]उपरि (प्रथमम्) (जज्ञे) जायते (अग्निः) (अस्मत्) (अस्माकं) सकाशात् (द्वितीयम्) (परि) (जातवेदाः) [2]जातप्रज्ञानः (तृतीयम्) (अप्सु) प्राणेषु जलेषु वा (नृमणाः) नृषु नायकेषु मनो यस्य सः (अज-

---

(अथो) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(सीद) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. तथा च पञ्चम्याः परावध्यर्थे (अ० ८।३।५१) इति विसर्जनीयस्य सकारः, अध्यर्थश्चोपरिभाव एव ॥

२. जातवेदा जातधनो जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः ॥ निरु० ७।१६ ॥

स्रम्) निरन्तरम् (इन्धानः) प्रदीपयन् (एनम्) (जरते)[1] स्तौति ([2]स्वाधीः) शोभना ध्यानयुक्ताः प्रजाः ॥ १८ ॥

अन्वयः— हे सभेश ! [3]योऽग्निरिव त्वमस्मद्* दिवस्परि जज्ञे, तमेनं प्रथमं यो जातवेदास्त्वं जज्ञे तमेनं द्वितीयं यो नृमणास्त्वमप्सु जज्ञे तमेनं तृतीयमजस्रमिन्धानो विद्वान् परिजरते [3]स त्वं [4]स्वाधीः प्रजाः स्तुहि ॥ १८ ॥

भावार्थः—[5]मनुष्यैरादौ ब्रह्मचर्य्येण विद्यासुशिक्षा, द्वितीयेन गृहाश्रमेणैश्वर्य्यं, तृतीयेन वानप्रस्थेन तपश्चरणं, चतुर्थेन संन्यासाश्रमेण नित्यं वेदविद्या धर्मप्रकाशनं च कर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥

फिर राजधर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे सभापति राजन् ! जो (अग्निः) अग्नि के समान आप (अस्मत्) हम लोगों से (दिवः) बिजुली के (परि) ऊपर (जज्ञे) प्रकट होते हैं, उस (एनम्) आप को (प्रथमम्) पहिले, जो (जातवेदाः) बुद्धिमानों में प्रसिद्ध उत्पन्न हुए उस आप को (द्वितीयम्) दूसरे, जो (नृमणाः) मनुष्यों में विचारशील आप† (अप्सु) प्राण वा जल क्रियाओं

---

१. जरते अर्चतिकर्मा । निघ० ३।१४ ॥ गृणातीति निरु० ४।२४ ॥ स्कन्ददुर्गावपि 'स्तौति' इत्याहतुः ॥

२. सुष्ठु समन्ताद् धीयते यया (ऋ० १।६७।१ द० भाष्ये यथा, तद्वदत्रापि) ॥ या सुष्ठु समन्ताद् ध्यायति सर्वान् सा (ऋ० १।७०।२ द० भाष्ये यथा)। शोभना आधयः सन्ति यासां ताः नीतयः (ऋ० ६।३२।२ द० भाष्ये यथा)॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**प्रथमम्**) पूर्वं (य० ३।१५) व्याख्यातः ॥

(**द्वितीयम्**) **द्वेस्तीयः** (अ० ५।२।५४) इति 'तीयः', प्रत्ययस्वरः ॥

(**तृतीयम्**) **त्रेः सम्प्रसारणं च** (अ० ५।२।५५) इति 'तीय' प्रत्यये, प्रत्ययस्वरः ॥

(**नृमणाः**) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **परादिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(**अजस्रम्**) पूर्वं (य० ११।२८) व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः ॥

(इन्धानाः) पूर्वं (य० ३।१८) व्याख्यातः॥

(**स्वाधीः**) यथा पूर्वं व्युदपादि तथा **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा—बहुव्रीहिपक्षे **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. अत्र वाक्यपरिसमाप्त्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। (निरु० ४।२४, स्कन्द टी० २६७) ॥

४. प्रजाविशेषणत्वेन स्त्रीलिङ्गोऽयं 'स्वाधीः' शब्दोऽत्रेति बोध्यम्। तस्य चात्र 'शसि' रूपं गृह्यत इत्यपि ध्येयम् ॥ **ध्यायतेः सम्प्रसारणं च** (अ० ३।२।१७८) इति 'क्विप्', सम्प्रसारणं च ॥

५. 'मनुष्यैः' इत्यनेनात्र 'राजपुरुषाः' अभिप्रेता इति ध्येयम् ॥१८॥

---

* अयम् 'अस्मत्' शब्दोऽजमेरमुद्रिते 'जातवेदास्त्वमस्मज्जज्ञे' इत्यत्र सन्नपि युक्ततरत्वादत्रानीतोऽस्माभिः' तथा च भाषापदार्थेऽप्युपलभामहे ॥

† इतोऽग्रे '(तृतीयम्) तीसरे' इति पाठः अ०मुद्रितेऽस्थान आसीदित्यग्रे नीतोऽस्माभिः ॥

में विदित हुए उस आप को (तृतीयम्) तीसरे (अजस्रम्) निरन्तर (इन्धानः) प्रकाशित करता हुआ विद्वान् ([परि] जरते) सब प्रकार स्तुति करता है, सो आप (स्वाधीः सुन्दर ध्यान से युक्त §प्रजाओं को प्रकाशित कीजिए ॥ १८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम के सहित विद्या तथा शिक्षा का ग्रहण, दूसरे गृहाश्रम से धन का सञ्चय, तीसरे वानप्रस्थ आश्रम से तप का आचरण, और चौथे संन्यास लेकर वेदविद्या और धर्म का नित्य प्रकाश करें ॥१८॥

विद्मा त इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विद्मा तेऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यतऽआजगन्थ ॥१९॥

विद्म । ते । अग्ने । त्रेधा । त्रयाणि । विद्म । ते । धाम । विभृतेति *विऽभृता । पुरुत्रेति पुरुऽत्रा ॥ विद्म । ते । नाम । परमम् । गुहा । यत् । विद्म । तम् । उत्सम् । यतः । आजगन्थेत्याऽजगन्थ ॥१९॥

पदार्थः—(विद्म) †जानीयाम । अत्र चतसृषु क्रियासु संहितायां द्वचचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३४] इति दीर्घः । विदो लटो वा [अ०३।४।८३] इति णलादय आदेशाः । (विद्म) (ते) तव (अग्ने) विद्वन् ! (त्रेधा) त्रिभिः प्रकारैः (त्रयाणि) त्रीणि (विद्म) (ते) तव (धाम) [1]धामानि (विभृता) विशेषेण धर्तुं योग्यानि (पुरुत्रा) पुरूणि बहूनि (विद्म) (ते) (नाम) (परमम्) (गुहा) गुहायां स्थितं गुप्तम् (यत्) (विद्म) (तम्) ([2]उत्सम्) कूपइवार्द्रीकरम् । उत्स इति कूपनामसु पठितम् ॥ निघं० ३।२३ । (यतः) यस्मात् ([3]आजगन्थ) आगच्छेः ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।७।४।४ व्याख्यातः] ॥ १९ ॥

१. धामानि त्रयाणि भवन्ति । स्थानानि, नामानि, जन्मानि ॥ निरु० ६।२८ ॥

२. उत्स उत्सरणाद् वा, उत्सदनाद् वा, उत्स्यन्दनाद् वा, उनत्तेर्वा ॥ निरु० १०।९ ॥

३. गमधातोर्लिटि उपदेशेऽत्वतः (७।२।६२) इत्यनिट् पक्षे 'जगन्थ' इति रूपम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(विद्म) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

§ 'प्रजाओं के गुणों को' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

* विभृऽता' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

† 'जानीमः' इति कगपाठः । अस्मिन् पक्षे लटि सत्येवाग्रिमः 'विदो लटो वेति णलादय आदेशाः' इति पाठः उपयुक्तः । 'जानीयाम' इति पक्षे तु न सङ्गच्छते । कारणं तु—अपूर्णमत्र संशोधनमित्येव प्रतिपद्यामहे । अन्यत्र (ऋ० १।२२।१० भाष्ये) अपि तथैव दर्शनाद्, इति सुधियो विभावयन्तु ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! ते तव यानि त्रेधा त्रयाणि कर्माणि सन्ति, तानि वयं विद्म । हे स्थानेश ! ते यानि विभृता पुरुत्रा धाम §धामानि सन्ति तानि वयं विद्म । हे विद्वन् ! ते तव यद् गुहा परमं नामास्ति, तद्वयं विद्म । यतस्त्वमाजगन्थ, तं त्वामुत्सम् इव विद्म $विजानीमः ॥ १६ ॥

भावार्थः—प्रजास्थैर्जनै राज्ञा च राजनीतिकर्माणि, स्थानानि, सर्वेषां नामानि च विज्ञेयानि । यथा ∫कृषीबलाः कूपाज्जलमुत्कृष्य क्षेत्रादीनि तर्पयन्ति, तथैव ‡प्रजास्थैर्धनादिभी राजा तर्पणीयो, राज्ञा प्रजाश्च तर्प्पणीयाः ॥ १६ ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! (ते) आप के जो (त्रेधा) तीन प्रकार से (त्रयाणि) तीन कर्म हैं, उन को हम लोग (विद्म) जानें । हे स्थानों के स्वामी ! (ते) आप के जो (विभृता) विशेष करके धारण करने योग्य (पुरुत्रा) बहुत (धाम) नाम जन्म और स्थान रूप हैं, उन को हम लोग (विद्म) जानें । हे विद्वन् पुरुष ! (ते) आप का (यत्) जो (गुहा) बुद्धि में स्थित गुप्त (परमम्) श्रेष्ठ (नाम) नाम है, उस को हम लोग (विदम) जानें । (यतः) जिस कारण आप (आजगन्थ) अच्छे प्रकार प्राप्त होवें, (तम्) उस (उत्सम्) कूप के तुल्य तर करने हारे आप को (विद्म) हम लोग जानें ॥१६॥

(विभृता) शेश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६।१।७०) इति शेर्लुक् । गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(पुरुत्रा) कृत्स्वरः, शेर्लुक् च ॥

(गुहा) पूर्वं (य० ८।९) व्याख्यातः ॥ षिद्भिदादिभ्योऽङ् (अ० ३।३।१०४) इति 'अङ्' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादिपाठादाद्युदात्तत्वम् ॥

(उत्सम्) उत्पूर्वात् सर्त्तेः, सदतेः, स्यन्देर्वा 'ड' प्रत्ययः । स्यन्दतेर्यलोपश्च । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते दासीभाराणां चेति वक्तव्यम् (अ० ६।२।४२ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् । उन्दिगुधिकुषिभ्यश्च (उ० ३।६८) इति सः प्रत्ययः, किदनुवृत्तेः किच्च । प्रत्ययस्वरे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा—उन्दी क्लेदने, उन्देर्नलोपश्च (भो० उ० २।३।१७२) इति सः, निच्च । नित्वादाद्युदात्तः ॥

(आजगन्थ) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः । तत उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ वा०) इति समासे तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) गतिरनुदात्तः॥१६॥इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

---

§ 'धामानि' इति ककोश उपलभ्यते ॥

$ भाषापदार्थानुसारं तु 'विजानीयाम' इति स्यात् ॥

∫ 'कृषीबलाः' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

‡ 'प्रजास्थै.' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् । भाषापदार्थेऽस्य निर्देशो विद्यते ॥

भावार्थः—प्रजा के पुरुष और राजा को योग्य है कि राजनीति के कामों, सब स्थानों और सब पदार्थों के नामों को जानें । जैसे [किसान] कुएं से जल निकाल खेत आदि को तृप्त करते हैं, वैसे ही धनादि पदार्थों से प्रजा राजा को और राजा प्रजाओं को तृप्त करे ॥१९॥

समुद्र इत्यस्य वत्सप्रीऋ॑षिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुना राजप्रजासम्बन्धमाह ॥

समुद्रे त्वा॑ नृमणा॑ऽअप्स्व॒न्तर्नृचक्षा॑ऽ ई॑धे दि॒वो अ॑ग्नऽऊ॑धन् ।
तृ॒तीये॑ त्वा॒ रज॑सि तस्थि॒वाꣳस॑म॒पामु॒पस्थे॑ महि॒षाऽअ॑वर्धन् ॥२०॥

स॒मु॒द्रे । त्वा॒ । नृ॒मणा॑ः । नृ॒मना॒ इति॑ नृ॒ऽमना॑ः । अ॒प्स्वित्य॒प्ऽसु । अ॒न्तः । नृ॒च॒क्षा इति॑ नृ॒ऽचक्षा॑ः । ई॒धे॒ । दि॒वः । अ॒ग्ने॒ । ऊध॑न् ॥ तृ॒तीये॑ । त्वा॒ । रज॑सि । त॒स्थि॒वाꣳस॒मिति॑ तस्थि॒ऽवाꣳस॑म् । अ॒पाम् । उ॒पस्थ॒ इत्यु॒पऽस्थे॑ । म॒हि॒षाः । अ॒व॒र्ध॒न् ॥२०॥

पदार्थः—(**समुद्रे**) अन्तरिक्षे (**त्वा**) त्वाम् (**नृमणाः**) **नायकेषु मनो यस्य सः** (**अप्सु**) **अन्नेषु जलेषु वा** (**अन्तः**) **मध्ये** (**नृचक्षाः**) **नृषु मनुष्येषु चक्षो दर्शनं यस्य सः** ([1]**ईधे**) [2]**प्रदीप्ये** (**दिवः**) **सूर्यप्रकाशस्य** (**अग्ने**) [3]**विद्वन्** ([4]**ऊधन्**) **ऊधनि उषसि** । ऊध [5]इत्युषसो नामसु पठितम् ॥ निघं० १।८ । (**तृतीये**) **त्रयाणां पूरके** (**त्वा**)

---

१. **इन्धिभवतिभ्यां च** (अ० १।२।६) इति कित्त्वे नकारलोपः, छान्दसत्वाल्लिटचामोऽभावः ॥

२. 'प्रदीप्तये' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।

३. 'विद्वन्' इति शब्देन 'विद्वान् राजा' ज्ञेयः ॥

४. 'ऊधन्', वहति यदित्यूधः ॥

५. निघण्टौ (१।७) 'ऊधः' इति रात्रिनामसूपलभ्यते । उषोनामेति त्वनुपलब्धमूलमिति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नृचक्षाः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते **परादिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । 'नॄन् चष्टे' य० ३०।४॥ ऋ० ३।१५।३ इति नृचक्षाः । **असनयोश्च** (अ० २।४।५४ वा०) इति ख्याञभावः । अस्मिन् पक्षे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६। २।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(ऊधन्) 'वह प्रापणे' (भ्वा० उ०) इत्येतस्मात् "**श्वेः सम्प्रसारणं च** (उ० ४।१९३) इति बाहुलकाद् 'वह' धातोः '**असुन्**' प्रत्यये **सम्प्रसारणे च कृते दीर्घत्वं धकारश्चान्तादेशः**" इति **दया० उणादिवृत्तौ** ॥ यद्वा—'वह प्रापणे', '**उन्दी क्लेदने**' (रुधा० प०) इत्यस्माद् वा **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इति 'असुन्' । **ऊधसोऽनङ्** (अ० ५।४।१३१) इति छान्दसत्वात् केवलादपि 'अनङ्' आदेशः । **नारायणवृत्तौ** ऊधः ४।२४४ 'वहति क्षीरमूधः' इति व्युत्पादितम् । उत् ऊर्ध्वं ध्रियतेऽस्मिन् जलमिति ऊधः । सप्तम्येकवचने **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः** (अ० ७।१।७५), **छन्दस्यपि दृश्यते** (अ० ७।१।७६), **दृष्टानुविधिश्छन्दसि** (महा० १।१।५,६) इति वचनादूधस् शब्दस्यापि 'अनङ्' आदेशः ॥ यद्वा—कनिन्

त्वाम् (रजसि) लोके (तस्थिवांसम्) तिष्ठन्तम् (अपाम्) जलानाम् (उपस्थे) समीपे (महिषाः) महान्तो विद्वांसः। महिष इति महन्नामसु पठितम् ॥ निघं ३।३। (अवर्धन्) वर्धेरन्। [अयं मन्त्रः श० ६।७।४।५ व्याख्यातः] ॥ २० ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! नृमणा अहं यं त्वा समुद्रेऽग्निमिवेधे नृचक्षा अहमप्स्वन्तरीधे दिव ऊधन्नीधे, तृतीये रजसि तस्थिवांसं सूर्यमिव यं त्वा त्वामपामुपस्थे महिषा अवर्धन्, स त्वमस्मान् सततं वर्धय ॥ २० ॥

भावार्थः—प्रजासु वर्त्तमानाः सर्वे प्रधानपुरुषा राजवर्गं नित्यं वर्द्धयेयुः, राजपुरुषाः प्रजापुरुषांश्च ॥ २० ॥

फिर राजा और प्रजा के सम्बन्ध का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! (नृमणाः) नायक पुरुषों को विचारने वाला मैं जिस (त्वा) आप को (समुद्रे) आकाश में अग्नि के समान (ईधे) प्रदीप्त करता हूं, (नृचक्षाः) बहुत मनुष्यों का देखने वाला मैं (अप्सु) अन्न वा जलों के (अन्तः) बीच प्रकाश करता हूं, (दिवः) सूर्य के प्रकाश के (ऊधन्) प्रातःकाल में प्रकाशित करता हूं, (तृतीये) तीसरे (रजसि) लोक में (तस्थिवांसम्) स्थित हुए सूर्य के तुल्य जिस [त्वा] आप को (अपाम्) जलों के (उपस्थे) समीप (महिषः) महात्मा विद्वान् लोग (अवर्धन्) *उन्नति को प्राप्त करें, सो आप हम लोगों की निरन्तर उन्नति कीजिये ॥२०॥

भावार्थः—प्रजा के बीच वर्त्तमान सब श्रेष्ठ पुरुष †राजवर्ग को बढ़ावें, और राजपुरुष प्रजापुरुषों को नित्य बढ़ाते रहें ॥२०॥

युवृषितक्षि (उ० १।१५६) इति बाहुलकाद् वहेरपि कनिनि निपातनाद् रूपसिद्धिः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

अत्र देवराजः पृ० ४७—'उन्दी क्लेदने (रु० प०) असुनि (उ० ४।१८४) बाहुलकान्नलोपे दकारस्य धत्वे दीर्घे च रूपम्। उनत्त्यवश्यायेन भूतानि। उनत्त्यूधः—इति क्षीरस्वामी।·········ऊधनीत्यत्र छान्दसत्वादनङ् (अ० ५।४।१३१) ॥

'ऊधन्' इत्यत्र सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इति ङेलुग् भवति। 'ऊधन्' 'ऊधनि' आदयः शब्दा वेद एवोपलभ्यन्ते, न तु लोक इत्यपि ध्येयम् ॥

अन्ये तु—नकारान्तोऽप्ययम् 'ऊधन्' शब्दः इति। अस्मिन् पक्षे वह धातोः बाहुलकात् (उ० १।१५६) इति 'कनिन्' प्रत्ययः। ऊठि हकारस्य घकारः। तन्न, लोके 'ऊधन्' शब्दस्य सर्वथाप्यनुपलम्भात्, वेदे तु 'अनङ्' बाहुलकात् स्यात् शब्दान्तरो वा नास्ति भेदः ॥

(तस्थिवांसम्) 'क्वसु' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(महिषाः) पूर्वं (य० ३।७) व्याख्यातः ॥

(अवर्धन्) वृधु वृद्धौ (भ्वा० आ०) इत्यस्माद् ण्यन्तात् लङि रूपम्। छन्दस्युभयथा (अ० ३।४।११७) इति श्नेरार्द्धधातुकत्वात्, शपो वार्द्धधातुकत्वाद् णेरनिटि (अ० ६।४।५१) इति णिलुक्। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥ यद्वा—अन्तर्भावितण्यर्थाद् वृधु वृद्धौ (भ्वा आ०) इत्यस्य लङि रूपम् ॥२०॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'उन्नति को प्राप्त हों' इति कगकोशयो पाठः, स च सम्यक् ॥

† 'राजकार्यों को' इति अ०मुद्रिते पाठः, संस्कृतभावार्थे 'राजवर्गं वर्द्धेरन्' इति पाठः ॥

अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

अथ मनुष्याः कीदृशा भवेयुरित्युपदिश्यते ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽ अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥२१॥

अक्रन्दत् । अग्निः । स्तनयन्निवेति स्तनयन्ऽइव । द्यौः । [1]क्षामा । रेरिहत् । वीरुधः । समञ्जन्निति सम्ऽअञ्जन् ॥ सद्यः । जज्ञानः । वि । हि । ईम् । इद्धः । अख्यत् । आ । रोदसी इति रोदसी । भानुना । भाति । अन्तरित्यन्तः ॥२१॥

पदार्थः—(अक्रन्दत्) गमयति (अग्निः) विद्युत् (स्तनयन्निव) यथा शब्दयन् (द्यौः) सूर्यः (क्षामा) पृथिवीम् । अत्र अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३६) इत्युपधादीर्घः । सुपाम्० (अ ७।१।३९) इति विभक्तिलोपः । (रेरिहत्) ताडयति (वीरुधः) ओषधीः । वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात् ॥ निरु० ६।३ । (समञ्जन्) प्रकटयन् (सद्यः) शीघ्रम् (जज्ञानः) जायमानः (वि) (हि) प्रसिद्धौ (ईम्) सर्वतः (इद्धः) प्रदीप्यमानः (अख्यत्) ख्याति (आ) (रोदसी) प्रकाशभूमी (भानुना) किरणसमूहेन (भाति) राजति (अन्तः) मध्ये ॥ २१ ॥[2]

[3]**अन्वयः**— हे [4]मनुष्याः ! यूयं यथा द्यौः सूर्योऽग्निस्तनयन्निव वीरुधः समञ्जन् सन् सद्यो ह्यक्रन्दत् । क्षामा रेरिहदयं जज्ञान इद्धः सन् भानुना रोदसी ईं व्यख्यत् । ब्रह्माण्डस्यान्तरा भातीति तथा भवत ॥ २१ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण यदर्थः सूर्य उत्पादितः, स विद्युदिव सर्वान् लोकानाकृष्य, संप्रकाश्यौषध्यादिवृद्धिहेतुः सन्, सर्वभूगोलानां मध्ये यथा विराजते, तथा राजादिभिर्भवितव्यम् ॥ २१ ॥

अब मनुष्यों को कैसा होना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (द्यौः) सूर्यलोक (अग्निः) विद्युत् अग्नि (स्तनयन्निव) शब्द करते हुए के समान (वीरुधः) ओषधियों को (समञ्जन्) प्रकट करता हुआ (सद्यः) शीघ्र (हि) ही (अक्रन्दत्) पदार्थों को इधर उधर चलाता (क्षामा) पृथिवी को (रेरिहत्) कंपाता और यह (जज्ञानः) प्रसिद्ध हुआ (इद्धः) प्रकाशमान होकर (भानुना) किरणों के साथ (रोदसी) प्रकाश और पृथिवी को (ईम्) सब ओर से (व्यख्यत्) विख्यात

---

१. द्र० य० १२।६, पृ० १४१, टि० २ ॥

२. य० १२।२१ आरम्भ २९ पर्यन्तं मन्त्राः शतपथब्राह्मणे—'ता एता एकव्याख्याना' इत्येवमेव निर्दिष्टाः, न तु पदशो व्याख्याता इति ध्येयम् । एकमेवाग्निं व्याचक्षते इति 'एकव्याख्यानाः' ॥

३. अत्र यद् वक्तव्यं तत् सर्वं (य० १२।६) इत्यत्रोक्तम् ॥

४. अत्र 'मनुष्याः' इति पदेन 'राजपुरुषाः' इत्यभिप्रेयते, तथैव मन्त्रसङ्गतावपि ॥२१॥

करता है, और ब्रह्माण्ड के (अन्तः) बीच (आभाति) अच्छे प्रकार शोभायमान होता है, वैसे तुम लोग भी होओ ॥२१॥

भावार्थः—ईश्वर ने जिसलिये सूर्यलोक को उत्पन्न किया है, इसीलिये वह बिजुली के समान सब लोकों का आकर्षण कर और *सम्यक् प्रकाश दे कर ओषधि आदि पदार्थों को बढ़ाने का हेतु और सब भूगोलों के बीच जैसे शोभायमान होता है, वैसे राजा आदि पुरुषों को भी होना चाहिये ॥२१॥

श्रीणामित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अत्र राजकर्मणि कीदृग्जनोऽभिषेचनीय इत्याह ॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसुः सूनुः सहसोऽ अप्सु राजा विभात्यग्रऽउषसामिधानः ॥२२॥

श्रीणाम् । उदार इत्युत्ऽआरः । धरुणः । रयीणाम् । मनीषाणाम् । प्रार्पण इति प्रऽअर्पणः । सोमगोपा इति सोमऽगोपाः ॥ वसुः । सूनुः । सहसः । अप्स्वित्यप्ऽसु । राजा । वि । भाति । अग्रे । उषसाम् । इधानः ॥२२॥

पदार्थः—([1]श्रीणाम्) लक्ष्मीणां मध्ये ([2]उदारः) य †उत्कृष्टान् परीक्ष्य ऋच्छति ददाति (धरुणः) धर्त्ताऽऽधारभूतः (रयीणाम्) धनानाम् ([3]मनीषाणाम्) प्रज्ञानाम् । याभिर्मन्यन्ते जानन्ति ता मनीषाः प्रज्ञास्तासाम् (प्रार्पणः) प्रापकः (सोमगोपाः) सोमानामोषधीनामैश्वर्य्याणां[4] वा रक्षकः ([5]वसुः) कृतब्रह्मचर्य्यः (सूनुः) सुतः (सहसः) बलवतः

१. यतश्च निर्धारणम् (अ० २।३।४१) इति निधारणे षष्ठी । श्रीग्रामण्योश्छन्दसि (अ० ७।१।५६) इति 'नुट्' ॥

२. उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह (अथर्व० ११।१०।१) इति व्याख्याने सायणः—'हे उदाराः औदार्यगुणोपेताः सेनानायकाः' इत्याह ॥

उत्पूर्वाद् 'ऋ गतिप्रापणयोः(भ्वा० प०) इति धातोः, कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ वा०) इति कर्त्तरि 'घञ्' । स च उन्न्योर्ग्रः(अ० ३।२।२६) इति बाहुलकाद् 'ऋ' धातोरपीति बोध्यम् ॥

३. मनस ईषा स्तुतिर्मनीषा प्रज्ञा वा । (तु०निरु० ६।१० ॥ २।२५) ॥ शकन्ध्वादित्वात् पररूपमत्र द्रष्टव्यम् ॥

४. श्रीर्वै सोमः ॥ श० ४।१।३।९ ॥

५. न्यूनान्न्यूनमापञ्चविंशतिवर्षेभ्योऽधीयानः कृतब्रह्मचर्य इति भावः ॥

* 'सम्यक् प्रकाश दे कर' इति कपाठः, स च गकोशे प्रमादेन त्यक्तः स्यात् ॥

† 'उत्कृष्टान्' इति प्रथमसंस्करणे द्वितीयसंस्करणे च पाठः,'उत्कृष्टं' इत्यग्रिमसंस्करणेषु पाठः॥

[1]पितुः ([2]अप्सु) प्राणेषु (राजा) प्रकाशमानः (वि) (भाति) प्रदीप्यते (अग्रे) संमुखे (उषसाम्) प्रभातानाम् (इधानः) प्रदीप्यमानः[3] ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यो जन उषसामग्र इधानः सूर्य इव श्रीणामुदारो रयीणां धरुणो मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः सहसः सूनुर्वसुः सन्नप्सु राजा विभाति, तं सर्वाध्यक्षं कुरुत ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यः सुपात्रेभ्यो दाता धनस्य व्यर्थव्ययस्याकर्त्ता, सर्वेषां विद्या-बुद्धिप्रदः, [4]कृतब्रह्मचर्यस्य जितेन्द्रियस्य तनयो योगाङ्गानुष्ठानेन प्रकाशमानः, सूर्यवत्

---

१. 'पितुः' इत्यध्याहारः ॥

२. प्राणा ह्यापः ॥ जै० उ० ३।१०।९ ॥

३. शतपथब्राह्मणेऽव्याख्यातोऽयं मन्त्रः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**श्रीणाम्**) श्रयति श्रीयते वा श्रीः । **क्विब् वचिप्रच्छिस्रु०** (उ० २।५७) इति 'क्विप्' । **सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः** (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(**उदाराः**) यथापूर्वं घञि तु **थाथघञ्०** (अ० ६।२।१४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा — उच्चैरासमन्तादृच्छतीति 'उदारः' । **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (अ० ३।१।१३४) इति पचाद्यच् । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृति-स्वरत्वेऽन्तोदात्तत्वम् ॥

(**धरुणः**) पूर्वं (य० १।१८)व्याख्यातः ॥

(**रयीणाम्**) पूर्वं (य० ३।१३) व्याख्यातः ॥

(**मनीषाणाम्**) मन्यतेर्धातोरीषच् प्रत्ययो बाहुलकाद् द्रष्टव्यः । **चितः** (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तः ॥ यद्वा—**कॄतॄभ्यामीषन्** (उ० ४।२७) इति विहित 'ईषन्' बाहुलकादस्मादपि भवति । नित्त्वादाद्युदात्तत्वे उञ्छादेराकृति-गणत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

'मनीषाम्'='मनस इषिणीम्' इति ऋ० ३।५८।२ द०भा० ॥ अस्मिन् पक्षे—'**ईष गति-हिंसादानेषु**' (भ्वा० आ०) भावे **गुरोश्च हलः** (अ० ३।३।१०३) इति 'अ' प्रत्ययः । **शक-न्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** (अ० ६।१।९४ वा०) इति पररूपम् । **समासस्य** (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(**प्रार्पणः**) प्र पूर्वाद् '**ऋ प्रापणे**' (भ्वा० प०) ण्यन्तात् **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) इति कर्त्तरि 'ल्युट्' । **णेरनिटि** (अ० ६।४।५१) इति णिलुक् । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९)इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे **लिति** (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्व-मुदात्तं भवति ॥ यद्वा—**चलनशब्दार्थादकर्म-काद्युच्** (अ० ३।२।१४८) इति 'युच्' । **गति-कारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्यु-त्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वे प्राप्ते **परा-दिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१९९) इत्यु-त्तरपदाद्युदात्तत्वम् । उभयोः संहितायामेकीभाव **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्यु-दात्तत्वम् ॥

(**सोमगोपाः**) 'गुपू रक्षणे' इत्यस्माद् **गतिकारकोपपदेभ्यः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च** (उ०४।२२७) इति 'असिः' प्रत्ययः, पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्वं च । सोमशब्दो मन्प्रत्ययान्तो नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(**इधानः**) '**ञिइन्धी दीप्तौ**' (अदा० आ०) **ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्** (अ० ३।२।१२९) इति 'चानश्' । **बहुलं छन्दसि** (अ० २।४।७३) इति शपो लुक् । **चितः** (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

४. 'कृतब्रह्मचर्यो जितेन्द्रियः, बलवतस्तनयः' इति पाठोऽत्रयुक्ततरः स्यात्, भाषार्थे तथा दर्शनात्॥

शुभगुणकर्मस्वभावानां मध्ये देदीप्यमानो, पितृवत् प्रजापालको जनोऽस्ति, स राज्यकरणा-याभिषेचनीयः ॥ २२ ॥

इन राजकार्यों में कैसे पुरुष को राजा बनावें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये कि जो पुरुष (उषसाम्) प्रभात समय के (अग्रे) प्रारम्भ में †सूर्य के समान (इधानः) प्रदीप्यमान, (क्षीणाम्) सब जड़ियों के मध्य (उदारः) उत्तम [जनों की] §परीक्षा कर के पदार्थों का देने [वाला], (रयीणाम्) धनों का (धरुणः) धारण करने हारा, (मनीषाणाम्) बुद्धियों का (प्रार्पणः) प्राप्त कराने और (सोमगोपाः) ओषधियों वा ऐश्वर्यों की रक्षा करने [वाला], (सहसः) ब्रह्मचर्य किये जितेन्द्रिय बलवान् पिता का (सूनुः) पुत्र, (वसुः) ब्रह्मचर्याश्रम करता हुआ, (अप्सु) [1]प्राणों में (राजा) प्रकाशयुक्त होकर (विभाति) शुभ गुणों का प्रकाश करता हो, उस को सब का अध्यक्ष करो ॥२२॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को उचित है कि सुपात्रों को दान देवें, धन का व्यर्थ खर्च न करें, सब को विद्या बुद्धि देवें, जिसने ब्रह्मचर्याश्रम सेवन किया हो, अपनी इन्द्रिय जिस के वश में हों, योग के यम आदि आठ अङ्गों के सेवन से प्रकाशमान, सूर्य के समान अच्छे गुण कर्म और स्वभावों से सुशोभित, और पिता के समान $अच्छे [प्रकार] प्रजाओं का पालन करने हारा पुरुष हो, उसको राज्य करने के लिये स्थापित [अर्थात् अभिषिक्त] करें ॥२२॥

❧

विश्वस्येत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । [निचृद्] *आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोदसीऽअपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायन् जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥२३॥

विश्वस्य । केतुः । भुवनस्य । गर्भः । आ । रोदसीऽइति रोदसी । अपृणात् । जायमानः ॥ वीडुम् । चित् । अद्रिम् । अभिनत् । परायन्निति पराऽयन् । जनाः । यत् । अग्निम् । अयजन्त । पञ्च ॥२३॥

पदार्थः—(विश्वस्य) (केतुः) (भुवनस्य) भवन्ति भूतानि यस्मिंस्तस्य लोक-मात्रस्य (गर्भः) अन्तःस्थः (आ) (रोदसी) प्रकाशभूमी (अपृणात्) प्रपूर्यात् (जायमानः) उत्पद्यमानः ([2]वीडुम्) दृढबलम् (चित्) इव (अद्रिम्) [3]मेघम् (अभिनत्) भिन्द्यात्

१. 'प्राणायाम सम्बन्धी कार्यों में' इति भावः।२२। इति दृढम् ॥ निरु० ९।१२ ॥
२. 'वीडु' इति बलनाम । निघ० २।९ ॥ वीडुम् ३. मेघ इवाच्छादकं शत्रुमिति भावः ॥

† '(इधानः) प्रदीप्यमान सूर्य के समान' इति अ०मुद्रिते पाठः ।
§ 'परीक्षित पदार्थों का' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥ $ 'अच्छे' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति ॥
* 'आर्ची' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः । 'आर्षी' इति कगकोशयोः पाठः, स च सम्यक् ॥

(परायन्) [1]परेतः सन् (जनाः) (यत्) यः (अग्निम्) विद्युतम् (अयजन्त) ‡संगमयन्ति (पञ्च) प्राणाः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! [यूयं] यद् यो विद्वान् विश्वस्य भुवनस्य केतुर्गर्भो जायमानः परायन् रोदसी आपृणाद्, वीडुमद्रिमभिनत्, पञ्च जना अग्निमयजन्त त्रिदिव विद्यादिशुभगुणान् प्रकाशयेत्, तं न्यायाधीशं मन्यध्वम् ॥ २३ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा भुवनस्य मध्ये सूर्य आकर्षणेन [सर्वान् लोकान् धरति मेघांश्च छिनत्ति, तथा यः]सर्वविद्याप्रापको, राज्यधर्त्ता, शत्रूच्छेदकः, सुखानां जनयिता, गर्भस्य मातेव प्रजापालको विद्वान् भवेत्, तं राज्याधिकारिणं कुर्यात् ॥ २३ ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (यत्) जो विद्वान् (विश्वस्य) सब (भुवनस्य) लोकों का (केतुः) पिता के समान रक्षक, प्रकाशने हारा, (गर्भः) उनके मध्य में रहने (जायमानः) उत्पन्न होने वाला, (परायन्) शत्रुओं को प्राप्त होता हुआ, (रोदसी) प्रकाश और पृथिवी को (आपृणात्) पूरण कर्त्ता हो, (वीडुम्) अत्यन्त बलवान् (अद्रिम्) मेघ को (अभिनत्) छिन्न भिन्न करे, (पञ्च) पांच (जनाः) प्राण (अग्निम्) बिजुली को

---

१. परेतः प्राप्त इति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(भुवनम्) पूर्व (य० २।२) व्याख्यातः ॥

(आपृणात्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(जायमानः) 'जनी प्रादुर्भावे' इत्यस्मात् 'शानच्'। श्यनि ज्ञाजनोर्जा (अ० ७।३।७९) इति जादेशः। तास्यनुदात्तेन्ङिदवु० (अ० ६।१।१८०) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे श्यनो नित्त्वेनाद्युदात्तत्वम् ॥

(वीडुम्) 'वीळयति संस्तम्भकर्मा'। भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १।७) इति उप्रत्ययो बाहुलकादस्मादपि भवति' इति 'देवराजः पृ० २१९॥ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥ पूर्व य० ६।३५, पृ० ५६२ अपि द्रष्टव्यम् ॥

(अद्रिम्) अद्रिरदृणात्येतेन। अपि वात्तेः स्यात् ॥ निरु० ४।४ ॥ 'अद् भक्षणे' (अदा० प०) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४।६५) इति 'क्रिन्' प्रत्ययः। अत्ति हि मेघो वर्षार्थमादित्यरश्मिभिराहृतान् भौमरसान्।.........

यद्वा—"नञ्पूर्वाद् 'दृ विदारणे' (क्र्या० प०) इत्यस्माद् बाहुलकाद् 'रिन्' प्रत्ययः, टिलोपश्च, अदरणीय इत्यद्रिः" इति 'देवराजः' पृ० ५९॥ अत्तिपक्षे ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तः। दृणाति पक्षे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति नञ्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अभिनत्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(परायन्) शतरि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे मध्योदात्तत्वम् ॥

(अयजन्त) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावेऽट्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥२३॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

‡ 'याः संगमयन्ति' इति प्रथमसंस्करणे मुद्रितपाठः, गकोशे चापि। 'याः' इति ककोशे तु नास्त्येव, अनावश्यकश्च ॥

(अयजन्त) संयुक्त करते हैं, (चित्) इसी प्रकार जो विद्या आदि शुभ गुणों का प्रकाश करे, उस को न्यायाधीश राजा मानो ॥२३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे ब्रह्माण्ड के बीच सूर्यलोक अपनी आकर्षण शक्ति से सब को धारण करता और §मेघ को काटने वाला [है, वैसे जो] $प्राणों से प्रसिद्ध हुए के समान सब विद्याओं को जताने [वाला, राज्य के धारण में समर्थ, शत्रु का नाशक, सुखों को देने वाला,] और जैसे माता गर्भ की रक्षा करे वैसे प्रजा का पालने हारा विद्वान् पुरुष हो, उस को राज्याधिकार देना चाहिये ॥२३॥

उशिगित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह॥

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो नि धायि।
इयर्त्ति धूममरुषम्भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥२४॥

उशिक्। पावकः। अरतिः। सुमेधा इति सुऽमेधाः। मर्त्येषु। अग्निः। अमृतः। नि। धायि॥ इयर्त्ति। धूमम्। अरुषम्। भरिभ्रत्। उत्। शुक्रेण। शोचिषा। द्याम्। इनक्षन् ॥२४॥

पदार्थः—(उशिक्) कामयमानः (पावकः) पवित्रकर्त्ता ([1]अरतिः) [2]ज्ञाता (सुमेधाः) [3]शोभनप्रज्ञः (मर्त्येषु) (अग्निः) [4]कारणाख्यः (अमृतः) अविनाशी (नि) (धायि) निधीयते (इयर्त्ति) प्राप्नोति (धूमम्) (अरुषम्) [5]रूपम् (भरिभ्रत्) अत्यन्तं

१. ऋच्छति, इयर्त्ति, अर्यते वा। 'ऋ' गतिप्रापणयोः (भ्वा० प०) इत्यस्माद् वहिवस्यर्त्तिभ्यश्चित् (उ० ४.६०)इति 'अति' प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तः॥

२. अत्रान्तर्णीतो ण्यर्थः, 'ज्ञापयिता' इति भावः॥

३. शोभना प्रज्ञा बुद्धिर्ज्ञानं भवति यस्मात् सः॥

४. कारणरूपः प्रकृतिपरमाणुरूपोऽग्निरत्राविनाशीति भावः॥ तेजो वाऽग्निः। तै० ३।३।४।३॥

५. अरुषमिति रूपनाम। निघ० १।७॥ अग्निर्वा अरुषः॥ तै० ३।९।४।१॥

§ अत्र भूतपूर्वसंस्कृतस्यानुवाद इति ध्येयम्। स च गकोशे संशोधितः॥

$ 'तथा प्राणों से' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

धरन् पुष्यन् (उत) (शुक्रेण) [1]आशुकरेण (शोचिषा) दीप्त्या (द्याम्) सूर्यम् (इनक्षन्) व्याप्नुवन् । [2]इनक्षतीति व्याप्तिकर्मसु पठितम् ॥ निघं० २ । १८ ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयमीश्वरेण मर्त्येषु य उशिक् पावकोऽरतिः सुमेधाऽमृतोऽग्निर्निधायि, यः शुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् [3]धूममरुषं भरिभ्रदुदियर्त्ति तमीश्वरमुपाध्वमुपकुरुत वा [अग्निम्] ॥ २४ ॥

---

१. शु आशु करोतीति शुक्रः इत्यभिप्रायः । अस्मिन् पक्षे 'डुकृञ् करणे' (तना० उ० भ्वादिर्वा) इति धातोः इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति करोतेरपि बाहुलकात् स्यात् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तत्वम् ॥

यद्वा—'शुच दीप्तौ (भ्वा० प०) (निघ० १।७) अस्माद् ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २।२७) इत्यारप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते ॥ यद्वा—शोचतेः ज्वलतिकर्मणः (निघ० १।१७) सम्पदादित्वाद् 'क्विप्'=शुक्, तदस्य रो मत्वर्थीयः । दीप्तिमान् इत्यर्थः' इति 'देवराजः' पृ० १२८ ॥ अस्मिन् पक्ष उभयत्र प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥ 'शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः' इति निरु० ८।११ ॥ पूर्वं (य० १।३१) व्याख्यातस्तत्रापि द्रष्टव्यः ॥

२. निघण्टौ (२।१८) 'नक्षति' इत्येव पाठः । अवशिष्टं व्याकरणप्रक्रियायां द्रष्टव्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पावकः) पवतेः पुनातेर्वा 'ण्वुल्' । लित्स्वरे प्राप्ते छन्दसि सर्वत्रान्तोदात्तत्वदर्शनाद् उञ्छादीनां च (अ० ६।१।१५४) इत्यन्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥

(अरतिः) पूर्वं (य० ७।२४) व्याख्यातः॥

(सुमेधाः) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः (अ० ५।४।१२२) इति 'असिच्' समासान्तः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(धायि) पूर्वं (य० ३।१५) व्याख्यातः॥

(इयर्त्ति) अनुदात्ते च (अ० ६।१।१९०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(धूमम्) पूर्वं (य० ६।२१) व्याख्यातः॥

(अरुषम्) अरुषमिति रूपनाम(निघ० १।७)॥ इयर्ति अभ्यामुखं गच्छति, अर्यते वा तदर्थिभिः। इयर्त्ति गच्छति वादित्येनोदयान्तं प्रतिदिनं प्रापयति वा ॥ 'ऋ' गतिप्रापणयोः (भ्वा० प०) ऋ० सृ० गतौ (जुहो० प०) इत्यस्माद् ऋहनिभ्यामुषन् (उ० ४।७४) इति 'उषन्' प्रत्ययः । उञ्छादित्वादन्तोदात्तः ॥

यद्वा – अरुषमिति रूपनाम (निघ० १।७)। ततो मत्वर्थीयोऽकारः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(भरिभ्रत्) 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (जु० उ०) इत्यस्माद् यङ्लुगन्ताद् दाधर्त्तिदर्धर्त्ति० (अ० ७।४।६५) इति शतृप्रत्यये निपात्यते । अभ्यस्तानामादिः (अ० ६।१।१८३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(इनक्षन्) 'णक्ष गतौ' (भ्वा० प०) । निघ० २ १८ प्रामाण्याद् व्याप्त्यर्थेऽपि । तस्य शतृप्रत्यये इकारोपजनः छान्दसः । तथैव 'देवराजः'—'इत्वति नक्षति इति व्याप्तिकर्मसु पठितस्य इकार आगमः छान्दसः इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् । ऋ० १।४।१०।४' ॥ देवराज निघण्टु पृ० ७८' ॥ धातुस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. 'धूमम् अरुषं भरिभ्रत्' अग्निर्धूमं धरतीति भावः । धूमं रूपप्रकाशसमर्थं करोति स्वार्चिषा स एवाग्निरिति भावः ॥ ईश्वरोऽपि जीवानामन्धकाररूपमज्ञानं स्वप्रेरणया ज्ञानं प्रकाशसमर्थं करोतीति दिक् ॥२४॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरसृष्टानां पदार्थानां कारणकार्यपुरस्सरं विज्ञानं कृत्वा प्रज्ञोन्नेया ॥ २४ ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग ईश्वर ने (मर्त्येषु) मनुष्यों में जो (उशिक्) *मानने योग्य, (पावकः) पवित्र करने हारा, (अरतिः) ज्ञान [देने] वाला, (सुमेधाः) अच्छी †बुद्धि [अर्थात् ज्ञान] का कारण, (अमृतः) मरणधर्मरहित, (अग्निः) आकाररूप ज्ञान का प्रकाशक (निधायि) स्थापित किया है, जो (शुक्रेण) शीघ्रकारी (शोचिषा) प्रकाश से (द्याम्) सूर्यलोक को (इनक्षन्) व्याप्त होता हुआ (धूमम्) धुएं (अरुषम्) रूप को (भरिभ्रत्) अत्यन्त धारण वा पुष्ट करता हुआ (उदियर्त्ति) प्राप्त होता है, उसी ईश्वर की उपासना करो, वा उस अग्नि से उपकार लेओ ॥२४॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि कार्य्य कारण के अनुसार ईश्वर के रचे हुए सब पदार्थों को ठीक ठीक जान के अपनी बुद्धि बढ़ावें ॥२४॥

दृशान इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्नरैः किं किं वेद्यमित्याह ॥

दृशानो रुक्मऽ उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतोऽ अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥२५॥

दृशानः । रुक्मः । उर्व्या । वि । अद्यौत् । दुर्मर्षमिति दुःऽमर्षम् । आयुः । श्रिये । रुचानः ॥ अग्निः । अमृतः । अभवत् । वयोभिरिति वयःऽभिः । यत् । एनम् । द्यौः । अजनयत् । सुरेता इति सुऽरेताः ॥२५॥

पदार्थः—(दृशानः) दर्शकः (रुक्मः) (उर्व्या) पृथिव्या सह (वि) (अद्यौत्) प्रकाशयति (दुर्मर्षम्) दुर्गतो मर्षः §सेचनं यस्मात् तत् (आयुः) जीवनम् (श्रिये) शोभायै (रुचानः) प्रदीपकः (अग्निः) तेजः (अमृतः) नाशरहितः (अभवत्) (वयोभिः) व्यापकैर्गुणैः (यत्) [1]यस्मात् [वा] (एनम्) (द्यौः) स्वप्रकाशः (अजनयत्) जनयति (सुरेताः) शोभनानि रेतांसि वीर्याणि यस्य सः ॥ २५ ॥

१. अत्र 'यस्मात्' इत्येषोऽर्थो नान्वेतीति प्रतीमः । अन्वये 'यत्' पदस्य 'य' इत्यर्थः प्रदर्शितः ॥

* 'कामनायुक्त' इति तु कपाठः ॥ † 'बुद्धि से युक्त' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

§ अत्र 'सहनं' इति तु शोभनतरं प्रतिभाति । यद्वा—'मृषु सेचने' भ्वादौ, 'सेचनम्' आर्द्रत्वमिति भावः । सम्बन्धस्तु यथाकथञ्चिद् योजनीयः ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यूयं †यद्[1] यो दृशानो रुक्मः श्रिये §रुचानोऽमृतो[2] दुर्मर्षमायुः कुर्वन्नमृतोऽग्निरुर्व्या सह [3]व्यद्यौत्, [सः] वयोभिः सहाभवत्, $तद् द्यौः सुरेता जगदीश्वरो यदेनमजनयद्[4] [अतः] तं[5] तत् तां च विजानीत ॥ २५ ॥

भावार्थः—*ये मनुष्याः जगत्स्रष्टारमनादिमीश्वरमनादिजगत्कारणं [वा] गुणकर्म-स्वभावैः सह विज्ञायोपासत[6] उपयुञ्जते च, ते दीर्घायुषः श्रीमन्तो जायन्ते[7] ॥ २५ ॥

फिर मनुष्यों को क्या क्या जानना चाहिए, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग (यत्) ∫जिस कारण (दृशानः) दिखाने हारा, (रुक्मः) रुचि का हेतु, (श्रिये) शोभा का (रुचानः) प्रकाशक, (दुर्मर्षम्) सब [8]दुःखों से रहित, (आयुः) जीवन [सम्पन्न] करता हुआ, (अमृतः) नाशरहित, (अग्निः) तेजस्वरूप, (उर्व्या) पृथिवी के साथ (व्यद्यौत्) प्रकाशित होता है, [वह] (वयोभिः) व्यापक गुणों के साथ (अभवत्) उत्पन्न होता [है,] ‡और (द्यौः) प्रकाशक, (सुरेताः) सुन्दर पराक्रम वाला, ‡जगदीश्वर, §§जिस लिये (एनम्) इस अग्नि को (अजनयत्) उत्पन्न करता है, [अतः] उस ईश्वर आयु और विद्युत् रूप अग्नि को जानो ॥२५॥

---

१. 'यत्' इत्यनेनान्वयान्ते 'तं' इत्यध्याहारः इति ध्येयम् ॥

२. अत्र 'अमृतः' इति पदमनावश्यकमिव प्रतिभाति, उत्तरवाक्ये पुनर्निर्देशात्, यद्वोत्तरवाक्येऽनावश्यकं द्रष्टव्यम् ॥

३. 'अग्निर्व्यद्यौत्' इत्यनेन विद्युदप्यत्र ग्राह्येति ध्येयम् ॥

४. यदाग्निपदेनात्र परमेश्वरो गृह्यते, तदा 'अजनयत्' इति पदस्य प्रादुर्भावयतीत्यर्थः साधुः। द्यौः सूर्यलोकस्तं परमेश्वरं प्रकटयतीति भावः। द्यौ ग्रहणमुपलक्षणम्, अन्येऽपि पदार्थास्तं परमेश्वरं बोधयन्तीति। 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्(य० १३ ४)इत्यत्र 'जातः प्रकाशितः' इति गृह्यते ॥

५. 'अग्नि' पदेनात्रान्वयो गृह्यते। तं च जगदीश्वरो जनयति, तं जगदीश्वरं तां विद्युतं च विजानीत। 'तत्' पदस्त्वत्र 'आयुः' शब्देनैव यथाकथञ्चिदुन्नेयम्, यथा च भाषार्थं उपलभामहे॥

६. ईश्वरमुपासते, जगत्कारणमुपयुञ्जत इति सम्बन्धो द्रष्टव्यः ॥

७. भावार्थेनाध्यात्मिकाधिदैविकोऽप्यर्थो द्योत्यते। शेषमस्य मन्त्रस्य पूर्वं(य०१२।१)विवृतं, तत्रैव द्रष्टव्यम्। व्याकरणप्रक्रियापि तत एवावगन्तव्या ॥

८. मर्षः सहनं तितिक्षा, तच्च सर्वं दुखमेवेति बोध्यते ॥२५॥

---

† अत्र 'यत्' इति पदं क्वचिदर्थे नान्वेतीति ध्येयम् ॥
§ 'रुचानो दुर्मर्षमायुः कुर्वन्नमृतः' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥
$ 'यो द्यौः' इति कपाठः, 'यद् द्यौः' इति गपाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ॥
* 'हे मनुष्याः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥
∫ अत्र 'जो' इति सम्यक्तरं स्यात् ॥
‡ 'और जो (द्यौः)' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥
‡ इतोऽग्रे '(यत्)' इति पाठोऽधिकोऽजमेरमुद्रिते ॥
§§ '(यत्) जिस के लिये' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—जो ∫∫मनुष्य जगत् रचने वाले अनादि ईश्वर और जगत् के कारण को गुण, कर्म और स्वभावों के सहित ठीक ठीक जान के उपासना करते और उपयोग लेते हैं, वे चिरजीव होकर लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

यस्त इत्यस्य वत्सप्रीऋर्षिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्विद्वद्भिः कीदृशः पाचकः स्वीकार्य इत्याह ॥

यस्तेऽअद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्योऽअच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥२६॥

यः । ते । अद्य । कृणवत् । भद्रशोचेति भद्रऽशोचे । अपूपम् । देव । घृतवन्तमिति घृतऽवन्तम् । अग्ने ॥ प्र । तम् । नय । प्रतरमिति प्रऽतरम् । वस्यः । अच्छ । अभि । सुम्नम् । देवभक्तमिति देवऽभक्तम् । यविष्ठ ॥२६॥

पदार्थः—(यः) (ते) तव (अद्य) ([1]कृणवत्) कुर्यात् (भद्रशोचे) [2]भद्रा भजनीया शोचिर्दीप्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ (अपूपम्) (देव) दिव्यभोगप्रद (घृतवन्तम्) बहु घृतं विद्यते यस्मिन् तम् (अग्ने) विद्वन् (प्र) (तम्) (नय) प्राप्नुहि (प्रतरम्) पाकस्य संतारकम् (वस्यः) अतिशयितं वसु तत् (अच्छ) (अभि) (सुम्नम्) सुखस्वरूपम् (देवभक्तम्) देवैर्विद्वद्भिः सेवितम् (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् ॥ २६ ॥[3]

---

१. 'कृण्वन्ति कुर्वन्ति' निरु० ६।३२ ॥ कृवि हिंसाकरणयोश्च (भ्वा० प०) इत्यस्य रूपं स्यात् । अस्मिन् मन्त्रे तु 'कृणवत्' इति लेटि तिपि रूपम् ॥

२. भद्रं……भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद् वा । निरु० ४।१० ॥

३. शतपथेऽव्याख्यातोऽयं मन्त्रः, यथा पूर्वं (य० १२।२१) टिप्पणे दर्शितम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(भद्रशोचे) आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इति निघातः ॥

(कृणवत्) 'कृवि हिंसाकरणयोश्च (भ्वा० प०)इत्येतस्माल्लेटि रूपम् । सिपोऽभावे धिन्विकृण्व्योर च (अ० ३।१।८०) इति 'उ' प्रत्ययः । 'उ' इत्यस्याटि गुणे पूर्ववत् सर्वम् । अर्थवत आगमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते (पारि० १२) इत्यनेन लेटोऽडाटौ (अ० ३।४।९४) इति अट् तिपो भाग इति मत्वात्र गुणो बोध्यः ॥ यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे विकरणस्वरः ॥

(अपूपम्) अशेरूपच् पश्च (भो० उ० २।२।२१६) अशेरूपच् प्रत्ययः पकारश्चान्तादेशो भवति । अपूपः 'भक्ष्यान्नविशेषः' इति भोजीयोणादेर्दण्डनाथनारायणवृत्तिः पृ० ७३ ॥ चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

∫∫ इतोऽग्रे 'गुण कर्म और स्वभावों के सहित' इति पाठ आसीत्, स संस्कृतानुसारमस्माभिरग्रे नीतः ॥

अन्वयः—हे भद्रशोचे यविष्ठ देवाग्ने ! यस्ते तव घृतवन्तमभिसुम्नं वस्यो देवभक्तमपूपमच्छ कृणवत् तं प्रतरं पाककर्त्तारं त्वमद्य प्रणय ॥ २६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वत्सुशिक्षितोऽत्युत्तमानां व्यञ्जनानां सुस्वादिष्ठानामन्नानां रुचिकराणां निर्माता पाककर्त्ता संग्राह्यः ॥ २६ ॥

फिर विद्वान् लोग कैसे रसोइया को स्वीकार करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (भद्रशोचे) सेवने योग्य दीप्ति से युक्त (यविष्ठ) तरुण अवस्था वाले (देव) दिव्य भोगों के दाता (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! (यः) जो (ते) आपका (घृतवन्तम्) बहुत घृत आदि पदार्थों से संयुक्त, (अभि) सब प्रकार से (सुम्नम्) सुखरूप, (देवभक्तम्) विद्वानों के सेवने योग्य (अपूपम्) [मालपुए आदि] *भोजन के योग्य, (वस्यः) अत्यन्त भोग्य †पदार्थों को (अच्छ) अच्छे-अच्छे (कृणवत्) बनावे, (तम्) उस (प्रतरम्) पाक बनाने हारे पुरुष को आप (अद्य) आज (प्रणय) प्राप्त हूजिये ॥ २६ ॥

(घृतवन्तम्) भूम्नि 'मतुप्' । अञ्जिघृसिभ्यः क्तः (उ० ३।८९) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। मतुपि स एव स्वरः ॥

(प्रतरम्) प्रतरतीति प्रतरम् । पचाद्यच् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेऽन्तोदात्तत्वम् ॥

(वस्यः) वसुशब्दाद् आतिशायिकः 'ईयसुन्' प्रत्ययः । छान्दसो वर्णलोपो वा (अ० ८।२।२२ भा०) इति ईकारलोपो द्रष्टव्यः, ऋ० १।३१।१८द० भाष्येऽपि । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा—वसुषु साधुः (ऋ० १।१०९।१ द० भा०), वसोः समूहे च (अ० ४।४।१४०) इति 'यत्' प्रत्ययः । पूर्ववत् छान्दसो वर्णलोपो वा (अ० ८।२।२२ भा०) इत्युकारलोपः (द्र०ऋ० १।१०९।१ द० भा०) ॥ यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा—वस्तुं योग्यः (द्र० ऋ० १।१४१।१२) तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानम् (अ० ३।१।९७) बाहुलकाद् वसेरपि इति 'यत्' प्रत्ययः । पूर्ववदाद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा—अतिशयेन वासयितृ, तुश्छन्दसि (अ० ५।३।५९) इति तुलोंपे पूर्ववत् छान्दसवर्णलोपः ॥ यद्वा—वसुशब्दान्मतुप् (ऋ० ५।३।६५ द० भा०) ततोऽतिशायने 'ईयसुन्', विन्मतोर्लुक् (अ० ५।३।६५) इति मतोर्लुक् । टेः (अ० ६।४।१४५) इति टेर्लोपः । ततः छान्दस ईवर्णलोपः (द्र० ऋ० १।२३।४ द० भा०)॥'यकारलोपश्छान्दसः' इति सायणभाष्ये ॥ यकारलोपे पुनर्यणादेशः कर्त्तव्य इतीकारलोप एव साधीयान् स्यात् ॥ विविधार्थपराः सर्वा अपि व्युत्पत्तयो ग्राह्या एव ॥

(सुम्नम्) पूर्वं (य० २।१९) व्याख्यातः॥

(देवभक्तम्) तृतीया कर्मणि (अ० ६।२।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । 'देव' शब्दोऽच्प्रत्ययान्तश्चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(यविष्ठ) आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इति निघातः ॥२६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'भोजन के योग्य पदार्थों वाला (वस्यः) अत्यन्त भोग्य (अच्छ) अच्छे अच्छे पदार्थों को (कृणवत्) बनावे' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

† '(अच्छ) अच्छे अच्छे पदार्थों को' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों से अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुए, अति उत्तम व्यञ्जन और शष्कुली आदि तथा शाक आदि §अच्छे स्वाद से युक्त रुचिकारक पदार्थों को बनाने वाले पाचक पुरुष का ग्रहण करें ॥ २६ ॥

आ तमित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

आ तं भ॑ज सौश्रव॒सेष्व॑ग्नऽ उ॒क्थऽउ॑क्थ॒ऽ आभ॑ज श॒स्यमा॑ने ।
प्रि॒यः सूर्य्ये॑ प्रि॒योऽ अ॒ग्ना भ॑वा॒त्युज्जा॒तेन॑ भि॒नद॒दुज्जनि॑त्वैः ॥२७॥

आ । तम् । भ॒ज॒ । सौ॒श्र॒व॒सेषु॑ । अ॒ग्ने॒ । उ॒क्थउ॑क्थ॒ इत्यु॒क्थेऽउ॑क्थे । आ । भ॒ज॒ । श॒स्यमा॑ने ॥ प्रि॒यः । सूर्ये॑ । प्रि॒यः । अ॒ग्ना । भ॒वा॒ति॒ । उत् । जा॒तेन॑ । भि॒नद॑त् । उत् । जनि॑त्वै॒रिति॒ जनि॑ऽत्वैः ॥२७॥

पदार्थः—(आ) (तम्) (भज) सेवस्व (सौश्रवसेषु) *शोभनानि च श्रवांसि च तानि सुश्रवांसि तेषु सुश्रवस्सु भवास्तेषु (अग्ने) विद्वन् (उक्थऽउक्थे) वक्तुं योग्ये-योग्ये व्यवहारे (आ) (भज) (शस्यमाने) स्तूयमाने (प्रियः) [1]कान्तः (सूर्य्ये) सूरिषु स्तोतृषु भवे (प्रियः) सेवनीयः (अग्ना) अग्नौ (भवाति) भवेत् (उत्) (जातेन) (भिनदत्) भिन्द्यात् (उत्) (जनित्वैः) [2]जनिष्यमाणैः ॥ २७ ॥[3]

---

१. अर्थप्रदर्शनमेवेदम् । प्रीणाति यः सः ॥

२. 'त्वन्' प्रत्ययस्य सामान्यकालवाचित्वाद् भविष्यत्कालो गृह्यते ॥

३. पूर्ववदयमपि मन्त्रः शतपथेऽव्याख्यातः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सौश्रवसेषु) तत्र भवः (अ० ४।३।५३) इति 'अण्' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(उक्थ-उक्थे) 'वच परिभाषणे' (अदा० प०) इत्यस्माद् पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उ० २।६) इति 'थक्' प्रत्ययः कर्मणि, उच्यत इति । सम्प्रसारणं च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । नित्यवीप्सयोः (अ० ८।१।४) इति द्वित्वम् । अनुदात्तं च (अ० ८।१।३) इति परमनुदात्तम् ॥

(शस्यमाने) 'शंसु स्तुतौ (भ्वा० प०) ततो 'यक्' । शानच्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते तास्यनुदात्तेन्ङिवदुपदेशा० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे यक्स्वरः ॥

(सूर्य) भवेच्छन्दसि (अ० ४।४।११०) इति 'यत्' । यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तः ॥

(भवाति) लेटि रूपम् । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघात. ॥

(भिनदत्) लेटि रूपमिदम् । छान्दसोऽत्र

---

§ 'स्वाद से युक्त' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'अच्छे स्वाद से युक्त' इति कगकोशयोः पाठः । मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

* 'शोभनानि च······तेषु' इति पाठः ककोश उपलभ्यते । स च प्रमादेन गकोशे त्यक्त इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! त्वं यः सौश्रवसेषु वर्त्तमानस्तमाभज, यः शस्यमान उक्थऽउक्थे, प्रियः, सूर्येऽग्ना च प्रियो, जातेन जनित्वैः सहोद्भवात्युद्भिनदत्, तं त्वमाभज ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यः पाककरणे साधुः, सर्वस्य प्रियोऽन्नव्यञ्जनानां भेदकः [1]पाचको भवेत्, स स्वीकर्त्तव्यः ॥ २७ ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! आप जो (सौश्रवसेषु) सुन्दर धन वालों में वर्त्तमान हो, (तम्) उस को (आभज) सेवन कीजिये, जो (शस्यमाने) स्तुति के योग्य (उक्थऽउक्थे) अत्यन्त कहने योग्य व्यवहार में (प्रियः) प्रीति रक्खे, (सूर्य्ये) स्तुतिकारक पुरुषों में हुए व्यवहार (अग्ना) और अग्निविद्या में (प्रियः) सेवने योग्य, (जातेन) उत्पन्न हुए और (जनित्वैः) उत्पन्न होने वालों के साथ (उद्भवाति) [2]उत्पन्न होवे और शत्रुओं को (उद्भिनदत्) उच्छिन्न भिन्न करे, (तम्) उस को आप (आभज) सेवन कीजिये ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो पाक करने में साधु, सब का हितकारी, अन्न और व्यंजनों को अच्छे प्रकार बनावे, उस [पाचक] को अवश्य ग्रहण करें ॥ २७ ॥

त्वामग्न इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैर्विद्याः कथं वर्द्धनीया इत्याह ॥

त्वाम॑ग्ने यज॑माना॒ऽ अनु॒ द्यून् विश्वा॒ वसु॑ दधिरे॒ वार्या॑णि ।
त्वया॑ स॒ह द्रवि॑णमि॒च्छमा॑ना व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥२८॥

त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । यज॑मानाः । अनु॑ । द्यून् । विश्वा॑ । वसु॑ । द॒धि॒रे॒ । वार्या॑णि ॥ त्वया॑ । स॒ह । द्रवि॑णम् । इ॒च्छमा॑नाः । व्र॒जम् । गोम॑न्त॒मिति॒ गोऽम॑न्तम् । उ॒शिजः॑ । वि । व॒व्रुः॒ ॥२८॥

निघाताभावः । श्नम आगमपक्षे आगमानुदात्तत्वेन आगमाभावपक्षे तु मित्त्वात् **परश्च** (अ० ३।१।२) इत्यप्रवृत्तौ तत्संनियुक्तस्याद्युदात्तत्वस्याप्यप्रवृत्तौ धात्वन्तःपातित्वात् पुनः **धातोः** (अ० ६।१।१५६) इत्यन्तोदात्तत्वेन नकार उदात्तः । तथा च वार्त्तिककारः—**अकच्श्नंवतः सर्वनामाव्ययधातुसंज्ञाविधावुपसंख्यानम्** (अ० १।१।७१ वा०) इति **येन विधि०** सूत्रभाष्ये ॥

(जनित्वैः) **कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः** (अ० ३।४।१४) इति त्वनि, **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तः ॥ यद्वा—**जनिदाच्यु०** (उ० ४।१०४) इति 'इत्वन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. पूर्वमन्त्रानुयोगेनात्रायमर्थो गृह्यते ॥

२. अर्थात् उत्कृष्ट गुणों से युक्त हो और दोषों को उच्छिन्न करे ॥२७॥

पदार्थः—(त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् (यजमानाः) संगन्तारः (अनु) (द्यून्) दिनानि (विश्वा) सर्वाणि (वसु) वसूनि द्रव्याणि (दधिरे) धरेयुः (वार्याणि) स्वीकर्त्तुमर्हाणि (त्वया) (सह) साकम् (द्रविणम्) [1]धनम् (इच्छमानाः) व्यत्ययेनाऽत्रात्मनेपदम् (व्रजम्) [2]मेघम् (गोमन्तम्) प्रशस्ता गावः किरणा यस्मिंस्तम् (उशिजः) मेधाविनः। उशिगिति मेधाविनामसु पठितत् ।। निघं० ३।१५। (वि) (वव्रुः) वृणुयुः ।। २८ ।।[3]

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! यन्त्वामाश्रित्योशिजो यजमानास्त्वया सह *याननुद्यून् विश्वा वार्याणि वसु दधिरे, द्रविणमिच्छमाना गोमन्तं व्रजं विवव्रुः, तथाभूता वयमपि भवेम ।। २८ ।।

भावार्थः—मनुष्यैः प्रयतमानानां विदुषां संगात् पुरुषार्थेन प्रतिदिनं विद्यासुखे वर्द्धनीये ।। २८ ।।

फिर मनुष्य लोग विद्या को किस प्रकार बढ़ावें, इस विषय का
उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! जिस (त्वाम्) आप का आश्रय लेकर (उशिजः) बुद्धिमान् (यजमानाः) संगतिकारक लोग (त्वया) आप के (सह) साथ (विश्वा) सब

---

१. ज्ञानरूपमित्यभिप्रायः ।।

२. तत्सदृशं ज्ञानस्थानं वा ।।

३. पूर्ववदयमपि मन्त्रः शतपथेऽव्याख्यात इति ध्येयम् ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(द्यून्) दिविधातोः क्विपि धातुस्वरः, ऊठि यणि चापि स एव स्वर इति। 'अनुः' कर्मप्रवचनीयः, **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** (अ० २।३।८) इति द्वितीया। यद्वा—**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (अ० २।३।५) इति द्वितीया ।।

(दधिरे) **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ।।

(वार्याणि) **'वृञ् वरणे'** (स्वा० उ०) इत्यस्माद् **ऋहलोर्ण्यत्** (अ० ३।१।१२४) इति 'ण्यत्' प्रत्ययः। **तित् स्वरितम्** (अ० ६।१।१८५) इति प्राप्तौ **ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः** (अ० ६।१।२१४) इत्याद्युदात्तत्वम् ।।

महाभाष्यकारेण **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (अ० ३।१।१०९) इति सूत्रे **'क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणं कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्, वार्या ऋत्विजः'** इत्युक्तम्। तेन 'वार्य' इति पदं **'वृङ् सम्भक्तौ'** (क्र्या० आ०) इत्यस्माद् भवतीति ज्ञाप्यते। परन्तु **'वार्यं वृणोतेः** (निरु० ५।१)' इति यास्कवचनाद् वृणोतेरपि भवतीति ज्ञायते ।।

क्वचित् (सिद्धान्तकौमुद्यादिषु) भ्वादौ 'वृ संवरणे इति पठ्यते। तच्चायुक्तं प्रतिभाति। यतो हि निरनुबन्धधातौ सति **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (अ० ३।१।१०९) इत्यत्र **अननुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्** (परि० ७०) इति परिभाषया वृङ्वृञोः प्राप्तिरेव नास्ति, कुतस्तत्र **क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम्** (अ० ३।१।१०९ वा०) इति नियामकत्वेनास्य वार्त्तिकस्य प्रवृत्तिसम्भवः स्यात्। अपि च—क्षीरतरङ्गिण्यां धातुप्रदीपादिषु च प्राचीनधातुवृत्तिषु 'वृ संवरण' इत्यस्य स्थाने 'द्वृ संवरणे' धातुः पठ्यते। **'द्वारयति संवृणोति यया सा द्वाः द्वारौ'** ।। (द० उणादिवृत्ति २।५७)

---

* 'यान्' इति पदमत्रानन्वितमिव प्रतिभाति। 'यानि' इति तु कपाठः, स च सम्यक् स्यात् ।।

(वार्याणि) ग्रहण करने योग्य ([1]अनुद्यून्) दिनों में (वसु) द्रव्यों को (दधिरे) धारण करें, (द्रविणम्) धन की (इच्छमानाः) इच्छा करते हुए (गोमन्तम्) सुन्दर किरणों के रूप से युक्त (व्रजम्) मेघ वा †गोस्थान को (विवव्रुः) विविध प्रकार से ग्रहण करें, वैसे हम लोग भी होवें ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि प्रयत्नशील विद्वानों के सङ्ग से पुरुषार्थ के साथ विद्या और सुख को नित्यप्रति बढ़ाते जावें ॥ २८ ॥

अस्तावीत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तत्संगेन किं भवतीत्याह ॥

अस्ताव्यग्निर्नराᳪ सुशेवो वैश्वानरऽऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥२९॥

अस्तावि । अग्निः । नराम् । सुशेव इति सुऽशेवः । वैश्वानरः । ऋषिभिरित्यृषिऽभिः । सोमगोपा इति सोमऽगोपाः ॥ अद्वेषेऽइत्यद्वेषे । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । हुवेम । देवाः । धत्त । रयिम् । अस्मेऽइत्यस्मे । सुवीरमिति सुऽवीरम् ॥२९॥

पदार्थः—(**अस्तावि**) स्तूयते (**अग्निः**) परमेश्वरः ([2]**नराम्**) नायकानां विदुषाम (**सुशेवः**) सुष्ठुसुख । शेवमिति सुखनामसु पठितम् ॥ निघं० ३।६ । (**वैश्वानरः**) **विश्वे सर्वे नरा** [3]**यस्मिन् स एव** (**ऋषिभिः**) वेदविद्भिर्विद्वद्भिः (**सोमगोपाः**) ऐश्वर्यपालकाः (**अद्वेषे**) [4]**द्वेष्टुमनर्हे** **प्रीतिविषये** (**द्यावापृथिवी**) राजनीतिभूराज्ये (**हुवेम**)

इत्यनेनाचार्यदयानन्दोऽपि 'वृ' इति धातु स्वीकरोतीति व्यक्तम् । तथैवोज्ज्वलदत्तोऽपि ॥

(**सह**) पूर्वं (य० ६।२४) व्याख्यातः ॥

(**द्रविणम्**) पूर्वं (य० ८।६१) व्याख्यातः ॥

(**इच्छमानः**) 'इषु इच्छायाम् (तु०प०)'। व्यत्ययेनात्रात्मनेपदम् । **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (अ० ६।१।१८७) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरः ॥

(**व्रजम्**) पूर्वं (य० १।२५) व्याख्यातः॥

(**गोमन्तम्**) प्रशंसायां 'मतुप्', प्रातिपदिकस्वरः ॥

(**उशिजः**) पूर्वं (य० ५।३२) व्याख्यातः॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. संस्कृतान्वये पूर्वं भाषायां पश्चाद् इति ध्येयम् ॥२८॥

२. निर्धारणे षष्ठी । नुडभावश्छान्दसः ॥

३. **प्रज्ञादिभ्यश्च** (अ० ५।४।३८) इति स्वार्थेऽण्॥

४. अर्थप्रदर्शनमिदम्, विग्रहस्तु—न विद्यते द्वेषो ययोः ॥

---

† 'गोस्थान' इति संस्कृते नास्ति ॥

स्वीकुर्याम (देवाः) शत्रून् विजिगीषमाणाः (धत्त) धरत (रयिम्) राज्यश्रियम् (अस्मे) अस्मभ्यम् (सुवीरम्) शोभना वीरा यस्मात् तम् ॥ २६ ॥[1]

अन्वयः—हे देवाः ! यैर्युष्माभिर्ऋषिभिर्यो नरां सुशेवो वैश्वानरोऽग्निरस्तावि, ये यूयमस्मे सुवीरं *रयिं धत्त, तदाश्रिताः सोमगोपा वयमद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम ॥ २६ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।]

भावार्थः—ये सच्चिदानन्दस्वरूपेश्वरसेवका धार्मिका विद्वांसः सन्ति, ते [2]परोपकारकत्वादाप्ता भवन्ति, नहीदृशानां संगमन्तरा मनुष्याः सुस्थिरे विद्याराज्ये कर्त्तुं शक्नुवन्ति ॥ २६ ॥

फिर उन विद्वानों के सङ्ग से क्या होता है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (देवाः) शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाले विद्वानो ! जिन तुम (ऋषिभिः) ऋषि लोगों ने (नराम्) नायक विद्वानों में (सुशेवः) सुन्दरसुखयुक्त (वैश्वानरः) सब मनुष्यों के आधार (अग्निः) परमेश्वर की (अस्तावि) स्तुति की है [वा करते हैं,] जो तुम लोग (अस्मे) हमारे लिये (सुवीरम्) जिस से सुन्दर वीर पुरुष हों उस (रयिम्) राज्यलक्ष्मी को (धत्त) धारण करो [वा करते हो,] उस के आश्रित (सोमगोपाः) ऐश्वर्य के रक्षक हम लोग (अद्वेषे) द्वेष करने के अयोग्य, †प्रीति के विषय (द्यावापृथिवी) प्रकाशरूप राजनीति और पृथिवी के राज्य का (हुवेम) ग्रहण करें ॥ २६ ॥

[यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।]

भावार्थः—जो सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर के सेवक, धर्मात्मा, विद्वान् लोग हैं, वे परोपकारी होने से आप्त यथार्थवक्ता होते हैं ऐसे पुरुषों के सत्सङ्ग के विना स्थिर विद्या और राज्य को कोई भी नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

---

१. पूर्ववदयमपि मन्त्रः शतपथेऽव्याख्यातः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अस्तावि) चिणि, अटस्वरः ॥

(नराम्) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(सुशेवः) पूर्वं (य० ४।१२) व्याख्यातः ॥

(वैश्वानरः) स्वार्थेऽण्, प्रत्ययस्वरः ॥

(ऋषिभिः) पूर्वं (य० ३।१६) व्याख्यातः ॥

(सोमगोपाः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३६) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते दासीभाराणां च (अ० ६।२।४२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । एकवचनपक्षे तु गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४।२२७) इति 'असि' प्रत्ययः । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । तथा च य० १२।२२ व्याख्यातः ॥

(अद्वेषे) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(हुवेम) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(अस्मे) उदात्तनिवृत्तिस्वरः ॥

(सुवीरम्) पूर्वं (य० ३।३८) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. हेतावत्र पञ्चमी ॥२६॥

---

* 'रयिम्' इति गकोशेऽस्ति ॥

† 'प्रीति के विषय में' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

समिधाग्निमित्यस्य विरूपाक्ष ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याणां के सेवनीयाः सन्तीत्याह ॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥३०॥

समिधेति सम्ऽइधा । अग्निम् । दुवस्यत । घृतैः । बोधयत । अतिथिम् ॥ आ । अस्मिन् । हव्या । जुहोतन ॥३०॥

पदार्थः—(समिधा) सम्यगग्निसंस्कृतेनान्नादिना[1] ([2]अग्निम्) उपदेशकं विद्वांसम् (दुवस्यत) सेवध्वम् (घृतैः) घृतादिभिः (बोधयत) चेतयत (अतिथिम्) अनियततिथिमुपदेशकम् (आ) (अस्मिन्) (हव्या) दातुमर्हाणि (जुहोतन) दत्त । [अयं मन्त्रः श० ६।८।१।६ व्याख्यातः] ॥ ३० ॥

[2]**अन्वयः**—हे गृहस्थाः ! यूयं समिधाग्निमिवान्नादिनोपदेशकं दुवस्यत, घृतैरतिथिं बोधयत, अस्मिन् हव्या आजुहोतन ॥ ३० ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सत्पुरुषाणामेव सेवा कार्या, सत्पात्रेभ्य एव दानं च देयम् । यथाग्नौ घृतादिकं हुत्वा संसारोपकारं जनयन्ति, तथैव विद्वत्सूत्तमानि दानानि संस्थाप्यैर्जगति विद्यासुशिक्षे वर्धनीये ॥ ३० ॥

फिर मनुष्य किन का सेवन करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे गृहस्थो ! तुम लोग जैसे (समिधा) अच्छे प्रकार *इन्धनों से (अग्निम्) अग्नि को प्रकाशित करते हैं, वैसे उपदेश करने वाले विद्वान् पुरुष की (दुवस्यत) सेवा

---

१. 'अन्नादिना' इत्यध्याहारः ॥

२. 'भौतिकमग्निम्' इति तु पूर्वं (य० ३।१) व्याख्यातम्, अस्यैव मन्त्रस्य भाष्ये । 'दुवस्यत दीप्यत, जुहोतन प्रक्षिपत' । सङ्गतावपि 'भौतिकोऽग्निः क्व क्वोपयोक्तव्यः' इत्यादि सर्वमस्मात् पृथक् सन्नपि सङ्गच्छते । अन्वयादावपि तथैव भेदः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(हव्या) पदमिदं वेदेऽनेकमन्त्रेषु बाहुल्येन 'आद्युदात्तम्' 'अन्तोदात्तं' चोभयमप्युपलभ्यते । आद्युदात्तपक्षे तु '**हु दानादनयोः**' (जु० प०) इत्यस्मात् **अचो यत्** (अ० ३।१।९७) हूयते इति हव्यं, कर्मणि 'यत्' प्रत्ययः । **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ अन्तो-

---

* भाषार्थोऽयमसंशयं भूतपूर्वसंस्कृतान्वयस्य स्यात् । यद्वा—अनुवादकेन स्वमनीषया स्पष्टार्थं पिपादयिषयेत्थं भावार्थः कृतः स्यात् ॥

'इन्धनों से अग्नि को प्रकाशित करते हैं वैसे', 'जैसे सुसंस्कृत अन्न तथा', 'अग्नि में होम करके जगदुपकार करते हैं वैसे' इत्यादयः पाठाः संस्कृते न सन्तीति ध्येयम् ॥

करो, और जैसे सुसंस्कृत अन्न तथा (घृतैः) घी आदि पदार्थों से अग्नि में होम करके जगदुपकार करते हैं, वैसे (अतिथिम्) जिस के आने जाने के समय का नियम न हो उस उपदेशक पुरुष को (बोधयत) स्वागत उत्साहादि से चैतन्य [=उत्साहित] करो, और (अस्मिन्) इस जगत् में (हव्या) देने योग्य पदार्थों को (आजुहोतन) अच्छे प्रकार दिया करो ।।३०।।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिए कि सत्पुरुषों ही की सेवा [करें,] और सुपात्रों ही को दान दिया करें। जैसे अग्नि में घी आदि पदार्थों का हवन करके संसार का उपकार करते हैं, वैसे ही विद्वानों में उत्तम पदार्थों का दान करके इनके द्वारा जगत् में विद्या और अच्छी शिक्षा को बढ़ा के विश्व को सुखी करें ।।३०।।

उदु त्वेत्यस्य तापस ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

विद्वान् स्वतुल्यानन्यान् विदुषः कुर्यात् *इत्याह ।।

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वाऽग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः ।
स नो॑ भव शि॒वस्त्व॑ꣳ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः ।।३१।।

उत् । ऊँइत्यूँ । त्वा॒ । विश्वे॑ । दे॒वाः । अग्ने॑ । भर॑न्तु । चित्ति॑भि॒रिति॒ चित्ति॑ऽभिः ।। सः । नः॒ । भ॒व॒ । शि॒वः । त्वम् । सु॒प्रती॑क॒ इति॑ सु॒ऽप्रती॑कः । वि॒भाव॑सु॒रिति॑ वि॒भाऽव॑सुः ।।३१।।

पदार्थः—(उत्) (उ) (त्वा) (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अग्ने) विद्वन् (भरन्तु) पुष्णन्तु ([1]चित्तिभिः) सम्यग् विज्ञानैस्सह (सः) (नः) अस्मभ्यम् (भव) (शिवः) मङ्गलोपदेष्टा (त्वम्) (सुप्रतीकः) शोभनानि प्रतीकानि[2] लक्षणानि यस्य सः

दात्तपक्षे तु शेषं सर्वं पूर्ववत् । स्वरस्तु उच्छादीनां च (अ० ६।१।१६०) इत्यन्तोदात्तत्वम्।। अविहितलक्षणोऽन्तोदात्त उञ्छादिषु द्रष्टव्य इत्यनुमानात्, छान्दसत्वाद् वेति तु सर्वसम्मतं स्यात् ।।

अन्ये सर्वेऽपि शब्दाः पूर्वं (य० ३।१) सुव्याख्यातास्तत्रैव द्रष्टव्याः ।।३०।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१ चित्तिभिः कर्मभिः इति निरु० २।६ ।। 'चिती संज्ञाने' (भ्वा० प०) इत्यर्थोऽत्र गृह्यते ।।

२. प्रतीकं 'प्रत्यक्तं भवति प्रतिदर्शनमिति वा' निरु० ७।३१ ।। प्रतीकम् अञ्जतेर्गत्यर्थस्य रूपम् । प्रत्यक्तं प्रतिगतमित्यर्थः । इति स्कन्द-टीका पृ० १११ ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(चित्तिभिः) 'चिती संज्ञाने' (भ्वा०प०) इति धातोर्भावे स्त्रियां क्तिन् (अ० ३।३।९४) इति 'क्तिन्' । तितुत्रत० (अ० ७।२।९) इतीडभावः ।।

(सुप्रतीकः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।

---

* 'इत्याह' इति कपाठः ।।

(विभावसुः) येन विविधाऽभा† विद्यादीप्तिर्वास्यते । [अयं मन्त्रः श० ६।८।१।७,८ व्याख्यातः] ।। ३१ ।।

[1]अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! यं त्वा विश्वे देवाश्चित्तिभि§ रुदुभरन्तु, स विभावसुः सुप्रतीकस्त्वं नः शिवो भव ।। ३१ ।।

भावार्थः—यो यथा $विद्वद्भ्यो विद्यां संचिनोति, तथैवान्यान् विद्यासंचितान् संपादयेत् ।। ३१ ।।

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि अपने तुल्य अन्य मनुष्यों को विद्वान् करे,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! जिस (त्वा) आपको (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (चित्तिभिः) अच्छे विज्ञानों के साथ, ʃअग्नि के समान (उदुभरन्तु) पुष्ट करें, (सः) सो (विभावसुः) जिससे विविध प्रकार की शोभा वा विद्या प्रकाशित हों, (सुप्रतीकः) सुन्दर लक्षणों से युक्त (त्वम्) आप (नः) हम लोगों के लिये (शिवः) मङ्गलमय वचनों के उपदेशक (भव) हूजिये ।।३१।।

भावार्थः—जो मनुष्य जैसे विद्वानों से विद्या का संचय करता है, वह वैसे ही दूसरों के लिये विद्या का प्रचार करे ।।३१।।

प्रेदग्न इत्यस्य तापस ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।।

पुना राजा किं कृत्वा किं प्राप्नुयादित्याह ।।

प्रेद॑ग्ने ज्योति॑ष्मान् याहि शि॒वेभि॑र॒र्चिभि॒ष्ट्वम् ।
बृ॒हद्भि॑र्भा॒नुभि॒र्भास॒न् मा हि॑ꣳसीस्त॒न्वा॒ प्र॒जाः ।।३२।।

१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१६६ भा० वा०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ।।

(विभावसुः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१०६ भा० वा०) इतीष्टस्वरसिद्धिः ।। बहुव्रीहिपक्षः पूर्वं (य० ११।४०) प्रदर्शितस्तत्र द्रष्टव्यः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. अयं मन्त्रोऽग्रे य० १७।५३ स्वल्पभेदेन व्याख्यातः ।।३१।।

† इतोऽग्रे 'सः' इति कगकोशयोः पाठः ।।

§ इतोऽग्रे 'रग्निमिवोदुभरन्तु' इति कपाठः, तथैव भाषापदार्थेऽपि ।।

$ साम्प्रतिकानां मते तु 'विदुषः' इति स्यात् ।।

ʃ 'अग्नि के समान' इति संस्कृते नास्ति, अनन्वित इव चापि ।।

प्र । इत् । अ॒ग्ने । ज्योति॑ष्मान् । या॒हि॒ । शि॒वेभिः॑ । अ॒र्चिभि॒रित्य॒र्चिऽभिः॑ । त्वम् ॥ बृ॒हद्भि॒रिति॑ बृ॒हत्ऽभिः॑ । भा॒नुभि॒रिति॑ भा॒नुऽभिः॑ । भास॑न् । मा । हि॒ꣳसीः॒ । त॒न्वा॒ । प्र॒जा इति॑ प्र॒ऽजाः ॥३२॥

पदार्थः—(प्र) (इत्) (अग्ने) विद्याप्रकाशक (ज्योतिष्मान्) बहूनि ज्योतींषि [1]विज्ञानानि विद्यन्ते यस्य सः (याहि) प्राप्नुहि (शिवेभिः) मङ्गलकारकैः (अर्चिभिः) [2]पूजितैः (त्वम्) (बृहद्भिः) महद्भिः (भानुभिः) विद्याप्रकाशकैर्गुणैः[3] (भासन्) प्रकाशकः सन् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (तन्वा) शरीरेण (प्रजाः) पालनीयाः । [अयं मन्त्रः श०६।८।१।१६ व्याख्यातः] ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! त्वं यथा ज्योतिष्मान् सूर्य्यः शिवेभिरर्चिभिर्बृहद्भिर्भानुभिरिदेव भासन् वर्त्तते तथा प्रयाहि, तन्वा प्रजा मा हिंसीः ॥ ३२ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे सराजपुरुष राजन् ! त्वं शरीरेणानपराधिनः कस्यापि प्राणिनो हिंसामकृत्वा, विद्यान्यायप्रकाशेन प्रजाः पालयन्, जीवन्नभ्युदयं मृत्वा [च] मुक्तिसुखं प्राप्नुयाः ॥ ३२ ॥

फिर राजा क्या करके किस को प्राप्त होवे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्या प्रकाश करने हारे विद्वन् ।(त्वम्) तू जैसे (ज्योतिष्मान्) ज्योतियों से युक्त सूर्य्य (शिवेभिः) मङ्गलकारी (अर्चिभिः) सत्कार के साधन (बृहद्भिः) बड़े बड़े (भानुभिः) प्रकाशगुणों से (इत्) ही (भासन्) प्रकाशमान है, वैसे सुखों को (प्रयाहि) प्राप्त हूजिये, और (तन्वा) शरीर से (प्रजाः) पालने योग्य प्राणियों को (मा) मत (हिंसीः) मारिये ॥३२॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—हे सेनापति आदि राजपुरुषों के सहित राजन् ! आप अपने शरीर से किसी अनपराधी प्राणी को न मार के, विद्या और न्याय के प्रकाश से प्रजाओं का पालन करके, जीवते हुए संसार के सुख को और शरीर छूटने के पश्चात् मुक्ति के सुख को प्राप्त हूजिये ॥३२॥

---

१. विविधं ज्ञानं भवति यैस्तानि ॥

२. साधनैरित्यर्थः । अर्चिरिति करणेऽत्र प्रत्ययः ॥

३. विशेषेण प्रकाश्यतेऽनेनेति करणे ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ज्योतिष्मान्) द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उ० २।११०) इति 'इसिन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(शिवेभिः) पूर्वं (य० १।२७) व्याख्यातः ॥

(अर्चिभिः) अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिः (उ० २।१०८) इति 'इसिः', स चात्र करणे । प्रत्ययस्वरः ॥

(भानुभिः) दाभाभ्यां नुः (उ० ३।३२) इति प्रत्ययस्वरः ॥

(भासन्) छान्दसत्वात् परस्मैपदम् । **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (**अ०** ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(तन्वा) पूर्वं (य० ६।११) व्याख्यातः ॥३२॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

*राज्यप्रबन्धः कथं कार्य्यः इत्युपदिश्यते ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽ अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥३३॥

अक्रन्दत् । अग्निः । स्तनयन्निवेति स्तनयन्ऽइव । द्यौः । [1]क्षामा । रेरिहत् । वीरुधः । समञ्जन्निति समऽअञ्जन् ॥ सद्यः । जज्ञानः । वि । हि । ईम् । इद्धः । अख्यत् । आ । रोदसीऽइति रोदसी । भानुना । भाति । अन्तरित्यन्तः ॥३३॥

पदार्थः—(अक्रन्दत्) [2]विजानाति (अग्निः) [3]शत्रुदाहको विद्वान् (स्तनयन्निव) विद्युद्वद् गर्जयन् (द्यौः) [4]विद्यान्यायप्रकाशकः (क्षामा) भूमिम् ([5]रेरिहत्) भृशं युध्यस्व (वीरुधः) वनस्थान् वृक्षान् (समञ्जन्) सम्यक् रक्षन् (सद्यः) तूर्णम् (जज्ञानः) राजनीत्या प्रादुर्भूतः (वि) (हि) खलु (ईम्) सर्वतः (इद्धः) शुभलक्षणैः प्रकाशितः (अख्यत्) [6]धर्म्यानुपदेशान् प्रकथयेः (आ) (रोदसी) अग्निभूमी (भानुना) पुरुषार्थप्रकाशेन (भाति) (अन्तः) राजधर्म्ममध्ये स्थितः । [अयं मन्त्रः श० ६।८।१।११ व्याख्यातः] ॥ ३३ ॥

[7]**अन्वयः**—हे प्रजाजनाः ! युष्माभिर्यथा द्यौरग्निः स्तनयन्निवाक्रन्दद्, वीरुधः समञ्जन्, क्षामा रेरिहत्, जज्ञान इद्धः सद्यो व्यख्यत्, भानुना ईं हि रोदसी अन्तराभाति, तथा [यो भवेत्] स राजा भवितुं योग्योऽस्तीति वेद्यम् ॥ ३३ ॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—**नहि वनवृक्षरक्षणेन [विना] वृष्टिबाहुल्यमारोग्यं तडिद्वद्व्यवहारवद् दूरसमाचारग्रहणेन शत्रुविनाशनेन राज्ये विद्यान्यायप्रकाशेन च विना [स्थिरं] सुराज्यं च जायते ॥ ३३ ॥**

---

१. द्र० य० १२।६ टि० २ ॥

२. 'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति' (अ० १।३।१ महा०) इति महाभाष्यवचनात् ॥

३. 'शत्रुदाहकः' इत्यध्याहारः ॥

४. दिवुधात्वर्थेनायमर्थोऽत्र ग्राह्यः ॥

५. अत्र मन्त्रे 'रेरिहत्' इति शब्दो लेटि वर्त्तते । लिङर्थे लेट् (अ० ३।४।७) इति लेट् । लिङ्गर्थतात्र बोद्धव्या, या च युध्यस्वेत्याद्यर्थेषु सङ्गच्छते ।

६. 'धर्म्यानुपदेशान्' इत्यध्याहारः ॥

७. (क) अत्र 'यः द्यौरग्निः······भवेत्, स राजा भवितुं योग्यः' इत्यपि सम्भवति ॥

(ख) मन्त्रोऽयं पूर्वं (य० १२।६ ; १२।२१ चापि व्याख्यातः । एतद्विषये यद् वक्तव्यं तत् सर्वमपि पूर्वमेवोक्तम् ॥३३॥

---

* 'केन कर्मणोत्तमं राज्यं भवतीत्याह' इति कपाठः ॥

†राज्य का प्रबन्ध कैसे करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थ—हे प्रजा के लोगो ! तुम लोगों को चाहिये कि जैसे (द्यौः) §सूर्य प्रकाश-कर्त्ता है, वैसे विद्या और न्याय का प्रकाश करने, और (अग्निः) पावक के तुल्य शत्रुओं का नष्ट करने हारा विद्वान्, (स्तनयन्निव) बिजुली के समान $गर्जता हुआ (अक्रन्दत्) सब को जानता है. और (वीरुधः) वन के वृक्षों की (समञ्जन्) अच्छे प्रकार रक्षा करता हुआ (क्षामा) पृथिवी पर (रेरिहत्) युद्ध करे, (जज्ञानः) राजनीति से प्रसिद्ध हुआ, (इद्धः) शुभ लक्षणों से प्रकाशित, (सद्यः) शीघ्र (व्यख्यत्) धर्मयुक्त उपदेश करे, तथा (भानुना) पुरुषार्थ के प्रकाश से (ईम्) [सब ओर से] (हि) ही (रोदसी) अग्नि और भूमि को (अन्तः) राजधर्म में स्थिर करता हुआ (आभाति) अच्छे प्रकार ∫प्रकाश करता है, [वैसे जो हो] वह पुरुष राजा होने के योग्य है, ऐसा निश्चित जानो ॥३३॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं ।

भावार्थः—वन के वृक्षों की रक्षा के विना बहुत वर्षा और रोगों की न्यूनता नहीं होती, और बिजुली के तुल्य दूर के ‡समाचारों [के ग्रहण किये विना] शत्रुओं को मारने और [राज्य] में विद्या तथा न्याय के प्रकाश के विना अच्छा स्थिर राज्य ‡ही नहीं हो सकता ॥३३॥

प्रप्रायमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनः कीदृशं जनं राजव्यवहारे नियुञ्जीरन्नित्याह ॥

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः ।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्योऽ अतिथिः शिवो नः ॥३४॥

प्रप्रेति प्रऽप्र । अयम् । अग्निः । भरतस्य । शृण्वे । वि । यत् । सूर्यः । न । रोचते । बृहत् । भाः ॥ अभि । यः । पूरुम् । पृतनासु । तस्थौ । दीदाय । दैव्यः । अतिथिः । शिवः । नः ॥३४॥

---

† ‘किस कर्म के करने से उत्तम राज्य होता है, इस विषय का उपदेश०’ इति कपाठः ॥

§ ‘सूर्य प्रकाश करता है वैसे’; ‘पावक के तुल्य’ इति संस्कृतान्वये नास्ति । ‘सूर्य’ इति ककोशे नास्ति ॥

$ ‘विजानाति’ इति संस्कृतपदार्थेऽस्ति । ‘गर्जता हुआ (अक्रन्दत्) सब को जानता है’ इति कपाठः । ‘(अक्रन्दत्) गर्जता और’ इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

∫ ‘प्रकाशित है’ इति कगकोशयोः पाठः ॥

‡ ‘समाचारों से’ इति अ०मुद्रिते, कगकोशयोश्च पाठः ॥

‡ ‘ही’ इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

पदार्थः—**(प्रप्र) अतिप्रकर्षेण (अयम्)** ([1]**अग्निः**) सेनेशः ([2]भरतस्य) *पालयितव्यस्य राज्यस्य **(शृण्वे) (वि)** (यत्) यः (सूर्य्यः) सविता (न) इव **(रोचते)** प्रकाशते ([3]बृहद्भाः) महाप्रकाशः (अभि) (यः) (पूरुम्) पूर्णबल सेनाध्यक्षम्। पूरव इति मनुष्यनामसु पठितम्॥ निघं० २।३। (पृतनासु) सेनासु (तस्थौ) तिष्ठेत् ([4]दीदाय) धर्मं प्रकाशयेत् (दैव्यः) देवेषु विद्वत्सु प्रीतः ([5]अतिथिः) नित्यं भ्रमणकर्त्ता विद्वान् (शिवः) मङ्गलप्रदः (नः) †अस्मान्। [अयं मन्त्रः श० ६।८।१।१४ व्याख्यातः]॥ ३४॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजनाः! यूयं यद योऽयमग्निः सूर्यो न बृहद्भाः प्रप्र [वि] रोचते, यो नः पृतनासु पूरुमभि तस्थौ, दैव्योऽतिथिः शिवो विद्या दीदाय, §यस्य [भरतस्य] विजयो विद्या च [शृण्वे] श्रूयेत, स लब्धलक्षः कुलीनः सेनाया योधयिताऽधिकर्त्तव्यः॥ ३४॥

---

१. अग्रणीर्भवतीति निरु० ७।१४॥

२. 'धारकस्य पोषकस्य' इति ऋ० ७।८।४ द० भा०॥

३. द्रष्टव्यं य० ११।३७, टि० सं० ३॥

४. दीदति ज्वलतिकर्मा। निघ० १।१६॥

५. अत्र यद् वक्तव्यं तत् पूर्वं (य० ३।१) उक्तं, तत्र द्रष्टव्यम्॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्र प्र) प्रसमुपोदः पादपूरणे (अ० ८।१।६) इति द्वित्वम्, अनुदात्तं च (अ० ८।१।३) इति परमनुदात्तम्॥

(भरतस्य) भृमृदृशियजि०······भ्योऽतच् (उ० ३।११०) इति कर्मणि 'अतच्' प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तः॥

(रोचते) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(भाः) क्विपि धातुस्वरेणोदात्तः॥

(पूरुम्) 'पूरी आप्यायने' (दि० आ०) इत्यस्माद् भृमृशीङ्तॄ······भ्य उः (उ० १।७) इति 'उ' प्रत्ययो बाहुलकाद द्रष्टव्यः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। तत एकादेशः॥

(पृतनासु) पूर्वं (य० ६।३७) व्याख्यातः॥

(तस्थौ) स्थाधातोर्लिटि, छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) इति सामान्येन लिट्। यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः। 'णलः' स्थाने 'औ', सोऽपि स्थानिवद्भावात् 'लित्'। तेन लित्स्वरेण 'स्था' आकार उदात्तः। एकादेशे स एव स्वरः॥

(दैव्यः) देवशब्दात् देवाद् यञञौ (अ० ४।१।८५ वा०) इति वार्त्तिकेन प्राग्दीव्यतीयो 'यञ्' प्रत्ययः। ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥ पूर्वं य० १।१३ अपि व्याख्यातः॥

(अतिथिः) पूर्वं (य० ३।१) टिप्पणे सुव्याख्यातः॥ ३४॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया**॥

---

* 'पालितव्यस्य राजस्य' इति अ०मुद्रिते पाठः। 'राज्यस्य' इति प्रथमसंस्करणे पाठः, गकोशे चापि॥

† 'अस्मान्' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। 'अस्माकम्' इति कगकोशयोः पाठः॥

§ 'यत्ते विजयो विद्या च श्रूयते स लब्धलक्षः कुलीनः सेनाया योधयिताऽधिकर्त्तव्यः' इति पाठः ककोशे नास्ति। अस्य स्थाने 'यमहं भरतस्य रक्षकं शृण्वे तं सेनाधिपतिं कुरुत' इति कहस्तलेखपाठः॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—§यस्य पुण्यकीर्त्तेः पुरुषस्य शत्रुषु विजयो विद्याप्रचारश्च श्रूयते, स कुलीनः सेनाया योधयिताऽधिकर्त्तव्यः ॥ ३४ ॥

फिर कैसे पुरुष को राजव्यवहार में नियुक्त करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजा और प्रजा के पुरुषो ! तुम लोगों को चाहिये कि (यत्) जो (अयम्) यह (अग्निः) सेनापति (सूर्य्यः) के (न) समान (बृहद्भाः) अत्यन्त प्रकाश से युक्त (प्रप्र) अतिप्रकर्ष के साथ [(वि)] (रोचते) प्रकाशित होता है, (यः) जो (नः) हमारी (पृतनासु) सेनाओं में (पूरुम्) पूर्ण बलयुक्त सेनाध्यक्ष के निकट (अभितस्थौ) सब प्रकार स्थित होवे, (दैव्यः) विद्वानों का प्रिय, (अतिथिः) नित्य भ्रमण करने हारा अतिथि (शिवः) मङ्गलदाता विद्वान् पुरुष (दीदाय) विद्या और धर्म को प्रकाशित करे, ʃजिस (भरतस्य) सेवने योग्य राज्य के रक्षक [की विजय और विद्या] (शृण्वे) हम लोग सुनें, उस [कीर्त्तियुक्त कुलीन] को सेना का अधिपति करो ॥३४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जिस पुण्यकीर्त्ति पुरुष का शत्रुओं में विजय और विद्याप्रचार सुना जावे, उस कुलीन पुरुष को सेना को युद्ध कराने हारा अधिकारी करें ।३४।

आप इत्यस्य वशिष्ठ ऋषिः । आपो देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

अथ सर्वैर्मनुष्यैः स्वयंवरो विवाहः कार्य इत्याह ॥

आपो॑ दे॒वीः प्रति॑गृभ्णीत॒ भस्मै॒तत्स्यो॒ने कृ॑णुध्व१ँ सु॒र॒भाऽ उ॑ लो॒के ।
तस्मै॑ नमन्तां॒ जन॑यः सु॒पत्नी॑र्मा॒तेव॑ पु॒त्रं बि॑भृ॒ताप्स्वे॑नत् ॥३५॥

आप॑ः । दे॒वीः । प्रति॑ । गृ॒भ्णी॒त॒ । भस्म॑ । ए॒तत् । स्यो॒ने । कृ॒णु॒ध्व॒म् । सु॒र॒भौ । ऊँ॒ इत्यूँ॑ । लो॒के ॥ तस्मै॑ । न॒म॒न्ता॒म् । जन॑यः । सु॒पत्नी॒रिति॑ सु॒ऽपत्नीः॑ । मा॒तेवेति॑ मा॒ताऽइ॑व । पु॒त्रम् । बि॒भृ॒त॒ । अ॒प्स्वित्य॒प्ऽसु । ए॒न॒त् ॥३५॥

---

§ ककोशे त्वित्थं पाठ आसीत्—'मनुष्यैः यस्य पुण्यकीर्त्तिविजयो विद्या च श्रूयते स लब्धलक्षः कुलीनः सेनाया योधयिताऽधिकर्त्तव्यः' । स च गकोशे परिवर्त्तित इति ध्येयम् ॥

ʃ 'जिस को मैं (भरतस्य) सेवने योग्य राज्य का रक्षक (शृण्वे) सुनता हूं, उस को सेना का अधिपति करो' इति क-भूतपूर्वसंस्कृतस्यानुवादः इति ध्येयम् । एवं संस्कृतान्वयान्ते भाषापदार्थान्ते च पाठो व्यस्तो जात इति ध्येयम् । स च परिवर्त्तितः संस्कृतानुसारी कृतोऽस्माभिः ॥

पदार्थः—(आपः) पवित्रजलानीव सकलशुभगुणव्यापिकाः कन्याः (देवीः) दिव्यरूपसुशीलाः (प्रति) (गृभ्णीत) स्वीकुर्वीत (भस्म) प्रदीपकं तेजः (एतत्) ([1]स्योने) *सुसुखकारके (कृणुध्वम्) (सुरभौ) ऐश्वर्यप्रकाशके। अत्र षुर ऐश्वर्य्यदीप्त्योरित्यस्माद् बाहुलकादौणादिकोऽभिच प्रत्ययः (उ) (लोके) द्रष्टव्ये (तस्मै) (नमन्ताम्) नम्राः सन्तु (जनयः[2]) विद्यासुशिक्षया प्रादुर्भूताः (सुपत्नीः) शोभनाश्च ताः पत्न्यश्च ताः (मातेव) (पुत्रम्) (बिभृत) धरत (अप्सु) प्राणेषु (एनत्) अपत्यम्। [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।३ व्याख्यातः] ॥३५॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः! या आपो देवीः [स्योने] सुरभौ लोके पतीन् सुखिनः कुर्वन्ति, ताः प्रतिगृभ्णीतैता सुखिनीः कृणुध्वम्। यदेतद् भस्मास्ति, तस्मै याः सुपत्नीर्जनयो नमन्ति, ताः प्रति भवन्तोऽपि नमन्तामुभये मिलित्वा पुत्रं मातेवाप्स्वेनद् बिभृत ॥३५॥

अत्रोपमालङ्कारः।

---

१. 'स्योनम्' इति सुखनाम ॥ निघ० ३।६ ॥

२. आपो हि जनयोऽद्भ्यो हीदं सर्वं जायते ॥ श० ६।८।२।३ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(भस्म) 'भस भक्षणदीप्त्योः' (जु० प०) अस्मात् सर्वधातुभ्यो 'मनिन्' (उ० ४।१४५) इति 'मनिन्'। नित्त्वादाद्युदातः। धातुपाठेषु 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' इति साम्प्रतमुपलभ्यते तच्चिन्त्यम्। तथा चोक्तमाचार्यपादैः—भस-धातोः 'भर्त्सन' इत्यर्थो नवीनः, 'भक्षण' इति तु प्राचीनोऽर्थः (ऋग्भाष्य १।२८।७)। सायणोऽपि ऋग्भाष्ये १।२८।७ भक्षणार्थमाह। दशपादिवृत्तिकारोऽपि 'भस भक्षणदीप्त्योः' (८।८४) इति पठति। अत्र निरुक्तं (९।३६) अप्यनुसन्धेयम् ॥

(स्योने) पूर्वं (य० १।२७) व्याख्यातः॥

(सुरभौ) षुर धातोरौणादिकोऽभिच् प्रत्ययः, इत्युक्तं भाष्ये। चित्त्वादन्तोदात्तः। तत एकादेशः ॥ यद्वा—सुपूर्वाद् 'रभ'धातोः सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इति प्राप्ते बाहुलकाद् 'इ' प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(जनयः) 'जनी प्रादुर्भावे' (दि० आ०) इत्यस्मात् सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इतीनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। जनिघसिभ्यामिण् (उ० ४।१३०) इति 'इण्' प्रत्ययः=जनिः। जनिवध्योश्च (अ० ७।३।३५) इति वृद्धयभावः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तः। केचन वृत्तिकारा णित्त्वाद् वृद्धिं कृत्वा 'जानिः' इत्युदाहरन्ति ॥

(सुपत्नीः) भाष्येकारेणायं शब्दो द्विधा व्याख्यायते, यथा — 'शोभनः पतिर्ययोः (द्यावापृथिव्योः)' (ऋ० ६।३।७ द० भा०) इति बहुव्रीहिः। अत्र आद्युदात्तं द्वयच्छन्दसि (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। यथा त्वत्र—'शोभनाश्च ताः पत्न्यश्च' इति तत्पुरुषसमासस्तथा सति परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ०६।२।१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥

(मातेव) इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।२।१८ वा०) इत्यनेन पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वरत्वं प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(पुत्रम्) पूर्वं (य० ४।३५, पृ० ४०५) व्याख्यातः ॥३५॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'सुखकारिके' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः। 'सुखे' इति कपाठः ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परस्परं प्रसन्नतया स्वयंवरं विवाहं विधाय, धर्मेण सन्तानानुत्पाद्यैतान् विदुषः कृत्वा गृहाश्रमैश्वर्य्यमुन्नेयम् ।।३५।।

अब सब मनुष्यों को स्वयंवर विवाह करना चाहिए, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जो (आपः) पवित्र जलों के तुल्य सम्पूर्ण शुभगुण और विद्याओं में व्याप्त बुद्धि [वाली] (देवीः) सुन्दर रूप और स्वभाव वाली कन्या [(स्योने) सुखकारक] (सुरभौ) ऐश्वर्य्य के प्रकाश से युक्त (लोके) देखने योग्य लोकों में अपने पतियों को प्रसन्न करें उन को (प्रतिगृभ्णीत) स्वीकार करो, तथा उन को सुख युक्त (कृणुध्वम्) करो, जो (एतत्) यह (भस्म) प्रकाशक तेज है (तस्मै) उस के लिये जो (सुपत्नीः) सुन्दर (जनयः) विद्या और अच्छी शिक्षा से प्रसिद्ध हुई स्त्री नमती हैं, उन के प्रति आप लोग भी (नमन्ताम्) नम्र हूजिये, (उ) और तुम स्त्री पुरुष दोनों मिल के (पुत्रम्) पुत्र को (मातेव) माता के तुल्य (अप्सु) प्राणों में (एनत्) इस पुत्र को (बिभृत) धारण करो ।।३५।।

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि परस्पर प्रसन्नता के साथ स्वयंवर विवाह, धर्म के अनुसार पुत्रों को उत्पन्न और उन को विद्वान् करके गृहाश्रम के ऐश्वर्य्य की उन्नति करें ।।३५।।

अप्स्वग्न इत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः ।
षड्ज स्वरः ।।

अथ जीवाः कथं कथं पुनर्जन्म प्राप्नुवन्तीत्याह ।।

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे ।
गर्भे सन् जायसे पुनः ।।३६।।

अप्स्वित्यप्ऽसु । अग्ने । सधिः । तव । सः । ओषधीः । अनु । रुध्यसे ।। गर्भे । सन् । जायसे । पुनरिति पुनः ।।३६।।

पदार्थः—(अप्सु) जलेषु (अग्ने) अग्निवद्वर्त्तमान विद्वन् (सधिः) सोढा* । अत्र वर्णव्यत्ययेन हस्य धः, [1]इश्च प्रत्ययः (तव) (सः) सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् [अ०

१. बाहुलकात् 'सह'धातो'इः' प्रत्यय इति भावः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सधिः) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इति 'इन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।। यद्वा—यदि सधिः सकारान्तः, सहो धश्च (उ० २।११३) इति 'इसिन्' हकाकारस्य च धकारः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

* 'षोढा' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्चापि ।।

६।१।१३४] इति सन्धिः (ओषधीः) सोमादीन् (अनु) (रुध्यसे) (गर्भे) कुक्षौ (सन्) (जायसे) (पुनः)। [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।४ व्याख्यातः] ॥३६॥

अन्वयः—हे अग्ने अग्निरिव जीव! सधिर्यस्त्वमप्सु गर्भे ओषधीरनुरुध्यसे, स त्वं गर्भे स्थितः सन् पुनर्जायसे। †इमावेव क्रमानुक्रमौ तव स्त इति जानीहि ॥३६॥

भावार्थः—ये जीवाः शरीरं त्यजन्ति, ते वाय्वादोषध्यादिषु च भ्रान्त्वा, गर्भं प्राप्य यथासमयं सशरीरा भूत्वा पुनर्जायन्ते ॥३६॥

अब जीव किस किस प्रकार पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य विद्वन् जीव! जो तू (सधिः) सहनशील (अप्सु) जलों में (ओषधीः) सोमलता आदि ओषधियों को (अनुरुध्यसे) प्राप्त होता है, (सः) [सो तुम (गर्भे)] गर्भ में (सन्) स्थित होकर (पुनः) §फिर फिर [(जायसे) उत्पन्न होते हो, यही] जन्म [और] मरण (तव) तेरे [क्रम] हैं, ऐसा जान ॥३६॥

भावार्थः—जो जीव शरीर को छोड़ते हैं, वे वायु और ओषधि आदि पदार्थों में भ्रमण करते करते गर्भाशय को प्राप्त होके, नियत समय पर शरीर धारण कर के प्रक होते हैं ॥३६॥

❦

गर्भो असीत्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः।
ऋषभः स्वरः॥

पुनर्जीवस्य क्व क्व गतिर्भवतीत्याह॥

गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसि ॥३७॥

गर्भः। असि। ओषधीनाम्। गर्भः। वनस्पतीनाम्॥ गर्भः। विश्वस्य। भूतस्य। अग्ने। गर्भः। अपाम्। असि ॥३७॥

(ओषधीः) पूर्वं (य० १।२१) व्याख्यातः॥

(अनु रुध्यसे) 'अनो रुध कामे' (दिवा० आ०) कामनया प्राप्नोषीति भावः। उपसर्गाद्युदात्तत्वं ततो निघातः॥

(गर्भे) पूर्वं (य० २।३३) व्याख्यातः॥

(सन्) अस् धातोः 'शतृ' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणोदात्तः॥

(पुनः) स्वरादिगणे 'पुनराद्युदात्तः' इति पाठादाद्युदात्तत्वम् ॥३६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'इमावेकक्रमानुक्रमौ' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः। स च ककोशे सम्यगुपलभ्यते इति संशोधितः॥

§ 'फिर फिर जिस से जन्म लेता है, ये ही दोनों प्रकार आने जाने अर्थात् जन्म मरण' इति कपाठः॥

पदार्थः—(गर्भः) योऽनर्थान् गिरति विनाशयति सः । गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति [वा] यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति । निरु० १०।२३ ।। (असि) (ओषधीनाम्) सोमयवादीनाम् (गर्भः) (वनस्पतीनाम्) अश्वत्थादीनाम् (गर्भः) (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) उत्पन्नस्य (अग्ने) देहान्तरप्रापक जीव (गर्भः) (अपाम्) प्राणानां जलानां वा (असि) । [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।४ व्याख्यातः] ।।३७।।

अन्वयः—हे अग्ने ! अग्नितुल्यजीव [1]यतस्त्वमग्निरिवौषधीनां गर्भो वनस्पतीनां गर्भः, विश्वस्य भूतस्य गर्भोऽपां गर्भश्चासि, तस्मात्त्वमजोऽसि ।।३७।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! ये विद्युद्वत् सर्वान्तर्गता जीवा [अजाः सन्तो] जन्मवन्तः सन्ति, तान् जानन्त्विति ।।३७।।

फिर जीव कहां जाता है, यह विषय अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) दूसरे शरीर को प्राप्त होने वाले जीव ! जिस से तू अग्नि के समान (ओषधीनाम्) सोमलता आदि वा यवादि ओषधियों* के मध्य (गर्भः) दोषों का नाशक, (वनस्पतीनाम्) पीपल आदि वनस्पतियों के बीच (गर्भः) शोधक, (विश्वस्य) †सब (भूतस्य) उत्पन्न हुए संसार के मध्य (गर्भः) [2]ग्रहण करने हारा और जो (अपाम्) प्राण वा जलों का (गर्भः) गर्भ रूप भीतर रहने हारा (असि) है, इसलिये तू अज अर्थात् स्वयं जन्मरहित (असि) है ।।३७।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये कि जो बिजुली के समान सब के अन्तर्गत [अजन्मा] जीव जन्म लेने [=शरीर धारण करने] वाले हैं, उनको जानो ।।३७।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वनस्पतीनाम्) पूर्वं (य० १०।२३) व्याख्यातः ।।

(विश्वस्य) अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १।१५१) इति 'क्वन्' प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः ।।

(अपाम्) पूर्वं (य० ३।१२) व्याख्यातः ।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. जीवोऽयं गर्भरूपपिण्डात् पृथग् वर्त्तते, न स गर्भरूपः, अपि तु गर्भशोधकः । तत्सन्नियोगेन गर्भगता दोषा निरस्यन्ते, न जीवो जायते, अपि तु स पिण्ड एव जन्म लभत इति भावः ।।

२. अत्र निरुक्तव्युत्पत्त्याधारेण त्रिविधोऽप्यर्थः प्रकाशितो भवति । गर्भोऽनर्थान् गिरति विनाशयति इति सः (ऋ० १।१२।३४ द० भा०) ।।३७।।

---

* 'के (गर्भः) दोषों के मध्य (गर्भः) गर्भ (वनस्पतीनाम्)' इति अ०मुद्रिते व्यस्तः पाठः, संकेताननुसारी चापि ।।

† 'सब पदार्थों के' इति कगपाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

प्रसद्येत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मरणान्ते शरीरस्य का गतिः *भवतीत्याह ॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥३८॥

प्रसद्येति प्रऽसद्य । भस्मना । योनिम् । अपः । च । पृथिवीम् । अग्ने ॥ सꣳसृज्येति सम्ऽसृज्य । मातृभिरिति मातृऽभिः । त्वम् । ज्योतिष्मान् । पुनः । आ । असदः ॥३८॥

पदार्थः—(प्रसद्य) प्रगत्य (भस्मना) दग्धेन (योनिम्) देहधारणकारणम् (अपः) (च) अग्न्यादिकम् (पृथिवीम्) (अग्ने) प्रकाशमान (संसृज्य) [1]संसर्गी भूत्वा (मातृभिः†) जननीभिः (त्वम्) (ज्योतिष्मान्) प्रशस्तप्रकाशयुक्तः (पुनः) पश्चात् (आ) (असदः[2]) प्राप्नोषि । [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।६ व्याख्यातः] ॥३८॥

अन्वयः—हे अग्ने सूर्य्य इव ज्योतिष्मान् ! त्वं भस्मना पृथिवीं चापश्च योनिं प्रसद्य मातृभिः सह संसृज्य पुनरासदः ॥३८॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे जीवाः ! यूयं§ यदा शरीरं त्यजत तदैतद्भस्मीभूतं सत्पृथिव्यादीना

---

१. नात्र समासः, अपि तु 'घिनुण्' प्रत्ययान्तस्य प्रयोगोऽयम् । च्विप्रत्यये तु 'संसर्गीभूय' इति स्यात् ॥

२. लुङ्प्रयोगोऽयम् छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६), सामान्यकालत्वाद् वर्त्तमानेऽपीति ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रसद्य) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे ल्यपः पित्त्वाद् धातुस्वरेणोत्तरपदाद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(भस्मना) पूर्व (य० ६।२१) व्याख्यातः॥

(संसृज्य) पूर्ववदेवोत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(मातृभिः) नप्तृनेष्टृहोतृ० (उ० २।८५), इत्यत्र 'मान पूजायाम्' (भ्वा० प०) इत्यस्य नकारलोपो निपात्यते, अन्तोदात्तत्वं च ॥

(ज्योतिष्मान्) ज्योतिराद्युदात्तः पूर्व (य० २।९) व्याख्यातः । मतुपि, पित्त्वात् स एव स्वरः ॥

(असदः) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥३८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'कार्य्येत्याह' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ॥

† '(मातृभिः) जननीभिः' इति कगपाठः । स च मुद्रणे नष्टः स्यात् ॥

§ 'भवन्तो यदा शरीरं त्यजत' इत्यजमेरमुद्रिते, कगकोशयोश्च पाठः ॥

सह ∫संयुनक्ति यूयमात्मानश्चाम्बाशरीरेषु गर्भाशयं प्रविश्य पुनः सशरीराः सन्तो विद्यमाना ‡भवत ॥३८॥

मरण समय में शरीर की क्या ‡गति होती है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

§पदार्थः—हे (अग्ने) सूर्य्य के समान प्रकाशमान पुरुष (ज्योतिष्मान्) प्रशंसित प्रकाश से युक्त जीव ! [(त्वम्)] तू (भस्मना) शरीरदाह के पीछे (पृथिवीम्) पृथिवी (च) अग्नि आदि और (अपः) जलों के बीच (योनिम्) देह के मूल कारण को (प्रसद्य) प्राप्त हो [कर] और [तू] (मातृभिः) माताओं के उदर में [(संसृज्य)] वास करके (पुनः) फिर (आसदः) शरीर को प्राप्त होता है ॥३८॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

*भावार्थः—हे जीवो ! तुम लोग जब शरीर को छोड़ते हो, तब यह शरीर राख रूप हो कर पृथिवी आदि पांच भूतों के साथ मिल जाता है। तुम अर्थात् आत्मा माता के शरीर में गर्भाशय में पहुंच फिर शरीर धारण किये हुए विद्यमान होते हो ॥३८॥

पुनरासद्येत्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथ [1]मातापित्रपत्यानि परस्परं कथं वर्त्तेरन्नित्याह॥

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याᳬ शिवतमः॥३९॥

पुनः। आसद्येत्याऽसद्य। सदनम्। अपः। च। पृथिवीम्। अग्ने॥ शेषे। मातुः। यथा। उपस्थ इत्युपऽस्थे। [अन्तः।] अस्याम्। शिवतम इति शिवऽतमः॥३९॥

पदार्थः—(पुनः) (आसद्य) आगत्य ([2]सदनम्) गर्भस्थानम् (अपः) (च) भोजनादिकम् (पृथिवीम्) भूमितलम् (अग्ने) इच्छादिगुणप्रकाशित (शेषे) स्वपिषि

---

१. माता च पिता च मातापितरौ, मातापितरौ च अपत्यानि च मातापित्रपत्यानि॥

२. सीदन्ति यस्मिन् इति सदनम्, सामर्थ्यादत्र 'गर्भः' इति गृह्यते॥३९॥

∫ 'संयुनक्तु' इत्यजमेरमुद्रिते, कगकोशयोश्च पाठः॥

‡ 'भवन्त्विति' इत्यजमेरमुद्रिते, कगकोशयोश्च पाठः॥

‡ 'शरीर का क्या होना चाहिये' इत्यजमेरमुद्रिते कोशयोश्च पाठः॥

§ अत्र भाषार्थो व्यस्त आसीत् स चास्माभिः संशोधितः॥

* अत्र संस्कृतपाठवत् भाषाभावार्थोऽपि व्यस्त आसीत् स चास्माभिः शोधितः॥

(मातुः) जनन्याः (यथा) (उपस्थे) उत्सङ्गे (अन्तः) आभ्यन्तरे (अस्याम्) मातरि (शिवतमः) अतिशयेन मङ्गलकारी। [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।६ व्याख्यातः] ॥३९॥

अन्वयः—हे अग्ने! यतस्त्वमपः पृथिवीं च सदनं पुनरासद्यास्यामन्तः शिवतमः सन् यथा बालो मातुरुपस्थे शेषे तस्मादस्यां शिवतमो भव ॥३९॥

[अत्रोपमालङ्कारः ।।]

भावार्थः—पुत्रैर्यथा मातरः स्वापत्यानि सुखयन्ति, तथैवानुकूलया सेवया स्वमातरः सततमानन्दयितव्याः। न कदाचिन्मातापितृभ्यां विरोधः समाचरणीयः, न च मातापितृभ्यामेतेऽधर्मकुशिक्षायुक्ताः कदाचित् कार्य्याः ॥३९॥

अब माता पिता और पुत्र आपस में कैसे वर्त्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) इच्छा आदि गुणों से प्रकाशित जन! जिस कारण तू (*अपः) जलों (च) और (पृथिवीम्) भूमितल के (सदनम्) स्थान को (पुनः) फिर फिर (आसद्य) प्राप्त हो के (अस्याम्) इस माता के (अन्तः) गर्भाशय में (शिवतमः) मङ्गलकारी हो के (यथा) जैसे बालक (मातुः) माता की (उपस्थे) गोद में (शेषे) सोता है, वैसे ही [तू भी रहता है, अतः] माता की सेवा में मङ्गलकारी हो† ॥३९॥

[इस मन्त्र में उपमालङ्कार।]

भावार्थः—पुत्रों को चाहिये कि जैसे माता अपने पुत्रों को सुख देती है, वैसे ही अनुकूल सेवा से अपनी माताओं को निरन्तर आनन्दित करें और माता पिता के साथ विरोध कभी न करें और माता पिता को भी चाहिये कि अपने पुत्रों को अधर्म और कुशिक्षा से युक्त कभी न करें ॥३९॥

पुनरूर्जेत्यस्य वत्सप्री ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्षी गायत्री छन्दः।
षड्जः स्वरः ॥

§पुनः पुत्रैर्जनकजननीभ्यां परस्परं $वर्त्तमानं योग्यं कार्य्यमित्याह ॥

पुन॑रू॒र्जा नि व॑र्त्तस्व॒ पुन॑रग्न ऽइ॒षायु॑षा।
पुन॑र्नः पा॒ह्यꣳह॑सः ॥४०॥

---

* '(अपः)' जलों......स्थान को' इति पाठः ककोशे उपलभ्यते, गकोशेऽजमेरमुद्रिते च प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

† 'हूजिये' इति कगपाठः। स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

§ 'पुनर्जनकजनन्यौ परस्परं......' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। भाषापदार्थे सम्यगुपलभ्यते ॥

$ 'व्यवहारम्' इत्यभिप्रायः ॥

पुनः । ऊर्जा । नि । वर्त्तस्व । पुनः । अग्ने । इषा । आयुषा ।। पुनः । नः । पाहि । अꣳहसः।।४०।।

पदार्थः—(पुनः) (ऊर्जा) पराक्रमेण (नि) (वर्तस्व) (पुनः) (अग्ने) (इषा) अन्नेन (आयुषा) जीवनेन (पुनः) (नः) †अस्मभ्यम् (पाहि) (अंहसः) पापाचरणात् । [अयं मन्त्रः श०६।८।२।६ व्याख्यातः] ।।४०।। [1]

अन्वयः—हे अग्ने मातः पितश्च ! त्वमिषायुषा सह नो वर्धय पुनरंहसः पाहि । हे पुत्र ! [पुनः] §त्वमूर्जा सह [अंहसो] निवर्त्तस्व । पुनर्नोऽस्मानहंसः पाहि ।।४०।।

भावार्थः—यथा विद्वांसो मातापितरः स्वसन्तानान् विद्यया सुशिक्षया दुष्टाचारात् पृथग् रक्षेयुस्तथाऽपत्यान्यप्येतान् पापाचरणात्सततं पृथग् रक्षेयुः । नैवं विना सर्वे धर्मचारिणो भवितुं शक्नुवन्ति ।।४०।।

फिर पुत्रों को माता पिता के विषय में परस्पर योग्य वर्त्तमान [=व्यवहार] करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्विन् माता पिता ! आप (इषा) अन्न और (अयुषा) जीवन के साथ (नः) हम लोगों को बढ़ाइये (पुनः) बारंबार (अंहसः) दुष्ट आचरणों से (पाहि) रक्षा कीजिये । हे पुत्र ! [(पुनः)] (ऊर्जा) पराक्रम के साथ पापों से (निवर्त्तस्व) $अलग होवो और (पुनः) फिर हम लोगों को भी पापों से ∫पृथक् रखो ।। ४० ।।

भावार्थः—जैसे विद्वान् माता पिता अपने सन्तानों को विद्या और अच्छी शिक्षा से दुष्टाचारों से पृथक् रक्खें, वैसे ही सन्तानों को भी चाहिये कि इन माता पिताओं को बुरे व्यवहारों से निरन्तर बचावें । क्योंकि इस प्रकार किये विना सब मनुष्य धर्मात्मा नहीं हो सकते ।। ४० ।।

सह रय्येत्यस्य वत्सप्री ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ।।

[2]विद्वद्भिः कथं वर्तितव्यमित्याह ।।

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ।।४१।।

१. मन्त्रोऽयं पूर्वं (य० १२।६) व्याख्यातः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अंहसः) पूर्वं (य० ४।१०) व्याख्यातः।।४०

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

२. (क) (पूर्वं य० १२।१०) विशेषतोऽध्यापकपरतया मन्त्रोऽयं व्याख्यातः । अत्र सङ्गतौ तु सामान्येन विदुषां कृत्यम् इति मिथो भेदोऽत्रावगन्तव्यः ।।

† 'अस्माकम्' इति गपाठः ।।

$ 'अलग हूजिये' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

§ 'ऊर्जाहिंसा निवर्त्तस्व' इति कपाठः ।।

∫ 'पृथक् रखिये' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

सह । रय्या । नि । वर्त्तस्व । अग्ने । पिन्वस्व । धारया ॥ विश्वप्स्न्येति विश्वऽप्स्न्या । विश्वतः । परि ॥४१॥

पदार्थः—(सह) (रय्या) *श्रीप्रापिकया (नि) (वर्त्तस्व) (अग्ने) विद्वन् (पिन्वस्व) सेवस्व ([2]धारया) सुसंस्कृतया वाचा ([3]विश्वप्स्न्या) विश्वान् सर्वान् भोगान् यया प्साति तया (विश्वतः) सर्वस्य जगतः (परि) मध्ये ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।६ व्याख्यातः] ॥४१॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं विश्वप्स्न्या रय्या धारया सह विश्वतस्परि निवर्त्तस्वास्मान् पिन्वस्व च ॥४१॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्मनुष्यैरस्मिन् जगति सुबुद्धया पुरुषार्थेन †श्रीमन्तो भूत्वाऽन्येऽपि धनवन्तः संपादनीयाः ॥४१॥

विद्वानों को कैसे वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! आप (विश्वप्स्न्या) सब पदार्थों के §भोगने के साधन [(रय्या) धन प्राप्ति तथा] (धारया) अच्छी संस्कृत वाणी के (सह) साथ (विश्वतस्परि) सब संसार के बीच (नि) निरन्तर (वर्त्तस्व) वर्त्तमान हूजिये [=व्यवहार कीजिये] और हम लोगों का (पिन्वस्व) सेवन कीजिये ॥ ४१ ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि इस जगत् में अच्छी बुद्धि और पुरुषार्थ के साथ श्रीमान् होकर अन्य मनुष्यों को भी धनवान् करें ॥ ४१ ॥

बोधा म इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्याः परस्परमध्ययनाध्यापनं कथं कुर्युरित्याह ॥

बोधा मेऽअस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने ॥४२॥

(ख) भावार्थेऽपि भेदोऽस्ति ॥

(ग) तत्र 'निवर्त्तस्व पृथग् भव' इति । अत्र पुनः 'नैरन्तर्येण वर्त्तमानो भव' इति ॥

२. धारा इति वाङ्नाम । (निघ० १।११) ॥

३. पूर्व० (य० १२।१०) पदमिदं कर्मणि करणे वा, अत्र पुनः कर्त्तरि व्युत्पाद्यते । शेषं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

* 'प्राश्रीपिकया' इति पाठोऽजमेरमुद्रिते प्रथमसंस्करणे, कगकोशयोः शुद्धोऽपि सन् कथञ्चिद् भ्रष्टः । उत्तरसंस्करणेषु तथैव भ्रष्टपाठो मुद्रितः ॥

† साम्प्रतिकानां मते 'श्रीमद्भिः' इति स्यात् ॥ § 'भोगने का साधन' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

बोध॑ । मे । अस्य । वच॑सः । यविष्ठ । मंहि॑ष्ठस्य । प्रभृ॑तस्येति प्रऽभृ॑तस्य । स्वधाव इति स्वधाऽवः ॥ पीय॑ति । त्वः । अनु॑ । त्वः । गृणाति । वन्दारुः । ते । तन्व॑म् । वन्दे । अग्ने ॥४२॥

पदार्थः—(**बोध**) अवगच्छ । अत्र द्वचचोऽतस्तिङः [अ० ६।१।१३५] इति दीर्घः (**मे**) मम (**अस्य**) वर्त्तमानस्य (**वचसः**) (**यविष्ठ**) अतिशयेन युवन् (**मंहिष्ठस्य**) अतिशयेन [1]भाषितुं योग्यस्य महतः (**प्रभृतस्य**) प्रकर्षेण धारकस्य पोषकस्य वा ([2]**स्वधावः**) प्रशस्ता स्वधा बह्वन्यन्नानि विद्यन्ते यस्य सः ([3]**पीयति**) निन्देत । अत्रानेकार्था अपि धातवो भवन्तीति निन्दार्थः (**त्वः**) कश्चित [4]निन्दकः (**अनु**) पश्चात् (**त्वः**) कश्चित् (**गृणाति**) स्तुयात् (**वन्दारुः**) अभिवादनशीलः (**ते**) तव (**तन्वम्**) शरीरम् (**वन्दे**) स्तुवे (**अग्ने**) श्रोतः ॥ [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।६ व्याख्यातः] ॥४२॥

---

१. **'अहि रहि महि भाषार्थाः'** (चुरा०) । अतिशयेन मंहिता वृद्ध इति य० ३६।५ भाष्ये । अतिशयेन पूजनीय इति ऋ० ६।६८।२ भाष्ये ॥

यद्यत्रैकं वाक्यं तदा **'महि वृद्धौ'** (भ्वा० आ०) इत्यस्मात् तृचि, इष्ठनि च रूपम् । अस्मिन् पक्षे भाष्यपदार्थोऽर्थप्रदर्शन परो ज्ञेयः । यदि तु अतिशयेन इति पदं 'भाषितुं योग्यस्य' इत्यनेनांशेन, 'महतः' इत्यनेन चोभाभ्यां पृथक् पृथक् सम्बद्धचते, तदा द्वावर्थौ । तत्र प्रथमार्थे चौरादिकस्य भाषार्थकस्य 'महि' धातो रूपम्, द्वितीयार्थे तु पूर्ववदेवेति बोध्यम् ॥

२. **मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि** (अ० ८।३।१) इति सम्बुद्धौ रुः ॥

३. (क) 'पीयति' इत्यस्य ऋग्वेदभाष्ये (ऋ० १।१४७।२) 'पिबति' इत्यर्थ आचार्यदयानन्देन प्रदर्शितः । **'पीयूष'** इत्यादौ **पिबत्यर्थो निर्विवादः** । **निरुक्ते**(४।२५) तु **'पीयतिर्हिंसाकर्मा'** इत्युक्तम् । इह चाचार्येण धातूनामनेकार्थत्वमाश्रित्य निन्दार्थो व्याख्यातः । मन्त्रे स्तुत्यर्थस्य गृणातेः प्रतियोगितयाऽस्य धातोः प्रयोगाद् निन्दार्थः स्पष्ट एवेति बोध्यम् ॥

(ख) **सौत्रोऽयं** धातुरिति **वृत्तिकाराः** (उ० ४।७६) । **'अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः'** (**निरु०** २।२) इति वचनाद् वा लोके पीयूषशब्दप्रयोगः ॥

४. अत्र 'निन्दकः' इत्यध्याहारः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**बोध**) **'बुध अवगमने'** (भ्वा० प०) अस्माल्लोटि मध्यमैकवचने शपि **सेर्ह्यपिच्च** (अ० ३।४।८७) इति 'हि' आदेशे **अतो हेः** (अ० ६।४।१०५) इति हेर्लुक् । शपः पित्वान्निघाते धातुस्वरः ॥

(**मंहिष्ठस्य**) अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः । भाष्ये तु अतिशयेन भाषितुं योग्यस्य महतः' इति वचनमर्थनिदर्शनपरम् । **'महि वृद्धौ'** (भ्वा० आ०) इत्यस्मात् तृजन्तात् **तुरिष्ठेमेस्सु** (अ० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः । **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अ० ६।१।१९४) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(**प्रभृतस्य**) प्रपूर्वकाद् **'भृञ् भरणे'** (भ्वा० उ०) इत्यस्मात् कर्त्तरि क्तः । ततो गतिसमासे **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । यदा तु कर्मणि क्तः, यथा—प्रकर्षेण हवनादिना पोषितः (य० ३३।७८) इति, प्रकृष्टतया धृतम् (ऋ० १।१६२।८)इति च, तदा **गतिरनन्तर** (अ०६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरो द्रष्टव्यः ॥

यद्वा—नात्र गतिसमासः, अपि तु प्रादिसमासः । तथा सति **तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

अन्वयः—हे यविष्ठ स्वधावोऽग्ने ! त्वं मे मम प्रभृतस्य मंहिष्ठस्यास्य वचसोऽभिप्रायं बोध। यदि त्वो यं त्वां पीयति निन्देत् त्वोऽनुगृणाति तस्य ते तव तन्वं वन्दारुरहं वन्दे ॥४२॥[५]

भावार्थः—यदा कश्चित्कंचिदध्यापयेदुपदिशेद् वा तदाऽध्येता श्रोता च ध्यानं दत्त्वाऽधीयीत शृणुयाच्च। यदा सत्यासत्ययोर्निर्णयः स्यात् तदा सत्यं गृह्णीयादसत्यं त्यजेद्, एवं कृते सति *कश्चिन्निन्देत् कश्चित्स्तुयात् तर्ह्यपि कदाचित् सत्यं न त्यजेदनृतं च न भजेदिदमेव मनुष्यस्यासाधारणो गुणः[६] ॥४२॥

मनुष्य लोग आपस में कैसे पढ़ें और पढ़ावें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ) अत्यन्त जवान (स्वधावः) प्रशंसित बहुत अन्नों वाले (अग्ने) उपदेश के योग्य श्रोता जन ! तू (मे) मेरे (प्रभृतस्य) अच्छी प्रकार धारण वा पोषण करने वाले (मंहिष्ठस्य) अत्यन्त कहने †योग्य (अस्य) इस (वचसः) वचन के अभिप्राय को (बोध) जान। जो (त्वः) यह निन्दक पुरुष (पीयति) निन्दा करे, (त्वः) कोई (अनु) परोक्ष में (गृणाति) स्तुति करे, उस (ते) आप के (तन्वम्) शरीर की (वन्दारुः) अभिवादनशील मैं [(वन्दे)] स्तुति करता हूं ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जब कोई किसी को पढ़ावे वा उपदेश करे, तब पढ़ने वा सुनने वाला ध्यान देकर पढ़े वा सुने। जब सत्य वा मिथ्या का निश्चय हो जावे, तब सत्य ग्रहण और असत्य का त्याग कर देवे। ऐसे करने में कोई निन्दा और स्तुति करे, तो [सत्य को] कभी न छोड़े और मिथ्या का ग्रहण कभी न करे। यही §मनुष्य का विशेष गुण है ॥ ४२ ॥

(स्वधावः) स्वधाशब्दान्मतुप्। ततः सम्बुद्धौ मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि (अ० ८।३।१) इति नकारस्य रुः। आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इत्याष्टमिकेन निघातः ॥

(त्वः) त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि (फि० ७८) इत्यनुदात्तः ॥

(पीयति) पीयतिश्छान्दसो धातुः, सौत्रः (उ० ४।७६) इत्यन्ये, लेटि प्रथमैकवचने रूपम्। शप्तिपोः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः। पादादित्वान्निघाताभावः ॥

(वन्दारुः) शॄवन्द्योरारुः (अ० ३।२।१७३) इति 'आरुः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्त. ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

५. ऋ०१।१४७।२ भाष्येऽन्वयभेदार्थभेदौ द्रष्टव्यौ ॥

६. तदुक्तं भर्तृहरिणा—
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥४२॥

---

* 'निन्द्यात्' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

† (क) 'योग्य बड़े तेरी जो' इति पाठोऽजमेरमुद्रित आसीत्। 'बड़े तेरी' इति ककोशे नास्ति ॥

(ख) '(अस्य) इस (वचसः) वचन के अभिप्राय को (बोध) जान' इति पाठोऽजमेरमुद्रिते नास्ति। ककोश उपलभ्यमानोऽपि प्रमादेन गकोशे त्यक्तोऽजमेरमुद्रिते चापि इति ध्येयम् ॥

§ 'यही मनुष्यों के लिये विशेष गुण है' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

स बोधीत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्याः किं कृत्वा किं [1]प्राप्नुयुरित्याह ॥

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन् ।
युयोध्यस्मद् द्वेषांसि विश्वकर्मणे स्वाहा ॥४३॥

सः । बोधि । सूरिः । मघवेति मघऽवा । वसुपत इति वसुऽपते । वसुदावन्निति वसुऽदावन् ॥ युयोधि । अस्मत् । द्वेषांसि । विश्वकर्मण इति विश्वऽकर्मणे । स्वाहा ॥४३॥

पदार्थः—(सः) [2]श्रोता वक्ता च ([3]बोधि) बुध्येत (सूरिः) मेधावी (मघवा) पूजितविद्यायुक्तः[4] (वसुपते) वसूनां धनानां पालक (वसुदावन्) वसूनि धनानि सुपात्रेभ्यो ददाति तत्संबुद्धौ (युयोधि) वियोजय (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (द्वेषांसि) द्वेषयुक्तानि कर्माणि (विश्वकर्मणे) अखिलशुभकर्मानुष्ठानाय (स्वाहा) सत्यां वाणीम् । [अयं मन्त्रः श० ६।८।२।६ व्याख्यातः] ॥४३॥

अन्वयः—हे वसुपते वसुदावन् ! यो मघवा सूरिर्भवान्सत्यं बोधि, स विश्वकर्मणे स्वाहा* सत्यवाणीमुपदिशन्संस्त्वमस्मद् द्वेषांसि युयोधि§ सततं दूरीकुरु ॥४३॥[5]

---

१. सत्यासत्यं ज्ञानं प्राप्नुयुरिति तात्पर्यम् ॥

२. सर्वनाम्नः पूर्वपरामर्शकत्वादयमर्थोऽत्र बोद्धव्यः ॥

३. **दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्** (अ० ३।१।६१) इति कर्त्तरि लुङि रूपम् । अडभावश्छान्दसः ॥

४. **मघमिति धननाम** । (निघ० २।१०) ॥ प्रशंसार्थे 'मतुप्' । विद्या ह्युत्कृष्टतम धनम्, **'विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्'** इत्युक्तेः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सूरिः) पूर्व (य० ६।५) व्याख्यातः ॥

(वसुपते) पादादित्वादाष्टमिकामन्त्रितानुदात्तस्वराप्रवृत्तौ षाष्ठिकेन **आमन्त्रितस्य च** (अ० ६।१।१९५) इति सूत्रेणाद्युदात्तः ॥

(वसुदावन्) वसावुपपदे **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (अ० ३।२।७४) इति 'वनिप्' **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । इह तु आमन्त्रितत्वात् पूर्वस्यामन्त्रितस्य चाविद्यमानत्वात् (द्र० अ० ८।१।७२) षाष्ठिकाद्युदात्तत्वम् ॥

(युयोधि) पूर्वं (य० ५।३६) व्याख्यातः ॥

(विश्वकर्मणे) बहुव्रीहौ समासे पूर्वं (य० १।४; ८।४५) व्याख्यातः । इह तु तत्पुरुषः समासः । तत्र समासस्यान्तोदात्तत्वे प्राप्ते **पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।१।१०६ वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् । न च स्वरानुरोधाद् बहुव्रीहावेव निर्वचनीयमिति नियमः । अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्यात् (वे० मा० ऋग्वेदानुक्रमणी पृ० १०) इति नियमस्य पूर्वाचार्यैः स्वीकृतत्वात् ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

५. स्वल्पपाठभेदेन मन्त्रोऽयं ऋग्वेदे (२।४।६) अर्थभेदेन व्याख्यातः ॥४३॥

---

* 'स्वाहामुपदिशन्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । 'स्वाहा सत्यवाणीमुपदिशन्' इति कखकोशयोः पाठः ॥

§ 'वियुयोधि' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः भाषापदार्थे चापि ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः ब्रह्मचर्य्येण जितेन्द्रिया भूत्वा द्वेषं विहाय धर्मेणोपदिश्य श्रुत्वा च प्रयतन्ते, त एव धार्मिका विद्वांसोऽखिलं सत्यासत्यं ज्ञातुमुपदेष्टुं चार्हन्ति, नेतरे हठाभिमानयुक्ताः क्षुद्राशयाः ।।४३।।

मनुष्य लोग क्या करके किस को प्राप्त हों, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (वसुपते) धनों के पालक, (वसुदावन्) *सुपात्रों के लिये धन देने वाले ! जो (मघवा) प्रशंसित विद्या से युक्त (सूरिः) बुद्धिमान् आप सत्य को (बोधि) जानें, (सः) सो आप (विश्वकर्मणे) सम्पूर्ण शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिये (स्वाहा) सत्य वाणी का उपदेश †करते हुए (अस्मत्) हम से (द्वेषांसि) द्वेषयुक्त कर्मों को (युयोधि) पृथक् कीजिये ।। ४३ ।।

भावार्थः—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य्य के साथ [=द्वारा] जितेन्द्रिय हो, द्वेष को छोड़ धर्मानुसार उपदेश कर और सुनके प्रयत्न करते हैं, वे ही धर्मात्मा विद्वान् लोग सम्पूर्ण सत्य और असत्य के जानने और उपदेश करने के योग्य होते हैं, और अन्य हठ अभिमानयुक्त क्षुद्र पुरुष नहीं ।। ४३ ।।

पुनस्त्वेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

कीदृशा मनुष्याः सत्यसंकल्पा भवन्तीत्युपदिश्यते ।।

पुन॑स्त्वादि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ समि॑न्धतां॒ पुन॑र्ब्र॒ह्माणो॑ वसुनीथ य॒ज्ञैः ।
घृ॒तेन॒ त्वं त॒न्वं॑ वर्धयस्व स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑ ।।४४।।

पुन॒रिति॒ पुनः॑ । त्वा॒ । आ॒दि॒त्याः । रु॒द्राः । वस॑वः । सम् । इ॒न्ध॒ता॒म् । पुनः॑ । ब्र॒ह्माणः॑ । व॒सु॒नी॒थेति॑ वसुऽनीथ । य॒ज्ञैः ॥ घृ॒तेन॑ । त्वम् । त॒न्व॒म् । व॒र्ध॒य॒स्व॒ । स॒त्याः । स॒न्तु॒ । यज॑मानस्य । कामाः॑ ।।४४।।

पदार्थः—(पुनः) अध्ययनाध्यापनाभ्यां पश्चात् (त्वा) त्वाम् (आदित्याः) पूर्णविद्याबलयुक्ताः (रुद्राः) मध्यस्थाः (वसवः) प्रथमे च विद्वांसः (सम्) (इन्धताम्) प्रकाशयन्तु (पुनः) (ब्रह्माणः) चतुर्वेदाध्ययनेन [1]ब्रह्मा इति संज्ञां प्राप्ताः (वसुनीथ) वेदादिशास्त्रबोधाख्यं सुवर्णादिधनं च यो नयति तत्सम्बुद्धौ (यज्ञैः) अध्ययनाध्यापनादिक्रियामयैः (घृतेन) सुसंस्कृतेनाज्यादिना जलेन वा (त्वम्) अध्यापकः श्रोता वा (तन्वम्)

---

1. अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्यया ।। ऐ० ५।३ ।। एष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविद् ।। गो० पू० २।१८ ।।

---

* 'सुपुत्रों' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ।।

† 'करते हुए आप' इति अ०मुद्रिते पाठः । तत्र 'आप' इत्यनर्थकः, वाक्यारम्भे प्रयुक्तत्वात् ।।

शरीरम् (वर्धयस्व) (सत्याः) सत्सु धर्मेषु साधवः (सन्तु) भवन्तु ([1]यजमानस्य) यष्टुं संगन्तुं विदुषः *पूजितुं च शीलं यस्य तस्य (कामाः) अभिलाषाः। [अयं मन्त्रः श० ६।६।४।१२ व्याख्यातः][2] ॥४४॥

अन्वयः—हे वसुनीथ ! त्वं यज्ञैर्घृतेन च तन्वं शरीरं नित्यं वर्धयस्व। पुनः[3] [त्वा] त्वामादित्या रुद्रा वसवो ब्रह्माणः समिन्धताम्। एवमनुष्ठानाद् यजमानस्य कामाः सत्याः सन्तु ॥४४॥

भावार्थः—ये प्रयत्नेन सर्वा विद्या अधीत्याध्याप्य च पुनः पुनः सत्सङ्गं कुर्वन्ति, कुपथ्यविषयत्यागेन शरीरात्मनोरारोग्यं वर्धयित्वा नित्यं पुरुषार्थमनुतिष्ठन्ति, तेषामेव संकल्पाः सत्या भवन्ति, नेतरेषाम् ॥४४॥

[4]कैसे मनुष्यों के सङ्कल्प सिद्ध होते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (वसुनीथ) वदादि शास्त्रों के बोधरूप और सुवर्णादि धन प्राप्त कराने वाले [(त्वम्)] आप पुनः पुनः (यज्ञैः) पढ़ने पढ़ाने आदि क्रियारूप यज्ञों और (घृतेन) अच्छे संस्कार किये हुए घी आदि वा जल से (तन्वम्) शरीर को नित्य (वर्धयस्व) बढ़ाइये। (पुनः) पढ़ने पढ़ाने के पीछे (त्वा) आप को (आदित्याः) पूर्ण विद्या और बल से युक्त (रुद्राः) मध्यस्थ विद्वान् और (वसवः) प्रथम विद्वान् लोग (ब्रह्माणः) चार वेदों को पढ़ के ब्रह्मा की पदवी को प्राप्त हुए विद्वान् (समिन्धताम्) सम्यक् प्रकाशित करें। इस प्रकार के अनुष्ठान से (यजमानस्य) यज्ञ सत्संग और विद्वानों का सत्कार करने वाले पुरुष की (कामाः) कामना (सत्याः) सत्य (सन्तु) होवें ॥ ४४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य प्रयत्न के साथ [=से] सब विद्याओं को पढ़ और पढ़ा के बारंबार सत्संग करते हैं; कुपथ्य और विषय के त्याग से शरीर तथा आत्मा †के आरोग्य को बढ़ा के नित्य पुरुषार्थ का अनुष्ठान करते हैं, उन्हीं के संकल्प सत्य होते हैं, दूसरों के नहीं ॥ ४४ ॥

---

१. पूङ्यजोः शानन् (अ० ३।२।१२८) इति 'शानन्' ॥

२. मन्त्रोऽयं शतपथब्राह्मणे पूर्वं (य० ६।६।४।१२) व्याख्यातः। यथाक्रममेव संहितामन्त्राणां व्याख्यानं स्यादिति नेष्टं शतपथकारस्येति स्पष्टम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वसुनीथ) वसूपपदाद् नयतेः हनिकुषिनी-रमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २।२) इति 'क्थन्'। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३६) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। इह तु आष्टमिकेन आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इति निघातः ॥

(सत्याः) पूर्वं (य० १।५) व्याख्यातः ॥

(कामाः) पूर्वं (य० ७।४८) व्याख्यातः॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. मन्त्रे द्वितीयस्य 'पुनः' इति पदस्य सम्बन्धोऽन्वयेऽन्वेषणीयो भाषापदार्थेऽपि ॥

४. 'कैसे मनुष्य सत्य सङ्कल्प वाले होते हैं' इति सङ्गतेः शाब्दिकोऽनुवादः ॥४४॥

---

* साम्प्रतिकानां मते तु 'पूजयितुं' इति स्यात् ॥ † 'के रोग को हटा के' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

अपेतेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । पितरो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

अथ जन्यजनकाः किं किं कर्माचरेयुरित्याह ॥

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः ।
अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्याऽ अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै ॥४५॥

अप । इत । वि । इत । वि । च । सर्पत । अतः । ये । अत्र । स्थ । पुराणाः । ये । च । नूतनाः ॥ अदात् । यमः । अवसानमित्यवऽसानम् । पृथिव्याः । अक्रन् । इमम् । पितरः । लोकम् । अस्मै ॥४५॥

पदार्थः—(अप) (इत) [1]त्यजत (वि) (इत) विविधतया प्राप्नुत (वि) (च) (सर्पत) गच्छत (अतः) कारणात् (ये) (अत्र) अस्मिन्समये (स्थ) भवथ (पुराणाः) प्रागधीतविद्याः (ये) (च) (नूतनाः) संप्रतिगृहीतविद्याः (अदात्) दद्यात् (यमः) [2]उपरतः परीक्षकः ([3]अवसानम्) अवकाशमधिकारं वा (पृथिव्याः) [4]भूमेर्मध्ये वर्त्तमानाः (अक्रन्) कुर्वन्तु (इमम्) प्रत्यक्षम् (पितरः) जनका अध्यापका उपदेशकाः परीक्षका वा (लोकम्) [5]आर्षं दर्शनम् (अस्मै) सत्यसंकल्पाय । [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।१ व्याख्यातः] ॥४५॥

अन्वयः—हे विद्वांसः ! येऽत्र पृथिव्या मध्ये पुराणा ये च नूतनाः पितरः स्थ, तेऽस्मै इमं लोकमक्रन् । यान् युष्मान् यमोऽवसानमदात् ते यूयमतोऽधर्मादपेत धर्म्मं वीतात्रैव च विसर्पत ॥४५॥

---

१. 'अप' इत्युपसर्गयोगेनायमर्थः ॥
२. 'प्राप्त' इति भाषापदार्थे ॥
३. धातुनामनेकार्थत्वादत्रावस्यतिरधिकारार्थे द्रष्टव्यः ॥
४. 'मध्ये वर्त्तमानाः' इत्यध्याहारः ॥
५. 'आर्षम्' इत्यध्याहारो विशेषणं वा ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुराणाः) पुराशब्दात् **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च** (अ० ४।३।२३) इति 'ट्यु' प्रत्ययः, योरनादेशः । तुडागमस्तु **पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु** (अ०४।३।१०५) इति निपातनाद् न भवति । एवं प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादेवान्तोदात्तत्वमपि द्रष्टव्यम् । यद्वा—उञ्छादित्वादन्तोदात्तत्वम् ।

सायणस्तु छान्दसमन्तोदात्तत्वमाह (ऋग्भाष्ये १।९२।१०) । तन्न, पुराणशब्दस्य लोकेऽपि प्रयोगदर्शनात् । लोके स्वरप्रयोगस्याप्रसिद्धत्वादिति चेन्न, ब्राह्मणेषु भाषास्वरस्य नियमात् (प्रतिज्ञापरिशिष्ट पृ० ४३२, ४३३), तत्र चान्तोदात्तत्वस्यैव दर्शनात् । वस्तुतस्तु यत् पदं केवलं छन्दस्येव दृश्यते, तत्रैव छान्दसकार्यं स्वीक्रियते न सर्वत्र ॥

(नूतनाः) नवस्य **नूआदेशस्त्नप्तनप्खाश्च** (अ० ५।४।३० वा०) इति नवस्य 'नू' आदेशः 'तनप्' प्रत्ययश्च । पित्त्वात् तस्यानुदात्तत्वे प्रातिपदिकस्वरेणाद्युदात्तः । यद्वा—नवार्थकान्नूशब्दात् **सायंचिरंप्राह्णे०** (अ० ४।३।२३) इत्यादिना ट्युल्प्रत्ययस्तुडागमश्च । **लिति** (अ० ६।१।१९०) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

भावार्थः—अयमेव §मातापित्राचार्याणां परमो धर्मोऽस्ति, यत् सन्तानेभ्यो विद्या-सुशिक्षाप्राप्तिकारणम् । येऽधर्मान्मुक्ता धर्मेण युक्ताः परोपकारप्रिया वृद्धा युवानश्च विद्वांसः सन्ति, ते सततं सत्योपदेशेनाविद्यां निवर्त्य विद्यां जनयित्वा कृतकृत्या भवन्तु ।।४५।।

सन्तान और पिता माता परस्पर किन किन कर्मों का आचरण करें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो ! (ये) जो (अत्र) इस समय (पृथिव्याः) भूमि के बीच वर्त्तमान (पुराणाः) प्रथम विद्या पढ़ चुके (च) और (ये) जो (नूतनाः) वर्त्तमान समय में विद्याभ्यास करने हारे (पितरः) पिता, *पढाने, उपदेश करने वा परीक्षा करने वाले (स्थ) होवें, वे (अस्मै) इस सत्यसंकल्पी मनुष्य के लिये (इमम्) इस (लोकम्) [1]वैदिक ज्ञान सिद्ध लोक को (अक्रन्) सिद्ध करें । जिन तुम लोगों को (यमः) [2]प्राप्त हुआ परीक्षक पुरुष (अवसानम्) अवकाश वा अधिकार को (अदात्) देवे, वे तुम लोग (अत इस [कारण] अधर्म से (अपेत) पृथक् रहो और धर्म्म को (वीत) विशेष कर प्राप्त होओ, (च) और इसी में (विसर्पत) विशेषता से गमन करो ।।४५।।

भावार्थः—माता पिता और आचार्य का यही परम धर्म है—जो सन्तानों के लिये विद्या और अच्छी शिक्षा का प्राप्त कराना । जो अधर्म से पृथक् और धर्म्म से युक्त, परोपकार में प्रीति रखने वाले, वृद्ध और जवान विद्वान् लोग हैं, वे निरन्तर सत्य उपदेश से अविद्या का निवारण और विद्या की प्रवृत्ति कर के कृतकृत्य होवें ।।४५।।

संज्ञानमित्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ।।

अध्येत्रध्यापकाः किं कृत्वा सुखिनः स्युरित्याह ।।

संज्ञानमसि कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयात् ।
अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चित स्थ परिचितऽ ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ।।४६।।

संज्ञानमिति सम्ऽज्ञानम् । असि । कामधरणमिति कामऽधरणम् । मयि । ते । कामधरणमिति कामऽधरणम् । भूयात् ।। अग्नेः । भस्म । असि । अग्नेः । पुरीषम् । असि । चितः । स्थ । परिचित इति परिऽचितः । ऊर्ध्वचित इत्यूर्ध्वऽचितः । श्रयध्वम् ।।४६।।

---

१. 'आर्षं ज्ञानम्' इति संस्कृतपदार्थे ।।   २. 'उपरतः' इति संस्कृतेऽर्थः ।।४५।।

---

§ 'मातृपित्राचार्याणां' इति साम्प्रतिकानां मते, ऋकारान्तानां द्वन्द्व आनङ्विधानात् ।।

* 'पढ़ने' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः । 'पढ़ाने' इति कगकोशयोः पाठः ।।

पदार्थः—(संज्ञानम्) सम्यग्विज्ञानम् (असि) (कामधरणम्) संकल्पानामाधरणम (मयि) (ते) तव (कामधरणम्) (भूयात्) (अग्नेः) पावकस्य (भस्म) [1]दग्धदोषः (असि) (अग्नेः) विद्युतः (पुरीषम्) पूर्णं बलम् (असि) (चितः) संचिताः (स्थ) भवत (परिचितः) परितः सर्वतः संचेतारः (ऊर्ध्वचितः) ऊर्ध्वं संचिन्वन्तः (श्रयध्वम्) सेवध्वम्। [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।८-१४ व्याख्यातः] ॥४६॥

अन्वयः—हे विद्वन्! त्वं यत् संज्ञानं प्राप्तोऽसि, यत् त्वमग्नेर्भस्मास्यग्नेर्यत्पुरीषमाप्तोसि, तन्मां प्रापय। यस्य ते तव यत् कामधरणमस्ति तत्कामधरणं मयि भूयाद्, [2]यथा यूयं विद्यादिशुभगुणैश्चितः परिचितः ऊर्ध्वचितः स्थ, पुरुषार्थं चाश्रयध्वं, तथा वयमपि भवेम ॥४६॥

भावार्थः—जिज्ञासवः सदा विदुषां सकाशाद् विद्याः [3]प्रार्थ्य पृच्छेयुर्यावद् युष्मासु पदार्थविज्ञानमस्ति तावत् सर्वमस्मासु धत्त। यावतीर्हस्तक्रिया भवन्तो जानन्ति, तावतीरस्मान् [4]शिक्षत। यथा वयं भवदाश्रिता भवेम, तथैव भवन्तोऽप्यस्माकमाश्रयाः* सन्तु ॥४६॥

---

१. भस्धातोः सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४ १४५) इति 'मनिन्' प्रत्ययः। यद्यपि धातुपाठे भस भर्त्सनदीप्त्योः' (जु० प०) इत्यर्थः प्रदर्शितः। परं भसधातोर्भर्त्सन इत्यर्थो नवीनो भक्षण इति प्राचीनोऽर्थः' इति ऋ० १।२८।७ भाष्य आह महर्षिः स्वामिदयानन्दः। तत्र प्रमाणं तु यास्कः। तद्यथा—हरी इवान्धांसि बप्सता। '········हरी इवान्नानि भुञ्जानेन'। निरु० ६।३६॥

ऋ० १।२८।७ मन्त्रस्यैव व्याख्यावसरे सायणाचार्यः—'भस भक्षणदीप्त्योः' इत्याह। एतत् सर्वं द्योतयति—

(क) प्रचलिते धातुपाठे क्वचित् धात्वर्थनिर्देशे व्यत्यासः समजनीति॥

(ख) सायणाचार्येण धातुवृत्तिः पूर्वं निरमायि, ऋग्वेदभाष्यं तु पश्चात्॥

(ग) अनेकार्थत्वं वा धातूनां द्योतितं भवत्यनेनेति॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(संज्ञानम्) सम्पूर्वाज्जानातेर्भावे 'ल्युट्', उत्तरपदप्रकृतिस्वरे लित्स्वरः।

(कामधरणम्) पूर्वं (य० ३।२७) व्याख्यातः॥

(पुरीषम्) शॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४।२७) इति 'ईषन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। कित्त्वाच्च गुणाभावः। उदोष्ठ्यपूर्वस्य (अ० ७।१।१०२) इत्युत्त्वम्।

(चितः) चिनोते क्विपि धातुस्वरः।

(परिचितः, ऊर्ध्वचितः) परिपूर्वात् ऊर्ध्वोपपदाच्च चिनोतेः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्'। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

२. सामान्येनार्थनिर्देश एव, न लुप्तोपमालङ्कारः॥

३. भाषायामस्यार्थः 'इच्छा कर' इति वर्त्तते। 'अर्थ उपयाच्ञायाम्' (चु०) इत्यनेनायमर्थः सम्भवति।

४. अत्र 'यूयम्' इति पदमध्याहार्यम् ॥४६॥

---

* 'अस्माकमाश्रिताः सन्तु' इति कपाठः, गकोशे त्वित्थं संशोधितः॥

पढ़ने पढ़ाने वाले क्या करके सुखी हों, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! आप जिस (संज्ञानम्) पूरे विज्ञान को प्राप्त (असि) हुए हो, जो आप (अग्नेः) अग्नि से हुई (भस्म) राख के समान दोषों* के भस्मकर्त्ता (असि) हो, (अग्नेः) बिजुली के जिस (पुरीषम्) पूर्ण बल को प्राप्त हुए (असि) हो, उस विज्ञान भस्म और बल को मेरे लिये भी दीजिये। जिस (ते) आप का जो (कामधरणम्) सङ्कल्पों का आधार अन्तःकरण है, वह (कामधरणम्) कामना का आधार (मयि) मुझ में (भूयात्) होवे। जैसे तुम लोग विद्या आदि शुभगुणों से (चितः) इकट्ठे हुए, (परिचितः) सब पदार्थों को सब ओर से इकट्ठे करने हारे, (ऊर्ध्वचितः) उत्कृष्ट गुणों के संचयकर्त्ता [(स्थ) हो और] पुरुषार्थ को आप (श्रयध्वम्) सेवन करो, वैसे हम लोग भी करें ॥४६॥

भावार्थः—जिज्ञासु मनुष्यों को चाहिये कि सदैव विद्वानों से विद्या की इच्छा कर प्रश्न किया करें, कि जितना तुम लोगों में पदार्थों का विज्ञान है, उतना सब तुम लोग हम लोगों में धारण करो, और जितनी हस्तक्रिया आप जानते हैं, उतनी सब हम लोगों को †सिखाइये। §जैसे हम आप लोगों के आश्रित हों, वैसे ही आप लोग भी हमारे आश्रय हों ॥४६॥

अयं स इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैरुत्तमाचरणानुकरणं कार्य्यमित्याह ॥

अय॒ꣳ सोऽ अ॒ग्निर्यस्मि॒न्त्सोम॒मिन्द्रः॑ सु॒तं द॒धे ज॒ठरे॑ वावशा॒नः ।
स॒ह॒स्रियं॒ वाज॒मत्यं॒ न सप्ति॑ꣳ सस॒वान्त्सन्त्स्तू॑यसे जातवेदः ॥४७॥

अ॒यम्। सः। अ॒ग्निः। यस्मि॑न्। सोम॑म्। इन्द्रः॑। सु॒तम्। द॒धे। ज॒ठरे॑। वा॒व॒शा॒नः ॥ स॒ह॒स्रिय॑म्। वाज॑म्। अत्य॑म्। न॒। सप्ति॑म्। स॒स॒वानिति॑ सस॒ऽवान्। सन्। स्तू॒य॒से। जा॒त॒वे॒द॒ इति॑ जातऽवेदः ॥४७॥

पदार्थः—(अयम्) (सः) (अग्निः) (यस्मिन्) (सोमम्) सर्वौषध्यादिरसम् (इन्द्रः) सूर्य्यः (सुतम्) निष्पन्नम् (दधे) धरे (जठरे) उदरे। जठरमुदरम् भवति,

* 'दोषों को भस्म करता' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥

† दिखाइये' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। 'सिखाइये' इति गपाठः ॥

§ 'जैसे हम लोग आपके आश्रित हैं, वैसे ही आप लोग भी हमारे आश्रित हों' इति ककोशे पाठः। तथैव च संस्कृतभावार्थान्ते 'तथैव भवन्तोऽप्यस्माकमाश्रिताः सन्तु' इति पाठ आसीत्, स च गकोशे 'आश्रयाः सन्तु' इति संशोधितः। तदनुसारं भाषाभावार्थेऽप्यस्माभिः 'हमारे आश्रय हों' इत्यनुवादः संशोधित इति ध्येयम् ॥

जग्धमस्मिन् ध्रियते धीयते वा ।। निरु० ४।७ । (वावशानः) भृशं कामयमानः (¹सहस्त्रियम्) *सहस्रेष्वनेकेषु भवम् (वाजम्) अन्नादिकम् (अत्यम्) अतितुं व्याप्तुं योग्यम् (न) इव (सप्तिम्) अश्वम् (ससवान्) †ददन् (सन्) (स्तूयसे) प्रशस्यसे (जातवेदः) उत्पन्नविज्ञान । [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।२२ व्याख्यातः] ।।४७।।

---

१. (क) अत्र संहितायां पदपाठे च 'सहस्त्रियम्' इत्येव पाठ उपलभ्यते । व्याख्याकृतोऽपि तथैव व्याचचक्षिरे । यत् पुनरिह भाष्ये '(सहस्त्रियम्) सहप्राप्तां भार्याम्' इति संस्कृतपदार्थे, 'सहस्त्रियम्' इत्यन्वये, '(सहस्त्रियम्) साथ वर्त्तमान अपनी स्त्री को धारण करता हूं' इति भाषापदार्थे च यः पाठ उपलभ्यते स तु सर्वथा व्यस्त एवेति बोध्यम् ॥

(ख) य० १५।५२ भाष्ये—'(सहस्रियः) सहस्रेणासंख्यातेन योद्धृसमूहेन सम्मितस्तुल्यः'। किञ्च ऋग्वेद ७।५६।१४ भाष्ये—'(सहस्रियम्) सहस्रेषु भवम्' इत्युपलभ्यते । तथैवात्रापि भवेत् । कथं व्यस्त इति तु नावबुध्यामहे, कस्यचिद् धौर्त्त्यमेव स्यात्कारणमित्यनुमातुं शक्यते ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(जठरे) पूर्वं (य० ७।३८) व्याख्यातः ।।

(वावशानः) 'वश कान्तौ' (अ० प०), धातोरेकाचो हलादेः० (अ० ३।१।२२) इत्यादिना 'यङ्', न वशः (अ० ६।१।२०) इति सम्प्रसारणाभावः । द्वित्वेऽभ्यासदीर्घत्वे च लटः 'शानच्' । छन्दस्युभयथा (अ० ३।४। ११७) इति शानच आर्द्धधातुकत्वाच्छबभावोऽल्लोपयलोपौ च, चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । यत्तु सायणेन शानच आर्द्धधातुकत्वं स्वीकृत्यापि 'बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इति शपो लुक्' (ऋग्भाष्य १।७३।६) इत्युक्तम्,तदसत् । शानच आर्द्धधातुकत्वे शपः प्राप्तिरेव नास्ति, तन्निवृत्तिप्रयत्नस्य तु का कथा ।। यद्वा—वावश्यतेः छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) इति लिट् । लिटः कानज्वा (अ० ३।२।१०६) इति 'कानच्' । अल्लोपयलोपौ स्वरश्च पूर्ववत् ।।

(वाजम्) पूर्वं (य० २।७) व्याख्यातः ।।

(अत्यम्) 'अत सातत्यगमने' (भ्वा० प०) अस्मात् छान्दसः कर्मणि 'यत्' । यतोऽनावः (अ० ६।१।२१०) इत्याद्युदात्तत्वम् । यदा तु कर्त्तर्ययं श्रूयते (द० भा० बहुत्र) तदा अघ्न्यादयश्च (उ० ४।११२) इति 'यत्' द्रष्टव्यः । स्वरः पूर्ववत् । यद्वा—अत्यते गम्यतेऽत्र इति पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३।३। ११८) इति 'घः', अतः मार्गः । तत्र साधुः (अ० ४।४।९८) इति 'यत्' । स्वरः पूर्ववत् ।।

(सप्तिः) 'षप् समवाये' (अ० प०) इत्यस्मात् वितसिवसिसिपिपदिम्यस्तिप् (भो० उ० २।१।१८४) इति भोजीयसूत्रेण 'तिप्' । पित्त्वात् प्रत्ययस्यानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः । सायणस्तु "वसस्तिप् (उ० सु०) इति विधीयमानः 'तिप्' प्रत्ययो बहुलवचनादस्मादपि धातोर्भवति । प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः" इत्याह । उणादिसूत्रस्य सायणोद्धृतः पाठस्तु सम्प्रत्युपलभ्यमानासूणादिवृत्तिषु न क्वचिदुपलभ्यते । अपि च तत्पाठस्वीकारे 'वस्ति' शब्द आद्युदात्तः प्राप्नोति, इष्यते चान्तोदात्तः (शतपथे तथा दर्शनात्) । तस्मात् सर्ववृत्तिषूपलभ्यमानः 'वसेस्तिः' इत्येव पाठो ज्यायान् । भोजीयसूत्रेणापि 'वस्ति' शब्द आद्युदात्तः प्राप्नोति, तत्र उच्छादित्वादन्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् । 'वसेस्तिप्' इति पाठेऽपि तथैवेति चेन्न, अनेन सूत्रेण केवलं वस्तिशब्दस्यैव निर्वचनात् । तत्र तिप्रत्ययलाघवेने-

---

* 'सहप्राप्तां भार्याम्' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्चासम्बद्धः पाठः ।।

† 'ददत्' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ।।

अन्वयः—*हे जातवेदः ! यथा ससवान्सँस्त्वं स्तूयसे [तथाऽहमपि भवेयम् । यथा च] अयमग्निरिन्द्रश्च यस्मिन् सोमं दधाति, तथा सुतं जठरेऽहं दधे, सोऽहं वावशानः सन् न [यथा] [1]सहस्रियं§ वाजमत्यं सप्तिं दधे, तादृशस्त्वं भव ।।४७।।

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—यथा विद्युत्सूर्यौ सर्वान् रसान् गृहीत्वा जगद्रसयतः$ तथाऽहमेतद् दधे । यथा सद्‌गुणैर्युक्तस्त्वं स्तूयसे, तथाऽहमपि प्रशंसितो भवेयम् ।।४७।।

मनुष्यों को उत्तम आचरणों के साथ वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—†हे (जातवेदः) विज्ञान को प्राप्त हुए विद्वन् ! जैसे (ससवान्) दान देते (सन्) हुए आप (स्तूयसे) प्रशंसा के योग्य हो, [वैसे मैं भी प्रशंसित होऊं और जैसे] (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि और (इन्द्रः) सूर्य्य (यस्मिन्) जिस में (सोमम्) सब ओषधियों के रस को धारण करता है, उसी प्रकार (सुतम्) सिद्ध हुए पदार्थ को मैं (जठरे) पेट में (दधे) धारण करता हूं । (सः) वह मैं (वावशानः) बहुधा कामना करता हुआ (सहस्रियम्[1]) अनेकों में वर्त्तमान (वाजम्) अन्न आदि पदार्थों और (अत्यम्) व्याप्त होने योग्य (सप्तिम्) [शीघ्रगामी] घोड़े [आदि साधनों] को (न) जैसे धारण करता हूं, वैसे तुम भी धारण करो ।।४७।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार और उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे बिजुली और सूर्य सब रसों का ग्रहण कर जगत् को रसयुक्त करते हैं‡, वैसे मैं इस सब को धारण करता हूं । जैसे श्रेष्ठ गुणों से युक्त आप प्रशंसा के योग्य हो, वैसे मैं भी प्रशंसा के योग्य होऊं ।।४७।।

ष्टस्वरस्य सिद्धत्वात्, उन्छादिकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्, 'वसेस्तिः' इति शुद्धपाठस्योपलम्भाच्च । भगवताचार्येणायं शब्दः ऋग्वेदभाष्ये (३।३।२) सृप्लृधातोर्गुणे रेफलोपे च निरुक्तस्तत्रापि द्रष्टव्यः । निघण्टुटीकायां देवराजोऽपि पक्षान्तरे सृप्लृधातोर्निरवोचत् । निरुक्ते (६।३) तु सप्तेः सरणस्येति निर्वचनात् सृधातोर्निरुक्त इत्यपि ध्येयम् ।।

(ससवान्) पूर्वत्र (य० ७।१०) व्याख्यातः ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ।।

१. ऋग्वेदे (३।२२।१) अर्थभेदेन सुव्याख्यातोऽयं मन्त्रः । तत्र च 'सहस्रियम्' इति स्थाने 'सहस्रिणम्' इति पाठः । शेषपाठस्तु सर्वोऽपि समानः ।।४७।।

---

* अत्रान्वयः '(सहस्त्रियम्) सह प्राप्तां भार्याम्' इति पदार्थेऽन्यथाव्याख्यानाद् भ्रष्टः, स यथाकथंचित् संशोधितः ।।

§ 'सहस्त्रियं दधे । त्वया सह' इत्यजमेरमुद्रिते, कगकोशयोश्च पाठः ।।

$ इतोऽग्रे 'यथा पत्या सह स्त्री स्त्रिया सह पतिश्चानन्दं भुङ्क्ते' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्चासम्बद्धः पाठः ।।

† यहां 'सहस्त्रियम्' के स्थान पर '(सहस्त्रियम्) साथ वर्त्तमान स्त्री को' ऐसा अशुद्ध व्याख्यान होने से भ्रष्ट हुए भाषा पदार्थ को किसी प्रकार बोधगम्य बनाया गया है ।।

‡ इतोऽग्रे 'वा जैसे पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति आनन्द भोगते हैं' इत्यजमेरमुद्रिते, कगकोशयोश्च पाठः । स च सर्वथाऽसम्बद्ध इति ध्येयम् ।।

अग्ने यत्त इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अध्यापकैर्निष्कपटत्वेन सर्वे विद्यार्थिनः पाठनीया इत्याह ॥

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥४८॥

अग्ने । यत् । ते । दिवि । वर्चः । पृथिव्याम् । यत् । ओषधीषु । अप्स्वित्यप्ऽसु । आ । यजत्र ॥ येन । अन्तरिक्षम् । उरु । आततन्थेत्याऽततन्थ । त्वेषः । सः । भानुः । अर्णवः । नृचक्षा इति नृऽचक्षाः ॥४८॥

पदार्थः—(**अग्ने**) विद्वन् (**यत्**) यस्य (**ते**) तव ([1]**दिवि**) द्योतनात्मके विद्युदादौ (**वर्चः**) विज्ञानप्रकाशः ([1]**पृथिव्याम्**) भूमौ (**यत्**) (**ओषधीषु**[1]) यवादिषु (**अप्सु**[1]) प्राणेषु जलेषु वा (**आ**) ([2]**यजत्र**) संगन्तुं योग्य (**येन**) (**अन्तरिक्षम्**) आकाशम् (**उरु**) बहु (**आ ततन्थ**) समन्तात्तनु (**त्वेषः**) प्रकाशः (**सः**) (**भानुः**) प्रभाकरः (**अर्णवः**) अर्णांसि बहून्युदकानि विद्यन्ते यस्मिन् सः । अर्णसो लोपश्च ॥ अ० ५।२।१०६ इति [वार्त्तिकेन] मत्वर्थे वः सलोपश्च (**नृचक्षाः**) नॄन् *चक्षते सः ॥४८॥

१. विषयसप्तम्यत्र द्रष्टव्या ॥

२. **अमिनक्षियजि०** (उ० ३।१०५) इति सूत्रेण यजधातोः कर्मणि 'अत्रन्' प्रत्ययः, इज्यते इति यजत्रः, तत्सम्बुद्धौ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(यजत्र) पूर्वं (य० ६।१०) व्याख्यातः। **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इति निघातः ॥

(आततन्थ) तनोतेराङ्पूर्वात् लिटि मध्यमैकवचने **बभूथाततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे** (अ० ७।२।६४) इति इडभावो निपात्यते । **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे **लिति** (अ० ६।१।१९०) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः । तत **उदात्तगतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासे **तिङि चोदात्तवति** (अ० ८।१।७१) इति गतेरनुदात्तत्वम् ॥

(**त्वेषः**) **'त्विष दीप्तौ'** (भ्वा० उ०) इत्यस्मात् पचाद्यच् । चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(**अर्णवः**) **अर्णसो लोपश्च** (अ० ५।२।१०९ वा०) इति 'व' प्रत्ययः, सकारलोपश्च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(**नृचक्षाः**) नृशब्दोपपदात् **चक्षेर्बहुलं शिच्च** (उ० ४।२३३) इति 'असि' प्रत्ययः । शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां ख्याञादेशाभावः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते **परादिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१९९) इत्युत्तरपदादेरुदात्तत्वम् । केचिदुणादिसूत्रे **'पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च'** इत्यनुवर्त्तयन्ति (द्र० श्वेत० उ० वृ० ४।२३६), तेषामपि पूर्वसूत्रेणैवोत्तरपदाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् । **सायणस्तु** (ऋग्भाष्य १।२२।७) **'चक्षेर्बहुलं शिच्च इति असुन्'** इत्याह । तन्न, सर्ववृत्तिविरोधाद् 'असि' प्रकरणाच्च ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* कदाचिदत्र 'चष्टे' इति स्यात ॥

अन्वयः—हे यजत्राग्ने ! [यथा] यद् यस्य ते तवाऽग्नेरिव दिवि वर्चः, यत् पृथिव्यामोषधीष्वप्सु वर्चोऽस्ति, येन नृचक्षा [1]भानुरर्णवः [त्वेषो† ऽस्ति] येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ, तथा स त्वं तदस्मासु [आ] धेहि ॥४८॥[2]

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—अस्मिन् जगति यस्य सृष्टिपदार्थविज्ञानं यादृशं स्यात्तादृशं सद्योऽन्यान् ग्राहयेत् । यदि न ग्राहयेत्तर्हि तन्नष्टं सदन्यैः प्राप्तुमशक्यं स्यात् ॥४८॥

अध्यापक लोगों को निष्कपट[ता] से सब विद्यार्थीजन पढ़ाने चाहियें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (यजत्र) संगम करने योग्य (अग्ने) विद्वन् ! [जैसे] (यत्) जिस (ते) आप का अग्नि के समान (दिवि) द्योतनशील§ विद्युत् आदि के विषय में (वर्चः) विज्ञान का प्रकाश, (यत्) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी (ओषधीषु) यवादि ओषधियों और (अप्सु) प्राणों वा जलों के विषय में तेज है, (येन) जिससे (नृचक्षाः) मनुष्यों को दिखाने वाला (भानुः) सूर्य (अर्णवः) बहुत जलों को वर्षाने हारा (त्वेषः) प्रकाश है, जिससे (अन्तरिक्षम्[3]) आकाश को (उरु) बहुत (आ ततन्थ) विस्तारयुक्त करते हो, (सः) सो आप वैसे वह सब हम लोगों में [भी (आ) अच्छे प्रकार] धारण कीजिये ॥४८॥

यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—इस जगत् में जिस को सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान जैसा होवे, वैसा ही शीघ्र दूसरों को बतावे । जो कदाचित् दूसरों को न बतावे, तो वह नष्ट हुआ किसी को प्राप्त नहीं हो सके ॥४८॥

---

१. यद्यपि भानुर्वर्षकः प्रकाशकश्च स्वत एवास्ति, तथापि विज्ञानस्योचितप्रयोगेण तत्र वैशिष्ट्यमाधातुं शक्यत इति ध्येयम् ॥

२. मन्त्रोऽयं ऋ० ३।२२।२ अग्निगुणवर्णनपरो व्याख्यातः । तत्रान्वयः पदार्थश्च भिन्न इत्यपि बोध्यम् ॥

३. (क) तात्स्थ्योपाधिनाऽत्रान्तरिक्षस्था मार्गा लक्ष्यन्ते ॥

(ख) जैसे 'मचान चिल्लाते हैं' इस वाक्य से 'मचान पर बैठे मनुष्य चिल्लाते हैं' यह अर्थ लिया जाता है, इसी प्रकार यहां भी 'आकाश' से आकाशस्थ मार्ग अभिप्रेत हैं । विमानादि द्वारा गमनागमन से उन का विस्तार होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥४८॥

---

† 'त्वेषः' इति पाठः ककोशेऽस्ति, गकोशे प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

§ इतोऽग्रे 'आत्मा में' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । संस्कृतपदार्थे 'द्योतनात्मके विद्युदादौ' इति पाठस्य दर्शनात् ॥

अग्ने दिव इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

*पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अग्ने दिवोऽ अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ२ऽ ऊचिषे धिष्ण्या ये ।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तऽ आपः ॥४९॥

अग्ने । दिवः । अर्णम् । अच्छ । जिगासि । अच्छ । देवान् । ऊचिषे । धिष्ण्याः । ये ॥ याः । रोचने । परस्तात् । सूर्यस्य । याः । च । अवस्तात् । उपतिष्ठन्त इत्युपऽतिष्ठन्ते । आपः ॥४९॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (दिवः) प्रकाशात् (†अर्णम्) [1]विज्ञानम् (अच्छ) (जिगासि) स्तौषि (अच्छ) (देवान्) दिव्यगुणान् विदुषो विद्यार्थिनो वा (ऊचिषे) [2]वक्षि§ (धिष्ण्याः) ये दिधिषन्ति ब्रुवन्ति ते धिषाणस्तेषु साधवः । अत्र धिष्धातोर्बाहुलकादौणादिकः कनिन्, ततो यत् (ये) (याः) (रोचने) प्रकाशे (परस्तात्) पराः (सूर्यस्य) (याः) (च) (अवस्तात्) अधस्थाः (उपतिष्ठन्ते) (आपः) प्राणा जलानि वा। [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।२४ व्याख्यातः] ॥४९॥

अन्वयः—हे अग्ने ! यस्त्वं दिवोऽर्णं, या आपः सूर्यस्य रोचने परस्ताद्याश्चावस्तादुपतिष्ठन्ते ता अच्छ जिगासि, ये धिष्ण्या सन्ति तान् देवान् प्रत्यर्णमच्छोचिषे, स त्वमस्माकमुपदेष्टा भव ॥४९॥[3]

---

१. 'ऋ गतौ' (भ्वा० प०) इत्येतस्मात् 'न' प्रत्ययः । गत्यर्था ज्ञानार्था इति ॥

२. 'उच्याः' इति तु ऋ० ३।२२।३ भाष्ये ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**अर्णम्**) **ऋ गतौ** (भ्वा० प०) इत्यस्मात् कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उ० ३।१०) इत्यत्र ऋधातोः प्रश्लेषनिर्देशात् 'न' प्रत्ययः । स च नित् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा — बाहुलकादेव 'न' प्रत्ययो नित्त्वं च द्रष्टव्यम् ॥

(**जिगासि**) 'गा स्तुतौ' (जु० प०) इत्यस्य सिपि, **अनुदात्ते च** (अ० ६।१।१८७) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(**रोचने**) पूर्वं (य० ३।७) व्याख्यातः॥

(**उपतिष्ठन्ते**) **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघातप्रतिषेधे **उदात्तगतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासे **तिङि चोदात्तवति** (अ० ८।१।७१) इति गतेरनुदात्तत्वम् । लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण 'ति' उदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. मन्त्रोऽयम् ऋ० ३।२२।३ 'अग्निगुणान् आह' इति भिन्नान्वयेन भिन्नपदार्थेन च व्याख्यातः॥

---

* 'कीदृशोऽध्यापक उत्तम इत्याह' इति कपाठः । गकोशे तु नास्त्येव ॥

† '(अर्णम्) विज्ञानम्, अत्र ऋधातोरौणादिको बाहुलकाद् 'नन्' प्रत्ययः (अच्छ) सम्यक्, अत्र निपातस्य चेति दीर्घः' इति ककोशे पाठः ॥

§ 'वक्ति' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥ 'वक्षि' इति तु कपाठः, स च सम्यक् ॥

भावार्थः—ये सुविचारेण [1]विद्युतः सूर्य्यकिरणेषूपर्य्यधःस्थानां जलानां वायूनां च बोधं यथा प्राप्नुवन्ति, [तथा] तेऽन्यान् प्रति सम्यगुपदिशन्तु ॥४९॥

$फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! जो आप (दिवः) प्रकाश से (अर्णम्) ʃविज्ञान की, और (याः) जो (आपः) प्राण वा जल (सूर्य्यस्य) सूर्य्य के (रोचने) प्रकाश में (परस्तात्) पर है (च) और (याः) जो (अवस्तात्) नीचे (उपतिष्ठन्ते) समीप में स्थित हैं, ‡उन की (अच्छ) सम्यक् (जिगासि) स्तुति करते हो, (ये) जो (धिष्णयाः) बोलने वाले हैं उन (देवान्) दिव्यगुण विद्यार्थियों वा विद्वानों के प्रति [2]विज्ञान को (अच्छ) अच्छे प्रकार (ऊचिषे) कहते हो, सो आप हमारे लिये उपदेश कीजिये ॥४९॥

भावार्थः—जो अच्छे विचार से बिजुली और सूर्य के किरणों में ऊपर नीचे रहने वाले जलों और वायुओं के बोध ‡को जैसे प्राप्त होते हैं, वैसे दूसरों को भी निरन्तर उपदेश करें ॥४९॥

पुरीष्यास इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्द्वेषादिकं विहायानन्दितव्यमित्युपदिश्यते ॥

पुरीष्यासोऽ अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवाऽ इषो महीः ॥५०॥

पुरीष्यासः । अग्नयः । प्रावणेभिः । प्रवणेभिरिति प्रऽवणेभिः । सजोषस इति सऽजोषसः ॥ जुषन्ताम् । यज्ञम् । अद्रुहः । अनमीवाः । इषः । महीः ॥५०॥

१. विद्युतो 'बोधम्' इत्यग्रे सम्बन्धः ॥ २. अध्याहारोऽयं, संस्कृते नास्ति ॥४९॥

$ 'किस प्रकार का अध्यापक उत्तम होता है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है' इति ककोशे पाठः, गकोशे तु नास्त्येव ॥

ʃ 'विज्ञान को' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

‡ 'उन को' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'को प्राप्त होते हैं, वे दूसरों को निरन्तर उपदेश करें' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । ककोशे तु 'को जैसे प्राप्त होते हैं, वे वैसे दूसरों को भी निरन्तर उपदेश करें' इति पाठ उपलभ्यते । स चास्माभिः स्वीकृतः । गकोशे कथं व्यस्त इति न ज्ञायते ॥

पदार्थः—(पुरीष्यासः) [पुरीषेषु] पूर्णासु गुणक्रियासु भवाः (अग्नयः) वह्नय इव वर्त्तमाना विद्वांसः (प्रावणेभिः) विज्ञानैः। अत्रान्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घत्वम् (सजोषसः) समानसेवाप्रीतयः (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् (यज्ञम्) विद्याविज्ञानदान-ग्रहणाख्यम् (अद्रुहः) द्रोहरहिताः (अनमीवाः) अरोगाः (इषः) इच्छाः (महीः) महतीः। [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।२५ व्याख्यातः] ॥५०॥

अन्वयः—सर्वे मनुष्याः प्रावणेभिः सह वर्त्तमाना अनमीवा अद्रुहः सजोषसः पुरीष्या-सोऽग्नय इव सन्तो यज्ञं महीरिषो जुषन्ताम् ॥५०॥[1]

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा विद्युदविरुद्धा सती समानसत्तया सर्वान् पदार्थान् सेवते, तथैव रोग-द्रोहादिदोषै रहिताः, परस्परं प्रीतिमन्तो भूत्वा विद्वांसः विज्ञानवृद्धिकरं यज्ञं प्रतत्य महान्ति सुखानि सततं भुञ्जीरन् ॥५०॥

मनुष्यों को द्वेषादिक छोड़ के आनन्द में रहना चाहिये, इस विषय का उपदेश
अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि (प्रावणेभिः) विज्ञानों के साथ वर्त्तमान हुए (अनमीवाः) रोगरहित (अद्रुहः) द्रोह से पृथक् (सजोषसः) एक प्रकार की सेवा और प्रीति वाले (पुरीष्यासः) पूर्ण गुणक्रियाओं में निपुण (अग्नयः) *अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् होते हुए (यज्ञम्) विद्याविज्ञान दान और ग्रहण रूप यज्ञ और (महीः) बड़ी बड़ी (इषः) इच्छाओं को (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥५०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे बिजुली अनुकूल हुई †समान भाव से विद्यमान सब पदार्थों का सेवन करती है, वैसे ही रोग द्रोहादि दोषों से रहित, आपस में प्रीति वाले हो के विद्वान् लोग विज्ञान बढ़ाने वाले यज्ञ को विस्तृत करके बड़े बड़े सुखों को निरन्तर भोगें ॥५०॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुरीष्यासः) भवे छन्दसि (अ० ४।४।११०) इति 'यत्'। तित् स्वरितम् (अ० ६।१।१८२) इति 'य' स्वरितः॥

(प्रावणेभिः) वनं समासे (अ० ६।२।१७८) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। ततो विभक्तिरनुदात्ता। अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्॥

(अद्रुहः) नास्ति ध्रुग् येषु तेऽद्रुहः। नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्॥

(अनमीवाः) पूर्वं (य० ११।१) व्याख्यातः॥

(महीः) पूर्वं (य० ११।२०) व्याख्यातः॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. मन्त्रोऽयम् ऋ० ३।२२।३ भिन्नार्थतया व्याख्यात ॥५०॥

* 'अग्नि के समान वर्त्तमान तेजस्वी विद्वान् लोग' इति अ०मुद्रिते पाठः॥

† 'एक सत्ता से' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात्॥

इडामग्न इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्गर्भाधानादिसंस्कारैरपत्यानि संस्कर्त्तव्यानीत्याह ॥

इडा॑मग्ने पुरु॒दꣳस॑ꣳ स॒निं गोः श॑श्वत्त॒मꣳ हव॑मानाय साध ।
स्यान्नः॑ सू॒नुस्तन॑यो वि॒जावाऽग्ने॒ सा ते॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे ॥५१॥

इडा॑म् । अ॒ग्ने॒ । पु॒रु॒दꣳस॒मिति॑ पु॒रु॒ऽदꣳस॑म् । स॒निम् । गोः । श॒श्व॒त्त॒ममिति॑ श॒श्व॒त्ऽत॒मम् । हव॑मानाय । सा॒ध॒ ॥ स्यात् । नः॒ । सू॒नुः । तन॑यः । वि॒जावेति॑ वि॒जाऽवा॑ । अग्ने॑ । सा । ते॒ । सु॒म॒तिरिति॑ सुऽम॒तिः । भू॒तु॒ । अ॒स्मेऽइत्य॒स्मे ॥५१॥

पदार्थः—(इडाम्) स्तोतुमर्हां वाचम् (अग्ने) विद्वन् (पुरुदंसम्) पुरूणि बहूनि दंसानि कर्माणि भवन्ति यस्मात् [तम्] (सनिम्) संविभागम् (गोः) वाचः (शश्वत्तमम्) अतिशयितमनादिरूपं वेदबोधम् (हवमानाय) विद्यां स्पर्द्धमानाय (साध) साध्नुहि । अत्र व्यत्ययेन शप (स्यात्) भवेत् (नः) अस्माकम् (सूनुः) उत्पन्नः (तनयः) पुत्रः (विजावा) विविधैश्वर्य्यजनकः (अग्ने) [1]अध्यापक (सा) (ते) तव (सुमतिः) शोभना प्रज्ञा (भूतु) भवतु । अत्र शपो लुक् । भूसुवोस्तिङि [अ० ७।३।८८] इति गुणाभावः (अस्मे) अस्माकम् । [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।२७ व्याख्यातः] ॥५१॥

---

१. 'अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति······'(निरु० ७।१४) इति यास्कनिर्वचनाद् इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(इडाम्) 'ईड स्तुतौ' (अ० आ०) इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिकः 'क्विप्', आदेर्ह्रस्वत्वं च इत्याचार्यपादाः (यजुर्वेदभाष्य १५।३०)। धातुस्वरेणोदात्तः । ततो भागुरिमतेन **'आपं चैव हलन्तानाम् यथा वाचा निशा दिशा'** इतिवत् 'टाप्'। स पित्त्वादनुदात्तः । अजादिगणे **'क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा'** इति निर्देशात् 'हलन्ताः' इति वृत्तिकारव्याख्यानाच्च पाणिनिमतेऽपि क्वचिद्धलन्तेभ्यष्टाब्भवतीति ज्ञाप्यते। ङ्याप्प्रातिपदिकसूत्रभाष्ये **'यस्तर्ह्यनकारान्तात् क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा'** इति वचनात् हलन्तेभ्योऽपि टाबुत्पत्तिपक्षः पूर्वाचार्यस्वीकृत आसीदिति विज्ञायते । यत्तु **भाष्यकृता** सिद्धान्तोत्तरे क्रुञ्चादिषु अकारान्तादेव 'टाप्' इत्युक्तं तथाप्यकारान्तपक्षे **इगुपधज्ञाप्रीकिरः** कः (अ० ३।१।१३५) इति 'क' प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वं स्यान्नतु इडा, उष्णिहा इत्यत्र धातुस्वरः । तस्माद्धलन्तपक्ष एव ज्यायान् । यद्वा—अकारान्तपक्षे स्वरव्यत्ययो द्रष्टव्यः ॥

(**पुरुदंसम्**) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **परादिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वं भवति ॥

(**सनिम्**) पूर्वं (य० १२।७) व्याख्यातः ॥

(**शश्वत्तमम्**) **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (अ० ५।३।५५) इति 'तमप्'। पित्त्वादनुदात्तः । उच्छादिगणान्तर्गतेन **उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र** (अ० ६।१।१६० वा०) इत्यनेनान्तोदात्तः ॥

(**हवमानाय**) **'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च'** (भ्वा० उ०) इत्यस्य लटि शानचि शपि **बहुलं छन्दसि** (अ० ६।१।३४) इति सम्प्रसारणे गुणेऽवादेशे च रूपम् । तास्यनुदात्तेङिदुपदे-

अन्वयः—हे अग्ने ! ते सा सुमतिरस्मे भूतु, यथा ते नोऽस्माकं च यो विजावा [सूनुः] तनयः [अस्ति सः] स्यात् । तथा त्वं तस्मै हवमानायेडां गोः शश्वत्तमं पुरुदंसं सनिं साधय, वयं च साध्नुयाम ॥५१॥

भावार्थः—मातापितृभ्यामाचार्य्येण च सावधानतया गर्भाधानादिसंस्काररीत्या सुसन्तानानुत्पाद्य[1] वेदेश्वरविद्यायुक्ता धीरुत्पाद्या । नहीदृशोऽन्यो धर्मोऽपत्यसुखनिमित्तोऽस्तीति निश्चेतव्यम् ॥५१॥

मनुष्य गर्भाधानादि संस्कारों से बालकों का संस्कार करें, इस विषय का उपदेश

अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) *विद्वन् ! (ते) आपकी (सा) वह (सुमतिः) सुन्दर बुद्धि (अस्मे) हम लोगों के लिये (भूतु) होवे, जिससे आपका (नः) और हमारा जो (विजावा) विविध प्रकार के ऐश्वर्यों का उत्पादक (सूनुः) उत्पन्न होने वाला (तनयः) पुत्र [है वह] (स्यात्) होवे । उस बुद्धि से [आप] उस (हवमानाय) विद्या ग्रहण करते हुए के लिये (इडाम्) स्तुति के योग्य वाणी को (गोः) वाणी के सम्बन्धी (शश्वत्तमम्) अनादि रूप अत्यन्त वेदज्ञान को और (पुरुदंसम्) बहुत कर्म जिससे सिद्ध हों, ऐसे

शात्० (अ० ६।१।१८६) इति शानचोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(साध) 'साध संसिद्धौ' (स्वा० प०) इति सौवादिकाद् व्यत्ययेन 'शप्' । अतो हेः (अ० ६।४।१०५) इति हेर्लुक् । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(तनयः) 'तनु विस्तारे' (तना० उ०) इत्यस्माद् बलिमलितनिभ्यः कयन् (उ० ४।९९) इति 'कयन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(विजावा) वि पूर्वाज्जनधातोः अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३।२।७५) इति 'वनिप्' प्रत्ययः, स च पित्त्वादनुदात्तः । विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ३।४।४१) इत्यात्वम् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

पदकारैरिदं पदं 'विजावेति विजाऽवा' इत्येवमवगृह्यते । कृदन्तप्रत्यये कथमवग्रह इति न ज्ञायते ॥

(सुमतिः) शोभना चासौ मतिः सुमतिः समासस्य (अ० ६।१।२१७) इत्यन्तोदात्तत्वम् । यदा तु सुपसर्गपूर्वान्मिन्यतेः 'क्तिन्' तदा मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः (अ० ३।३।९६) इति 'क्तिन्', स चोदात्तः । समासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरे क्तिन उदात्तत्वविधानादन्तोदात्तत्वम् । पूर्वं यजुः० ८।४ मन्त्रेऽपीत्थमेव द्रष्टव्यम् ॥

यत्तु सायणेन ऋ० १।२४।९ भाष्ये मन्क्तिन् व्याख्यान० (अ० ६।२।१५१) इत्यनेनान्तोदात्तत्वमुक्तम्, तदयुक्तम्, अत्र 'कारकाद्' इत्यनुवर्त्तनाद् अस्याप्राप्तेः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. मातापितृभ्यां शरीरं जन्म, तेन 'गर्भाधानादिना' इत्यर्थः । आचार्येण विद्याजन्म इत्युपनयनादिभिः संस्कारैरित्यभिप्रायोऽत्रावगन्तव्यः॥

---

* 'विद्वान्' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'विद्वन्' इति गपाठः ॥

(सनिम्) [1]ऋग्वेदादि वेद [विहित कर्म] विभाग को (साध) सिद्ध कीजिये [अर्थात् जानिये] और (†अग्ने) हे अध्यापक ! हम लोग भी सिद्ध करें [अर्थात् जानें] ॥५१॥

भावार्थः—माता पिता और आचार्य को चाहिये कि सावधानी से गर्भाधान आदि संस्कारों की रीति के अनुकूल अच्छे सन्तान उत्पन्न करके, उन में वेद ईश्वर और विद्यायुक्त बुद्धि उत्पन्न करें । क्योंकि ऐसा अन्यधर्म अपत्य सुख का हितकारी कोई नहीं है, ऐसा निश्चय रखना चाहिये ॥५१॥

अयं त इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ जन्यजनकानां कर्त्तव्यं कर्माह ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽ अरोचथाः ।
तं जानन्नग्नऽ आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥५२॥

अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः ॥ तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अथ । नः । वर्धय । रयिम् ॥५२॥

पदार्थः—(अयम्) (ते) तव (योनिः) दुःखवियोजकः सुखसंयोजको व्यवहारः (ऋत्वियः) ऋतुः समयोऽस्य प्राप्तः । अत्र छन्दसि घस् [अ० ५।१।१०६] इति 'घस्' प्रत्ययः (यतः) यस्मात् (जातः) प्रादुर्भूतः सन् (अरोचथाः) प्रदीप्येथाः (तम्) (जानन्) (अग्ने) अग्निरिव स्वच्छात्मन् (आ) (रोह) आरुढो भव (अथ) अनन्तरम्, अत्र निपातस्य च [अ० ६।३।१३६] इति संहितायां दीर्घः (नः) अस्मभ्यम् (वर्धय) अत्र अन्येषामपि० [अ०६।३।१३७] इति संहितायां दीर्घत्वम् (रयिम्) प्रशस्तां श्रियम् । [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।२८ व्याख्यातः] ॥५२॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं यस्ते तव ऋत्वियोऽयं योनिरस्ति यतो जातस्त्वमरोचथाः, तं जानँस्त्वमारोहाथ नो रयिं वर्धय ॥५२॥

भावार्थः—हे[2] मातापित्राचार्याः ! यूयं पुत्रान् *पुत्रीश्च धर्म्येण ब्रह्मचर्य्येण सेवितेन सद्विद्या जनयित्वोपदिशत—हे[2] सन्तानाः ! यूयं सद्विद्यया सदाचारेणास्मान् सुसेवया धनेन च सततं सुखयतेति ॥५२॥

---

१. संस्कृतपदार्थे '(सनिम्) संविभागम्' इति पाठः । सामर्थ्यादत्र 'वेदविहितकर्मविभाग' एवाश्रयणीयः, न तु 'ऋग्वेदादिवेदविभाग' इति ॥५१॥

२. नेयं शैली भाष्यकारस्य पूर्वं दृष्टा ॥५२॥

---

† '(अग्ने) हे अध्यापक हम' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

* 'पुत्रीश्च' इति द्वितीयसंस्करणेऽपपाठः । 'पुत्रीश्च' इति कगकोशयोः प्रथमसंस्करणे च शुद्धः पाठः इति ध्येयम् ॥

अब माता पिता और पुत्रादिकों को परस्पर क्या करना चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान शुद्ध अन्तःकरण वाले विद्वन् पुरुष! जो (ते) आपका (ऋत्वियः) ऋतुकाल में [अर्थात् यथा समय] प्राप्त हुआ (अयम्) यह प्रत्यक्ष (योनिः) दुःखों का नाशक और सुखदायक व्यवहार है, (यतः) जिस से (जातः) †विद्वान् रूप से प्रादुर्भूत हुए आप (अरोचथाः) प्रकाशित होवें, (तम्) उस को (जानन्) जानते हुये आप (आरोह) शुभगुणों पर आरुढ़ हूजिये, (अथ) इस के पश्चात् (नः) हम लोगों के लिये (रयिम्) प्रशंसित लक्ष्मी को (वर्धय) बढ़ाइये ॥५२॥

भावार्थः—हे माता पिता और आचार्य्य! तुम लोग पुत्र और कन्याओं को धर्मानुकूल सेवन किये ब्रह्मचर्य से श्रेष्ठविद्या को प्रसिद्ध कर उपदेश करो—हे सन्तानो! तुम लोग सत्यविद्या और सदाचार के साथ हम को अच्छी सेवा और धन से निरन्तर सुखयुक्त करो ॥५२॥

चिदसीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराडनुष्टुप् छन्दः।
गान्धार स्वरः ॥

कन्याभिः किं कृत्वा किं कार्य्यमित्याह ॥

चिर्दसि तयां देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद।
परिचिर्दसि तयां देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५३॥

चित्। असि। तयां। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवा। सीद ॥ परिचिदिति परिऽचित्। असि। तयां। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवा। सीद ॥५३॥

पदार्थः—(चित्) संज्ञप्ता (असि) (तया) (देवतया) दिव्यगुणप्रापिकया (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (ध्रुवा) निश्चला (सीद) भव, (परिचित्) विद्यापरिचयं प्राप्ता (असि) (तया) धर्मानुष्ठानयुक्तया क्रियया (देवतया) दिव्यसुखप्रदया (अङ्गिरस्वत्) हिरण्यगर्भवत् (ध्रुवा) निष्कम्पा (सीद) अवतिष्ठस्व। [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।३० व्याख्यातः] ॥५३॥

अन्वयः—हे कन्ये! या चिदसि सा त्वं तया देवतया सहाङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद। हे ब्रह्मचारिणि! या त्वं परिचिदसि सा तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५३॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया
(परिचित्) परिपूर्वाच्चिनोतेः 'क्विप्'। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥५३॥
॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

† 'उत्पन्न हुए आप' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—सर्वैर्मातापित्रादिभिरध्यापिकाभिर्विदुषीभिश्च कन्याः संबोधनीयाः—भो कन्याः! यूयं यदि पूर्णेनाखण्डितेन ब्रह्मचर्येणाखिला विद्याः सुशिक्षाः प्राप्य युवतयो भूत्वा स्वसदृशैर्वरैः स्वयंवरं विवाहं कृत्वा गृहाश्रमं कुर्यात, तर्हि सर्वाणि सुखानि लभेध्वं *सुसन्तानाश्च जायेरन् ।।५३।।

कन्याओं को क्या करके क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे कन्ये! जो तू (चित्) †ज्ञान को प्राप्त हुई (असि) है, [सो तू] (तया) उस (देवतया) दिव्यगुण प्राप्त कराने हारी ‡विदुषी स्त्री के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य (ध्रुवा) निश्चल (सीद) स्थिर हो। हे ब्रह्मचारिणि! जो तू (परिचित्) विविध विद्या को प्राप्त हुई (असि) है, सो तू (तया) उस (देवतया) धर्मानुष्ठान से युक्त दिव्यसुखदायक क्रिया के साथ (अङ्गिरस्वत्) ईश्वर के समान (ध्रुवा) अचल (सीद) अवस्थित हो§ ।।५३।।

भावार्थः—सब माता पिता और पढ़ानेहारी ‡विदुषी स्त्रियों को चाहिये कि कन्याओं को सम्यक् बुद्धिमती करें [अर्थात् समझायें कि] हे कन्या लोगो! तुम जो पूर्ण अखंडित ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त $युवती होकर अपने तुल्य वरों के साथ स्वयंवर विवाह करके गृहाश्रम का सेवन करो, तो सब सुखों को प्राप्त हो और सन्तान भी अच्छी होवें ।।५३।।

लोकं पृणेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ।।५४।।

लोकम्। पृण। छिद्रम्। पृण। अथोऽइत्यथो। सीद। ध्रुवा। त्वम् ।। इन्द्राग्नीऽइतीन्द्राग्नी। त्वा। बृहस्पतिः। अस्मिन्। योनौ। असीषदन्। §§असीसदन्नित्यसीसदन् ।।५४।।

---

* 'सुसन्तानाश्च जायेरन्' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे 'सु' इति त्यक्तं प्रतिभाति ।।

† चिताई (असि) हुई' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। '(चित्) चिताई हुई (असि) है' इति कपाठः ।।

‡ 'विद्वान् स्त्री' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।।

§ 'हूजिये' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

$ 'ज्वान और अपने' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

§§ 'असीषदन्नित्यसीसदन्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।।

पदार्थः—(लोकम्) संप्रेक्षितव्यम् (पृण) तर्पय (छिद्रम्) छिनत्ति यत्तत् (पृण) पिपूर्हि† (अथो) (सीद) (ध्रुवा) दृढनिश्चया (त्वम्) (इन्द्राग्नी) मातापितरौ (त्वा) त्वाम् (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाचः पालिकाध्यापिका (अस्मिन्) विद्याबोधे (योनौ[1]) बन्धच्छेदके मोक्षप्रापके (असीषदन्) प्रापयन्तु। [अयं मन्त्रः श० ८।७।२।६ व्याख्यातः] ।।५४।।

अन्वयः—हे कन्ये ! यां त्वा योनावस्मिन्निन्द्राग्नी बृहस्पतिश्चासीषदन्, तस्मिन् त्वं ध्रुवा सीदाथो छिद्रं पृण लोकं पृण ।।५४।।[2]

भावार्थः—मातापित्राचार्यैरीदृशी धर्म्या विद्याशिक्षा क्रियेत, यां स्वीकृत्य सर्वाः कन्या निश्चिन्ता भूत्वा, सर्वाणि दुर्व्यसनानि त्यक्त्वा, समावर्त्तनानन्तरं स्वयंवरं विवाहं कृत्वा सुपुरुषार्थेनानन्दयेयुः[3] ।।५४।।

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः--हे कन्ये ! जिस (त्वा) तुझ को (योनौ) बन्ध के छेदक मोक्ष-प्राप्ति के हेतु (अस्मिन्) इस विद्या के बोध में (इन्द्राग्नी) माता पिता तथा (बृहस्पति) बड़ी बड़ी वेदवाणियों (=उत्कृष्ट वेदवाणी) की §रक्षा करने वाली अध्यापिका स्त्री (असीषदन्) प्राप्त करावें, उस में ($त्वम्) तू (ध्रुवा) दृढ़ निश्चय के साथ (सीद) स्थित हो, (अथो) इस के अनन्तर (छिद्रम्) छिद्र (=न्यूनता) को (पृण) पूर्ण कर और (लोकम्) देखने योग्य प्राणियों को (पृण) तृप्त कर ।।५४।।

भावार्थः—माता पिता और आचार्यों को चाहिये कि इस प्रकार की धर्म्मयुक्त विद्या और शिक्षा करें कि जिस को ग्रहण कर कन्या लोग चिन्ता रहित हों। सब बुरे व्यसनों को त्याग और समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्वयंवर विवाह करके पुरुषार्थ के साथ आनन्द में रहें ।।५४।।

---

१. 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' (अदा० प०) इत्यनेनात्रार्थद्वयं प्रदर्शितं भवति ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(लोकम्) पूर्वं (य० ६।६) व्याख्यातः ।।

(छिद्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० (उ० २।१३)इत्यादिना छिनत्ते 'रक्' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।।

(इन्द्राग्नी) देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२। १४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **नोत्तरपदेऽनुदात्तादाव०** (अ० ६।२।१४२) इत्यनेन तन्निषेधे **समासस्य** (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।।

(बृहस्पतिः) पूर्वं (य० २।१२) व्याख्यातः ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

२. मन्त्रोऽयं शतपथब्राह्मणे (श० ८।७।२।६) भिन्नक्रमेण व्याख्यात इति ध्येयम् ।।

३. आनन्दं करोतीत्यानन्दयति । स्वार्थिको वात्र णिज् द्रष्टव्यः ।।५४।।

---

† 'पिपूर्द्धि' इति अ०मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ।।

§ 'रक्षक' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

$ '(त्वम्)' इत्यावश्यकः पाठः कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे परिवर्धितः स्यात् ।।

ता अस्येत्यस्य प्रियमेधा ऋषिः । आपो देवताः । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ताऽ अस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥५५॥

ताः । अस्य । सूददोहस इति सूदऽदोहसः । सोमम् । श्रीणन्ति । पृश्नयः ॥ जन्मन् । देवानाम् । विशः । त्रिषु । आ । रोचने । दिवः ॥५५॥

पदार्थः—(ताः) ब्रह्मचारिणीः (अस्य) गृहाश्रमस्य (सूददोहसः) सूदाः सुष्ठु पाचका दोहसो गवादिदोग्धारश्च यासां ताः (सोमम्) सोमरसान्वितं पाकम् (श्रीणन्ति) परिपक्वं कुर्वन्ति (पृश्नयः) सुस्पर्शास्तन्वङ्ग्यः, अत्र स्पृशधातोर्निः प्रत्ययः सलोपश्च (जन्मन्) जन्मनि प्रादुर्भावे (देवानाम्) दिव्यानां विदुषां पतीनाम् (विशः) प्रजाः (त्रिषु) भूतभविष्यद्वर्तमानेषु कालावयवेषु (आ) (रोचने) रुचिकरे व्यवहारे (दिवः) दिव्यस्य। [अयं मन्त्रः श० ८।७।३।२१ व्याख्यातः] ॥५५॥

अन्वयः—या देवानां सूददोहसः पृश्नय [1]पत्न्यो जन्मन् द्वितीये विद्याजन्मनि विदुष्यो भूत्वा दिवोऽस्य सोमं श्रीणन्ति ता आरोचने त्रिषु सुखदा भवन्ति, *विशश्च प्राप्नुवन्ति ॥५५॥[2]

भावार्थः—यदा सुशिक्षितानां विदुषां यूनां †स्वसदृश्यो रूपगुणसम्पन्नाः स्त्रियो भवेयुस्तदा गृहाश्रमे सर्वदा सुखं सुसन्तानाश्च जायेरन् । नह्येवं विना वर्त्तमानेऽभ्युदयो मरणानन्तरं निःश्रेयसं च प्राप्तुं शक्यम् ॥५५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सूददोहसः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । सूदशब्दः 'षूद क्षरणे' (भ्वा० आ०) इत्यस्माद् इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति 'क' प्रत्यये, प्रत्ययस्वरे प्राप्ते वृषादिगणान्तर्गतत्वादाद्युदात्तः ॥

(पृश्निः) पूर्वं (य० २।१६) व्याख्यातः ॥

(जन्मन्) जनधातो सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४।१४५) इति 'मनिन्' । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । सुपां सुलुक्० (अ० ७।३।३९) इति ङेर्लुक् । न ङिसम्बुद्ध्योः (अ० ८।२।८) इति न लोपाभावः ॥

(दिवः) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६५) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. भाविसंज्ञाऽत्रभिप्रेता ॥

२. (क) 'या जन्मन् द्वितीये विद्याजन्मनि विदुष्यो देवानां सूददोहसः पृश्नयो भूत्वा दिवोऽस्य सोमं श्रीणन्ति……॥' इत्येवमत्र स्पष्टतरोऽन्वयः स्यादिति प्रतीमः ॥

---

* 'विशश्च प्राप्नुवन्ति' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

† 'स्वसदृशा' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ॥

फिर भी उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—जो (देवानाम्) दिव्य विद्वान् पतियों की (सूददोहसः) सुन्दर §रसोई बनाने वाले और गौ आदि के दुहने वाले सेवकों वाली (पृश्नयः) कोमल शरीर सूक्ष्म अङ्गयुक्त स्त्री, दूसरे[३] (जन्मन्) विद्यारूप जन्म में विदुषी हो के (दिवः) दिव्य (अस्य) इस गृहाश्रम के (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस से युक्त भोजन (श्रीणन्ति) पकाती हैं, (ताः) वे ब्रह्मचारिणी (आरोचने) अच्छे रुचिकारक व्यवहार में (त्रिषु$) तीनों अर्थात् गत आगामी और वर्त्तमान कालविभागों में सुख देने∫ वाली होती, तथा (विशः) उत्तम सन्तानों को भी प्राप्त होती हैं ।।५५।।

भावार्थः—जब अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुये ‡युवा विद्वानों की अपने सदृश रूप और गुण से युक्त स्त्री होवें, तो गृहाश्रम में सर्वदा सुख और अच्छे सन्तान उत्पन्न होवें । इस प्रकार किये विना संसार का सुख और शरीर छूटने के पश्चात् मोक्ष कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।।५५।।

इन्द्रं विश्वेत्यस्य *जेता मधुच्छन्दःसुत ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

कुमारकुमारीभिरित्थं कर्त्तव्यमित्याह ।।

इन्द्रं विश्वाऽ अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ।।५६।।

(ख) मन्त्रोऽयं शतपथब्राह्मणे भिन्नक्रमेण (श० ८।७।३।२१) व्याख्यातः ।।

३. (क) यहां भावी में होने वाली 'स्त्री' अर्थात् ब्रह्मचारिणी से अभिप्राय है, क्यों कि आगे ब्रह्मचारिणी स्पष्ट लिखा भी है ।।

(ख) 'जो (जन्मन्) दूसरे विद्यारूप जन्म में विदुषियां हो कर (देवानाम्) दिव्य विद्वान् पतियों की (सूददोहसः) सुन्दर रसोई बनाने वाले और गौ आदि के दुहने वाले सेवकों वाली (पृश्नयः) कोमल शरीर, सूक्ष्म अङ्गयुक्त पत्नियां बन कर (दिवः) दिव्य……' ।

यहां अन्वय इस प्रकार अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है ।।५५।।

---

§ 'रसोया' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

$ '(त्रिषु) तीनों अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ।।

∫ 'देनेवाली (विशः) पुत्रादिक को उत्पन्न करके होती हैं' इति कपाठः । तथैव च गकोशेऽपि । स च मुद्रणसमये संशोधित इति ध्येयम् ।।

‡ 'ज्वान' इति कगकोशयोः पाठः स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

* 'सुतजेतृमधुच्छन्दा ऋषिः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।।

इन्द्रम् । विश्वाः । अवीवृधन् । समुद्रव्यचसमिति समुद्रऽव्यचसम् । गिरः ॥ रथीतममम् । रथितममिति रथिऽतमम् । रथीनाम् । रथिनामिति रथिऽनाम् । वाजानाम् । सत्पतिमिति सत्ऽपतिम् । पतिम् ।।५६।।

पदार्थः—(इन्द्रम्) [1]परमैश्वर्य्यम् (विश्वाः) अखिलाः (अवीवृधन्) †वर्धयेयुः[2] (समुद्रव्यचसम्) समुद्रस्य व्यचसो व्याप्तय इव [व्याप्तयः] यस्मिस्तम् (गिरः) वेदविद्यासंस्कृता वाचः (रथीतमम्[3]) अतिशयेन प्रशस्तरथयुक्तम् (रथीनाम्) §प्रशस्तानां वीराणाम् । अत्र छन्दसीवनिपौ [अ० ५।३।१०९ वा०] इतीकारः (वाजानाम्) संग्रामाणां मध्ये (सत्पतिम्) सत ईश्वरस्य वेदस्य धर्मस्य जनस्य वा पालकम् (पतिम्) अखिलैश्वर्य्यस्वामिनम् । [अयं मन्त्रः श० ८।७।३।७ व्याख्यातः] ।।५६।।

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषाः ! यूयं यथा विश्वा गिरः समुद्रव्यचसं वाजानां रथीनां मध्ये रथीतमं सत्पतिं पतिमवीवृधन् [इन्द्रं चावीवृधन्] तथा सर्वान् वर्धयत ।।५६।।[4]

---

१. भावे 'रक्' (उ० २।२८) अत्र द्रष्टव्यः ।।

२. अत्र लिङर्थे लुङ् ।।

३. प्रशस्तार्थ उपपन्नस्य 'इनि' प्रत्ययान्तस्य अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३७) इति दीर्घत्वम् । ततो 'मतुप्' ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**समुद्रव्यचसम्**) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । समुद्रशब्दः पूर्वं (य० ५।३३) व्याख्यातः । 'व्यचस्' इत्यत्र **व्यचेः कुटादित्वमनसि** (अ०६।१।१६) इति ङित्त्वनिषेधात् सम्प्रसारणाभावः ।।

(**रथीतमम्**) रथशब्दाद् **अत इनिठनौ** (अ० ५।२।११५) इति मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो मतुपि **नाद् घस्य** (अ० ८।२।१७) इति नुडागमे प्राप्ते **ईद् रथिनः** (अ० ८।२।१७ भा० वा०) इति ईकारादेशे 'रथीतमः' ।

वस्तुतस्त्वत्र रथशब्दात् **छन्दसीवनिपौ** (अ० ५।२।१०९ वा०) इति 'ई' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ई प्रत्ययस्य च '**रथीरभून्मुद्गलानी**' इत्यादिष्ववश्यवक्तव्यत्वाच्च । पदकारेण तु 'रथिऽतमः' इत्यवगृह्णता 'इन्' प्रत्ययान्तोऽयमिति स्वीक्रियते । **सायणस्तु** छान्दस दीर्घत्वमाह, तच्चिन्त्यम् । दीर्घत्वे सत्यपि **नाद् घस्य** (अ० ८।२।१७) इति नुट्प्राप्तेर्दुर्वारत्वात् । वस्तुतस्तु '**ईद् रथिनः**' वार्त्तिकास्मरणमूलकं सायणस्य छान्दसवचनम्।।

(**रथीनाम्**) अत्रापि पदकाराणां मते रथशब्दाद् इनिरेव । तेषां मते सांहितिकं दीर्घत्वम् । वस्तुतस्त्वत्रापि **छन्दसीवनिपौ** (अ० ५।२।१०९ वा०) इति 'ई' प्रत्ययो द्रष्टव्यः ।।

(**सत्पतिम्**) **पत्यावैश्वर्ये** (अ० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । सत्शब्दः शतृप्रत्ययान्तः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

४. (क) ऋ० १।११।१ भाष्य ईश्वरपरतया श्लेषालङ्कारेण च व्याख्यातोऽयं मन्त्रः ।।

(ख) मन्त्रोऽयं शतपथब्राह्मणे पश्चात् सन्नपि (य० १२।५५) पूर्वस्मान्मंत्रात् पूर्वं व्याख्यातः ।।५६।।

---

† 'वर्धेयुः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । ऋ० १।११।११ भाष्ये 'अत्यन्तं वर्धयन्तु । अत्र लोडर्थे लुङ्' इत्युपलम्भाच्च ।।

§ 'प्रशस्तरथानां' इति तु कपाठः । बहुव्रीहिसमासे स एवार्थः ।।

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।।]

भावार्थः—ये कुमारा याश्च कुमार्य्यो दीर्घेण ब्रह्मचर्य्येण साङ्गोपाङ्गान् वेदानधीत्य स्वप्रसन्नतया स्वयंवरं विवाहं कृत्वैश्वर्य्याय प्रयतेरन्, धर्म्येण व्यवहारेणाव्यभिचारतया सुसन्तानानुत्पाद्य परोपकारे प्रवर्त्तेरंस्त इहामुत्र [च] सुखमश्नुवीरन्, न चेतरेऽविद्वांसः ।।५६।।

कुमार और कुमारियों को इस प्रकार करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! जैसे (विश्वाः) सब (गिरः) वेदविद्या से संस्कार की हुई वाणी (समुद्रव्यचसम्) समुद्र की व्याप्ति के समान व्याप्ति जिसमें हो उन [को तथा] (वाजानाम्) संग्रामों और (रथीनाम्) प्रशंसित रथों वाले वीर पुरुषों में (रथीतमम्) अत्यन्त प्रशंसित रथवाले (सत्पतिम्) सत्य ईश्वर वेद धर्म वा श्रेष्ठ पुरुषों के रक्षक (पतिम्) सब ऐश्वर्य के स्वामी को (अवीवृधन्) बढ़ावें और (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य को बढ़ावें, वैसे सब प्राणियों को बढ़ाओ ।।५६।।

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।]

भावार्थः—जो कुमार और कुमारी दीर्घ ब्रह्मचर्य सेवन से साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़ और अपनी अपनी प्रसन्नता से स्वयंवर विवाह करके, ऐश्वर्य के लिये प्रयत्न करें, धर्मयुक्त व्यवहार से व्यभिचार को छोड़ के सुन्दर सन्तानों को उत्पन्न करके परोपकार करने में प्रयत्न करें, वे इस संसार और परलोक में सुख भोगें, और इनसे विरुद्ध [विद्या से हीन] $जन नहीं ।।५६।।

समितमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ।।

अथ विवाहं कृत्वा कथं वर्त्तितव्यमित्याह ।।

समि॑त॒ꣳ सं॒क॑ल्पेथा॒ꣳ संप्रि॑यौ रोचि॒ष्णू सु॑मन॒स्यमा॑नौ ।
इष॒मूर्ज॑म॒भि सं॒वसा॑नौ ।।५७।।

सम् । इ॒तम् । सम् । क॒ल्पे॒था॒म् । संप्रि॑या॒विति॒ सम्ऽप्रि॑यौ । रो॒चि॒ष्णू॒ऽइति॑ रोचि॒ष्णू । सु॒म॒न॒स्यमा॑ना॒विति॒ सु॒ऽम॒न॒स्यमा॑नौ ।। इष॑म् । ऊर्ज॑म् । अ॒भि । सं॒वसा॑ना॒विति॒ स॒म्ऽवसा॑नौ ।।५७।।

पदार्थः—(सम्) एकीभावम् (इतम्) प्राप्नुतम् (सम्) समानाभिप्राये (कल्पेथाम्) समर्थयताम् (संप्रियौ) परस्परं सम्यक्प्रीतियुक्तौ (रोचिष्णू) विषयासक्तिविरहत्वेन

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सम्प्रियौ) सङ्गतौ प्रियमिति संप्रियौ । तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।।

$ 'विरुद्ध जनों को नहीं हो सकता' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।

देदीप्यमानौ (सुमनस्यमानौ) सुमनसौ सखायौ विद्वांसाविवाचरन्तौ (इषम्) इच्छाम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (*अभि) आभिमुख्ये (संवसानौ) सम्यक्सुवस्त्रालंकारैराच्छादितौ । [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।३८ व्याख्यातः] ।।५७।।

अन्वयः—हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ संवसानौ सन्ताविषं समितमूर्जमभि संकल्पेथाम् ।।५७।।

भावार्थः—यदि स्त्रीपुरुषौ सर्वथा विरोधं विहायान्योन्यस्य प्रियाचरणे रतौ, विद्याविचारयुक्तौ, सुवस्त्रालंकृतौ भूत्वा प्रयतेतां, तदा गृहे कल्याणमारोग्यं [च] वर्धेताम् । यदि च विद्वेषिणौ भवेतां, तदा दुःखसागरे संमग्नौ भवेताम् ।।५७।।

पश्चात् विवाह करके कैसे वर्त्तें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे विवाहित स्त्रीपुरुषो ! तुम (संप्रियौ) आपस में सम्यक् प्रीति वाले, (रोचिष्णू) विषयासक्ति से पृथक् [रहने से] प्रकाशमान, (सुमनस्यमानौ) †मित्र दो विद्वान् पुरुषों के समान वर्त्तमान, (संवसानौ) सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से युक्त हुए, (इषम्) इच्छा को (समितम्) इकट्ठे प्राप्त होओ, और (ऊर्जम्) पराक्रम को (अभि) सन्मुख (संकल्पेथाम्) एक अभिप्राय में समर्पित करो ।।५७।।

भावार्थः—जो स्त्रीपुरुष सर्वथा विरोध को छोड़ के एक दूसरे की प्रीति में तत्पर, विद्या के विचार से युक्त तथा अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण धारण करने वाले हो के प्रयत्न करें, तो घर में कल्याण और आरोग्य बढ़े, और जो परस्पर विरोधी हों, तो दुःखसागर में अवश्य डूबें ।।५७।।

(रोचिष्णू) अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रप० (अ० ३।२।१३६) इति 'इष्णुच्' प्रत्ययः । चित्वादन्तोदात्तः ॥

(सुमनस्यमानौ) सुमनसाविवाचरतः । सुमनस् शब्दात् कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च (अ० ३।१।१२) इति 'क्यङ्' । धातुस्वरः ।।

(संवसानौ) सम्पूर्वाद् वस् धातोः लटः शतृशानचा० (अ० ३।२।१२४) इति 'शानच्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्र शपो लुकि तास्यनुदात्तेन्ङिदद्रुपदेशात्० (अ० ६।१।१८३) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण वकार उदात्तः ।।५७।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

* '(अभि) आभिमुख्ये' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे प्रमादेन त्यक्तः ।।

† 'मित्र विद्वान् पुरुषों के समान' इति अ०मुद्रिते पाठः । 'मित्र दो विद्वान् पुरुषों के समान' इति कगकोशयोः पाठः ।।

सं वामित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुपरिष्टाद् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अध्यापकोपदेशका यावत्सामर्थ्यं तावद् *वेदाध्यापनोपदेशौ कुर्युरित्याह ॥

सं वां मनांᳬसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् ।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं नऽ इषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥५८॥

सम् । वाम् । मनांᳬसि । सम् । व्रता । सम् । ऊँ इत्यूँ । चित्तानि । आ । अकरम् ॥ अग्ने । पुरीष्य । अधिपा इत्यधिऽपाः । भव । त्वम् । नः । इषम् । ऊर्जम् । यजमानाय । धेहि ॥५८॥

पदार्थः—(सम्) एकस्मिन् धर्मे [सङ्गतानि] (वाम्) युवयोः (मनांसि) संकल्पविकल्पाद्या अन्तःकरणवृत्तयः (सम्) (व्रता) सत्यभाषणादीनि (सम्) (उ) †समुच्चये (‡चित्तानि) संज्ञप्तानि धर्म्याणि कर्माणि (आ) समन्तात् (अकरम्) कुर्याम् (अग्ने) उपदेशकाचार्य (पुरीष्य) पुरीषेषु पालकेषु व्यवहारेषु भवस्तत्संबुद्धौ (अधिपाः) अधिकः पालकः (भव) (त्वम्) (नः) अस्माकम् (इषम्) अन्नादिकम् (ऊर्जम्) शरीरात्मबलम् (¹यजमानाय) धर्मेण संगन्तुं शीलाय (धेहि)। [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।३८ व्याख्यातः] ॥५८॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ ! यथाऽहमाचार्यो वां संमनांसि संव्रतो संचित्तान्याकरं, तथा युवां मम प्रियमाचरेतम् । हे $पुरीष्याग्ने ! त्वं नोऽधिपा भव, ∫यजमानायेषमूर्जं च धेहि ॥ ५८ ॥

भावार्थः—उपदेशका यावच्छक्यन्तावत् सर्वेषामेकधर्म्यमेककर्म्यमेकनिष्ठतां‡ तुल्यसुखदुःखे यथा स्यात् तथा शिक्षयेयुः । सर्वे स्त्रीपुरुषा आप्तविद्वांसमेवोपदेष्टारमध्यापकं सेवेरन्, स चैतेषामैश्वर्यपराक्रमवृद्धिं कुर्यात् । नैकधर्मादिभिर्विनाऽस्मसु सौहार्दं जायते, नैतेन विना सततं सुखं च ॥ ५८ ॥

१. पूङ्यजोः शानन् (अ० ३।२।१२८) इति 'शानन्' । स चात्र ताच्छील्ये । छान्दसत्वात् 'चानश्' न भवति ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अधिपाः) अधिपूर्वात् 'पातेः' आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३।२।७४) इति 'विच्' । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥५८॥

* 'वेदाध्ययनोपदेशौ' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'अध्यापनोपदेशौ' इति तु कगकोशयोः पाठः, स च सम्यक् ॥

† 'समुच्चये' इति पदं कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

‡ '(चित्तानि) कर्तुं योग्यानि कर्माणि' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

$ 'पुरीष्याग्ने राजंस्त्वम्' इति कगकोशयोः पाठः ॥

∫ 'यजमानायैव मह्यमिषमिषं च धेहि' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

‡ 'एकनिष्ठाम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

अध्यापक और उपदेशक लोगों को चाहिये कि जितना सामर्थ्य हो उतना ही वेदों को पढ़ावें और उपदेश करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! जैसे मैं आचार्य (वाम्) तुम दोनों के (संमनांसि§§) संकल्प विकल्प आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को (संव्रता) सत्यभाषणादि (उ) और (सम् चित्तानि∫∫) सम्यक् जाने हुए ‡‡कर्मों को एकधर्म में सङ्गत (आ) अच्छे प्रकार (अकरम्) करूं, वैसे तुम दोनों मेरी प्रीति के अनुकूल ‡‡आचरण करो । हे (पुरीष्य) रक्षा के योग्य व्यवहारों में §§§वर्त्तमान (अग्ने) उपदेशक ∫∫∫आचार्य ! (त्वम्) आप (नः) हमारे (अधिपाः) अधिक [=बहुत] रक्षा करने हारे (भव) हूजिये । (यजमानाय) धर्मानुकूल सत्संग के स्वभाव वाले पुरुष वा ऐसी स्त्री के लिये (इषम्) अन्न आदि उत्तम पदार्थ और (ऊर्जम्) शरीर तथा आत्मा के बल को (धेहि) धारण ‡‡‡कराइये ॥५८॥

भावार्थः—उपदेशक मनुष्यों को चाहिये कि जितना सामर्थ्य हो उतना सब मनुष्यों का एक धर्म्म, एक कर्म्म, एक प्रकार की चित्तवृत्ति और बराबर सुख दुःख जैसे हो, ‡‡‡वैसे ही शिक्षा करें। सब स्त्रीपुरुषों को योग्य है कि आप्त विद्वान् ही को उपदेशक और अध्यापक मान के सेवन करें [अर्थात् शिक्षा ग्रहण करें], और उपदेशक वा अध्यापक इन के ऐश्वर्य और पराक्रम को बढ़ावें । §§§सब मनुष्यों के एक धर्म आदि के विना आत्माओं में मित्रता नहीं होती, और मित्रता के विना निरन्तर सुख भी नहीं हो सकता ॥५८॥

अग्ने त्वमित्यस्य मधुछन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

केऽध्यापनोपदेशाय नियोजनीया इत्याह ॥

अग्ने॒ त्वं पु॑री॒ष्यो॑ र॒यि॒मान् पु॒ष्टि॒माँ२ऽ अ॑सि ।
शि॒वाः कृ॒त्वा दिश॒ः सर्वा॒ः स्वं योनि॑मि॒हास॑दः ॥५९॥

अग्ने॑ । त्वम् । पु॒री॒ष्यः॑ । र॒यि॒मानिति॑ रयि॒ऽमान् । पु॒ष्टि॒मानिति॑ पु॒ष्टि॒ऽमान् । अ॒सि॒ ॥ शि॒वाः । कृ॒त्वा । दिशः॑ । सर्वाः॑ । स्वम् । योनि॑म् । इ॒ह । आ । अ॒स॒दः॒ ॥५९॥

पदार्थः—हे (अग्ने) उपदेशक विद्वन् ! (त्वम्) (पुरीष्यः) ऐकमत्यपालनेषु भवः (रयिमान्) विद्याविज्ञानधनयुक्तः (पुष्टिमान्) प्रशस्तशरीरात्मबलसहितः (असि) (शिवाः) कल्याणोपदेशयुक्ताः (कृत्वा) (दिशः) उपदेष्टव्याः प्रजाः (सर्वाः) समग्राः

§§ इतोऽग्रे 'एक धर्म में तथा' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥
∫∫ '(चित्तानि) करने योग्य धर्मयुक्त कर्मों में' इति कगपाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात्॥
‡‡ 'कर्मों में' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥ ‡‡ 'विचारो' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥
§§§ 'हुए' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥ ∫∫∫ 'आचार्य वा राजन् !' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥
‡‡‡ 'कीजिये' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥ ‡‡‡ 'वैसी शिक्षा करें' इति कगकोशयोः पाठः ॥
§§§ 'और सब मनुष्यों' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स च संस्कृतानुसारी ॥

(त्वम्) स्वकीयम् (योनिम्) सुखसाधकं दु:खविच्छेदकमुपदेशम्[1] (इह) अस्मिन् संसारे (आ) (असदः) आस्व । [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।३८ व्याख्यातः] ।।५६।।

अन्वयः—हे अग्ने ! यतस्त्वमिह पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमानसि, तस्मात् सर्वा दिशः शिवाः कृत्वा स्वं योनिमासदः ।। ५६ ।।

भावार्थः—राजप्रजाजनैर्येऽत्र जितेन्द्रिया धार्मिकाः परोपकारप्रिया विद्वांसो भवेयुस्ते प्रजासु धर्मोपदेशाय नियोजनीयाः । उपदेशकाश्च प्रयत्नेन सर्वान् *सुशिक्षयैकधर्मयुक्तान् सततमविरोधिनः [कृत्वा] सुखिनः [च] संपादयेयुः ।। ५६ ।।

किन को पढ़ाने और उपदेश के लिये नियुक्त करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) उपदेशक विद्वन् ! जिस से (त्वम्) आप (इह) इस संसार में (पुरीष्यः) एक मत के पालने में तत्पर (रयिमान्) विद्या विज्ञान और धन से युक्त और (पुष्टिमान्) प्रशंसित शरीर और आत्मा के बल से सहित (असि) हैं, इसलिये (सर्वाः) सब (दिशः) उपदेश के योग्य प्रजा (शिवाः) कल्याणरूपी उपदेश से युक्त (कृत्वा) करके (स्वम्) अपने (योनिम्) सुखदायक दुःखनाशक †उपदेश को (आसदः) प्राप्त हूजिये [अर्थात् उपदेश कीजिये] ।।५६।।

भावार्थः—राजा और प्रजाजनों को चाहिये कि जो जितेन्द्रिय धर्मात्मा परोपकार में प्रीति रखने वाले विद्वान् होवें, उनको प्रजा में धर्मोपदेश के लिये नियुक्त करें, और उपदेशकों को चाहिये कि प्रयत्न के साथ सब को अच्छी शिक्षा से एकधर्म में निरन्तर §विरोध को छुड़ा के सुखी करें ।।५६।।

भवतन्न इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । दम्पती देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।।

पुनः सर्वैर्विद्याप्रदानायाप्ता विद्वांसः प्रार्थनीया इत्याह ।।

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ।।६०।।

१. 'उपदेशम्' इति तु फलितार्थः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(रयिमान्) पूर्वं (य० ३।४०) व्याख्यातः ।।

(पुष्टिमान्) पुषेः क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (अ० ३।३।१७४) इति 'क्तिच्' । चित्त्वादन्तोदात्तः । ततो मतुपि ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६।१।१७३) इति मतुप उदात्तत्वम् ।।

(शिवाः) पूर्वं (य० १।२७) व्याख्यातः ।।५६।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

* 'शिक्षया' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'सुशिक्षया' इति गकोशे पाठः, स च सम्यक् ।।
† 'उपदेश के घर को' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।
§ 'विरोध को छोड़ के' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।

भवतम् । नः । समनसाविति सऽमनसौ । सचेतसाविति सऽचेतसौ । अरेपसौ ॥ मा । यज्ञम् । हिंसिष्टम् । मा । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । जातवेदसाविति जातऽवेदसौ । शिवौ । भवतम् । अद्य । नः ॥६०॥

पदार्थः—(भवतम्) (नः) अस्मभ्यम् (समनसौ) समानविचारौ (सचेतसौ) समानसंज्ञानौ ([1]अरेपसौ) अनपराधिनौ (मा) (यज्ञम्) संगन्तव्यं धर्मम् (हिंसिष्टम्) *हिंस्यातम् (मा) (यज्ञपतिम्) उपदेशेन धर्मरक्षकम् ([2]जातवेदसौ) उत्पन्नाऽखिल-विज्ञानौ (शिवौ) मंगलकारिणौ (भवतम्) (अद्य) (नः) अस्मभ्यम् । [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।३८ व्याख्यातः] ॥ ६० ॥[3]

अन्वयः—हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां नः समनसौ सचेतसावरेपसौ भवतम् । यज्ञं मा हिंसिष्टं, यज्ञपतिं मा हिंसिष्टम् । अद्य नो जातवेदसौ शिवौ भवतम् ॥ ६० ॥[4]

भावार्थः—स्त्रीपुरुषजनैः सत्योपदेशायाध्यापनाय पूर्णविद्याः प्रगल्भाः निष्कपटा आप्ता नित्यं †प्रार्थनीयाः, विद्वांसस्तु सर्वेभ्य एवमुपदिशेयुर्यतः सर्वे धर्माचारिणः स्युः ॥ ६० ॥

फिर सबको चाहिये कि विद्या देने के लिये आप्त विद्वानों की प्रार्थना करें,

इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः–हे विवाह किये हुये [विद्वान्] स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों (नः) हम लोगों के लिये (समनसौ) एक से विचार और (सचेतसौ) एक से बोध वाले (अरेपसौ) अपराध रहित (भवतम्) हूजिये । (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य धर्म को (मा) मत (हिंसिष्टम्) बिगाड़ो, और (यज्ञपतिम्) उपदेश से धर्म के रक्षक पुरुष को (मा) मत मारो । (अद्य) आज (नः) हमारे लिये (जातवेदसौ) सम्पूर्ण विज्ञान को प्राप्त हुये (शिवौ) मङ्गलकारी (भवतम्) हूजिये ॥६०॥

भावार्थः–स्त्रीपुरुषजनों को चाहिये कि सत्य उपदेश और पढ़ाने के लिये सब विद्याओं से युक्त, प्रगल्भ, निष्कपट, [आप्त] धर्मात्मा, सत्यप्रिय [स्त्री] पुरुषों की नित्य प्रार्थना [करें] और उनकी सेवा करे । और विद्वान् लोग [भी] सब के लिये ऐसा उपदेश करें कि जिस से सब धर्माचरण करने वाले हो जावें ॥६०॥

---

१. रपो रिप्रम् इति पापनाम । निरु० ४।२१ ॥

२. सर्वनिघातत्वात् सम्बुद्धौ सन्नपि प्रथमार्थे सम्बुद्धिरिति भावः । अत्र विषये द्र० यजुः १।१ विवरणम् ॥

३. मन्त्रपदानि पूर्वं (य० ५।३) व्याख्यातानि ॥

४. देवतान्वयभेदेन मन्त्रोऽयं पूर्वं (य० ५।३) व्याख्यातः ॥६०॥

---

* 'हिंस्यातम्' इति अ०मुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः ॥

† 'प्रार्थनीयाः संसेवनीयाः' इति ककोशे पाठः ॥

मातेवेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । पत्नी देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

माता किवत् संतानान् पालयतीत्याह ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा ।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्म्मा विमुञ्चतु ॥६१॥

मातेवेति माताऽइव । पुत्रम् । पृथिवी । पुरीष्यम् । अग्निम् । स्वे । योनौ । अभाः । उखा ॥ ताम् । विश्वैः । देवैः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । संविदान इति सम्ऽविदानः । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । विश्वकर्म्मेति विश्वऽकर्मा । वि । मुञ्चतु ॥६१॥

पदार्थः—(मातेव) (पुत्रम्) (पृथिवी) भूमिवद्वर्त्तमाना विदुषी स्त्री (पुरीष्यम्) पुष्टिकरेषु गुणेषु भवम् (अग्निम्) विद्युतमिव सुप्रकाशम् (स्वे) स्वकीये (योनौ) गर्भाशये (अभाः) पुष्णाति धरति वा (उखा[1]) ज्ञातुमर्हा (ताम्) (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) दिव्यैर्गुणैः सह (ऋतुभिः) वसन्ताद्यैः (संविदानः) सम्यग् [2]ज्ञापयन् (प्रजापतिः) परमेश्वरः (विश्वकर्म्मा) *अखिलोत्तमक्रियः (वि) विरुद्धार्थे (मुञ्चतु)। [अयं मन्त्रः श० ७।१।१।४३ व्याख्यातः] ॥ ६१ ॥

अन्वयः—योखा पृथिवी [भूमि]वद्वर्त्तमाना स्त्री स्वे योनौ पुरीष्यमग्निं पुत्रं [3]मातेवाभा धरति, तां संविदानो विश्वकर्मा प्रजापतिर्विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः सह सततं दुःखाद् विमुञ्चतु पृथग् रक्षतु ॥ ६१ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

---

१. 'उख गतौ' (भ्वा० प०) इत्यस्मादत्र कर्मणि प्रत्ययो द्रष्टव्यः ॥

२. अत्रान्तर्गतो ण्यर्थ इति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मातेव) इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।१।४ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे मातृशब्दस्य तृजन्तत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(अभाः) **'डुभृञ् धारणपोषणयोः'** (जु० प०) इत्यस्माल्लुङि प्रथमैकवचने रूपम् । **बहुलं छन्दसि** (अ० ७।३।९७) इति ईडभावः । अनुदात्तत्वादिडभावः । **सिचि वृद्धिः०** (अ० ७।२।१) इति वृद्धिः । **संयोगान्तस्य लोपः** (अ० ८।२।२३) इति तकारलोपः । **रात्सस्य** (अ० ८।२।२४) इति सकारलोपः **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातत्वम् ॥

(उखा) पूर्वत्र (य० ११।५६; १२।१६) व्याख्यातः ॥

(संविदानः) सम्पूर्वाद् वेत्तेः 'शानच्,' शपो लुक् च । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

३. यथा लोके माताऽल्पायुषः पुत्रस्य धारणं पोषणं वा करोति, तथैव गर्भस्यापि रक्षा कार्येत्यभिप्रायः ॥

---

* 'अखिलोत्तमक्रियाः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः यथा जननी सन्तानानुत्पाद्य पालयति, तथैव पृथिवी कारणस्थां[1] विद्युतं प्रकटय्य रक्षति। यथा परमेश्वरो याथातथ्येन पृथिव्यादिगुणान् जानाति प्रतिनियतसमय-मृत्वादीन् पृथिव्यादींश्च धृत्वा स्वस्वनियतपरिधौ चालयित्वा प्रलयसमये भिनत्ति, तथैव विद्वद्भिर्यथाबुद्धि तान् विदित्वा कार्य्यसिद्धये प्रयतितव्यम् ॥ ६१ ॥[2]

माता किसके तुल्य सन्तानों को पालती है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (उखा) जानने योग्य (पृथिवी) भूमि के समान वर्त्तमान विदुषी स्त्री (स्वे) अपने (योनौ) गर्भाशय में (पुरीष्यम्) पुष्टिकारक गुणों में †वर्त्तमान (अग्निम्) बिजुली के तुल्य अच्छे प्रकार से युक्त गर्भरूप (पुत्रम्) पुत्र को (मातेव) माता के समान (अभाः) पुष्ट वा धारण करती है, (ताम्) उस को (संविदानः) सम्यक् बोध ‡कराता हुआ, (विश्वकर्मा) सब उत्तम कर्म §कराने वाला (प्रजापतिः) परमेश्वर (विश्वैः) सब (देवैः) दिव्य गुणों और (ऋतुभिः) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ निरन्तर दुःख से (वि मुञ्चतु) छुड़ावे ॥६१॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे माता सन्तानों को उत्पन्न कर पालती है, वैसे ही पृथिवी कारणरूप [=सूक्ष्म] बिजुली को प्रसिद्ध करके रक्षा करती है। जैसे परमेश्वर ठीक ठीक पृथिवी आदि के गुणों को जानता और ∫नियत समय पर ऋतु आदि और पृथिवी आदि को धारण कर अपनी अपनी नियत परिधि में चला के प्रलय समय में सब को [छिन्न] भिन्न करता है, वैसे विद्वानों को चाहिये कि अपनी बुद्धि के अनुसार इन सब पदार्थों को जान के कार्य्य-सिद्धि के लिये प्रयत्न करें ॥६१॥

---

१. सूक्ष्ममित्यर्थः ॥

२. यथाऽस्य मन्त्रस्य सङ्गतिस्तथा 'यथा पृथिवी कारणस्थां विद्युतं प्रकटय्य रक्षति, तथा जननी सन्तानानुत्पाद्य पालयति' इति भावार्थोऽत्र साधीयान् प्रतिभाति ॥६१॥

---

† 'हुए' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

‡ 'करता हुआ' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ 'करने वाला' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

∫ 'नियत समय पर मरे हुओं और पृथिवी आदि को' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। यहां पाठक देखें कि संस्कृत भावार्थ में '**प्रतिनियतसमयमृत्वादीन् पृथिव्यादींश्च धृत्वा**······' ऐसा पाठ है, जिसका सीधा अनुवाद है—'और नियत समय पर ऋतु आदिकों को तथा पृथिवी आदि को धारण करके······'। भला इस में '**मरे हुए**' यह अनुवाद कहां से आ गया।

सम्भव है अनुवादक ने '**प्रतिसमयम् ऋत्वादीन्**' इस के मिले हुए '**प्रतिसमयमृत्वादीन्**' पाठ में 'मृत्वा' (म्+ऋ=मृ) शब्द देख कर 'मरे हुए' ऐसा अनुवाद कर दिया। जान बूझ कर किया या न जानकर किया, यह भी विचारणीय है। यदि जान कर किया (जो असम्भव नहीं) तो

असुन्वन्तमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

स्त्रियः कीदृशान् पतीन् नेच्छेयुरित्याह ॥

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य ।
अन्यमस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥६२॥

असुन्वन्तम् । अयजमानम् । इच्छ । स्तेनस्य । इत्याम् । अनु । इहि । तस्करस्य ॥ अन्यम् । अस्मत् । इच्छ । सा । ते । इत्या । नमः । देवि । निर्ऋत इति निःऽऋते । तुभ्यम् । अस्तु ॥६२॥

पदार्थः—(असुन्वन्तम्) अभिषवादिक्रियानुष्ठानरहितम् (अयजमानम्) अदातारम् (इच्छ) (स्तेनस्य) अप्रसिद्धचोरस्य (इत्याम्) *एतुमर्हां क्रियाम् (अनु) (इहि) गच्छ (तस्करस्य) प्रसिद्धचोरस्य (अन्यम्) भिन्नम् (अस्मत्) (इच्छ) (सा) (ते) तव (इत्या) एतुमर्हा क्रिया (नमः) अन्नम् (देवि) विदुषी (निर्ऋते) नित्ये सत्याचारे पृथिवीवद्वर्त्तमाने (तुभ्यम्) (अस्तु) भवतु । [अयं मन्त्रः श० ७।२।१।६ व्याख्यातः] ॥६२॥

अन्वयः—हे निर्ऋते देवि ! त्वमस्मत्स्तेनस्य तस्करस्य सम्बन्धिनं विहायान्यमिच्छासुन्वन्तमयजमानं [1]मेच्छ । यामित्यामन्विहि सेत्या तेऽस्तु, नमश्च तस्यै तुभ्यमस्तु ॥६२॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(असुन्वन्तम्) (अयजमानम्) उभयत्र तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(स्तेनस्य) पूर्वत्र (य० १।१) व्याख्यातः ॥

(इत्या) संज्ञायां समजनिषद० (अ० ३।३।९९) इति स्त्रियां 'क्यप्' । स चोदात्तानुवृत्तेरुदात्तः ॥

(तुभ्यम्) चतुर्थ्येकवचने युष्मदः तुभ्यमह्यौ ङयि (अ० ७।२।९५) इति तुभ्यादेशः । ङेप्रथमयोरम् (अ० ७।१।२८) इत्यमादेशः । शेषे लोपः (अ० ७।२।९०) इति टिलोपोऽन्त्यलोपो वा । यदाऽन्त्यलोपः तदा (अमि पूर्वः (अ० ६।१।१०५) इति पूर्वरूपम् । ङयि च (अ० ६।१।२१२) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'मा' इत्यध्याहारः ॥

यह धूर्त्तता की चरमसीमा है । इससे बढ़ कर विश्वासघात क्या हो सकता है ? यदि न जान कर किया, तब यही कहना पड़ेगा कि ये हिन्दी अनुवाद करने वाले पण्डित कहे जाने वाले लोग विजया (भांग) के मद में हिन्दी का अनुवाद करते थे । कम से कम इस वाक्य में तो कोई बड़ी योग्यता का भी काम नहीं था । साधारण संस्कृत जानने वाला भी यथायोग्य पदच्छेद कर सकता हैं । ऋषि के जीवन-काल में संशोधित कापी (प्रेस कापी) बने, और छपे भाग का यह हाल है, तो जो भाग पाण्डुलिपि (रफ कापी) से स्वर्गवास के पीछे छपा, उस का तो परमेश्वर ही रक्षक है । न जाने क्या का क्या किया होगा ? यह अन्वेषणीय है ॥ (सम्पादक)

* 'ज्ञातुमर्हा नीतिः' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः इति ध्येयम् ॥

भावार्थः—हे स्त्रियः ! यूयमपुरुषार्थिनः स्तेनसंबन्धिनः पुरुषान् पतीन् मेच्छत, आप्त-नीतीन् गृह्णीत । यथा पृथिव्यनेकोत्तमफलप्रदानेन जनान् रञ्जयति, तथा भवत । एवं-भूताभ्यो युष्मभ्यं वयं नमः कुर्मः । यथा वयमलसेभ्यः स्तेनेभ्यश्च पृथग् वर्त्तेमहि, तथा यूयमपि वर्त्तध्वम् ।। ६२ ।।

स्त्री लोग कैसे पतियों की इच्छा न करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (निर्ऋते) [नित्य सदाचार में] पृथिवी के तुल्य वर्त्तमान (देवि) विदुषी स्त्री ! तू (अस्मत्) हम से भिन्न (स्तेनस्य) अप्रसिद्ध चोर और (तस्करस्य) प्रसिद्ध चोर के सम्बन्धी को छोड़ के (अन्यम्) भिन्न की (इच्छ) इच्छा कर, और (असुन्वन्तम्) अभिषव आदि क्रियाओं के अनुष्ठान से रहित, (अयजमानम्) दानधर्म से रहित पुरुष की (इच्छ) इच्छा [1]मत कर। और तू जिस (इत्याम्) प्राप्त होने योग्य क्रिया को (अन्विहि†) ढूंढे [=प्राप्त होवे] (सा) वह (इत्या) क्रिया (ते) तेरी हो, तथा उस (तुभ्यम्) तेरे लिये (नमः) अन्न वा सत्कार (अस्तु) होवे ।।६२।।

भावार्थः—हे स्त्रियो ! तुम लोगों को चाहिये कि पुरुषार्थरहित चोरों [और उन] के सम्बन्धी पुरुषों को अपने पति करने की इच्छा न करो, आप्त पुरुषों की नीति के तुल्य नीति वाले पुरुषों को ग्रहण करो। जैसे पृथिवी अनेक उत्तम फलों के दान से मनुष्यों को §प्रसन्न करती है, वैसी होओ। ऐसे गुणों वाली तुम को हम लोग नमस्कार करते हैं। जैसे हम लोग आलसी चोरों के साथ नहीं‡ वर्त्तते, वैसे तुम लोग भी मत वर्त्तो ।।६२।।

नमः सु त इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।।

पुनरेताः कथं भवेयुरित्याह ।।

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽ अधि रोहयैनम् ।।६३।।

नमः । सु । ते । निर्ऋत इति निःऽऋते । तिग्मतेज इति तिग्मऽतेजः । अयस्मयम् । वि । चृत । बन्धम् । एतम् ॥ यमेन । त्वम् । यम्या । संविदानेति समऽविदाना । उत्तम इत्युत्ऽतमे । नाके । अधि । रोहय । एनम् ।।६३।।

---

१. 'मत' इत्यध्याहारः ।।६२।।

---

† '(अन्विहि) प्राप्त हो' इति कपाठः ।।
§ 'संयुक्त करती है' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।
‡ 'न बर्ते' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।

पदार्थः—(नमः) अन्नादिकम् (सु) (ते) तव (निर्ऋते) नितरामृतं सत्यं यस्यां तत्सम्बुद्धौ (तिग्मतेजः) तीव्राणि तेजांसि यस्मात् तत् (अयस्मयम्) सुवर्णादि-प्रकृतम् । अय इति हिरण्यनामसु पठितम् । निघं० १।२ (वि) (चृत) विमुञ्च । द्वयचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (बन्धम्) बध्नाति येन तम् (एतम्) (यमेन) न्यायाधीशेन (त्वम्) (यम्या) न्यायकर्त्र्या (संविदाना) सम्यक्कृतप्रतिज्ञा (उत्तमे) (नाके) आनन्दे भोक्तव्ये *सति (अधि) (रोहय) (एनम्) ।[अयं मन्त्रः श० ७।२।१।१० व्याख्यातः] ।। ६३ ।।

अन्वयः—हे निर्ऋते ! यस्यास्ते तिग्मतेजोऽयस्मयं नमोऽस्ति, सा त्वमेतं बन्धं सुविचृत । यमेन यम्या सह च संविदाना सत्येनं पतिमुत्तमे नाकेऽधिरोहय ।। ६३ ।।

भावार्थः—हे स्त्रियः ! यूयं यथेयं पृथिवी तेजःसुवर्णान्नादिसंबन्धास्ति तथा भवत । यथा युष्माकं पतयो न्यायाधीशा भूत्वा सापराधानपराधिनां सत्यन्यायेन विवेचनं कृत्वा सापराधान् दण्डयन्ति, निरपराधिनः सत्कुर्वन्ति, †युष्माननुत्तमानानन्दान् प्रददति, तथा यूयमपि भवत ।। ६३ ।।

फिर ये स्त्री कैसी हों, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे (निर्ऋते) निरन्तर सत्य आचरणों से युक्त स्त्री ! जिस (ते) तेरे (तिग्मतेजः) तीव्र तेजों वाले (अयस्मयम्) सुवर्णादि और (नमः) अन्नादि पदार्थ हैं, सो (त्वम्) तू (एतम्) इस (बन्धम्) बांधने के हेतु अज्ञान को (सुविचृत§) अच्छे प्रकार [छोड़ दे ।] (यमेन) $न्यायाधीश तथा (यम्या) न्याय करनेहारी स्त्री के साथ (संविदाना)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(तिग्मतेजः) पूर्वं (य० १।२४) व्याख्यातः । इहाष्टमिकेन **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इत्यनेन सर्वनिघातः ।।

(अयस्मयम्) **तत्प्रकृतवचने मयट्** (अ० ५।४।२१) इति 'मयट्' । प्रत्ययस्वरः । प्रकृत-शब्द इह प्राचुर्यवचनः ।।

(बन्धम्) 'बन्ध बन्धने (क्र्या० आ०) अस्माद् **हलश्च** (अ० ३।३।१२१) इति करणे 'घञ्' । **वेगवेदचेष्टबन्धाः करणे** (अ० ६।१। १५७ ग० सू०) इत्युञ्छादिगणसूत्रेणान्तोदात्तः ।।

(यमेन) पूर्वं (य० ९।३५) '**यमनेत्रेभ्यः**' इत्यत्र व्याख्यातः ।।

(यम्या) **पुंयोगादाख्यायाम्** (अ० ४।१। ४८) इति 'ङीष्' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । यणादेशे **उदात्तयणो हल्पूर्वाद्** (अ० ६।१। १७४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।।६३।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

* अत्र 'सति' इत्यनावश्यकः पाठः ।।

† साम्प्रतिकानां मते तु 'युष्मभ्यम्' इति स्यात् ।।

§ '(सुविचृत) संयुक्त कर' इति कपाठः । 'अच्छे प्रकार छेदन कर' इति गपाठः । मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

$ 'न्यायाधीश पुरुष तथा' इति कगकोशयोः पाठः ।।

सम्यक् बुद्धियुक्त होकर (एनम्) इस अपने पति को (उत्तमे) उत्तम (नाके) आनन्द भोगने में (अधिरोहय) आरुढ़ कर ॥६३॥

भावार्थः—हे स्त्रियो ! तुमको चाहिये कि जैसे यह पृथिवी अग्नि सुवर्ण तथा अन्नादि पदार्थों से सम्बन्ध रखती है, वैसे तुम भी होओ। जैसे तुम्हारे पति न्यायाधीश होकर अपराधी और अपराधरहित मनुष्यों का सत्य न्याय से विचार करके अपराधियों को दण्ड देते और अपराधरहितों का सत्कार करते हैं, [और] तुम लोगों के लिये अत्यन्त आनन्द देते हैं, वैसे तुम लोग भी होओ ॥६३॥

यस्यास्त इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। निर्ऋतिर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

कस्मै प्रयोजनाय दम्पती भवेतामित्युपदिश्यते ॥

यस्यास्ते घोरऽआसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय।
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः ॥६४॥

यस्याः। ते। घोरे। आसन्। जुहोमि। एषाम्। बन्धानाम्। अवसर्जनायेत्यवऽसर्जनाय ॥ याम्। त्वा। जनः। भूमिः। इति। प्रमन्दत इति प्रऽमन्दते। निर्ऋतिमिति निःऽऋतिम्। त्वा। अहम्। परि। वेद। विश्वतः ॥६४॥

पदार्थः—(यस्याः) सुव्रतायाः स्त्रियाः (ते) तव (घोरे) भयानके (आसन्) आस्ये मुखे (जुहोमि) ददामि (एषाम्) वर्त्तमानानाम् (बन्धानाम्) दुःखकारकत्वेन निरोधकानाम् (अवसर्जनाय) त्यागाय (याम्) (त्वा) त्वाम् (जनः) (भूमिः) (इति) इव (प्रमन्दते) आनन्दयति (निर्ऋतिम्) भूमिमिव (त्वा) (अहम्) (परि) सर्वतः (वेद) जानीयाम् (विश्वतः) सर्वतः। [अयं मन्त्रः श० ७।२।१।११ व्याख्यातः] ॥ ६४ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(घोरे) घोर शब्दः पूर्वं (य० २।३२) व्याख्यातः। इह तु स्त्रीलिङ्गस्य सम्बुद्धौ आष्टमिकेन **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इत्यनेन निघातः ॥

(आसन्) पूर्वं (य० ६।१४) व्याख्यातः ॥

(अवसर्जनाय) अव पूर्वात् 'सृज विसर्गे' (तु० प०) इत्यस्मात् 'ल्युट्'। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदस्य प्रकृतिस्वरे **लिति** (अ० ६।१।१९०) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥

(प्रमन्दते) **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्०** (अ० ६।१।१८३) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। **उदात्तगतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः। **तिङि चोदात्तवति** (अ० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः ॥

(विश्वतः) 'तसिल्'। लित्स्वरेण प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

अन्वयः—हे घोरे पत्नि ! यस्यास्त आसन्नेषां बन्धानामवसर्जनायामृतात्मकमन्नादिकं जुहोमि, यो जनो भूमिरिति यां त्वा प्रमन्दते, तां *त्वाहं विश्वतो निर्ऋतिमिव परि वेद, सा त्वमित्थं [[1]तं] मां विद्धि ॥ ६४ ॥[2]

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—यथा पतयः स्वानन्दाय स्त्रियो गृह्णन्ति, तथैव [3]तस्मै स्त्रियोऽपि पतीन् गृह्णीयुः । अत्र गृहाश्रमे पतिव्रता स्त्री स्त्रीव्रतः पतिश्च सुखनिधिरिव भवति । क्षेत्रभूता स्त्री बीजरूपः पुमान्, यद्येतयोः शुद्धयोर्बलवतोः समागमेनोत्तमा विविधाः प्रजा जायेरँस्तर्हि सर्वदा भद्रं भवतीति वेद्यम् ॥६४॥

किस प्रयोजन के लिये स्त्रीपुरुष संयुक्त होवें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (घोरे) दुष्टों को भय [भीत] करनेहारी स्त्री ! (यस्याः) जिस सुन्दर नियम युक्त (ते) तेरे (आसन्) मुख में (†एषाम्) इन (बन्धानाम्[4]) दुःख देते हुये रोकने वालों के (अव सर्जनाय) त्याग के लिये अमृतरूप अन्नादि पदार्थों को (जुहोमि) देता हूं, जो (जनः) मनुष्य (भूमिरिति) पृथिवी के समान (याम्§) जिस (त्वा) तुझ को (प्रमन्दते) आनन्दित करता है, उस (त्वा) तुझ को (अहम्) मैं (विश्वतः) सब ओर से (निर्ऋतिम्) पृथिवी के समान (परि) सब प्रकार से (वेद) जानूं, सो तू भी इस प्रकार [उस] मुझ को जान ॥६४॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं ।

भावार्थः—जैसे पति अपने आनन्द के लिये स्त्रियों का ग्रहण करते हैं, वैसे ही स्त्रियां भी पतियों का ग्रहण करें । इस गृहाश्रम में पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति सुख का कोश होता है । खेतरूप स्त्री और बीजरूप पुरुष, जो इन शुद्ध बलवान् दोनों के समागम से उत्तम विविध प्रकार के सन्तान हों, तो सर्वदा कल्याण ही बढ़ता रहता है, ऐसा जानना चाहिये ॥६४॥

---

१. पूर्वं 'यो' इति श्रुतेः 'तम्' इत्यध्याहारोऽत्रानिवार्य इति ध्येयम् ॥
२. अस्पष्टार्थोऽत्रान्वयो भाषापदार्थश्चापि ॥
३. आनन्दायेत्यर्थः ॥
४. 'अर्थात् दुःख देने वाले बन्धनों को' ॥६४॥

---

* 'त्वा' इति पदमन्वये भाषापदार्थे च कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे परिशब्दात्पूर्वमस्थाने प्रवर्द्धितः, अस्माभिरर्थानुरोधाद् यथास्थानं नीतः ॥

† '(एषाम्)' इन वर्त्तमान' इति कगकोशयोः पाठः । मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

§ '(याम्) जिस (त्वा)' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्धितः स्यात् ॥

यं ते देवीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । यजमानो देवता । आर्षी जगती छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

विवाहसमये कीदृशीः प्रतिज्ञाः कुर्य्युरित्याह ॥

यं ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम् ।
तं ते॒ विष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि॒ प्रसू॑तः ।
नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑ ॥६५॥

यम् । ते॒ । दे॒वी । निर्ऋ॑ति॒रिति॒ निःऽऋ॑तिः । आ॒ब॒बन्धेत्या॑ऽब॒बन्ध॑ । पाश॑म् । ग्री॒वासु॑ । अ॒वि॒चृ॒त्यमित्य॑वि॒ऽचृ॒त्यम् ॥ तम् । ते॒ । वि । स्या॒मि॒ । आयु॑षः । न । मध्या॑त् । अथ॑ । ए॒तम् । पि॒तुम् । अ॒द्धि॒ । प्रसू॑त॒ इति॒ प्र॒ऽसू॑तः ॥ नमः॑ । भूत्यै॑ । या । इ॒दम् । च॒कार॑ ॥६५॥

पदार्थः—(यम्) (ते) तव (देवी) दिव्या स्त्री (निर्ऋतिः) पृथिवीव (आबबन्ध) समन्ताद् बध्नामि (पाशम्) धर्म्यं बन्धनम् (ग्रीवासु) कण्ठेषु (अविचृत्यम्) अमोचनीयम् (तम्) (ते) तव (वि) (स्यामि) प्रविशामि (आयुषः) जीवनस्य (न) इव (मध्यात्) (अथ) आनन्तर्ये (एतम्) (पितुम्) अन्नादिकम् (अद्धि) भुङ्क्ष्व (प्रसूतः) उत्पन्नः सन् (नमः) सत्कारे (भूत्यै) ऐश्वर्यकारिकायै (या) (इदम्) प्रत्यक्षं नियमनम् (चकार) कुर्यात् । [अयं मन्त्रः श० ७।२।१।१५ व्याख्यातः] ॥६५॥

अन्वयः—हे पते ! निर्ऋतिरिवाहं ते तव यं ग्रीवास्वविचृत्यं पाशमाबबन्ध, तं ते तवाप्यहं विष्यामि । आयुषोऽन्नस्य न विष्यामि । अथावयोर्मध्यात् कश्चिदपि नियमात् पृथङ् न गच्छेत् । यथाऽहमेतं पितुमद्धि, तथा प्रसूतः सँस्त्वमेनमद्धि । हे स्त्रि ! या [देवी] त्वमिदं पतिव्रताधर्मेण सुसंस्कृतं चकार, तस्यै भूत्यै नमोऽहं करोमि ॥६५॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—विवाहसमये यानव्यभिचाराख्यादीन् नियमान् कुर्य्युस्तेभ्योऽन्यथा कदाचिन्नाचरेयुः । कुतः ? यदा पाणिं गृह्णन्ति यदा पुरुषस्य यावत्स्वं तावत्सर्वं स्त्रियाः, यावत् स्त्रियास्तावदखिलं पुरुषस्यैव भवति । यदि पुरुषो विवाहितां विहायाऽन्यस्त्रीगो भवेत्, स्त्री

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आबबन्ध) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघातप्रतिषेधः । **लिति** (अ० ६।१।१९०) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । **उदात्तगतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८वा०) इति समासः । **तिङि चोदात्तवति** (अ० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः ॥

(पाशम्) पूर्वं (य० १।२५) व्याख्यातः ॥

(ग्रीवासुः) पूर्वं (य० ५।२२) व्याख्यातः ॥

(अविचृत्यम्) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** (परि० वृ० ६५) इति परिभाषया **कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च** (अ० ६।२।१६०) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(मध्यात्) पूर्वं (य० ६।२) व्याख्यातः ॥

(प्रसूतः) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । यद्वा—प्रादिसमासे

च परपुरुषगामिनी स्यात्, तावुभौ स्तेनवत् पापात्मानौ स्याताम् । *अतः स्त्रिया अनुमतिमन्तरा पुरुषः पुरुषाज्ञया च विना स्त्री किञ्चिदपि कर्म न कुर्यात्, इदमेव स्त्रीपुरुषयोः प्रीतिकरं कर्म यदव्यभिचरणमिति ॥६५॥

विवाह समय कैसी कैसी प्रतिज्ञा करें, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—स्त्री कहे कि हे पते ! (निर्ऋतिः) पृथिवी के समान मैं (ते) तेरे (ग्रीवासु) कण्ठों में (अविचृत्यम्) न छोड़ने योग्य (यम्) जिस (पाशम्) धर्मयुक्त बन्धन को (आबबन्ध) अच्छे प्रकार बांधती हूं, (तम्†) उस [बन्धन] में (ते) तेरे लिये भी मैं प्रवेश करती हूं । (आयुषः) अवस्था के साधन अन्न के (न) समान (वि स्यामि) प्रविष्ट होती हूं । (§अथ) इस के पश्चात् (मध्यात्) मैं तू दोनों में से कोई भी नियम से विरुद्ध न चले । जैसे मैं (एतम्) इस (पितुम्) अन्नादि पदार्थ को भोगती हूं, वैसे (प्रसूतः) उत्पन्न हुआ [=अर्थात् प्रसिद्ध] तू इस अन्नादि को (अद्धि) भोग । हे स्त्री ! ($या) जो (देवी) दिव्य गुण वाली तू (इदम्) इस पतिव्रतरूप धर्म से संस्कार किये हुये प्रत्यक्ष नियम को (चकार) करे, उस (भूत्यै) ऐश्वर्य्य करनेहारी तेरे लिये (नमः) अन्नादि पदार्थ को देता हूं ॥६५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—विवाह समय में जिन व्यभिचार के त्याग आदि नियमों को [स्वीकार] करें, उन से विरुद्ध कभी न चलें । क्योंकि पुरुष जब विवाह समय में स्त्री का हाथ ग्रहण करता है, तभी पुरुष का जितना पदार्थ है वह सब स्त्री का, और जितना स्त्री का है वह सब पुरुष का समझा जाता है । जो पुरुष अपनी विवाहित स्त्री को छोड़ अन्य स्त्री के निकट जावे वा स्त्री दूसरे पुरुष की इच्छा करे, तो वे दोनों चोर के समान पापी होते हैं । इसलिये स्त्री की सम्मति के विना पुरुष और पुरुष की आज्ञा के विना स्त्री कुछ भी काम न करे, यही स्त्रीपुरुषों में परस्पर प्रीति बढ़ाने वाला काम है कि जो व्यभिचार को सब समय में त्याग दें ॥६५॥

तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्युदात्तः ॥

(भूत्यै) मन्त्रे वृषेषपचमन० (अ० ३।३।९६) इति 'क्तिन्' । तस्योदात्तत्वं तु सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते (परि० ३६) इति वचनान्न भवति । तदभावे ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९४) इत्याद्युदात्तत्वम् ।

(चकार) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः । लिति (अ० ६।१।१९०) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥६५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'अतो स्त्रिया' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'उस को' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ '(अथ) इसके पश्चात्' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

$ '(या) जो (देवी) दिव्य गुण वाली' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्धितः स्यात् ॥

निवेशन इत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशाः स्त्रीपुरुषा गृहाश्रमं कर्तुं योग्याः सन्तीत्याह ॥

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे शचीभिः ।
देवऽइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥६६॥

निवेशन इति निऽवेशनः । सङ्गमन इति सम्ऽगमनः । वसूनाम् । विश्वा । रूपा । अभि । चष्टे । शचीभिः ॥ देव इवेति देवःऽइव । सविता । सत्यधर्मेति *सत्यऽधर्मा । इन्द्रः । न । तस्थौ । समर इति सम्ऽअरे । पथीनाम् ॥६६॥

पदार्थः—(निवेशनः) यः [1]स्त्रियां निविशते (संगमनः) सम्यग्गन्ता (वसूनाम्) पृथिव्यादीनां पदार्थानाम् (विश्वा) सर्वाणि (रूपा) रूपाणि (अभि) (चष्टे) पश्यति (शचीभिः) प्रज्ञाभिः कर्म्मभिर्वा (देव इव) यथेश्वरः (सविता) सकलजगतः प्रसविता (सत्यधर्मा) सत्यो धर्मो यस्य सः (इन्द्रः) सूर्यः (न) इव (तस्थौ) तिष्ठेत् (समरे) संग्रामे । समर इति [2]संग्रामनामसु पठितम् ॥२।१७ (पथीनाम्) गच्छताम् । [अयं मन्त्रः श० ७।२।१।२० व्याख्यातः] ॥६६॥[3]

---

१. 'स्त्रियाम्' इत्यस्पष्टार्थः । 'यो निविशते हृत्सु' इति वा स्यात् ॥

२. समरः संग्राम इति प्रसिद्धार्थो लोके । यास्क-कौत्सव्यनिघण्ट्वोस्तु संग्रामनामसु समरणे इति पठ्यते ॥

३. अत्र पदार्थान्वयभावार्था व्यस्ताः प्रतीयन्ते, अर्थस्याव्यक्तत्वात् । 'निवेशनः' इत्यस्य पदार्थ उभयत्रास्पष्टः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(निवेशनः) (संगमनः) **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) इति कर्त्तरि 'ल्युट्' । **लिति** (अ० ६।१।१९०) इति प्रत्ययात् पूर्व-मुदात्तः । समासे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सत्यधर्मा) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । सत्यशब्दोऽन्तोदात्तो निपात्यते, इति द्रष्टव्यं पूर्वत्र (य० १।५) ॥

(समरे) सम्पूर्वाद् '**ऋ गतौ**' (भ्वा० जु० प०) इत्यस्मात् **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (अ० ३।२।११८) इत्यधिकरणे 'घः' । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

अमरटीकाकृतस्तु विविधं व्युत्पादयन्ति । यथा — **ऋ गतौ** (क्र्या० प०) **ऋदोरप्** (अ० ३।३।५७) इत्यप् इति **भानुजिदीक्षितः** । अस्मिन् पक्षे **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । 'समियर्ति संघटतेऽस्मिन् समर' इति **क्षीरस्वामी**, कोऽत्र प्रत्यय इति स्पष्टं न लिलेख । **टीकासर्वस्वकारस्तु** 'सह मरेण वर्त्तते समर' इत्युक्तवान् । अस्मिन् पक्षेऽन्तोदात्तत्वं न सिद्ध्यति ॥

(**पथीनाम्**) पथिन् शब्दात् आमि छान्दसत्वात् नुड् भवति, तेन टिलोपाभावः, नामि

---

* 'सत्यधर्मा' इत्यजमेरमुद्रितेऽवग्रहरहितोऽपपाठः ॥

अन्वयः—यः सत्यधर्मा सविता देव इव निवेशनः संगमनः शचीभिर्वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे, इन्द्रो न समरे पथीनां सम्मुखे तस्थौ, स एव गृहाश्रमाय योग्यो जायते ॥६६॥

अत्रोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—†मनुष्यैः यथेश्वरेण मनुष्योपकाराय कारणात् कार्य्याख्या अनेके पदार्था रचिता उपयुज्यन्ते, यथा सूर्यो मेघेन सह युद्धाय वर्त्तते, तथा सृष्टिक्रमविज्ञानेन सुक्रियया च भूम्यादिपदार्थेभ्योऽनेके व्यवहाराः संसाधनीयाः ॥६६॥

कैसे स्त्रीपुरुष गृहाश्रम करने के योग्य होते हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (सत्यधर्मा) सत्यधर्म से युक्त (सविता) सब जगत् के रचने वाले (देव इव) ईश्वर के समान (निवेशनः) [1]स्त्री का साथी, (सङ्गमनः) शीघ्रगति से युक्त, (शचीभिः) बुद्धि वा कर्मों से (वसूनाम्) पृथिवी आदि पदार्थों के (विश्वा) सब (रूपा) रूपों को (अभिचष्टे) देखता है, (इन्द्रः) सूर्य्य के (न) समान (समरे) युद्ध में (पथीनाम्) चलते हुये मनुष्यों के सम्मुख (तस्थौ) स्थित होवे, वही गृहाश्रम के योग्य होता है ॥६६॥

इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं ।

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे ईश्वर ने सब के उपकार के लिये कारण से कार्यरूप अनेक पदार्थ रच के §उपयुक्त बनाये हैं; जैसे सूर्य मेघ के साथ युद्ध करके जगत् का उपकार करता है, वैसे $रचनाक्रम के विज्ञान सुन्दर क्रिया से, पृथिवी आदि पदार्थों से अनेक व्यवहार सिद्ध कर [2]प्रजा को सुख देवें ॥६६॥

सीरा इत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः । कृषीवलाः कवयो [वा] देवताः ।
गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ कृषियोगविद्या आह ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥६७॥

दीर्घत्वं च । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (अ० ८।२।७) इति नलोपः । नामन्यतरस्याम् (अ० ६।१।१७७) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. यथा संस्कृतपदार्थे तथाऽत्रापि 'स्त्री का साथी' इत्यस्पष्टार्थः ॥

२. 'प्रजा को सुख देवें' इस का मूल संस्कृत में नहीं है । भावार्थ से प्रतीत होता है कि मन्त्र का अर्थ पहले किसी अन्य विषय में किया गया होगा, पश्चात् पदार्थ में परिवर्त्तन कर दिया गया, उस से यहां पदार्थ और भावार्थ दोनों अस्पष्ट हो गये ॥६६॥

---

† 'मनुष्याः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥　　§ 'उपयुक्त करे हैं' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

$ 'रचना के क्रम' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

सीरा॑ । युञ्ज॒न्ति॒ । क॒वयः॑ । यु॒गा । वि । त॒न्व॒ते॒ । पृथ॑क् ॥ धीराः॑ । दे॒वेषु॑ । सु॒म्न॒येति॑ सुम्न॒ऽया॥६७॥

पदार्थः—(सीरा) सीराणि हलानि (युञ्जन्ति) युञ्जन्तु (कवयः) मेधाविनः। कविरिति मेधाविनामसु पठितम्। ३।१५ (युगा) युगानि (वि) (तन्वते) विस्तृणन्ति (पृथक्) (धीराः) ध्यानवन्तः (देवेषु) विद्वत्सु (सुम्नया) सुम्नेन सुखेन। अत्र तृतीयैकवचनस्याया[जा]देशः। [अयं मन्त्रः श० ७।२।२।४ व्याख्यातः] ॥६७॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा धीराः कवयः सीरा युगा च युञ्जन्ति, सुम्नया देवेषु 'पृथग्'* वितन्वते, तथा सर्वैरेतदनुष्ठेयम ॥६७॥[२]

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सीरा) शुसिचिमीनां दीर्घश्च (उ० २।२५) इति 'क्रन्'। नित्त्वादाद्युदात्तः। सीराशब्दो नदीवचनोऽन्तोदात्तः, हलवचन आद्युदात्तः इति **माधवः** (द्र० निघ० टीका पृ० १३३)। स च उञ्छादित्वादन्तोदात्तो द्रष्टव्योऽर्थात् सीरा नद्यामित्युपसंख्येयं व्याख्येयं वा। आदित्यवचनः सीरशब्दोऽप्याद्युदात्तः। स च **सीर आदित्यो भवति सरणात् इति निरुक्त**(६।४०) व्युत्पत्त्यनुसारं 'सृ गतौ' इत्यस्माद् द्रष्टव्यः।

अत एव शुनासीरशब्दे **देवताद्वन्द्वे च**(अ० ३।२।१४१) इत्यनेनोभयपदप्रकृतिस्वरेणोभावाद्युदात्तौ भवतः। **देवराजेन सरणात् सीर** इति व्युत्पत्तिं प्रदर्शयता सर्त्तेर्धातोः "कॄपॄशॄकटिपटिशौटिभ्य **ईरन्** (उ० ४।३०) इति बाहुलकाद् 'ईरन्'प्रत्ययो भवति टिलोपश्च" इत्युक्तम्। इयं व्युत्पत्तिर्नदीवचनस्य हलवचनस्य वेति न तेन स्पष्टीकृतं, तथापि नदीवचनस्य व्याख्योपक्रमे वर्णनात् तस्यैवेति प्रतिभाति, तथा च सति ईरन् प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्नोति। तस्माद् यदि सृधातोर्निरुक्तिर्वक्तव्या चेद् **हिंसेरीरन्नीरचौ** (उ० ४।१६) इति 'ईरच्' प्रत्ययो वक्तव्यः। तथा सति चित्त्वाच्चायमन्तोदात्तो भवति॥

(युगा) 'युजिर् योगे' (रु० उ०) इत्यस्माद् युज्यतेऽत्रेत्यधिकरणे घञ्। युगशब्दस्य उञ्छादिगणे पाठादन्तोदात्तत्वं लघूपधगुणाभावश्च। तत्र हि कालविशेषवचनो रथाद्युपकरणवचनो गृह्यते (द्र० का० ६।१।१६०) अन्यत्र तु योग एव भवति। **शेश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।१।७०) इति बहुवचनस्य लुक्॥

(धीराः) पूर्वं (य० १।२८) व्याख्यातः॥

(सुम्नया) सूपपदात् **'म्ना अभ्यासे'** (भ्वा० प०) **आतश्चोपसर्गे**(अ० ३।१।१३६) इति 'कः'। **आतो लोप इटि च**(अ० ६।४।६४) इत्याकारलोपः। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

भोजस्तु— रास्नासास्नासुम्नद्युम्न० (उ० २।२।१८४) इत्यादिसूत्रे सुपूर्वात् 'मा' धातोर्नप्रत्यये निपातयति, निपातनादाकारलोपः। तद्वृत्तिकारो **दण्डनाथस्तु** प्रत्ययस्य डित्त्वमाह। तत्रापि **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ३।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। अत्र सुम्नया पदे **आचार्यपादैः** 'अयाच्' आदेशो विहितः। स **अयाडयाजयारामुपसंख्यानम्** (अ० ७।१।३९ वा०) इति वार्त्तिकेन द्रष्टव्यः॥

सायणस्तु (ऋ० १०।१०१।४) सुम्नशब्दात् क्यचि **अ प्रत्ययात्** (अ० ३।३।१०२) इत्यकारप्रत्ययः. तृतीयाया आकारादेश इत्याह। अत्र पक्षे पदकारैः प्रदर्शितः 'सुम्नऽया' इत्येवमवग्रहः समर्थितो भवति॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

१. 'पृथग् वितन्वते' इत्यस्पष्टोऽभिप्रायः॥

२. अत्र त्वयं मन्त्रः कृषिपरो व्याख्यातः। योग-

* 'पृथग्' इति कगकोशयोर्नास्ति। मुद्रणे संशोधितः स्यात्॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैरिह विद्वच्छिक्षया कृषिकर्मोन्नेयम्, यथा योगिनो नाडीषु परमेश्वरं समाधियोगेनोपकुर्वन्ति, तथैव कृषिकर्मद्वारा सुखोपयोगः कर्त्तव्यः ॥६७॥[1]

अब खेती [तथा योग] करने की विद्या अगले मन्त्र में कही है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (धीराः) ध्यानशील (कवयः) बुद्धिमान् लोग (सीराः) हलों और (युगा) जुआ आदि को (युञ्जन्ति) युक्त करते और (सुम्नया) सुख के साथ (देवेषु) विद्वानों में (†पृथक्) [2]अलग (वितन्वते) विस्तारयुक्त करते [हैं], वैसे सब लोग इस खेती [तथा योग] कर्म का सेवन करें ॥६७॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों की शिक्षा से कृषिकर्म की उन्नति करें। जैसे योगी नाड़ियों में परमेश्वर को समाधियोग से प्राप्त होते हैं, वैसे ही कृषिकर्म द्वारा सुखों को प्राप्त होवें ॥६७॥

युनक्तेत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः। कृषीवलाः कवयो वा देवताः। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीयऽइत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥६८॥

युनक्त। सीरा। वि। युगा। तनुध्वम्। कृते। योनौ। वपत। इह। बीजम् ॥ गिरा। च। श्रुष्टिः। सभरा इति सऽभराः। असत्। नः। नेदीयः। इत्। सृण्यः। पक्वम्। आ। इयात् ॥६८॥

पदार्थः—(युनक्त) युङ्ध्वम्* (सीरा) हलादीनि कृष्युपकरणानि† नाडीर्वा (वि) विविधार्थे (युगा) युगानि उपासनायुक्तानि कर्माणि वा (तनुध्वम्) विस्तृणीत§ (कृते)

परस्तु ऋ० भाष्यभूमिकायां (रा० ला० क० ट्र० सं० पृष्ठ १७९) व्याख्यातः ॥

[1] सङ्गतिभावार्थौ तूभयपरौ द्रष्टव्यौ ॥

[2] 'विभागेन' इति ऋ० भाष्य भूमिकायां पृ० १७९ (रा० ला० क० ट्र०) ॥६७॥

† '(पृथक्) अलग' इति कगकोशयोर्नास्ति। मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

* अत्र 'युग्ध्वम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'उपकारणानि' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। 'उपकरणानि' इति कगकोशयोः पाठः। स च सम्यक् ॥

§ अत्र 'विस्तृणीत' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

हलादिभिः कर्षिते योगाङ्गैर्निष्पादिते (योनौ) क्षेत्रे अन्तःकरणे§ वा (वपत) (इह) अस्यां भूमौ बुद्धौ वा (बीजम्) यवादिकं सिद्धिमूलं वा (गिरा) कृषियोगकर्मोपयुक्तया सुशिक्षितया वाचा (च) स्वसुविचारेण (श्रुष्टिः) शीघ्रम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति । निरु० ६।१२ (सभराः) समानधारणपोषणाः (असत्) अस्तु (नः) अस्मान् (नेदीयः) अतिशयेनान्तिकम् (इत्) एव (सृण्यः) याः क्षेत्रयोगान् गता यवादिजातयः [उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः] (पक्वम्) (आ) (इयात्) प्राप्नुयात् । [अय मन्त्रः श० ७।२।२।५ व्याख्यातः] ॥६८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयमिह साधनानि वितनुध्वं, सीरा युगा युनक्त । कृते योनौ बीजं वपत, गिरा च सभराः श्रुष्टिर्भवत, याः सृण्यः सन्ति ताभ्यो यन्नेदीयोऽसत् पक्वं भवेत् तदिदेव न एयात् ॥६८॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं विद्वद्भ्यः कृषीवलेभ्यश्च कृषियोगकर्मशिक्षां प्राप्यानेकानि साधनानि संपाद्य कृषिं योगं च कुरुत । तस्माद् यद् यत् पक्वं स्यात् तत् तद् गृहीत्वोपभुङ्ग्ध्वं भोजयत वा ॥६८॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(युनक्त) 'युजिर योगे' (रुधा० उ०) इत्यस्मात् लोटि परस्मैपदे मध्यमबहुवचने श्नमि **तप्तनप्तनथनाश्च** (अ० ७।१।४५) इति तबादेशः । स च पित्त्वादनुदात्तः । श्नमः प्रत्ययस्वरः । आगमपक्षे तु धातुस्वरेण 'न' उदात्त इति बोध्यम् । (द्र० य० १२।२७ 'भिनदत्' इत्यस्य व्याकरण-प्रक्रिया) । प्रत्ययादेशस्य पित्त्वात् **श्नसोरल्लोपः** (अ० ६।४। १११) इत्यल्लोपाभावः ॥

(बीजम्) देवराज-क्षीरस्वामि-भानुजि-दीक्षितादयः बीजधातोरचि बवयोरभेदं मत्वा व्युत्पादयान्त (द्र० क्रमशः नि० टि० पृ० १७५, अमरटीका २।५।६२ ॥ अमरटीका २।५।६२) भानुजिदीक्षितस्त्वन्यत्र (अमरटीका १।५।२८) वज गतावित्यस्माद् अचि पृषोदरादित्वादात्वमिति निरवोचत। अमरटीकासर्वस्वकारो विपूर्वाज्जनेर्डप्रत्यये वेर्दीर्घत्वमिति व्याचख्यौ ॥

भोजस्तु 'वियो जक'(स० क० २।२।८६) इति वेतेर्जक् प्रत्ययमाह । सर्वत्र **वृषादीनां च** (अ० ६।१।२००) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(श्रुष्टिः) 'श्रु श्रवणे' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् **'क्तिच्'** षुगागमश्च धातोः । प्रत्ययस्वरश्चित्स्वरो वा । **'श्रुष्टिः प्रेरणार्थः, भावे क्तिच्** इति सायणः' (ऋग्भाष्ये १।४५।२) । निरुक्ते तु **'श्रुष्टीति क्षिप्रनाम आशु अष्टि (निरु० ६।१२)** इत्युक्तम् । तथा सति 'शु' उपपदाद अश्नोतेः'क्तिच्', पूर्वपदे रेफागमश्च ॥

(सभराः) समानो भरः पोषणं येषां ते सभराः । **समानस्य छन्दस्यमूर्द्ध०** (अ० ६। ३।८४) इति 'स' आदेशः । **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(असत्) चवायोगे प्रथमा (अ० ८।१। ५९) इति निघाताभावः । लेटि अट आगमानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(नेदीयः) आतिशायिके ईयसुनि **अन्तिबाढयोर्नेदसाधौ** (अ० ५।३।६३) इत्यन्तिकस्य 'नेद' आदेशः । प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(सृण्यः) पञ्चपाद्यां दशपाद्यां च 'सृणिः' पदं द्विर्व्युत्पाद्यते । प्रथमं **सृवृषिभ्यां कित्**

---

§ 'निष्पादिते' इत्यतोऽग्रे 'अन्तःकरणे वा' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । स च तत्रास्थाने इति कृत्वाऽस्माभिरत्रानीतः ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (इह) इस पृथिवी वा बुद्धि में साधनों को (वितनुध्वम्) विविध प्रकार से विस्तारयुक्त करो; (सीरा) खेती के साधन हल आदि वा नाड़ियों और (युगा) जुआओं [अथवा उपासनायुक्त कर्मों] को (युनक्त) युक्त करो। (कृते) हल आदि से जोते वा योग के अङ्गों से शुद्ध किये (योनौ) खेत वा ∫अन्तःकरण में (बीजम्) यव आदि वा सिद्धि के मूल को (वपत) बोया करो। (गिरा) खेती विषयक [तथा योग] कर्मों की उपयोगी सुशिक्षित वाणी (च) और अच्छे विचार से (सभराः) एक प्रकार के धारण और पोषण में युक्त (श्रुष्टिः) शीघ्र हूजिये, जो (सृण्यः) खेतों में उत्पन्न हुए यव आदि अन्न जाति के पदार्थ [तथा उपासना में युक्तयोग की वृत्तियां] हैं, उन में जो (नेदीयः) अत्यन्त समीप (पक्वम्) पका हुआ [वा दृढ] (असत्) होवे, वह (इत्) ही (नः) हम लोगों को (आ) (इयात्) प्राप्त होवे ॥६८॥[1]

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को उचित है कि विद्वानों से योगाभ्यास और खेती करने हारों से कृषि कर्म की शिक्षा को प्राप्त हो[के] और अनेक साधनों को बना के खेती और योगाभ्यास करो। इस से जो जो अन्नादि पका हो, उस उस का ग्रहण कर भोजन [=उपयोग] करो और दूसरों को कराओ ॥६८॥

❦

शुनमित्यस्य कुमारहारित[2] ऋषिः। कृषीवला देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

शुनꣳ सु फाला वि कृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशाऽ अभि यन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पलाऽ ओषधीः कर्त्तनास्मे ॥६९॥

(प० उ० ४।४६; दश० उ० १।१६), द्वितीयं च जनिदाच्युसृ० (प० उ० ४।१०४; दश० उ० १०।१५)। तत्र द्वितीयसूत्रे श्वेतवनवासी 'सृक्णिः' पदं व्युत्पादयाञ्चकार। एकस्यैव पदस्य समानधातुप्रत्यये पुनर्व्युत्पादनं न किञ्चित्करमिति कृत्वा श्वेतवनवासिव्याख्यैव-युक्ता प्रतिभाति। तत्र च 'क्विन्' प्रत्ययस्य ककारस्य बाहुलकादित्संज्ञाभावो द्रष्टव्यः ॥

'सृणि जस्' इको यणचि (अ०६।१।७६) इति यणादेशः। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति जसः स्वरितत्वम् ॥

(पक्वम्) पचेः क्तप्रत्यये पचो वः (अ० ८।२।५२) इति वकारादेशः प्रत्ययस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. मन्त्रोऽयम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (रा० ला० क० ट्र० सं० पृ० १७९) योगपरो व्याख्यातः। तत्रैव द्रष्टव्यः ॥६८॥

२. कुमारहारितः आयुर्वेदिकसंहितायाः कर्त्ता-इत्यपि ध्येयम् ॥

∫ संस्कृत इव भाषायामपि 'अन्तःकरण' इति पाठोऽस्थाने इति कृत्वाऽत्रानीतोऽस्माभिः ॥

शुनम् । सु । फालाः । वि । कृषन्तु । भूमिम् । शुनम् । कीनाशाः । अभि । यन्तु । वाहैः ॥ शुनासीरा । हविषा । तोशमाना । सुपिप्पला इति सुऽपिप्पलाः । ओषधीः । कर्त्तन । अस्मेऽइत्यस्मे ॥६९॥

पदार्थः—(शुनम्) सुखम् । शुनमिति सुखनामसु पठितम् । निघ० ३।६ (सु) (फालाः) फलन्ति विस्तीर्णां भूमिं कुर्वन्ति यैस्ते (वि) (कृषन्तु) विलिखन्तु (भूमिम्) (शुनम्) सुखम् (कीनाशाः) ये श्रमेण क्लिश्यन्ति ते कृषीवलाः । अत्र क्लिशेरीच्चोपधायाः कन् लोपश्च लो नाम् च । उ० ५।५६ क्लिशधातोः कनि प्रत्यये [लस्य] लोप उपधाया ईत्वं धातोर्नामागमश्च (अभि) (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (वाहैः) वहन्ति यैस्तैर्वृषभादिवाहनैः (शुनासीरा) यथा वायुसूर्यौ । शुनासीरौ शुनो वायुः सरत्यन्तरिक्षे सीर आदित्यः सरणात् । निरु० ६।४० (हविषा) संस्कृतेन घृतादिना संस्कृतौ (तोशमाना) *सन्तुष्टिकरौ । अत्र वर्णव्यत्ययेन शः । विकरणात्मनेपदव्यत्ययौ च (सुपिप्पलाः) शोभनानि पिप्पलानि फलानि यासु ताः (ओषधीः) यवादीन् (कर्त्तन) कुर्वन्तु (अस्मे) अस्मभ्यम् । [अयं मन्त्रः श० ७।२।२।६ व्याख्यातः] ॥६९॥

अन्वयः—ये कीनाशास्ते फाला वाहैः सह वर्त्तमानैर्हलादिभिर्भूमिं विकृषन्तु, शुनमभियन्तु । हविषा तोशमाना शुनासीरेवास्मे सुपिप्पला ओषधीः कर्त्तन, ताभिः सु शुनं च [प्राप्नुयुः] ॥६९॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(शुनम्) 'शुन गतौ' (तुदा० प०) इत्यस्मात् इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३६) इति 'कः' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । गेहे कः (अ० ३।१।१४४) इति 'क' इति देवराजः । तच्चिन्त्यम्, तत्र 'ग्रहः' इत्यनुवर्त्तनात् । यास्कस्तु शु एत्यन्तरिक्षे (निरु० ६।४०) इति निरवोचत् ॥

(फालाः) 'फल निष्पत्तौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद् हलश्च (अ० ३।३।१२१) इति करणे 'घञ्' । उपधावृद्धिः । कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६।१।१५६) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम् । अथर्वणि (३।१७।५) 'सुफाला' इत्येकमन्तोदात्तं पदम् । तच्च थाथघञ्क्ताज० (अ० ६।२।१४४) इत्यनेनान्तोदात्तमिति बोध्यम् ॥

(कीनाशाः) कन्प्रत्यये नित्त्वादाद्युदात्ते प्राप्ते छान्दसत्वान्मध्योदात्तत्वम् ॥

भोजराजस्तु—कनेरी चातः (स०क० २।३।१४५) इत्यादिना 'आशच्' प्रत्यय इत्युक्तवान् । तथा सत्यपि चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते मध्योदात्तत्वं बाहुलकाद् बोध्यम् ॥

(वाहैः) हलश्च (अ० ३।३।१२१) इति करणे 'घञ्' । कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६।१।१५६) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(शुनासीरा) शुनशब्दो व्याख्यातोऽस्मिन्नेव मन्त्रे । सीरशब्दश्च पूर्वं (य० १२।६७) व्याख्यातः । तयोर्द्वन्द्वसमासे देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।३।२६) इति पूर्वपदस्यानङ् आदेशः ।

महीधरस्य पूर्वपददीर्घवचनं चिन्त्यम् । देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२।१४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः । इह तु आमन्त्रितस्य च (अ० ६।१।१९५) इत्याद्युदात्तः ॥

(तोशमाना) 'तुष तुष्टौ' (दि० प०) इत्यस्माद् व्यत्ययेन शानच् शप् च । लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । वर्णव्यत्ययश्चोक्त एव ॥

(सुपिप्पलाः) पूर्वं (य० ६।२) व्याख्यातः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'संतुष्टिकारौ' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

भावार्थः—ये चतुराः †कृषिकरा[1] गोवृषभादीन् संरक्ष्य विचारेण कृषिं कुर्वन्ति तेऽत्यन्तं सुखं लभन्ते । नात्र §क्षेत्रेऽमेध्यं किंचित् प्रक्षेप्यम्, किन्तु बीजान्यपि सुगन्धयादियुक्तानि कृत्वैव वपन्तु, यतोऽन्नान्यारोग्यकराणि भूत्वा बलबुद्धी वर्धयेयुः ॥६९॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (कीनाशाः) परिश्रम से क्लेशभोक्ता खेती करने हारे हैं, वे (फालाः) जिन से पृथिवी को जोतें, उन फालों से (वाहैः) बैल आदि के साथ वर्त्तमान हल आदि से (भूमिम्) पृथिवी को (विकृषन्तु) जोतें, और (शुनम्) सुख को (अभियन्तु) प्राप्त होवें। (हविषा) शुद्ध किये घी आदि से शुद्ध (तोशमाना) सन्तोषकारक (शुनासीरा) वायु और सूर्य्य के समान खेती के साधन (अस्मे) हमारे लिये (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलों से युक्त (ओषधीः) जौ आदि (कर्त्तन) उत्पन्न करें, और उन ओषधियों से (सु$) सुन्दर (शुनम्) सुख भोगें ॥६९॥

भावार्थः—जो चतुर खेती करने हारे गौ और बैल आदि की रक्षा करके विचार के साथ खेती करते हैं, वे अत्यन्त सुख को प्राप्त होते हैं। इन खेतों में विष्ठा आदि मलीन पदार्थ नहीं डालने चाहिये, किन्तु बीज सुगन्धि आदि से युक्त करके ही बोवें कि जिस से अन्न भी रोगरहित उत्पन्न होकर मनुष्यादि ∫के बल और बुद्धि को बढ़ावें ॥६९॥

घृतेनेत्यस्य कुमारहारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व ॥७०॥

घृतेन । सीता । मधुना । सम् । अज्यताम् । विश्वैः । देवैः । अनुमतेत्यनुऽमता । मरुद्भिरिति मरुत्ऽभिः ॥ ऊर्जस्वती । पयसा । पिन्वमाना । अस्मान् । सीते । पयसा । अभि । आ । ववृत्स्व ॥७०॥

1. कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (अ० ३।२।२०) इति 'ट' प्रत्ययः । यस्तु केनचित् कारणविशेषेण कदाचित् कृषिं करोति स कृषिकार इत्येव भवति ॥६९॥

† 'कृषिकाराः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

§ 'क्षेत्रेष्वमेध्यम्' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

$ '(सु) सुन्दर (शुनम्)' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

∫ 'की बुद्धि को बढ़ावें' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'की बल और बुद्धि को' बढ़ावें' इति कगकोशयोः पाठः ॥

पदार्थः—(घृतेन) आज्येन (सीता) साययन्ति क्षेत्रस्थलोष्ठान् क्षयन्ति यया सा काष्ठपट्टिका (मधुना) क्षौद्रेण [1]शर्करादिना वा (सम्) एकीभावे (अज्यताम्) *संयुज्यताम् (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) अन्नादिं कामयमानैर्विद्वद्भिः (अनुमता) अनुज्ञापिता (मरुद्भिः) मनुष्यैः (ऊर्जस्वती) ऊर्ज. पराक्रमसम्बन्धो विद्यते यस्याः सा (पयसा) जलेन दुग्धेन वा (पिन्वमाना) सिक्ता [2]सेविता [वा] (अस्मान्) (सीते[3]) सीता (पयसा) जलेन[4] (अभि) (आ) (ववृत्स्व) वर्त्तिता भवतु । [अयं मन्त्रः श० ७।२।२।१० व्याख्यातः] ।।७०।।

अन्वयः—विश्वैर्देवैर्मरुद्भिर्युष्माभिरनुमता पयसोर्जस्वती पिन्वमाना सीता घृतेन मधुना समज्यताम् । सा सीते सीतास्मान् घृतादिना †संयोक्ष्यतीति पयसाऽभ्याववत्स्व §अभ्यावर्त्तताम् ।।७०।।

भावार्थः—सर्वे विद्वांसः कृषीवला विद्ययानुज्ञाता [5]घृतमधुजलादिना सुसंस्कृतामनुमतां क्षेत्रभूमिमन्नसुसाधिकां कुर्वन्तु, यथा सुगन्धादियुक्तानि बीजानि कृत्वा वपन्ति, तथैव तामपि सुगन्धेन संस्कृतां कुर्वन्तु ।।७०।।

---

१. कृषिकर्मविशेषज्ञा एवात्र प्रमाणं स्युः । वयं त्वित्थमवबुध्यामहे — कानिचिद् बीजानि दुग्धेन, मधुना, घृतेन वा संयुज्योप्यन्ते, तत्र च हलादिना काष्ठपट्टिकया वा सौकर्यं जायेत इति स्यात् ।।

२. **'पिवि सेवने सेचने च'** (भ्वा० प०) ।।

३. व्यत्ययेन प्रथमास्थाने सम्बुद्धिर्द्रष्टव्या ।।

४. निर्बाधं कार्यसम्पादनाय जलेनात्रोपयोगः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सीता) 'षै क्षये' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) इति करणे 'क्तः'। पृषोदरादित्वादीत्वम् । **घुमास्थागापा०** (अ० ६।४।६६) इत्यत्र तु स्यतिरेव गृह्यते इति, न तेन ईत्वप्रसङ्गः । 'भानुजिदीक्षितस्त्वन्यथा निरवोचत् । तद्यथा— 'षिञ् बन्धने क्तः, पृषोदरादिः । स्यति भुवम्, षो अन्तकर्मणि क्तः । **घुमास्था०** (अ० ६।४।६६) इतीत्वम् इति मुकुटः । तन्न, **द्यतिस्यतिमास्था०** (अ० ७।४।४०) इति विशेषविहितेनेत्वेन बाधात्' इति (अमरटीका २।९।१४) । उभयत्र पृषोदरादित्वाद् वृषादित्वाद्वाद्युदात्तत्वम् ।।

(अनुमता) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।।

(ऊर्जस्वती) 'ऊर्जस्' शब्दान्मतुप् । विनिप्रत्ययस्तु **बहुलं छन्दसि** (अ० ५।२।१२२) इति बहुलवचनान्न भवति । स्त्रियां 'ङीप्' । उभौ पित्त्वादनुदात्तौ । तेन प्रातिपदिकस्वरः ।।

(पिन्वमाना) 'पिवि सेवने सेचने च' (भ्वा० प०) अस्माल्लटि 'शानच्' 'शप्' च । **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्०** (अ० ६।१।१८३) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ।।

(ववृत्स्व) 'वृतु वर्तने' (भ्वा० आ०) लोटि मध्यमैकवचने **बहुलं छन्दसि** (अ० २।४।७६) इति 'श्लु'। **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।१९) इति निघातः ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

५. घृतादिभिः संस्कृतानि बीजानि पृथिव्यां सम्यगुत्पद्येरन् इति भावः ।।

---

* **'सम्प्राप्यताम्'** इति ककोशे पाठः । 'संयोज्यताम्' इति गकोशे पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

† अत्र **'संयोत्स्यति'** इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।। § 'अभ्यावर्त्यताम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।।

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—(विश्वैः) सब (देवैः) अन्नादि पदार्थों की इच्छा करने वाले विद्वान् (मरुद्भिः) मनुष्यों की (अनुमता) आज्ञा से प्राप्त हुआ (पयसा) जल वा दुग्ध से (ऊर्जस्वतीः) पराक्रम सम्बन्धी (पिन्वमाना) सींचा वा सेवन किया हुआ (सीता) पटेला (घृतेन) घी तथा (मधुना) सहत वा शक्कर आदि से (समज्यताम्) संयुक्त करो, [वह] (सीते) पटेला (अस्मान्) हम लोगों को घी[1] आदि पदार्थों से संयुक्त करेगा, इस हेतु से (पयसा) जल [वा दूध] से (अभ्यावबृत्स्व) बार बार वर्त्ताओ [=व्यवहार करो] ॥७०॥

भावार्थः—सब विद्वानों को चाहिये कि किसान लोग विद्या के अनुकूल घी मीठा और जल आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथिवी को, अन्न को सिद्ध करने वाली करें। जैसे बीज सुगन्धि आदि युक्त करके बोते हैं, वैसे इस पृथिवी को भी संस्कार युक्त करें ॥७०॥

लाङ्गलमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः। कृषीवला देवताः। विराट् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवꣳ सोमपित्सरु।
तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणम्* ॥७१॥

लाङ्गलम्। पवीरवत्। सुशेवमिति सुऽशेवम्। सोमपित्सर्विति सोमपिऽत्सरु ॥ तत्। उत्। वपति। गाम्। अविम्। प्रफर्व्यमिति प्रऽफर्व्यम्। च। पीवरीम्। प्रस्थावदिति प्रस्थाऽवत्। *रथवाहणम्। रथवाहनमिति रथऽवाहनम् ॥७१॥

पदार्थः—(लाङ्गलम्) सीरापश्चाद्भागे दार्ढ्याय [2]संयोज्यं काष्ठम् (पवीरवत्) प्रशस्तः पवीरः फालो विद्यते यस्मिन् तत् (सुशेवम्) सुष्ठु सुखकरम् (सोमपित्सरु) ये सोमयवाद्योषधीः पालयन्ति तान्त्सरयति [3]कुटिलं गमयति (तत्) (उत्) (वपति)

---

1. कृषि विद्याविशेषज्ञ ही इस विषय में अधिक कह सकते हैं। भूमि में बोने से पहले भिन्न भिन्न बीजों को दूध, शहद और घी से छिड़क कर बोने से वा विशेष पौधों की जड़ों में इन पदार्थों के उपसेक वा सेचन से विशेष लाभ होना सम्भव है, ऐसा यहां प्रतीत होता है ॥७०॥
2. 'संयोज्यम्' इत्यत्र ण्य आवश्यके (अ० ७।३।६५) इति कुत्वाभाव. ॥
3. हलेन सह चक्रेष्विति भावः ॥

---

* अजमेरमुद्रिते मन्त्रे, पदपाठे, पदार्थे, अन्वये, भाषापदार्थे च सर्वत्र 'रथवाहनम्' इत्यपपाठ उपलभ्यते ॥

(गाम्) पृथिवीम् **(अविम्)** रक्षणादिहेतुम् **(प्रफर्व्यम्)** प्रफर्वितुं गमयितुं योग्यम् **(च)** **(पीवरीम्)** यया [1]पाययन्ति तां स्थूलाम् **(प्रस्थावत्**[2]**)** प्रशस्तं प्रस्थानं यस्यास्ति तत् **(रथवाहणम्)** रथं वहति येन तत्। [अयं मन्त्रः श० ७ २।२।११ व्याख्यातः] ॥७१॥

---

१. (क) भोगान् प्रापयन्तीति भावः ॥

(ख) पिबति दुग्धादिकम् इति पीवरः स्थूलः (उ० ३।१) ॥

२. अत्र प्रशंसार्थे मतुप् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(लाङ्गलम्) **लङ्गे र्वृद्धिश्च** (उ० १।१०८) इति 'कल' प्रत्ययः चिच्च। चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्। केचन वृत्तिकाराः सूत्रमिदं न पठन्ति। तेषां मते वृषादित्वात् (उ० १।१०६) कलप्रत्ययो द्रष्टव्यः ॥

(पवीरवत्) पविः— **अच इः** (उ० ४।१३९) इति 'इः'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। तत **ऊषसुषिमुष्कमधो रः** (अ० ५।२।१०७) इत्यादिना विहितो मत्वर्थीयो 'र' एतस्मादपि द्रष्टव्यः। छान्दसत्वाद् दीर्घत्वम्। यद्वा— **कृदिकारादक्तिनः** (अ० ४।१।४५ ग० सू०) इति 'ङीष्'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्। यद्वा—पविशब्दाच्छन्दसि 'रन्' दीर्घत्वञ्चेत्युपसंख्येयम् ॥

भोजस्तु—**कॄशॄशाडीमज्जिकुटिपटिपूङ्भ्य ईरच्** (स० क० २।३।४८) इति 'ईरच्' प्रत्ययमाह। तन्मतेऽप्याद्युदात्तत्वं वृषादित्वादेव ज्ञेयम्। यद्वा — पवतेः **कॄशॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन्** (उ० ४।३०) इति 'ईरन्' प्रत्ययो बाहुलकाद् द्रष्टव्यः। अत्र पक्षे **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अ० ६।१।१९१) इत्येवाद्युदात्तत्वम्। ततो 'मतुप्', तस्य पित्त्वात् स एव स्वरः ॥

(सुशेवम्) पूर्वं (य० ४।१२; १०।२८) व्याख्यातः ॥

(सोमपित्सरुः) सोमं पातीति सोमपिः, **कॄगॄशॄपॄकुटि०** (उ० १।१४३) इत्यादिना विहितः कित् 'इ' प्रत्ययो बाहुलकात् पातेरपि द्रष्टव्यः। ततः **भृमृशीङ्तॄचरि०** (उ० १।७) इत्यादिना त्सरतेरुः प्रत्ययः। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वात् **पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनामुपसंख्यानम्** (अ० ६।२।१०६ भा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। यदा तु बहुव्रीहिसमासः तदा पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं स्पष्टमेव ॥

सायणोवटमहीधराः 'सोमपि' इत्येतत् सोमपाशब्दस्य सप्तम्येकवचने रूपमाहुः। तत्र सप्तम्या अलुक् छान्दस इति 'सायणः' (शत० भा० ७।२।२।११)। **हलदन्तात् सप्तम्याः०** (अ० ६।३।९) इति महीधरः। पक्षान्तरे सोमपि इतीकारान्तमप्याहतुरुवटमहीधरौ ॥

अथर्ववेदे (३।१७।३) 'सोमपित्सरुः' स्थाने 'सोमसत्सरुः' पठ्यते। तत्र सोमोपपदात् सुनोतेश्छान्दसो 'डः' प्रत्ययः। 'त्सरुः' इत्युत्तरपदं पूर्ववत्। अथर्वपदपाठे 'सोमसत्ऽसरुः' इत्येवमवगृह्यते। तद् याजुषपदपाठतुलनया चिन्त्यमिति विस्पष्टमेव। सायणेनापि त्सरुरेवोत्तरपदं तत्र व्याख्यातमिति दिक् ॥

(प्रफर्व्यम्) प्रपूर्वात् **'फर्व गतौ'** (भ्वा० प०) इत्यस्मात् **ऋहलोर्ण्यत्** (अ० ३।१।१२४) इति 'ण्यत्'। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **तित्स्वरितम्** (अ० ६।१।१७९) इत्यन्तस्वरितत्वम् ॥

सायणः— शतपथभाष्ये 'प्रकर्षेण फर्व्या गम्या ताम्, छान्दसो ह्रस्वः' (श० भा० ७।२।२।११) इत्याह। स एवाथर्वभाष्ये (३।१७।३) **'प्रथमवयाः कन्या प्रफर्वी'** इत्याह ॥

महीधरोऽपि—'फर्वति प्रकर्षेण गच्छति प्रफर्वी, ताम् प्रफर्व्यम्, **वा छान्दसि** (अ० ६।१।१०६) इति पूर्वरूपाभावे यणादेशः' ॥

अन्वयः—हे कृषीवलाः ! यूयं यत् सोमपित्सरु पवीरवत्सुशेवं लाङ्गलं प्रफर्व्य प्रस्थावद् रथवाहणं चास्ति, येनाविं पीवरीं गामुद्वपति, तद् यूयं साध्नुत ॥७१॥

भावार्थः—कृषीवलैः स्थूलमृत्स्नामन्नाद्युत्पादनेन रक्षिकां सुपरीक्ष्य हलादिसाधनैः संकृष्य समीकृत्य सुसंस्कृतानि बीजानि समुप्योत्तमानि धान्यान्युत्पाद्य भोक्तव्यानि ॥७१॥

फिर भी उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे किसानो ! तुम लोग, जो (सोमपित्सरु) [पाम और] जो आदि ओषधियों के रक्षकों को [1]टेढ़ा चलावे, (पवीरवत्) प्रशंसित फाल से युक्त, (सुशेवम्) सुन्दर सुखदायक (लाङ्गलम्) फाले के पीछे जो दृढ़ता के लिये काष्ठ लगाया जाता है, वह [च] और (प्रफर्व्यम्) चलाने योग्य, (प्रस्थावत्) प्रशंसित प्रस्थान वाला, (रथवाहणम्) रथ के चलने का साधन है, जिस से (अविम्) रक्षा आदि के हेतु (पीवरीम्) सब पदार्थों को भुगाने का हेतु स्थूल (गाम्) पृथिवी को (उद्वपति) उखाड़ते हैं, (तत्) उस को तुम भी सिद्ध करो ॥७१॥

भावार्थः—किसान लोगों को उचित है कि मोटी मट्टी अन्न आदि की उत्पत्ति से रक्षा करनेहारी पृथिवी की अच्छे प्रकार परीक्षा करके, हल आदि साधनों से जोत, एकसार कर, सुन्दर संस्कार किये †बीज [बो] के उत्तम धान्य उत्पन्न करके भोगें ॥७१॥

(पीवरीम्) अन्तर्णीतण्यर्थात् पिबतेः **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (अ० ३।२।७४) इति 'क्वनिप्'। **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (अ० ६।४।६६) इतीत्वम्। क्वनिपः पित्त्वाद् धातुस्वरः। ततः **वनो र च** (अ० ४।१।७) इति 'ङीप्', नकारस्य च रेफः। ङीपः पित्त्वात् स एव स्वरः ॥

उणादौ (३।१) पीवरशब्दः ष्वरच्प्रत्ययान्तो निपात्यते, षित्त्वात् 'ङीष्'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्ते प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तः ॥

(प्रस्थावत्) प्रपूर्वात् तिष्ठतेः **घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्** (अ० ३।३।५८ भा० वा०) इति 'कः'। **थाथघञ्क्ताजवित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४३) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। ततः स्त्रियां 'टाप्'। एकादेशे स एव स्वरः। ततो 'मतुप्'। तस्य पित्त्वात् स एव स्वरः ॥

यत्तु ऋग्वेदे (८।२०।१) 'प्रऽस्थावानः' पदमाद्युदात्तं श्रूयते, तत्त्वन्यत् पदान्तरमस्मात् पदात् इत्यन्यथावग्रहकरणाद् विज्ञायते। तथाहि स्था धातोः **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (अ० ३।२।७४) इति 'वनिप्'। स्थावा, स्थावानौ, स्थावानः। ततः **कुगतिप्रादयः** (अ० २।२।१८) इति प्रेण प्रादिसमासे प्रस्थावानः। **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(**रथवाहणम्**) **करणाधिकरणयोश्च** (अ० ३।३।११७) इति 'ल्युट्'। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे **लिति** (अ० ६।१।१८७) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. कृषकों को चारों ओर टेढ़ा अर्थात् चक्र में चलावे। हल के साथ साथ कृषक को बराबर सीधा, टेढ़ा, फिर सीधा चलना पड़ता है ॥७१॥

---

† 'बीज के उत्तम धान्य' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। 'बीज बोके उत्तम धान्य' इति कगकोशयोः पाठः, स च संस्कृतानुसारीति ध्येयम् ॥

कामिमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः । मित्रादयो लिङ्गोक्ता देवताः । आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पाचिका स्त्री प्रयत्नेन सुसंस्कृतान्यन्नानि व्यञ्जनानि कुर्यादित्याह ॥

कामं॑ कामदुघे धुक्ष्व मि॒त्राय॒ वरु॑णाय च ।
इन्द्रा॑या॒श्विभ्यां॑ पू॒ष्णे प्र॒जाभ्य॒ऽ ओष॑धीभ्यः ॥७२॥

काम॑म् । का॒म॒दु॒घ॒ इति॑ कामऽदुघे । धु॒क्ष्व॒ । मि॒त्राय॑ । वरु॑णाय च॒ ॥ इन्द्रा॑य । अ॒श्विभ्या॒मित्य॒श्वि-ऽभ्याम् । पू॒ष्णे । प्र॒जाभ्य॒ इति॑ प्र॒जाऽभ्यः॑ । ओष॑धीभ्यः ॥७२॥

पदार्थः—(कामम्) इच्छाम् (कामदुघे) इच्छापूरिके (धुक्ष्व) *पिपूर्हि (मित्राय) सुहृदे (वरुणाय) [1]उत्तमाय विदुषे (च) अतिथये (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययुक्ताय (अश्विभ्याम्) [2]प्राणापानाभ्याम् (पूष्णे) [3]पुष्टिकराय (प्रजाभ्यः) स्वसन्तानेभ्यः (ओषधीभ्यः) सोमयवादिभ्यः । [अयं मन्त्रः श० ७।२।२।१२ व्याख्यातः] ॥७२॥

अन्वयः—हे कामदुघे पाचिके ! त्वं भूमिरिव सुसंस्कृतैरन्नैर्मित्राय वरुणाय चन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य[4] ओषधीभ्यः[4] कामं धुक्ष्व ॥७२॥

भावार्थः—या स्त्री वा पुरुषः पाकं कुर्य्यात्, †सा स च पाकविद्यां सुशिक्ष्य, हृद्यान्यन्नानि निर्माय, संभोज्य, सर्वान् रोगान् दूरीकुर्यात् ॥७२॥

१. 'वृञ् वरणे' इति धात्वर्थवशाद् अध्याहारेण वा 'उत्तमाय' इति विशेषणम् ॥

२. 'कावश्विनौ········प्राणापानौ इत्येके' इति निरु० १२।१ ॥

३. कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (अ० ३।२।२०) इति 'ट' प्रत्ययः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(कामम्) पूर्वं (य० ७।४८) व्याख्यातः ॥

(कामदुघे) दुहः कब्घश्च (अ० ३।३।७०) इति 'कप्' प्रत्ययः । कामान् दोग्धीति कामदुघः । स्त्रियां 'टाप्', कामदुघा, तत्सम्बुद्धौ । कामान् दुहन्ति (यजुर्भाष्य १७।३) यद्वा—क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्' । ततः क्विपि भागुरिमतेन 'आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा' इति 'टाप्' विशेष । उभयत्र गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे कपः पित्त्वात् क्विपः सर्वापहाराच्च—धातुस्वरेण 'दु' उदात्तः । अत्र सम्बुद्धौ आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इति निघात इति विशेषः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

४. उभयत्र निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् (अ० २।३।२७ वा०) इति चतुर्थी, अपादाने पञ्चमी वेत्यत्र विद्वांस एव शरणम् । तत्तच्छब्दयोगे विधीयमाना विभक्तयस्तेषां शब्दानामर्थयोगे (शब्दप्रयोगाभावे) ऽपि भवन्ति । एतच्च वृद्धो यूना (अ० १।२।६५) इति तृतीयानिर्देशाज्ज्ञाप्यते । एवमेवेह यजुर्भाष्येऽपि निमित्तादिशब्दाप्रयोगेऽपि चतुर्थी ज्ञेया ॥

* 'पिपूर्धि' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । अत्र विषये पूर्वं (य० ११।६३, पृ० ६६) उक्तम् । तदपि द्रष्टव्यम् ॥

† 'तां तम्' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

पकानेहारी स्त्री अच्छे यत्न से सुन्दर अन्न और व्यञ्जनों को बनावे,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (कामदुघे) इच्छा को पूर्ण करनेहारी रसोइया स्त्री ! तू पृथिवी के समान सुन्दर संस्कार किये अन्नों से (मित्राय) मित्र (वरुणाय) उत्तम विद्वान् (च) अतिथि अभ्यागत (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य्य से युक्त (अश्विभ्याम्) प्राण अपान (पूष्णे) पुष्टिकारक जन (प्रजाभ्यः) सन्तानों और (ओषधीभ्य) सोमलता आदि [1]ओषधियों से (कामम्) इच्छा को (धुक्ष्व) पूर्ण कर ।। ७२ ।।

भावार्थः—जो स्त्री वा पुरुष भोजन बनावे, उसको चाहिये कि पकाने की विद्या सीख, प्रिय पदार्थ पका और उनका भोजन कराके सब को रोगरहित रक्खें ।। ७२ ।।

विमुच्यध्वमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः । अघ्न्या देवताः । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ।।

मनुष्यैर्गवादिपशुवृद्धिं कृत्वा पयोघृतादीनि वर्द्धयित्वानन्दितव्यमित्याह ।।

विमुच्यध्वमघ्न्या देवयानाऽ अगन्म तमसस्पारमस्य ।
ज्योतिरापाम ।।७३।।

वि । मुच्यध्वम् । अघ्न्याः । देवयाना इति देवऽयानाः । अगन्म । तमसः । पारम् । अस्य ॥ ज्योतिः । आपाम ।।७३।।

पदार्थः—(वि) (मुच्यध्वम्) [2]त्यजत (अघ्न्याः) हन्तुमयोग्या गाः (देवयानाः) याभिर्देवान् दिव्यान् भोगान् प्राप्नुवन्ति ताः (अगन्म) गच्छेम (तमसः) रात्रेः (पारम्) (अस्य) सूर्य्यस्य (ज्योतिः) प्रकाशम् (आपाम) व्याप्नुयाम । [अयं मन्त्रः श० ७।२।२।२१ व्याख्यातः] ।।७३।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा यूयं अघ्न्या देवयानाः प्राप्य सुसंस्कृतान्यन्नानि भुक्त्वा

१. 'सुन्दर संस्कार किये अन्नों से···(ओषधीभ्यः) ओषधियों से' नात्र सुव्यक्तमवबुध्यामहे । '(ओषधीभ्यः) सोमलतादि ओषधियों की प्राप्ति के लिये' इति तु व्यक्ततरं स्यात् ।।७२।।

२. अत्राकर्मकस्य 'त्यज्' धातोः प्रयोगः । 'पृथग् भवत' इत्यर्थः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अघ्न्या) सर्वानुदात्तमिदं पदम् । व्यत्ययेन द्वितीयार्थे । पूर्व (यजुः १।१) व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः ।।

(देवयानाः) पूर्वं (य० ६।१८) व्याख्यातः । इह त्वामन्त्रितत्वादाष्टमिकेन **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इति सूत्रेण सर्वनिघातः ।।

(आपाम) 'आप्लृ व्याप्तौ' (स्वा० प०) लुङि लृदित्वादङ् । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

रोगेभ्यो विमुच्यध्वं, तथा वयमपि [1]विमुच्येमहि । यथा यूयं तमसः पारं प्राप्नुत, तथा वयमप्यगन्म । यथा यूयमस्य ज्योतिर्व्याप्नुत, तथा वयमप्यापाम ॥७३॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्या गवादीन् पशून् कदाचिन्न हन्युर्न घातयेयुश्च । यथा सूर्योदयाद् रात्रिर्निवर्त्तते, तथा वैद्यकशास्त्ररीत्या पथ्यान्यन्नानि संसेव्य रोगेभ्यो निवर्त्तन्ताम् ॥७३॥

मनुष्यों को गौ आदि पशुओं को बढ़ा, उन से दूध घी आदि की वृद्धि कर, आनन्द में रहना चाहिये, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे तुम लोग (अघ्न्याः) रक्षा के योग्य (देवयानाः) दिव्य भोगों की प्राप्ति की हेतु गौओं को प्राप्त हो, सुन्दर संस्कार किये अन्नों का भोजन करके रोगों से (विमुच्यध्वम्) पृथक् रहते हो, वैसे हम लोग भी बचें [=पृथक् रहें] । जैसे तुम लोग (तमसः) रात्रि के (पारम्) पार को प्राप्त होते हो, वैसे हम भी (अगन्म) प्राप्त होवें । जैसे तुम लोग (अस्य) इस सूर्य के (ज्योतिः) प्रकाश को व्याप्त होते हो, वैसे हम भी (*वि आपाम) व्याप्त होवें ॥ ७३ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि गौ आदि पशुओं को कभी न मारें और न मरवावें, तथा न किसी को मारने दें । जैसे सूर्य के उदय से रात्रि [की] निवृत्ति होती है, वैसे वैद्यक-शास्त्र की रीति से पथ्य अन्नादि पदार्थों का सेवन कर रोगों से †बचें ॥ ७३ ॥

सजूरब्द इत्यस्य कुमारहारित ऋषिः । अश्विनौ देवते । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं कृत्वा सुखयितव्यमित्याह ॥

सजूरब्दोऽअयवोभिः सजूरुषाऽअरुणीभिः ।
सजोषसावश्विना दंसोभिः सजूः सूरऽएतशेन सजूर्वैश्वानरऽ
इडया घृतेन स्वाहा ॥७४॥

---

1. दिवादेराकृतिगणत्वादत्र 'मुच्' दिवादिर्द्रष्टव्यः । 'विमुच्यध्वम्' इति कर्त्तरि प्रयोगदर्शनात् छान्दसानुकरणाद्वाऽत्रायं प्रयोगः साधुः स्यात् । यद्वा—कर्मकर्त्तरि प्रयोगोऽयमिति बोध्यम्॥७३॥

---

* '(वि आपाम)' इति कगकोशयोः पाठः । 'वि' इति मुद्रणे गतं स्यात् ॥

† 'बचो' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

सजूरिति सऽजूः । अब्दः । अयवोभिरित्ययवःऽभिः । सजूरिति सऽजूः । उषाः । अरुणीभिः ॥ सजोषसाविति सऽजोषसौ । अश्विना । दंसोभिरिति दंसःऽभिः । सजूरिति सऽजूः । सूरः । एतशेन । सजूरिति सऽजूः । वैश्वानरः । इडया । घृतेन । स्वाहा ॥७४॥

पदार्थः—(सजूः) संयुक्तः (अब्दः) संवत्सरः (अयवोभिः) मिश्रितामिश्रितैर[भि]न्नः क्षणादिभिः कालावयवैः (सजूः) सहवर्त्तमाना* (उषाः) प्रभातः, (अरुणीभिः) रक्तप्रभाभिः (सजोषसौ) समानसेवनौ (अश्विना) प्राणापानाविव† दम्पती (दंसोभिः) [1]कर्मभिः (सजूः) सहितः (सूरः) सूर्य्यः (एतशेन) अश्वेनेव व्याप्तिशीलेन वेगवता किरणनिमित्तेन वायुना। एतश इत्यश्वनामसु पठितम् । निघं० १।१४ (सजूः) §संयुक्तः (वैश्वानरः) विद्युदग्निः (इडया) [2]अन्नादिनिमित्तरूपया पृथिव्या (घृतेन) जलेन$ (स्वाहा) सत्येन वागिन्द्रियेण । [अयं मन्त्रः श० ७।२।३।८ व्याख्यातः] ॥७४॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! वयं सर्वे स्त्रीपुरुषा यथाऽयवोभिः सजूरब्दोऽरुणोभिः सजूरुषा दंसोभिः सजोषसावश्विनेव एतशेनेव सजूः सूर इडया घृतेन स्वाहा सजूर्वैश्वानरश्च वर्त्तते, तथैव प्रीत्या वर्त्तेमहि ॥७४॥

भावार्थः—मनुष्येषु यावत् परस्परं सौहार्दं तावदेव सुखम्, यावद् दौहार्दं तावदेव दुःखं च जायते, तस्मात् सर्वैः स्त्रीपुरुषैः परोपकारक्रियया सहैव सदा वर्तितव्यम् ॥७४॥

---

१. दंस इति कर्मनाम (निघ० २।१) ॥

२. 'अन्नादिनिमित्तरूपया' इति तु विशेषणमात्रम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सजूः) पूर्वं (य० ३।१०) व्याख्यातः ॥

(अब्दः) अव रक्षणादिषु, तस्माद् अब्दादयश्च (उ० ४।९८) इति 'दन्' बकारादेशश्च । प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

'आप्लृ व्याप्तौ' इत्यस्मादयं शब्द इति नारायणदशपादीवृत्तिकारौ । 'अद् भक्षणे' इत्यस्माद् 'दन्' इति श्वेतवनवासी । अपो ददातीति व्युत्पत्त्यन्तरम् (दया० भा० ऋ० ५।५४। ३)। अत्राह श्वेतवनवासी 'अपो ददातीति व्युत्पत्त्या रूपमेव सेत्स्यति स्वरो न सिध्यति द[न्] प्रत्ययान्तत्वादब्दशब्दस्य । किञ्च अवग्रहे दोषः स्यात्' इति । तन्न, दासीभारादीनाम् (अ० ६।२।४२) आकृतिगणत्वाद् ओषधीशब्दवत् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं भविष्यति । अवग्रहोऽपि न दोषाय । उक्तं हि भगवता पतञ्जलिना—'न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम्' (महा० ३।१। १०९) इति । सोपपत्तिको विस्तरस्तु विवरणे पृ० ९५-९६ द्रष्टव्यः ॥

(अयवोभिः) 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' (अदा० प०) इत्यस्माद् 'असुन्' । ततो नञ्समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

अत्र भाष्ये अयवोभिः मिश्रितामिश्रितैरित्युक्तम् । तद् यदा यौतिरमिश्रणार्थस्तदा तद्विरोधिनञ्विशिष्टो मिश्रितार्थः, यदा च यौतिर्मिश्रितार्थस्तदा तद्विरोधिनञ्विशिष्टोऽमिश्रितार्थः, इत्युभयोरर्थयोः सङ्गतिर्द्रष्टव्या ॥

(उषाः) पूर्वं (य० ३।१०) व्याख्यातः ॥

---

* 'वर्त्तमानाः (उषा)' इति त्वजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'इव दम्पती' इति गकोशे प्रवर्द्धितपाठः ॥

§ 'सह वर्त्तमानः' इति कपाठः ॥

$ 'उदकेन, घृतमित्युदकनाम० निघ० १।१२' इति कपाठः, गकोशे संशोधितः स्यात् ॥

मनुष्यों को किस प्रकार परस्पर सुखी होना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! हम सब लोग स्त्री पुरुष जैसे (अयवोभिः) [मिश्रितामिश्रित] एकरस क्षणादि काल के अवयवों से (सजूः) संयुक्त (अब्दः) वर्ष, (अरुणीभिः) लाल कान्तियों के (सजूः) साथ वर्त्तमान (उषाः) प्रभात समय, (दंसोभिः) कर्मों से (∫सजोषसौ) एकसा वर्त्ताव वाले (अश्विना) प्राण और अपान के समान स्त्री पुरुष [1]वा, (एतशेन) चलते घोड़े के समान व्याप्तिशील वेगवाले किरणनिमित्त पवन के (सजूः) साथ वर्त्तमान (सूरः) सूर्य (इडया) अन्न आदि का निमित्तरूप पृथिवी वा (घृतेन) जल से (स्वाहा) सत्य वाणी के (सजूः) साथ‡ (वैश्वानरः) बिजुलीरूप अग्नि वर्त्तमान है, वैसे ही प्रीति से वर्त्तें ॥ ७४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों में जितनी परस्पर मित्रता हो उतना ही सुख, और जितना विरोध उतना ही दुःख होता है । ‡उस से सब लोग स्त्रीपुरुष परस्पर [2]उपकार करने के साथ ही सदा वर्त्तें ॥ ७४ ॥

❧

या ओषधीरित्यस्य भिषगृषिः । वैद्यो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः । स्वरः ॥

मनुष्यैरवश्यमौषधसेवनं कृत्वाऽरोगैर्वर्तितव्यमित्याह ॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च ॥७५॥

(अरुणीभिः) अर्त्तोर्धातोः **अर्त्तेश्च** (उ० ३।६०) इत्युनन्, चिच्च । चित्त्वादन्तोदात्तो-ऽरुणशब्दः । स्त्रीलिङ्गवाची अरुणीशब्दो द्विधा-उपलभ्यतेऽन्तोदात्त आद्युदात्तश्च । तत्रान्तो-दात्तः **अन्यतो ङीष्** (अ० ४।१।४०) इति ङीष्-प्रत्ययान्तः । आद्युदात्ते तु शार्ङ्गरवादित्वाद् 'ङीन्' वक्तव्यः । तस्य च नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(दंसोभिः) 'दसि दंसनदर्शनयोः' (चु० आ०) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्य-सुन् । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(सूरः) **सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्** (उ० २।२४) इति 'क्रन्' । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(एतशेन) पूर्वं (य० ४।३२) व्याख्यातः ॥

(इडया) पूर्वं (य० १२।५१) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'वा' इत्ययं शब्दः संस्कृते नास्तीति बोध्यम् ॥

२. 'उस से सब स्त्रीपुरुष उपकार लेवें, सदा वर्त्तें (तत्पर रहें)' इत्यनुवादोऽत्र शोभनतरः स्यात् ॥७४॥

∫ '(सजोषसौ)……(सजूः)' इत्येतस्य पाठस्य स्थाने ककोशे इत्थं पाठ उपलभ्यते—'(सजोषसौ) एक प्रकार सेवनशील (अश्विनौ) प्राण और अपान (एतशेन) वेगयुक्त व्यापनशील किरणों के निमित्त वायु के (सजूः) । स च गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

‡ 'साथ वर्त्तमान' इति कपाठः ॥

‡ 'इसलिये' इति कपाठः ॥

याः । ओष॑धीः । पूर्वाः॑ । जा॒ताः । दे॒वेभ्यः॑ । त्रि॒यु॒गमिति॑ त्रिऽयु॒गम् । पु॒रा ॥ मनै॑ । नु । ब॒भ्रूणा॑म् । अ॒हम् । श॒तम् । धामा॑नि । स॒प्त । च॒ ॥७५॥

पदार्थः—(याः) (ओषधीः) सोमाद्याः (पूर्वाः) (जाताः) प्रसिद्धाः (देवेभ्यः) पृथिव्यादिभ्यः (त्रियुगम्) [1]वर्षत्रयम (पुरा) (मनै) मन्यै । अत्र विकरणव्यत्ययेन शप् (नु) शीघ्रम् (बभ्रूणाम्) भरणानां धारकाणां [2]रोगिणाम् (अहम्) (शतम्) *शतसंख्याकानि (धामानि) मर्मस्थानानि[3] (सप्त) (च) ॥७५॥

अन्वयः—अहं या ओषधीर्देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा पूर्वा जाता या बभ्रूणां शतं सप्त च धामानि मर्माणि व्याप्नुवन्ति, ता नु मनै शीघ्रं जानीयाम् ॥७५॥

भावार्थः—मनुष्या याः पृथिव्यामप्सु चौषधयो जायन्ते, गतत्रिवर्षा भवेयुस्ताः संगृह्य, [4]यथावैद्यकशास्त्रविधि [5]संसेवन्ते । ता भुक्ताः सत्यः सर्वाणि मर्माण्यभिव्याप्य, रोगान्निवार्य, शरीरसुखानि सद्यो जनयन्तु ॥७५॥

मनुष्यों को अवश्य ओषधी सेवन कर, रोगों से बचना चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (याः) जो (ओषधीः) सोमलता आदि ओषधी ([6] देवेभ्यः) पृथिवी आदि [में] से (त्रियुगम्) तीन वर्ष (पुरा) पहिले (पूर्वाः) पूर्ण सुख दान में

---

१. 'त्रिषु युगेषु वसन्ते प्रावृषि शरदि चेत्यर्थः' इति 'सायणः' ऋ० १०।९७।१ भाष्ये । 'वसन्ते प्रावृषि शरदि' इति शत ७।२।४।२६ ॥

२. 'रोगिणाम्' इति त्वध्याहारः ॥

३. सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणां तेष्वेनां दधतीति । निरु० ६।२९ ॥ सप्तशतं सप्ताधिकशतमित्यर्थः । तदुक्तम्—सप्तोत्तरं मर्मशतम् । चरकसंहिता शारीर० अ० ७।१३ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(त्रियुगम्) त्रयाणां युगानां समाहारः त्रियुगम् । समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तः । पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः (अ० २।४।१७ वा०) इति वार्त्तिकेन स्त्रीत्वाभावः ॥

(मनै) 'मन ज्ञाने' (दि० आ०) व्यत्ययेन 'शप्' । तास्यनुदात्तेङ्ङिददुपदेशात्० (अ० ६।१।१८०) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(बभ्रूणाम्) भृञ् भरणे (भ्वा० उ०), डुभृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०) आभ्यां कुर्भ्रश्च (उ० १।२२) इति 'कुः' प्रत्ययो द्वित्वं च । अत्र निदिति निवृत्तम् (द० उ० वृ० १।१०७) इतिप्रत्ययस्वरेणान्तोदातो बभ्रु-शब्दः ॥

(धामानि) पूर्व (य० १।३१) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

४. अव्ययीभावसमासोऽयम् ॥

५. भाषायां 'सेवन करें' इति दर्शनाद् अत्रापि संसेवन्ताम्' इत्येव पाठः साधीयान् स्यात् ॥

६. 'देवेभ्यः' इत्यपादाने पञ्चमी ॥

---

* 'अनेकानि' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । 'शतसंख्यकानि' इत्येव पाठः सम्यक्, सप्तोत्तरशतस्य उक्तपरिमाणस्य विवक्षितत्वात् ॥

उत्तम (जाताः) प्रसिद्ध हुई, जो (बभ्रूणाम्) धारण करने हारे रोगियों के (शतम्) सौ (च) और ([1] सप्त) सात (धामानि) जन्म वा नाड़ियों के मर्मों में व्याप्त होती है, उन को (नु) शीघ्र (मन्वे) जानूं ॥ ७५ ॥[2]

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो पृथिवी और जल में ओषधी उत्पन्न होती हैं, उन तीन वर्ष के पीछे ठीक-ठीक पकी हुई को ग्रहण कर वैद्यकशास्त्र के अनुकूल विधान से सेवन करें। सेवन की हुई वे ओषधी शरीर के सब अंशों में व्याप्त हो के शरीर के रोगों को छुड़ा सुखों को शीघ्र [उत्पन्न] करती हैं[3] ॥ ७५ ॥

शतं व इत्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्याः किं कृत्वा किं साधयेयुरित्याह ॥

शतं वोऽ अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽ अगदं कृत ॥७६॥

शतम् । वः । अम्ब । धामानि । सहस्रम् । उत । वः । रुहः ॥ अध । शतक्रत्व इति शतऽक्रत्वः । यूयम् । इमम् । मे । अगदम् । कृत ॥७६॥

पदार्थः—(शतम्) (वः) युष्माकम् (अम्ब) मातः (धामानि) मर्मस्थानानि (सहस्रम्) असंख्याः (उत) अपि (वः) युष्माकम् (रुहः) नाड्यङ्कुराः (अधा) अथ, अत्र निपातस्य च [अ० ६।३।१३६] इति दीर्घः (शतक्रत्वः) शतं क्रतवः प्रज्ञाः क्रिया येषां तत्सम्बुद्धौ (यूयम्) (इमम्) देहम (मे) मम (अगदम्) रोगरहितम् (कृत) कुरुत, अत्र विकरणलुक् । [अयं मन्त्रः श० ७।२।४।२७ व्याख्यातः] ॥७६॥

१. 'सप्तोत्तरशत (१०७) नाडीनां वर्णनम्' इत्यपि भावार्थो ज्ञेयः । कठोपनिषदि (६।१६)—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः......' इत्यत्रैकोत्तरशतनाडीनां वर्णनम्, अत्र षड् अन्याश्चन परिगणनीयाः ॥

२. मन्त्रोऽयं यास्केन निरु० ९।२८ व्याख्यातः ॥

३. 'जनयन्तु' इति संस्कृते, अतोऽत्रापि 'करती हैं' इति स्थाने 'करें' इति स्यात् । वस्तुतस्तु 'जनयन्तु' इति जननसमर्था भवन्त्वित्यर्थः ॥७५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अम्ब) 'अबि शब्दे' (भ्वा० आ०) **गुरोश्च हलः** (अ० ३।३।१०३) इति 'अ' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरः, ततष्टाप् । एकादेशे **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्युदात्तः । **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (अ० ७।३।१०७) इति सम्बुद्धौ ह्रस्वः । **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इति निघातः ॥

(रुहः) रोहन्तीति रुहः । **क्विप् च** (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्' । धातुस्वरः ॥

(शतक्रत्वः) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । शतशब्दोऽन्तोदात्तः (द्र० १।३) । सम्बोधनस्य बहुवचने **जसादिषु छन्दसि वा वचनम्** (अ० ७।३।१०९ वा०) इति गुणाभावे यणादेशः ।

अन्वयः—हे शतक्रत्वः ! यूयं यासां शतमुत सहस्रं रुहः सन्ति, ताभिर्मे ममेमं देहमगदं कृत। अथ स्वयं वो देहानगदान् कुरुत। यानि वोऽसंख्यानि धामानि तानि प्राप्नुत। हे [1]अम्ब ! त्वमप्येवमाचर* ॥७६॥

भावार्थः—मनुष्याणामिदमादिमं कर्त्तव्यं कर्म्मास्ति, यदोषधिसेवनं पथ्याचरणं सुनियमव्यवहरणं च कृत्वा शरीरारोग्यसंपादनम्। नह्येतेन विना धर्मार्थकाममोक्षाणामनुष्ठानं कर्त्तुं कश्चिदपि शक्नोति[2] ॥७६॥

मनुष्य क्या करके किस को सिद्ध करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (शतक्रत्वः) सैकड़ों प्रकार की बुद्धि वा क्रियाओं से युक्त मनुष्यो ! (यूयम्) तुम लोग जिन के (शतम्) सैकड़ों (उत) वा (सहस्रम्) हजारहों (रुहः) नाड़ियों के अंकुर हैं, उन [3]ओषधियों से (मे) मेरे (इमम्) इस शरीर को (अगदम्) नीरोग (कृत) करो। (अध) इसके पश्चात् (वः) आप अपने शरीरों को भी रोगरहित करो। जो (वः) तुम्हारे असंख्या† (धामानि) मर्म्मस्थान हैं, उनको प्राप्त होओ। हे (अम्ब) माता ! तू भी ऐसा ही आचरण कर ॥ ७६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब से पहिले ओषधियों का सेवन, पथ्य का आचरण, और नियमपूर्वक व्यवहार करके शरीर को रोगरहित कर। क्योंकि इसके विना धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान करने को कोई भी समर्थ नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

आष्टमिकेन **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इति निघातः ॥

(**अगदम्**) गदतेः पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३।३।११८) इति 'घः', गदः। न विद्यते गदो रोगो यस्मिन् सः अगदः, तम्। **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७१) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

१. 'हे अम्ब' इति पृथक्त्वेन 'अम्ब' शब्दस्यान्वयः प्रदर्श्यते, पूर्वत्र बहुवचनयुक्तस्य संबोधनस्य निर्देशात् ॥

२. तथा चोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥
चरकसंहिता, सूत्रस्थान अ० १।१४,१५ ॥

३. सामर्थ्यादत्र 'ओषधियों से' इत्यध्याहृतमिति बोध्यम् ॥७६॥

---

* 'आचरत' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते। पूर्वं 'त्वम्' इत्यनेन सह सम्बन्धदर्शनाद् 'आचर' इति सम्यगस्ति। ककोशे 'आचर' इत्येवं पाठः उपलभ्यतेऽपि ॥

† 'असंख्य' इति इति कगकोशयोर्नास्ति, प्रथमसंस्करणे च नास्ति। द्वितीयसंस्करणे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

ओषधीरित्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

*कीदृशा ओषधयः सेव्या इत्याह ॥

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥७७॥

ओषधीः । प्रति । मोदध्वम् । पुष्पवतीरिति पुष्पऽवतीः । प्रसूवरीरिति प्रऽसूवरीः ॥ अश्वाऽइवेत्यश्वाःऽइव । सजित्वरीरिति सऽजित्वरीः । वीरुधः । पारयिष्ण्वः ॥७७॥

पदार्थः—(ओषधीः) सोमादीन् (प्रति) (मोदध्वम्) आनन्दयत ([1]पुष्पवतीः) प्रशस्तानि पुष्पाणि यासां ताः (प्रसूवरीः) [2]सुखप्रसाविकाः (अश्वा इव) यथा तुरङ्गाः (सजित्वरी) शरीरैः सह संयुक्ता रोगान् जेतुं शीलाः (वीरुधः) सोमादीन् (पारयिष्ण्वः) †रोगजदुःखेभ्यः पारं नेतुं समर्थाः ॥ ७७ ॥[3]

१. प्रशंसार्थे 'मतुप्' ॥

२. कर्त्तरि च (अ० २।२।१६) इति प्रतिषिद्धे कथमत्र समास इति चेत् तत्प्रयोजको हेतुश्च (अ० १।४।५५) इति पाणिनेर्ज्ञापकाद् इति ब्रूमः ॥

३. यजुः १२।७७ मन्त्रमारभ्या १०१ एकशततम-पर्यन्तानां मन्त्राणां व्याख्यानं शतपथे (७।२।४।२७) 'ता एता एकव्याख्यानाः' इति वाक्येनैव प्रदर्शितम् । अतोऽग्रे १०१ मन्त्रपर्यन्तं तत्र तत्र 'अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः' इति नोच्यते इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुष्पवतीः) 'पुष्प विकसने' (दि० प०) भावे 'घञ्'। ञित्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा—कर्त्तरि 'अच्' प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते **वृषादीनां च** (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

यत्तु अथर्ववेदे (८।७।६) 'पुष्पां मधुमतीमिह' इत्यत्रान्तोदात्तः पुष्पशब्दः पठ्यते (शङ्कर पाण्डुरङ्गसम्पादिते सायणभाष्ये), स चिन्त्यः, स्वरविरोधात् प्रकरणविरोधाच्च । ह्विटनीसम्पादिते लिण्डिनोपरिष्कृते च द्वितीयसंस्करणे 'पुष्पां' इत्येवं पाठः स्वीकृतः, स युक्ततरः प्रकरणानुरूपत्वात् ॥

ततः पुष्पशब्दाद् 'मतुप्' । तस्य पित्त्वात् स एव स्वरः । ततः स्त्रियाम् **उगितश्च** (अ० ४।१।६) इति 'ङीप्' । तस्यापि पित्त्वात् स एव स्वरः ॥

(प्रसूवरीः) प्रपूर्वात् '**षूङ् प्राणिगर्भविमोचने**' (अदा० आ०) इत्यस्माद् **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (अ० ३।२।७५) इति 'वनिप्' । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्य पित्त्वेनानुदात्तत्वे धातुस्वरः । ततः स्त्रियां **वनो र च** (अ०४।१।७) इति 'ङीप्', नकारस्य च रेफः ॥

(अश्वाइव) इवेन सह समासो विभक्त्य-

* साम्प्रतिकानां मते 'कीदृश्यः' इति स्यात् । ओषो धीयतेऽस्मिन्नित्यर्थे उर्दाबरिव ओषधिशब्दः पुंलिङ्गोऽपि स्यात् ॥

† 'रोगज' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयमश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः पुष्पवतीः प्रसूवरीरोषधीः संसेव्य प्रतिमोदध्वम् ।। ७७ ।।

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथाऽश्वारूढा वीराः शत्रून् जित्वा विजयं प्राप्याऽऽनन्दन्ति, तथा सदौषधसेविनः पथ्यकारिणो जितेन्द्रिया जना आरोग्यमवाप्य नित्यं मोदन्ते ।। ७७ ।।

कैसी ओषधियों का सेवन करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (अश्वा इव) घोड़ों के समान, (सजित्वरीः) शरीरों के साथ संयुक्त [होकर] रोगों को जीतने वाली (वीरुधः) सोमलता आदि, (पारयिष्णवः) दुःखों से पार करने के योग्य, (पुष्पवतीः) प्रशंसित §पुष्पों से युक्त, (प्रसूवरीः) सुख देने हारी (ओषधीः) ओषधियों को [1]प्राप्त होकर (प्रतिमोदध्वम्) नित्य आनन्द भोगो ।। ७७ ।।

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

लोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।१।४ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन समासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । अश्वशब्दः क्वन्प्रत्ययान्तः आद्युदात्तः (द्र० ३।५६) ।।

(सजित्वरीः) 'शरीरैः सह संयुक्ता रोगान् जेतुं शीला' इत्यर्थप्रदर्शनम् । व्युत्पत्तिस्तु समानान् जयति इति । समानोपपदाद् जयतेः अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३।२।७५) इति 'क्वनिप्'। समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु (अ० ६।३।८३) इति सादेशः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे क्वनिपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ।।

(वीरुधः) ऋग्भाष्ये १।६७।५ निरुद्धेषु कार्यकारणद्रव्येषु इत्याचार्यपादानां वचनाद् विपूर्वाद् 'रुधिर् आवरणे' इत्यस्मात् क्विपि रूपमिति स्पष्टम् । अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३७) इति पूर्वपददीर्घत्वम् । महीधरस्तु 'नहिवृतिवृषि० (अ० ६।३।११६) इत्यादिना उपसर्गदीर्घः' इत्युक्तवान् । तदसत्, सूत्रे रुधिधातोः पाठाभावात् ।।

'वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्' (निरु० ६।३) इति यास्कवचनाद् विपूर्वाद् रुहेरपि । तथा सति उपसर्गदीर्घत्वं पूर्ववदेव । न्यङ्क्वादिपाठाद् (गणपाठ ७।३।५३) हकारस्य धकारः । सायणस्तु ऋग्भाष्ये (१।६७।५) उभयमपि न्यङ्क्वादिपाठादेवाह । वीरुत्पदे कुत्वस्याभावात् न्यङ्क्वादिगणेऽस्य पाठः सांशयिकः प्रतीयते ।।

(पारयिष्णवः) णेश्छन्दसि (अ० ३।२।१३७) इति पारेरिष्णुच् । चित्त्वादन्तोदात्तः । ततः प्रथमाबहुवचने जसि च (अ० ७।३।१०९) इति गुणे प्राप्ते जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः (अ० ७।३।१०९ वा०) इति गुणाभावे इको यणचि (अ० ६।१।७४) इति यणादेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति जसोऽकारस्य स्वरितत्वम् ।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. यथा तु संस्कृते 'संसेव्य', तथा त्वत्र 'का उत्तम-रीति से सेवन करके' इत्यनुवादेनात्र भवितव्यम् ।।७७।।

---

§ 'पुरुषों से' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । 'पुष्पों से' इति कपाठः, स च सम्यक् ।।

भावार्थः—जैसे घोड़ों पर चढ़े वीर पुरुष शत्रुओं को जीत, विजय को प्राप्त हो के आनन्द करते हैं, वैसे श्रेष्ठ ओषधियों के सेवन और पथ्याहार करने हारे जितेन्द्रिय मनुष्य रोगों से छूट आरोग्य को प्राप्त हो के नित्य आनन्द भोगते हैं ॥ ७७ ॥

ओषधीरितीत्यस्य भिषगृषिः । चिकित्सुर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः पित्रपत्यानि परस्परं कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे ।
सनेयमश्वं गां वासऽ आत्मानं तव पूरुष ॥७८॥

ओषधीः । इति । मातरः । तत् । वः । देवीः । उप । ब्रुवे ॥ सनेयम् । अश्वम् । गाम् । वासः । आत्मानम् । तव । पूरुष । पुरुषेति पुरुष ॥७८॥

पदार्थः—(ओषधीः) (इति) इव ([1]मातरः) जनन्यः (तत्) कर्म (वः) युष्मान् (देवीः) दिव्या विदुषीः (उप) समीपस्थः सन् (ब्रुवे) [2]उपदिशेयम् (सनेयम्) संभजेयम् (अश्वम्) तुरङ्गादिकम् (गाम्) धेन्वादिकं पृथिव्यादिकं वा (वासः) वस्त्रादिकं निकेतनं वा (आत्मानम्) जीवम् (तव) (पूरुष) प्रयत्नशील ॥ ७८ ॥

अन्वयः—हे ओषधीरिति देवीर्मातरोऽहं तनयो वस्तत्पथ्यं वच उपब्रुवे । हे पुरुष ! सुसन्तानाऽहं माता तवाश्वं गां वास आत्मानं च सततं सनेयम् ॥ ७८ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा यवादय ओषधयः सेविताः शरीराणि *पुष्यन्ति, तथैव जनन्यो विद्यासुशिक्षोपदेशेनाऽपत्यानि सुपोषयेयुः । यन्मातुरैश्वर्यं तद् दायोऽपत्यस्य यदपत्यस्यैतन्मातुरस्ति, एवं सर्वे सुप्रीत्या वर्तित्वा परस्परस्य सुखानि सततं वर्धयेयुः ॥७८॥

---

१. जात्याख्यायामत्र बहुवचनम् इति द्रष्टव्यम् ॥

२. उपब्रुवे उपदिशेयम् । अत्र मातरो वैद्यकशास्त्रानभिज्ञा इति कृत्वा पुत्रोऽपि ता उपदिशेत् इति समन्वयोऽत्रोहनीयः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ओषधीः) पूर्वं (य० १।२१) व्याख्यातः ॥

(सनेयम्) '**षण सम्भक्तौ**' (भ्वा० ५०) विधिलिङ उत्तमैकवचने 'मिप्' शप् च । तौ पित्त्वादनुदात्तौ । **यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च** (अ० ३।४।१०३) इति यासुडागमः, स चोदात्तः । **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य** (अ० ७।२।७९) इति सकारलोपः । **अतो येयः** (अ० ७।२।८०) इति इयादेशः । उदात्तादेशत्वात् सोऽप्युदात्तः । **आद् गुणः** (अ० ६।१।८४) इति शपोऽकारेण गुण एकादेशः, स च **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।१।५) इत्युदात्तः ।

---

* साम्प्रतिकानां मते पोषयन्तीति स्यात् । भाष्यपाठोऽन्तर्णीतण्यर्थत्वेन साधुः ॥

फिर पिता और पुत्र आपस में कैसे वर्त्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (ओषधीः) ओषधियों के (इति) समान सुखदायक (देवीः) सुन्दर विदुषी स्त्री (मातरः) माता ! मैं पुत्र (वः) तुम को (तत्) श्रेष्ठ पथ्यरूप कर्म्म (उपब्रुवे) समीप स्थित होकर उपदेश करूं। हे (पूरुष) पुरुषार्थी ! श्रेष्ठ †सन्तानों वाली मैं माता (तव) तेरे (अश्वम्) घोड़े आदि, (गाम्) गौ आदि वा पृथिवी आदि, (वासः) वस्त्र आदि वा घर और (आत्मानम्) जीव को निरन्तर (सनेयम्) सेवन करूं ॥ ७८ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे जौ आदि ओषधी सेवन की हुई शरीरों को पुष्ट करती हैं, वैसे ही माता विद्या, अच्छी शिक्षा और उपदेश से सन्तानों को पुष्ट करें। जो माता का धन है वह भाग सन्तान का, और जो सन्तान का है वह माता का, ऐसे सब परस्पर प्रीति से वर्त्त कर निरन्तर सुखों को बढ़ावें ॥ ७८ ॥

अश्वत्थ इत्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्याः प्रत्यहं कीदृशं विचारं कुर्य्युरित्याह ॥

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाजऽ इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥७९॥

अश्वत्थे । वः । निषदनम् । निसदनमिति निऽसदनम् । पर्णे । वः । वसतिः । कृता ॥ गोभाज इति गोऽभाजः । इत् । किल । असथ । यत् । सनवथ । पूरुषम् । पुरुषमिति पुरुषम् ॥७९॥

तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (अ० ३।४।१०१) इति मिपोऽमादेशः ॥

(वासः) वसेर्णित् (उ० ४।२१८) इत्यसुन्। तस्य णित्त्वात् अत उपधायाः (अ० ७।३।११६) इत्युपधावृद्धिः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(पूरुषः) अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३७) इति दीर्घत्वमिति वामनः । 'अनेनोत्तरपदे विधानादप्राप्तिरिति पूरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्दाः' इति भागवृत्तिः (द्र० भागवृत्ति संकलनम्, पृष्ठ ३४) । महाभाष्यकृता त्वत्र छान्दसं दीर्घत्वमुक्तम् (महा० ६।१।७; ६।४।६४) ॥७८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'श्रेष्ठ सन्तानो ! मैं' इत्यजमेरमुद्रिते संस्कृतपाठविपरीतोऽपपाठः ॥

पदार्थः—(अश्वत्थे) [1]श्वः स्थाता न स्थाता वा वर्त्तते तादृशे देहे (वः) युष्माकं जीवानाम् (निषदनम्) निवासः (पर्णे) चलिते[2] पत्रे (वः) युष्माकम् (वसतिः) निवासः (कृता) (गोभाजः) ये गां पृथिवीं भजन्ते ते (इत्) इह (किल) खलु (असथ) भवत (यत्) यतः (सनवथ) ओषधिदानेन सेवध्वम्, अत्र विकरणद्वयम्[3] (पूरुषम्) अन्नादिना पूर्णं देहम् ॥७६॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! ओषधय इव यद्वोऽश्वत्थे निषदनं, वः पर्णे वसतिः कृताऽस्ति, तस्माद् गोभाजः किल पूरुषं सनवथ सुखिन इदसथ ॥७६॥

भावार्थः—मनुष्यैरेवं भावनीयमस्माकं शरीराण्यनित्यानि, स्थितिश्चञ्चलास्ति, तस्माच्छरीरमरोगिणं संरक्ष्य धर्मार्थकाममोक्षाणामनुष्ठानं सद्यः कृत्वाऽनित्यैः साधनैर्नित्यं मोक्षसुखं खलु लब्धव्यम्। यथौषधितृणादीनि पत्रपुष्पफलमूलस्कन्दशाखादिभिः शोभन्ते, तथैव शरीराणि नीरोगाणि *शोभमानानि भवन्ति ॥७६॥

मनुष्य लोग नित्य कैसा विचार करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! ओषधियों के समान (यत्) जिस कारण (वः) तुम्हारा (अश्वत्थे) कल रहे वा न रहे, ऐसे शरीर में (निषदनम्) निवास है; और (वः) तुम्हारा (पर्णे) कमल के पत्ते पर जल के समान चलायमान संसार में ईश्वर ने (वसतिः) निवास (कृता) किया है, इस से (गोभाजः) पृथिवी को सेवन करते हुए (किल) ही (पूरुषम्)

---

१. यद्यपि विग्रहोऽयमपूर्व इव प्रतिभाति, तथापि स्वरेऽदोषादर्थानुरोधाच्च साधुरेवावगन्तव्यः ॥

२. 'चलिते' इत्यध्याहारः ॥

३. 'उ शपौ' इति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अश्वत्थे) न श्वस्तिष्ठति । **सुपि स्थः** (अ० ३।२।४) इति 'कः'। **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४३) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अस्मिन् पक्षेऽत्रावग्रहाशङ्का न कार्या, सांशयिकव्युत्पत्तीनामवग्रहनिर्देशाभावात् । तदुक्तम्—'हेतुवचनाद् अन्यत्रापि यत्र संशयस्तत्रावग्रहो न भवति', इत्युव्वटः । द्र० शुक्लयजुः प्राति० ५।३४ भाष्ये ॥

(निषदनम्) **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे **लिति** (अ० ६।१।१८७) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥

(पर्णे) पूर्वं (य० ६।१५) व्याख्यातः ॥

(वसतिः) **वहिवस्यर्त्तिभ्यश्चित्** (उ० ४।६०)इति'अतिः'। चित्त्वातिदेशादन्तोदात्तः। यत्तु सायणेन—'**वयो न वसतीरुप**(ऋ० १।२५।४) शतुरनुम इति ङीप उदात्तत्वम्' इत्युक्तम्, तच्चिन्त्यम् । शत्रन्तत्वे **शप्श्यनोर्नित्यम्** (अ० ७।१।८१) इति नुमो नित्यत्वे 'वसन्ती' इति रूपं स्यात् । तस्मादयं ह्रस्वेकारान्तस्य वसतिशब्दस्य द्वितीयाबहुवचने रूपमिति ध्येयम् ॥

(गोभाजः) गव्युपपदे भजतेः **भजो ण्विः** (अ० ३।२।६२)इति 'ण्विः' प्रत्ययः । उपधावृद्धिः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(किल) **निपाता आद्युदात्ता** (फि० ८०) इत्याद्युदात्तः ॥

(सनवथ) सनोतेः लेटि मध्यमबहुवचने रूपम् । अत्र उ शपौ विकरणौ । **यद्वृत्तान्नि-**

---

* 'दर्शनीयानि' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

अन्न आदि से पूर्ण देह[1] को (सनवथ) ओषधी देकर सेवन करो, और सुख को प्राप्त होते हुये (इत्) इस संसार में (असथ) रहो ।।७९।।

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसा विचारना चाहिये कि हमारे शरीर अनित्य और स्थिति चलायमान है, इससे शरीर को रोगों से बचा कर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का अनुष्ठान शीघ्र करके अनित्य साधनों से नित्य मोक्ष के सुख को प्राप्त होवें। जैसे ओषधि और तृण आदि फल फूल पत्ते स्कन्ध और शाखा आदि से शोभित होते हैं, वैसे ही रोगरहित शरीर[2] शोभायमान होते हैं ।।७९।।

यत्रौषधीरित्यस्य भिषगृषिः । ओषधयो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।।

पुनः [3]पुनः सद्वैद्यसेवनं कार्य्यमित्याह ।।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ।।८०।।

यत्र । ओषधीः । समग्मतेति सम्ऽअग्मत । राजानः । समिताविवेति समितौऽइव ।। विप्रः । सः । उच्यते । भिषक् । रक्षोहेति रक्षःऽहा । अमीवचातन इत्यमीवऽचातनः ।।८०।।

पदार्थः—(यत्र) येषु स्थलेषु (ओषधीः) सोमाद्याः (समग्मत[4]) प्राप्नुत (राजानः) [5]क्षत्रधर्मयुक्ता वीराः (समिताविव) यथा संग्रामे तथा (विप्रः) मेधावी (सः) ([6]उच्यते) उपदिश्येत[7]। लेट्प्रयोगोऽयम् (भिषक्) यो भिषज्यति चिकित्सति सः, अत्र भिषज्धातोः

त्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्०** (अ० ६।१।१८०) इति सार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरं बाधित्वा नु-विकरणस्य स्वरः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. 'पूर्ण देह वाले पुरुष को' इति तु संस्कृतानुसारी अजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।।

२. 'शरीरों से शोभायमान हों' इत्यजमेरमुद्रिते संस्कृताननुसारी पाठः ।।७९।।

३. प्रत्यहमशनपानादिकं सद्वैद्यनिर्देशानुसारं कर्त्तव्यमिति भावः ।।

४. **उदात्तगतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः । **तिङि चोदात्तवति** (अ० ८।१।७१) इति गतेरनुदात्तत्वम् ।।

५. क्षत्रं (क्षताद् त्राणं=रक्षणं) च तद् धर्मं च क्षत्रधर्म तद्युक्ता इत्यर्थः । यद्वा—क्षत्राणां धर्मः क्षत्रधर्मस्तद्युक्ताः ।

६. लेट्प्रयोगोऽयम् । 'तत्र सिद्धायामनुपपन्नमानायामितरयोपपिपादयिषेत्' (१।२) इति-निरुक्तकारवचनात् दिवादेराकृतिगणत्वाद् संगृहीतस्य **'वच परिभाषणे'** इत्यस्य सम्प्रसारणभूतस्य 'उच' धातो रूपं मन्यते भाष्यकारः, स चोभयपद्यपि इति वयमवबुध्यामहे ॥

७. पूर्ववद् दिशधातुरपि दिवादिरुभयपदीति द्रष्टव्यम् ।।

क्विप् (रक्षोहा) यो दुष्टानां रोगाणां हन्ता (अमीवचातनः) योऽमीवान् रोगान् शातयति सः । अत्र वर्णव्यत्ययेन शस्य चः[1] ॥८०॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यत्रौषधीः सन्ति, ता राजानः समिताविव समग्मत, यो रक्षोहाऽमीवचातनो विप्रो भिषग् भवेत् स युष्मान् प्रत्युच्यत[2] उच्येत, [3]तद्गुणान् प्रकाशयेत्, तास्तं[4] *च सदा सेवध्वम् ॥८०॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा सेनापतिसुशिक्षिता राज्ञो वीरपुरुषाः परमप्रयत्नेन देशान्तरं गत्वा, शत्रून्विजित्य राज्यं प्राप्नुवन्ति, तथा सद्वैद्यसुशिक्षिता यूयमोषधिविद्यां प्राप्नुत । यस्मिन् शुद्धे देशे ओषधयः सन्ति, ता विज्ञायोपयुङ्ग्ध्वमन्येभ्यश्चोपदिशत ॥८०॥

वार वार श्रेष्ठ वैद्यों का सेवन करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (यत्र) जिन स्थलों में (ओषधीः) सोमलता आदि ओषधी होती हों, उन को जैसे (राजानः) राजधर्म से युक्त वीरपुरुष (समिताविव) युद्ध

---

१. अत्र निरुक्तकारः स्वतन्त्रोऽयं धातुरिति मन्यते । तद्यथा—'चातयतिर्नाशने' इति, निरु० ६।३०। तथैव च दुर्गादयः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(समग्मत) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघातप्रतिषेधेऽट्स्वरः । उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः । तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्तः ॥

(समिताविव) इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरश्च । तत्र समितिपदे तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(भिषक्) भिषज् कण्ड्वादिः । यगन्तात् 'क्विप्' । अतो लोपः । लोपो व्योर्वलि (अ० ६।१।६४) इति यलोपः । वेरपृक्तस्य (अ० ६।१।६५) इति वलोपः । धातुस्वरः ॥

उज्ज्वलदत्तीयादिषु कासुचिद् उणादिवृत्तिषु भिषक्पदसाधकं 'भियः षुग् ह्रस्वश्च' इति सूत्रमुपलभ्यते, श्वेतवनवासिनारायणीयादिष्वन्यवृत्तिषु च नोपलभ्यते, दशपाद्यामपि न पठ्यते । कोषटीकाकृतश्च सूत्रमेतत् भिषक्पदव्याख्याने न स्मरन्ति । अतः सन्दिग्धमेतत् सूत्रम् । चरकसंहितायां तु 'भिषक् नाम यो भेषति' (विमानस्थान ८।८७) इति निर्वचनाद् 'भिष् चिकित्सायाम्' इति धोतारजि प्रत्यये कित्वे च रूपमिति प्रतीयते । श्री भोजोऽपि 'भिषः कित्' (स० क० २।१।२५०) इति सूत्रं पठन् चरकमेवानुधावति ॥

(रक्षोहा) पूर्वं (य० ५।२३) व्याख्यातः ॥

(अमीवचातनः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६।१।१८७) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. लेट्प्रयोगोऽयम् । शेषं पूर्वमुक्तमेव ॥

३. ओषधगुणान् इति भावः ॥

४. 'तं वैद्यम्' इत्यर्थः ॥८०॥

---

* अन्वये 'तं च सदा सेवध्वम्' तथा भाषापदार्थे 'और ओषधियों का तथा उस वैद्य का सेवन करो' इति पाठौ ककोशे न स्तः । तौ च गकोशे प्रवर्द्धिताविति ध्येयम् ॥

में शत्रुओं को प्राप्त होते हैं, वैसे (समग्मत) प्राप्त हो। जो (रक्षोहा) दुष्ट रोगों का नाशक, (अमीवचातनः) रोगों की निवृत्ति करने वाला, (विप्रः) बुद्धिमान् (भिषक्) वैद्य हो, (सः) वह तुम्हारे प्रति (उच्यते) ओषधियों के गुणों का उपदेश करे, उन* ओषधियों का तथा उस वैद्य का सेवन करो ॥८०॥

†इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे सेनापति से शिक्षा को प्राप्त हुये राजा के वीर पुरुष अत्यन्त पुरुषार्थ से देशान्तर में जा, शत्रुओं को जीत के राज्य को प्राप्त होते हैं, वैसे श्रेष्ठ वैद्य से शिक्षा को प्राप्त हुये तुम लोग ओषधियों की विद्या को प्राप्त होओ। जिस शुद्ध देश में ओषधी हों, वहां उनको जान के उपयोग में लाओ, और दूसरों के लिये भी बताओ ॥८०॥

अश्वावतीमित्यस्य भिषगृषिः। वैद्यो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

मनुष्यैः सदा पुरुषार्थ उन्नेय इत्याह ॥

अश्वावतीᳬं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वाऽ ओषधीरस्माऽ अरिष्टतातये ॥८१॥

अश्वावतीम्। अश्ववतीमित्यश्वऽवतीम्। सोमावतीम्। सोमवतीमिति सोमऽवतीम्। ऊर्जयन्तीम्। उदोजसमित्युत्ऽओजसम्॥ आ। अवित्सि। सर्वाः। ओषधीः। अस्मै। अरिष्टतातय इत्यरिष्टऽतातये ॥८१॥

पदार्थः—(¹अश्वावतीम्) प्रशस्तशुभगुणयुक्ताम्, अत्रोभयत्र मतौ दीर्घः (¹सोमावतीम्) बहुरससहिताम् (ऊर्जयन्तीम्) बलं प्रापयन्तीम् (उदोजसम्) उत्कृष्टं पराक्रमम् (आ) (²अवित्सि) जानीयाम् (सर्वाः) अखिलाः (ओषधीः) ³सोमयवाद्याः (अस्मै) (अरिष्टतातये⁴) रिष्टानां हिंसकानां रोगाणामभावाय ॥८१॥

१. अत्रोभयत्र मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (अ० ६।३।१३१) इति दीर्घः॥

२. 'विद ज्ञाने' (अदा० प०) इत्यस्माद् व्यत्ययेनात्मनेपदे रूपम्॥

३. आदौ भवौ आद्यौ। सोमयवौ आद्यौ येषां ते सोमयवाद्याः॥

४: अरिष्टस्य भावः अरिष्टतातिः। भावे च (अ० ४।४।१४४) इति 'तातिल्', तस्मै॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अश्वावतीम्, सोमावतीम्) उभयत्र मतुपि मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (अ० ६।३।१३१) इति दीर्घत्वे द्वितीयैकवचने रूपम्। ङीम्मतुपोः पित्त्वादनुदात्तत्वे अन्तोऽवत्याः (अ० ६।१।२१४) इत्यन्तोदात्तत्वम्। यद्यप्यत्र दीर्घत्वे सति 'अवती' रूपं

* अजमेरमुद्रिते तु 'और' इति पाठः॥

† 'इस मन्त्र में वाचकलु०' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। संस्कृते तदलङ्कारस्यानुल्लेखात्, मन्त्रे चोपमावाचकस्य 'इव' इति पदस्य प्रत्यक्षं दर्शनाच्च। ककोशे 'उपमालङ्कार' इत्येव पाठ उपलभ्यते॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽहमरिष्टतातयेऽश्वावतीं सोमावतीमुदोजसमूर्जयन्तीं महौषधीमाविदिसि, [यतः सर्वा ओषधीर्मह्यं सुखप्रदाः स्युस्तथा¹] अस्मै यूयमपि प्रयतध्वम् ।।८१।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्याणामादिममिदं कर्माऽस्ति, यद् रोगाणां *निदानं चिकित्सौषधं पथ्यसेवनमोषधीनां गुणज्ञानं यथावदुपयोजनं च, यतो रोगनिवृत्त्या निरन्तरं पुरुषार्थोन्नतिः स्यादिति ।८१।।

मनुष्यों को नित्य पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं (अरिष्टतातये) दुःखदायक रोगों से छुड़ाने के लिये (अश्वावतीम्) प्रशंसित शुभगुणों से युक्त, (सोमावतीम्) बहुत रस से सहित, (उदोजसम्) अति पराक्रम बढ़ाने हारी, (ऊर्जयन्तीम्) बल देती हुई श्रेष्ठ ओषधियों को (आ) सब प्रकार (अविदिसि) †जानूं, जिस से (सर्वाः) सब (ओषधीः) ओषधी मेरे लिये सुख देवें, [वैसे] (अस्मै) इस के लिये तुम लोग भी प्रयत्न करो ।८१।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—§मनुष्यों का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि रोगों का निदान, चिकित्सा, ओषधी, और §पथ्य के सेवन, ओषधियों के गुणों [का ज्ञान तथा उन] का यथावत् उपयोग लेवें, कि जिससे रोगों की निवृत्ति होकर [निरन्तर] पुरुषार्थ की वृद्धि होवे ।।८१।।

नास्ति, तथापि तस्य छान्दसत्वात् अवतीरूपस्यैव प्राधान्यमाश्रित्य स्वरोऽयं प्रवर्तते । अतएव पदकारा अप्येतादृशेषु स्थलेषु छान्दसदीर्घत्वस्य ह्रस्वत्वमापदयन्ति ।।

(ऊर्जयन्तीम्) ऊर्क् शब्दात् तत्करोति तदाचष्टे (अ० ३।१।२६) इति 'णिच्', धातुस्वरः । ततः शतरि नुमि ङीपि द्वितीयैकवचने रूपम् । तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्० (अ० ६।१।१८०) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ।।

(उदोजसम्) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।।

(अरिष्टतातये) भावे च (अ० ४।४।१४४) इति 'तातिल्' । लित्वात् प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठो मन्त्रगतपदयोरत्राभावाद्, भाषापदार्थे च सत्त्वादस्याभिः पूरित इति ध्येयम् ।।८१।।

---

* 'निदानचिकित्सौषधपथ्यसेवनम्' इति पूर्वेण समस्तोऽजमेरमुद्रिते पाठः ।।

† इतोऽग्रे 'कि जिस से (सर्वाः) सब (ओषधीः) ओषधी (अस्मै) इस मेरे लिए सुख देवें, इसलिए तुम लोग भी प्रयत्न करो' इति अ०मुद्रिते पाठः ।।

§ 'मनुष्यों को चाहिए' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । स च संस्कृताननुगतः ।।

§ 'पथ्य के सेवन से निवारण करें तथा ओषधियों के गुणों का' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ।।

उच्छुष्मा इत्यस्य भिषगृषिः । ओषधयो देवताः । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

किन्निमित्ता ओषधयः सन्तीत्याह ॥

उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते ।
धनꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥८२॥

उत् । शुष्माः । ओषधीनाम् । गावः । गोष्ठादिव । गोस्थादिवेति गोस्थात्ऽइव । ईरते ॥ धनम् । सनिष्यन्तीनाम् । आत्मानम् । तव । पूरुष । पुरुषेति पुरुष ॥८२॥

पदार्थः—(उत्) (शुष्माः) प्रशस्तबलकारिण्यः । शुष्मेति बलनामसु पठितम् । निघ० २।९ । अर्शआदित्वादच् (ओषधीनाम्) सोमयवादीनाम् (गावः) धेनवः किरणा वा (गोष्ठादिव) यथा स्वस्थानात् तथा (ईरते) वत्सान् प्राप्नुवन्ति (धनम्) यद्धिनोति वर्धयति तत् । धनम् कस्माद्धिनोतीति[1] सतः । निरु० ३।९ (सनिष्यन्तीनाम्) संभजन्तीनाम् (आत्मानम्) शरीराऽधिष्ठातारम् (तव) (पूरुष) पुरि देहे शयान देहधारक वा ॥८२॥

अन्वयः—हे पूरुष ! या धनं सनिष्यन्तीनामोषधीनां शुष्मा गावो गोष्ठादिव तवात्मानमुदीरते, तास्त्वं सेवस्व ॥८२॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा संपालिता गावो दुग्धादिभिः स्ववत्सान् मनुष्यादींश्च संपोष्य बलयन्ति, तथैवौषधयो युष्माकमात्मशरीरे संपोष्य पराक्रमयन्ति । यदि कश्चिदन्ना-

---

१. धिविः प्रीणनार्थो धातुपाठे, दुर्गस्कन्दौ च (निरु० ३।९) ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(शुष्मा) 'शुष शोषणे' (दि० प०) **अविसिविसिशुषिभ्यः कित्** (उ० १।१४४) इति 'मन्' । नित्त्वादाद्युदात्तः । स च बलनाम (निघण्टु २।९) । ततः **'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्**(अ० ५।२।९४ वा०) इति वार्तिकेन मतुपो लुकि स एव स्वरः । यथा तु भाष्यं तथा **'अर्शआदिभ्योऽच्'** (अ० ५।२।१२७) इति मत्वर्थेऽच् प्रत्ययः । तथा सति चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥

(गोष्ठादिव) इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च(अ० २।२।१८वा०) इति समासः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरश्च । गोष्ठशब्दः **घञर्थे कविधानम्** (अ० ३।३।५८ वा०) इति कप्रत्ययान्तः । **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४३) इत्यन्तोदात्तः ॥

(सनिष्यन्तीनाम्) आत्मनः सनिमिच्छन्ती इति क्यचि लालसायां सुकि 'सनिष्य' धातुः । अत्र छान्दसं षत्वम् । धातुस्वरः । ततो लटः शतरि शपि नुमि ङीपि च **तास्यनुदात्तेन्ङिदडुपदेशात्०** (अ० ६।१।१८०)इति शतुर्निघातः ॥ यद्वा—सनधातोः धात्वर्थसम्बन्धमात्रे छान्दसत्वाद् वा लृटि शतरि (द्र० अ० ३।३।१४) रूपम् । स्वरः पूर्ववत् ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

दिकमौषधं न भुञ्जीत, तर्हि क्रमशो बलविज्ञानह्रासं प्राप्नुयात्, तस्मादेता [1]एतन्निमित्ताः सन्तीति वेद्यम् ॥८२॥

ओषधियों का *क्या प्रयोजन[2] है, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (पूरुष) पुरुष=शरीर में सोने वाले वा देहधारी! [जो] (धनम्) ऐश्वर्य्य बढ़ाने वाले को (सनिष्यन्तीनाम्) सेवन करती हुई, (ओषधीनाम्) सोमलता वा जो आदि †ओषधियों में से (शुष्माः) प्रशंसित बल करने हारी ओषधियां, जैसे (गावः) गौ वा किरणें (गोष्ठादिव) अपने स्थान से बछड़ों वा §पृथिवी को [प्राप्त होती हैं, वैसे$] (तव) तेरी (आत्मानम्) आत्मा को [अर्थात् तुम्हें] (उदीरते) प्राप्त होती हैं, उन सब का तू सेवन कर ॥८२॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ∫जैसे अच्छे प्रकार पाली गौएं अपने दूध आदि से अपने बच्चों और मनुष्य आदि को पुष्ट करके बलवान् करती हैं, वैसे ही ओषधियां तुम्हारे आत्मा और शरीर को पुष्ट कर ‡ पराक्रमी बनाती हैं । जो कोई [अन्नादि औषध] न खावे, तो क्रम से बल और बुद्धि की हानि हो जावे । इसलिये ओषधियां ही बल बुद्धि का निमित्त हैं, [ऐसा जानो] ॥८२॥

इष्कृतिरित्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

सुसेविता ओषधयः किं कुर्वन्तीत्याह ॥

इष्कृ॑तिर्नाम॑ वो मा॒तायो॑ यू॒यꣳ स्थ॒ निष्कृ॑तीः ।
सी॒राः प॑त॒त्रिणी॑ स्थन॒ यदा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥८३॥

---

१. बलविज्ञाननिमित्ता इत्यर्थः ॥ २. अर्थात् ओषधियां क्या करती हैं ॥८२॥

---

* 'क्या निमित्त है' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स चास्पष्टार्थः ॥

† 'ओषधियों के सम्बन्ध से जैसे' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ अत्र ककोशे इत्थं पाठ उपलभ्यते—'पृथिवी को प्राप्त होती है, वैसे (तव) तेरी (आत्मानम्) शरीर के स्वामी आत्मा को ओषधियों का तत्त्व (उदीरते) प्राप्त होता है' । स च पाठः गकोशे संशोधितोऽपि व्यस्त इव प्रतिभाति ॥

$ इतोऽग्रे 'और ओषधियों का तत्त्व' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

∫ 'जैसे रक्षा की हुई गौ' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । स च संस्कृताननुगतः ॥

‡ 'पराक्रमी करती' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

इष्कृतिः । नाम । वः । माता । अथोऽइत्यथो । यूयम् । स्थ । निष्कृतीः । निःकृतीरिति निःऽकृतीः ॥ सीराः । पतत्रिणीः । स्थन । यत् । आमयति । निः । कृथ ॥८३॥

पदार्थः—([1]इष्कृतिः) निष्कर्त्री (नाम) प्रसिद्धम् (वः) युष्माकम् (माता) *जननीव (अथो) (यूयम्) (स्थ) भवत (निष्कृतीः) प्रत्युपकारान् (सीराः) नदीः । सीरा इति नदीनामसु पठितम् । निघ० १।१३ ([2]पतत्रिणीः) पतितुं गन्तुं शीलाः (स्थन) भवत (यत्) या क्रिया (आमयति) †रोगयति (निः) नितराम् (कृथ) कुरुत, अत्र विकरणस्य लुक् ॥८३॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं या व इष्कृतिर्मातेवौषधिर्नाम वर्त्तते, तस्याः सेवका इवौषधीः [3]सेवितारः स्थ । पतत्रिणी सीराः नद्य इव निष्कृतीः संपादयन्तः स्थनाथो यदाऽऽमयति तन्निष्कृथ ॥८३॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा मातापितरौ युष्मान् सेवन्ते §तथा यूयमप्येतान् सेवध्वम् । यद्यत् कर्म रोगाविष्करं भवति तत्तत् त्यजत । [4]एवं सुसेविता ओषधयः प्राणिनो मातृवत् पोषयन्ति ॥८३॥

---

१. छान्दसोऽत्र वर्णलोपो द्रष्टव्यः । छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे (महा० ८।२।२५) ॥

२. 'पत्लृ गतौ' (भ्वा० ५०) इत्यस्माद् अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उ० ३।१०५) इति 'अत्रन्' । तदस्यास्तीति पतत्रिणी ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(इष्कृतिः)निस्पूर्वात् कृधातोः 'क्तिन्' । छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे निष्कर्त्तारमध्वरे इति प्राप्ते (महा० ८।२।२५) इतिवदत्रापि नकारलोपे तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(निष्कृतीः) द्रष्टव्यम्, इष्कृतिपदमस्मिन्नेव मन्त्रे ॥

(सीराः) नदीवाची सीराशब्दोऽन्तोदात्त इत्युक्तं पुरस्तात् (य० १२।६७) । व्याकरणप्रक्रियापि तत्रैव द्रष्टव्या ॥

(पतत्रिणीः) पत् धातोः अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उ० ३।१०५) इत्यत्रन् । ततो मत्वर्थे अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति 'इनिः', प्रत्ययस्वरः । ततः स्त्रियां 'ङीप्' । स च पित्त्वादनुदात्तः ॥

(आमयति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः । 'अम रोगे' णिच्, न कम्यमिचमाम् (गणसूत्र भ्वा०) इति मित्त्वाभावे मितां ह्रस्वः (अ० ६।४।९२) इति ह्रस्वत्वं न प्रवर्त्तते । णिजन्ते धातुस्वरः चित्स्वरो वा । ततो लटि शप्तिपोरुभयोः पित्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. तृनि रूपमिदम्, अतः 'ओषधीः' इति षष्ठ्यभावः ॥

४. कुपथ्यत्यागपूर्वकमित्यर्थः ॥८३॥

---

* 'जननी' इति कपाठः । 'जननीव' इति गकोशे प्रवर्द्धितः ॥

† 'रोजयति' इति कपाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

§ 'यथा' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

अच्छे प्रकार सेवन की हुई ओषधी क्या करती हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यूयम्) तुम लोग, जो (वः) तुम्हारी (इष्कृतिः) कार्य्य-सिद्धि करने हारी (माता) माता के समान ओषधी (नाम) प्रसिद्ध है, $उस माता के सेवन करने वालों के समान ओषधियों के सेवन करने वाले (स्थ) होओ। (पतत्रिणीः) चलने वाली (सीराः) नदियों के समान (निष्कृतीः) प्रत्युपकारों को सिद्ध करने वाले (स्थन) होओ। (अथो) इस के अनन्तर (यत्) जो क्रिया वा ओषधी अथवा वैद्य (आमयति) रोग बढ़ावे, उस को (निष्कृथ) छोड़ो ।।८३।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे माता पिता तुम्हारी सेवा करते हैं, वैसे तुम भी उनकी सेवा करो। जो जो काम रोगकारी हो, उस उस को छोड़ो। इस प्रकार सेवन की हुई ओषधी माता के समान प्राणियों को पुष्ट करती हैं ।।८३।।

❧

अति विश्वा इत्यस्य भिषगृषिः। वैद्या देवताः। विराडनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः ।।

कथं रोगा निवर्त्तन्त इत्याह ।।

अति॒ विश्वाः॑ परि॒ष्ठा स्ते॒नऽइ॑व व्र॒जम॑क्रमुः ।
ओष॑धीः॒ प्राचु॑च्यवु॒र्यत्किं च॑ त॒न्वो॒ रपः॑ ।।८४।।

अति॑। विश्वाः॑। प॒रि॒ष्ठाः। प॒रि॒स्था इति॑ परि॒ऽस्थाः। स्ते॒न इ॒वेति॑ स्ते॒नःऽइ॑व। व्र॒जम्। अ॒क्र॒मुः॒ ।। ओष॑धीः। प्र। अ॒चु॒च्य॒वुः॒। यत्। किम्। च॒। त॒न्वः॑। रपः॑ ।।८४।।

पदार्थः—(अति) (विश्वाः) सर्वाः (परिष्ठाः) सर्वतः स्थिताः (स्तेन इव) यथा चोरो भित्त्यादिकं तथा (व्रजम्) गोस्थानम् (अक्रमुः) क्राम्यन्ति (ओषधीः) [1]सोमयवाद्याः (प्र) (अचुच्यवुः) च्यावयन्ति, नाशयन्ति (यत्) (किम्) (च) (तन्वः) (रपः) पापफलमिव रोगाख्यं दुःखम् ।।८४।।

१. पूर्वं (य० १२।८१) व्याख्यातः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(परिष्ठाः) आतश्चोपसर्गे (अ० ३।१।१३६) इति 'कः'। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।।

(स्तेन इव) इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरश्च । स्तेनशब्दः पूर्वं (य० ११।१) व्याख्यातः ।।

(व्रजम्) पूर्वं (य० १।२५) व्याख्यातः ।।

$ इतोऽग्रे 'सेवा के तुल्य सेवन की हुई ओषधियों को जानने वाले' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। स च संस्कृताननुगतः ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं याः परिष्ठा विश्वा ओषधीर्व्रजं[1] स्तेन इवात्यक्रमुः, यत् किं च तन्वो रपस्तत् सर्वं प्राचुच्यवुस्ता युक्त्योपयुञ्जीध्वम् ॥८४॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा चोरो गोस्वामिना धर्षितः सन् [2]आभीरघोषमुल्लङ्घ्य पलायते, तथैव सदौषधैस्ताडिता रोगा नश्यन्ति[3] ॥८४॥

रोग कैसे निवृत्त होते हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग जो (परिष्ठाः) सब ओर से स्थित, (विश्वाः) सब (ओषधीः) सोमलता और जौ आदि ओषधी, (व्रजम्) जसे गोशाला को (स्तेन इव) भित्ति फोड़ के चोर जावे, वैसे पृथिवी को फोड़ के (अत्यक्रमुः) निकलती हैं, (यत्) जो (किञ्च) कुछ (तन्वः) शरीर का (रपः) पापों के फल के समान रोगरूप दुःख है, उस सब को (प्राचुच्यवुः) नष्ट करती हैं, उन ओषधियों को युक्ति से सेवन करो ॥८४॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे गौओं के स्वामी से धमकाया हुआ चोर भित्ति को फांद के भागता है, वैसे ही श्रेष्ठ ओषधियों से ताड़ना किये रोग नष्ट हो के भाग जाते हैं[4] ॥८४॥

यदिमा इत्यस्य भिषगृषिः । वैद्यो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्तऽ आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥८५॥

(तन्वः) पूर्वं (य० ४।१८) व्याख्यातः ॥

(रपः) रपतेः **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४। १८९) इत्यसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अन्वयानुसारं 'व्रजं स्तेन इव' इत्येतयोः 'विश्वा ओषधीः अत्यक्रमुः' इत्यनेन वाक्येन सह सम्बन्धो वर्त्तते । यथा भावार्थस्तथा तु 'यत्किञ्च तन्वो रपः प्राचुच्यवुः' इत्यनेन वाक्येन सह सम्बन्धः प्रदर्शितः । अत उभयथापि सम्बन्धोऽत्र योजयितुं शक्य इत्याचार्याणामभिप्रायोऽत्र लक्ष्यते ॥

२. गोशालाभित्तिमिति भावः ॥

३. भाषापदार्थ के अन्वयानुसार 'व्रजं स्तेन इव' इन पदों का सम्बन्ध 'विश्वा ओषधीः अत्यक्रमुः' इस वाक्य के साथ दर्शाया गया है । भावार्थ के अनुसार 'व्रजं स्तेन इव' इन पदों का सम्बन्ध 'यत् किञ्च तन्वो रपः प्राचुच्यवुः' इस उत्तर वाक्य के साथ दर्शाया गया है । यहां विरोध न समझ कर इन पदों का सम्बन्ध दोनों प्रकार लग सकता है, यह आचार्य का अभिप्राय है, ऐसा समझना चाहिये ॥८४॥

यत्। इमाः। वाजयन्। अहम्। ओषधीः। हस्ते। आदधे इत्याऽदधे॥ आत्मा। यक्ष्मस्य। नश्यति। पुरा। जीवगृभ इति जीवऽगृभः। यथा॥८५॥

पदार्थः—(यत्) याः (इमाः) (वाजयन्) प्रापयन् (अहम्) (ओषधीः) (हस्ते) (आदधे) (आत्मा) तत्त्वमूलम् (यक्ष्मस्य) क्षयस्य राजरोगस्य (नश्यति) (पुरा) पूर्वम् (जीवगृभः) यो जीवं गृह्णाति तस्य व्याधेः (यथा) येन प्रकारेण॥८५॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा पुरा वाजयन्नहं यदिमा ओषधीर्हस्त आदधे, याभ्यो जीवगृभो यक्ष्मस्यात्मा नश्यति, [तथा भवन्तः] ताः सद्युक्त्योपयुञ्जताम्*॥८५॥

†अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैः सुहस्तक्रिययौषधीः संसाध्य, यथाक्रममुपयोज्य, यक्ष्मादिरोगान्निवार्य नित्यमानन्दाय प्रयतितव्यम्॥८५॥

फिर भी उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यथा) जिस प्रकार (पुरा[1]) पूर्व ([2]वाजयन्) प्राप्त करता हुआ (अहम्) मैं (यत्) जो (इमाः) इन (ओषधीः) ओषधियों को (हस्ते) हाथ में (आदधे) धारण करता हूं, जिन से (जीवगृभः) जीव के ग्राहक व्याधि और (यक्ष्मस्य) क्षय=राजरोग का (आत्मा) मूलतत्त्व (नश्यति) नष्ट हो जाता है, [वैसे] उन ओषधियों को [तुम लोग] श्रेष्ठ युक्तियों से उपयोग में लाओ॥८५॥

§इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वाजयन्) 'वज गतौ' (भ्वा० प०) णिजन्तात् लटि शतरि रूपम्। तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशात्० (अ० ६।१।१८०) इति धातुरनुदात्तत्वे णिच्स्वरो धातुस्वरो वा॥

(आदधे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ वा०) इति समासे तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्तः॥

(यक्ष्मस्य) 'यक्ष पूजायाम्' (चु०) इत्यस्मात् अर्तिस्तुसुहुसृधृ० (उ० १।१४०) इत्यादिना 'मन्'। नित्स्वादाद्युदात्तत्वम्। नान्तो यक्ष्मन्शब्दस्तु मनिन्प्रत्ययान्तोऽपरो द्रष्टव्यः॥

(जीवगृभः) जीवं गृह्णातीति जीवगृभ्। क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्'। हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य (अ० ८।२।३५ वा०) इति भकारः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरः॥

(यथा) यथेति पादान्ते (फि० ८५) इत्यनुदात्तः॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

१. पूर्वं वैद्य ओषधं विजानाति, तदनु साधारणजनास्ततो लाभं गृह्णन्तीति भावः॥

२. 'पुरा वाजयन्' इत्यत्र किं कस्मै चेति सम्बन्धोऽस्पष्टः॥८५॥

* 'उपयुञ्जत' इति कपाठः। स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम्॥

† 'अत्र वाचकलु०' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। मन्त्रे साक्षादुपमावाचकस्य 'यथा' पदस्य प्रयोगात्॥

§ 'इस मन्त्र में वाचकलु०' यह अजमेरमुद्रित में अपपाठ है, क्योंकि मन्त्र में उपमावाचक 'यथा' पद का साक्षात् निर्देश उपलब्ध है॥

भावार्थ:—मनुष्यों को चाहिये कि सुन्दर हस्तक्रिया से ओषधियों को $सिद्ध कर, ठीक ठीक क्रम से उपयोग में ला, और क्षय आदि बड़े रोगों को निवृत्त करके, नित्य आनन्द के लिये प्रयत्न करें ।।८५।।

यस्यौषधीरित्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

यथायोग्यं सेवितमौषधं रोगान् कथं न *नाशयेदित्याह ।।

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं विबाधध्वऽ उग्रो मध्यमशीरिव ।।८६।।

यस्य । ओषधीः । प्रसर्पथेति प्रऽसर्पथ । अङ्गमङ्गमित्यङ्गम्ऽअङ्गम् । परुष्परुः । परुःपरुरिति परुःऽपरुः ।। ततः । यक्ष्मम् । वि । बाधध्वे । उग्रः । मध्यमशीरिवेति मध्यमशीःऽइव ।।८६।।

पदार्थः—(यस्य) (ओषधीः[1]) ([2]प्रसर्पथ) (अङ्गमङ्गम्) प्रत्यवयवम् (परुष्परुः) **मर्ममर्म (ततः) (यक्ष्मम्) (वि) (बाधध्वे) (उग्रः) [तीव्रम्] (मध्यमशीरिव) यो मध्यमानि मर्माणि श्रृणातीव ।।८६।।**

---

१. आमन्त्रितनिघातः । व्यत्ययेन विभक्तिविपरिणामः । अस्मिन् विषये पूर्वं (य० ११) द्रष्टव्यम् ।।

२. ज्ञानं गमनं प्राप्तिरिति गतेस्त्रयोऽर्थाः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रसर्पथः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे तिङा समासे तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्तः ।।

(अङ्गमङ्गम्) अङ्गशब्दः पूर्वं (य० ६।१०) व्याख्यातः । नित्यवीप्सयोः (अ० ८।१।४) इति द्विर्वचने अनुदात्तं च (अ० ८।१।३) इति परस्यानुदात्तता ।।

(परुष्परुः) अर्त्तिपॄवपियजि० (उ० २।११७) इति 'उसिः', स च नित् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । ततो द्विर्वचनं परस्यानुदात्तता च पूर्ववत् ।।

(उग्रः) उद्गिरतीति उग्रः । ऋजेन्द्राग्रवज्रविप्र० (उ० २।२८) इति 'रन्' प्रत्यये निपात्यते । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

(मध्यमशीरिव) इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरश्च । पूर्वपदे च मध्यमोपपदात् श्रृणातेः क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

$ 'साधन कर' इत्यजमेरमुद्रिते द्वितीयसंस्करणेऽपपाठः । 'सिद्ध' इति प्रथमसंस्करणे कगकोशयोश्च शुद्धः पाठः, मुद्रणसंशोधकैर्दूषित इति ध्येयम् ।।

* 'नाशयेयुः' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्चापपाठः ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यस्याङ्गमङ्गं परुष्परुः प्रति वर्त्तमानं [अस्ति तस्य उग्रः] यक्ष्मं मध्यमशीरिव बिबाधध्वे, [ततः] ओषधीः प्रसर्पथ विजानीत, †ता वयं सेवेमहि ॥८६॥

भावार्थः—यदि शास्त्राऽनुसारेणौषधानि सेवेरंस्तर्ह्यङ्गादङ्गाद्रोगान्निःसार्याऽरोगिणो§ भवन्ति ॥८६॥

ठीक ठीक सेवन की हुई ओषधी रोगों को कैसे[1] न नष्ट करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (यस्य) जिसके (अङ्गमङ्गम्) सब अवयवों और (परुष्परुः) मर्म मर्म $में रोग वर्त्तमान है, उसके उस (उग्रः) तीव्र (यक्ष्मम्) क्षय रोग को (मध्यमशीरिव) बीच के मर्मस्थानों को काटते हुए के समान (विबाधध्वे) विशेष कर ʃनिवृत्त करो। (ततः) उसके पश्चात् (ओषधीः) ओषधियों को (प्रसर्पथ) [‡जानो, उन को हम सेवन करें] ॥८६॥

भावार्थः—जो मनुष्यलोग शास्त्र के अनुसार ओषधियों का सेवन करें, तो सब अवयवों से रोगों को निकाल के नीरोग‡ रहते हैं ॥८६॥

साकमित्यस्य भिषगृषिः । [वैद्या देवताः ।] विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कथं कथं रोगा निहन्तव्या इत्याह ॥

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥८७॥

साकम् । यक्ष्म । प्र । पत । चाषेण । किकिदीविना ॥ साकम् । वातस्य । ध्राज्या । साकम् । नश्य । निहाकयेति निऽहाकया ॥८७॥

पदार्थः—(साकम्) सह (यक्ष्म) राजरोगः (प्र) (पत) *प्रपतति (चाषेण)

---

१. अर्थात् अवश्य नष्ट करती हैं ॥८६॥

---

† 'तान् वयम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥
§ 'अरोगी कुर्वन्ति' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥
$ 'के प्रति वर्त्तमान है' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥
ʃ 'निवृत्त कर' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'निवृत्त करो' इति कगकोशयोः पाठः ॥
‡ 'प्राप्त होओ' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । स च संस्कृताननुगतः ॥
‡ 'सुखी रहते हैं' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥
* 'प्रपातय' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । '(यक्ष्म) राजरोगः' इति सम्बुद्धेः प्रथमान्तविपरिणामेन व्याख्याततया तदनुसारमत्रापि मध्यमपुरुषस्य प्रथमपुरुषविपरिणामेन भाव्यम् । भाषापदार्थोऽप्यत्रैवानुकूलः ॥

भक्षणेन (किकिदीविना[1]) †किंकि ज्ञानं दीव्यति ददाति यस्तेन । 'कि ज्ञाने' इत्यस्मादौणादिके[2] सन्वति डौ कृते किकिस्तदुपपदाद् दिवुधातोरौणादिकः किर्बाहुलकाद् दीर्घश्च (साकम्) (वातस्य) वायोः (ध्राज्या) गत्या (साकम्) (नश्य) नश्येत्, अत्र [3]व्यत्ययः (निहाकया) नितरां हातुं योग्यया पीडया । ८७।।

अन्वयः—हे चिकित्सो विद्वन् ! किकिदीविना चाषेण साकं यक्ष्म प्रपत, यथा तस्य वातस्य ध्राज्या साकमयं नश्य, निहाकया साकं दूरीभवेत्, तदर्थं प्रयतस्व ।।८७।।

भावार्थः—मनुष्यैरौषधसेवनप्राणायामव्यायामै रोगान् निहत्य सुखेन वर्त्तितव्यम् ।।८७

रोगों को कैसे कैसे नष्ट करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे वैद्य विद्वन् पुरुष ! (किकिदीविना) ज्ञान बढ़ाने हारे (चाषण) आहार से (साकम्) ओषधियुक्त पदार्थों के साथ (यक्ष्म) राजरोग (प्रपत) हट जाता है, जैसे उस (वातस्य) वायु की (ध्राज्या) गति के (साकम्) साथ यह (नश्य) नष्ट हो, और (निहाकया) निरन्तर छोड़ने योग्य पीड़ा के (साकम्) साथ दूर हो, वैसा प्रयत्न कर ।।८७।।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ओषधियों का सेवन कर, [4]योगाभ्यास और व्यायाम के सेवन से रोगों को नष्ट कर सुख से वर्त्तें ।।८७।।

---

१. अस्य विषये व्याकरणप्रक्रियायां द्रष्टव्यम् ।।

२. उ० ४।५६ ।।

३. पुरुषव्यत्यय इति भावः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(साकम्) एवादीनामन्तः (फिट् ८२) इत्यन्तोदात्तो निपातः ।।

(चाषेण) 'चष भक्षणे' (भ्वा० उ०) भावे 'घञ्' । **कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः** (अ० ६।१।१५३) इत्यन्तोदात्ते प्राप्ते वृषादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तः ।।

(किकिदीविना) शब्दसिद्धिरुक्ता भाष्ये । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । पदमिदमुणादावपि (४।५६) निपात्यते । तत्र केचन वृत्तिकाराः **'किकीदिविः'** पदं निपातयन्ति, अपरे **'किकिदीविः'** इति । अत्र 'क्विन्' प्रत्ययविधानात् कृदुत्तरपदाद्युदात्तप्रसक्तौ निपातनादन्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ।।

(ध्राजिः) **'ध्रज गतौ'** **(भ्वा० प०) इञ् वपादिभ्यः** (अ० ३।३।१०८ वा०) इत्यनेन **वसिवपियजि०** (उ० ४।१२५) इत्यादिना वा बाहुलकाद् 'इञ्' । ञित्त्वादुपधावृद्धिः, आद्युदात्तत्वं च ।।

(निहाका) नौ हः (उ० ३।४४) इति निपूर्वाज्जहातेः 'कन्' । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्य नित्त्वादुत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

४. 'प्राणायाम' इति तु संस्कृतानुसारम् ।।८७।।

'यक्ष्म' इति सम्बुद्धेः 'राजरोगम्' इति द्वितीयान्तविपरिणामेन व्याख्याने तु कृते सति 'प्रपातय' इति पाठोऽपि कदाचित् सम्भवति, परन्तु तदा तदनुसारं भाषापदार्थेऽपि '(यक्ष्म) राजरोग को (प्रपत) हटाओ' इति पाठः कल्पनीयः स्यात् ।।

† 'किं किं' इति त्वजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।।

अन्या व इत्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

युक्त्या संमेलिता ओषधयो रोगनाशका जायन्त इत्याह ॥

अन्या वोऽ अन्यामवत्वन्यान्यस्याऽ उपावत ।
ताः सर्वाः संविदानाऽ इदं मे प्रावता वचः ॥८८॥

अन्या । वः । अन्याम् । अवतु । अन्या । अन्यस्याः । उप । अवत ॥ ताः । सर्वाः । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । इदम् । मे । प्र । अवत । वचः ॥८८॥

पदार्थः—(अन्या) भिन्ना (वः) युष्मान् (अन्याम्) (अवतु) रक्षतु (अन्या) (अन्यस्याः) ([1]उप*) (अवत) (ताः) (सर्वाः) (संविदानाः) परस्परं संवादं कुर्वाणाः (इदम्) (मे) मम (प्र) (अवत) अत्रान्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घः (वचः) ॥८८॥

अन्वयः—हे स्त्रियः ! संविदाना यूयमिदं मे वचः प्रावत, तास्सर्वा ओषधीरन्या अन्यस्या इवोपावत । यथाऽन्याऽन्यां रक्षति तथा वोऽध्यापिकाऽवतु ॥८८॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा सद्वृत्ताः स्त्रियोऽन्यो अन्यस्या रक्षणं कुर्वन्ति, तथैवानुकूल्येन संमिलिता ओषधयः सर्वेभ्यो रोगेभ्यो रक्षन्ति । हे स्त्रियः ! यूयमोषधिविद्यायै परस्परं संवदध्वम् ॥८८॥

युक्ति से मिलाई हुई ओषधियां रोगों को नष्ट करती हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रियो ! (संविदानाः) आपस में संवाद करती हुई तुम लोग (मे) मेरे (इदम्) इस (वचः) वचन को (प्रावत)पालन करो,(ताः)उन(सर्वाः) सब ओषधियों

---

१. '(उप)·········संवादं कुर्वाणाः' एतावान् पाठोऽत्र पदार्थे लेखकप्रमादान्नष्टः स्यात् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अन्या) अन्यशब्दोऽन्तोदात्तः पूर्वं (य० ६।३७ व्याख्यातः । तस्मात् स्त्रियां 'टाप्' । स च पित्त्वादनुदात्तः । तत एकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्युदात्तः ॥

(संविदानाः)सम्पूर्वाद् वेत्तेः 'शानच्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्त्वादन्तोदात्तः ॥८८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* '(उप) (अवत) (ताः) (सर्वाः) (संविदानाः) परस्परं संवाद कुर्वाणाः' इति पाठः ककोशे वर्त्तमानो गकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः, मुद्रणप्रतौ च तदभावात् मुद्रणेऽपि तदभावः समपद्यत ॥

की (अन्या) दूसरी (अन्यस्याः) दूसरी की रक्षा के समान (उपावत) समीप से रक्षा करो। जैसे (अन्या) एक (अन्याम्) दूसरी की रक्षा करती है, वैसे (वः) तुम लोगों को पढ़ाने हारी स्त्री (अवतु) तुम्हारी रक्षा करे ॥८८॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे श्रेष्ठ नियम वाली स्त्री एक दूसरे की रक्षा करती है, वैसे ही अनुकूलता से [अर्थात् यथायोग्य] मिलाई हुई ओषधी सब रोगों से रक्षा करती है। हे स्त्रियो! तुम लोग ओषधीविद्या के लिये परस्पर संवाद करो ॥८८॥

या इत्यस्य भिषगृषिः । [वैद्या देवताः ।] विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

रोगनिवाणार्था एवौषधय ईश्वरेण निर्मिता इत्याह ॥

याः फलिनीर्याऽ अफलाऽ अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥८९॥

याः । फलिनीः । याः । अफलाः । अपुष्पाः । याः । च । पुष्पिणीः ॥ बृहस्पतिप्रसूता इति बृहस्पतिऽप्रसूताः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अꣳहसः ॥८९॥

पदार्थः—(याः) (फलिनीः) [1]बहुफलाः (याः) (अफलाः) अविद्यमानफलाः (अपुष्पाः) पुष्परहिताः (याः) (च) (पुष्पिणीः) [1]बहुपुष्पाः (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहतां [2]पतिनेश्वरेणोत्पादिताः (ताः) (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) रोगजन्यदुःखात् ॥८९॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! याः फलिनीर्या अफला या अपुष्पा याश्च पुष्पिणीर्बृहस्पतिप्रसूता ओषधयो नोंऽहसो यथा मुञ्चन्तु, [तथा] ता युष्मानपि मोचयन्तु ॥८९॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—**मनुष्यैर्या ईश्वरेण सर्वेषां प्राणिनां जीवनाय रोगनिवारणाय औषधयो निर्मिताः, ताभ्यो वैद्यकशास्त्रोक्तोपयोगेन सर्वान् रोगान् हत्वा पापाचाराद् दूरे स्थित्वा धर्मे नित्यं प्रवर्त्तितव्यम् ॥८९॥**

---

१. भूमार्थेऽत्र 'इनिः' प्रत्यय इति भावः ॥

२. **षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा** (अ० १।४।९) इत्यनेन छन्दसि विहितां घिसंज्ञां **'छान्दसाः क्वचिद् भाषायामपि प्रयुज्यन्ते'** इति न्यायाद् इहापि घिसंज्ञा द्रष्टव्या। यथा—**वैनाच्छन्दसि** (**अ० ४।१।१५१ गणसूत्रम्**) इति विहितो ण्यः वैन्यो राजा इत्यत्रापि दृश्यते ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(फलिनीः) (पुष्पिणीः) भूम्न्यर्थे **अत इनिठनौ** (**अ० ५।२।११५**) इति 'इनिः'। प्रत्ययस्वरः। स्त्रियां 'ङीप्,' स च पित्त्वादनुदात्तः ॥

(अफलाः) (अपुष्पाः) उभयत्र **नञ्सुभ्याम्**

रोगों के निवृत्त करने के लिये ही ईश्वर ने ओषधी रची हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (याः) जो (फलिनीः) बहुत फलों से युक्त, (याः) जो (अफलाः) फलों से रहित, (याः) जो (अपुष्पाः) फूलों से रहित, (*च) और जो (पुष्पिणीः) बहुत फूलों वाली, (बृहस्पतिप्रसूताः) वेदवाणी के स्वामी ईश्वर के द्वारा उत्पन्न की हुई ओषधियां (नः) हमको (अंहसः) दुःखदायी रोग से जैसे† (मुञ्चन्तु) छुड़ावें (ताः) वे तुम लोगों को भी †वैसे रोगों से छुड़ावें ॥८९॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो ईश्वर ने सब प्राणियों को अधिक अवस्था [तक जीने] और रोगों की निवृत्ति के लिये ओषधियां रची हैं, उनसे वैद्यकशास्त्र में कही हुई रीतियों से सब रोगों को निवृत्त कर और पापों से अलग रह कर धर्म में नित्य प्रवृत्त रहें ॥८९॥

मुञ्चन्तु मेत्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । §स्वराडुष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

किं किमौषधं कस्मात्कस्मान्मुञ्चतीत्याह ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥९०॥

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथोऽइत्यथो । वरुण्यात् । उत ॥ अथोऽइत्यथो । यमस्य । पड्वीशात् । सर्वस्मात् । देवकिल्बिषादिति देवऽकिल्बिषात् ॥९०॥

पदार्थः—(मुञ्चन्तु) पृथक्कुर्वन्तु (मा) माम् (शपथ्यात्) शपथे भवात् कर्मणः (अथो) (वरुण्यात्) वरुणेषु वरेषु भवादपराधात् (उत) अपि (अथो) (यमस्य) न्यायाधीशस्य ([1]पड्वीशात्) न्यायविरोधाचरणात् (सर्वस्मात्) (देवकिल्बिषात्) देवेषु विद्वत्स्वपराधकरणात् ॥९०॥

(अ० ६।२।१७१) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(बृहस्पतिप्रसूताः) तृतीयासमासे तृतीया कर्मणि (अ० ६।२।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । बृहस्पतिपदं पूर्वत्र (य० २।१२) व्याख्यातम् ॥८९॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. 'पत्लृ गतौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद् यथाकथञ्चिदुन्नेयः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मुञ्चन्तु) 'मुच्लृ मोचने' (तु० उ०) । शे मुचादीनाम् (अ० ७।१।५९) इति 'नुम्' । तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्० (अ० ६।१।१८०) इति लसार्वधातुकनिघाते शस्वरः । एकादेश

---

* '(च)' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

† 'जैसे······वैसे' इति ककोशे नास्ति ॥

§ 'भुरिगुष्णिक्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—हे विद्वांसः ! भवन्तो †यथौषधयो रोगात् पृथग् रक्षन्ति, तथा शपथ्यादथो वरुण्यादथो यमस्य पड्वीशादुत सर्वस्माद् देवकिल्बिषान्मा मुञ्चन्तु पृथग् रक्षन्तु, तथा§ युष्मानपि रोगेभ्यो मुञ्चन्तु$ ॥९०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैः [1]प्रमादकार्य्यौषधं विहायान्यद् भोक्तव्यं, न कदाचिच्छपथः कार्य्यः, श्रेष्ठापराधान्न्यायविरोधात् पापाचरणाद् विद्वदीर्ष्याविषयात् पृथग्∫ भूत्वाऽऽनुकूल्येन वर्त्तितव्यमिति ॥९०॥

कौन कौन ओषधी किस किस [रोग] से छुड़ाती हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो ! आप, जैसे महौषधि रोगों से पृथक् करती हैं, [वैसे] (शपथ्यात्) शपथसम्बन्धी कर्म [से] (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुए अपराध से, (अथो) इसके पश्चात् (यमस्य) न्यायाधीश के (पड्वीशात्) न्याय के विरुद्ध आचरण से, (उत) और (सर्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) विद्वानों के विषय [के] अपराध से (मा) मुझको (मुञ्चन्तु) पृथक् रक्खें, वैसे तुम लोगों को भी पृथक् रक्खें ॥९०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि [2]प्रमादकारक पदार्थों को छोड़ के अन्य पदार्थों का भोजन करें, और कभी सौगन्द [न खायें], श्रेष्ठों का अपराध, न्याय से विरोध, ‡पापाचरण और विद्वानों की ईर्ष्या से पृथक् हो कर अनुकूलता से व्यवहार करें ॥९०॥

उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्युदात्तत्वम् ।

(शपथ्यात्) (वरुण्यात्) उभयत्र भवे छन्दसि (अ० ४।४।११०) इति 'यत्' । तित् स्वरितम् (अ० ६।१।१७९) इति स्वरितत्वम् ॥

(अथो) निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(यमस्य) पूर्वं (य० ९।३५) व्याख्यातः ॥

(पड्वीशात्) पड्वीशशब्दो बन्धनवाचीति भाष्यकाराः । 'पत्सु प्रविष्ट पड्वीशः'··· इति पृषोदरादिः । अश्वानां सन्दानस्थानं पड्वीश इत्येके' इति भट्टभास्करः (तै० ब्रा० १।६।१०।३) । 'पड्बीश' इति पवर्गतृतीयपाठ ऋग्वेदे १०।९७।१६ । पाठभेदेनैतदेवं स्यात् । निपातनादेवाद्युदात्तत्वम् ॥

(देवकिल्बिषात्) समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. मदकारि इत्यर्थः ॥

२. अर्थात् मदकारक भांग आदि ॥९०॥

---

† 'यथा महौषधयो' इति कपाठः ॥

§ 'तथा युष्मानपि रोगेभ्यो मुञ्चन्तु' इति पाठः ककोशे नास्ति ॥

$ यद्यपि 'मुञ्चन्तु' इत्यस्य कर्त्ता 'ओषधयः' इति वा स्यात् 'भवन्तः' इति वेत्युभयथा सम्भवति, तथापि 'भवन्तः' इत्यस्यैव कर्तृत्वमत्र युक्ततरं ज्ञेयम् ॥

∫ 'पृथग् भूत्वा' इति ककोशे नास्ति, ग कोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

‡ 'और मूर्खों के समान ईर्ष्या न करें' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स च संस्कृताननुगतः ॥

अवपतन्तीरित्यस्य वरुण ऋषिः । वैद्या देवताः । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

अध्यापकाः *सर्वेभ्य उत्तमौषधिविज्ञानं कारयेयुरित्याह ॥

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥९१॥

अवपतन्तीरित्यवऽपतन्तीः । अवदन् । दिवः । ओषधयः । परि ॥ यम् । जीवम् । अश्नवामहै । न । सः । रिष्याति । पूरुषः । पुरुष इति पुरुषः ॥९१॥

पदार्थः—(अवपतन्तीः) अध आगच्छन्तीः (अवदन्) उपदिशन्तु[1] (दिवः) प्रकाशात् (ओषधयः) सोमाद्याः (परि) सर्वतः (यम्) (जीवम्) प्राणधारकम् (अश्नवामहै) प्राप्नुयाम (न) निषेधे (सः) (रिष्याति) †रोगैर्हिंसितो भवेत् (पूरुषः) पुमान् ॥९१॥

अन्वयः—वयं या [2]दिवोऽवपतन्तीरोषधयः सन्ति, या विद्वांसः पर्यवदन्, याभ्यो यं जीवमश्नवामहै, §ताः संसेव्य स पूरुषो न रिष्याति, कदाचिद् $रोगैर्हिंसितो न भवेत् ॥९१॥

---

१. अन्वये 'उपदिशन्ति' इत्यर्थः सङ्गच्छते ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अवपतन्तीः) अवपूर्वात् 'पत्लृ गतौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माल्लटि शतरि स्त्रीलिङ्गे प्रथमाबहुवचने रूपम् । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे अदुपदेशत्वात् लसार्वधातुकनिघाते धातुस्वरः । **उगितश्च** (अ० ४।१।६) इति 'ङीप्' । स च पित्त्वादनुदात्तः ॥

(**जीवम्**) पचाद्यच् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(**अश्नवामहै**) लोटि उत्तमस्य बहुवचने आटि श्नोर्गुणेऽवादेशे च रूपम् । **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे **आडुत्तमस्य पिच्च** (अ० ३।४।९२) इति पित्त्वम्, आगमरूपैकदेशद्वारा प्राप्तं पित्त्वं सर्वस्य लोटो धर्मोऽनु ज्ञायते । तेन पित्त्वादनुदात्तत्वे श्नुस्वरः ॥

(**रिष्याति**) '**रिष हिंसायाम्**' (दि० प०) इत्यस्य लेटि प्रयोगोऽयम् । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. 'दिवोऽवपतन्तीः'—सूर्यादिप्रकाशमन्तरेण जीवनस्यासम्भव इति भावः । अत्र तैत्तिरीय-

---

* साम्प्रतिकानां मते 'सर्वान्' इति स्यात् ॥

† 'रिष्येत' इति कपाठः । स च गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

§ 'याः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स चानन्वितः । 'याः संसेव्य' इति पाठः ककोशे नास्त्येव । गकोशे प्रवर्द्धने व्यस्तः स्यात् ॥

$ 'रोगैर्हिंसितो न भवेत्' इति पाठस्य स्थाने ककोशे तु 'न हिंस्यात्' इत्येव पाठः । स च गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

भावार्थः— विद्वांसोऽखिलेभ्यो मनुष्येभ्यो दिव्यौषधीनां विद्यां प्रदद्युः । यतोऽलं जीवनं सर्वे प्राप्नुयुः । एता ओषधीः केनापि कदाचिन्नैव विनाशनीयाः ॥९१॥

अध्यापक लोग सब को उत्तम ओषधि जनावें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हम लोग जो (दिवः) प्रकाश से (अवपतन्तीः) नीचे को आती हुई (ओषधयः) सोमलता आदि ओषधि हैं, जिनका विद्वान् लोग (पर्य्यवदन्) सब ओर से उपदेश करते हैं, जिनसे (यम्) जिस (जीवम्) प्राणधारण [करने वाले]को (अश्नवामहै) प्राप्त होवें, (सः) वह (पुरुषः) पुरुष (न) कभी न (रिष्याति) रोगों से नष्ट हो ॥९१॥

भावार्थः—विद्वान् लोग सब मनुष्यों के लिये दिव्य ओषधिविद्या को देवें, जिससे सब लोग पूरी अवस्था को प्राप्त होवें । इन ओषधियों को कोई भी कभी नष्ट न करे ॥९१॥

या ओषधीरित्यस्य वरुण ऋषिः । [भिषजो देवताः ।] निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

स्त्रीभिरवश्यमोषधिविद्या ग्राह्या इत्याह ॥

या॒ऽ ओष॑धीः॒ सोम॑राज्ञीर्ब॒ह्वीः श॒तवि॑चक्षणाः ।
तासा॑मसि॒ त्वमु॑त्त॒मारं॒ कामा॑य॒ शꣳ हृ॒दे ॥९२॥

याः । ओष॑धीः । सोम॑राज्ञी॒रिति॒ सोम॑ऽराज्ञीः । ब॒ह्वीः । श॒तवि॑चक्षणा॒ इति॑ श॒तऽवि॑चक्षणाः ॥ तासा॑म् । अ॒सि॒ । त्वम् । उ॒त्त॒मेत्यु॑त्ऽत॒मा । अर॑म् । कामा॑य । शम् । हृ॒दे ॥९२॥

पदार्थः—(याः) (ओषधीः) (सोमराज्ञीः) सोमो राजा यासां ताः (बह्वीः) (शतविचक्षणाः) शतमसंख्या विचक्षणा गुणा यासु ताः (तासाम्) (असि) (त्वम्) (उत्तमा) (अरम्) अलम् (कामाय) इच्छासिद्धये (शम्) कल्याणकारिणी (हृदे) हृदयाय ॥९२॥

ब्राह्मणम्—'येऽस्या ओषधीर्न जनयाम इति । ते दिवो वृष्टिमसृजन्त । यावन्तस्तोका अवापद्यन्त तावतीरोषधयोऽजायन्त । (तै० ब्रा० २।१।१।१) । ओषधिषु ओषाधायकरूपो गुणः प्राधान्येन सोमस्य । सोमेनैव सूर्यो दीप्यते । स एव च सोमः सूर्यकिरणैर्भूलोकं प्राप्य ओषधिषु प्रविशति । इयं सूर्यात् सोमप्राप्तिरेव ब्राह्मणग्रन्थेषु सोमाहरणाख्यायिकया प्रपञ्च्यते ॥९१॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सोमराज्ञीः) अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् (अ० ४।१।२८) इति 'ङीप्' । **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । सोमशब्दो मन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः ॥

(बह्वीः) पूर्वं (य० ११) व्याख्यातः ॥

(शतविचक्षणाः) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-**

अन्वयः—हे स्त्रि ! यतस्त्वं याः शतविचक्षणा बह्वीः सोमराज्ञीरोषधीः सन्ति, तासामुत्तमा विदुष्यसि, तस्माच्छं हृदेऽरं कामाय भवितुमर्हसि[1] ॥९२॥

भावार्थः—स्त्रीभिरवश्यमोषधिविद्या ग्राह्या, नैतामन्तरा पूर्णं कामसुखं लब्धुं शक्यम्, रोगान्निवर्त्तयितुं च ॥९२॥

स्त्री लोग अवश्य ओषधिविद्या का ग्रहण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! जिससे (त्वम्) तू (याः) जो (शतविचक्षणाः) असंख्यात शुभ-गुणों से युक्त (बह्वीः) बहुत (सोमराज्ञीः) सोम जिन में राजा अर्थात् सर्वोत्तम (ओषधीः) ओषधि हैं, (तासाम्) उन के विषय में (उत्तमा) उत्तम *विदुषी (असि) है, इस से∫ (हृदे) हृदय के लिये (शम्) कल्याणकारिणी, (कामाय) इच्छासिद्धि के लिये (अरम्) समर्थ = योग्य होती है, [2]हमारे लिये उनका उपदेश कर ॥९२॥

भावार्थः—स्त्रियों को चाहिये कि ओषधिविद्या का ग्रहण अवश्य करें, क्योंकि इसके विना पूर्ण कामसुख प्राप्ति और रोगों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती ॥९२॥

या इत्यस्य वरुण ऋषिः । §ओषधयो देवताः । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कथं सन्तानोत्पत्तिः कार्य्येत्याह ॥

याऽ ओष॑धीः सोम॑राज्ञी॒र्विष्ठि॑ताः पृथि॒वीमनु॑ ।
बृह॒स्पति॑प्रसूताऽ अ॒स्यै सं द॑त्त वी॒र्य॒म् ॥९३॥

पदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । शतशब्दः पूर्वं (य० १।३) व्याख्यातः ॥

(**उत्तमा**) उत्तमशब्दः पूर्वं (य० ६।३०) व्याख्यातः । ततः टापि **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तः ॥

(**अरम्**) अलम् शब्दो **निपाता आद्युदात्ताः** (फिट्० ८०) इत्याद्युदात्तः । **बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रमापद्यते** (अ० ८।२।१८ भा० वा०) इति रेफादेशः ॥

(**कामाय**) कामशब्दः पूर्वं (य० ७।४८) व्याख्यातः । ततो विभक्तिरुदात्ता ॥

(हृदे) हृदयशब्दस्य **पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्०** (अ० ६।१।६१) इति हृदादेशः । **ऊडिदंपदाद्यप्०** (अ० ६।१।१७१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. इतोऽग्रे भाषानुसारम् 'अस्मभ्यं ता उपदिश' इति भवितव्यम् । तच्चानावश्यकमेव प्रतिभाति ॥

२. 'हमारे लिए उन का उपदेश कर' अस्य संस्कृतं नास्ति ॥९२॥

---

* 'विद्वान्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥ ∫ इतोऽग्रे '(शम्) कल्याणकारिणी (हृदे) हृदय के लिये (अरम्) समर्थ (कामाय) इच्छासिद्धि के लिये योग्य होती है' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ 'ओषधयो देवताः' इति पाठः ककोशे उपलभ्यमानोऽपि गकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः, अत एव मुद्रितेऽपि नोपलभ्यत इति ध्येयम् ॥

याः। ओषधीः। सोमराज्ञीरिति सोमऽराज्ञीः। विष्ठिताः। विस्थिता इति विऽस्थिताः। पृथिवीम्। अनु। बृहस्पतिप्रसूता इति बृहस्पतिऽप्रसूताः। अस्यै। सम्। दत्त। वीर्य्यम् ॥९३॥

पदार्थः—(याः) (ओषधीः) ओषध्यः (सोमराज्ञीः) सोमप्रमुखाः (विष्ठिताः) विशेषेण स्थिताः (पृथिवीम्) (अनु) (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहतः [1]कारणस्य पालकस्येश्वरस्य निर्माणादुत्पन्नाः (अस्यै) पत्न्यै (सम्) (दत्त) (वीर्य्यम्) ॥९३॥

अन्वयः—हे विवाहितपुरुष ! याः सोमराज्ञीर्बृहस्पतिप्रसूता ओषधीः पृथिवीमनु विष्ठिताः सन्ति, ताभ्योऽस्यै वीर्य्यं देहि। हे विद्वांसः ! यूयमेतासां विज्ञानं सर्वेभ्यः संदत्त ॥९३

भावार्थः—स्त्रीपुरुषाभ्यां महौषधीः संसेव्य, सुनियमेन गर्भाधानमनुधेयम्, ओषधिविज्ञानं विद्वद्भ्यः संग्राह्यम् ॥९३॥

कैसे सन्तानों को उत्पन्न करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विवाहित पुरुष ! (याः) जो (सोमराज्ञीः) सोम जिनमें उत्तम हैं, वे (बृहस्पतिप्रसूताः) बड़े कारण के रक्षक ईश्वर की रचना से उत्पन्न हुई (ओषधीः) ओषधियां (पृथिवीम्) (अनु) भूमि के ऊपर (विष्ठिताः) विशेषकर स्थित हैं, उन से (अस्यै) इस स्त्री के लिये (वीर्य्यम्) बीज का दान दे। ʃहे विद्वानो ! आप इन ओषधियों का विज्ञान सब मनुष्यों के लिये (संदत्त) अच्छे प्रकार दिया कीजिये ॥९३॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को उचित है कि बड़ी बड़ी ओषधियों का सेवन करके सुन्दर नियमों के साथ गर्भ धारण करें, और ओषधियों का विज्ञान विद्वानों से सीखें ॥९३॥

याश्चेदमित्यस्य वरुण ऋषिः। भिषजो देवताः। विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

शुद्धेभ्यो देशेभ्य ओषधयः संग्राह्या इत्याह ॥

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै संदत्त वीर्य्यम् ॥९४॥

---

१. प्रकृतेरित्यर्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(विष्ठिताः) कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति प्रादिसमासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः। द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति (अ० ७।४।४०) इति 'इत्वम्'। उपसर्गात् सुनोतिसुवति० (अ० ८।३।६५) इति षत्वम् ॥

(बृहस्पतिप्रसूताः) पूर्वं (य० १२।८६) व्याख्यातः ॥९३॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

ʃ 'हे विद्वान् लोगो' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

याः । च । इदम् । उपशृण्वन्तीत्युपऽशृण्वन्ति । याः । च । दूरम् । परांगता इति परांऽगताः ॥ सर्वाः । संगत्येति सम्ऽगत्य । वीरुधः । अस्यै । सम् । दत्त । वीर्य्यम् ॥९४॥

पदार्थः—(याः) (च) विदिताः (इदम्) (उपशृण्वन्ति) (याः) (च) समीपस्थाः (दूरम्) (परागताः) (सर्वाः) (संगत्य) *एकीभूत्वा (वीरुधः) वृक्षप्रभृतयः (अस्यै) प्रजायै[1] (सम्) (दत्त) (वीर्य्यम्) पराक्रमम् ॥९४॥

अन्वयः—हे विद्वांसः ! भवन्तो याश्चोपशृण्वन्ति, याश्च दूरं परागतास्ताः सर्वा वीरुधः संगत्येदं वीर्य्यं प्रसाध्नुवन्ति, तासां विज्ञानमस्यै कन्यायै संदत्त ॥९४॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! या ओषधयो दूरसमीपस्था रोगापहारिण्यो बलकारिण्यः श्रूयन्ते, ता उपयुज्यारोगिणो भवत ॥९४॥

शुद्ध देशों से ओषधियों का ग्रहण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! आप लोग (याः) जो (च) विदित हुई और जिनको (उपश्रृण्वन्ति) सुनते हैं, (याः) जो (च) समीप हों, और जो (दूरम्) दूर देश में (परागताः) प्राप्त हो सकती हैं, उन (सर्वाः) सब (वीरुधः) वृक्ष आदि ओषधियों को (संगत्य) निकट प्राप्त कर (इदम्) इस (वीर्य्यम्) शरीर के पराक्रम को वैद्य[2] मनुष्य लोग जैसे सिद्ध करते हैं, वैसे उन ओषधियों का विज्ञान (अस्यै) इस कन्या को (संदत्त) सम्यक् प्रकार से दीजिये ॥९४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग, जो ओषधियां दूर वा समीप में रोगों को हरने और बल करनेहारी सुनी जाती हैं, उनको उपकार में ला के रोगरहित होओ ॥९४॥

---

१. प्रजासामान्यमत्राभिप्रेतम् । कन्याभ्योऽप्यौषधज्ञानमुपदेष्टव्यमिति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उपश्रृण्वन्ति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६।१।१५२ महाभा०) इति नियमेन लसार्वधातुकस्वर एवात्र प्रवर्त्तते । उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ वा०) इति समासे तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्तः ॥

(दूरम्) दुरीणो लोपश्च (उ० २।२०) इत्यनेन इण्धातो रकि उपसर्गस्यान्त्यलोपे दीर्घत्वे च रूपम् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरः । कातन्त्रीयोणादौ तु दुनोतेर्दीर्घश्च (उ० ६।५) इति दुनोते रकि दीर्घत्वे च रूपसिद्धिरुक्ता । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(परगताः) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(संगत्य) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे ल्यपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. 'वैद्य मनुष्य लोग' इति संस्कृते तु नास्ति ॥९४

---

* साम्प्रतिकानां मते 'एकीभूय' इति स्यात् ॥

मा व इत्यस्य वरुण ऋषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

केनाप्योषधयो नैव ह्रासनीया इत्याह ॥

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥९५॥

मा । वः । रिषत् । खनिता । यस्मै । च । अहम् । खनामि । वः ॥ द्विपादिति द्विऽपात् । चतुष्पात् । चतुःपादिति चतुःऽपात् । अस्माकम् । सर्वम् । अस्तु । अनातुरम् ॥९५॥

पदार्थः—(मा) (वः) युष्मान् (रिषत्) हिंस्यात् (खनिता) (यस्मै) प्रयोजनाय (च) (अहम्) (खनामि) उत्पाटयामि (वः*) युष्माकम् (द्विपात्) मनुष्यादि (चतुष्पात्) गवादि (अस्माकम्) (सर्वम्) (अस्तु) भवतु (अनातुरम्) †रोगातुरतारहितम् ॥९५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(रिषत्) 'रिष हिंसायाम्' (भ्वा० प०) लेटि मध्यमैकवचने अटि तिपि इकारलोपे व्यत्ययेन शविकरणे च रूपम् । इह **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(खनिता) 'खनु अवदारणे' (भ्वा० उ०) तृचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । यथा तु भाष्यान्वयस्तथा तु क्तान्तस्येदं रूपमभिमतमिति विज्ञायते । तत्र खनतेर्धातोः प्राकृते एवार्थे 'णिच्', क्तः । **निष्ठायां सेटि** (अ० ६।४।५२) इति णिलोपः । उपधावृद्धिस्तु न भवति **संज्ञापूर्वको विधिरनित्य** इति । तथा च **पद्मपुराणे** अस्त्रविशेषवाचिनः 'खनयित्री' इति पदस्य प्रयोगेऽपि वृद्ध्यभावो दृश्यते । यद्वा—केवलादेव खनतेः क्तप्रत्यये छान्दस इडागमः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । इटस्तु **आगमा अनुदात्ता भवन्ति** (महा० ३।४।१०३) इति ज्ञापकादनुदात्तत्वमेव भवति । ततः स्त्रियां टापि **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्येकादेशस्योदात्तत्वम् ॥

(खनामि) **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघातप्रतिषेधः । मिप्शपोः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(द्विपाद्, चतुष्पाद्) पूर्वं (य० ६।३१) व्याख्यातः ॥

(अनातुरम्) न आतुरम् अनातुरम् । **तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम् । यद्वा—'आतुरम्' इति भावप्रधानो निर्देशः । आतुरता इत्यर्थः । तत्र बहुव्रीहिसमासे **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । भाष्यन्तु अर्थप्रदर्शनपरमिति बोध्यम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* '(वः) एता ओषधीः, अत्र व्यत्ययः' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

† 'रोगेणातुरतारहितम्' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! अहं यस्मै यामोषधीं खनामि सा खनिता सती वो §युष्मान् मा [1]रिषत् । $यतो वोऽस्माकं च सर्वं द्विपाच्चतुष्पादनातुरमस्तु ॥९५॥

भावार्थः—य ओषधीः खनेत् स ता निर्बीजा न कुर्य्यात् । यावत् प्रयोजनं तावदादाय प्रत्यहं रोगान्निवारयेदोषधिसन्ततिं च वर्धयेत् । येन सर्वे प्राणिनो रोगकष्टमप्राप्य सुखिनः स्युः ॥९५॥

कोई भी मनुष्य ओषधियों की हानि न करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (अहम्) मैं (यस्मै) जिस प्रयोजन के लिये ओषधि को (खनामि) ∫उपाड़ता वा खोदता हूं, वह (खनिता) खोदी हुई‡ (वः) तुम को (मा) न (रिषत्) दुःख देवे, जिस से (वः‡) तुम्हारे [च] और (अस्माकम्) हमारे (द्विपात्) दो पग वाले मनुष्य आदि तथा (चतुष्पात्) गौ आदि (सर्वम्) सब प्रजा उस ओषधि से (अनातुरम्) रोगों के दुःखों से रहित (अस्तु) होवे ॥९५॥

भावार्थः—जो पुरुष जिन ओषधियों को खोदे, वह उनकी जड़ न मेटे। जितना प्रयोजन हो उतनी लेकर नित्य रोगों को हटाता रहे, [और] ओषधियों की परम्परा को बढ़ाता रहे, कि जिस से सब प्राणी रोगों के दुःखों से बच के सुखी होवें ॥९५॥

ओषधय इत्यस्य वरुण ऋषिः। वैद्या देवताः । *अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

किं कृत्वौषधिविज्ञानं वर्द्धेतेत्याह ॥

ओष॑धयः॒ सम॑वदन्त॒ सोमे॑न स॒ह राज्ञा॑ ।
यस्मै॑ कृ॒णोति॑ ब्राह्म॒णस्त॑ꣳ रा॑जन् पारयामसि ॥९६॥

---

१. 'रुष रिष हिंसायाम्' इति भ्वादौ दिवादौ च पठ्येते । तत्र छान्दसत्वादेवात्र विकरणव्यत्ययो द्रष्टव्यः ॥९५॥

---

§ 'युष्मान् मा। रिष्यत्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । 'युष्मांश्च मा रिषत्'इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

$ 'यतः सर्वं द्विपाच्चतुष्पादनातुरमस्तु' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

∫ 'काटता वा खोदता हूं वह' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

‡ इतोऽग्रे 'जिस से उस प्रयोजन से विरुद्ध और' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे पृथक्कृत इति ध्येयम् ॥

‡ '(वः) तुम्हारे' इति पाठः कगकोशयोः नास्ति, मुद्रणे परिवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

* 'निचृदनुष्टुप् छन्दः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

ओषधयः । सम् । अवदन्त । सोमेन । सह । राज्ञा ।। यस्मै । कृणोति । ब्राह्मणः । तम् । राजन् । पारयामसि ।।९६।।

पदार्थः—(ओषधयः) सोमाद्याः (सम्) (अवदन्त) परस्परं संवादं कुर्युः (सोमेन) (सह) (राज्ञा) प्रधानेन (यस्मै) रोगिणे (कृणोति†) करोति (ब्राह्मणः) वेदोपवेदवित् (तम्) (राजन्§) प्रकाशमान (पारयामसि) रोगसमुद्रात् पारं गमयेम ।।९६।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! याः सोमेन राज्ञा सह वर्त्तमाना ओषधयः सन्ति, तद्विज्ञानार्थं भवन्तः समवदन्त । हे राजन् ! वयं वैद्या [1]ब्राह्मणो यस्मै ओषधीः कृणोति, तं रोगिणं रोगात् पारयामसि ।।९६।।

भावार्थः—वैद्याः परस्परं [2]प्रश्नोत्तरैरोषधीविज्ञानं सम्यक् कृत्वा, रोगेभ्यो रोगिणः पारं नीत्वा सततं सुखयेयुः, यश्चैतेषां विद्वत्तमः स्यात्, स सर्वानायुर्वेदमध्यापयेत् ।।९६।।

क्या करने से ओषधियों का विज्ञान बढ़े, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो ! जो (सोमेन) (राज्ञा) सर्वोत्तम सोमलता के (सह) साथ वर्त्तमान (ओषधयः) ओषधि हैं, उन के विज्ञान के लिये आप लोग (समवदन्त) आपस में संवाद करो । $हे (राजन्) राजपुरुष ! हम वैद्य लोग, (ब्राह्मणः) वेदों और उपवेदों का वेत्ता पुरुष (यस्मै) जिस रोगी के लिये इन ओषधियों का ग्रहण [=निर्धारण] (कृणोति) करता है, (तम्) उस रोगी को रोगसागर से उन ओषधियों से (पारयामसि) पार पहुंचाते हैं ।।९६।।

भावार्थः—वैद्य लोगों को योग्य है कि आपस में प्रश्नोत्तरपूर्वक निरन्तर ओषधियों के ठीक ठीक ज्ञान से रोगों से रोगी पुरुषों को पार कर निरन्तर सुखी करें । और जो इन में उत्तम विद्वान् हो, वह सब मनुष्यों को वैद्यकशास्त्र पढ़ावे ।।९६।।

---

१. विद्वानेवौषधनिर्माणे चिकित्सायां चाधिकृतः स्यादिति राजनियमो भवेत् । तत्रापि ब्राह्मणः सत्त्वप्रधानोऽलोलुप एवेति, न तु यः कश्चिद् अपि ।।

२. वैद्याः परस्परं विमृश्यैव रोगस्य निदानं कुर्युः, तत्र च यो विद्वत्तमः स्यात्, तस्य निर्देशपुरःसरं चिकित्सायां प्रवृत्ताः स्युरिति भावः ।।९६।।

---

† '(कृणोति) करोति' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे प्रमादान्नष्टः स्यात् ।।

§ '(राजानम्) प्रकाशमानम्' इत्यजमेरमुद्रिते प्रथमसंस्करणेऽपपाठः । कगकोशयोस्तु 'राजन् प्रकाशमान' इत्येव शुद्धः पाठः । गकोशे (प्रेसकापीमध्ये) शुद्धोऽपि सन् मुद्रणे प्रमादादशुद्धः समजनि । द्वितीयसंस्करणे संशोधकेन सम्यक् संशोधितः ।।

$ 'हे वैद्य (राजन्) राजपुरुष हम लोग' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।

नाशयित्रीत्यस्य वरुण ऋषिः । भिषग्वरा देवताः । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

रोगपरिमाणा ओषधयः सन्तीत्याह ॥

नाशयित्री बलासस्यार्शसऽ उपचितामसि ।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥९७॥

नाशयित्री । बलासस्य । अर्शसः । उपचितामित्युपऽचिताम् । असि ॥ अथोऽइत्यथो । शतस्य । यक्ष्माणाम् । पाकारोरिति पाकऽअरोः । असि । नाशनी ॥९७॥

पदार्थः-- (नाशयित्री) (बलासस्य) आविर्भूतकफस्य (अर्शसः) मूलेन्द्रियव्याधेः (उपचिताम्) अन्येषां वर्धमानानां रोगाणाम् (असि) अस्ति (अथो) (शतस्य) अनेकेषाम् (यक्ष्माणाम्) महारोगाणाम् (पाकारोः) मुखादिपाकस्यारोर्मर्मच्छिदः शूलस्य च (असि) अस्ति, अत्रोभयत्र व्यत्ययः (नाशनी) *निवारयितुं शीला ॥९७॥

अन्वयः--हे वैद्याः ! या बलासस्यार्शस उपचितां नाशयित्र्यसि, अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोर्नाशिन्यसि, तामोषधिं यूयं विजानीत ॥९७॥

भावार्थः--मनुष्यैरेवं विज्ञेयं--यावन्तो रोगाः सन्ति, तावत्य एव तन्निवारिका ओषधयोऽपि वर्त्तन्ते । एतासां विज्ञानेन रहिताः प्राणिनो रोगैः [1]पच्यन्ते । यदि रोगाणामोषधीर्जानीयुस्तर्हि तेषां निवारणात् सततं सुखिनः स्युरिति ॥९७॥

जितने रोग हैं उतनी ओषधि हैं, उनका सेवन करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः--हे वैद्य लोगो ! जो (बलासस्य) प्रसिद्ध [=बढ़े] हुए कफ की, (अर्शसः) गुदेन्द्रिय की व्याधि वा (उपचिताम्) अन्य बढ़े हुए रोगों की (नाशयित्री) नाश करने

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नाशयित्री) 'णश अदर्शने' (दि० प०) णिजन्तात् तृचि स्त्रियाम् ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४।१।५) इति 'ङीप्' । उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६।१।१६८) इति ङीप उदात्तत्वम् ॥

(बलासस्य) 'बल प्राणने' (भ्वा० प०) इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक 'आस' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण 'आकार' उदात्तः ॥

(अर्शसः) व्याधौ शुट् च (उ० ४।१९६) इति अर्त्तेरसुन् शुडागमश्च । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(पाकारोः) अर्त्तेरौणादिक 'उः', अरुः । पाकश्चारुश्च पाकारुः । समाहारो द्वन्द्वः । छान्दसत्वान्नपुंसकाभावः । तस्य पाकारोः । समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अत्र 'पच' धातुः पीडनार्थः । तद्यथा--
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥
मनु० ७।२०॥

---

* 'निवारितुम्' इति कगकोशयोःपाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

हारी (असि) ओषधि है, (अथो) और जो (शतस्य) असंख्यात (यक्ष्माणाम्) †राजरोगों [महारोगों] अर्थात् भगन्दरादि और (पाकारोः) मुखरोगों और मर्मों का छेदन करने हारे शूल की (नाशनी) निवारण करनेहारी (असि) है, उस ओषधि को तुम लोग जानो ॥९७॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसा जानना चाहिये कि जितने रोग हैं, उतनी ही उनकी§ नाश करनेहारी ओषधि भी हैं। इन ओषधियों को नहीं जाननेहारे पुरुष रोगों से पीड़ित होते हैं। जो रोगों की ओषधि जानें, तो उन रोगों की निवृत्ति करके निरन्तर सुखी होवें ॥९७॥

त्वां गन्धर्वा इत्यस्य वरुण ऋषिः। वैद्या देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

कः क ओषधिं खनतीत्युपदिश्यते॥

त्वां ग॑न्धर्वाऽ अ॑खनँ॒स्त्वामिन्द्र॒स्त्वां बृह॒स्पति॑ः।
त्वामो॑षधे॒ सोमो॒ राजा॑ वि॒द्वान् यक्ष्मा॑दमुच्यत ॥९८॥

त्वाम्। ग॒न्ध॒र्वाः॑। अ॒ख॒न॒न्। त्वाम्। इन्द्र॑ः। त्वाम्। बृह॒स्पति॑ः॥ त्वाम्। ओ॒ष॒धे॒। सोम॑ः। राजा॑। वि॒द्वान्। यक्ष्मा॑त्। अ॒मु॒च्य॒त॒ ॥९८॥

पदार्थः—(त्वाम्) [1]ताम् (गन्धर्वाः) गानविद्याकुशलाः (अखनन्) खनन्ति (त्वाम्) ताम् (इन्द्रः) परमैश्वर्य्ययुक्तः (त्वाम्) ताम् (बृहस्पतिः) वेदवित् (त्वाम्) ताम् ([2]ओषधे) ओषधिम् (सोमः) सौम्यगुणसम्पन्नः (राजा) प्रकाशमानो राजन्यः (विद्वान्) *सत्यशास्त्रवित् (यक्ष्मात्) क्षयादिरोगात् (अमुच्यत) मुच्येत ॥९८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यया सेवितया रोगी यक्ष्मादमुच्यत यामोषधे ओषधिं यूय-

१. अत्र सर्वत्र व्यत्ययः॥

२. अत्रापि व्यत्ययेन द्वितीयार्थे सम्बुद्धिः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(गन्धर्वाः) पूर्वं (य० २।३) व्याख्यातः॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

† 'राजरोगों अर्थात् भगन्दरादि और' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। 'अन्य राजरोगों अर्थात् भगन्दरादि और' इति कपाठः, गकोशे संशोधितः स्यात्॥

§ 'उनका नाश करनेहारी' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम्॥

* 'सकलसत्यशास्त्रवित्' इति कपाठः॥

मुपयुङ्ग्ध्वं त्वां तां गन्धर्वा अखनंस्त्वां तामिन्द्रस्त्वां तां बृहस्पतिस्त्वां तां सोमो विद्वान् राजा †च तां खनेत्[1] ॥९८॥

भावार्थः—याः काश्चिदोषधयो मूलेन, काश्चिच्छाखादिना§, काश्चित्पुष्पेण, काश्चित्पत्रेण, काश्चित्फलेन, काश्चित्सर्वाङ्गैः रोगान् मोचयन्ति, तासां सेवनं मनुष्यैर्यथावत् कार्यम् ॥९८॥

कौन कौन ओषधि का खनन करता है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग जिस [सेवन की हुई] ओषधि से रोगी (यक्ष्मात्) क्षयरोग से (अमुच्यत) छूट जाय, और जिस [(ओषधे)] ओषधि को उपयुक्त करो, (त्वाम्) उसको (गन्धर्वाः) गानविद्या में कुशल पुरुष (अखनन्) [खोद कर] ग्रहण करें, (त्वाम्) उसको (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य से युक्त मनुष्य, (त्वाम्) उस को (बृहस्पतिः) वेदज्ञ जन, और (त्वाम्) उस को (सोमः) सुन्दर गुणों से युक्त (विद्वान्) सब शास्त्रों का वेत्ता (राजा) प्रकाशमान राजा उस ओषधि को खोदे ॥ ९८ ॥

भावार्थः—जो कोई ओषधि जड़ों से, $कोई शाखा आदि से, कोई पुष्पों, कोई फलों और कोई सब अवयवों करके रोगों को बचाती हैं, उन ओषधियों का सेवन मनुष्यों को यथावत् करना चाहिये ॥ ९८ ॥

सहस्वेत्यस्य वरुण ऋषिः । ओषधिर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः किं कृत्वा किं कार्य्यमित्याह ॥

सहस्व मेऽ अरातीः सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वं पाप्मानꣳ सहमानास्योषधे ॥९९॥

सहस्व । मे । अरातीः । सहस्व । पृतनायत इति पृतनाऽयतः ॥ सहस्व । सर्वम् । पाप्मानम् । सहमाना । असि । ओषधे ॥९९॥

पदार्थः—(सहस्व) बली भव (मे) मम (अरातीः) शत्रून् (सहस्व) (पृतनायतः)

---

[1]. ओषधिखननं राष्ट्रस्य महत् पवित्रं कार्यम्, तस्मात् राजाऽप्येतत् कुर्यादिति भावः ॥९८॥

---

† 'च त्वां ताम्' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । अत्र 'त्वाम्' इति पाठो व्यर्थः मन्त्रे चतुर्थस्याश्रवणात् ॥

§ 'शाखादिना' इत्यस्य स्थाने 'काष्ठेन' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् ॥

$ 'कोई काष्ठों से, कोई पुष्पों, कोई पत्तों, कोई फलों' इति कगकोशयो पाठः, मुद्रणे संशोधितः ॥

आत्मनः पृतनां [1]सेनामिच्छतः (सहस्व) (सर्वम्) (पाप्मानम्) रोगादिकम् (सहमाना) बलनिमित्ता (असि) (ओषधे) *ओषधिवद्वर्त्तमाने ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे ओषधे [2]ओषधिवद्वर्त्तमाने स्त्रि ! यथौषधिः सहमानासि† मे मम रोगान् सहते, तथाऽरातीः सहस्व, स्वस्य पृतनायतः सहस्व, सर्वं पाप्मानं सहस्व ॥ ६६ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।]

भावार्थः—[3]मनुष्यैरोषधिसेवनेन बलं वर्धयित्वा प्रजायाः स्वस्य च शत्रून् पापात्मनो जनांश्च वशं नीत्वा सर्वे प्राणिनः सुखयितव्याः ॥ ६६ ॥

मनुष्यों को क्या करके क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—[हे] (ओषधे) ओषधि§ के सदृश ओषधिविद्या की जाननेहारी स्त्री ! जैसे ओषधि (सहमाना) बल का निमित्त ($असि) है, (मे) मेरे रोगों का निवारण करके बल बढ़ाती है, वैसे (अरातीः) शत्रुओं को (सहस्व) सहन कर । अपने (पृतनायतः) सेना-युद्ध की इच्छा करते हुओं को (सहस्व) सहन कर, और (सर्वम्) सब (पाप्मानम्) रोगादि को (सहस्व) सहन कर ॥ ६६ ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।]

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ओषधियों के सेवन से बल बढ़ा और प्रजा के तथा अपने शत्रुओं और पापी जनों को वश में करके सब प्राणियों को सुखी करें ॥ ६६ ॥

---

१. 'पृतना' इति सेनानाम इति कोशकाराः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सहस्व) **'षह मर्षणे'** (भ्वा० आ०) **तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशात्०** (अ० ६।१।१८०) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्त्वेनानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(पृतनायतः) पृतनाशब्दात् सुप **आत्मनः क्यच्** (अ० ३।१।८) इति 'क्यच्' । लटः शतरि द्वितीयाबहुवचने रूपम् । **शतुरनुमो नद्यजादी** (अ० ६।१।१६७) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(सहमाना) लटः शानजादेशः । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. यथौषधयो रोगनिवारिकाः, तद्वद् विदुष्योऽपि दोषनिवारिकाः ॥

३. (क) 'मनुष्यैः' इति जातिवाचिपदम्, तेन पुरुषा स्त्रियश्चोभये गृह्यन्ते ॥

(ख) अत्रान्वये 'यथा······तथा' इत्युपलम्भादत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारो वर्त्तते, इत्यपि ध्येयम् ॥६६॥

---

* 'ओषधिवद्वर्त्तमाना' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥

† अत्र 'असि' इति पदं कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

§ 'के सदृश ओषधिविद्या की जाननेहारी' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'के सदृश' इति ककोशे नास्ति ॥

$ '(असि) है' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

दीर्घायुस्त इत्यस्य वरुण ऋषिः । वैद्या देवताः । विराड्बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

*मनुष्याः कथं भूत्वा स्वभिन्नान् कथं कुर्यु रित्याह ॥

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥१००॥

दीर्घायुरिति दीर्घऽआयुः । ते । ओषधे । खनिता । यस्मै । च । त्वा । खनामि । अहम् ॥ अथोऽइत्यथो । त्वम् । दीर्घायुरिति दीर्घऽआयुः । भूत्वा । शतवल्शेति शतऽवल्शा । वि । रोहतात् ॥१००॥

पदार्थः—(दीर्घायुः) चिरमायुः (ते) [1]तस्याः (ओषधे) ओषधिवद्वर्त्तमान विद्वन् ! (खनिता) [2]सेवकः (यस्मै) (च) (त्वा) ताम् (खनामि) (अहम्) (अथो) (त्वम्) (दीर्घायुः) (भूत्वा) (शतवल्शा) शतमसंख्याता वल्शा अङ्कुरा यस्याः सा (वि) (रोहतात्) ॥ १०० ॥

अन्वयः—हे ओषधे ओषध [3] इव† मनुष्य! यस्य ते तव यामोषधीं खनिताऽहं [यस्मै च] खनामि तया त्वं दीर्घायुर्भव §दीर्घायुर्भूत्वाथो त्वं या शतवल्शौषधी[4] वर्त्तते, त्वा तां सेवित्वाऽथ सुखी भव. $तथा विरोहतात् ॥ १०० ॥

---

१. अस्य अन्वये 'तव' इति शब्देन सम्बन्ध ऊहनीयः ॥

२. सेवको भृत्यो वा स्यात् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दीर्घायुः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥ दीर्घशब्दो दृणातेः कित् (स० २।२।६६) इति भोजीयसूत्रेण 'घ' प्रत्ययान्तः । कित्त्वाद् गुणाभावे ऋत इद्धातोः (अ० ७।१।१००) इति इत्वं रपरत्वं च । हलि च(अ० ८।२।७७) इति दीर्घत्वं च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(खनिता) तृचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(खनामि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे मिप्शपोः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(शतवल्शाः) पूर्वं (य० ५।४३) व्याख्यातः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

३. अत्रापि पूर्वमन्त्रवद् 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः' इति ध्येयम् ॥

४. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४१ वा०) इति 'ङीष्' ॥

---

* 'मनुष्यैः कीदृशैर्भूत्वा अन्ये कीदृशाः कार्या इत्याह' इति कगकोशयोः पाठः । स च सम्यगपि वर्त्तते, कथं मुद्रणे परिवर्तित इति न जानीमः ॥

† 'इव' इति पदं ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित स्यात्, तेनैवात्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारोऽपि सम्पन्न इति ध्येयम् ॥

§ 'दीर्घायुर्भूत्वाथो त्वम्' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

$ 'तथा विरोहतात्' इति पाठोऽपि ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

भावार्थः— हे मनुष्याः ! यूयमोषधिसेवनेन दीर्घायुषो भवत । धर्माचारिणश्च भूत्वा सर्वानोषधिसेवनेनेदृशान्[1] कुरुत ॥ १०० ॥

मनुष्य कैसे होके दूसरों को कैसे करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः— हे (ओषधे) ∫ओषधि के तुल्य ओषधियों के गुण दोष जाननेहारे पुरुष ! जिससे (ते) तेरी जिस ओषधि का (खनिता) सेवन करनेहारा (अहम्) मैं (यस्मै) जिस प्रयोजन के लिये (च) और जिस पुरुष के लिये (खनामि) खोदूं, उस से तू (दीर्घायुः) अधिक अवस्था वाला हो, (अथो‡) और (दीर्घायुः) बड़ी अवस्था वाला (भूत्वा) होकर (त्वम्) तू जो (शतवल्शा) बहुत अङ्कुरों से युक्त ओषधि है, (त्वा) उस को सेवन करके सुखी हो, और (वि रोहतात्) प्रसिद्ध हो ॥ १०० ॥

भावार्थः— हे मनुष्यो ! तुम लोग ओषधियों के सेवन से अधिक अवस्था वाले होओ, और धर्म का आचरण करनेहारे होकर सब मनुष्यों को ओषधियों के सेवन से दीर्घ अवस्था वाले करो ॥ १०० ॥

❧

त्वमुत्तमासीत्यस्य वरुण ऋषिः । भिषजो देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्सौषधिः कीदृशीत्याह ॥

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽ उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽ अस्माँ२ऽ अभिदासति ॥१०१॥

त्वम् । उत्तमेत्युत्ऽतमा । असि । ओषधे । तव । वृक्षाः । उपस्तयः ॥ उपस्तिः । अस्तु । सः । अस्माकम् । यः । अस्मान् । अभिदासतीत्यभिऽदासति ॥१०१॥

पदार्थः— (त्वम्) (उत्तमा) (असि) अस्ति, अत्र व्यत्ययः (ओषधे) [2]ओषधी (तव) यस्याः (वृक्षाः) वटादयः (उपस्तयः) ये उप समीपे स्त्यायन्ति संघ्नन्ति ते । अत्रोपपूर्वात् स्त्यै संघात इत्यस्मादौणादिकः क्विप् [3]संप्रसारणं च (उपस्तिः)

---

१. दीर्घायुष इत्यर्थः ॥१००॥
२. पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः ॥
३. तुगभावश्च ॥

∫ 'ओषधि के तुल्य' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् । इतोऽग्रे 'ओषधियों के गुण दोष जानने हारे' इत्यस्य संस्कृतमन्वये नास्तीत्यपि ध्येयम् ॥

‡ '(अथो) और (दीर्घायुः) बड़ी अवस्थावाला (भूत्वा) होकर (त्वम्) तू' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम् ॥

[1]संहतिः (अस्तु) (सः) (अस्माकम्) (यः) (अस्मान्) ([2]अभिदासति) अभीष्टं सुखं ददाति ॥ १०१ ॥

अन्वयः—हे वैद्यजन ! योऽस्मान् अभिदासति स त्वमस्माकमुपस्तिरस्तु, योत्तमौषधे ओषधिरसि अस्ति तव यस्य वृक्षा उपस्तयस्तेनौषधिना†ऽस्मभ्यं सुखं देहि ॥ १०१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्न कदाचिद् विरोधिनो वैद्यस्यौषधं ग्राह्यम्, न विरोधिमित्रस्य च। किन्तु यो वैद्यकशास्त्रार्थविदाप्तोऽजातशत्रुः सर्वोपकारी सर्वेषां सुहृद् वर्त्तते तस्मादौषधविद्या§ संग्राह्या ॥ १०१ ॥

फिर वह ओषधि *किस प्रकार की है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे वैद्यजन ! (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) अभीष्ट सुख देता है, (सः) वह (त्वम्) तू (अस्माकम्) हमारा (उपस्तिः) संगी (अस्तु) हो। जो (उत्तमा) उत्तम (ओषधे) ओषधि (असि) है, (तव) जिस के (वृक्षाः) वट आदि वृक्ष (उपस्तयः) समीप इकट्ठे होने वाले हैं, उस ओषधि से हमारे लिये सुख दे ॥ १०१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विरोधी वैद्य की [तथा शत्रु के मित्र की] ओषधि कभी न ग्रहण करें, किन्तु जो वैद्यकशास्त्रज्ञ, जिसका कोई शत्रु न हो, धर्मात्मा, सबका मित्र, सर्वोपकारी है, उससे ओषधिविद्या ग्रहण करें ॥ १०१ ॥

मा मेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः। को देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ किमर्थ ईश्वरः प्रार्थनीय इत्याह ॥

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट्। यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१०२॥

१. अत्र 'क्तिन्' प्रत्ययः ॥

२. 'दासृ दाने' (भ्वा० उ०) इत्यस्य लटि रूपम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उपस्तयः) उपपूर्वात् स्त्यै संघाते इत्यस्मात् 'क्विपि' सम्प्रसारणे च उपस्तिः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अभिदासति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघातप्रतिषेधे तिप्शपोरनुदात्तत्वे धातुस्वरः। तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतेरनुदात्तता ॥१०१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

† पुल्लिङ्गोऽत्र 'ओषधिः' शब्दः। ओषो धीयते अस्मिन् इति व्युत्पत्या ॥

§ 'ओषधिः संग्राह्या' इति वयमत्रावबुध्यामहे ॥

* 'कैसी है' इति कपाठः ॥

मा। मा। हि॒ꣳसी॒त्। ज॒नि॒ता। यः। पृ॒थि॒व्याः। यः। वा॒। दिव॑म्। स॒त्यध॒र्मेति॑ स॒त्यऽध॑र्मा। वि। आन॑ट्॥ यः। च॒। अ॒पः। च॒न्द्राः। प्र॒थ॒मः। ज॒जान॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥१०२॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (मा) माम् (हिंसीत्) रोगैर्हिंस्यात् (जनिता) उत्पादकः (यः) जगदीश्वरः (पृथिव्याः) भूमेः (यः) (वा) (दिवम्) सूर्यादिकं जगत् (सत्यधर्मा) सत्यो [1]धर्मो यस्य सः (वि) (आनट्) व्याप्तोऽस्ति (यः) (च) अग्निं सूर्यम् (अपः) जलानि [2]वायून् (चन्द्राः) चन्द्रादिलोकान्, अत्र शसः स्थाने जस् (प्रथमः) जन्मादेः पृथगादिमः (जजान) जनयति (कस्मै) सुखस्वरूपाय सुखकारकाय। क इति पदनामसु पठितम्। निघ० ५।४। 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सर्वनामकार्य्यम् (देवाय) दिव्यसुखप्रदाय विज्ञानस्वरूपाय (हविषा) उपादेयेन भक्तियोगेन (विधेम) परिचरेम। [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।२ व्याख्यातः] ॥ १०२ ॥

अन्वयः—यः सत्यधर्मा जगदीश्वरः पृथिव्या जनिता, यो वा दिवमपश्च व्यानट्, [यः] चन्द्राश्च जजान, यस्मै कस्मै देवाय हविषा वयं विधेम, स [प्रथमः] जगदीश्वरो मा मा *हिंसीत् ॥ १०२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सत्यधर्मप्राप्तये ओषध्यादिविज्ञानाय च परमेश्वरः [3]प्रार्थनीयः ॥ १०२ ॥

१. स्वरूपम् इत्यर्थः ॥

२. प्राणो ह्यापः। जै० उ० ३।१०।९॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**जनिता**) 'तृच्' प्रत्ययान्तः। चित्वादन्तोदात्तः ॥

(**सत्यधर्मा**) पूर्वं (य० १२।६६) व्याख्यातः ॥

(**व्यानट्**) विपूर्वात् '**णश अदर्शने**' (दि० प०) इत्यस्माल्लुङि **मन्त्रे घसह्वरणश०** (अ० २।४।८०) इति च्लेर्लुक्। **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे सति शिष्टत्वाद् आट उदात्तत्वम् ॥

अत्र पदपाठे 'वि आनट्' इति द्वे पदे पठ्येते, उभे चोदात्ते। तदयुक्तम्। **तिङि चोदात्तवति** (अ० ८।१।७१) इति नियमेन वेरनुदात्तत्वविधानात्, **उदात्तगतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासवचनाच्च। पदपाठानामार्षत्वात् प्रामाण्ये (द्र० स्वा० द० भाष्य यजुः ५।६; ऋक् १।३४।४; १।३६।२०) सत्यपि क्वचित् अन्यथात्वमुपलभ्यत एव। ऋग्वेदेऽप्यस्त्येतादृशः पदपाठस्यान्यथाभावः। तथाहि 'व॒नेन॒ वायो॒ न्य॑धायि॒ चा॒कन्' (ऋक् १०।२९।१) इत्यस्या ऋचः पदपाठे शाकल्यः 'वा॒, यः, नि, अ॒धा॒यि॒' इत्येवं चर्चितवान्। तथा सति यद्वृत्तत्वात् 'अधायि' पदमाद्युदात्तं स्याद्, सर्वानुदात्तस्तु पठ्यते। तदुक्तमाचार्ययास्केन—**वेति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्, असुसमाप्तश्चार्थः** (६।२८) इति ॥

धातूनामनेकार्थत्वादत्र **णश व्याप्तौ** द्रष्टव्यः। अत एव निघण्टौ 'आनट्' व्याप्तिकर्मसु (निघ० २।१८) पठ्यते ॥

(**जजान**) **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।७१) इति निघाताभावे **लिति** (अ० ६।१।१८७) इति णल्प्रत्ययात् पूर्वं आकार उदात्तः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

३. **पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (योग० १।२६) इति वचनात् ॥१०२॥

* 'कुसङ्गेन रोगैर्वा हिंस्यात्' इति भाषानुसारमत्र पदार्थः स्यात् ॥

अब किसलिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—(यः) जो (सत्यधर्मा) सत्यधर्मवाला जगदीश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी का (जनिता) उत्पन्न करनेवाला, (वा) अथवा (यः) जो (दिवम्) सूर्य आदि जगत् को (च) और पृथिवी तथा (अपः) जल और वायु को (व्यानट्) उत्पन्न करके व्याप्त होता है, और [(यः)] जो (चन्द्राः) चन्द्रमा आदि लोकों को (जजान) उत्पन्न करता है, जिस (कस्मै) सुखस्वरूप सुख करनेहारे (देवाय) दिव्य सुखों के दाता विज्ञानस्वरूप ईश्वर का (हविषा) ग्रहण करने योग्य भक्तियोग से हम लोग (विधेम) सेवन करें; वह [(प्रथम) जन्मादि से रहित, सब से प्रथम वर्त्तमान] जगदीश्वर (मा) मुझको (मा) नहीं (‡हिंसीत्) कुसंग से §ताड़ित होने देवे ॥ १०२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सत्यधर्म की प्राप्ति और ओषधि आदि के विज्ञान के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करें ॥ १०२ ॥

❦

अभ्यावर्त्तस्वेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

भूस्थपदार्थविज्ञानं कथं कर्त्तव्यमित्याह ॥

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह ।
वपां तेऽ अग्निरिषितोऽ अरोहत् ॥१०३॥

अभि । आ । वर्त्तस्व । पृथिवि । यज्ञेन । पयसा । सह ॥ वपाम् । ते । अग्निः । इषितः । अरोहत् ॥१०३॥

पदार्थ—(अभि) (आ) (वर्त्तस्व) वर्त्तते वा (पृथिवि) भूमिः (यज्ञेन) संगमनेन (पयसा) जलेन (सह) (वपाम्) [1]वपनम् (ते) तव (अग्निः) (इषितः) प्रेरितः ([2]अरोहत्) रोहति । [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।२१ व्याख्यातः] ॥ १०३ ॥

---

१. अत्र भावे प्रत्ययः ॥

२. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) इति कालसामान्ये लङ् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अभि) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इति प्रतिषेधात् प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(इषितः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अरोहत्) लङि प्रथमैकवचने रूपम् । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

‡ संस्कृतपदार्थानुसारं 'रोगादि के द्वारा तथा कुसङ्ग से ताडित न होने देवे' इति स्यात् ॥

§ 'ताड़ित न होने देवे' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'ताड़ित होने देवे' इति कपाठः । स च सम्यक्, 'मा' इति पूर्वं निषेधवचनात् ॥

अन्वयः—हे *मनुष्य ! त्वं या पृथिवि भूमिर्यज्ञेन पयसा सह वर्त्तते, ताम्†भ्यावर्त्तस्वाभिमुख्येनावर्त्तस्व । §यः ते वपामिषितोऽग्निररोहत्स[1] गुणकर्मस्वभावतः सर्वैर्वेदितव्यः ॥ १०३ ॥

भावार्थः—या भूमिः सर्वस्याधारा रत्नाकरा जीवनप्रदा विद्युद्युक्ताऽस्ति तस्या विज्ञानं भूगर्भविद्यातः सर्वैर्मनुष्यैः कार्यम् ॥ १०३ ॥

पृथिवी के पदार्थों का विज्ञान कैसे करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! तू जो (पृथिवि) भूमि (यज्ञेन) संगम के योग्य (पयसा) जल के (सह) साथ वर्त्तती है, उसको (अभ्यावर्त्तस्व) सब ओर से शीघ्र वर्त्ताव कीजिये। जो (ते) आप के (वपाम्) बोने को (इषितः) प्रेरणा किया (अग्निः) अग्नि (अरोहत्) उत्पन्न करता है, वह अग्नि गुण कर्म और स्वभाव के साथ सब को जानना चाहिये ॥ १०३ ॥

भावार्थः—जो पृथिवी सब का आधार, उत्तम रत्नादि पदार्थों की दाता, जीवन का हेतु, बिजुली से युक्त है, उस का विज्ञान भूगर्भविद्या से सब मनुष्यों को करना चाहिये ॥१०३

अग्ने यत्त इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिग् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

किमर्थाऽग्निविद्यान्वेषणीया इत्याह ॥

अग्ने॒ यत्ते॑ शु॒क्रं यच्च॒न्द्रं यत्पू॒तं यच्च॑ य॒ज्ञिय॑म् ।
तद्दे॒वेभ्यो॑ भरामसि ॥१०४॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । शु॒क्रम् । यत् । च॒न्द्रम् । यत् । पू॒तम् । यत् । च॒ । य॒ज्ञिय॑म् ॥ तत् । दे॒वेभ्यः॑ । भ॒रा॒म॒सि॒ ॥१०४॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (यत्) (ते) तुभ्यम् (शुक्रम्) आशुकरम् (यत्) (चन्द्रम्) हिरण्यवदानन्दप्रदम् (यत्) (पूतम्) पवित्रम् (यत्) (च) (यज्ञियम्)

---

१. अग्निरिति भावः ॥१०३॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(यज्ञियम्) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (अ० ५।१।७०) इति 'घः'। घचश्चिल्करणज्ञापकात् प्रत्ययोपदेशकाल एव आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (अ० ७।१।२)

---

* 'मनुष्याः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

† 'आवर्त्तन्ते' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ 'यया' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । स च भावार्थेन सह नान्वेति ॥

यज्ञानुष्ठानार्हं स्वरूपम् (तत्) (देवेभ्यः) *दिव्यगुणेभ्यः (भरामसि) भरेम । [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।२२ व्याख्यातः] ॥१०४॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! यत् पावकस्य[1] शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियं स्वरूपमस्ति, तत्ते देवेभ्यश्च वयं भरामसि ॥१०४॥

भावार्थः—मनुष्यैर्दिव्यगुणकर्म्मसिद्धये विद्युदादेरग्नेर्विद्या संप्रेक्षणीया ॥१०४॥

किसलिये अग्निविद्या का खोज करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष ! (यत्) जो अग्नि का (शुक्रम्) शीघ्रकारी, (यत्) जो (चन्द्रम्) सुवर्ण के समान आनन्द देनेहारा, (यत्) जो (पूतम्) पवित्र, (च) और (यत्) जो (यज्ञियम्) यज्ञानुष्ठान के योग्य स्वरूप है, (तत्) वह (ते) आप के और (देवेभ्यः) दिव्यगुण होने के लिये (भरामसि) हम लोग धारण करें ॥१०४॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि श्रेष्ठ गुण और कर्मों की सिद्धि के लिये बिजुली आदि अग्निविद्या को विचारें ॥१०४॥

इषमूर्जमित्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । विद्वान् देवता । विराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ युक्ताहारविहारौ कुर्युरित्याह ॥

इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥१०५॥

इषम् । ऊर्जम् । अहम् । इतः । आदम् । ऋतस्य । योनिम् । महिषस्य । धाराम् ॥ आ । मा । गोषु । विशतु । आ । तनूषु । जहामि । सेदिम् । अनिराम् । अमीवाम् ॥१०५॥

इति इयादेशः प्रवर्तते, ततश्च आद्युदात्तश्च (अ० ३।१।३) इति इकार उदात्तः ॥

(भरामसि) लेटि मसि सिबभावे शपि आटि इदन्तो मसि (अ० ७।१।४६) इति इदन्तभावः । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अत्र पावकशब्देन विद्युद् भौतिकोऽग्निश्चेत्युभयं गृह्यते । विद्युत्पक्षे 'शुक्रम्' इत्यस्य 'आशुकरम्' इत्यर्थः संस्कृतपदार्थे दर्शितः । भौतिकाग्निपक्षे तु 'शुक्रम्' इति पदस्य 'शुक्लादिरूपम्' इत्यर्थो द्रष्टव्यः । तथा चोक्तमुत्तरमन्त्रस्य भावार्थे—'अग्नेर्यत् शुक्लादियुक्तं स्वरूपम्' इति ॥१०४

* 'गुणेभ्यः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'दिव्यगुणेभ्यः' इति ककोशे पाठः । गकोशे 'दिव्य' इत्यंशः प्रमादेन त्यक्तः स्यात् ॥

पदार्थः—(इषम्) अन्नम (ऊर्जम्) पराक्रमम् (अहम्) (इतः) अस्मात् पूर्वोक्तात् विद्युत्स्वरूपात् (आदम्[1]) अत्तुं योग्यम् (ऋतस्य) सत्यस्य (योनिम्) कारणम (महिषस्य[2]) महतः (धाराम्) धारिकां [3]वाचम् (आ) (मा) माम् (गोषु) [4]इन्द्रियेषु (विशतु) प्रविशतु (आ) (तनूषु) शरीरेषु (जहामि*) त्यजामि (सेदिम्) हिंसाम्। सदिमनि०। अ० ३।२।१७१ इति [5]वार्तिकेनास्य सिद्धिः (अनिरान्) अविद्यमाना [6]इराऽन्नभुक्तिर्यस्यां ताम् (अमीवाम्) रोगोत्पन्नां पीडाम्। [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।२३ व्याख्यातः] ॥१०५॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथाऽहमित आदमिषमूर्जं महिषस्यर्त्तस्य योनिं धारां प्राप्नुयां, यथेयमिडूर्क् मा मामाविशतु, येन मम गोषु तनूषु प्रविष्टां सेदिमनिरा†ममीवां [आ] जहामि त्यजामि, तथा यूयमपि कुरुत ॥१०५॥

भावार्थः—मनुष्या अग्नेर्यच्छुक्लादियुक्तं[7] स्वरूपं तेन रोगान् हन्युः। इन्द्रियाणि

१. अत्र कर्मणि 'घञ्'। ऋ० १।१२८।८ मन्त्रे तु कर्त्तरि 'घञ्'॥

२. पूर्वं (य० ३।७) व्याख्यातः॥

३. 'धारा' इति वाङ्नाम (निघ० १।४)॥

४. इन्द्रियं वै वीर्यं गावः (शत० ५।४।३।१०)॥

५. भाष्ये त्वेवम्—'उत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्।.........सदादिभ्यो हि किकिनौ दृश्येते।' (अ० ३।२।१७१ महाभा०)। काशिकादावपि तथैवोपलभ्यते॥

६. इरा इत्यन्ननाम (निघ० २।७)॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आदम्) 'अद भक्षणे' (अदा० प०) **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३) इति कर्मणि 'घञ्'। **बहुलं छन्दसि** (अ० २।४।३९) इति घसादेशाभावः। **कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः** (अ० ६।१।१५३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम्। अत्र ऋग्भाष्यम् (१।१२८।८) अपि द्रष्टव्यम्॥

उवट आददे इत्यर्थमाह, **महीधरः** भक्षयामीति, **सायणः** ऋग्भाष्ये (१।१२६।२) आत्तवानस्मि इति, **अष्टा महो दिवः** (१।१२१।८) इत्यत्र आदः पदस्य पायय इति चार्थमाह। आचार्यपादा अपि शतं राज्ञः (ऋ० १।१२६।२) इत्यस्य भाष्ये 'आदम् आददामि' इति व्याचख्युः। शतपथे (७।३।१।२३) प्रकृतमन्त्रव्याख्याने **'आददे'** इत्यर्थो निरूपितः। तैत्तिरीयसंहितायाम् (४।२।७) **'आदम्'** इत्यस्य **'आददे'** इति पाठान्तरमेव दृश्यते। एवम् आङ्पूर्वाद् ददातेरत्तेश्चोभयथा निरुक्तिं मन्यन्त आचार्या इति स्पष्टम्। परन्तु **'आदः' 'आदम्'** इत्यस्य पादमध्येऽप्याद्युदात्तत्वदर्शनात् क्रियापदत्वं सन्दिग्धमेव॥

(महिषस्य) पूर्वं (य० ३।७) व्याख्यातः॥

(धाराम्) पूर्वं (य० १२।१०) व्याख्यातः॥

(जहामि) पादादित्वान्निघाताभावे **अनुदात्ते च** (अ० ६।१।१८४) इत्यभ्यस्तस्याद्युदात्तत्वम्॥

(अनिराम्) **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७१) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वात् पूर्वपदाद्युदात्तत्वम्॥

(अमीवाम्) पूर्वं (य० ११।१; ६।१६) व्याख्यातः॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया**॥

७. द्रष्टव्या मुण्डकोपनिषद् १।२।४॥

* '(जहामि) त्यजामि' इति ककोशे पाठः। गकोशे 'त्यजामि' इत्यंशस्त्यक्त इति ध्येयम्॥

† 'अनितराम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः॥

शरीराणि च स्वस्थान्यरोगाणि कृत्वा कार्य्यकारणज्ञापिकां विद्यावाचं प्राप्नुवन्तु, §युक्ताहारविहारौ च कुर्य्युः ॥१०५॥

अब ठीक ठीक आहार विहार करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (अहम्) मैं (इतः) इस पूर्वोक्त[1] विद्युत्स्वरूप से (आदम्) भोगने योग्य (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) पराक्रम (महिषस्य) बड़ (ऋतस्य) सत्य के (योनिम्) कारण (धाराम्) धारण करनेवाली वाणी को प्राप्त होऊं, जैसे अन्न और पराक्रम (मा) मुझ को (आविशतु) प्राप्त हो, जिस से मेरे (गोषु) इन्द्रियों और (तनूषु) शरीर में प्रविष्ट हुई (सेदिम्) दुःख का हेतु (अनिराम्) जिस में अन्न का भोजन भी न कर सकें, ऐसी (अमीवाम्) रोगों से उत्पन्न हुई पीड़ा को (आ जहामि) छोड़ता हूं, वैसे तुम लोग भी करो ॥१०५॥

भावार्थः—मनुष्यो को चाहिये कि अग्नि का जो $शुक्ल आदि से युक्त स्वरूप है, ∫उस को प्रदीप्त करने से रोगों का नाश करें। इन्द्रिय और शरीर को स्वस्थ रोगरहित करके कार्य्य-कारण की ‡जनाने हारी विद्यायुक्त वाणी को प्राप्त होवें, और युक्ति से आहार-विहार भी करें ॥१०५॥

अग्ने तवेत्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं भवितव्यमित्याह ॥

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्तेऽ अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्युं दधासि दाशुषे कवे ॥१०६॥

अग्ने। तव। श्रवः। वयः। महि। भ्राजन्ते। अर्चयः। विभावसो इति विभाऽवसो॥ बृहद्भानो इति बृहत्ऽभानो। शवसा। वाजम्। उक्थ्युम्। दधासि। दाशुषे। कवे ॥१०६॥

पदार्थः—(अग्ने) पावक इव वर्त्तमान विद्वन् (तव) (श्रवः) श्रवणम् (वयः) जीवनम् (महि) पूज्यं महत् (भ्राजन्ते) (अर्चयः) दीप्तयः (विभावसो) यो विविधायां भायां वसति तत्सम्बुद्धौ (बृहद्भानो) अग्निवद् बृहन्तो महान्तो भानवो विद्याप्रकाशा यस्य तत्सम्बुद्धौ (शवसा) बलेन (वाजम्) विज्ञानम् (उक्थ्यम्) वक्तुं योग्यम् (दधासि) (दाशुषे) दातुं योग्याय[2] विद्यार्थिने (कवे) विक्रान्तप्रज्ञ। [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।२९ व्याख्यातः] ॥१०६॥

१. यजु० १२।१०४ मन्त्रोक्तेत्यर्थः ॥१०५॥ २. अत्र सम्प्रदाने 'क्वसुः' ॥

§ 'युक्त्यान्नाहारौ च कुर्युः' इति ककोशे पाठः। 'युक्त्यान्नाहारव्याहारौ च कुर्युः', इति गकोशे पाठः। स च मुद्रणे सम्यक् संशोधितः ॥ $ 'वीर्य आदि' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

∫ 'उस को प्रदीप्त करने से' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स च संस्कृतेऽविद्यमानोऽपि स्पष्टार्थाय युक्तः ॥ ‡ 'जाननेहारी' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—हे बृहद्भानो विभावसो कवेऽग्ने विद्वन् ! यतस्त्वं शवसा दाशुष उक्थ्यं वाजं दधासि, तस्मात्तवाग्नेरिव महि श्रवो वयोऽर्चयश्च भ्राजन्ते ॥१०६॥

भावार्थः—ये मनुष्या अग्निवद् गुणिन आप्तवत् सत्कीर्त्तयः प्रकाशन्ते, ते परोपकारायान्येभ्यो विद्याविनयधर्मान् सततमुपदिशेयुः ॥१०६॥

मनुष्यों को कैसा होना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (बृहद्भानो) अग्नि के समान अत्यन्त विद्याप्रकाश से युक्त, (विभावसो) विविध प्रकार की कान्ति में वसने हारे, (कवे) अत्यन्त बुद्धिमान्, (अग्ने) अग्नि के समान वर्त्तमान विद्वान् पुरुष ! जिस से आप (शवसा) बल के साथ (दाशुषे) दान के योग्य विद्यार्थी के लिये (उक्थ्यम्) कहने योग्य (वाजम्) विज्ञान को (दधासि) धारण करते हो, इस से* (तव) आप का अग्नि के समान (महि) अति पूजने योग्य (श्रवः) सुनने योग्य शब्द (वयः†) जीवन और (अर्चयः) दीप्ति (भ्राजन्ते) प्रकाशित होती हैं ॥१०६॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(श्रवः) 'श्रु श्रवणे' (भ्वा० प०) **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) इत्यसुन्। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(वयः) **'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'** (अदा० प०) **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ०४।१८९) इत्यसुन्। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(महि) महधातोः **सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४।११८) इति 'इन्'। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(अर्चयः) **'अर्च पूजायां दीप्तौ'** (भ्वा० प०) इत्यस्माद् **वृतेश्छन्दसि** (उ० ४।१४१) इति बाहुलकाद् 'इ' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः ॥

(विभावसो) विभायां वसतीति विभावसुः। तत्र विपूर्वाद् भातेः क्विपि, उपपदसमासे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तो विभा शब्दः, ततो वसतेरुप्रत्यये पुनरुपपदसमासे उत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते दासीदारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। इह त्वामन्त्रितत्वाद् **आमन्त्रितस्य च** (अ० ८।१।१९) इत्यनेन सर्वनिघातः। पूर्वं य० ११।४० बहुव्रीहिपक्षोऽप्याचार्येण प्रदर्शितः। अस्मिन् पक्षे स्वरसिद्धिस्तत्रैव विवरणे द्रष्टव्या ॥

(बृहद्भानो) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। बृहतोऽन्तोदात्तत्वं पूर्वं (य० २।४) विवरणे व्याख्यातम्। इह तु षाष्ठिकेन **आमन्त्रितस्य च** (अ० ६।१।१९२) इत्यनेनाद्युदात्तः ॥

(शवसा) श्वेः सम्प्रसारणं च (उ० ४।१९३) इत्यसुन्। यद्वा—**'शव गतौ'** इत्यस्मादसुन्। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(वाजम्) पूर्वं (य० २।७) व्याख्यातः ॥

(उक्थ्यम्) उक्थशब्दाद् अर्हत्यर्थे **छन्दसि च** (अ० ५।१।६७) इति 'यत्'। **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२०७) इति छान्दसत्वात्, यद्वा—'स्वरविषये क्वचिदपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते' इति नियमाद्वा न प्रवर्त्तते, तदभावे **तित् स्वरितम्** (अ० ६।१।१७९) इति स्वरितत्वम्। यद्वा—उक्थशब्दः **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) कर्मण्यर्हार्थे द्रष्टव्यः। ततः छन्दसि

* 'इस में' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। 'इस से' इति ककोशे पाठः। स च सम्यक् ॥

† '(वयः) यौवन और' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। '(वयः) जीवन और' इति कगकोशयोः पाठः। स च संस्कृतानुगतत्वाद् युक्तः ॥

भावार्थः—जो मनुष्य अग्नि के समान गुणों और आप्तों के तुल्य श्रेष्ठ कीर्त्तियों से प्रकाशित होते हैं, वे परोपकार के लिये दूसरों को विद्या विनय और धर्म का निरन्तर उपदेश करें ॥१०६॥

पावकवर्चा इत्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः। विद्वान् देवता। भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

जनकजनन्यौ सन्तानान् प्रति किं किं कुर्यातामित्याह॥

पा॒व॒कव॑र्चाः शु॒क्रव॑र्चा॒ऽअनू॑नवर्चा॒ऽउदि॑यर्षि भा॒नुना॑।
पु॒त्रो मा॒तरा॑ वि॒चर॒न्नुपा॑वसि पृ॒णक्षि॒ रोद॑सी उ॒भे॥१०७॥

पा॒व॒कव॑र्चा॒ इति॑ पाव॒कऽव॑र्चाः। शु॒क्रव॑र्चा॒ इति॑ शु॒क्रऽव॑र्चाः। अनू॑नवर्चा॒ इत्यनू॑नऽवर्चाः। उत्। इ॒य॒र्षि॒। भा॒नुना॑॥ पु॒त्रः। मा॒तरा॑। वि॒चर॒न्निति॑ वि॒ऽचर॑न्। उप॑। अ॒व॒सि॒। पृ॒णक्षि॑। रोद॑सी॒ इति॒ रोद॑सी। उ॒भे इत्यु॒भे॥१०७॥

पदार्थः—(पावकवर्चाः) *पावकस्य पवित्रीकारिकाया[1] विद्युतो वर्चो दीप्तिरिव वर्चोऽध्ययनं यस्य सः (शुक्रवर्चाः) शुक्रस्य सूर्यस्य प्रकाश इव वर्चो न्यायाचरणं यस्य सः (अनूनवर्चाः) न विद्यते ऊनं न्यूनं †वर्चो [विद्याभ्यासः] यस्य सः (उत्) (इयर्षि) प्राप्नोषि (भानुना) धर्मप्रकाशेन (पुत्रः) (मातरा[2]) मातपितरौ (विचरन्) (उप) (अवसि) रक्षसि (पृणक्षि) संबध्नासि (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (उभे)। [अयं मन्त्रः श० ७।१।३।३० व्याख्यातः] ॥१०७॥

बहुभिर्बसव्यैरुपसंख्यानम् (अ० ५।४।३० भा० वा०) इति स्वार्थे 'यत्', शिष्टं पूर्ववत् ॥

(दाशुषे) पूर्वं (य० ३।३४) व्याख्यातः ॥१०६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. पावकशब्दस्य विद्युत्पक्षमाश्रित्यार्थप्रदर्शनपरमिदमिति द्रष्टव्यम् ॥

२. सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इत्यकारादेशः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पावकवर्चाः, शुक्रवर्चाः, अनूनवर्चाः) सर्वत्र बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। तत्र 'पावक' शब्दः ण्वुल्प्रत्ययान्तः, लिति (अ० ६।१।१८७) इति सूत्रेण प्रत्ययात् पूर्वमुदात्ते प्राप्ते। तस्य सर्वत्रान्तोदात्तत्वदर्शनात् उञ्छादेः (अ० ६।१।१५४) आकृतिगणत्वादन्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥

सायणस्तु १।३।१० ऋग्भाष्ये छान्दसमन्तोदात्तत्वमाह, पक्षान्तरे च पावं कायतीति 'क' प्रत्यये रूपसिद्धिमुक्तवान्, सा च पदपाठविरोधात् (पदपाठे 'पावऽकः' इत्येवमवग्रहादर्शनात्) चिन्त्या ॥

* 'पावकस्य' इति पदं कगकोशयोः सदपि मुद्रणे प्रमादान्नष्टमिति ध्येयम् ॥

† 'वर्चः' इत्यजमेरमुद्रिते प्रथमसंस्करणे कगकोशयोश्चास्ति। स च प्रमादेन द्वितीयसस्करणे त्यक्त इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे जन ! यतस्त्वं यथा पुत्रो ब्रह्मचर्यादिषु विचरन् सन् विद्यामाप्नोति, ‡यथा भानुना पावकवर्चाः शुक्रवर्चाः अनूनवर्चा [राजा] न्यायं करोति, यथा [उभे रोदसी] संबध्नीत, तथा विद्याम् [उत्] इयर्षि, राज्यं पृणक्षि, मातरोपाऽवसि, तस्मात् [त्वं] धार्मिकोऽसि ॥१०७॥

भावार्थः—मातापितॄणामिदमत्युचितमस्ति यत्सन्तानानुत्पाद्य, बाल्यावस्थायां स्वयं सुशिक्ष्य, ब्रह्मचर्यं कारयित्वाऽऽचार्यकुले विद्याग्रहणाय संप्रेष्य विद्यायोगकरणम् । अपत्यानां चेदं समुचितं वर्तते यद्विद्यासुशिक्षायुक्ता भूत्वा, पुरुषार्थेनैश्वर्यमुन्नीय, निरभिमानमत्सरया प्रीत्या मातापितॄणां मनसा वाचा कर्मणा यथावत् परिचर्यानुष्ठानं कर्त्तव्यमिति ॥१०७॥

माता पिता सन्तानों के प्रति क्या क्या करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! [जिससे तू] जैसे (पुत्रः) पुत्र ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों में (विचरन्) विचरता हुआ विद्या को प्राप्त होता [है], और [जैसे] (भानुना) प्रकाश से (पावकवर्चाः, शुक्रवर्चाः) बिजुली और सूर्य के प्रकाश के §समान (अनूनवर्चाः) पूर्णविद्याऽभ्यास करनेहारा [राजा ∫न्याय करता है.] और जैसे (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और पृथिवी परस्पर सम्बन्ध करते हैं, वैसे [तू] विद्या को [(उद् इयर्षि)] प्राप्त होता, राज्य का (पृणक्षि) सम्बन्ध करता, और (मातरा) माता-पिता की (उपावसि) रक्षा करता है. इससे तू धर्मात्मा है ॥१०७॥

भावार्थः—मातापिताओं को यह अति उचित है कि सन्तानों को उत्पन्न कर, बाल्यावस्था में आप शिक्षा दे, ब्रह्मचर्य्य करा, आचार्य के कुल में भेज के विद्यायुक्त करें। सन्तानों को चाहिये कि विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त हो और पुरुषार्थ से ऐश्वर्य्य को बढ़ा के अभिमान और मत्सरतारहित प्रीति से माता-पिता की मन वाणी और कर्म्म से यथावत् सेवा करें ॥१०७॥

शुक्रशब्द ऋज्रेन्द्र० (उ० २।२८) सूत्रेऽन्तोदात्तो निपातितः । द्रष्टव्यं यजु० (१।३१) विवरणे ॥

अनूनशब्दः तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(विचरन्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्र तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्० (अ० ६।१।१८०) इत्यादिना लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(पृणक्षि) 'पृची सम्पर्के' (रु० प०) लटि मध्यमैकवचने रूपम् । श्नमस्वरः ॥

(रोदसी) पूर्वं (य० १२।६) व्याख्यातः ॥१०७॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

‡ 'इतोऽग्रे 'सूर्यविद्युतौ' इति पाठोऽजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्च विद्यमानः सन्नपि सर्वथाप्यनन्वित इति कृत्वास्माभिः पृथक् कृतः । अन्वयोऽत्र किञ्चिद् व्यस्त इव प्रतिभाति ॥

§ इतोऽग्रे 'न्याय करने और' इति पाठोऽजमेरमुद्रिते । स च संस्कृतान्वयाननुसारीति ध्येयम् ॥

∫ 'न्याय करता है' इति संस्कृतानुसारी पाठः, स चावश्यकः ॥

ऊर्जो नपादित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

[1]मातापितृसन्तानाः कीदृशा भवेयुरित्याह ॥

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वेऽइषः संदधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥१०८॥

ऊर्जः । नपात् । जातवेद इति जातऽवेदः । सुशस्तिभिरिति सुशस्तिऽभिः । मन्दस्व । धीतिभिरिति धीतिऽभिः । हितः ॥ त्वेऽइति त्वे । इषः । सम् । दधुः । भूरिवर्पस इति भूरिऽवर्पसः । चित्रोतय इति चित्रऽऊतयः । वामजाता इति वामऽजाताः ॥१०८॥

पदार्थः—(ऊर्जः) पराक्रमस्य (नपात्) न विद्यते पातो धर्मात्पतनं यस्य सः (जातवेदः) जातप्रज्ञान जातवित्त (सुशस्तिभिः) शोभनाभिः प्रशंसाभिः क्रियाभिः सह (मन्दस्व) आनन्द (धीतिभिः) स्वाङ्गुलीभिः । धीतय इत्यङ्गुलिनामसु पठितम् । निघ० २।५ (हितः[2]) सर्वस्य हितं दधन् (त्वे[3]) त्वयि (इषः) अन्नादीनि (सम्) (दधुः) दधतु (भूरिवर्पसः) बहूनि प्रशंसनीयानि वर्पांसि रूपाणि यासु ताः । वर्प इति रूपनामसु पठितम् । निघ० ३।७ (चित्रोतयः) चित्रा आश्चर्य्यवद् रक्षणाद्याः क्रिया *यासु ताः (वामजाताः) वामेषु †प्रशस्येषु कुलेषु कर्मसु वा जाताः प्रसिद्धाः । वाम इति प्रशस्यनामसु पठितम् । निघ० ३।८ [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।३१ व्याख्यातः] ॥१०८॥

अन्वयः—हे जातवेदस्तनय ! यस्मिंस्त्वे त्वयि भूरिवर्पसश्चित्रोतयो §वामजाता मात्रादयोऽध्यापिका इषः संदधुः, स सुशस्तिभिर्धीतिभिराहूतस्त्वम्$ ऊर्ज्जो नपाद्धितः सदा मन्दस्व ॥१०८॥

---

१. मातापितरौ च सन्तानाश्चेति विग्रहः ॥

२. कर्त्तरि 'क्तः' ॥

३. सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इति 'शे' ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ऊर्जो नपात्) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (अ० २।१।२) इति पराङ्गवद्भावे आमन्त्रितस्य च (अ० ६।१।१९८) इत्याद्युदात्तः । शिष्टमनुदात्तम् ॥

(जातवेदः) नामन्त्रिते समानाधिकरणे (अ० ८।१।७२) इति पूर्वस्याविद्यमानवद्भावान्निघातः ॥

(सुशस्तिभिः) पूर्व (य० ११।४१) व्याख्यातः ॥

(धीतिभिः) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (अ०

---

* 'यासां ताः' इति ककोशे पाठः, स चापि युक्तः ॥

† 'प्रशस्येषु कुलेषु कर्मसु वा' इति कगकोशयोः पाठः । 'कुलेषु' इति मुद्रणे प्रमादान्नष्टमिति 'कर्मसु वा' इत्यत्र 'वा' शब्दश्रवणात् स्पष्टम् ॥

§ 'वाम' इति ककोशे पाठः । गकोशे प्रमादेन त्यक्तः, अतएव मुद्रितेऽपि नोपलभ्यते ॥

$ 'त्वं' इति ककोशे पाठः, गकोशे प्रमादेन त्यक्तः सन् मुद्रिते नोपलभ्यते ॥

भावार्थः—येषां कुमाराणां कुमारीणां मातरो विद्याप्रिया विदुष्यः ∫सन्ति, त एव सततं ‡सुखमाप्नुवन्ति । यासां मातॄणां येषां पितॄणां चापत्यानि विद्यासुशिक्षाब्रह्मचर्य्यैः शरीरात्म-बलयुक्तानि धर्माचारीणि सन्ति, त एव सदा सुखिनः स्युः ॥१०८॥

माता पिता और पुत्र कैसे हों, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) बुद्धि और धन से युक्त पुत्र ! जिस (त्वे) तुझ में (भूरि-वर्पसः) बहुत प्रशंसा के योग्य रूपों से युक्त (चित्रोतयः) आश्चर्य के तुल्य रक्षा आदि कर्म्म करने वाली (वामजाताः) प्रशंसा के योग्य कुलों वा कर्मों में प्रसिद्ध विद्याप्रिय ‡अध्यापिका माता आदि विदुषी स्त्रियां (इषः) §§अन्नादि को (संदधुः∫∫) धरें [वा] भोजन करावें, सो तू (सुशस्तिभिः) उत्तमप्रशंसायुक्त क्रियाओं के साथ (धीतिभिः) अङ्गुलियों से बुलाया हुआ ∫∫∫ सदा (ऊर्जः) (नपात्) धर्म के अनुकूल पराक्रमयुक्त सब के [(हितः)] हित को धारण सदा किये हुए (मन्दस्व) आनन्द में रह ॥१०८॥

भावार्थः—जिन कुमार और कुमारियों की माता विद्याप्रिय *विदुषी हों, वे ही निरन्तर सुख को प्राप्त होते हैं, और जिन माता पिताओं के सन्तान विद्या, अच्छी शिक्षा, और ब्रह्मचर्य्य, सेवन से शरीर और आत्मा के बल से युक्त, धर्म का आचरण करनेवाले हैं, वे ही सदा सुखी हों ॥१०८॥

३।३।१७४) इति 'क्तिच्', चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(भूरिवर्पसः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४।६५) इति 'क्रिन्' प्रत्ययान्तो, नित्त्वादाद्युदात्तो भूरिशब्दः ॥

(चित्रोतयः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । चित्रपदं पूर्वं (य० ३।१५) व्याख्यातम् ॥

(वामजाताः) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । वामपदं पूर्वं (य० ४।५) व्याख्यातम् ॥१०८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

∫ 'सन्तु' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । ककोशे 'सन्ति' इति सम्यक् पाठः ॥

‡ 'सुखमवाप्नुवन्ति' इति ककोशे पाठः ॥

‡ अजमेरमुद्रिते तु 'अध्यापक माता आदि विद्वान् स्त्रियें' इति पाठः ॥

§§ 'अन्नों को' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

∫∫ '(सन्दधुः) धारण करें' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

∫∫∫ 'तू सदा' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे त्यक्तः स्यात् । 'तू' पदस्य वाक्यारम्भे पाठदर्शनादिह पौनरुक्त्याऽस्माभिर्न सन्निवेशितः ॥

* अजमेरमुद्रिते तु 'विद्वान्' इति पाठः ॥

इरज्यन्नित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

*मनुष्यः कीदृशो भवेदित्याह ॥

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायोऽअमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥१०९॥

इरज्यन् । अग्ने । प्रथयस्व । जन्तुभिरिति जन्तुऽभिः । अस्मेऽइत्यस्मे । रायः । अमर्त्य ॥ सः । दर्शतस्य । वपुषः । वि । राजसि । पृणक्षि । सानसिम् । क्रतुम् ॥१०९॥

पदार्थः—(इरज्यन्) ऐश्वर्यं कुर्वन् । इरज्यतीति ऐश्वर्यकर्मसु पठितम् । निघ० २।२१ (अग्ने) अग्निवत्प्राप्तपुरुषार्थ (प्रथयस्व) विस्तारय (जन्तुभिः) §मनुष्यादिप्राणिभिः (अस्मे) अस्मभ्यम् (रायः) श्रियः (अमर्त्य) नाशप्राकृतमनुष्यस्वभावरहित (सः) (दर्शतस्य) द्रष्टुं योग्यस्य (वपुषः) रूपस्य । वपुरिति रूपनामसु पठितम् । निघ० ३।७ (वि) (राजसि) (पृणक्षि) संबध्नासि (सानसिम्[1]) सनातनीम् (क्रतुम्) प्रज्ञाम् । [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।३२ व्याख्यातः] ॥१०६॥

अन्वयः—हे अमर्त्याग्ने ! य इरज्यंस्त्वं दर्शतस्य वपुषः सानसिं क्रतुं पृणक्षि, तत्रैव विराजसि, सोऽस्मे जन्तुभी रायः प्रथयस्व ॥१०६॥

---

१. (क) उणा० ४।१०७ निपात्यते ॥

(ख) पृणक्षि सानसिं क्रतुं, पृणक्षि सनातनं क्रतुम् (शत० ७।३।१।३१), अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(इरज्यन्) इरज कण्ड्वादिः, निघण्टौ ऐश्वर्यकर्मसु (२।२१) पठितः । कण्ड्वादिभ्यो यक् (अ० ३।१।२७) इति 'यक्', ततो धातुसंज्ञा । धातोः (अ० ६।१।१५६) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततः शतृप्रत्ययः 'शप्' च । तास्यनुदात्तेन्ङिद-दुपदेशात्० (अ० ६।१।१८०) इति शतुरनुदात्तत्वे धातुस्वरः एव ॥

(जन्तुभिः) कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च (उ० १।७३) इति जनेः 'तुः' । प्रत्ययस्वरः ॥

(दर्शतस्य) भृमृदृशियजि० (उ० ३।११०) इत्यादिना 'अतच्', चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

---

* 'कोऽन्येभ्यो विद्यैश्वर्यं प्रापयितुं शक्नोतीत्याह' इति ककोशे पाठः । 'पुनस्तमेव विषयमाह' इति गकोशे पाठः ॥

भाषापदार्थेऽपि तथैव—'कौन दूसरों को विद्या और ऐश्वर्य को प्राप्त करा सकता है, यह वि०' इति ककोशे पाठः । 'अगले मन्त्र में उक्त विषय को कहा है' इति गकोशे पाठः ॥

संस्कृते भाषापदार्थे चोभयत्र मुद्रितात् सर्वथापि भिन्नः पाठः । कथमेतत् इति तु नावबुध्यामहे । अत्र कपाठो भावार्थेन सहान्वेति ॥

§ 'मनुष्यादिप्राणिभिः' इति कगकोशयोः पाठः । 'प्राणि' इत्यंशो मुद्रणे नष्टः स्यात् ॥

भावार्थः—यो मनुष्येभ्यः सनातनीं वेदविद्यां ददाति, सुरूपाचारे विराजते, स एवैश्वर्यं लब्ध्वाऽन्येभ्यः प्रापयितुं शक्नोति ॥१०९॥

मनुष्य कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अमर्त्य) नाश और संसारी मनुष्यों के §स्वभाव से रहित (अग्ने) अग्नि के समान पुरुषार्थी ! जो (इरज्यन्) ऐश्वर्य का सञ्चय करते हुए आप (दर्शतस्य) देखने योग्य (वपुषः) रूप की (सानसिम्) सनातन (क्रतुम्) बुद्धि का (पृणक्षि) सम्बन्ध करते हो, और उसी बुद्धि में विशेष करके (विराजसि) शोभित होते हो, (सः) सो आप (अस्मे) हम लोगों के लिये (जन्तुभिः) मनुष्यादि प्राणियों से (रायः) धनों का (प्रथयस्व) विस्तार कीजिये ॥१०९॥

भावार्थः—जो पुरुष मनुष्यों के लिये सनातन वेदविद्या को देता, और सुन्दर आचार से विराजमान हो, वही ऐश्वर्य को प्राप्त हो के दूसरों के लिये प्राप्त करा सकता है ॥१०९॥

इष्कर्त्तारमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । विद्वान् देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

कः परोपकारी जायत इत्याह ॥

इ॒ष्क॒र्त्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳ राध॑सो म॒हः ।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳ र॒यिम् ॥११०॥

इ॒ष्क॒र्त्तार॑म् । अ॒ध्व॒रस्य॑ । प्रचे॑तस॒मिति॒ प्रऽचे॑तसम् । क्षय॑न्तम् । राध॑सः । म॒हः ॥ रा॒तिम् । वा॒मस्य॑ । सु॒भगा॒मिति॑ सु॒ऽभगा॑म् । म॒हीम् । इष॑म् । दधा॑सि । सा॒न॒सिम् । र॒यिम् ॥११०॥

पदार्थः—(इष्कर्त्तारम्) निष्कर्त्तारं संसाधकम् । अत्र 'छान्दसो वर्णलोपः[१]' इति नलोपः (अध्वरस्य) अहिंसनीयस्य वर्धितुं योग्यस्य यज्ञस्य (प्रचेतसम्) *प्रकुष्टप्रज्ञम् । चेता इति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० ३।९ (क्षयन्तम्) निवसन्तम् (राधसः) धनस्य (महः) महतः (रातिम्) दातारम् (वामस्य) प्रशस्यस्य (सुभगाम्) सुष्ठ्वैश्वर्यप्रदाम् (महीम्)

(वपुषः) अर्त्तिपृवपियजि० (उ० २। ११७) इत्यादिना 'उसिः' प्रत्ययः । तस्य नित्त्वविधानादाद्युदात्तत्वम् ॥

(सानसिम्) सानसिवर्णसिपर्णसि० (उ० ४।१०७) इत्यादिना 'असि' प्रत्ययः, सनेरुपधादीर्घत्वन्तोदात्तत्वं च निपात्यते ॥१०९॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. द्र० महाभाष्य ८।२।२६ ॥

§ 'स्वभाव से विलक्षण' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

* 'प्रकृतप्रज्ञम्' इति गकोशे अ०मुद्रिते च पाठः । 'प्रकुष्टप्रज्ञम्' इति ककोशपाठो युक्तः ॥

पृथिवीम् (इषम्) अन्नादिकम् (दधासि) (सानसिम्) पुराणम् (रयिम्) धनम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।३३ व्याख्यातः] ॥११०॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यस्त्वमध्वरस्येष्कर्त्तारं प्रचेतसं वामस्य महो राधसो रातिं [क्षयन्तम्] सुभगां महीमिषं सानसिं रयिं च दधासि, तस्मादस्माभिः पूज्योऽसि ॥११०॥

भावार्थः—†यो मनुष्यो यथा स्वार्थं सुखमिच्छेत् तथा परार्थं च, स एवाप्तः पूज्यो भवेत् ॥११०॥

कौन पुरुष परोपकारी होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष ! जो आप (अध्वरस्य) बढ़ाने योग्य यज्ञ के (इष्कर्त्तारम्) सिद्ध करनेवाले (प्रचेतसम्) उत्तम बुद्धिमान्, (वामस्य) प्रशंसित (महः) बड़े (राधसः) धन के (रातिम्) देने, और (क्षयन्तम्) निवास करनेवाले पुरुष, और (सुभगाम्) सुन्दर ऐश्वर्य की देनेहारी (महीम्) पृथिवी तथा (इषम्) अन्न आदि को, और (सानसिम्) प्राचीन (रयिम्) धन को (दधासि) धारण करते हो, इससे §हम लोगों के द्वारा सत्कार करने योग्य हो ॥११०॥

भावार्थः—जो मनुष्य जैसे अपने लिये सुख की इच्छा करे, वैसे ही दूसरों के लिये भी करे, वही आप्त सत्कार के योग्य होवे ॥११०॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(इष्कर्त्तारम्) निष्कर्त्तारमित्यस्य छान्दसो वर्णलोपः (महाभा० ८।२।२६) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे तृचः चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(प्रचेतसम्) पूर्वं (य० ५।११) व्याख्यातः ॥

(क्षयन्तम्) 'क्षि क्षये' लटः शतरि शपि, अदुपदेशत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(राधसः) पूर्वं (य० ३।१३) व्याख्यातः ॥

(महः) पूर्वं (य० ३।४६) अच्प्रत्ययान्तो व्याख्यातः । यद्वा—महतेः क्विपि षष्ठ्येकवचने रूपम् । सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६२) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(सुभगाम्) ऋत्वादिषु भगशब्दस्य पाठात् ऋत्वादयश्च (अ० ६।२।११८) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(दधासि) पदादित्वान्निघाताभावः । अनुदात्ते च (अ० ६।१।१८४) इत्यभ्यस्तस्याद्युदात्तत्वम् ॥११०॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

---

† 'यो मनुष्यो' इति ककोशे पाठः, गकोशे प्रमादेन त्यक्तः, अत एव अ०मुद्रितेऽपि नोपलभ्यते ॥

§ 'हम लोगों को' इति कगकोशयोः अ०मुद्रिते च पाठः ॥

ऋतावानमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैः केषामनुकरणं कार्यमित्याह ॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳ सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥१११॥

ऋतावानम् । ऋतवानमित्यृतऽवानम् । महिषम् । विश्वदर्शतमिति विश्वऽदर्शतम् । अग्निम् । सुम्नाय । दधिरे । पुरः । जनाः ॥ श्रुत्कर्णमिति श्रुत्ऽकर्णम् । सप्रथस्तममिति सप्रथःऽतमम् । त्वा । गिरा । दैव्यम् । मानुषा । युगा ॥१११॥

पदार्थः—(ऋतावानम्) *ऋतं सत्यं बहु विद्यते यस्मिंस्तम् । अत्र छन्दसीवनिपौ [अ० ५।२।१०९ वा०] इति वार्तिकेन वनिप् (महिषम्) महान्तम (विश्वदर्शतम्) सर्वविद्याबोधस्य द्रष्टारम् (अग्निम्) विद्वांसम् (सुम्नाय) सुखाय (दधिरे) हितवन्तः† (पुरः) पुरस्तात् (जनाः) विद्याविज्ञानेन प्रादुर्भूता मनुष्याः (श्रुत्कर्णम्) श्रुतौ श्रवणसाधकौ कर्णौ यस्य बहुश्रुतस्य तम् (सप्रथस्तमम्) प्रथसा विस्तरेण सह वर्त्तमानः सप्रथास्तमतिशयितम् (त्वा) त्वाम् (गिरा) वाचा (दैव्यम्) देवेषु विद्वत्सु कुशलम् (मानुषा) मनुष्याणामिमानि (युगा) युगानि वर्षाणि §कृतादीनि वा । [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।३४ व्याख्यातः] ॥१११॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यथा जना गिरा सुम्नाय दैव्यं श्रुत्कर्णं विश्वदर्शतं सप्रथस्तममृतावानं महिषमग्निं विद्वांसं मानुषा युगा च पुरो दधिरे, $तथैव विद्वांसमेतानि च त्वं धेहीति [त्वा] त्वां शिक्षयामि ॥१११॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ऋतावानम्) छन्दसीवनिपौ (अ० ५।२।१०९ वा०) इति 'वनिप्' । पित्त्वादनुदात्तत्वे प्रातिपदिकस्वरः । छान्दसं दीर्घत्वम् ॥

(महिषम्) पूर्वं (य० ३।७) व्याख्यातः ॥

(विश्वदर्शतम्) विश्वोपपदाद् दृशधातोः भृमृदृशियजि० (उ० ३।११०) इत्यतच् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनामुपसंख्यानम् (अ० ६।२।१०६ वा०) इत्यनेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

* 'ऋतं बहु सत्यं विद्यते यस्मिंस्तम्' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्चापि व्यत्यस्तः पाठः ॥

† 'धृतवन्तः' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधित स्यात् । उभयत्रार्थः समान एव ॥

§ 'कृतादीनि वा' इति ककोशे पाठः । स च गकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः, अत एव अ०मुद्रितेऽपि नोपलभ्यते ॥

$ 'तथैवं भूतं विद्वांसमेतानि च यूयमपि धत्त' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे संशोधितः स्यात् । अथैव भाषापदार्थेऽपि—'वैसे ऐसे विद्वान् को और इन वर्षों को तुम लोग धारण करो' ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—ये सत्पुरुषा अतीतास्तेषामेवानुकरणं मनुष्याः कुर्युर्नेतरेषामधार्मिकाणाम् ॥१११॥

मनुष्यों को किन का ‡अनुकरण करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! जैसे (जनाः) विद्या और विज्ञान से प्रसिद्ध मनुष्य (गिरा) वाणी से (सुम्नाय) सुख के लिये (दंक्ष्यम्) विद्वानों में कुशल (श्रुत्कर्णम्) बहुश्रुत (विश्वदर्शतम्) सब देखनेहारे (सप्रथस्तमम्) अत्यन्तविद्या के विस्तार के साथ वर्त्तमान (ऋतावानम्) बहुत सत्याचरण से युक्त (महिषम्) बड़े (अग्निम्) विद्वान् को [तथा] (मानुषा) मनुष्यों के (युगा) वर्ष वा सत्ययुग आदि [को] (पुरः) प्रथम (दधिरे) ∫धारण करते हैं, वैसे विद्वान् को और इन वर्षों को तू भी धारण कर, यह (त्वा) तुझे सिखाता हूं ॥१११॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जो सत्पुरुष हो चुके हों, उन्हीं का अनुकरण मनुष्य लोग करें, अन्य अधर्मियों का नहीं ॥१११॥

आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

राजजनाः किं कृत्वा कीदृशा भवेयुरित्याह ॥

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् ।
भवा वाजस्य सङ्गथे ॥११२॥

(सुम्नाय) पूर्वं (य० २।१८) व्याख्यातः ॥

(श्रुत्कर्णम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सप्रथस्तमम्) प्रथसा सह वर्त्तते सप्रथः । तेन सहेति तुल्ययोगे (अ० २।२।२८) इति समासः । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६।२।१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

यत्तु सायणः ऋ० १।२२।१५ 'कृत्स्वरः' इत्याह । स तु तत्प्रदर्शितव्युत्पत्तौ न सम्भवत्यतश्चिन्त्यः ॥१११॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

‡ 'अनुहार' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

∫ 'धारण करते हुए' इति कगकोशयोः पाठः, अ०मुद्रिते चापि ॥

आ । प्यायस्व । सम् । एतु । ते । विश्वतः । सोम । वृष्ण्यम् ॥ भव । वाजस्य । सङ्गथ इति सम्ऽगथे ॥११२॥

पदार्थः—(आ) (प्यायस्व) वर्धस्व (सम्) (एतु) *संगच्छताम् (ते) तुभ्यम् (विश्वतः) सर्वतः (सोम) चन्द्र इव वर्तमान (वृष्ण्यम्) वृष्णो वीर्यवतः कर्म (भव) द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (वाजस्य) विज्ञानवेगयुक्तस्य∫ (संगथे) संग्रामे । [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।४६ व्याख्यातः] ॥११२॥

अन्वयः—हे सोम! तादृशस्य विदुषः संगात् ते वृष्ण्यं विश्वतः समेतु, तेन त्वमाप्यायस्व, वाजस्य‡ वेत्ता सन् [सङ्गथे] विजयी भव ॥११२॥

भावार्थः— राजपुरुषैर्नित्यं वीर्य्यं वर्धयित्वा §विजयिभिर्भवितव्यम् ॥११२॥

राजपुरुष क्या करके कैसे हों, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सोम) चन्द्रमा के समान कान्तियुक्त राजपुरुष ! जैसे सोमगुणयुक्त विद्वान् के संग से (ते) तेरे लिये (वृष्ण्यम्) वीर्य्य पराक्रमवाले पुरुष का कर्म (विश्वतः) सब ओर से (समेतु) संगत हो, उस से आप (आप्यायस्व) बढ़िये, (वाजस्य) विज्ञान और वेग से संग्राम के जाननेहारे (संगथे) युद्ध में विजय करनेवाले (भव) हूजिये ॥११२॥

भावार्थः—$राजपुरुषों को नित्य पराक्रम बढ़ा के शत्रुओं पर विजय को प्राप्त होना चाहिये ॥११२॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वृष्ण्यम्) वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् (अ० ५।१।१२२) इति 'ष्यञ्' । संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः (परि० सीरदेव ७६) इति वृद्ध्यभावः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९१) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(सङ्गथे) पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उ० २।७) इति विधीयमानः 'थक्' संपूर्वाद् गमेरपि भवति । अनुदात्तोपदेशवनति० (अ० ६।४।३७) इत्यनुनासिकलोपः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरः ॥११२॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'सङ्गच्छेताम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

∫ इतोऽग्रे 'स्वामिन आज्ञया' इति निराधारोऽनावश्यकश्च पाठः ॥

‡ 'वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम' गीता ११।३८ ॥ 'वेदिता' इत्यर्थेवेति साम्प्रतिकाः ॥

§ 'विजयेन' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

$ 'राजपुरुषों को चाहिये कि सदा पराक्रम बढ़ा के विजय करनेवाले हों' इति ककोशे पाठः । गकोशे तु सर्वोऽप्ययं भावार्थो नास्त्येव ॥

सं त इत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

शरीरात्मबलयुक्ताः किमाप्नुवन्तीत्याह ॥

सं ते पयाँꣳसि समु यन्तु वाजाः स वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि श्रवाँꣳस्युत्तमानि धिष्व ॥११३॥

सम् । ते । पयाँꣳसि । सम् । ऊँ इत्यूँ । यन्तु । वाजाः । सम् । वृष्ण्यानि । अभिमातिषाहः । अभिमातिसहु इत्यभिमातिऽसहः ॥ आप्यायमान इत्याऽप्यायमानः । अमृताय । सोम । दिवि । श्रवाँꣳसि । उत्तमानीत्युत्ऽतमानि । धिष्व ॥११३॥

पदार्थः—(सम्) (ते) तुभ्यम् (पयांसि) जलानि दुग्धानि वा (सम्) (उ) (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (वाजाः) धनुर्वेदबोधजा वेगाः (सम्) (वृष्ण्यानि) वीर्य्याणि (अभिमातिषाहः) येऽभिमातीनभिमानयुक्तान् शत्रून् सहन्ते निवारयन्ति (आप्यायमानः) समन्ताद् वर्धमानः (अमृताय) मोक्षसुखाय (सोम) ऐश्वर्य्ययुक्त (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे (श्रवांसि) अन्नानि [1]श्रवणानि वा (उत्तमानि) ([2]धिष्व) धत्स्व ॥ [अयं मन्त्रः श० ७।३।१।४६ व्याख्यातः] ॥११३॥

अन्वयः—हे सोम ! यस्मै ते पयांसि संयन्त्वभिमातिषाहो वाजाः सं[उ यन्तु,] वृष्ण्यानि संयन्तु, स आप्यायमानस्त्वं दिव्यमृतायोत्तमानि श्रवांसि धिष्व ॥११३॥

भावार्थः—ये मनुष्याः शरीरात्मबलं नित्यं वर्धयन्ति, ते योगाभ्यासेन परमात्मनि मोक्षानन्दं लभन्ते ॥११३॥

शरीर और आत्मा के बल से युक्त पुरुष किस को प्राप्त होते हैं,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सोम) *ऐश्वर्ययुक्त पुरुष ! जिस (ते) तुम्हारे लिये (पयांसि) जल वा दुग्ध (संयन्तु) प्राप्त होवें, (अभिमातिषाहः) अभिमानयुक्त शत्रुओं को सहने वाले (वाजाः) धनुर्वेद के विज्ञान [से उत्पन्न वेग] (सम्) प्राप्त होवें, (उ) और (वृष्ण्यानि)

---

१. भावे 'ल्युट्' । यशांसीत्यर्थः ॥

२. सुधितवसुधितनेमधितधिष्व० (अ० ७।४।४५) इति निपातनम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अभिमातिषाहः) अभिमातिशब्दोपपदात् सहतेः छन्दसि सहः (अ० ३।२।६३) इति 'ण्विः', उपधावृद्धिः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । पदकारास्तु 'अभिमातिऽसहः' इति ह्रस्वमकारं पठन्ति । तेषां क्विपि छान्दसं दीर्घत्वमिति भावः । आदेशप्रत्यययोः (अ० ८।३।५९) इति षत्वम् ॥

---

* 'शान्तियुक्त' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । स च संस्कृताननुगतः ॥

पराक्रम को (सम्) प्राप्त होवें, सो (आप्यायमानः) अच्छे प्रकार बढ़ते हुए आप (दिवि) प्रकाशस्वरूप ईश्वर में (अमृताय) मोक्ष के लिये (उत्तमानि श्रवांसि) उत्तम [अन्न वा] श्रवणों [=यशों] को (धिष्व) धारण कीजिये ॥११३॥

भावार्थः—जो मनुष्य शरीर और आत्मा के बल को नित्य बढ़ाते हैं, वे योगाभ्यास से परमेश्वर में मोक्ष के आनन्द को प्राप्त होते हैं ॥११३॥

आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता । आर्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

कोऽत्र वर्द्धत इत्याह ॥

आप्यायस्व मदिन्तम् सोम् विश्वेभिर॒ꣳशुभिः ।
भवा नः सुप्रथस्तमः सखा वृधे ॥११४॥

आ । प्यायस्व । मदिन्तमेति मदिन्ऽतम । सोम । विश्वेभिः । अꣳशुभिरित्यꣳशुऽभिः ॥ भव । नः । सुप्रथस्तम इति सुप्रथःऽतमः । सखा । वृधे ॥११४॥

पदार्थः—(आ) (प्यायस्व) ([1]मदिन्तम) अतिशयेन मदितुं हर्षितुं शील (सोम) ऐश्वर्य्ययुक्त (विश्वेभिः) सर्वैः (अंशुभिः) किरणैः (भव) द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (नः) अस्माकम् (सप्रथस्तमः[2]) अतिशयेन विस्तृतसुखकारकः (सखा) मित्रः[3] (वृधे) वर्धनाय ॥११४॥

अन्वयः—हे मदिन्तम सोम ! त्वमंशुभिः किरणैः सूर्य्य इव विश्वेभिः साधनैराप्यायस्व, सप्रथस्तमः सखा सन् नो वृधे भव ॥११४॥

भावार्थः—इह सर्वहितकारी सर्वतो वर्धते, नेर्ष्यकः ॥११४॥

(आप्यायमानः) प्यायतेः 'शानच्' । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकनिघाते धातुस्वरः । ततः समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण स एव स्वरो भवति ॥

(श्रवांसि)पूर्वं(य० १२।१०६)व्याख्यातः ॥

(उत्तमानि) उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र इति उञ्छादिगणस्थेन(अ० ६।१।१५४)सूत्रेणान्तोदात्तः ॥११३॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. पूर्वं (य० ८।४८) व्याख्यातः ॥
२. पूर्वं (य० १२।१११) व्याख्यातः ॥
३. अर्धर्चादित्वात् (अ० २।४।३१) पुंस्त्वम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वृधे) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः(अ० ६।१।१६२) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥११४॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

संसार में कौन वृद्धि को प्राप्त होता है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (मदिन्तम) अत्यन्त आनन्दी (सोम) ऐश्वर्य्यवाले पुरुष ! आप (अंशुभिः) किरणों से सूर्य्य के समान (विश्वेभिः) सब साधनों से (आप्यायस्व) वृद्धि को प्राप्त हूजिये । (सप्रथस्तमः) अत्यन्तविस्तारयुक्त सुख करनेहारे (सखा) मित्र हुए (नः) हमारे (वृधे) बढ़ाने के लिये (भव) तत्पर हूजिये ॥११४॥

भावार्थः—इस संसार में सब का हित करनेहारा पुरुष सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है, ईर्ष्या करने वाला नहीं ॥११४॥

आ त इत्यस्य वत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

मनुष्याः किं किं वशीकृत्यानन्दं प्राप्नुवन्त्वित्याह ॥

आ ते॑ वृत्सो मनो॑ यमत् पर॒माच्चि॑त् स॒धस्था॑त् ।
अग्ने॒ त्वाङ्का॑मया गि॒रा ॥११५॥

आ । ते॒ । वृत्सः । मनः॑ । य॒म॒त् । प॒र॒मात् । चि॒त् । स॒धस्था॒दिति॑ स॒धऽस्था॑त् ॥ अग्ने॑ । त्वाङ्का॑म॒येति॒ त्वाम्ऽका॑मया । गि॒रा ॥११५॥

पदार्थः—(आ) (ते) तव (वत्सः) (मनः) चित्तम् (यमत्) उपरमेत (परमात्) उत्कृष्टात् (चित्) अपि (सधस्थात्) समानस्थानात् (अग्ने) विद्वन् (त्वाङ्कामया) यया त्वां कामयते तया । अत्र द्वितीयैकवचनस्यालुक् (गिरा*) वाचा । [अयं मन्त्रः श० ७।३।२।८ व्याख्यातः] ॥११५॥

अन्वयः—हे †अग्ने ! विद्वँस्त्वाङ्कामया गिरा [यस्य ते मनः] परमात् सधस्थाच्चिद् वत्सो गोरिवायमत्, स त्वं मुक्तिं कथन्नाप्नुयाः ॥११५॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैव मनः स्ववशं विधेयं वाणी च ॥११५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(त्वाङ्कामया) शीलिकामिभक्ष्याचारिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० ३।२।१ भा० वा०) इति 'णः' । विग्रहस्त्वर्थप्रदर्शनपरः ॥११५

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* '(गिरा) वाचा' इति कपाठः, गकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा त्यक्तः इति ध्येयम् ॥

† इतोऽग्रे 'सोम' इति सार्वत्रिकः पाठः सन्नप्यनावश्यक इति ध्येयम् ॥

मनुष्य लोग किस किस को वश में करके आनन्द को प्राप्त होवें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् पुरुष ! (त्वाङ्कामया) §तुझको [अर्थात् अपने स्वरूप की] कामना करने वाली (गिरा) $वाणी से जिस (ते) तेरा (मनः) चित्त जैसे (परमात्) अच्छे (सधस्थात्) एक से स्थान से (चित्) भी (वत्सः) बछड़ा गौ को ∫प्राप्त होता है, वैसे (आ यमत्) ‡स्थिर होवे, सो तू मुक्ति को क्यों न प्राप्त होवे ॥११५॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिए कि मन और वाणी को सदैव अपने वश में रक्खें ॥११५॥

तुभ्यं ता इत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

***अथ राजा किं कुर्यादित्याह ॥**

तुभ्यं॒ ताऽ अ॑ङ्गिरस्तम॒ विश्वाः॑ सुक्षि॒तय॒ः पृथ॑क् ।
अग्ने॒ कामा॑य येमिरे ॥११६॥

तुभ्य॑म् । ताः । अ॒ङ्गि॒र॒स्त॒मेत्य॑ङ्गिरःऽतम । विश्वाः॑ । सु॒क्षि॒तय॒ इति॑ सुऽक्षि॒तयः॑ । पृथ॑क् ॥ अग्ने॑ । कामा॑य । ये॒मि॒रे॒ ॥११६॥

पदार्थः—(तुभ्यम्) (ताः) (अङ्गिरस्तम) अतिशयेन सारग्राहिन् (विश्वाः) अखिलाः (सुक्षितयः) श्रेष्ठमनुष्याः प्रजाः (पृथक्) (अग्ने) प्रकाशमान राजन् ! (कामाय) इच्छासिद्धये (येमिरे) प्राप्नुवन्तु । [अयं मन्त्रः श० ७।३।२।८ व्याख्यातः] ॥११६॥

अन्वयः—हे अङ्गिरस्तमाग्ने राजन् ! या विश्वाः सुक्षितयः प्रजाः पृथक् कामाय तुभ्यं येमिरे तास्त्वं सततं रक्ष ॥११६॥

भावार्थः—यत्र प्रजा धार्मिकं राजानं प्राप्य स्वां स्वामभिलाषां प्राप्नुवन्ति, तत्र राजा कथं न वर्द्धेत ॥११६॥

---

§ 'तुझ को कामना करने के हेतु' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

$ 'वाणी से जिस' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

∫ 'प्राप्त होवे' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

‡ 'स्थिर होता है' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'चित्त को स्थिर करते हो' इति ककोशेपाठः ॥

* 'प्रजाः कीदृशं राजानं प्राप्य वर्द्धन्त इत्याह । प्रजा पुरुष कैसे राजा को प्राप्त हो के बढ़ते हैं, यह वि०' इति पाठः ककोशेऽस्ति । गकोशेऽयमंशो नास्त्येवेति ध्येयम् ॥

अब राजा क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अङ्गिरस्तम) अतिशय करके सार के ग्राहक (अग्ने) प्रकाशमान राजन् ! जो (विश्वाः) सब (सुक्षितयः) श्रेष्ठ मनुष्यों वाली ∫प्रजायें (पृथक्) अलग (कामाय) §इच्छा की सिद्धि के लिए (तुभ्यम्) आप को (येमिरे) $प्राप्त होवें, (ताः) उन प्रजाओं की आप निरन्तर रक्षा कीजिए ॥११६॥

भावार्थः—जहां प्रजा के लोग धर्मात्मा राजा को प्राप्त हो के अपनी अपनी इच्छा पूरी करते हैं, वहां राजा की वृद्धि क्यों न होवे ? ॥११६॥

अग्निरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः कीदृशा भूत्वा किं कुर्युरित्याह ॥

अ॒ग्निः प्रि॒येषु॒ धाम॑सु॒ कामो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य ।
स॒म्राडेको॒ वि रा॑जति ॥११७॥

अ॒ग्निः । प्रि॒येषु॑ । धाम॒स्विति॒ धाम॑ऽसु । काम॑ः । भू॒तस्य॑ । भव्य॑स्य । स॒म्राडिति॑ स॒म्ऽराट् । एक॑ः । वि । रा॒ज॒ति॒ ॥११७॥

पदार्थः—(अग्निः) पावक इव वर्त्तमानः (प्रियेषु) इष्टेषु (धामसु) [1]जन्मस्थाननामसु (कामः[2]) यः काम्यते सः (भूतस्य) अतीतस्य (भव्यस्य) आगामिसमयस्य (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशकः (एकः) अद्वितीयः परमेश्वरः (वि) (राजति) । [अयं मन्त्रः श० ७।३।२।८ व्याख्यातः] ॥११७॥

अन्वयः—यो मनुष्यः सम्राडेकः कामोऽग्निः सभेशः परमेश्वर इव भूतस्य भव्यस्य प्रियेषु धामसु विराजति, स एव *राज्येऽभिषेचनीयः ॥११७॥

---

१. धामानि त्रयाणि भवन्ति—स्थानानि नामानि जन्मानि (निरु० ९।२८) ॥

२. अत्र कर्मणि 'घञ्' ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(भव्यस्य) अचो यत् (अ० ३।१।९७) इति 'यत्'। यतोऽनावः (अ० ६।१।२०७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

∫ 'प्रजा' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ 'इच्छा के साधक (तुभ्यम्) तुम्हारे लिये' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

$ 'प्राप्त होवे' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

* 'राज्याभिषेचनीयः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'राजाभिषेचनीयः' इति कगकोशयोः पाठः । स च सम्यक् ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—ये मनुष्याः परमात्मनो गुणकर्मस्वभावानुकूलान् स्वगुणकर्मस्वभावान् कुर्वन्ति, त एव साम्राज्यं भोक्तुमर्हन्तीति ।।११७।।

अत्र स्त्रीपुरुषराजप्रजाकृष्यध्ययनाध्यापनादिकर्मवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
द्वादशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।१२।।

फिर मनुष्य लोग कैसे होकर क्या क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—जो मनुष्य (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशक, (एकः) ∫एक ही अर्थात् अद्वितीय (कामः) स्वीकार के योग्य, (अग्निः) अग्नि के समान वर्त्तमान सभापति §परमेश्वर के सदृश (भूतस्य) हो चुके और (भव्यस्य) आने वाले समय के (प्रियेषु) इष्ट (धामसु) जन्म, स्थान और नामों में (विराजति) प्रकाशित होवे, वही राज्य का अधिकारी होने योग्य है ।।११७।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जो मनुष्य परमात्मा के गुण कर्म, और स्वभावों के अनुकूल गुण कर्म और स्वभाव करते हैं, वे ही चक्रवर्ती राज्य भोगने के योग्य होते हैं ।।११७।।

इस अध्याय में स्त्री, पुरुष, राजा, प्रजा, खेती, और पठन-पाठन आदि कर्म का वर्णन है, इससे इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति समझनी चाहिए ।।

**इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
द्वादशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।१२।।**

※ इति द्वादशोऽध्यायः ※

∫ 'एक ही असहाय परमेश्वर के सदृश' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।
§ 'परमेश्वर के सदृश' पाठोऽयमुपरिष्टादत्रानीतोऽस्माभिः ।।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽ आ सु॑व ॥

यजुः ३०।३ ॥

तत्र मयि गृह्णामीत्याद्यस्य वत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैरादिमाऽवस्थायां [1]किं किं कार्य्यमित्याह ॥

मयि॑ गृह्णाम्यग्ने॑* अ॒ग्निꣳ रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ।
माम्ु दे॒वताः॑ सचन्ताम् ॥१॥

मयि॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । अग्रे॑ । अ॒ग्निम् । रा॒यः । पोषा॑य । सु॒प्र॒जा॒स्त्वा॒येति॑ सुप्रजाः॒ऽत्वाय॑ । सु॒वीर्य्या॒येति॑ सुऽवीर्य्या॑य । माम् । ॐ इत्यूँ॑ । दे॒वताः॑ । स॒च॒न्ता॒म् ॥१॥

पदार्थः—(मयि) आत्मनि (गृह्णामि) (अग्रे) (अग्निम्) [2]परमविद्वांसम् (रायः) विज्ञानादिधनस्य (पोषाय) पुष्टये (सुप्रजास्त्वाय) शोभनाश्च ताः प्रजाः [3]सुप्रजास्तासां भावाय (सुवीर्याय) आरोग्येण सुष्ठुपराक्रमाय (माम्) (उ) (देवताः) दिव्या विद्वांसो गुणा वा (सचन्ताम्) समवयन्तु[4] । [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।२ व्याख्यातः] ॥१॥

---

१. आयुषः प्रथमभाग इत्यर्थः । तच्च मन्त्रे 'अग्रे' इति पदेन गृह्यते ॥

२. पूर्वं (य० ११।१७) व्याख्यातः ॥

३. असिजादेशो बहुव्रीहावेव भवति, अत्र छान्दसत्वाद् भवति, दीर्घत्वं चापि ॥

४. शतपथेऽग्निग्रहणब्राह्मणे 'अथ गृह्णाति' इत्येवं विनियुज्यते । कात्यायनश्रौतसूत्रे (१७।३।२७) तु 'जपति' इति विनियुक्तः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अग्रे) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० (उ० २।२८) इति अङ्गेर्धातोः 'रन्' प्रत्ययान्तो निपात्यते । निपातनादनुनासिकलोपः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(सुप्रजास्त्वाय) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः (अ० ५।४।१२२) इति बहुव्रीहौ विधीयमानोऽप्यसिच् छान्दसत्वात् कर्मधारयेऽपि

---

* 'अग्ने' इति मन्त्रे पदपाठे-संस्कृतपदार्थे-अन्वये-भाषापदार्थे चापपाठः स्पष्टः । 'अग्रे' इत्येव पाठः सार्वत्रिकः कगहस्तलेखयोश्चापि । अस्मिन् मन्त्रे 'अग्रे' इत्येव सार्वत्रिकः पाठः । सर्वमुद्रितपुस्तके-

अन्वयः—हे कुमाराः कुमार्य्यश्च ! यथाऽहमग्रे मयि रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्यायाग्निं गृह्णामि, येन मामु देवताः सचन्तां, तथा यूयमपि कुरुत ॥१॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्याणामिदं समुचितमस्ति [यत्] [1]ब्रह्मचर्यकुमारावस्थायां वेदाद्यध्ययनेन पदार्थविद्यां ब्रह्मकर्म ब्रह्मोपासनां ब्रह्मज्ञानं स्वीकुर्युः, येन दिव्यान् गुणानाप्तान् विदुषश्च प्राप्योत्तमश्रीप्रजापराक्रमान् प्राप्नुयुरिति ॥१॥

अब तेरहवें अध्याय का प्रारम्भ है । उस के प्रथम मन्त्र में मनुष्यों को पहिली अवस्था में क्या क्या करना चाहिये, यह विषय कहा है ॥

पदार्थः—हे कुमार वा कुमारियो ! जैसे मैं (अग्रे) पहिले (मयि) मुझ [=अपने] में (रायः) विज्ञान आदि धन के (पोषाय) पुष्टि (सुप्रजास्त्वाय) सुन्दर प्रजा होने के लिए और (सुवीर्याय) रोगरहित सुन्दर पराक्रम होने के अर्थ (अग्निम्) उत्तम विद्वान् को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं, जिस से (माम्) मुझ को (उ) [निश्चय] ही (देवताः) उत्तम विद्वान् वा उत्तम गुण (सचन्ताम्) मिलें, वैसे तुम लोग भी करो ॥१॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को यह उचित है कि ब्रह्मचर्य्ययुक्त कुमारावस्था में वेदादि शास्त्रों के पढ़ने से पदार्थविद्या, उत्तम कर्म, और ईश्वर की उपासना तथा ब्रह्मज्ञान को स्वीकार करें, जिस से श्रेष्ठ गुण और आप्त विद्वानों को प्राप्त होके उत्तम धन सन्तानों और पराक्रम को प्राप्त होवें ॥१॥

द्रष्टव्यः । यद्वा—बहुव्रीहिरेवायम् । भाष्यन्त्वर्थंप्रदर्शनपरम् । ततः त्वप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण 'त्व' इत्युदात्तः । छान्दसं दीर्घत्वम् ॥

(सुवीर्याय) कर्मधारयेऽपि **परादिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । बहुव्रीहौ तु **वीरवीर्यौ च** (अ० ६।२।१२०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(माम्) अस्मच्छब्दो मदिक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः । तस्य मपर्यन्तस्य **त्वमावेकवचने** (अ० ७।२।९७) इति 'म' आदेशः । **द्वितीयायां च** (अ० ७।२।८७) इत्यकारान्तादेशः । सुपोऽनुदात्तत्वे एकादेशस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(उ) **चादयोऽनुदात्ताः** (फिट्० ८४) इत्यनुदात्तः ॥

(देवताः) देवात्तल् (अ० ५।४।२७) इति तलि लित्स्वरेण मध्योदात्तः ॥

(सचन्ताम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. ब्रह्मचर्यसहिता कुमारावस्था ब्रह्मचर्यकुमारावस्था, शाकपार्थिववद् उत्तरपदलोपी समासः ॥१॥

ण्वित्यर्थः । वैदिकयन्त्रालयमुद्रिते पुस्तके (वि० सं० १९९९ मुद्रिते) अपि 'अग्रे' इत्येव पाठः । शतपथ ब्राह्मणे (श० ७।४।१।२), तैत्तिरीयसंहितायां मैत्रायणीकाठकयोश्चापि तथैवोपलभ्यते । कात्यायन-आपस्तम्बश्रौतसूत्रयोरप्यमेव पाठः ॥

मुद्रणेऽयं पाठः कथं केन वा परिवर्त्तित इत्यन्वेषणार्हमिति । वयं तु 'संशोधकानां प्रमाद एव स्यादित्यनुमिनुमः । कुतः ? भाषापदार्थे '(अग्ने) पहिले' इत्युपलम्भात् ॥

अपां पृष्ठमित्यस्य वत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

*अथ [1]परमेश्वरोपासनाविषयमाह ॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महाँ२ऽ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥२॥

अपाम् । पृष्ठम् । असि । योनिः । अग्नेः । समुद्रम् । अभितः । पिन्वमानम् ॥ वर्धमानः । महान् । आ । च । पुष्करे । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथस्व ॥२॥

पदार्थः—(अपाम्) [2]व्यापकानां [3]प्राणानां जलानां वा (पृष्ठम्) अधिकरणम् (असि) (योनिः) कारणम् (अग्नेः) विद्युदादेः ([4]समुद्रम्) अन्तरिक्षमिव सागरम् (अभितः) सर्वतः ([5]पिन्वमानम्) सिञ्चमानम्[6] (वर्धमानः) सर्वथोत्कृष्टः (महान्) सर्वेभ्यो[7] वरीयान् सर्वैः पूज्यश्च (आ) (च) (पुष्करे) अन्तरिक्षे । पुष्करमित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघ० १।३ (दिवः) द्योतमानस्य (मात्रया) [8]यया सर्वं मिमीते (वरिम्णा) अतिशयेनोरु[9]र्बहुस्तेन व्यापकत्वेन (प्रथस्व) प्रख्यातो भव । [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।१ व्याख्यातः[10]]॥२

१. मन्त्रोऽयं पूर्वं (य० ११।२९) विद्युत्परत्वेन व्याख्यातः । तत्र 'पुनर्मनुष्याः कीदृशं विद्युतं गृह्णीयुरित्याह' इत्युक्तम् ॥

२. परमात्मविद्वदादीनां निर्देशकमिदम्, न तु विशेषणम् ॥

३. प्राणा वा आपः ॥ तै० ब्रा० ३।२।५।२ ॥

४. 'समुद्रम्' इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् (निघ० १।३) ॥

५. 'पिवि सेवने',……सेचन इति तरङ्गिण्याम् ॥ इति धातुवृत्तिकारः, पृ० ११२ ॥

६. षिच् उभयपदीति ॥

७. विभज्ये उपपदे 'ईयसुन्' । 'सर्वेभ्यः' इत्यत्र पञ्चमी विभक्ते (अ० २।३।४२) इति पञ्चमी ॥

८. 'या सर्वं मिमीते तया' इति भावः ॥

९. 'उरोर्बहोर्भविन' इति पूर्वं (य० ११।२९); 'श्रेष्ठगुणसमूहेन' इति पूर्वं (य० ३।५) भाष्ये । अत्र 'उरोर्भावः' इति व्यापकत्वेन सहान्वेतीति ध्येयम् ॥

१०. मन्त्रोऽयं शतपथेऽत्र न व्याख्यायते । यस्तु कात्यायनसूत्रे (अ० १६।२।२३) विनियुक्तः स तु पूर्वं य० ११।२९ प्रकरणेऽयमेव मन्त्र इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पिन्वमानम्) छान्दसमात्मनेपदं 'शानच्' । तस्य तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशाल्ल० (अ० ६।१।१८६) इत्यनुदात्तत्वे, शपः पित्त्वादनुदात्तत्वे च धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(पुष्करे) (यजु० २।३३) व्याख्यातः । द्र० (य० ११।२९) व्याकरण प्रक्रिया ॥

(मात्रया) माङ् माने (जु० आ०) इत्यस्मात् 'हुयामाश्रुभासिभ्यस्त्रन्' (उ० ४।१६८)

* 'पुनरेतैः किं कर्त्तव्यमित्याह । फिर इन को क्या करना चाहिये' इति ककोशे हस्तलेखपाठः । गकोशे हस्तलेखे पाठोऽयं नास्त्येवेति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यस्त्वमभितोऽपां पृष्ठं समुद्रं पिन्वमानमग्नेर्योनिर्दिवो मात्रया पुष्करे वर्धमानो महांश्चासि सोऽस्मासु वरिम्णा प्रथस्व ।।२।।

भावार्थः—मनुष्यैर्यत्† सच्चिदानन्दस्वरूपमखिलस्य जगतो निर्मातृ सर्वत्राभिव्याप्तं सर्वेभ्यो वरं सर्वशक्तिमद् ब्रह्मैवोपास्य सकलविद्याः प्राप्यन्ते, तत् कथं न सेवितव्यं स्यात् ।।२।।

अब परमेश्वर की उपासना का विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष ! जो तू (अभितः) सब ओर से (अपाम्) सर्वत्र व्यापक परमेश्वर[1] आकाश दिशा बिजुली और प्राणों वा जलों के (पृष्ठम्) अधिकरण (समुद्रम्) आकाश के समान§ (पिन्वमानम्) सींचते हुए समुद्र को (अग्नेः) बिजुली आदि अग्नि के (योनिः) कारण (दिवः) प्रकाशित पदार्थों का (मात्रया) निर्माण करनेहारी बुद्धि से (पुष्करे) हृदयरूप अन्तरिक्ष में (वर्धमानः) उन्नति को प्राप्त हुए (च) और (महान्) सब [से] श्रेष्ठ वा सब के पूज्य (असि) हो, सो आप हमारे मध्य (वरिम्णा) व्यापकशक्ति से (आ प्रथस्व) प्रसिद्ध हूजिये ।।२।।

भावार्थः—मनुष्यों को जिस सत् चित् और आनन्दस्वरूप, सब जगत् का रचनेहारा, सर्वत्र व्यापक, सबसे उत्तम और सर्वशक्तिमान् $ब्रह्म की उपासना से सम्पूर्ण विद्यादि अनन्त गुण प्राप्त होते हैं, उसका सेवन क्यों न करना चाहिये ।।२।।

ब्रह्म जज्ञानमित्यस्य वत्सार ऋषिः । आदित्यो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

किंस्वरूपं ब्रह्म जनैरुपास्यमित्याह ।।

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः ।
स बुध्न्याऽ उपमाऽ अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ।।३।।

इति 'त्रन्' प्रत्ययः । नित्स्वरेणाद्युदात्तो मात्राशब्दः । सुपोऽनुदात्तत्वे स एव स्वरः ।।

(वरिम्णा) उरु शब्दस्य इमनिच्-प्रत्यये **प्रियस्थिरस्फिरोरु०** (अ० ६।४।१५७) इति वर् आदेशे चित्स्वरेणान्तोदात्तो 'वरिमन्' शब्दः । टाविभक्तौ **अल्लोपोऽनः** (अ० ६।४।१३४) इत्यल्लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

१. 'परमेश्वर आकाश दिशा बिजुली'········· इत्येतेषां संस्कृते पदानि न सन्ति, अपि तु सामर्थ्यात् भाष्यकारेणास्मिन् मन्त्रे गृह्यन्त इति बोध्यम् ।।२।।

---

† मनुष्यैर्यः·········प्राप्नोति, स कथन्न सेवितव्यः' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

§ 'के समान सागर' इत्यजमेरमुद्रिते गकोशे चापपाठः, उत्तरत्र पुनः समुद्रशब्द-श्रवणात् ।।

$ इतोऽग्रे 'ही उपासना करने योग्य है, क्योंकि जो सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त है, उसका सेवन क्यों न करें' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः इति ध्येयम् ।।

ब्रह्म । जज्ञानम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । वि । सीमतः । सुरुच इति सुऽरुचः । वेनः । आवरित्यावः ॥ सः । बुध्न्याः । उपमा इत्युपऽमाः । अस्य । विष्ठाः । विस्था इति विऽस्थाः । सतः । च । योनिम् । असतः । च । वि । वरिति वः ॥३॥

पदार्थः—(ब्रह्म) सर्वेभ्यो बृहत् (जज्ञानम्) सर्वस्य [1]जनकं *विज्ञातृ (प्रथमम्) विस्तृतं विस्तारयितृ (पुरस्तात्) सृष्ट्यादौ (वि) (सीमतः) सीमातो मर्य्यादातः (सुरुचः) सुप्रकाशमानः[2] [3]सुष्ठुरुचिविषयश्च (वेन) कमनीयः। वेनतीति कान्तिकर्मा। निघ० २।६ (आवः[4]) आवृणोति† स्वव्याप्त्याच्छादयति (सः) (बुध्न्याः) बुध्ने जलसंबन्धेऽन्तरिक्षे भवाः सूर्य्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोकाः (उपमाः) उपमिमते याभिस्ताः (अस्य) जगदीश्वरस्य (विष्ठाः) या विविधेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति ताः (सतः) विद्यमानस्य व्यक्तस्य (च) [5]अव्यक्तस्य (योनिम्) स्थानमाकाशम् (असतः) अविद्यमानस्यादृश्यस्याव्यक्तस्य [6]कारणस्य (च) महत्तत्त्वादेः (विवः) विवृणोति। अत्र मन्त्रे घस० [अ० २।४।८०] इति च्लेर्लुगडभावश्च [छान्दस] ॥३॥

---

१. (क) ज्ञाजनोर्जा (अ० ७।३।७९) इति सामान्यनिर्देशात्। तथा सत्युभयोरुभावर्थौ स्याताम् ॥

(ख) सर्वत्र जज्ञानस्य जनक एवार्थ उच्यते। तद्यथा—ऋ० ३।१।४॥; ऋ० ६।२१।७॥; ऋ० ३।४४।४ द० भाष्ये ॥

२. रोचतेः ज्वलतिकर्मणः (निरु० २।२०)। इत्यनेनायमर्थोऽत्र बोध्यः ॥

३. 'रुच (भ्वा० प०) दीप्तावभिप्रीतौ च' इति धातुपाठस्तेनायमर्थः ॥

४. आङ्योगे समासाभावः, आङोऽनुदात्ताभावश्च स्यात्। तस्मादत्र 'आङेषः' ॥

५. अतिविप्रकर्षादिनेन्द्रियैरगृहीतस्य। अत्र व्यक्ताव्यक्तशब्दाभ्यां विकारभूतानां पञ्चमहाभूतानां ग्रहणम्। तत्राकाशवायू अव्यक्तौ इतरे व्यक्ता ग्रहीतव्याः ॥

६. अत्र कारणशब्देन सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपा प्रकृतिरभिप्रेता। चकारेण प्रकृतिविकृत्यात्मिका महदादिसृष्टिर्ग्राह्या, इत्यर्थोऽभिप्रेतः। अयं भावः— त्रिप्रकारकं जगत्— प्रकृत्यात्मकं, प्रकृतिविकृत्यात्मकं, विकृत्यात्मकं च। तत्र साम्यावस्था प्रकृतिरूपेण, ततः पराणि महद्-अहङ्कार-पञ्चतन्मात्राणि च प्रकृतिविकृत्यात्मकानि (पूर्वस्य विकृतिरुत्तरस्य प्रकृतिः), ततः पराणि इन्द्रियाणि मनो महाभूतानि च विकृत्यात्मकान्येव, न तानि कस्यचित् प्रकृतयः। यथा त्रिधा यागाः, प्रकृतिः—दर्शपूर्णमासौ, प्रकृतिविकृतिः—अग्निष्टोमीयः, विकृतिः—चातुर्मास्यानि। यथा यज्ञेषु दर्विहोमादयः प्रकृतिविकृत्युभयविरहितास्तथैव संसारे पुरुषः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(जज्ञानम्) जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०) इत्यस्मात् लिटः कानजादेशः, द्वित्वम्, उपधालोपः, श्चुत्वम्। यद्वा—जानातेः 'कानच्'। द्वित्वमाकारलोपश्च। उभयत्र चित्स्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

---

* 'विज्ञातृ' इति ककोशे नास्ति, गकोशे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

† 'आवृणोति स्वव्याप्त्याछादयति' इति ककोशे पाठः। मन्त्रार्थेऽयमेव पाठः अन्वेति, तस्मादयमेव साधुः। 'आवृण्वन्ति स्वव्याप्त्याच्छादयन्ति ताः' इति गकोशे अ०मुद्रिते च पाठः, स चासम्यग् अनन्वितत्वात् ॥

अत्राह यास्कमुनिः— विसीमतः सुरुचो वेन आवरिति च व्यवृणोत्सर्वत आदित्यः सुरुच आदित्यरश्मयः सुरोचनादपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणं सीम्नः सीमतः सीमातो मर्य्यादातः सीमा मर्य्यादा विषीव्यति देशाविति । निरु० १।७ । [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।१४ व्याख्यातः] ॥३॥

अन्वयः—यत् [पुरस्तात्] जज्ञानं प्रथमं ब्रह्म, यः सुरुचो वेनो, यस्यास्य बुध्न्या विष्ठा उपमाः सन्ति, स सर्वमावः स विसीमतः सतश्चासतश्च योनिं विवस्तत्सर्वैरुपासनीयम् ॥३॥

भावार्थः—यस्य ब्रह्मणो विज्ञानाय प्रसिद्धाऽप्रसिद्धलोका दृष्टान्ताः सन्ति, यत्सर्वत्राभिव्याप्तं सत्सर्वमावृणोति सर्वं विकासयति सुनियमेन स्वस्वकक्षायां §विचालयति, तदेवान्तर्य्यामि ब्रह्म सर्वैर्मनुष्यैरुपास्यं, नातो पृथग्वस्तु भजनीयम् ॥३॥

$मनुष्यों को किस स्वरूपवाला ब्रह्म उपासना के योग्य है,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (पुरस्तात्) सृष्टि की आदि में (जज्ञानम्) सब का उत्पादक ʃऔर ज्ञाता, (प्रथमम्) विस्तारयुक्त और विस्तारकर्ता, (ब्रह्म) सब से बड़ा जो (सुरुचः) सुन्दर प्रकाशयुक्त और सुन्दर रुचि का विषय, (वेनः) ग्रहण के योग्य, जिस (अस्य) इस के (बुध्न्याः) जलसम्बन्धी आकाश में वर्त्तमान सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी और नक्षत्र आदि (विष्ठाः) विविध स्थलों में स्थित (उपमाः) ईश्वर ज्ञान के दृष्टान्त लोक हैं, उन सब को (सः) वह (आवः) अपनी व्याप्ति से आच्छादन करता है, वह ईश्वर (विसीमतः) मर्यादा से (सतः) विद्यमान देखने योग्य (च) और (असतः) अव्यक्त (च) और कारण के (योनिम्) आकाशरूप स्थान को (विवः) ग्रहण करता है, उसी ब्रह्म की उपासना सब लोगों को नित्य अवश्य करनी चाहिये ॥३॥

(**सीमतः**) सीमन् इत्यस्मात् तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानमिति वा **अपादाने चाहीयरुहोः** (अ० ५।४।४५) इति वा तसि प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । 'सीमन्' शब्दादेव वा तसि प्रत्यये छान्दसं ह्रस्वत्वम् ॥

(**सुरुचः**) **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (अ० ३।१।३५) इति 'कः' । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **परादिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१६७) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । निरुक्तदर्शितबहुवचनपक्षे क्विबन्तेन रुच् शब्देन बहुव्रीहिः । **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वे सुपोऽनुदात्तत्वे च स्वरः ॥

(**वेनः**) पूर्वं (य० ७।१६) व्याख्यातः ॥

(**आवः**) वृणोतेर्लुङि **मन्त्रे घसह्वरणश०** (अ० २।४।८०) इति च्लेर्लुक् । गुणे हल्ङ्यादिलोपः **छन्दस्यपि दृश्यते** (अ० ६।४।७३) इति हलादेरपि आट् । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(**बुध्न्याः**) पूर्वं (य० ५।३३) व्याख्यातः ॥

(**उपमाः, विष्ठाः**) **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (अ० ३।२।७४) इति 'विच्' । कृदु-

---

§ गमयतीत्यर्थः। 'विकासयति' इति ककोशे पाठः ॥

$ 'मनुष्यों को' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

ʃ 'और ज्ञाता' इति ककोशे नास्ति । गकोशे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

भावार्थः—जिस ब्रह्म के जानने के लिए प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सब लोक दृष्टान्त हैं, जो सर्वत्र व्याप्त हुआ सब का आवरण और सब‡ का प्रकाश करता है, और सुन्दर नियम के साथ अपनी अपनी कक्षा में सब लोकों को रखता है, वही अन्तर्य्यामी परमात्मा सब मनुष्यों के निरन्तर उपासना के योग्य है। इस से अन्य कोई पदार्थ सेवने योग्य नहीं ॥३॥

हिरण्यगर्भ इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तत् कीदृशमित्याह ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

हिरण्यगर्भ इति हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्त्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत् ॥ सः। दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥४॥

पदार्थः—**(हिरण्यगर्भः) हिरण्यानि सूर्य्यादीनि तेजांसि गर्भे मध्ये यस्य सः।** ज्योतिर्वै हिरण्यम्। शत० [श० ६।७।२।१]। हिरण्यं कस्माद्ध्रियत आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं भवतीति वा* हर्य्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः। निरु० २।१० **(सम्) (अवर्त्तत) (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (भूतस्य)** उत्पन्नस्य (जातः[1]) जनकः **(पतिः) पालकः (एकः) [2]असहायोऽद्वितीयः (आसीत्) (सः) (दाधार) धृतवान् (पृथिवीम्[3])**

त्तरवदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(सतः) शतस्वरेणान्तोदात्तः 'सत्' शब्दः। ततः **शतुरनुमो नद्यजादी** (अ० ६।१।१७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(असतः) नञ्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्। विभक्तिरनुदात्ता ॥

(वः) वृणोतेर्लुङि **मन्त्रे घसह्वरणश०** (अ० २।४।८०) इति च्लेर्लुक्। गुणे हल्ङ्यादिलोपः। **बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि** (अ० ६।४।७५) इति अडभावः। **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. **गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजन०** (अ० ३।४।७२) इति प्रामाण्यात् कर्त्तरि 'क्त' इति भावः ॥

२. अस्त्यसहायवचन एकशब्दः। तथा च पाणिनिसूत्रम्—**एकादाकिनिच्चासहाये**(अ० ५।३।५२) इति। अद्वितीय इत्यस्य 'अविद्यमानस्वसदृशः' इत्यर्थः, न चान्यनिवृत्तिवचनः, जीवानां प्रकृतेश्च सत्त्वात् ॥

३. उपलक्षणं पृथिवी स्वप्रकाशरहितानामिति भावः ॥

---

‡ 'सभा का प्रकाश' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। ककोशे तु 'सब का प्रकाश' इति सम्यक् पाठः ॥

* इतोऽग्रे 'हृदयरमणं भवतीति वा' इति पाठः कगकोशयोरस्ति। स च सम्यगेव, निरुक्तहस्तलेखेषु क्वाचित्कोऽयं पाठ इत्यपि ध्येयम् ॥

प्रकाशरहितं भूगोलादिकम् (द्याम्) प्रकाशमयं सूर्यादिकम् (उत) (इमाम्) वर्त्तमानां सृष्टिम् (कस्मै) सुखस्वरूपाय प्रजापतये (देवाय) प्रकाशमानाय (हविषा) आत्मादिसामग्र्या (विधेम) परिचरेम । विधेमेति परिचरणकर्मा । निघ० ३।५ ।

निरुक्तकार †एवमाह—हिरण्यगर्भो हिरण्मयो गर्भो हिरण्मयो गर्भोऽस्येति वा, गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति । समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातं विधतिर्दानकर्मा । निरु० १०।२३ । [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।१९ व्याख्यातः] ॥४॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयं, योऽस्य भूतस्य जातः पतिरेको हिरण्यगर्भोऽग्रे [1]समवर्त्ततासीत्स इमां **सृष्टिं रचयित्वो**तापि पृथिवीं द्यां दाधार **तस्मै कस्मै सुखस्वरूपाय** देवाय **परमेश्वराय** हविषा विधेम, **तथा यूयमप्येनं सेवध्वम्** ॥४॥

भावार्थः—**हे मनुष्याः ! यूयमस्या व्यक्तायाः सृष्टेः प्राक्** परमेश्वर एव [2]**जागरूक आसीद् §येनेमे लोका धृताः प्रलयसमये भिद्यन्ते, तमेवोपास्यं मन्यध्वम्** ॥४॥

फिर वह [ब्रह्म] कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग, जो इस (भूतस्य) उत्पन्न हुए संसार का (जातः) रचने और (पतिः) पालन करनेहारा, (एकः) सहाय की अपेक्षा से रहित,

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**हिरण्यगर्भः**) बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।२।१९७ वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(**आसीत्**) **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(**दाधार**) **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः** (अ० ३।४।६) इति लिट्, **तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य** (अ० ६।१।७)इत्यभ्यासदीर्घत्वम् । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(**द्याम्**) दिवेर्बाहुलकाद् ड्यो प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । **अमि औतोऽम्शसोः** (अ० ६।१।९३) इति आकारादेशः । एकादेशस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(**विधेम**) **विध विधाने** (तु० प०) अस्माल्लिङ् । शे प्रत्यये गुणाभावः । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. क्रियाद्वययोगः कथमित्याकाङ्क्षायाम्–'अवर्तत' क्रियाऽन्तर्भावितण्यर्थमाश्रित्य रचनार्थं द्योतयति। अतएवोक्तम्—'इमां सृष्टिं रचयित्वा'; अपरा 'आसीत्' क्रिया ईश्वरस्य जगतः प्राक् सत्तामाह । संस्कारविध्यारम्भेऽप्ययं मन्त्रो व्याख्यातस्तत्रापि द्रष्टव्यः ॥

२. सृष्ट्यादौ जीवानां सुषुप्त्यवस्थावत्त्वात् प्रकृतेश्चाचेतनत्वात् परमेश्वर एव जागरूक आसीदिति भावः ॥

† 'निरुक्तकार एवमाह' इति ककोशे पाठः । स च सम्यगेव, प्रमादेन चाग्रे पाठो भ्रष्ट इति ध्येयम् ॥

§ इतोऽग्रे 'जीवा मूर्च्छिता इवासन, कारणं चाकाशवत् सुस्थिरं चासीत, येन सर्वा सृष्टी रचिता धृता प्रलयसमये भिद्यते तमेवोपास्यं मन्यध्वम्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे परिवर्त्तितः स्यात् ॥

(हिरण्यगर्भः[1]) सूर्यादि तेजोमय पदार्थों का आधार, (अग्रे) जगत् रचने के पहिले (समवर्त्तत) वर्त्तमान (आसीत्) था, (सः) वह (इमाम्) इस संसार को रचक (उत) और (पृथिवीम्) प्रकाशरहित और (द्याम्) प्रकाशसहित सूर्यादि लोकों को (दाधार) धारण करता है$, उस (कस्मै) सुखरूप प्रजा पालने वाले (देवाय) प्रकाशमान परमात्मा की (हविषा) आत्मादि सामग्री से (विधेम) सेवा में तत्पर हों, वैसे तुम लोग भी इस परमात्मा का सेवन करो ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम को योग्य है कि इस प्रसिद्ध सृष्टि के रचने से प्रथम परमेश्वर ही विद्यमान [जागरूक] था, जीव गाढ़निद्रा=सुषुप्ति में लीन थे, और जगत् का कारण अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में आकाश के समान एकरस स्थिर था; जिसने सब जगत् को रचके धारण किया और अन्त्य समय में प्रलय करता है, उसी परमात्मा को उपासना के योग्य मानो ॥४॥

❧

द्रप्स इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । ईश्वरो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

**द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥५॥**

द्रप्सः । चस्कन्द । पृथिवीम् । अनु । द्याम् । इमम् । च । योनिम् । अनु । यः । च । पूर्वः ॥ समानम् । योनिम् । अनु । संचरन्तमिति सम्ऽचरन्तम् । द्रप्सम् । जुहोमि । अनु । सप्त । होत्राः ॥५॥

पदार्थः—(द्रप्सः) हर्ष उत्साहः । अत्र दृप विमोहनहर्षणयोः [दिवा० प०] इत्यत औणादिकः [2]सः, किच्च (चस्कन्द) प्राप्नोति (पृथिवीम्) भूमिम् (अनु) (द्याम्) प्रकाशम् (इमम्) (च) (योनिम्) कारणम् (अनु) (यः) (च) (पूर्वः) पूर्णः (समानम्) (योनिम्) स्थानम् (अनु) (संचरन्तम्) (द्रप्सम्) आनन्दम् (जुहोमि) गृह्णामि (अनु) (सप्त) पञ्च प्राणा मन आत्मा चेति (होत्राः) आदातारः । [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।२० व्याख्यातः] ॥५॥

---

१. 'अर्थात् हिरण्यादि पदार्थ हैं गर्भ में जिस के' ॥४॥

२. बाहुलकात् 'स' प्रत्यय इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(द्रप्सः) (य० १।१६) व्याख्यातः ॥

निरु० ५।१४—'द्रप्सः संभृतः, प्सानीयो भवति' । 'प्सानीयो भक्षणीयो भरणीयश्च भवति' इति दुर्गः ॥

(चस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः (भ्वा० प०) इत्यस्मात् छन्दसि लुङ्लङ्लिटः

$ 'धारण करता हुआ' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'है' इति सम्यक्तर पाठः ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथाहं यस्य सप्त होत्राऽनुग्रहीतारो यः पृथिवीं द्यां[*इमं]योनिं †चानु यः पूर्वो द्रप्सः [च] अनु चस्कन्द, तस्य योनिमनु संचरन्तं समानं द्रप्सं सर्वत्राभिव्याप्तमानन्दमनुजुहोमि, तथैनमादत्त ॥५॥§

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं यस्य जगदीश्वरस्य सानन्दं स्वरूपं सर्वत्रोपलभ्यते, तत्प्राप्तये योगमभ्यस्यत ॥५॥

फिर वह कैसा है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं जिस के (सप्त) पांच प्राण मन और आत्मा ये सात (होत्राः) अनुग्रहण करनेहारे, (यः) जो (पृथिवीम्) पृथिवी (द्याम्) प्रकाश (च) और ($इमम्) इस (योनिम्) कारण के (अनु) अनुकूल, [(यः)] जो (पूर्वः) सम्पूर्णस्वरूप (द्रप्सः) आनन्द [(च)] और उत्साह को (अनु) अनुकूलता से (चस्कन्द) प्राप्त होता है, उस (योनिम्) स्थान के (अनु) अनुसार (संचरन्तम्) संचारी (समानम्) एक प्रकार से (द्रप्सम्) सर्वत्र अभिव्याप्त आनन्द को मैं (अनुजुहोमि) अनुकूल ग्रहण करता हूं, वैसे [इसको] तुम लोग भी ग्रहण करो ॥५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम को चाहिये कि जिस जगदीश्वर के आनन्दयुक्त∫ स्वरूप का सर्वत्र लाभ होता है, उस की प्राप्ति के लिये योगाभ्यास करो ॥५॥

नमोऽस्त्वित्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः [स एव‡] देवता च । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

मनुष्यैरत्र कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥

नमोऽस्तु सुर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ।
येऽ अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सुर्पेभ्यो नमः ॥६॥

(अ० ३।४।६) इति 'लिट्' । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(समानम्) पूर्वं (य० ५।२३) व्याख्यातः ॥

(संचरन्तम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्र धातुरदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्वेनानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* योनिशब्दस्य पुंस्त्वेऽपि प्रयोगात् ॥

† अत्रान्वये भावार्थे च मन्त्रगतं चकारद्वयमेकवाक्यान्तर्भूतमिति ध्येयम् ॥

§ अयमन्वयः क्वचित् बहुसंशोधितः, परिवर्तितः परिवर्द्धितश्चेति ध्येयम्, तथैव च भाषापदार्थोऽपि । क्वचित् भिन्न एव पाठ आसीत् ॥

$ (इमाम्) इति तु सार्वत्रिकोऽशुद्धः पाठोऽस्थाने च । अस्माभिर्मन्त्रपदं योग्ये स्थाने नीतम् ॥

∫ 'आनन्द और' इत्यत्रमेरगुद्धिते पाठः ॥ ‡ उत्तरमन्त्रद्वयेऽपि ज्ञेयः ॥

नमः। अस्तु। सर्पेभ्यः। ये। के। च। पृथिवीम्। अनु॥ ये। अन्तरिक्षे। ये। दिवि। तेभ्यः। सर्पेभ्यः। नमः॥६॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम्। नम इत्यन्ननामसु पठितम्। निघ० २।७ (अस्तु) (सर्पेभ्यः) ये सर्पन्ति गच्छन्ति ते लोकास्तेभ्यः। इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति। शत० ७।३।१।२५ (ये) (के) (च) (पृथिवीम्) भूमिम् (अनु) (ये) (अन्तरिक्षे) आकाशे (ये) (दिवि) सूर्यादिलोके (तेभ्यः) (सर्पेभ्यः) [1]प्राणिभ्यः (नमः) अन्नम्। [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।२८ व्याख्यातः] ॥६॥

अन्वयः—ये के चात्र सर्पाः सन्ति, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु। येऽन्तरिक्षे ये दिवि ये च पृथिवीमनुसर्पन्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु॥६॥

भावार्थः—*हे मनुष्याः! यावन्त इमे लोका दृश्यन्ते, ये च न दृश्यन्ते, ते सर्वे स्वस्वकक्षायामीश्वरेण नियताः सन्त आकाशे †भ्रमन्ति। तेषु सर्वेषु लोकेषु ये प्राणिनश्चलन्ति तदर्थमन्नम्§ अपीश्वरेण रचितं, यत एतेषां जीवनं भवति, $इति यूयं विजानीत॥६॥

मनुष्यों को संसार में कैसे वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—(ʃये) जो (के) कोई इस जगत् में लोक-लोकान्तर और प्राणी हैं, (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) लोकों के जीवों के लिये (नमः) अन्न (अस्तु) हो। (ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में, (ये) जो (दिवि) प्रकाशमान सूर्य्य आदि लोकों में (च‡) और (ये) जो (पृथिवीम्) भूमि के (अनु) ऊपर चलते हैं, उन (सर्पेभ्यः) प्राणियों के लिये (नमः) अन्न प्राप्त होवे॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जितने लोक दीख पड़ते हैं और जो नहीं दीख पड़ते हैं, वे सब अपनी अपनी ‡कक्षा में ईश्वर के नियम से स्थिर हुए आकाश-मार्ग में घूमते हैं। उन

---

१. देवा वै सर्पाः। तै० २।२।६।२॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सर्पेभ्यः) सृपधातोः अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ भा० वा०) इत्यच्। चित्त्वादन्तोदात्तः॥

(दिवि) ऊडिदंपदाद्यप्पुं० (अ० ६।१।१७१) इति विभक्त्युदात्तत्वम्॥६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

---

* 'हे मनुष्याः' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे त्यक्तः स्यात्॥

† इतोऽग्रे 'केचिदपेक्षिताः केचिल्लोकाननुगच्छन्ति' इति पाठः कगकोशयोः सन्नपि मुद्रणे परिवर्तितः स्यादिति ध्येयम्॥

§ अत्र 'अन्नं' इति पदं कगकोशयोर्विद्यमानमपि मुद्रणे प्रमादेन त्यक्तमिति ध्येयम्॥

$ 'इति' पदं ककोशे सदपि गकोशे प्रमादेन त्यक्तम् इति ध्येयम्॥

ʃ '(ये)' इति पदं कगकोशयोः सदपि मुद्रणे प्रमादान्नष्टम्॥

‡ '(च)' इति पदं कगकोशयोरसन्नपि मुद्रणे परिवर्धितम् स्यात्॥

‡ 'कक्षा में नियम से' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। 'कक्षा में ईश्वर के नियम से' इति कपाठः, तत्र 'ईश्वर के' इति पदं मुद्रणे प्रमादान्नष्टं स्यात्॥

सब में जो प्राणी चलते हैं, उन के लिये अन्न भी ईश्वर ने रचा है, कि जिस से इन सब का जीवन होता है, इस बात को तुम लोग जानो ॥६॥

या इषव इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । स एव देवता च । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तैः कथं भवितव्यमित्युपदिश्यते ॥

याऽ इर्षवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१ऽरनु ।
ये वाव॒टेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥७॥

याः । इषवः । यातुधानानामिति यातुऽधानानाम् । ये । वा । वनस्पतीन् । अनु ॥ ये । वा । अवटेषु । शेरते । तेभ्यः । सर्पेभ्यः । नमः ॥७॥

पदार्थः—(याः) (इषवः[१]) गतयः (यातुधानानाम्) ये यान्ति परपदार्थान् दधति तेषाम् (ये) (वा) (वनस्पतीन्) वटादीन् (अनु) (ये) (वा) (अवटेषु) अपरिभाषितेषु मार्गेषु (शेरते) (तेभ्यः) (सर्पेभ्यः) (नमः) वज्रम् । [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।२६ व्याख्यातः] ॥७॥

---

१. इषुः (उणा० १।१३) भावे प्रत्ययः **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) इति बहुलवचनादिति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**इषवः**) **ईष गतिहिंसादर्शनेषु** (भ्वा० आ०) अस्मात् **ईषेः किच्च** (उ० १।१३) इति'उः'प्रत्ययः । निदनुवृत्तेः **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्त. ॥

आचार्यपादैरिषुपदम् **इष इच्छायाम्, इष आभीक्ष्ण्ये** इत्याभ्यां धातुभ्यामपि निष्पाद्यते । तद्यथा—प्राप्तिसाधनमिच्छाविशेषं वा (ऋ० भा० १।६४।१०) । इष्णात्यभीक्ष्णं हिनस्ति शत्रुं येन तस्मै (यजु० भा० १६।१) ॥

उणादौ **ईषेः किच्च** (१।१३) इति सूत्रणात् निरुक्ते च **'इषुः ईषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा'** (६।१८) इति वचनात् च कथम् इच्छतेरिष्णातेश्चेषुपदनिर्वचनम् इति चेदुच्यते—

अत्र विशेषः—व्याकरणनिर्मातृभिः शब्देषु ये धातुप्रत्ययांशाः परिकल्पितास्ते निदर्शनमात्रपरा एव, न तु तथैव नियामकाः । बहूनामर्थानां सम्भवेऽन्यधातुभ्योऽपि निर्वक्तुं शक्यन्ते । अत एव निरुक्तकारः—**अर्थनित्यः परीक्षेत, अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्** (२।१) इत्याह ॥

उणादावपि कानिचित्पदानि द्वित्रिर्वा व्युत्पाद्यन्ते । तथाहि—**सानसिवर्णसिपर्णसितण्डुलाङ्कुश०** (उ० ४।१०७) इत्यत्र निपातितोऽपि तण्डुलशब्दः **वृञ्लुटितनिताडिभ्य उलच् तण्डश्च** (उ० ५।६)इत्यस्मिन् सूत्रे **वृञ् वरणे, लुट विलोडने, तनु विस्तारे, तड आघाते** (चु०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः पुनर्निरुच्यते । अत एवाह भर्तृहरिः—

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं या यातुधानानामिषवो ये वा वनस्पतीननुवर्त्तन्ते, ये वाऽवटेषु शेरते, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः प्रक्षिपत ।।७।।

भावार्थः—मनुष्या ये मार्गेषु वनेषूत्कोचका दिवसे एकान्ते स्वपन्ति, तान् दस्यून्नागांश्च शस्त्रौषधादिना निवारयन्तु ।।७।।

फिर मनुष्यों को कैसा होना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (याः) जो (यातुधानानाम्) पराये पदार्थों को प्राप्त हो के धारण करनेवाले जनों की (इषवः) गति हैं, (वा) अथवा (ये) जो (वनस्पतीन्) वट आदि वनस्पतियों के (अनु) आश्रित रहते हैं, और (ये) जो (वा) अथवा (अवटेषु) गुप्तमार्गों में (शेरते) सोते हैं, (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) चञ्चल दुष्ट प्राणियों के लिये (नमः) वज्र चलाओ ।।७।।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो मार्गों और वनों में उचक्के दुष्ट प्राणी एकान्त में दिन के समय सोते हैं, उन डाकुओं और सर्पों को *शस्त्र, ओषधि आदि से निवारण करें ।।७।।

अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु ।
बह्नां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते ।।
२।१७१।।

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः ।
गवतेर्गदतेर्वाऽपि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ।।
२।१७५ ।। इति

एतेनाचार्यपादोक्ता इच्छतेरिष्णातेर्वा कृता व्युत्पत्तिरपि शास्त्रानुगता एव, न शास्त्रविरुद्धेति दिक् ।।

(यातुधानानाम्) **कमिमनिजनिगामाधाहिभ्यश्च** (उ० १।७३) इति 'तुः' प्रत्यये 'यातु' इति भवति । दधातेः **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) इति कर्त्तरि 'ल्युट्' । कर्मधारयः, समासान्तोदात्तत्वे छान्दस उत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।।

यद्वा—पदार्थभाष्यमर्थप्रदर्शनपरम् । व्युत्पत्तिस्तु—यातवो यातनाः पीडा धीयन्ते येषु इति । तथा च ऋ० १।३५।१० भाष्ये इयमेव व्युत्पत्तिराचार्यैः कृता । अत्र पक्षे **'यत निकारोपस्कारयोः'** (चु०) अस्माण्णिजन्तात् औणादिको भावे 'उ' प्रत्ययः । **करणाधिकरणयोश्च** (अ० ३।३।११७) इति ल्युटि **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इति प्रकृतिस्वरे लित्स्वरेण 'धा' उदात्तः ।।

(अवटेषु) अवतेः **शकादिभ्योऽटन्** (उ० ना० वृ० ४।८६) इत्यटच् । चित्त्वादन्तोदात्तः।

इदमत्रावधेयम्—नारायणवृत्तौ सरस्वतीकण्ठाभरणे च 'अटच्' प्रत्ययो दृश्यतेऽन्यासु वृत्तिषु च 'अटन्' । तत्र नित्त्वचित्त्वयोर्भेदात् स्वरभेदो भवति । अत्र सूत्रे ये शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तेषु केवलम् अवटशब्द एव वैदिकेषु सस्वरग्रन्थेषूपलभ्यते । अत उभयोः कः पाठो युक्त इति न शक्यते निर्णेतुम् । अवटशब्दस्तु सर्वत्रैवान्तोदात्त एवोपलभ्यते, अतोऽवटार्थं तु चित्पाठ एव युक्तः ।।

(शेरते) **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः । **तास्यनुदात्तेन्ङित्०** (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ।।७।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

* 'शस्त्र और औषध' इति ककोशे पाठः ।।

ये वामीत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । सूर्यो देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

*पुनर्मनुष्यैः कण्टकाः कथं बाधनीया इत्याह ॥

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥८॥

ये । वा । अमीऽइत्यमी । रोचने । दिवः । ये । वा । सूर्यस्य । रश्मिषु ॥ येषाम् । अप्स्वित्यप्ऽसु । सदः । कृतम् । तेभ्यः । सर्पेभ्यः । नमः ॥८॥

पदार्थः—(ये) (वा) (अमी) (रोचने[1]) दीप्तौ (दिवः) विद्युतः (ये) (वा) (सूर्यस्य) (रश्मिषु) (येषाम्) (अप्सु) (सदः) †सदनम् (कृतम्) निष्पन्नम् (तेभ्यः) (सर्पेभ्यः[2]) दुष्टप्राणिभ्यः (नमः) वज्रम् । [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।३० व्याख्यातः] ॥८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! येऽमी दिवो रोचने ये वा सूर्यस्य रश्मिषु येषां वाप्सु सदस्कृतमस्ति, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमो दत्त ॥८॥

भावार्थः—मनुष्यैर्ये जलेष्वन्तरिक्षे सर्पा निवसन्ति, ते वज्रप्रहारेण निवर्त्तनीयाः ॥८॥

फिर मनुष्यों को कंटक और दुष्ट प्राणी कैसे हटाने चाहियें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (ये) जो (अमी) वे परोक्ष में रहने वाले (दिवः) बिजुली के (रोचने) प्रकाश में [हैं], (वा) अथवा (ये) जो (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिषु) किरणों में [हैं], (वा) अथवा (येषाम्) जिनका (अप्सु) जलों में (सदः) स्थान (कृतम्) बना है, (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) दुष्ट प्राणियों को (नमः) वज्र से मारो ॥८॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो जलों में, आकाश में दुष्ट प्राणी वा सर्प रहते हैं, उन को शस्त्रों से निवृत्त करें ॥८॥

---

१. रोचनो नामैष लोको यत्रैष (सूर्यः) एतत् तपति । श० ७।१।१।२४ ॥

२. अस्ति वै मनुष्याणां सर्पाणां च विभ्रातृव्यम् । श० ४।४।५।३ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अमी) अदस् शब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । त्यदाद्यत्वे जसः शीभावः । एकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तत्वम् । एत ईद् बहुवचने (अ० ८।२।८१) इति ईकारादेशः । सोऽप्युदात्त एव ॥८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'पुनर्मनुष्यैः किंभूताः कण्टकाः कथं शोधनीया इत्याह' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

† 'स्थानम्' इति ककोशे पाठः ॥

कृणुष्वेत्यस्य वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

राजपुरुषैः कथं शत्रवो बन्धनीया इत्याह॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२ऽ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥९॥

कृणुष्व। पाजः। प्रसितिमिति प्रऽसितिम्। न। पृथ्वीम्। याहि। राजेवेति राजाऽइव। अमवानित्यमऽवान्। इभेन॥ तृष्वीम्। अनु। प्रसितिमिति प्रऽसितिम्। द्रूणानः। अस्ता। असि। विध्य। रक्षसः। तपिष्ठैः॥९॥

पदार्थः—(कृणुष्व) कुरुष्व (पाजः) बलम्। पातेर्बले जुट् च। उ० ४।२१० इत्यसुन् (प्रसितिम्) जालम्। प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा। निघ० ६।१२ (न) इव (पृथिवीम्) भूमिम् (याहि) प्राप्नुहि (राजेव) (अमवान्) बहवः सचिवा विद्यन्ते यस्य तद्वत् (इभेन) हस्तिना (तृष्वीम्) क्षिप्रगतिम्। तृष्विति क्षिप्रनामसु पठितम्। निघ० २।१५। ततो वोतो गुणवचनात् [अ० ४।१।४४] इति 'ङीष्' (अनु) (प्रसितिम्) बन्धनं जालम् (द्रूणानः[1]) हिंसन् (अस्ता) प्रक्षेप्ता (असि) (विध्य) ताडय (रक्षसः) शत्रून् (तपिष्ठैः) अतिशयेन संतापकरैः शस्त्रैः। अयं मन्त्रः निरुक्त ६।१२ व्याख्यातः। [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।३३ अपि व्याख्यातः] ॥९॥

---

१. अन्वयभेदेनायं मन्त्रः ऋ० ४।४।१ व्याख्यातः। 'द्रूणानः शीघ्रकारी' इति यद् व्याख्यानम्, तद् धातूनामनेकार्थत्वाज्ज्ञेयम्॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(कृणुष्व) व्यत्ययेनात्मनेपदम्। धिन्विकृण्व्योर च (अ० ३।१।८०) इत्युप्रत्ययोऽकारश्चान्तादेशः। यद्वा—कृञ् हिंसायां (स्वा० प०) अनेकार्थत्वाद् धातूनामत्र करोत्यर्थे वर्त्तते। सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६।१।१५८ वा०) इति सार्वधातुकस्वरेणैवान्तोदात्तत्वम्॥

(पाजः) पातेर्बले जुट् च (उ० ४।२०३) इत्यसुनि नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्॥

(प्रसितिम्) पूर्वं (य० १।२०) व्याख्यातः॥

(पृथ्वीम्) प्रथेः षवन्षिवन्ष्वनः सम्प्रसारणञ्च (उ० १।१५०) इति 'ष्वन्'। षिद्गौरादिभ्यश्च (अ० ४।१।४१) इति 'ङीष्'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(याहि) पादादित्वान्निघाताभावः। सेर्ह्यपिच्च (अ० ३।४।८७) इति पित्त्वप्रतिषेधे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(राजेव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च (अ० २।१।४ भा० वा०) इति समासः स्वरश्च। तत्र राजन् शब्दः कनिन् युवृषितक्षिराजि० (उ० १।१५६) इति 'कनिन्' प्रत्ययान्तो, नित्त्वादाद्युदात्तः॥

(अमवान्) अमन्ति संभजन्ते राजानम्, अमन्ति रुजन्ति वा शत्रूनिति अमाः सचिवाः, पचाद्यच्। चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्। भूम्न्यर्थे 'मतुप्'। तस्य पित्त्वात् पूर्वोक्त एव स्वरः॥

(इभेन) इण् गतौ (अदा० प०) अस्माद् इणः कित् (उ० ३।१५३) इति 'भन्' प्रत्ययः।

अन्वयः—हे सेनापते ! त्वं पाजः कृणुष्व प्रसितिं न पृथिवीं याहि । यतस्त्वमस्तासि तस्मादिभेनामवान् राजेव तपिष्ठैः प्रसितिं संसाध्य* रक्षसश्च द्रूणानस्तृष्वीमनु विध्य ॥९॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—राजवत्सेनापतिः† पूर्णं बलं संपाद्यानेकैः पाशैः शत्रून् बध्वा शरादिभिर्विध्वा कारागृहे संस्थाप्य§ श्रेष्ठान् पालयेत् ॥९॥

राजपुरुषों को शत्रु कैसे बांधने चाहियें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे सेनापते ! आप (पाजः) बल को (कृणुष्व) कीजिये, (प्रसितिम्) जाल के (न) समान (पृथिवीम्) भूमि को (याहि) प्राप्त हूजिये । जिससे आप (अस्ता) फेंकने वाले (असि) हैं, इस से (इभेन) हाथी के साथ (अमवान्) बहुत दूतों वाले (राजेव) राजा के समान (तपिष्ठैः) अत्यन्त दुःखदायी शस्त्रों से (प्रसितिम्) फांसी को सिद्ध कर (रक्षसः) शत्रुओं को (द्रूणानः) मारते हुए (तृष्वीम्) शीघ्र (अनु) सन्मुख होकर (विध्य) ताड़ना कीजिये ॥९॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—सेनापति को चाहिये कि राजा के समान पूर्ण बल से युक्त हो अनेक फांसियों से शत्रुओं को बांध उनको बाण आदि शस्त्रों से ताड़ना दे, और बन्दीगृह में बन्द करके श्रेष्ठ पुरुषों को पाले$ ॥९॥

नित्स्वरादाद्युदात्तत्वम् ॥

(तृष्वीम्) इषेः क्सुः (उ० ३।१५७) इत्यत्र बाहुलकात् त्वरतेः तृभावः क्सुश्च प्रत्ययो द्रष्टव्यः । वोतो गुणवचनात् (अ० ४।१।४४) इति ङीषि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(द्रूणानः) द्रूञ् हिंसायाम् (क्र्या० उ०) आत्मनेपदं 'शानच्', श्ना । सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६।१।१५८ भा० वा०) इति शानचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(अस्ता) असु क्षेपणे (दि० प०) अस्मात् तृन्तृचौ । शंसि क्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ (उ० २।९४) इति बाहुलकादसंज्ञायामपि 'तृन्' इडभावश्च । नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(विध्य) व्यध ताडने (दि० प०) अस्माच्छ्यनि संप्रसारणम् । श्यनो नित्स्वादाद्युदात्तत्वम् । तिङः परत्वात् तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातो न प्रवर्त्तते ॥

(तपिष्ठैः) तृन्नन्तात् तप्तृशब्दात् तुश्छन्दसि (अ० ५।३।५९) इति 'इष्ठन्' प्रत्ययः । तुरिष्ठेमेयस्सु (अ० ६।४।१५४) इति तुर्लोपः । इष्ठनो नित्स्वादाद्युदात्तत्वम् ॥९॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'संसाध्य' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

† 'राजवत् सेनापतिना' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात्, स च सम्यक् ॥

§ 'बद्ध्वा' इति ककोशे पाठः ॥

$ 'को पालना करे' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे परिवर्तितः स्यात् ॥

तव भ्रमास इत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते ॥

तर्व॑ भ्रमास॑ऽआशुया प॑तन्त्यनु॑ स्पृश धृषता शोशु॑चानः ।
तपू॑ष्यग्ने जु॒ह्वा॑ पतङ्गानस॑न्दितो विसृ॑ज विष्व॑गुल्काः ॥१०॥

तर्व॑ । भ्रमास॑ः । आशुयेत्या॑शुऽया । पतन्ति । अनु॑ । स्पृश । धृषता । शोशु॑चानः॥ तपू॑ष्षि । अग्ने । जुह्वा । पतङ्गान् । अस॑न्दित इत्यस॑म्ऽदितः । वि । सृज । विष्व॑क् । उल्काः ॥१०॥

पदार्थः—(तव) (भ्रमासः) भ्रमणशीला वीराः (आशुया) शीघ्रगमनाः । अत्र जसः स्थाने यादेशः (पतन्ति) श्येनवच्छत्रुदले *संचरन्ति (अनु) (स्पृश) अनुगतो भव (धृषता) दृढेन सैन्येन (शोशुचानः) भृशं पवित्राचरणः (तपूंषि) तापाः (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमान (जुह्वा) आज्यहवनसाधनया (पतङ्गान्) अश्वान् । पतङ्गा इत्यश्वनामसु पठितम् । निघं० १।१४ (असंदितः) अखण्डितः (वि) (सृज) निष्पादय (विष्वक्) सर्वतः (उल्काः) विद्युत्पाताः ॥१०॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**भ्रमासः**) भ्रमन्तीति भ्रमाः । पचाद्यच् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । **आज्जसेरसुक्** (अ० ७।१।५०) इत्यसुगागमः । तस्य सुबवयवत्वाद्वाऽऽगमानुदात्तत्वाद्वाऽनुदात्तत्वे एकादेशस्वरेण 'मा' उदात्तः ॥

(**आशुया**) याजादेशस्य चित्त्वादातिदेशिकः सुप्स्वरो न प्रवर्त्तते, तेनान्तोदात्तत्वम् । पदकारास्तु 'आशुऽया' इत्येवमवगृह्णन्ति, तेषामभिप्रायो मृग्यः । भाष्यकारैस्तु जसादेशं मत्वा नावगृहीतः ॥

(**धृषता**) धृष्णोतेः शतरि व्यत्ययेन 'शः' । **सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते** (अ० ६।१।१५८ भा० वा०) इति शतुरुदात्तत्वे एकादेशस्वरेणान्तोदात्तो 'धृषत्' शब्दः । ततः **शतुरनुमो नद्यजादी** (अ० ६।१।१७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(**शोशुचानः**) ईशुचिर् पूतीभावे (दि० उ०) तस्माद् यङ्लुगन्ताद् व्यत्ययेनात्मनेपदं 'शानच्' । '**चर्करीतञ्च**' इति गणसूत्राद् यङ्लुक आदादिकत्वेन शपो लुक् । चित्स्वरे प्राप्ते परत्वात् **अभ्यस्तानामादिः** (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(**तपूंषि**) तप संतापे अस्मात् **अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्** (उ० २।११७) इत्युसिः प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(**जुह्वा**) **हुवः श्लुवच्च** (उ० २।६०) इति जुहोतेः 'क्विप्' । ततः **अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्** (अ० ४।१।६६ भा० वा०) इत्यूङ् । यद्वा—**जुहोतेर्दीर्घश्च** (अ० ३।२।१७८ भा० वा०) इति 'क्विप्' दीर्घत्वं च । प्रत्ययस्वरेण धातुस्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वम् । ततः **उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य** (अ० ८।२।४) इति स्वरितत्वम् । **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (अ० ६।१।१७४) इति तु **नोङ्धात्वोः** (अ० ६।१।१७५) इति प्रतिषिध्यते ॥

(**असन्दितः**) **दो अवखण्डने** दि० प०) इत्यस्य क्ते **द्यतिस्यतिमास्था०** (अ० ७।४।४०)

* 'संचरन्ति' इति गकोशे पाठः, ककोशे च नास्ति ॥

अन्वयः—हे सेनापतेऽग्ने शोशुचानस्त्वं ये तव भ्रमासो यथा विष्वगाशुयोल्कास्तथा शत्रुषु पतन्ति तान् धृषताऽनुस्पृश। [असन्दितः] अखण्डितः सन् जुह्वाग्नेस्तपूंषीव शत्रूणामुपरि सर्वतो विद्युतो विसृज, पतङ्गान् सुशिक्षितानश्वान् कुरु ॥१०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—राजसेनापतिसेनाभृत्यैः परस्परं प्रीत्या बलं ʃसंवर्ध्य वीरान् हर्षयित्वा§ संयोध्याग्न्याद्यस्त्रैः शतघ्न्यादिभिश्च शत्रूणामुपरि [1]विद्युद्वृष्टिः कार्य्या, यतः सद्यो विजयः स्यात् ॥१०॥

फिर वह सेनापपि क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी सेनापते! (शोशुचानः) अत्यन्त पवित्र आचरण करनेहारे आप, जो (तव) आप के (भ्रमासः) भ्रमणशील वीर पुरुष, जैसे (विष्वक्) सब ओर से (आशुया) शीघ्र चलनेहारी (उल्काः) बिजुली की गतियां वैसे (पतन्ति) श्येनपक्षी के समान शत्रुओं के दल में तथा शत्रुओं में गिरते हैं, उनको (धृषता) दृढ़ सेना से (अनु) अनुकूल (स्पृश) प्राप्त हूजिये, और (असन्दितः) अखण्डित हुए (जुह्वा) घी के हवन का साधन लपट अग्नि के (तपूंषि) तेज के समान शत्रुओं के ऊपर सब ओर से बिजुली को (विसृज) छोड़िये, और (पतङ्गान्) घोड़ों को सुन्दर शिक्षायुक्त कीजिये ॥१०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—सेनापति और सेना के भृत्यों को चाहिए कि आपस में प्रीति के साथ बल बढ़ा कर वीर पुरुषों को हर्ष दे और सम्यक् युद्ध करा के अग्नि आदि अस्त्रों और भुसुंडी आदि शस्त्रों से शत्रुओं के ऊपर बिजुली की वृष्टि करें, जिस से शीघ्र विजय हो ॥१०॥

इतीकारान्तादेशः। न संदितः=असन्दितः। तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(विष्वक्) विषुं व्याप्तिमञ्चतीति ऋत्विग्दधृक्० (अ० ३।२।५९) इत्यादिना 'क्विन्'। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते व्यत्ययेन दासीभारादेराकृतिगणत्वाद्वा पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। 'विषु' शब्दो बाहुलकात् ईषेः किच्च (उ० १।१३) इत्युप्रत्ययान्तः। किस्वाद् गुणाभावो निस्वाच्चाद्युदात्तत्वम् ॥

(ल्काः) उष दाहे (भ्वा० प०) अस्मात् शुकवल्कोल्काः (उ० ३।४२) इति 'कक्' लत्वञ्च। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. विद्युद्वृष्टिः=अग्निवृष्टिरित्यर्थः ॥१०॥

ʃ 'संबध्य' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। 'संवर्ध्य' इति तु कगकोशयोः पाठः प्रथमसंस्करणे च, स च सम्यक् ॥

§ 'वर्षयित्वा' इत्यजमेरमुद्रिते तृतीय-संस्करणेऽपपाठः। 'हर्षयित्वा' इति तु प्रथमसंस्करणमुद्रिते शुद्धः पाठः ॥

प्रति स्पश इत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्युपदिश्यते ॥

प्रति॒ स्पशो॒ विसृ॑ज॒ तूर्णि॑तमो॒ भवा॑ पा॒युर्वि॒शोऽ अ॒स्याऽ अद॑ब्धः ।
यो नो॑ दू॒रेऽ अ॒घशं॑सो॒ योऽ अन्त्य॑ग्ने॒ माकि॑ष्टे॒ व्यथि॒राद॑धर्षीत् ॥११॥

प्रति॑ । स्पशः॑ । वि । सृ॒ज॒ । तूर्णि॑त॒मेति॒ तूर्णि॑ऽतमः । भव॑ । पा॒युः । वि॒शः । अ॒स्याः । अद॑ब्धः ॥ यः । नः॒ । दू॒रे । अ॒घशं॑स॒ इत्य॒घऽशं॑सः । यः । अन्ति॑ । अग्ने॑ । माकिः॑ । ते॒ । व्यथिः॑ । आ । द॒ध॒र्षी॒त् ॥११॥

पदार्थः-- (प्रति) (स्पशः) बाधनानि (वि) (सृज) (तूर्णितमः) अतिशयेन त्वरिता (भव) द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३३] इति दीर्घः (पायुः) रक्षकः (विशः) प्रजायाः (अस्याः) वर्त्तमानायाः (अदब्धः) अहिंसकः (यः) (नः) अस्माकम् (दूरे) विप्रकृष्टे (अघशंसः) योऽघं पापं कर्तुं शंसति स स्तेनः (यः) (अन्ति) निकटे (अग्ने) अग्निवच्छत्रु-दाहक (माकि) निषेधे। अत्र मकि धातोर्बाहुलकादिञ् नुमभावश्च (ते) तव (व्यथिः) [1]व्यथकः शत्रुः (आ) (दधर्षीत्) [2]धर्षेत्। अत्र वाच्छन्दसि [अ० ६।१।८ वा०] इति द्विर्वचनम् ॥११॥

अन्वयः—हे अग्ने ! ते तव नोऽस्माकं च यो व्यथिरघशंसो दूरे योऽन्त्यस्ति, यथा सोऽस्मान्माकिरादधर्षीत्, तं प्रति त्वं तूर्णितमः सन् स्पशो विसृज, अस्या विशः पायुरदब्धो भव ॥११॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—ये निकटदूरस्थाः प्रजाभ्यो दुःखप्रदा दस्यवः सन्ति, तान् राजादयः साम-दामदण्डभेदैः सद्यो वशं नीत्वा दयान्यायाभ्यां धार्मिकीः प्रजाः सततं पालयेयुः ॥११॥

---

१. व्यथतेर्णिजन्ताण्वुल्, णिलोपस्य स्थानिवद्-भावादुपधावृद्धिर्न । णौ तु मितां ह्रस्वः (अ० ६।४।९२) इति ह्रस्वत्वं भवति ॥

२. 'धृष प्रहसने' इत्याधृषीयश्चौरादिको धातुः । तस्य 'आधृषाद्वा' [धातु चुरादि] इत्युक्तेः, णिजभावे शपि रूपम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(स्पशः) स्पश बाधनस्पर्शनयोः (भ्वा० उ०) इत्यस्मात् 'क्विप्' । शसोऽनुदात्तत्वे धातु-स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(तूर्णितमः) त्वरतेः वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहा-त्वरिभ्यो नित् (उ० ४।५१) इति 'निः' प्रत्ययो नित्च । ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च (अ० ६।४।२०) इत्यूठ् । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । तत-स्तमप् । तस्य पित्वात् पूर्वोक्त एव स्वरः ॥

(भव) पादादित्वाद् वाक्यादित्वाद्वा निघाताभावः । शपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्यु-दात्तः ॥

(अन्ति) अन्तिकस्य कादिलोप आद्यु-दात्तत्वं च (अ० ६।४।१४९ भा० वा०) इति अन्तिकशब्दात् रूपस्वरसिद्धिः ॥

(माकिः) इन्प्रत्यये ञ्नित्यादिर्नित्यम्

फिर वह कैसा हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुओं के जलाने वाले पुरुष ! (ते) आप का और (नः) हमारा (यः) जो (व्यथिः) व्यथा देनेहारा (अघशंसः) पाप करने में प्रवृत्त चोर शत्रुजन (दूरे) दूर तथा (यः) जो (अन्ति) निकट है, जैसे वह हम लोगों को (माकिः) नहीं (*आ दधर्षीत्) दुःख देवे, उस शत्रु के (प्रति) प्रति आप (तूर्णितमः) शीघ्र दण्डदाता हो के (स्पशः) बन्धनों को (विसृज) रचिये, और (अस्याः) इस वर्त्तमान (विशः) प्रजा के (पायु.) रक्षक (अदब्ध.) हिंसारहित (भव) हूजिये ॥११॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जो समीप वा दूर रहनेवाले प्रजाओं के दु.खदायी डाकू हैं, उनको राजा आदि पुरुष साम, दाम, दण्ड और भेद से शीघ्र वश में लाके दया और न्याय से धर्मयुक्त प्रजाओं की निरन्तर रक्षा करें ॥११॥

उदग्न इत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्यादित्याह ॥

उद॑ग्ने तिष्ठ प्रत्यात॑नुष्व न्यु॒मित्राँ॑२ऽ ओषतात्तिग्महेते ।
यो नो॒ऽ अरा॑तिꣳ समिधान च॒क्रे नी॒चा तं ध॑क्ष्यत॒सं न शुष्क॑म् ॥१२॥

उत् । अ॒ग्ने॒ । ति॒ष्ठ॒ । प्रति॑ । आ । त॒नु॒ष्व॒ । नि । अ॒मित्रा॑न् । ओ॒ष॒ता॒त् । ति॒ग्म॒हे॒त॒ इति॑ तिग्मऽहेते ॥ यः । न॒ः । अरा॑तिम् । स॒मि॒धा॒नेति॑ सम्ऽइधान । च॒क्रे । नी॒चा । तम् । ध॒क्षि॒ । अ॒त॒सम् । न । शुष्क॑म् ॥११

पदार्थः—(उत्) (अग्ने) सभाध्यक्ष (तिष्ठ) (प्रति) (आ) (§तनुष्व) (नि) (अमित्रान्) धर्मद्वेष्टॄन् शत्रून् (ओषतात्) दह (तिग्महेते) तिग्मस्तीव्रो [1]हेतिर्वज्रो

(अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् । यद्वा—निपाताद्युदात्तत्वम् । 'माकिष्टे' इत्यत्र युष्मत्तत० (अ० ८।३।१०३) इति षत्वे ष्टुत्वम् ॥

(व्यथिः) ण्यन्ताद् व्यथेः इञ् वपादिभ्यः (अ० ३।३।१०८ भा० वा०) इति 'इञ्', णिलोपः । तस्य स्थानिवद्भावादुपधावृद्धिर्न भवति । णौ तु मित्त्वाद्ध्रस्वत्वम् । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इति व्यथतेरेव 'इन्' । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥११॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

1. हेतिशब्दः स्त्रियां पुंसि चोभयथा प्रयुज्यते । स्त्रियामप्याचार्यैः ऋ० ४।४।४ मन्त्रव्याख्याने

* 'आ' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

§ 'तनुष्ट' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः, तृतीय-संस्करणे संशोधितः । 'तनुष्व' इति कगकोशयोः पाठः ॥

दण्डो यस्य सः । हेतिरिति वज्रनामसु पठितम् । निघ० २।२० (यः) (नः) अस्माकम् (अरातिम्) शत्रुम् (समिधान) सम्यक् तेजस्विन् (चक्रे) करोति (नीचा) न्यग्भूतं कृत्वा (तम्) (धक्षि) दह । अत्र विकरणलुक् (अतसम्) काष्ठम् (न) इव (शुष्कम्) अनार्द्रम् ॥१२॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं राजधर्म उत्तिष्ठ, धार्मिकान् प्रत्यातनुष्व । हे तिग्महेतेऽमित्रान् न्योषतात् । हे समिधान ! यो नोऽरातिं चक्रे, तं नीचा शुष्कमतसं न धक्षि ॥१२॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—राजादयः सभ्या धर्मे विनये समाहिता भूत्वा जलमिव मित्रान्ʃ शीतयेयुः, अग्निरिव शत्रून् दहेयुः । य उदासीनः स्थित्वाऽस्माकं शत्रूनुत्पादयेत् तं दृढं बन्धं बध्वा निष्कण्टकं राज्यं कुर्य्युः ॥१२॥

फिर वह क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजधारी सभा के स्वामी ! आप राजधर्म के बीच (उत्तिष्ठ) उन्नति को प्राप्त हूजिये, धर्मात्मा पुरुषों के (प्रति) लिये (आतनुष्व) सुखों का विस्तार कीजिये । हे (तिग्महेते) तीव्र दण्ड देनेवाले राजपुरुष ! (अमित्रान्) धर्म के द्वेषी शत्रुओं को (न्योषतात्) निरन्तर जलाइये । हे (समिधान) सम्यक् तेजधारी जन ! (यः) जो (नः) हमारे (अरातिम्) शत्रु को उत्साही (चक्रे) करता है, (तम्) उसको (नीचा) नीची दशा में करके (शुष्कम्) सूखे (अतसम्) काष्ठ के (न) समान (धक्षि) जलाइये ॥१२॥

प्रयोगः कृतः । देवराजस्तु—'हन्यतेऽनेन शत्रवः' इति पुंस्त्वमस्य दर्शितवान् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अमित्रान्) बहुव्रीहौ समासे नञो जरमरमित्रमृताः (अ० ६।२।११६) इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(अरातिम्) पूर्वं (य० १।७) व्याख्यातः ॥

(चक्रे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(धक्षि) लेटि रूपम् । सिपो वैकल्पिकत्वेन पाक्षिकः 'शप्' । तस्य बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इति लुक् । घत्वभष्भावचर्त्वषत्वेषु तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

यत्तु सायणः ऋ० ४।४।४ भाष्ये लोटि शपो लुकि ढत्वे भष्भावे कत्वे च सिद्धिमाह; तत्र सेर्ह्यपिच्च (अ० ३।४।८७) इत्यस्य प्रवृत्त्यभावे, दादेर्धातोर्घः (अ० ८।२।३२) इत्यपवादे सूत्रे जागरूके हो ढः (अ० ८।२।३१) इत्यस्य प्रवृत्तौ च स एव द्रष्टव्यः ॥

(अतसम्) अततेः अत्यविचमि० (उ० ३।११७) इति 'असच्'। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(शुष्कम्) शुष्यतेः 'क्तः' प्रत्ययः । शुषः कः (अ० ८।२।५१) इति कादेशः । प्रत्ययस्वरे प्राप्ते शुष्कधृष्टौ (अ० ६।१।२००) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥१२॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

ʃ साम्प्रतिकानां मते तु 'मित्राणि' इति ध्येयम् । 'मित्रान् शीतयेत्, अग्निरिव शत्रून् दहेत्' इति ककोशे पाठः । गकोशे तु संशोधितः स्यात् ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—राजा आदि सभ्यजनों को चाहिये कि धर्म और विनय में समाहित होके जल के समान मित्रों को शीतल करें, अग्नि के समान शत्रुओं को जलावें। जो उदासीन होकर हमारे शत्रुओं को इबढ़ावे, उसको दृढ़ बन्धनों से बांध के निष्कण्टक राज्य करें ॥१२॥

ऊर्ध्वो भवेत्यस्य वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्ष्यतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह॥

ऊर्ध्वो भ॑व प्रति॑वि॒ध्याध्य॒स्मदा॒विष्कृ॑णुष्व॒ दैव्या॑न्यग्ने।
अव॑ स्थि॒रा त॑नुहि यातु॒जूनां॑ जा॒मिमजा॑मिं॒ प्रमृ॑णीहि॒ शत्रू॑न्।
अ॒ग्नेष्ट्वा॒ तेज॑सा सादयामि ॥१३॥

ऊ॒र्ध्वः। भ॒व। प्रति॑। वि॒ध्य॒। अधि॑। अ॒स्मत्। आ॒विः। कृ॒णु॒ष्व॒। दैव्या॑नि। अ॒ग्ने॒॥ अव॑। स्थि॒रा। त॒नु॒हि॒। या॒तु॒जूना॒मिति॑ यातु॒ऽजूना॑म्। जा॒मिम्। अजा॑मिम्। प्र। मृ॒णी॒हि॒। शत्रू॑न्॥ अ॒ग्नेः। त्वा॒। तेज॑सा। सा॒द॒या॒मि॒ ॥१३॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वः) उत्कृष्टः (भव) (प्रति) (विध्य) ताडय (अधि) (अस्मत्) (अग्ने) (अव) (आविः) प्राकट्ये (कृणुष्व) (दैव्यानि) देवैर्विद्वद्भिर्निवृत्तानि वस्तूनि (स्थिरा) निश्चलानि (तनुहि) *विस्तृणुहि (यातुजूनाम्) ये यान्ति ये च जवन्ते तेषाम् (जामिम्) भोजनयुक्तम्। [1]अत्र जमुधातोर्वपादिभ्य इतीञ् (अजामिम्) भोजनरहितं स्थानम् (प्र) (मृणीहि) हिन्धि (शत्रून्) अरीन् (अग्नेः) पावकस्य (त्वा) त्वाम् (तेजसा) प्रकाशेन सह (सादयामि) स्थापयामि। [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।४१ व्याख्यातः] ॥१३॥

१. 'अत्र···इतीञ्' इति 'अजामि'पदव्याख्यानन्तरमासीत्, स चास्माभिर्योग्ये स्थाने नीतः। विशेषस्त्वत्र व्याकरणप्रक्रियायां द्रष्टव्यः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(तनुहि) उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (अ० ६।४।१०६) इति नित्ये हेर्लुकि प्राप्ते उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम् (अ० ६।४।१०६ भा० वा०) इति पाक्षिको लुगभावः। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(आविष्कृणुष्व) इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य (अ० ८।३।४१) इति षत्वम्॥

(स्थिरा) अजिरशिशिरशिथिलस्थिर० (उ० १।५३) इत्यादिना 'किरच्' प्रत्ययान्तो निपात्यते। निपातनादन्तोदात्तः। ततः स्त्रि-

§ 'उत्पन्न करें' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः॥

* साम्प्रतिकानां मते 'विस्तृणु' इति स्यात्॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् राजन ! यतस्त्वमूर्ध्वो भव, †शत्रून् प्रति विध्यास्मत् स्थिरा दैव्यानि [विः] कृणुष्व, सुखानि तनुहि, यातुजूनां जामिमजामिमवतनुहि विनाशय, शत्रून् प्रमृणीहि । तस्मादहं त्वाग्नेस्तेजसाधिसादयामि§ ॥१३॥

भावार्थः—मनुष्या राज्यैश्वर्य्यं प्राप्योत्तमगुणकर्मस्वभावा भवेयुः, प्रजाभ्यो दरिद्रेभ्यश्च सततं सुखं दद्युः । धर्मे स्थिराः सन्तो $दुष्टाधर्माचारिणो मनुष्यान् सततं शिक्षयेयुः, सर्वोत्कृष्टं सभापतिं च मन्येरन् ॥१३॥

फिर वह राजा किस प्रकार का हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्विन् विद्वन् राजन्* ! जिस लिये आप (ऊर्ध्वः) उत्तम (भव) हूजिये, धर्म के (प्रति) अनुकूल होके (विध्य) दुष्ट‡ शत्रुओं को ताड़ना दीजिए, (अस्मत्) हमारे (स्थिरा) निश्चल (दैव्यानि) विद्वानों के रचे पदार्थों को (आविः)

याप् अजाद्यतष्टाप् (अ० ४ १।४) इति 'टाप्' । एकादेशे स एव स्वरः ॥

(यातुजूनाम्) यातुशब्दो (य० १३।७) व्याख्यातः । जवतेः क्विब्वचिप्रच्छि० (उ० २।५८) इति 'क्विब्' दीर्घत्वं च । तयोर्द्वन्द्वे समासान्तोदात्तत्वम् । आमो 'नुट्' छान्दसः ॥

(जामिम्) अत्र भाष्ये 'जमुधातोर्वपादिभ्य इतीञ्' इति पाठः प्रामादिकः लक्ष्यविरोधात् । इञि ञित्त्वादाद्युदात्तं पदं स्यात्, अन्तोदात्तं चास्ति । तत्र 'इणजादिभ्य इतीण्' इति सम्यक् पाठो द्रष्टव्यः । तथा चर्ग्वेदभाष्ये (१।३१।१०) उक्तम्—'अत्र जमुधातोः इणजादिभ्यः (अ० ३।३।१०८ भा० वा०) अनेन इण् प्रत्ययः' इति । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । अत्र नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (अ० ७।३।३४) इति वृद्धिप्रतिषेधः प्राप्नोति, तस्य अनाचमिकमिवमीनामिति वक्तव्यम् (अ० ७।३।३४ भा० वा०) इत्यत्र जमिमप्युपसंख्याय प्रतिषेधो वाच्यः । 'जवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः' इति निरुक्तवचनम् (३।१६) चात्र प्रमाणम् ॥

अन्यत्र (१।७५।३) ऋग्वेदभाष्ये आचार्यपादैरेव 'जामिः ज्ञाता । अत्र ज्ञाधातोर्बाहुलकाद् औणादिको 'मिः' प्रत्ययः (उ० ४।४३) जादेशश्च' इत्युक्तम् । उणादौ नियो मिः (उ० ४।४३) सूत्रवृत्तौ तु 'बाहुलकाद् याति कार्याणि प्रापयतीति यामिः । आदेर्जत्वं जामिः स्वसा कुलस्त्री वा' इत्युक्तम् । एते अपि व्युत्पत्ती अर्थानुरोधाद् युक्ते द्रष्टव्ये ॥

(अजामिम्) नञ्तत्पुरुषे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(मृणीहि) मृ हिंसायाम् (क्र्या० प०) इत्यस्य 'श्ना' प्रत्यये प्वादीनां ह्रस्वः (अ० ७।३।८०) इति ह्रस्वत्वम् । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥१३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'अधर्मं' इति ककोशे पाठः ॥

§ 'सादयामि' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे अजमेरमुद्रिते च 'साधयामि' इति प्रमादेन संवृत्तः पाठः इति ध्येयम् ॥

* 'पुरुष' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

$ 'दुष्टानधार्मिकान्' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

‡ 'दुष्टों को' इति ककोशे पाठः ॥

प्रकट (कृणुष्व) कीजिए, सुखों को (तनुहि) विस्तारिये, (यातुजूनाम्) परपदार्थों को प्राप्त होने और वेग वाले शत्रुजनों के (जामिम्) भोजन के और (अजामिम्) अन्य व्यवहार के स्थान को (अव) अच्छे प्रकार विस्तारपूर्वक नष्ट कीजिए, और (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणीहि) बल के साथ मारिये। इसलिए मैं (त्वा) आपको (अग्नेः) अग्नि के (तेजसा‡) प्रकाश के (अधि) सम्मुख (सादयामि) स्थापन करता हूं ॥१३॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिए कि राज्य के ऐश्वर्य्य को पाके उत्तम गुण, कर्म और स्वभावों से युक्त होवें, प्रजाओं और दरिद्रों को निरन्तर सुख देवें। दुष्ट अधर्माचारी मनुष्यों को निरन्तर शिक्षा करें, और सबसे उत्तम पुरुष को सभापति मानें ॥१३॥

अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽ अयम्।
अपाᳬं रेताᳬंसि जिन्वति।
इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥१४॥

अग्निः। मूर्द्धा। दिवः। ककुत्*। पतिः। पृथिव्याः। अयम् ॥ अपाम्। रेताᳬंसि। जिन्वति ॥ इन्द्रस्य। त्वा। ओजसा। सादयामि ॥१४॥

पदार्थः—(अग्निः) सूर्य्यः (मूर्द्धा) सर्वेषां शिर इव (दिवः) प्रकाशयुक्तस्याकाशस्य मध्ये (ककुत्) †महान्। ककुह इति महन्नामसु पठितम्। निघ० ३।३। अस्यान्त्यलोपो वर्णव्यत्ययेन हस्य दः (पतिः) पालकः (पृथिव्याः) भूमेः (अयम्) (अपाम्) जलानाम् (रेतांसि) वीर्याणि (जिन्वति) प्रीणाति तर्पयति (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (त्वा) त्वाम् (ओजसा) पराक्रमेण (सादयामि)। [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।४१ व्याख्यातः] ॥१४॥

अन्वयः—हे राजन्! यथाऽयमग्निर्दिवः पृथिव्या मूर्द्धा ककुत्पतिरपां रेतांसि जिन्वति तथा त्वं भव। अहं त्वा त्वामिन्द्रस्यौजसा सह राज्याय सादयामि[1] ॥१४॥

---

१. अयं मन्त्रः पूर्वं (य० ३।१२) व्याख्यातः ॥१४॥

---

‡ '(तेजसा) प्रकाश के साथ (अधिसादयामि) स्थापित करता हूं', इति संस्कृतानुसारं स्यात् ॥

* यत्तु य० १५।२० एकं पदं प्रदर्शितम्, तदयुक्तं, पृथक्स्वरद्वयसत्त्वात् ॥

† 'ककुहानां महतां पालकः' इति ककोशे पाठः। स चापपाठः, पदद्वयदर्शनात् ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यो मनुष्यः सूर्यवद् गुणकर्मस्वभावो न्यायेन प्रजापालनतत्परो धार्मिको विद्वान् भवेत्, तं राजत्वेन सर्वे मनुष्याः स्वीकुर्युः ॥१४॥

फिर वह राजपुरुष कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः–हे राजन् ! जैसे (अयम्) यह (अग्निः) सूर्य्य (दिवः) प्रकाशयुक्त आकाश के बीच और (पृथिव्याः) भूमि का (मूर्द्धा) सब प्राणियों के शिर के समान उत्तम (ककुत्) सब से बड़ा, (पतिः) सब पदार्थों का रक्षक, (अपाम्) जलों के (§रेतांसि) सारों से प्राणियों को (जिन्वति) तृप्त करता है, वैसे आप भी हूजिए। मैं (त्वा) आप को (इन्द्रस्य) सूर्य के (ओजसा) पराक्रम के साथ राज्य के लिए (सादयामि) स्थापन करता हूं ॥१४॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जो मनुष्य सूर्य्य के समान गुण कर्म और स्वभाव वाला, न्याय से प्रजा के पालन में तत्पर, धर्मात्मा विद्वान् हो, उस को राज्याधिकारी सब लोग मानें ॥१४॥

भुवो यज्ञस्येत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ॥

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑ ।
दि॒वि मू॒र्द्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म् ॥१५॥

भुवः॑ । य॒ज्ञस्य॑ । रज॑सः । च॒ । ने॒ता । यत्र॑ । नि॒युद्भि॒रिति॑ नि॒युत्ऽभिः॑ । सच॑से । शि॒वाभिः॑ ॥ दि॒वि । मू॒र्द्धान॑म् । द॒धि॒षे॒ । स्व॒र्षाम् । स्व॒र्सामिति॑ स्वः॒ऽसाम् । जि॒ह्वाम् । अ॒ग्ने॒ । च॒कृ॒षे॒ । ह॒व्य॒वाह॒मिति॑ हव्य॒ऽवाह॑म् ॥१५॥

पदार्थः–(भुवः[1]) पृथिव्याः (यज्ञस्य) राजधर्मस्य (रजसः) लोकस्यैश्वर्यस्य वा

१. अत्र सायणः (काण्वभाष्ये)—'भुवः भवसि । भवतेर्लेटि मध्यमैकवचने सिपि इतश्च लोपः इतीकारलोपे लेटोऽडाटौ इत्यडागमे अचि श्नुधातु० (अ० ६।४।७७) इत्युवङादेशे च कृते 'भुवः' इति रूपम्' (काण्वभाष्ये २ दशके १४ अध्याये पृ० ५८ चौखम्बा संस्करणे)। स च चिन्त्यः, लेटि सिब्विकरणाभावे शपः प्रवृत्तेः, कथंचित् तदभावेऽपि सिपः पित्त्वाद् गुणप्राप्तेर्दुर्निवारत्वाच्च ॥

§ '(वीर्याणि)' इति कगकोशयोः, अजमेरमुद्रिते चापपाठः । मूलमन्त्रे 'रेतांसि' इति पाठात् ॥

(च) पदार्थानाम् (नेता) नयनकर्त्ता (यत्र) राज्ये। अत्र निपातस्य च [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (नियुद्भिः) वायोर्वेगादिगुणैः सह (सचसे) समवैषि (शिवाभिः) कल्याणकारिकाभिर्नीतिभिः (दिवि) न्यायप्रकाशे (मूर्द्धानम्) शिरः (दधिषे) धरसि (स्वर्षाम्) स्वः सुखानि सनन्ति भजन्ति यया ताम् (जिह्वाम्) जोहवीति यया तां वाचम् (अग्ने) विद्वन् (चकृषे) करोषि (हव्यवाहम्) हव्यानि होतुं दातुमर्हाणि प्रज्ञानानि *वहन्ति यया ताम्। [अयं मन्त्रः श० ७।४।१।४२ व्याख्यातः] ॥१५॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्! यथाऽग्निर्नियुद्भिः सह वायु [च] रजसः नेता सन् दिवि मूर्द्धानं धरति, तथा यत्र शिवाभिः सह भुवो यज्ञस्य सचसे राज्यं दधिषे, हव्यवाहं स्वर्षां जिह्वाञ्चकृषे, तत्र सर्वाणि सुखानि वर्द्धन्त इति विजानीहि ॥१५॥

भावार्थः—यस्मिन् राज्ये राजादयः सर्वे धार्मिका मङ्गलचारिणो धर्मेण प्रजाः पालयेयुस्तत्र विद्यासुशिक्षाजानि सुखानि कुतो न वर्द्धेरन् ॥१५॥

फिर वह कैसा हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

[1]पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष! (यत्र) जिस राज्य में आप जैसे (नियुद्भिः) वेग आदि गुणों के साथ वायु [(च) और] (रजसः) लोकों वा ऐश्वर्य्य का (नेता) चलानेहारा (दिवि) न्याय के प्रकाश में (मूर्द्धानम्) शिर को धारण करता है, वैसे (यत्र) जहां (शिवाभिः) कल्याणकारक नीतियों के साथ (भुवः) अपनी पृथिवी के (यज्ञस्य) राजधर्म्म के पालन करनेहारे हो के (सचसे) संयुक्त होता, अच्छे पुरुषों से राज्य को कराते हो, वहां सब सुख बढ़ते हैं, ऐसा निश्चित जानना चाहिये ॥१५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(रजसः) पूर्वं (य० ७।१६) व्याख्यातः॥

(नेता) पूर्वं (य० ४।८) व्याख्यातः॥

(यत्र) सप्तम्यास्त्रल् (अ० ५।३।१०) इति 'त्रल्'। लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः। सांहितिकं दीर्घत्वम्॥

(सचसे) षट्वृत्साञ्जित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावेऽदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(नियुद्भिः) पूर्वं (य० ७।७) व्याख्यातः॥

(स्वर्षाम्) स्वरुपपदात् सनोतेः जनसनखनक्रमगमो विट् (अ० ३।२।६७) इति 'विट्'। विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ६।४।

---

1. यहां भाषा पदार्थ अस्पष्ट है। संस्कृत अन्वय के आधार पर भाषा-पदार्थ इस प्रकार जानना चाहिये—
'पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष! जैसे अग्नि और (नियुद्भिः) वेग आदि गुणों के साथ वायु (रजसः) लोकों के (नेता) गति के कारण होते हुए (दिवि) द्युलोक में (मूर्धानम्) श्रेष्ठ सूर्य लोक को धारण करते हैं उसी प्रकार आप (यत्र) जिस राज्य में (शिवाभिः) कल्याणकारक नीतियों के साथ (भुवः) अपनी पृथिवी के (यज्ञस्य) राजधर्म के पालन करने में (सचसे) संयुक्त होते हो, राज्य को (दधिषे) धारण करते हो, और (हव्यवाहम्) देने योग्य विज्ञानों की प्राप्ति का हेतु (स्वर्षाम्) सुखों का सेवन करानेहारी (जिह्वाम्) अच्छे विषयों का प्रतिपादन करनेहारी वाणी को (चकृषे) उत्तम बनाते हो या धारण

* 'वहन्ति' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे प्रमादात् त्यक्तः॥

(दधिषे) धारण और (हव्यवाहम्) देने योग्य †विज्ञानों की प्राप्ति का हेतु (स्वर्षाम्) सुखों का सेवन करनेहारी (जिह्वाम्) अच्छे विषयों की ग्राहक बाणी को (चकृषे) करते हो, वहां सब सुख बढ़ते हैं, यह निश्चित जानिये ॥१५॥

भावार्थः—जिस राज्य में राजा आदि सब राजपुरुष मंगलाचरण करनेहारे धर्मात्मा होके धर्मानुकूल प्रजाओं का पालन करें, वहां विद्या और अच्छी शिक्षा से होनेवाले सुख क्यों न बढ़ें ॥१५॥

ध्रुवासीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह ॥

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा ।
मा त्वा समुद्रऽ उद्वधीन्मा सुपर्णोऽ अव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥१६॥

ध्रुवा । असि । धरुणा । आस्तृतेत्याऽस्तृता । विश्वकर्मणेति विश्वऽकर्मणा ॥ मा । त्वा । समुद्रः । उत् । वधीत् । मा । सुपर्ण इति सुऽपर्णः । अव्यथमाना । पृथिवीम् । दृꣳह ॥१६॥

पदार्थः—(ध्रुवा) निष्कम्पा (असि) (धरुणा) विद्याधर्मधर्त्री (आस्तृता) वस्त्रालङ्कारशुभगुणैः सम्यगाच्छादिता (विश्वकर्मणा) विश्वानि समग्राणि धर्म्यकर्माणि यस्य पत्युस्तेन (मा) (त्वा) त्वाम् (समुद्रः) समुद्द्रवन्ति कामुका यस्मिन् व्यवहारे सः (उत्) (वधीत्) हन्यात् (मा) (सुपर्णः) शोभनानि पर्णानि पालितान्यङ्गानि यस्य सः (अव्यथमाना) पीडामप्राप्ता (पृथिवीम्) स्वराज्यभूमिम् (दृꣳह) वर्धय । [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।५ व्याख्यातः] ॥१६॥

---

४१) इत्यात्वे सनोतेरनः (अ० ८।३।१०८) इति षत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । ऋग्वेदभाष्ये (१।१००।१३) 'विच्' इति पाठः । स लेखकप्रमादकृतो द्रष्टव्यः ॥

(हव्यवाहम्) हव्य उपपदे वहतेः वहश्च (अ० ३।२।६४) इति 'ण्विः' प्रत्ययः, उपधावृद्धिः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥१५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(धरुणा) धरुणं पूर्वं (य० १।१८) व्याख्यातः । तस्मात् स्त्रियां 'टाप्' । एकादेशे च स एव स्वरः ॥

(आस्तृता) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सुपर्णः) बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

---

† 'विज्ञानों' इति कगकोशयोः पाठः संस्कृतानुसारी च । 'विद्वानों' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स च मुद्रणे व्यस्तः स्यात् ॥

अन्वयः—हे राजपत्नि ! यतो विश्वकर्मणा पत्या सह वर्त्तमानाऽऽस्तृता धरुणा ध्रुवाऽसि, साऽव्यथमाना सती त्वं पृथिवीमुद्दृंह त्वा समुद्रो मावधीत्, सुपर्णश्च मा वधीत् ॥१६॥

भावार्थः—यादृशीं राजनीतिविद्यां राजाऽधीतवान् भवेत् तादृशीमेव राज्ञ्यप्यधीतवती स्यात् । सदैवोभौ पतिव्रतास्त्रीव्रतौ भूत्वा न्यायेन पालनं कुर्य्याताम् । व्यभिचारकामव्यथा-रहितौ भूत्वा धर्मेण सन्तानानुत्पाद्य स्त्रीन्यायं स्त्री पुरुषन्यायं पुरुषश्च कुर्य्यात् ॥१६॥

फिर वह राजपत्नी कैसी होवे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजा की स्त्री ! जिस कारण (विश्वकर्मणा) सब धर्मयुक्त काम करने वाले अपने पति के साथ वर्त्तती हुई, (आस्तृता) वस्त्र आभूषण और श्रेष्ठ गुणों से ढपी हुई, (धरुणा) विद्या और धर्म की धारणा करनेहारी, (ध्रुवा) निश्चल (असि) है, सो तू (अव्यथमाना) पीड़ा से रहित हुई, (पृथिवीम्) अपनी राज्यभूमि को (उद्दृंह) अच्छे प्रकार बढ़ा । (त्वा) तुझ को (समुद्रः) जार लोगों का व्यवहार (मा) मत (वधीत्) सतावे, और (सुपर्णः) सुन्दर रक्षा किये अवयवों से युक्त तेरा पति (मा) नहीं मारे ॥१६॥

भावार्थः—जैसी राजनीति विद्या को राजा पढ़ा हो, वैसी ही उसकी राणी भी पढ़ी होनी चाहिए । सदैव दोनों परस्पर पतिव्रता स्त्रीव्रत हो के न्याय से पालन करें । व्यभिचार और काम की व्यथा से रहित होकर धर्मानुकूल पुत्रों को उत्पन्न करके स्त्रियों का स्त्री राणी और पुरुषों का पुरुष राजा न्याय करे ॥१६॥

प्रजापतिष्ट्वेत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः पतिस्तां कथं वर्त्तयेदित्याह ॥

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन् ।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥१७॥

प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । त्वा । सादयतु । अपाम् । पृष्ठे । समुद्रस्य । एमन् ॥ व्यचस्वतीम् । प्रथस्वतीम् । प्रथस्व । पृथिवी । असि ॥१७॥

पदार्थः—(प्रजापतिः) प्रजायाः स्वामी (त्वा) त्वाम् (सादयतु) स्थापयतु (अपाम्) जलानाम् (पृष्ठे) उपरि (समुद्रस्य) सागरस्य (एमन्) प्राप्तव्ये स्थाने । अत्र सप्तम्या

(अव्यथमाना) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥१६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(एमन्) इण् गतौ इत्यस्मात् सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४।१४५) इति 'मनिन्', धातो-

लुक् । अत्र एमन्नादिषु छन्दसि पररूपम् [अ० ६।१।६१ वा०] इति वार्त्तिकेन पररूपम् (व्यचस्वतीम्) बहु व्यचो व्यञ्चनं विद्यागमनं सत्करणं वा विद्यते यस्यास्ताम् (प्रथस्वतीम्) *प्रथाः प्रख्याता कीर्त्तिर्विद्यते यस्यास्ताम् (प्रथस्व) प्रख्याता भव (पृथिवी) भूमिरिव सुखप्रदा (असि) । [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।६ व्याख्यातः] ॥१७॥

अन्वयः—हे विदुषि †प्रजापालिके राज्ञि ! यथा प्रजापतिः समुद्रस्यापामेमन् पृष्ठे नौकेव व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं त्वा त्वां सादयतु, यतस्त्वं पृथिव्यसि, तस्मात् स्त्रीन्यायकरणे प्रथस्व, §तथा ते पतिर्भवेत् ॥१७॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—राजपुरुषादयः स्वयं यस्मिन् राजकर्मणि प्रवर्त्तेरँस्तस्मिन् स्वां स्वां स्त्रियं स्थापयेयुः । यः पुरुषः पुरुषाणां न्यायाधिकारे तिष्ठेत्तस्य स्त्री स्त्रीणां$ न्यायासने स्थिता भवेत् ॥१७॥

फिर राजा अपनी राणी को कैसे वर्त्तावे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विदुषि स्त्रि ! जैसे (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी (समुद्रस्य) समुद्र के (अपाम्) जलों के (एमन्) प्राप्त होने योग्य स्थान के (पृष्ठे) ऊपर नौका के समान (व्यचस्वतीम्) बहुत विद्या की प्राप्ति और सत्कार से युक्त (प्रथस्वतीम्) प्रशंसित कीर्त्ति-वाली (त्वा) तुझ को (सादयतु) स्थापन करे, जिस कारण तू (पृथिवी) भूमि के समान सुख देनेवाली (असि) है, इसलिये स्त्रियों के न्याय करने में (प्रथस्व) प्रसिद्ध हो∫, वैसे तेरा पति पुरुषों का न्याय करे ॥१७॥

गुँणः । निस्वादाद्युदात्तत्वम् । सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इति ङेर्लुक् ॥

(व्यचस्वतीम्) व्यचस् शब्दो (यजु० ५।३३) व्याख्यातः । ततो मतुब्ङीपोः पित्त्वादनुदात्तत्वेऽसुनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

यथा स्वत्राचार्यभाष्यं तथा विपूर्वोऽञ्चु गतिपूजनयोरित्ययमत्र धातुरभिप्रेतः । तत्रा सुनि बाहुलकात् छान्दस उपधालोपः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे यणि च पूर्वोक्त एवाद्युदात्तस्वरः ॥

(प्रथस्वतीम्) प्रथ प्रख्याने (भ्वा० आ०)। सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमसमुल्लासे 'प्रथ विस्तारे' इत्येव पठ्यते । वेदभाष्येऽपि यत्र तत्र प्रथधातुनिष्पन्नशब्दव्याख्याने विस्तारार्थः प्रतिपाद्यते । तेनोभावस्यार्थौ इति स्पष्टम् । अस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुनि, नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् । मतुब्ङीपोश्च पित्त्वादनुदात्तत्वम् ॥

---

* 'प्रथाः प्रशस्ता कीर्त्ति०' इति ककोशे पाठः ॥

† 'प्रजापालिके राज्ञि यथा' इति ककोशे नास्ति ॥

§ 'तथा ते पतिर्भवेत्' इति ककोशे नास्ति ॥

$ इतोऽग्रे 'न्यायं कुर्यात्' इति ककोशे पाठः । 'न्यायासने विजायेत' इति गकोशे पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

∫ इतोऽग्रे 'वैसे तेरा पति पुरुषों का न्याय करे' इति ककोशे नास्ति । 'वैसे तेरा पुरुष होकर पुरुषों का न्याय करे' इति गकोशे पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः इति ध्येयम् ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—‡राजा आदि राजपुरुषों को चाहिये कि आप जिस जिस राजकार्य्य में प्रवृत्त हों, उस उस कार्य में अपनी अपनी स्त्रियों को भी स्थापन करें। जो जो राजपुरुष जिन जिन पुरुषों का न्याय करे, उस उस की स्त्री स्त्रियों का न्याय किया करें॥१७॥

भूरसीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः। अग्निर्देवता। प्रस्तारपङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह॥

भूर॑सि भूमि॑र॒स्यदि॑तिरसि वि॒श्वधा॑या विश्व॑स्य भुव॑नस्य ध॒र्त्री। पृ॒थि॒वीं य॑च्छ पृ॒थि॒वीं दृ॑ꣳह पृ॒थि॒वीं मा हि॑ꣳसीः॥१८॥

भूः। अ॒सि॒। भूमिः॑। अ॒सि॒। अदि॑तिः। अ॒सि॒। वि॒श्वधा॑या॒ इति॑ वि॒श्वऽधा॑याः। विश्व॑स्य। भुव॑नस्य। ध॒र्त्री॥ पृ॒थि॒वीम्। य॒च्छ॒। पृ॒थि॒वीम्। दृ॒ꣳह॒। पृ॒थि॒वीम्। मा। हि॒ꣳसीः॥१८॥

पदार्थः—(भूः) भवतीति भूः (असि) (भूमिः) पृथिवीवत् (असि) (अदितिः) [1]अखण्डितैश्वर्य्यमन्तरिक्षमिवाक्षुब्धा (असि) (विश्वधायाः) या विश्वं सर्वं गृह्णाति गृहाश्रमी* राजव्यवहारं दधाति सा (विश्वस्य) सर्वस्य (भुवनस्य) भवन्ति भूतानि यस्मिन् राज्ये तस्य (धर्त्री) धारिका (पृथिवीम्) (यच्छ) निगृहाण (पृथिवीम्) (दृंह) वर्धय (पृथिवीम्) (मा) (हिंसीः) हिंस्याः। [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।७ व्याख्यातः]॥१८॥

(प्रथस्व) पादादित्वाद् भिन्नवाक्यत्वाद्वा निघाताभावः। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्त्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥१७॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

१. **अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं॰ (ऋ॰ १।८९।१०)।** द्रष्टव्यं 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पृ॰ ३९०॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(विश्वधायाः) विश्वोपपदाद् दधातेरसुन् बाहुलकाण्णिच्च, इति यजुर्भाष्ये पूर्वं (१।४) उक्तम्। ऋग्वेदभाष्ये (१।७३।३) तु विश्वोपपदात् बाहुलकाद् 'असुन्'युडागमश्च, इत्युक्तम्। तदुभयमपि **वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि** (उ॰ ४।२२१) इत्युणादिसूत्रवृत्तीनामनुरोधाद् उक्तम्। अस्मिन्नुणादिसूत्रे णिदनुवर्त्तनीयं न सुट्। तथा सति **शोणा धृष्णू नृवाहसा** (ऋ॰ २।२६।३) इत्यादयो वैदिकाः प्रयोगा उपपद्यन्त

---

‡ 'राजादि राजपुरुषों को चाहिये' इति कगकोशयोः पाठः। स च सम्यक्। 'राजपुरुषादि को चाहिये' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः॥

* अत्र 'या विश्वं सर्वं गृहाश्रमं राज्यव्यवहारं च दधाति गृह्णाति सा' इति शुद्धः पाठः स्याद् इति प्रतीमः॥

अन्वयः—हे राजपत्नि ! यतस्त्वं भूरिवासि तस्मात् पृथिवीं यच्छ। यतस्त्वं विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री भूमिरिवासि तस्मात् पृथिवीं दृंह। यतस्त्वमदितिरिवासि तस्मात् पृथिवीं मा हिंसीः ॥१८॥

भावार्थः—याः राजकुलस्त्रियः पृथिव्यादिवद्धैर्यादिगुणयुक्ताः सन्ति, ता एव राज्यं कर्त्तुमर्हन्ति ॥१८॥

फिर वह राणी कैसी हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राणी ! जिससे तू (भूः) भूमि के समान (असि) है, इस कारण (पृथिवीम्) पृथिवी को (यच्छ) निरन्तर ग्रहण कर। जिसलिये तू (विश्वधायाः) सब गृहाश्रम के और राजसम्बन्धी व्यवहारों और (विश्वस्य) सब (भुवनस्य) राज्य को (धर्त्री) धारण करनेहारी (भूमिः) पृथिवी के समान (असि) है, इसलिये (पृथिवीम्) पृथिवी को (दृंह) बढ़ा। और जिस कारण तू (अदितिः) अखण्ड ऐश्वर्य्य वाले आकाश के समान क्षोभरहित (असि) है, इसलिये (पृथिवीम्) भूमि को (मा) मत (हिंसीः) बिगाड़ ॥१८॥

भावार्थः—जो राजकुल की स्त्री पृथिवी आदि के समान धीरज आदि गुणों से युक्त हों, तो वे ही राज्य करने के योग्य होती हैं ॥१८॥

विश्वस्मा इत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनस्तौ परस्परं कथं वर्त्तेयातामित्याह ॥

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय।
अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया
देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१९॥

विश्वस्मै। प्राणाय। अपानायेत्यपऽआनाय। व्यानायेति विऽआनाय। उदानायेत्युत्ऽआनाय। प्रतिष्ठायै। प्रतिस्थाया इति प्रतिऽस्थायै। चरित्राय॥ अग्निः। त्वा। अभि। पातु। मह्या। स्वस्त्या। छर्दिषा। शन्तमेनेति शम्ऽतमेन। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवा। सीद ॥१९॥

इति भट्टोजिदीक्षितमतम्। सायणस्तु १।७३।३) ऋग्भाष्ये णिदनुवर्त्तयन् 'वक्षः' शब्दसिद्धौ मौनमालम्बते ॥

वस्तुतो वैदिकग्रन्थेषु वक्षोवाहोहायोघायसामुभयप्रकारकाणां शब्दानामुपलम्भाद् उभयं णित् सुट् चानुवर्त्य सूत्रमिदं द्विर्व्याख्येयम्। तेनोभयरूपाणां पदानां सिद्धिर्भविष्यति ॥

(धर्त्री) धृञ् धारणे (भ्वा० उ०) 'तृच्'। चित्त्वात्प्रत्ययस्वरेण वाऽन्तोदात्तः, 'ङीप्'। उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६।१।१७४) इति ङीप उदात्तत्वम् ॥१८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

पदार्थः—(विश्वस्मै) संपूर्णाय (प्राणाय) जीवनहेतवे (अपानाय) दुःखनिवारणाय (व्यानाय) विविधोत्तमव्यवहाराय (उदानाय) उत्कृष्टाय बलाय (प्रतिष्ठायै) सत्कृतये (चरित्राय) धर्माचरणाय (अग्निः) विज्ञानवान् पतिः (त्वा) त्वाम् (अभि) आभिमुख्यतया (पातु) रक्षतु (मह्या) महत्या (स्वस्त्या) *सुखप्रापकक्रियया (छर्दिषा[1]) प्रदीप्तेन (शन्तमेन) अत्यन्तसुखरूपेण कर्मणा (तया) (देवतया) विवाहितपतिरूपया सुखप्रदया (अङ्गिरस्वत्) कारणवत् (ध्रुवा) [2]निश्चलस्वरूपा (सीद) अवस्थिता भव । [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।८ व्याख्यातः] ॥१९॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! योऽग्निस्ते पतिर्मह्या स्वस्त्या शन्तमेन छर्दिषा विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय यां त्वाभिपातु, सा त्वं तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१९॥

भावार्थः—पुरुषाः स्वस्वस्त्रीणां सत्कारसुखाभ्यामव्यभिचारेण च प्रियाचरणं पालनादिकं च सततं कुर्युः, स्त्रियोऽप्येवमेव । न स्वस्त्रियं विहायान्यां पुरुषः स्वपुरुषं विहायान्यं स्त्री च संगच्छेत । एवं परस्परस्य प्रियाचरणावुभौ सदा वर्त्तेयाताम् ॥१९॥

फिर वे स्त्री पुरुष आपस में कैसे वर्त्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! जो (अग्निः) विज्ञानयुक्त तेरा पति (मह्या) बड़ी (स्वस्त्या) सुख प्राप्त करनेहारी क्रिया और (छर्दिषा) प्रकाशयुक्त (शन्तमेन) अत्यन्त सुखदायक कर्म के साथ (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) जीवन के हेतु प्राण (अपानाय) दुःखों की निवृत्ति (व्यानाय) अनेक प्रकार के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि (उदानाय) उत्तम बल (प्रतिष्ठायै) सत्कार और (चरित्राय) धर्म का आचरण करने के लिये जिस (त्वा) तेरी (अभिपातु) सन्मुख होकर रक्षा करे, सो तू (तया) उस (देवतया) †दिव्यस्वरूप पति के साथ (अङ्गिरस्वत्§) जैसे कार्य्य कारण का सम्बन्ध है वैसे (ध्रुवा) $निश्चल हो के (सीद) प्रतिष्ठायुक्त हो ॥१९॥

---

१. उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः (रुधा० उ०) इत्यस्माद् 'इसिः' प्रत्ययः (उ० २।१०९) ॥

२. अत्यन्तसुखहेतुत्वात् कर्मणि सुखरूपत्वमुपचर्यते ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रतिष्ठायै) प्रतिपूर्वात् तिष्ठतेः स्त्रियाम् **आतश्चोपसर्गे** (अ० ३।३।१०६) इत्यङ् । **स्थागापापचो भावे** (अ० ३।३।९५) इति क्तिना तु नात्यन्ताय बाधा भवतीति……… **व्यवस्थायामसंज्ञायाम्** (अ० १।१।३४) इति पाणिनीयप्रयोगादवसीयते । आतो लोपः,'टाप्' । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः प्रतिष्ठाशब्दः, सुपोऽनुदात्तत्वम् ॥

(चरित्राय) चरतेः **अर्त्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः** (अ० ३।२।१८४) इति 'इत्रः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् ॥

---

* 'प्रापकसुखक्रियया' इति सार्वत्रिकोऽपपाठः ॥

† 'विवाहित सुखदाता पति के साथ' इति ककोशे पाठः ॥

§ '(अङ्गिरस्वत्) जैसे कार्यकारण का सम्बन्ध' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

$ 'दृढ बुद्धि से युक्त हो कर' इति ककोशे पाठः ॥

भावार्थः—पुरुषों को योग्य है कि अपनी अपनी स्त्रियों के सत्कार से सुख और व्यभिचार से रहित हो के प्रीतिपूर्वक आचरण और उनकी रक्षा आदि निरन्तर करें, और इसी प्रकार स्त्री लोग भी रहें। अपनी स्त्री को छोड़ अन्य स्त्री की इच्छा न पुरुष और न अपने पति को छोड़ दूसरे पुरुष का संग स्त्री करे। ऐसे ही आपस में प्रीतिपूर्वक ही दोनों सदा वर्तें ॥१९॥

काण्डात्काण्डादित्यस्याऽग्निर्ऋषिः। पत्नी देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह॥

काण्डा॑त्काण्डात् प्र॒रोह॑न्ती॒ परु॑षःपरुष॒स्परि॑।
ए॒वा नो॑ दूर्वे॒ प्रत॑नु स॒हस्रे॑ण श॒तेन॑ च ॥२०॥

काण्डा॑त्काण्डा॒दिति॒ काण्डा॑त्ऽकाण्डात्। प्र॒रोह॒न्तीति॑ प्र॒ऽरोह॑न्ती। परु॑षःपरुष॒ इति॒ परु॑षःऽपरुषः। परि॑॥ ए॒व। नः॒। दूर्वे॒। प्र। त॒नु। स॒हस्रे॑ण। श॒तेन॑। च॒ ॥२०॥

पदार्थः—(काण्डात्काण्डात्) ग्रन्थेर्ग्रन्थेः (प्ररोहन्ती) प्रकृष्टतया वर्द्धमाना (परुषःपरुषः) मर्मणो मर्मणः (परि) सर्वतः (एवा) निपातस्य च [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (नः) अस्मान् (दूर्वे) दूर्वावद्वर्त्तमाने (प्र) (तनु) *विस्तृणुहि (सहस्रेण) असंख्यातेन (शतेन) †अनेकैः (च)। [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।१४ व्याख्यातः]॥२०॥

अन्वयः—§हे स्त्रि! त्वं यथा सहस्रेण शतेन च काण्डात्काण्डात् परुषःपरुषस्परि प्ररोहन्ती [दूर्वे] दूर्वौषधी वर्त्तते, तथैव नोऽस्मान् पुत्रपौत्रैश्वर्यादिभिः प्रतनु॥२०॥

(मह्ना) मही शब्दोऽन्तोदात्तो यजुः १।२० व्याख्यातः। तस्मात् तृतीयैकवचने यणि उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६।१।१७४) इति विभक्त्युदात्तत्वम्। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति तु पूर्वत्रासिद्धम् (अ० ८।२।१) इति न प्रवर्त्तते॥

(छर्दिषा) उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः (रु० उ०) इत्यस्मादपि बाहुलकाद् 'इसिः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः॥

(शंतमेन) तमपः पित्त्वादनुदात्तत्वे प्रातिपदिकस्वरेण 'शम्' उदात्तः॥१९॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(काण्डात्काण्डात्) कमु कान्तौ, कण शब्दे इत्यस्माद्वा ञमन्ताड्डः (उ० १।११५) इति 'डः' किच्च। अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (अ० ६।४।१५) इत्युपधादीर्घत्वम्। प्रत्ययस्वरे प्राप्ते वृषादित्वाद्

---

* साम्प्रतिकानां मते 'विस्तृणु' इति स्यात् (१३।१३ व्याख्यायामपि द्रष्टव्यम्)॥

† 'पुत्रपौत्रैरैश्वर्यादिभिः' इति ककोशे पाठः॥

§ अत्रान्वये 'हे दूर्वावद् वर्त्तमाने स्त्रि' इत्यपि सम्भवति॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा दूर्वौषधी रोगप्रणाशिका सुखवर्द्धिका सुविस्तीर्णा चिरं स्थात्री तथा सती विदुषी स्त्री कुलं शतधा सहस्रधा वर्धयेत्, $तथा पुरुषोऽपि प्रयतेत ॥२०॥

फिर वह स्त्री कैसी हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! तू जैसे (सहस्रेण) असंख्यात (च) और (शतेन) ʃबहुत प्रकार के साथ (काण्डात्काण्डात्) सब अवयवों और (परुषःपरुषः) गांठ गांठ से (परि) सब ओर से (प्ररोहन्ती) अत्यन्त बढ़ती हुई (दूर्वे) दूर्वा घास होती है, वैसे (एव‡) ही (नः) हम को पुत्र पौत्र और ऐश्वर्य से (प्रतनु) विस्तृत कर ॥२०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे दूर्वा ओषधि रोगों का नाश और सुखों को बढ़ानेहारी सुन्दर विस्तार-युक्त होती हुई बढ़ती है, वैसे ही *विदुषी स्त्री को चाहिये कि बहुत प्रकार से अपने कुल को बढ़ावे ॥२०॥

या शतेनेत्यस्याग्निर्ऋषिः । पत्नी देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह ॥

या श॒तेन॑ प्रत॒नोषि॑ स॒हस्रे॑ण वि॒रोह॑सि ।
तस्या॑स्ते देवीष्टके वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥२१॥

आद्युदात्तत्वम् । **नित्यवीप्सयोः** (अ० ८।१।४) इति द्वित्वम् । **अनुदात्तं च** (अ० ८।१।३) इति परस्यानुदात्तत्वञ्च ॥

(प्ररोहन्ती)प्रपूर्वाद् रोहतेः 'शतृ' प्रत्ययः। **कुगतिप्रादयः** (अ० २।२।१८) इति समासे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्रादुपदेशाल्लसार्व-धातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । **उगितश्च** (अ० ४।१।६) इति ङीपि **शप्श्यनोर्नित्यम्** (अ० ७।१।८१) इति नुमि स एव स्वरः ॥

(परुषःपरुषः) पिपर्तेः **अर्त्तिपृवपियजि०** (उ० २।११८) इति 'उसिः' प्रत्ययो नित्‌च । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । द्वित्वादिकार्यं पूर्ववत् ॥२०॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

$ 'तथा पुरुषोऽपि प्रयतेत' इति पाठः ककोशे नास्ति । गकोशे परिवर्धितः स्यात् ॥

ʃ 'पुत्रपौत्रादि ऐश्वर्यों के साथ' इति ककोशे पाठः ॥

‡ '(एव) ही' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

* अजमेरमुद्रिते तु 'विद्वान्' इत्यपपाठः ॥

या । श॒तेन॑ । प्र॒त॒नोषीति॑ प्रऽत॒नोषि॑ । स॒हस्रे॑ण । वि॒रो॒ह॒सीति॑ विऽरो॒ह॑सि ॥ तस्याः॑ । ते॒ । दे॒वि॒ । इ॒ष्ट॒के॒ । वि॒धेम॑ । ह॒विषा॑ । व॒यम् ॥२१॥

पदार्थः—(या) (शतेन) असंख्यातेन (प्रतनोषि) (सहस्रेण) असंख्यातेन (विरोहसि) विविधतया वर्धसे (तस्याः) (ते) तव (देवि) देदीप्यमाने (इष्टके) इष्टकेव शुभैर्गुणैः सुशोभिते (विधेम) परिचरेम (हविषा) होतुमर्हेण (वयम्) । [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।१५ व्याख्यातः] ॥२१॥

अन्वयः—हे इष्टके इष्टकावद्दृढांगे देवि स्त्रि ! यथेष्टका शतेन प्रतनोति सहस्रेण विरोहति, तथा या त्वमस्मान् शतेन प्रतनोषि सहस्रेण च विरोहसि तस्यास्ते तव हविषा वयं विधेम त्वां परिचरेम ॥२१॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा शतशः सहस्राणीष्टका गृहाकारा भूत्वा सर्वान् सुखयन्ति, तथैव याः साध्व्यः स्त्रियः *पुत्रपौत्रभृत्यादिभिः सर्वानानन्दयेयुस्ताः पुरुषाः सततं सत्कुर्य्युः । नहि सत्पुरुषस्त्रीसमागमेन विना शुभगुणाढ्यान्यपत्यानि जायेरन् । एवंभूतैः सन्तानैर्विना मातापितॄणां कुतः सुखं जायेत ॥२१॥

फिर वह कैसी हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (इष्टके) ईंट के समान दृढ अवयवों से युक्त, शुभ गुणों से शोभायमान (देवि) प्रकाशयुक्त स्त्री ! जैसे ईंट सैकड़ों संख्या से मकान आदि का विस्तार और हजारह से बहुत बढ़ा देती हैं, वैसे (या) जो तू हम लोगों को (शतेन) सैकड़ों पुत्र पौत्रादि सम्पत्ति से (प्रतनोषि) विस्तारयुक्त करती और (सहस्रेण) हजारह प्रकार के पदार्थों से (विरोहसि) विविध प्रकार बढ़ाती है, (तस्याः) उस (ते) तेरी (हविषा) देने योग्य पदार्थों से (वयम्) हम लोग (विधेम) सेवा करें । २१॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रतनोषि, विरोहसि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे उदात्तगतिमता च तिङा(अ० २।२।१८ भा० वा०) इति समासः । तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतेरनुदात्तत्वम् । 'तनोषि' इत्यत्र उविकरणस्वरेण मध्योदात्तत्वम् । 'विरोहसि' इत्यत्र तु शप्पिपोरनुदात्तत्वेन धातोरुदात्तत्वम् इति विशेषः ॥

(इष्टके) इष्यशिभ्यां तकन् (उ० ३।१४८)इति 'तकन्' । टाप् । क्षिपकादीनाञ्चोपसंख्यानम् (अ० ७।३।४५ भा० वा०) इतीत्वाभावः । सम्बोधने आष्टमिको निघातः ॥

(विधेम) विध विधाने (परिचरणकर्मा निघ० ३।५) (तु० प०), लिङि मस्, यासुट्, शः । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरः ॥२१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'पुत्रपौत्रभृत्यादिभिः सर्वानानन्दयेयुः' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितो भवेत् ॥

भावार्थः—जैसे सैकड़ों प्रकार से हजारह ईंटें घर रूप बन के सब प्राणियों को सुख देती हैं, वैसे जो श्रेष्ठ स्त्री लोग पुत्र पौत्र ऐश्वर्य्य और भृत्य आदि से सब को आनन्द देवें, उनका पुरुष लोग निरन्तर सत्कार करें। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष और स्त्रियों के संग के बिना शुभ गुणों से युक्त सन्तान कभी नहीं हो सकते, और ऐसे सन्तानों के विना माता पिता को सुख कब मिल सकता है ॥२१॥

यास्त इत्यस्येन्द्राग्नी ऋषी । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्युपदिश्यते ॥

यास्तेऽ अग्ने सूर्य्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नोऽ अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥२२॥

याः । ते । अग्ने । सूर्य्ये । रुचः । दिवम् । आतन्वन्तीत्याऽतन्वन्ति । रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः ॥ ताभिः । नः । अद्य । सर्वाभिः । रुचे । जनाय । नः । कृधि ॥२२॥

पदार्थः—(याः) (ते) तव (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमाने (सूर्य्ये) अर्के (रुचः) दीप्तयः (दिवम्) प्रकाशम् (आतन्वन्ति) समन्ताद्विस्तृण्वन्ति (रश्मिभिः) किरणैः (ताभिः) रुचिभिः (नः) अस्मान् (अद्य) (सर्वाभिः) (रुचे) रुचिकारकाय (जनाय) प्रसिद्धाय (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु। अत्र विकरणलुक्। [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।२१ व्याख्यातः] ॥२२॥

अन्वयः—हे अग्ने विदुष्यध्यापिके स्त्रि ! यास्ते रुचयः सन्ति, ताभिः सर्वाभिर्नो यथा रुचः सूर्य्ये रश्मिभिर्दिवमातन्वन्ति, तथा त्वमातनु। अद्य रुचे जनाय नः *प्रीतान् कृधि ॥२२॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा ब्रह्माण्डे सूर्यस्य दीप्तयः सर्वाणि वस्तूनि प्रकाश्य रोचयन्ति, तथैव विदुष्यः साध्व्यः पतिव्रताः स्त्रियः सर्वाणि गृहकर्माणि प्रकाशयन्ति। यत्र स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतिमन्तौ स्यातां, तत्र सर्वं †कल्याणमेव जायेत ॥२२॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(रुचः) रोचतेः क्विपि जसि रूपम्। सुपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(आतन्वन्ति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे, सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधत इति 'अन्ति' इत्यस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्। शिष्टं 'प्रतनोषि'वत् (य० १३।२१) ॥२२॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'प्रीतान्' इति ककोशे नास्ति। गकोशे परिवर्तितः स्यात् ॥

† 'कल्याणमेव जायेत' इति कगकोशयोः पाठः। स च प्रमादेन त्यक्तः स्यात् ॥

फिर वह स्त्री कैसी होवे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजधारिणी पढ़ानेहारी विदुषी स्त्री! (याः) जो (ते) तेरी रुचि हैं, (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सब रुचियों से युक्त (नः) हम को जैसे (रुचः) दीप्तियां (सूर्य्ये) सूर्य्य में (रश्मिभिः) किरणों से (दिवम्) प्रकाश को (आतन्वन्ति) अच्छे प्रकार विस्तारयुक्त करती हैं, वैसे तू भी अच्छे प्रकार विस्तृत सुखयुक्त कर। और (अद्य) आज (रुचे) रुचि करानेहारे (जनाय) प्रसिद्ध मनुष्य के लिए (नः) हम लोगों को प्रीतियुक्त (कृधि) कर ॥२२॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे ब्रह्माण्ड में सूर्य्य की दीप्ति सब वस्तुओं को प्रकाशित कर रुचियुक्त करती हैं, वैसे ही विदुषी श्रेष्ठ पतिव्रता स्त्रियां घर के सब कार्यों का प्रकाश करती हैं। जिस कुल में स्त्री और पुरुष आपस में प्रीतियुक्त हों, वहां सब विषयों में कल्याण ही होता है ॥२२॥

या वा देवा इत्यस्येन्द्राग्नी ऋषी। बृहस्पतिर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथ *स्त्रीपुरुषैः कथं विज्ञानं संपाद्यमित्याह ॥

या वो देवाः सूर्य्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥२३॥

याः। वः। देवाः। सूर्य्ये। रुचः। गोषु। अश्वेषु। याः। रुचः ॥ इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी। ताभिः। सर्वाभिः। रुचम्। नः। धत्त। बृहस्पते ॥२३॥

पदार्थः—(याः) (वः) युष्माकम् (देवाः) विद्वांसः (सूर्य्ये) सवितरि (रुचः) रुचयः (गोषु) धेनुषु (अश्वेषु) गवादिषु (याः) (रुचः) प्रीतयः (इन्द्राग्नी) विद्युत्सूर्य्यवदध्यापकोपदेशकौ (ताभिः) (सर्वाभिः) (रुचम्) कामनाम् (नः) अस्माकं मध्ये (धत्त) (बृहस्पते) बृहतां विदुषां पालक। [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।२१ व्याख्यातः] ॥२३॥

अन्वयः—हे देवाः! यूयं या वः सूर्य्ये रुचो या गोष्वश्वेषु रुचश्चेवा† रुचः सन्ति,

* 'जनैः' इति संस्कृते, 'अब मनुष्यों को' इति च भाषापदार्थे कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यादिति ध्येयम् ॥

† 'चेव' इति पाठः ककोशे नास्ति। तथैव च भाषायामपि ॥

ताभिः सर्वाभी रुग्भिर्नो §रुचमिन्द्राग्नी इव धत्त। हे बृहस्पते परीक्षक ! भवानस्माकं परीक्षां कुरु ॥२३॥

भावार्थः—यावन्मनुष्याणां विद्वत्सङ्ग ईश्वरेऽस्य सृष्टौ च रुचिः परीक्षा च न जायते, तावद्विज्ञानं न वर्द्धते ॥२३॥

अब स्त्रीपुरुषों को विज्ञान की सिद्धि कैसे करनी चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे$ (देवाः) विद्वानो ! तुम सब लोग (याः) जो (वः) तुम्हारी (सूर्य्ये) सूर्य्य में (रुचः) रुचि, और (याः) जो (गोषु) गौओं और (अश्वेषु) घोड़ों आदि में (रुचः) ∫प्रीतियों के समान प्रीति हैं, (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सब रुचियों से (नः) हमारे बीच (रुचम्) कामना को (इन्द्राग्नी) बिजुली और सूर्य्यवत् अध्यापक और उपदेशक जैसे धारण करें, वैसे (धत्त) धारण करो। हे‡ (बृहस्पते) पक्षपात छोड़ के परीक्षा करनेहारे पूर्णविद्यायुक्त आप‡ हमारी परीक्षा कीजिये ॥२३॥

भावार्थः—जब तक मनुष्य लोगों की विद्वानों के संग, ईश्वर [और] उसकी रचना में रुचि और परीक्षा नहीं होती, तबतक विज्ञान कभी नहीं बढ़ सकता ॥२३॥

विराड्ज्योतिरित्यस्येन्द्राग्नी ऋषी । प्रजापतिर्देवता । निचृद्बृहतीछन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

दम्पती अन्योऽन्यं कथं वर्त्तेयातामित्याह ॥

वि॒राड् ज्योति॑रधारयत् स्व॒राड् ज्योति॑रधारयत् ।
प्र॒जाप॑तिष्ट्वा सादयतु पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या ज्योति॑ष्मतीम् ।
विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ ।
अ॒ग्निष्टेऽधि॑पति॒स्तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥२४॥

---

§ 'रुचमिन्द्राग्नी इव धत्त, हे बृहस्पते परीक्षक ! भवानस्माकं परीक्षां कुरु' इति पाठः ककोशे नास्ति। गकोशे परिवर्द्धितः ॥

$ 'हे (बृहस्पते) बड़े विद्वानों का पालन करनेहारे (इन्द्राग्नी) बिजुली और सूर्य के समान अध्यापक और उपदेशक पुरुष' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे परिवर्तित इति ध्येयम् ॥

∫ 'प्रीतियों के समान' इति पाठः ककोशे नास्ति। गकोशे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

‡ 'हे (बृहस्पते) पछपात छोड़ के परीक्षा करनेहारे पूर्ण विद्यायुक्त आप (नः) हमारी परीक्षा कीजिये' इति पाठः ककोशे नास्ति। गकोशे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

‡ इतोऽग्रे '(नः)' इति मन्त्रपदम् अजमेरमुद्रिते व्यर्थम्, पूर्वं वर्त्तमानत्वात् ॥

विराडिति विऽराट् । ज्योतिः । अधारयत् । स्वराडिति स्वऽराट् । ज्योतिः । अधारयत् ॥ प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । त्वा । सादयतु । पृष्ठे । पृथिव्याः । ज्योतिष्मतीम् ॥ विश्वस्मै । प्राणाय । अपानायेत्यपऽआनाय । व्यानायेति विऽआनाय । विश्वम् । ज्योतिः । यच्छ ॥ अग्निः ते । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । सीद ॥२४॥

पदार्थः—(विराट्*) या विविधासु राजते (ज्योतिः) विद्याप्रकाशम् (अधारयत्) धारयेत् (स्वराट्) सर्वेषु धर्माचरणेषु स्वयं राजते (ज्योतिः) विद्युदादिप्रकाशम् (अधारयत्) (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकः (त्वा) त्वाम् (सादयतु) संस्थापयतु (पृष्ठे) तले (पृथिव्याः) भूमेः (ज्योतिष्मतीम्) प्रशस्तं ज्योतिर्विद्याविज्ञानं विद्यते यस्यास्ताम् (विश्वस्मै) अखिलाय (प्राणाय) प्राणिति सुखं येन तस्मै (अपानाय) अपानिति दुःखं येन तस्मै (व्यानाय) व्यानिति सर्वान् शुभगुणकर्मस्वभावान् येन तस्मै (विश्वम्) समग्रम् (ज्योतिः) विज्ञानम् (यच्छ) गृहाण (अग्निः) विज्ञानवान् (ते) तव (अधिपतिः) स्वामी (तया) (देवतया) दिव्यया (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मवत् (ध्रुवा) निष्कम्पा (सीद) स्थिरा भव । [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।२३ व्याख्यातः] ॥२४॥

अन्वयः—या विराट् स्त्री ज्योतिरधारयत्†, यः स्वराट् पुरुषो ज्योतिरधारयत, सा स चाऽखिलं सुखं प्राप्नुयात् । हे स्त्रि ! योऽग्निस्तेऽधिपतिरस्ति, तया देवतया सह त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद । हे पुरुष ! योऽग्निस्तवाऽधिपत्न्यस्ति, तया देवतया सह त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद । हे स्त्रि ! यः प्रजापतिः पृथिव्याः पृष्ठे विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय ज्योतिष्मतीं §विद्युतमिव त्वा सादयतु, सा त्वं विश्वं ज्योतिर्यच्छैतस्मा एनं पतिं त्वं सादय ॥२४॥

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषाः सत्संगविद्याभ्यासाभ्यां विद्युदादिपदार्थविद्यां वर्द्धयन्ते, त इह सुखिनो भवन्ति । पतिः स्त्रियं सदा सत्कुर्यात् स्त्री पतिञ्च [सत्] $कुर्य्यात् । एवं परस्परं प्रीत्या सहैव सुखं भुञ्जाताम् ॥२४॥

स्त्रीपुरुष आपस में कैसे वर्त्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (विराट्) अनेक प्रकार की विद्याओं में प्रकाशमान स्त्री (ज्योतिः) विद्या की उन्नति को (अधारयत्) धारण करे करावे, जो (स्वराट्) सब धर्मयुक्त व्यवहारों में शुद्धाचारी पुरुष (ज्योतिः) बिजुली आदि के प्रकाश को (अधारयत्) धारण करे करावे, वे दोनों स्त्रीपुरुष सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त होवें । हे स्त्रि ! जो (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी विज्ञानयुक्त (ते) तेरा (अधिपतिः) स्वामी है, (तया) उस

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अधिपतिः) कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति समासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम् ॥२४॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* इतोऽग्रे 'विविधासु विद्यासु राजते' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

† इतोऽग्रे 'यः स्वराट् पुरुषो ज्योतिरधारयत्' इति पाठ कगकोशयोर्वर्त्तते । स च मुद्रणे प्रमादेन त्यक्तः ॥

§ 'विद्युतामिव' इत्यजमेरमुद्रिते गकोशे चापपाठः । ककोशे तु 'विद्युतमिव' इति शुद्धः पाठः ॥

$ 'कुर्यात्' इति पदं कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धितं स्यात् ॥

(देवतया) सुन्दर देवस्वरूप पति के साथ तू (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मा वायु के समान (ध्रुवा) दृढ़ता से (सीद) ∫स्थित हो। हे पुरुष ! जो अग्नि के समान तेजधारिणी तेरी रक्षा के करनेहारी स्त्री है, उस देवी के साथ तू प्राणों के समान प्रीतिपूर्वक निश्चय करके स्थित हो। हे स्त्रि ! (प्रजापति) प्रजा का रक्षक तेरा पति (पृथिव्याः) भूमि के (पृष्ठे) ऊपर (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) सुख की चेष्टा के हेतु (अपानाय) दुःख हटाने के साधन (व्यानाय) सब सुन्दर गुण कर्म और स्वभावों के प्रचार के हेतु प्राणविद्या के लिये जिस (ज्योतिष्मतीम्) प्रशंसित विद्या के ज्ञान से युक्त (त्वा) तुझ को (सादयतु) उत्तम अधिकार पर स्थापित करे, सो तू (विश्वम्) समग्र (ज्योतिः) विज्ञान को (यच्छ) ग्रहण कर, और इस विज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने पति को स्थिर कर ॥२४॥

भावार्थः—जो स्त्रीपुरुष सत्संग और विद्या के अभ्यास से विद्युत् आदि पदार्थ-विद्या और‡ प्रीति को नित्य बढ़ाते हैं, वे इस संसार में सुख भोगते हैं। पति स्त्री का और स्त्री पति का सदा सत्कार करे, इस प्रकार आपस में प्रीतिपूर्वक मिल के ही सुख भोगें ॥२४॥

मधुश्चेत्यस्येन्द्राग्नी ऋषी। ऋतवो देवताः। पूर्वस्य भुरिगतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

अथ वसन्तर्तुवर्णनमाह॥

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽ अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि
कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽ ओषधयः कल्पन्ता-
मग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः।
येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽ इमे।
वासन्तिकावृतूऽ अभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽ
अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥२५॥

मधुः। च। माधवः। च। वासन्तिकौ। ऋतूऽइत्यृतू। अग्नेः। अन्तःश्लेष इत्यन्तःऽश्लेषः। असि। कल्पेताम्। द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी। कल्पन्ताम्। आपः। ओषधयः। कल्पन्ताम्। अग्नयः। पृथक्। मम। ज्यैष्ठ्याय। सव्रता इति सऽव्रताः॥ ये। अग्नयः। समनस इति सऽमनसः। अन्तरा। द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी। इमेऽइतीमे। वासन्तिकौ। ऋतूऽइत्यृतू। अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः। इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव। देवाः। अभिसंविशन्त्वित्यभिऽसंविशन्तु। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवेऽइति ध्रुवे। सीदतम् ॥२५॥

∫ '(सीद) हो' इति तृतीयसंस्करणे पाठः। '(सीद) स्थित हो' इति प्रथमसंस्करणे पाठः॥
‡ 'और प्रीति' इति पदं ककोशे नास्ति॥

पदार्थः—(मधुः) मधुरसुगन्धयुक्तश्चैत्रः (च) (माधवः) मधुरादिफलनिमित्तो वैशाखः (च) (वासन्तिकौ) वसन्ते भवौ (ऋतू) सर्वान् प्रापकौ (अग्नेः) उष्णत्वनिमित्तस्य (अन्तःश्लेषः) आभ्यन्तरे सम्बन्धः (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः (कल्पेताम्) समर्थयत (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (कल्पन्ताम्) समर्थयन्तु (आपः) जलानि (ओषधयः) यवादयः सोमादयश्च (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठे मासि भवाय व्यवहाराय मम वृद्धत्वाय वा (सव्रताः) व्रतैः सत्यैर्व्यवहारैः सह वर्त्तमानाः (ये) (अग्नयः[१]) पावक इव कालविदो विद्वांसः (समनसः) समानविज्ञानाः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) प्रकाशान्तरिक्षे (इमे) प्रत्यक्षे (वासन्तिकौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) आभिमुख्येन समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथा-परमैश्वर्य्यम् (देवाः) (अभिसंविशन्तु) (तया) (देवतया) परमपूज्यया परमेश्वराख्यया (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (ध्रुवे) निश्चिते दृढे (सीदतम्) भवेताम्, अत्र पुरुषव्यत्ययः । [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।२९ व्याख्यातः] ॥२५॥

अन्वयः—यथा* मम ज्यैष्ठ्याय यावग्नेरुत्पद्यमानौ ययोरन्तःश्लेषोऽसि भवति, तौ मधुश्च माधवश्च वासंतिकौ सुखायर्तू कल्पेताम्, याभ्यां द्यावापृथिवी चापः कल्पन्ताम्, पृथगोषधयः कल्पन्तामग्नयश्च । हे सव्रताः समनसो देवाः ! वासन्तिकावृतू येऽत्रान्तराग्नयश्च सन्ति, तांश्चाभिकल्पमानाः सन्तो भवन्त इन्द्रमिवाभिसंविशन्तु । यथेमे द्यावापृथिवी तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवे वर्त्तेते, तथा युवां स्त्रीपुरुषौ निश्चलौ सीदतम् ॥२५॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं यस्मिन् वसन्ततौ श्लेष्मोत्पद्यते, यस्मिन् तीव्रप्रकाशः पृथिवी शुष्का आपो मध्यस्था ओषधयो नूतनपुष्पपत्रान्विता अग्निज्वाला इव§ भवन्ति, तं युक्त्या सेवित्वा पुरुषार्थेन सर्वाणि सुखान्याप्नुत । यथा विद्वांसः परमप्रयत्नेनाऽऽवृतुसुखा-यैश्वर्य्यमुन्नयन्ति तथैव प्रयतध्वम् ॥२५॥

---

१. अत्र भाषापदार्थे तु अग्न्यर्थो गृहीत इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मधुः, माधवः) पूर्वं (य० ७।३०) व्याख्यातौ ॥

(वासन्तिकौ) वसन्ते भवौ इत्यर्थे वसन्ताच्च (अ० ४।३।२०) इति 'ठञ्' । ठस्येकः (अ० ७।३।५०) इतीकादेशः । किति च (अ० ७।२।११८) इत्यादिवृद्धिः । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अन्तःश्लेषः) अन्तरपरिग्रहे (अ० १।४।६५) इति गतित्वे कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति समासः । यद्वा—अव्ययं प्रवृद्धादिभिः (अ० २।२।१८ भा० वा०) इति समासः । थाथघञ्क्ताज० (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(कल्पेताम्, कल्पन्ताम्) वाक्यादित्वान्निघाताभावः । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(सव्रताः) तेन सहेति तुल्ययोगे (अ० २।२।२८) इति समासः । सूत्रे तुल्ययोग इति विशेषणं प्रायिकमित्यभियुक्ताः । वोपसर्जनस्य (अ० ६।३।८२) इति सहस्य सादेशः । स चोदात्तो निपात्यते । बहुव्रीहौ

---

* 'यथा' इति पदं ककोशे नास्ति । गकोशे संवर्द्धितम् ॥

§ 'इव' इति पदं ककोशे नास्ति । गकोशे संवर्द्धितः ॥

अब अगले मन्त्र में वसन्त ऋतु का वर्णन किया है ॥

पदार्थः—जैसे (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठ महीने में हुए व्यवहार वा मेरी श्रेष्ठता के लिए जो (अग्नेः) गरमी के निमित्त अग्नि से उत्पन्न होने वाले, जिन के (अन्तःश्लेषः) भीतर बहुत प्रकार के वायु का सम्बन्ध (असि) होता है, वे (मधुः) मधुर सुगन्धयुक्त चैत्र (च) और (माधवः) मधुर आदि गुण का निमित्त वैशाख (च) इन के सम्बन्धी पदार्थयुक्त (वासन्तिकौ) वसन्त महीनों में हुए (ऋतू) सब को सुखप्राप्ति के साधन ऋतु सुख के लिए (कल्पेताम्) समर्थ होवे, जिन चैत्र और वैशाख महीनों के आश्रय से (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (आपः) जल भी भोग में (कल्पन्ताम्) आनन्ददायक हों, (पृथक्) भिन्न भिन्न (ओषधयः) जौ आदि वा सोमलता आदि ओषधि और (अग्नयः) बिजुली आदि अग्नि भी (कल्पन्ताम्) कार्य्यसाधक हों। हे (सव्रताः) निरन्तर वर्त्तमान सत्यभाषणादि व्रतों से युक्त (समनसः) [समान] विज्ञान वाले (देवाः) विद्वान् [लोगों] (ये) जो (वासन्तिकौ) (ऋतू) वसन्तऋतु में हुए चैत्र वैशाख और§ यज्ञों से (अन्तरा) बीच में हुए (अग्नयः) अग्नि हैं, उन को (अभिकल्पमानाः) सन्मुख होकर कार्य में युक्त करते हुए आप लोग (इन्द्रमिव) जैसे उत्तम ऐश्वर्य्य प्राप्त हों, वैसे (अभिसंविशन्तु) सब ओर से प्रवेश करो। जैसे (इमे) ये (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि (तया) उस (देवतया) परमपूज्य परमेश्वर रूप देवता के सामर्थ्य के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान (ध्रुवे) दृढ़ता से वर्त्तते हैं, वैसे तुम दोनों स्त्री पुरुष सदा संयुक्त (सीदतम्) स्थिर रहो ॥२५॥

प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(**समनसः**) समानं मनो विज्ञानं येषां ते। **समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु** (अ० ६।३।८४) इति सादेशः। **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(**अन्तरा**) निपाताद्युदात्तत्वे प्राप्ते **एवादीनामन्तः** (फिट्० ८२) इत्यन्तोदात्तः। **स्वरादावप्यन्तोदात्तः पठ्यते** (द्र० काशिका १।१।३७) ॥

(अभिकल्पमाना) अभिपूर्वात् कृपू **सामर्थ्ये** (भ्वा० आ०) इत्यस्माल्लटः 'शानच्'। शपि गुणे रपरत्वे च **कृपो रो लः** (अ० ८।२।१८) इति लत्वम्। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण 'क' उदात्तः ॥

(**इन्द्रमिव**) **इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च** (अ० २।२।१८ भा० वा०) इति समासः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व च। इन्द्रशब्दः पूर्वं (य० १।१) व्याख्यातः ॥

(**अभिसंविशन्तु**) **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति तिङन्तनिघातः। **उदात्तवता गतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ भा० वा०) इति समासः। **गतिर्गतौ** (अ० ८।१।७०) इति पूर्वगतेर्निघाते द्वितीयो गतिः **उपसर्गाश्चाभिवर्जम्** (फिट्० ८१) इत्युदात्तः। **कैयटस्तु — समासविधायकवार्त्तिकव्याख्याने** (अ० २।२।१८) एवंविधस्थलेषु समासान्तोदात्तत्वं ब्रुवन् भ्रान्त एव ॥२५॥

॥ इति व्याकरण प्रक्रिया ॥

---

§ 'और पूर्वक से' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ककोशे नास्ति। 'यज्ञों से' इति त्वस्ति ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम को चाहिये कि जिस वसन्त ऋतु ‡में श्लेष्मा (कफ) उत्पन्न होता है और जिस में तीव्र प्रकाश पृथिवी रूखी जलमध्या [तथा] ओषधियां फल और फूलों से युक्त अग्नि की ज्वाला भिन्न भिन्न होती है उस§ का युक्तिपूर्वक सेवन कर पुरुषार्थ से सब सुखों को प्राप्त होओ। जैसे विद्वान् लोग अत्यन्त प्रयत्न के साथ सब ऋतुओं में सुख के लिए सम्पत्ति को बढ़ाते हैं वैसा तुम भी प्रयत्न करो ॥२५॥

अषाढासीत्यस्य सविता ऋषिः। क्षत्रपतिर्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह॥

अषा॑ढासि॒ सह॑माना॒ सह॒स्वारा॑ती॒ः सह॑स्व पृतनाय॒तः।
स॒हस्र॑वीर्य्यासि॒ सा मा॑ जिन्व ॥२६॥

अषा॑ढा। अ॒सि॒। सह॑माना। सह॑स्व। अरा॑तीः। सह॑स्व। पृ॒त॒ना॒य॒त इति॑ पृतनाऽय॒तः॥ स॒हस्र॑वी॒र्य्येति॑ स॒हस्र॑ऽवीर्य्या। अ॒सि॒। सा। मा॒। जि॒न्व॒ ॥२६॥

पदार्थः—(अषाढा) शत्रुभिरसह्यमाना (असि) (सहमाना) *पत्यादीन् सोढुमर्हा (सहस्व) (अरातीः) शत्रून् (सहस्व) (पृतनायतः) आत्मनः पृतनां सेनामिच्छतः (सहस्रवीर्य्या) असंख्यातपराक्रमा (असि) (सा) (मा) माम् (जिन्व) प्रीणीहि। [अयं मन्त्रः श० ७।४।२।३६ व्याख्यातः] ॥२६॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अषाढा) सहधातोः कर्मणि क्तः। तीषसहलुभरुषरिषः (अ० ७।२।४८) इति इटो विकल्पनात् यस्य विभाषा (अ० ७।२।१५) इतीडभावः। ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपेषु सहिवहोरोदवर्णस्य (अ० ६।३।११२) इत्योकारे प्राप्ते साढ्यै साढ्वासाढेति निगमे (अ० ६।३।११३) इत्यस्योपलक्षणतया क्तेऽपि आत्वप्रवृत्तिः। दृश्यन्ते हि वेदे बहुलम् अषाढेन (ऋ० ६।१६।२) अषाढम् (ऋ० ६।५५।८) इत्यादीनि पदानि। नञ्समासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

(सहमाना) अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(सहस्व) वाक्यादित्वान्निघाताभावेऽदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे च धातुस्वरः॥

(पृतनायतः) पृतनामिच्छतीति सुप आत्मनः क्यच् (अ० ३।१।८) इति क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः (अ० ७।४।३९) इत्यकारलोपस्य ऋचि पादबद्धमन्त्रे विधानात् इह यजुषि गद्यमन्त्रे लोपो न भवति। पादबद्धे तु

‡ 'में फलफूल उत्पन्न·····तीव्र प्रकाश रूखी पृथिवी जलमध्यम ओषधियां' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। संस्कृतानुसारमस्माभिः संशोधितः॥

§ 'उस को' इति ३ संस्करणेऽयुक्तः पाठः। 'उस का' इति तु कगकोशयोः पाठः॥

* 'पत्यादिभिः सोढुमर्हा' इति कपाठो गकोशे संशोधितः॥

अन्वयः—हे पत्नि ! या त्वमषाढाऽसि सा त्वं सहमाना सती पतिं मां सहस्व । या त्वं सहस्रवीर्याऽसि सा त्वं पृतनायतोऽरातीः सहस्व* यथाहं त्वां प्रीणामि§ तथा मा पतिं च जिन्व ॥२६॥

भावार्थः—या कृतदीर्घब्रह्मचर्यबलिष्ठा जितेन्द्रिया वसन्ताद्यृतुकृत्यविलक्षणा पत्य-पराधक्षमाकारिणी शत्रुनिवारिकोत्तमपराक्रमा स्त्री नित्यं स्वस्वामिनं प्रीणाति तां पतिरपि नित्यमानन्दयेत् ॥२६॥

फिर वह कैसी हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे पत्नी ! जो तू (अषाढा) शत्रु के असहने योग्य (असि) है $सो तू (सहमाना) ||पति आदि का सहन करती हुई अपने ‡पति के उपदेश का (सहस्व) सहन कर, जो तू (सहस्रवीर्या) असंख्यात प्रकार के पराक्रमों से युक्त (असि) है (सा) सो तू (पृतनायतः) ‡अपने आप सेना से युद्ध की इच्छा करते हुए (अरातीः) शत्रुओं को (सहस्व) सहन कर और जैसे मैं तुझ को प्रसन्न रखता हूं, वैसे (मा) मुझ पति को (जिन्व) तृप्त किया कर ॥२६॥

भावार्थः—जो बहुत काल तक ब्रह्मचर्याश्रम से सेवन की हुई अत्यन्त बलवती, जितेन्द्रिय, वसन्त आदि ऋतुओं के पृथक् पृथक् काम जानने पति के अपराध को क्षमा और शत्रुओं का निवारण करने वाली उत्तम पराक्रम से युक्त स्त्री अपने स्वामी पति को तृप्त करती है उसी को पति भी नित्य §§आनन्दित करे ॥२६॥

भवति, यथा—नीचा यच्छ पृतन्यतः (यजुः ८।४४)। सनाद्यन्ता धातवः (अ० ३।१।३२) इति धातुत्वे धातोः (अ० ६।१।१६२) इति अन्तोदात्तत्वम्। ततः शतृप्रत्ययः शप् च। तास्यनुदात्तेन्ङिदुप० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे यशपोरेकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यु-दात्तत्वे पुनस्तेन सह शतुरकारस्यैकादेश उक्त-सूत्रेणैवोदात्तत्वे शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६।१।१७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(सहस्रवीर्या) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।१।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। सहस्रशब्दो मध्योदात्तः पूर्वं (य० १।१४) व्याख्यातः॥२६॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

---

* इतोऽग्रे 'या मां पतिं च जिन्व' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ॥

§ 'पतिं तथा मा च जिन्व' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स च व्यस्तः ॥

$ 'सो तू' इति गकोशे पाठः ॥

|| 'पत्यादि के सहने योग्य कर' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ॥

‡ 'पति' इति गकोशेऽस्ति, प्रमादात् मुद्रणे त्यक्तः स्यात् ॥

‡ 'अपने आप युद्ध की इच्छा करती हुई' इति ककोशे पाठः । अत्र 'अपनी सेना की इच्छा करती हुई' संस्कृतानुसारं पाठो ज्ञेयः ॥

§§ 'आनन्दित करे' इति ककोशे पाठः । 'उस को पति भी नित्य आनन्दित करे' इति साधीयात् स्यात् । 'नित्य आनन्दित करता ही है' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

मधुवाता इत्यस्य गोतम ऋषिः । विश्वदेवा देवताः । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ वसन्तर्तोर्गुणान्तरानाह ॥

मधु॒ वाता॑ऽऋताय॒ते मधु॑ क्षरन्ति॒ सिन्ध॑वः ।
माध्वी॑र्नः स॒न्त्वोष॑धीः ॥२७॥

मधु॑ । वाताः॑ । ऋ॒ता॒य॒ते । ऋ॒त॒य॒त इत्यृ॑तऽय॒ते । मधु॑ । क्ष॒र॒न्ति॒ । सिन्ध॑वः ॥ माध्वीः॑ । नः॒ । स॒न्तु॒ । ओष॑धीः ॥२७॥

पदार्थः—(मधु) मधुरं यथा स्यात्तथा (वाताः) वायवः (ऋतायते*) ऋतमुदकमिवाचरन्ति । अत्र वचनव्यत्ययेन बहुवचनस्थान एकवचनम् । ऋतमित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२ । न छन्दस्यपुत्रस्य [अ० ७।४।३५] इतीत्वाभावः । अन्येषामपि [अ० ६।३।१३६] इति दीर्घः (मधु) (क्षरन्ति) वर्षन्ति (सिन्धवः) नद्यः समुद्रा वा । सिन्धव इति नदीनामसु पठितम् । निघं० १।१३ (माध्वीः) माध्व्यो मधुरगुणयुक्ताः । अत्र ऋत्वव्यवास्त्वव्य० [अ० ६।४।१७५] इति मधुशब्दादणि यणादेशनिपातः (नः) अस्मभ्यम् (सन्तु) (ओषधीः) ओषधयः । [अयं मन्त्रः श० ७।५।१।४ व्याख्यातः] ॥२७॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वाता वसन्ते नो मधु ऋतायते सिन्धवो मधु क्षरन्ति ओषधीर्नो माध्वीः सन्तु तथा वयमनुतिष्ठेम ॥२७॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यदा वसन्त आगच्छति तदा पुष्पादिसुगन्धयुक्ता †वाय्वादयः पदार्था भवन्ति, तस्मिन् भ्रमणं पथ्यं§ वर्त्तत इति वेद्यम् ॥२७॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**ऋतायते**) सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वात् प्रत्ययस्वरेण धातुस्वरो बाध्यते । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातप्राप्तिश्छान्दसत्वान्न भवति ॥

(**माध्वीः**) एतत्पदव्याख्याने आचार्येऋग्भाष्ये (१।९०।६)—'मधोर्ञ च (अ० ४।४।१२९) अनेन मधुशब्दाञ्ञः । ऋत्व्यवास्त्व्य० (अ० ६।४।१७५) इति यणादेशनिपातनम्, वा छन्दसि (अ० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णादेशः' इत्युक्तम । प्रकृतमन्त्रव्याख्याने 'अत्र ऋत्व्यवास्त्व्य० (अ० ६।४।१७५) इति मधुशब्दादणि यणादेशनिपातः' इति पाठ उपलभ्यते । उभयत्रापि लिपिकरप्रमादात् पाठाशुद्धिरुपलभ्यते । ऋग्भाष्ये 'मधोर्ञ च' इति सूत्रपाठस्तु काशिकानुरो-

---

* यद्यपि क्यजन्तात् शतृप्रत्यये चतुर्थ्येकवचने रूपमिदं संपद्यते स्वरदोषोऽपि नापद्यते, तथापि चतुर्थ्यन्तस्यात्रान्वयासंभवात् उत्तरयोश्चरणयोः क्रियापदयोरेव श्रवणादिहापि क्रियापदमेव युक्तं ज्ञेयम ॥

† 'वायवादय' इति सार्वत्रिकः पाठः । स चासम्यक् ॥

§ 'वसन्ते भ्रमणं पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्' इत्याप्तवचनम ॥

आगे के मन्त्र में वसन्त ऋतु के अन्य गुणों का वर्णन किया है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे वसन्त ऋतु में (नः) हम लोगों के लिये (वाताः) वायु (मधु) मधुरता के साथ (ऋतायते) जल के समान बहते हैं (सिन्धवः) नदियां वा समुद्र (मधु) कोमलतापूर्वक (क्षरन्ति) वर्षते हैं और (ओषधीः) ओषधियां (माध्वीः) मधुर रस के गुणों से युक्त (सन्तु) होवें, वैसा प्रयत्न हम किया करें ।।२७।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जब वसन्त ऋतु आता है तब पुष्प आदि के सुगन्धों से युक्त वायु आदि पदार्थ होते हैं उस ऋतु में घूमना§ डोलना पथ्य होता है, ऐसा निश्चित जाना चाहिये ।।२७

मधुनक्तमित्यस्य गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । गायत्री छन्दः ।
षड्जः स्वरः ।।

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ।।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवꣳ रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।।२८।।

मधु । नक्तम् । उत । उषसः । मधुमदिति मधुऽमत् । पार्थिवम् । रजः ।। मधु । द्यौः । अस्तु । नः । पिता ।।२८।।

पदार्थः—(मधु) (नक्तम्) रात्रिः (उत) अपि (उषसः) प्रातर्मुखानि दिनानि (मधुमत्) मधुरगुणयुक्तम् (पार्थिवम्) पृथिव्या विकारः (रज) द्व्यणुकादिरेणुः (मधु) (द्यौः) प्रकाशः (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् (पिता) पालकः ।।२८।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वसन्ते नक्तं मधूताप्युषसो मधु पार्थिवं रजो मधुमद् द्यौर्मधु पिता नोऽस्तु तथा यूयमप्येतं युक्त्या सेवध्वम् । २८।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

वात् । अत्र 'मधोरञ् च' इति सूत्रपाठो द्रष्टव्यः (द्र० सायण ऋग्भाष्ये १।९०।६) । ञप्रत्यये ङीप् दुर्लभः छान्दसो वा ङीप् स्यात् । प्रकृतमन्त्रभाष्येऽपि 'अणि' इत्यस्य स्थाने 'अञि' इति द्रष्टव्यम् । एतेन काशिकाकारस्य 'मधु-शब्दादणि स्त्रियां यणादेशो निपात्यते' इत्युक्ति-न्यासकारस्य च 'तस्येदमित्यण्' इति तद्व्याख्यापि प्रत्युक्ता । अत्र पूर्वं (७।११) विवरणमपि द्रष्टव्यम् ।।२७।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नक्तम्) निपाता आद्युदात्ताः (फिट्०

---

§ 'खूब डोलना' इति ककोशे पाठः ।।

भावार्थः—प्राप्ते वसन्ते पक्षिणोऽपि मधुरं स्वनन्ति हर्षिताः[1] प्राणिनश्च जायन्ते ॥२८

फिर भी उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे वसन्त ऋतु में (नक्तम्) रात्रि (मधु) कोमलता से युक्त (उत) और (उषसः) प्रातःकाल से लेकर दिन मधुर (पार्थिवम्) पृथिवी का (रजः) द्व्यणुक वा त्रसरेणु आदि (मधुमत्) मधुर गुणों से युक्त और (द्यौः) प्रकाश भी (मधु) मधुरतायुक्त (पिता) रक्षा करनेहारा* (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, वैसे युक्ति से उस वसन्त ऋतु का सेवन तुम भी किया करो ॥२८॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जब वसन्त ऋतु आता है तब पक्षी भी कोमल मधुर मधुर शब्द बोलते और अन्य सब प्राणी आनन्दित होते हैं ॥२८॥

मधुमानित्यस्य गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ वसन्ते जनैः किमाचरणीयमित्याह ॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ अस्तु सूर्य्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥

मधुमानिति मधुऽमान् । नः । वनस्पतिः । मधुमानिति मधुऽमान् । अस्तु । सूर्य्यः ॥ माध्वीः । गावः । भवन्तु । नः ॥२९॥

पदार्थः—(मधुमान्) प्रशस्ता [2]मधवो गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः (नः) अस्मभ्यम् (वनस्पतिः) अश्वत्थादिः (मधुमान्) प्रशस्तो [2]मधुः प्रतापो विद्यते यस्यः सः (अस्तु) भवतु (सूर्य्यः) सविता (माध्वीः) मधुरा गुणा विद्यन्ते यासु ताः (गावः) धेनव इव किरणाः (भवन्तु) (नः) अस्मभ्यम्* ॥२९॥

---

८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(पार्थिवम्) पृथिव्या ञाञौ (अ० ४।१। ८५ भा० वा०) इति ञप्रत्ययः ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'हर्षः संजात एषाम्' तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (अ० ५।२।३६) इति 'इतच्' प्रत्ययोऽत्र द्रष्टव्यः ॥२८॥

२. अर्धर्चादिपाठात् पुंस्त्वमपि ॥

---

* 'रक्षा करनेहारा' इति ककोशे पाठः, स च सम्यक् । 'रक्षा करनेहारे के समान समय' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः, स च कथं व्यस्त इति न जानीमहे ॥

* 'अस्माकम्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे विद्वांसः ! यथा वसन्ते नो वनस्पतिर्मधुमान् सूर्य्यश्च मधुमानस्तु, नो गावो माध्वीर्भवन्तु तथोपदिशत ॥२६॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं वसन्तमृतुं प्राप्य यादृग् द्रव्यहोमेन वनस्पत्यादयो मधुरादिगुणाः स्युः तादृशं यज्ञमाचरतेत्थं† वासन्तिकं सुखं सर्वे यूयं प्राप्नुत ॥२६॥

अब वसन्त ऋतु में मनुष्यों को कैसा आचरण करना चाहिये,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो ! जैसे वसन्त ऋतु में (नः) हमारे लिये (वनस्पतिः) पीपल आदि वनस्पति (मधुमान्) प्रशंसित कोमल गुणों वाले और (सूर्य्यः) सूर्य्य भी (मधुमान्) प्रशंसित कोमलतायुक्त (अस्तु) होवे और (नः) हमारे लिये (गावः) गौओं के समान (माध्वीः) ∫मधुर गुणों वाली किरणें (भवन्तु) हों वैसा ही उपदेश करो ॥२६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग वसन्त ऋतु को प्राप्त होकर जिस प्रकार के पदार्थों के होम से वनस्पति आदि $मधुरतादि गुणयुक्त हों ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करो और§ इस प्रकार वसन्त ऋतु के सुख को सब जने तुम लोग प्राप्त होओ ॥२६॥

अपामित्यस्य गोतम ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

*पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अपां गर्भन्त्सीद मा त्वा सूर्य्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥३०॥

अपाम् । गर्भन् । सीद । मा । त्वा । सूर्य्यः । अभि । ताप्सीत् । मा । अग्निः । वैश्वानरः ॥ अच्छिन्नपत्रा इत्यच्छिन्नऽपत्राः । प्रजा इति प्रऽजाः । अनुवीक्षस्वेत्यनुऽवीक्षस्व । अनु । त्वा । दिव्या । वृष्टिः । सचताम् ॥३०॥

---

† 'इत्थं वासन्तिकं सुखं सर्वे यूयं प्राप्नुत' इति कगकोशयोर्नास्ति, । मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

∫ 'कोमल गुणों वाली' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥ $ 'कोमलगुण युक्त' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ 'और इस प्रकार वसन्त ऋतु के सुख को सब जने तुम लोग प्राप्त होओ' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

* 'पुनर्मनुष्यैर्वसन्तग्रीष्मयोर्मध्ये [कथं] वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे परिवर्त्तितः स्यात् । भावार्थस्त्वेतदनुगुण एव दृश्यते ॥

पदार्थः—(अपाम्) जलानाम् (गम्भन्) गम्भनि धारके मेघे§§। अत्र गमधातोरौणादिकौ बाहुलकाद् भनिन् प्रत्ययः सप्तम्या लुक् च (सीद) §आस्स्व (मा) [(त्वा)] त्वाम् (सूर्य्यः) मार्तण्डः (अभि) (ताप्सीत्) तपेत् (मा) (अग्निः) (वैश्वानरः) विश्वेषु नरेषु राजमानः (अच्छिन्नपत्राः) अच्छिन्नानि पत्राणि यासां ताः (प्रजाः) (अनुवीक्षस्व) आनुकूल्येन विशेषतः संप्रेक्षस्व (अनु) (त्वा) त्वाम् (दिव्या) शुद्धगुणसम्पन्ना (वृष्टिः) (सचताम्) सम्बध्नातु। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।१८ व्याख्यातः] ॥३०॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वं वसन्तेऽपां गम्भनिव सीद यतः सूर्य्यस्त्वा माऽभिताप्सीत्। वैश्वानरोऽग्निस्त्वा माभिताप्सीदच्छिन्नपत्राः प्रजा अनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचतां $तथा त्वमनुवीक्षस्व ॥३०॥

भावार्थः—∫वसन्तग्रीष्मयोर्मध्ये मनुष्या जलाशयस्थं शीतलं स्थानं संसेवन्ताम्। येन तापाऽभितप्ता न स्युः, येन यज्ञेन पुष्कला वृष्टिः स्यात् प्रजानन्दश्च तं ‡सेवध्वम् ॥३०॥

‡फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! तू वसन्त ऋतु में (अपाम्) जलों के (गम्भन्) *आधारकर्त्ता मेघ में (सीद) स्थिर हो जिस से (सूर्य्यः) सूर्य्य (त्वा) तुझको (मा) न (अभिताप्सीत्) तपावे (वैश्वानरः) सब मनुष्यों में प्रकाशमान (अग्निः) अग्नि बिजुली∫∫ तुझ को (मा) न‡‡ तप्त करे (अच्छिन्नपत्राः) सुन्दर पूर्ण अवयवों वाली (प्रजाः) प्रजा

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(गम्भन्) बाहुलकादौणादिके भनिन् प्रत्यये नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अच्छिन्नपत्राः) अच्छिन्नशब्दे नञ्तत्पुरुषसमासः। **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इति नञः प्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। ततो बहुव्रीहिः। **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे स एव स्वरः ॥

(अनुवीक्षस्व) उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ भा० वा०) इति समासः। समासे ऐकपद्यम्। **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति ईक्षस्वपदे निघातः। **उपसर्गाश्चाभिवर्जम्** (फिट्० ८१) इति 'वि' उदात्तः। **गतिर्गतौ** (अ० ८।१।७०) इति पूर्वो गतिरनुदात्तः ॥३०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

§§ 'अग्नौ' इति ककोशे पाठः। गकोशे संशोधितः स्यात् ॥

§ 'आःस्व' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। ककोशे तु 'आस्स्व' इति सम्यक् पाठः ॥

$ 'तथा' इत्युपलम्भात् पूर्वं व्याख्यारम्भे 'यथा' इति पदमत्रापेक्षितं स्याद् इति ध्येयम् ॥

∫ 'ये मनुष्या वसन्तग्रीष्मयोर्मध्ये' इति ककोशे पाठः। गकोशे संशोधितः स्यात् ॥

‡ 'सेवध्वम्' इति ककोशे नास्ति ॥

‡ 'फिर मनुष्यों को वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के मध्य में कैसा वर्त्तना चाहिये' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे परिवर्त्तित इति ध्येयम् ॥

* 'आधारभूत अग्निविद्या' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः ॥

∫∫ इतोऽग्रे 'त्वा' इति पाठोऽजमेरमुद्रितेऽन्वयानुसारमनावश्यक इति ध्येयम् ॥

‡‡ इतोऽग्रे '(अभिताप्सीत्)' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठो मन्त्रे पुनरदर्शनात् ॥

(अनु त्वा) तेरे अनुकूल और (दिव्या) शुद्ध गुणों से युक्त (वृष्टिः) वर्षा (सचताम्) प्राप्त होवे, वैसे (अनुवीक्षस्व) अनुकूलता से विशेष करके विचार कर ॥३०॥

भावार्थः—‡मनुष्य वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के बीच जलाशयस्थ शीतल स्थान का सेवन करें जिस से गर्मी से दुःखित न हों और जिस यज्ञ से वर्षा भी ठीक ठीक हो और प्रजा आनन्दित हो, ‡उसका सेवन करो ॥३०॥

त्रीन्त्समुद्रानित्यस्य गोतम ऋषिः। वरुणो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।
धैवतः स्वरः॥

अथ जनैस्तत्र सुखप्राप्तये किमाचरणीयमित्याह॥

त्रीन्त्स॑मु॒द्रान्त्सम॑सृपत् स्व॒र्गान॒पां पति॑र्वृष॒भऽइष्ट॑कानाम्।
पुरी॑षं॒ वसा॑नः सुकृ॒तस्य॑ लो॒के तत्र॑ गच्छ॒ यत्र॒ पूर्वे॒ परे॑ताः ॥३१॥

त्रीन्। स॒मु॒द्रान्। सम्। अ॒सृ॒प॒त्। स्व॒र्गानिति॑ स्वः॒ऽगान्। अ॒पाम्। पतिः॑। वृ॒ष॒भः। इष्ट॑कानाम्॥ पुरी॑षम्। वसा॑नः। सु॒कृ॒तस्येति॑ सुऽकृ॒तस्य॑। लो॒के। तत्र॑। गच्छ॒। यत्र॑। पूर्वे॒। परे॑ता इति॒ परा॑ऽइताः ॥३१॥

पदार्थः—(त्रीन्) अधोमध्योर्ध्वस्थान् (समुद्रान्) समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूतभविष्यद्वर्त्तमानान् समयान् (सम) (असृपत्) सर्पति (स्वर्गान्) स्वःसुखं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति येभ्यस्तान् (अपाम्) प्राणानाम् (पतिः) रक्षकः (वृषभः) वर्षकः श्रेष्ठो वा* (इष्टकानाम्) इज्यन्ते संगम्यन्ते कामा यैः पदार्थैस्तेषाम् (पुरीषम्) पूर्णसुखकरमुदकम् (वसानः) वासयन् (सुकृतस्य) सुष्ठु कृतो धर्मो येन तस्य (लोके) द्रष्टव्ये स्थाने (तत्र) (गच्छ) (यत्र†) धर्म्ये मार्गे (पूर्वे) प्राक्तना जनाः (परेताः) सुखं प्राप्ताः ॥३१॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(स्वर्गान्) गतिकारकोपपदात् कृत (अ० ६।२।१६) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(इष्टकानाम्) इष्यशिभ्यां तकन् (उ० ३।१८४) इति तकन्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। यद्वा—यजतेः कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति करणे क्तः। वचिस्वपियजादीनाम्० (अ० ६।१।१५) इति सम्प्रसारणम्। स्वार्थे कन्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। टापि क्षिपकादीनां चोपसंख्यानम् (अ० ७।३।४५ भा० वा०) इति कात्पूर्वस्येत्वप्रतिषेधः॥

(वसानः) वस आच्छादने (अ० आ०) इत्यतः शानच्, शपो लुक्। तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशाल्ल० (अ० ६।१।१८६) इति शानचो-

‡ 'जो मनुष्य' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे संशोधितः स्यात्॥

‡ 'उस का सेवन करो' इति कगकोशयोर्नास्ति. मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात्॥

* '(वृषभः) वर्षक. श्रेष्ठो वा सूर्यः' इत्येवं कदाचिदत्र पाठः स्यात्॥

† '(यत्र)' इति पाठोऽजमेरमुद्रिते गकोशे च त्यक्तः। ककोशे वर्त्तते, स चावश्यकः॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं ! यथाऽपांपतिर्वृषभः पुरीषं वसानः सन्निष्टकानां त्रीन् समुद्रांल्लोकान् स्वर्गान् समसृपत् संसर्पति तथा सर्प । यत्र सुकृतस्य लोके मार्गे पूर्वे परेतास्तत्र त्वमपि गच्छ ॥३१॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैर्धार्मिकाणां मार्गेण §गच्छद्भिः शारीरिकवाचिकमानसानि त्रिविधानि सुखानि प्राप्तव्यानि यत्र कामा अलं स्युस्तत्र प्रयतितव्यम् । यथा वसन्तादय ऋतवः क्रमेण वर्त्तित्वा स्वानि स्वानि लिंगान्यभिपद्यन्ते, तथर्त्वनुकूलान् व्यवहारान् कृत्वाऽऽनन्दयितव्यम्[1] ॥३१॥

अब मनुष्यों को उस वसन्त में सुखप्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष ! जैसे (अपाम्) प्राणों का (पतिः) रक्षक, (वृषभः) वर्षा का हेतु, (पुरीषम्) पूर्णसुखकारक जल को (वसानः) धारण करता हुआ सूर्य्य (इष्टकानाम्) कामनाओं की प्राप्ति के हेतु पदार्थों के आधाररूप (त्रीन्) ऊपर नीचे और मध्य में रहने वाले तीन प्रकार के (समुद्रान्) सब पदार्थों के स्थान भूत भविष्यत् और वर्त्तमान (स्वर्गान्) सुख प्राप्त करानेहारे लोकों को (समसृपत्) प्राप्त होता है, वैसे आप भी प्राप्त हूजिये । (यत्र) जिस धर्मयुक्त वसन्त के मार्ग में (सुकृतस्य) सुन्दर धर्म करनेहारे पुरुष के (लोके) देखने योग्य स्थान वा मार्ग में (पूर्वे) प्राचीन लोग (परेताः) सुख को प्राप्त हुए, (तत्र) उसी वसन्त के सेवनरूप मार्ग में आप भी (गच्छ) चलिये ॥३१॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि धर्मात्माओं के मार्ग से चलते हुए शारीर वाचिक और मानस तीनों प्रकार के सुखों को प्राप्त होवें, और जिस में कामना पूरी हो वैसा प्रयत्न करें । जैसे वसन्त आदि ऋतु अपने कर्म से वर्त्तते हुए अपने अपने चिह्न प्राप्त करते हैं, वैसे ऋतुओं के अनुकूल व्यवहार के आनन्द को प्राप्त होवें ॥३१॥

ऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः । पूर्वभागे ८३५ पृष्ठम् (द्वि० संस्करणे) अपि द्रष्टव्यम् ॥

(सुकृतस्य) बहुव्रीहौ समासे **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(परेताः) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर **उपसर्गाश्चाभिवर्जम्** (फिट्० ८१) इति पराद्युदात्तः । कर्त्तरि क्ते तु प्रादिसमासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरो द्रष्टव्यः ॥

(पूर्वे) **अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्** (उ० १।१५१) इति बाहुलकात् पृणातेरपि 'क्वन्' । कित्त्वाद् गुणाभावे **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** (अ० ७।१।१०२) इति उत्वम् । **हलि च** (अ० ८।२।७७) इति दीर्घः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

[1] आनन्दं करोतीति तत्करोति तदाचष्टे (चु० गणसूत्रम्) इति णिचि 'तव्यः' प्रत्ययः ॥३१॥

§ 'गच्छन्' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

*मही द्यौरित्यस्य गोतम ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ देवते । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मातापितृभ्यां स्वसंतानाः कथं शिक्ष्या इत्याह ॥

मही द्यौः पृथिवी च नऽ इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरीमभिः ॥३२॥

मही । द्यौः । पृथिवी । च । नः । इमम् । यज्ञम् । मिमिक्षताम् ॥ पिपृताम् । नः । भरीमभिरिति भरीमऽभिः ॥३२॥

पदार्थः—(मही) महती (द्यौः) सूर्यः (पृथिवी) भूमिः (च) (नः) अस्माकम् (इमम्) (यज्ञम्) [1]सङ्गन्तव्यं गृहाश्रमव्यवहारम् (मिमिक्षताम्) सेक्तुमिच्छेताम् (पिपृताम्) पालयतम् (नः) अस्मान् (भरीमभिः[2]) धारणपोषणाद्यैः कर्मभिः ॥३२॥

अन्वयः—हे मातापितरौ ! यथा मही द्यौः पृथिवी च सर्वं सिञ्चतः पालयतस्तथा युवां न इमं यज्ञं मिमिक्षतां, भरीमभिर्नः पिपृताम् ॥३२॥[3]

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा भूमिसूर्यौ सर्वेषां धारणं प्रकाशं पालनञ्च कुरुतस्तथा मातापितरः स्वसन्तानेभ्योऽन्नं विद्यादानं सुशिक्षां च कृत्वा पूर्णान् विदुषः पुरुषार्थिनः संपादयेयुः ॥३२॥

---

१. हिन्दी-पदार्थानुसारं तु 'संगन्तव्यं विद्याग्रहण-व्यवहारम्' इति पाठः स्यात् ॥

२. '(भरीमभिः)' पूर्वं य० ८।३२, पृ० ७०४ (२ सं०) व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पिपृताम्) पॄ पालनपूरणयोः (जु० प०) ह्रस्वान्तः । लोटि प्रथमपुरुषद्विवचने रूपम् । **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** (अ० २।४।७५) इति शपः 'श्लुः' । **श्लौ** (अ० ६।१।१०) इति द्विर्वचनम् । **अर्तिपिपर्त्योश्च** (अ० ७।४।७७) इत्यभ्यासस्येत्वम् । सतिशिष्टत्वात्तस्स्वरः । **अभ्यस्तानामादिः** (अ० ६।१।१८९) इति तु न प्रवर्त्ततेऽनजादित्वात् ॥

(भरीमभिः) पूर्वं (य० ८।३२) व्याख्यातः । यत्तु—आचार्यपादैर्ऋग्भाष्ये (ऋ० १।२२।१३) 'भृञ्धातोर्मनिन् प्रत्ययो **बहुलं छन्दसि** (अ० ७।३।९७) इतीडागमः' इत्युक्तं तत् हृभूघृसृ० (उ० ४।१४९) इत्युणादिसूत्रे 'इमनिन्' इति ह्रस्वेकारान्तपाठमाश्रित्योक्तम् इति बोध्यम् । यत्पुनर्भट्टभास्करेण इमनिच-श्छान्दसदीर्घत्वमुक्तं (तै० सं० भा० ३।३।१०।२) तदप्यशुद्धम्, इमनिचि चित्त्वादन्तोदात्तापत्तेः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. मन्त्रोऽयं ऋग्भाष्ये १।२२।१९ व्याख्यातोऽपि द्रष्टव्यः ॥३२॥

---

* 'मही' इत्यारभ्य······षड्जः स्वरः' इति पाठो गकोशे त्यक्तः । ककोशे त्वस्ति ॥

माता पिता अपने सन्तानों को कैसी शिक्षा करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे मातापिता ! जैसे (मही) बड़ा (द्यौः) सूर्य्यलोक (च) और (पृथिवी) भूमि सब संसार को सींचते और पालन करते हैं, वैसे तुम दोनों (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) सेवने योग्य विद्याग्रहणरूप व्यवहार को (मिमिक्षताम्) सेचन †अर्थात् पूर्ण होने की इच्छा करो, और (भरीमभिः) धारण पोषण आदि कर्मों से (नः) हमारा (पिपृताम्) पालन करो ॥३२॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे वसन्त ऋतु में पृथिवी और सूर्य्य सब संसार का धारण प्रकाश और पालन करते हैं, वैसे माता पिता को चाहिये कि अपने सन्तानों के लिए वसन्तादि ऋतुओं में अन्न विद्यादान और अच्छी शिक्षा करके पूर्ण विद्वान् पुरुषार्थी करें ॥३२॥

विष्णोः कर्माणीत्यस्य गोतम ऋषिः । विष्णुर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

विद्वद्वदितरैर्जनैराचरणीयमित्याह ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥३३॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे ॥ इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥३३॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापकेश्वरस्य (कर्माणि) जगत्सृष्टिपालनप्रलयकरणन्यायादीनि (पश्यत) संप्रेक्षध्वम् (यतः) (व्रतानि) नियतानि सत्यभाषणादीनि (पस्पशे) स्पृशति (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यमिच्छुकस्य जीवस्य युक्तस्य (*युज्यः) उपयुक्तानन्दप्रदः (सखा) मित्र इव वर्त्तमानः । [अयं मन्त्रः श० ७।५।१।२५ व्याख्यातः] ॥३३॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! §य इन्द्रस्य जीवस्य युज्यः सखास्ति, यतोऽयं विष्णोः कर्माणि व्रतानि च पस्पशे, तस्मादेतस्यैतानि यूयमपि पश्यत ॥३३॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरस्य सुहृदुपासको धार्मिको विद्वानस्य गुणकर्मस्वभावक्रमानुसाराणि सृष्टिक्रमाणि कुर्याज्जानीयात्, तथैवेतरे मनुष्याः कुर्युर्जानीयुश्च ॥३३॥

---

† 'अर्थात् पूर्ण होने की' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे परिवर्धितः स्यात् ॥

* '(युज्यः) उपभोक्तुं योग्यः' इति ककोशे पाठः, स च सम्यक् ॥

§ अयमन्वयः ककोशे तु सर्वथापि भिन्न आसीत्, स च गकोशे परिवर्त्तितः ॥

विद्वानों के तुल्य अन्य मनुष्यों को आचरण करना चाहिये,
इसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो§ (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य की इच्छा करनेहारे जीव का (युज्यः) उपासना करने योग्य (सखा) मित्र के समान वर्त्तमान है, (यतः) जिस के प्रताप से यह जीव (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के (कर्माणि) जगत् की रचना पालन प्रलय करने और न्याय आदि कर्मों और (व्रतानि) सत्यभाषणादि नियमों को (पस्पशे) स्पर्श करता है, इसलिये इस परमात्मा के इन कर्मों और व्रतों को तुम लोग भी$ (पश्यत) देखो, धारण करो ॥३३॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर का मित्र उपासक धर्मात्मा विद्वान् पुरुष परमात्मा के गुण कर्म और स्वभावों के अनुसार सृष्टि के क्रमों के अनुकल आचरण करे और जाने, वैसे ही अन्य मनुष्य करें और जानें ॥३३॥

ध्रुवासीत्यस्य गोतम ऋषिः । जातवेदा देवता । भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

विद्वद्वत्स्त्रीभिरप्युपदेष्टव्यमित्याह ॥

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्योऽ अधि जातवेदाः ।
स गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥३४॥

ध्रुवा । असि । धरुणा । इतः । जज्ञे । प्रथमम् । एभ्यः । योनिभ्य इति योनिऽभ्यः । अधि । जातवेदा इति जातऽवेदाः ॥ सः । गायत्र्या । त्रिष्टुभा । त्रिस्तुभेति त्रिऽस्तुभा । अनुष्टुभा । अनुस्तुभेत्यनुऽस्तुभा । च । देवेभ्यः । हव्यम् । वहतु । प्रजानन्निति प्रऽजानन् ॥३४॥

पदार्थः—(ध्रुवा) *स्थिरा (असि) (धरुणा) धर्त्री (इत) कर्मणः (जज्ञे) प्रादुर्भवति (प्रथमम्) आदिमं कार्यम् (एभ्यः) (योनिभ्यः) कारणेभ्यः (अधि) (जातवेदाः) यो जातेषु विद्यते सः (सः) (गायत्र्या) गायत्रीनिष्पादितया विद्यया (त्रिष्टुभा) (अनुष्टुभा) (च) (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यो विद्वद्भ्यो वा (हव्यम्) होतुमादातुमर्हं विज्ञानम् (वहतु) प्राप्नोतु (प्रजानन्) प्रकृष्टतया जानन् । [अयं मन्त्रः श० ७।५।१।३० व्याख्यातः] ॥३४॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(धरुणा) पूर्वं (य० १।१८) व्याख्यातः ॥ (एभ्यः) ऊडिदंपदाद्यप्० (अ० ६।१।१७१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

§ पूर्ववदत्रापि गकोशे परिवर्त्तितोऽयं भाषापदार्थः ॥

$ इतोऽग्रे 'देखो' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

* '(स्थिरा)' इत्येवं कोष्ठयुतः पाठोऽजमेरमुद्रिते, स चासम्यक् ॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! यथा त्वं धरुणा ध्रुवासि, यथैभ्यो योनिभ्यः स जातवेदाः प्रथममधिजज्ञे तथेतोऽधिजायस्व । यथा स तव पतिर्गायत्र्यां त्रिष्टुभानुष्टुभा च †प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु, तथैतया §प्रजानन्ती ब्रह्मचारिणी कन्या भवन्तीभ्यः स्त्रीभ्यो विज्ञानं प्राप्नोतु । ३४।।

भावार्थः—$मनुष्या जगदीश्वरसृष्टिक्रमनिमित्तानि विदित्वा विद्वांसो भूत्वा यथा पुरुषेभ्यः शास्त्रोपदेशान् कुर्वन्ति, तथैव स्त्रियोऽप्येतानि विदित्वा स्त्रीभ्यो वेदार्थनिष्कर्षोपदेशान् कुर्वन्तु ।।३४।।

विद्वान् पुरुषों के समान विदुषी स्त्रियां भी उपदेश करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे स्त्रि ! जैसे तू (धरुणा) शुभगुणों का धारण करनेहारी (ध्रुवा) स्थिर (असि) है, जैसे (एभ्यः) इन (योनिभ्यः) कारणों से (सः) वह (जातवेदाः) प्रसिद्ध पदार्थों में विद्यमान वायु (प्रथमम्) पहिले (अधिजज्ञे) अधिकता से प्रकट होता है, वैसे (इतः) इस कर्म के अनुष्ठान से सर्वोपरि प्रसिद्ध हूजिये । जैसे तेरा पति (गायत्र्या) गायत्री (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुप् (च) और (अनुष्टुभा) अनुष्टुप् मन्त्र से सिद्ध हुई विद्या से (प्रजानन्) बुद्धिमान् होकर (देवेभ्यः) अच्छे गुण वा विद्वानों से (हव्यम्) देने लेने योग्य विज्ञान (वहतु) प्राप्त होवे, वैसे इस विद्या से बुद्धिमती हो के आप स्त्री लोगों से ब्रह्मचारिणी कन्या विज्ञान को प्राप्त होवें ।।३४।।

भावार्थः—∫मनुष्य जगत् में ईश्वर की सृष्टि के ‡कामों के निमित्तों को जान विद्वान् होकर जैसे पुरुषों को शास्त्रों का उपदेश करते हैं, वैसे ही स्त्रियों को भी चाहिये कि इन सृष्टिक्रम के निमित्तों को जान के ‡स्त्रियों को वेदार्थसारोपदेशों को करें ।।३४।।

(**गायत्र्या**) गायतीति गायः । **श्याद्व्यधास्रु०** (अ० ३।१।१४१) इति 'णः' । **आतो युक् चिण्कृतोः** (अ० ७।३।३३) इति 'युक्' च । तं त्रायत इति **आतोऽनुपसर्गे कः** (अ० ३।२।३) इति 'कः' । गायन्तं त्रायत इति वा । अत्र पक्षे 'गायत्त्री' इति द्वितकारवान् पाठः । वैदिकानां द्वितकारवान् पाठस्तूभयथापि सिद्ध्यति । गायं त्रायत इत्येवमेकतकारवति पाठेऽपि **अनचि च** (अ० ८।४।४६) सूत्रेण द्विर्वचनस्य विधानात् । गौरादेराकृतिगणत्वात् 'ङीष्' । प्रत्ययस्वरः । ततस्तृतीयैकवचने यणादेशे **उदात्तयणोहल्पूर्वात्** (अ० ६।१।१७४) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ।।

(**त्रिष्टुभा**) पूर्वं (य० ६।३३) व्याख्यातः ।।

(**अनुष्टुभा**) **अनुष्टुबनुष्टोभनात्** (निरु० ७।१२) । अनुपूर्वात् स्तोभतेः 'क्विप्' । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।।३४।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

† 'प्रजानन् सत्' इति कगकोशयोः पाठः, मुद्रणे संशोधितः इति ध्येयम् ।।

§ 'प्रजानन्ती सती' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः इति ध्येयम् ।।

$ 'विद्वांस इह देवेभ्यो' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ।।

∫ 'विद्वान् लोग इस जगत् में' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ।।

‡ 'क्रमों' इति ककोशे पाठः ।।

‡ 'स्त्रियों के लिए वेदों के अर्थ का सम्पूर्ण उपदेश किया करें' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ।।

इषे राय इत्यस्य गोतम ऋषिः । जातवेदा देवता: । निचृद्बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

अथ जायापती उद्वाहं कृत्वा कथं वर्तेयातामित्याह ॥

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्नऽऊर्जेऽअपत्याय ।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥३५॥

इषे । राये । रमस्व । सहसे । द्युम्ने । ऊर्जे । अपत्याय ॥ सम्राडिति सम्ऽराट् । असि । स्वराडिति स्वऽराट् । असि । सारस्वतौ । त्वा । उत्सौ । प्र । अवताम् ।३५।

पदार्थः—(इषे) विज्ञानाय (राये) श्रिये (रमस्व) *क्रीडस्व (सहसे) बलाय (द्युम्ने) यशसेऽन्नाय वा । द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा । निरु० ५।५ (ऊर्जे) पराक्रमाय (अपत्याय) संतानाय (सम्राट्) यः सम्यग्राजते सः (असि) (स्वराट्) या स्वयं राजते सा (असि) (सारस्वतौ) सरस्वत्यां वेदवाचि कुशलावुपदेशकोपदेष्ट्र्यौ (त्वा) त्वाम् (उत्सौ) कूपोदकमिवार्द्रीभूतौ (प्र) (अवताम्) रक्षणादिकं कुरुताम् । [अयं मन्त्रः श० ७।५।१।३१ व्याख्यातः] ॥३५॥

अन्वयः—हे पुरुष ! यस्त्वं सम्राडसि, हे स्त्रि या त्वं स्वराडसि, स त्वं चेषे राये सहसे द्युम्न ऊर्जेऽपत्याय रमस्व । उत्साविव सारस्वतौ सन्तावेतानि प्रावतामिति [त्वा] †त्वां पुरुषं स्त्रियं चोपदिशामि ॥३५॥

भावार्थः—कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीत्या विद्वांसौ सन्तौ वसन्ते पुरुषार्थेन श्रीमन्तौ [1]सद्गुणौ परस्परस्य रक्षां कुर्वन्तौ धर्मेणापत्यान्युत्पाद्यास्मिन् संसारे नित्यं क्रीडेताम् ॥३५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अपत्याय) पत्लृ गतौ (भ्वा० प०) अघ्न्यादयश्च (उ० ४।११२) इति 'यक्' । यद् इति सर्वानन्दः (अमरटीका २।६।२) । ततो नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । क्षीरस्वामी तु अपतनम् अपत्', अपति साधु अपत्यमित्याह (अमरटीका २।६।२) ॥

(सारस्वतौ) इदं-भव-कुशलेष्वर्थेषु सरस्वतीशब्दात् तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) तत्र भवः (अ० ४।३।५३) कुशलाः (अ० ४।३।३८) इत्येतैः सूत्रैर्यथासंख्यम् 'अण्' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(उत्सौ) उन्दिगुधिकुषिभ्यश्च (उ० ३।६८) इति 'सः' प्रत्ययः । किदनुवृत्तेः अनिदितां हल उपधायाः० (अ० ६।४।२४) इत्यनुनासिकलोपः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. बहुव्रीहिरत्र बोध्यः ॥३५॥

---

* साम्प्रतिकानां मते 'क्रीड' इति स्यात् ॥

† 'त्वां पुरुषं स्त्रियं चोपदिशामि' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे संशोधितः । पूर्वमन्वयो भिन्न आसीत् ॥

अब स्त्रीपुरुष विवाह करके कैसे वर्त्तें, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे पुरुष ! जो तू (सम्राट्) विद्यादि शुभगुणों से स्वयं प्रकाशमान (असि) है, हे स्त्रि ! जो तू (स्वराट्) अपने आप विज्ञान सत्याचार से शोभायमान (असि) है, सो तुम दोनों (इषे) विज्ञान (राये) धन (सहसे) बल (द्युम्ने) यश और अन्न (ऊर्जे) पराक्रम और (अपत्याय) सन्तानों की प्राप्ति के लिये (रमस्व) यत्न करो। तथा (उत्सौ) कूपोदक के समान कोमलता को प्राप्त होकर (सारस्वतौ) वेदवाणी के उपदेश में कुशल होके तुम दोनों स्त्रीपुरुष इन स्वशरीर और अन्नादि पदार्थों की (प्रावताम्) रक्षा आदि करो, यह (त्वा) §तुम को उपदेश देता हूं ॥३५॥

भावार्थः—विवाह करके स्त्रीपुरुष दोनों आपस में प्रीति के साथ विद्वान् होकर $पुरुषार्थ से धनवान् श्रेष्ठगुणों से युक्त होके एक दूसरे की रक्षा करते हुए धर्म्मानुकूलता से वर्त्त के सन्तानों को उत्पन्न कर इस संसार में नित्य क्रीड़ा करें ॥३५॥

अग्ने युक्ष्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अथ शत्रुविजयः कथं कर्त्तव्य इत्याह ॥

अग्ने॑ यु॒क्ष्वा हि ये तवाश्वा॑सो देव सा॒धवः॑ ।
अरं॒ वह॑न्ति म॒न्यवे॑ ॥३६॥

अग्ने॑ । यु॒क्ष्व । हि । ये । तव॑ । अश्वा॑सः । दे॒व॒ । सा॒धवः॑ ॥ अर॑म् । वह॑न्ति । म॒न्यवे॑ ॥३६॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (युक्ष्व) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३४] इति दीर्घः, विकरणस्य लुक् च (हि) खलु (*ये) (तव) (अश्वासः) सुशिक्षितास्तुरङ्गाः (देव) दिव्यविद्यायुक्त (साधवः) अभीष्टं साध्नुवन्तः (अरम्) अलम् (वहन्ति) रथादीनि यानानि प्रापयन्ति (मन्यवे) शत्रूणामुपरि क्रोधाय। [अयं मन्त्रः श० ७।५।१।३३ व्याख्यातः] ॥३६॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(युक्ष्व) युजिर् योगे (रुधा० उ०) लोण्मध्यमैकवचने 'थास्'। तस्य थासः से (अ० ३।४।८०) इति 'से' आदेशे सवाभ्यां वामौ (अ० ३।४।९१) इति वकारादेशे रुधादिभ्य श्नम् (अ० ३।१।७८) इति 'श्नम्'। तस्य बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इति लुक् (द्र० ऋग्भाष्य १।९२।१५)। यद्वा—श्नसोर-ल्लोपः (अ० ६।४।१११) इत्यकारलोपे छान्दसो वर्णलोपो वा (अ० ८।२।२५ भा०

§ 'तुम को उपदेश देता हूं' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति, भिन्नपदार्थत्वात्। स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

$ संस्कृतानुसारं तु 'वसन्त में पुरुषार्थ से' इति स्यात् ॥

* (ये) इति पदं ककोशे सन्नपि गकोशे प्रमादेन त्यक्तम् इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे देवाऽग्ने ! ये तव साधवोऽश्वासो मन्यवेऽरं वहन्ति, तान् हि त्वं युक्ष्व ॥३६॥

भावार्थः—राजमनुष्यैर्वसन्ते प्रथममश्वान् सुशिक्ष्य सारथींश्च रथेषु नियोज्य शत्रुविजयाय गन्तव्यम् ॥३६॥

अब शत्रुओं को कैसे जीतना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (देव) श्रेष्ठविद्या वाले (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् ! (ये) जो (तव) आपके (साधवः) अभीष्ट साधने वाले (अश्वासः) शिक्षित घोड़े (मन्यवे) शत्रुओं के ऊपर क्रोध के लिये (अरम्) सामर्थ्य के साथ (वहन्ति) रथ आदि यानों को पहुंचाते हैं, उन को (हि) निश्चय कर के (युक्ष्व) संयुक्त कीजिये ॥३६॥

भावार्थः—राजादि मनुष्यों को चाहिए कि वसन्त ऋतु में पहिले घोड़ों को शिक्षा दे और रथियों को रथों पर नियुक्त कर के शत्रुओं के जीतने के लिए यात्रा करें ॥३६॥

युक्ष्वा हीत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ राजपुरुषकृत्यमाह ॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२ऽ अश्वाँ२ऽ अग्ने रथीरिव ।
नि होता पूर्व्यः सदः ॥३७॥

युक्ष्व । हि । देवहूतमानिति देवऽहूतमान् । अश्वान् । अग्ने । रथीरिवेति रथीःऽइव ॥ नि । होता । पूर्व्यः । सदः ॥३७॥

वा०) इति वचनाद् नलोपः (द्र० ऋग्भाष्य १।१०।३)। द्व्यचोऽतस्तिङः (अ० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। **आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्** (अ० ८।१।७२) इत्यविद्यमानवद्भावादिह निघाताभावः। तस्माद् यदा श्नमो लुक् तदा सति शिष्टत्वात् थास्स्वरेणान्तोदात्तः। यदा श्नमो लुगभावस्तदा अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सति श्नमोऽकारस्योदात्तत्वेऽल्लोपे **अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः** (अ० ६।१।१६१) इति 'स्व' उदात्तः ॥

(अश्वासः) अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १।१५१) इति 'क्वन्'। निस्वादाद्युदात्तत्वम् । **आज्जसेरसुक्** (अ० ७।१।५०) इत्यसुक् ॥

(साधवः) पूर्वं साधुकर्मा (य० ८।४५) इत्यत्र व्याख्यातः ॥

(अरम्) अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु इत्यस्माद् 'अच्'। अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । **बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रमापद्यते** (अ० ८।२।१८ भा० वा०) इति 'रेफः' ॥

(मन्यवे) पूर्वं (य० २।३८) व्याख्यातः ॥३६॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

पदार्थः—(युक्ष्व) अत्रापि दीर्घः (हि) किल (देवहूतमान्) देवैर्विद्वद्भिः *स्पर्द्धितान् (अश्वान्) (अग्ने) (रथीरिव) यथा शत्रुभिः सह $बहुरथादिसेनाङ्गवान् योद्धा युध्यति तथा (नि) नितराम् (होता) दाता (पूर्व्यः) पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतशिक्षः (सदः) सीद । अत्र §लुङ्यडभावः । [अयं मन्त्रः श० ७।५।१।३३ व्याख्यातः] ।।३७।।

अन्वयः—हे अग्ने ! पूर्व्यो होता त्वं देवहूतमानश्वान् रथीरिव युक्ष्व, हि न्यायासने निषदः ।।३७।।

भावार्थः—सेनापत्यादिराजपुरुषैर्महारथिवदश्वादीनि सेनाङ्गानि कार्य्येषु संयोजनीयानि, सभापत्यादयो न्यायासने स्थित्वा धर्म्यं न्यायमाचरन्तु ।।३७।।

अब राजपुरुषों को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (पूर्व्यः) पूर्व विद्वानों से शिक्षा को प्राप्त (होता) दानशील आप (देवहूतमान्) विद्वानों से स्पर्द्धा वा शिक्षा किये (अश्वान्) घोड़ों को (रथीरिव) शत्रुओं के साथ बहुत रथादि सेना अंगयुक्त योद्धा के समान (युक्ष्व) युक्त कीजिये, (हि) निश्चय करके न्यायासन पर (निषदः) निरन्तर स्थित हूजिये ।।३७।।

भावार्थः—सेनापति आदि राजपुरुषों को चाहिये कि बड़े सेना के अङ्गयुक्त रथ वाले के समान घोड़े आदि सेना के अवयवों को कार्यों में संयुक्त करें, और सभापति आदि को चाहिये कि न्यायासन पर बैठ कर धर्मयुक्त न्याय किया करें ।।३७।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(देवहूतमान्) पूर्वं (य० १।८) व्याख्यातः ।।

(रथीरिव) छन्दसि ईवनिपौ च वक्तव्यौ (अ० ५।२।१०९ भा० वा०) इति 'ईः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । 'ईर्' इति रेफान्तः प्रत्यय इति महीधरः । तच्चिन्त्यम्, वार्त्तिके ईकारस्यैव श्रवणात् । इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।१।४ भा० वा०) इति समासः ।।

(पूर्व्यः) पूर्वं (य० ११।५) व्याख्यातः ।।३७।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

---

* 'स्पर्द्धितान् सुशिक्षितान्' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः स्यात् ।।

$ 'बहुरथादिसेनाङ्गवान्' इति पाठः ककोशे नास्ति, तथैव भाषापदार्थेऽपि, स च गकोशे प्रवर्द्धितः स्यात् ।।

§ 'अत्र लङ्यडभावः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'लुङ्यडभावः' इति ककोशे पाठः ।।

सम्यक् स्रवन्तीत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैः किं भूत्वा वाग् धार्य्येत्याह ॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽ अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
घृतस्य धाराऽ अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्येऽ अग्नेः ॥३८॥

सम्यक् । स्रवन्ति । सरितः । न । धेनाः । अन्तः । हृदा । मनसा । पूयमानाः ॥ घृतस्य । धाराः । अभि । चाकशीमि । हिरण्ययः । वेतसः । मध्ये । अग्नेः ॥३८॥

पदार्थः—(सम्यक्) (स्रवन्ति) गच्छन्ति (सरितः) नद्यः । सरित इति नदीनामसु पठितम् । निघ० १।१३ (न) इव (धेनाः) वाचः । धेना इति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १।११ (अन्तः) आभ्यन्तरे (हृदा) हृदयेन (मनसा) विज्ञानवता चित्तेन (पूयमानाः) पवित्राः (घृतस्य) उदकस्य (धाराः) (अभि) आभिमुख्ये (चाकशीमि) भृशं प्राप्नोमि (हिरण्ययः) यशस्वी (वेतसः) वेगवत्यः । अत्र वीधातोर्बाहुलकादौणादिकस्तसिः प्रत्ययः (मध्ये) (अग्नेः) विद्युतः । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।११ व्याख्यातः]॥३८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽग्नेर्मध्ये *हिरण्यय इव वर्त्तमानोऽहं या घृतस्य वेतसो धाराः सरितो नान्तर्हृदा मनसा पूयमाना धेनाः सम्यक् स्रवन्ति, ता अभिचाकशीमि, तथा यूयमप्येताः प्राप्नुत ॥३८॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा समं विषमं चलन्त्यः शुद्धाः सत्यो नद्यः समुद्रं प्राप्य स्थिरत्वं प्राप्नुवन्ति, तथैव विद्यासुशिक्षाधर्मैः पवित्रीभूता वाण्यो निश्चलाः प्राप्तव्याः प्रापयितव्याश्च ॥३८॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सम्यक्) सम्पूर्वाद् अञ्चतेः ऋत्विग्दधृक्० (अ० ३।२।५९) इति 'क्विन्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे नित्त्वादाद्युदात्तत्वेन धात्वकार उदात्तः । समः समि (अ० ६।३।९३) इति समः समिरादेशः ॥

(सरितः) हृसृरुहियुषिभ्य इतिः (उ० १।९७) इति 'इतिः' । प्रत्ययस्वरः ॥

(धेनाः) धेट् पाने (भ्वा० प०) धेट इच्च (उ० ३।११) इति 'नः' प्रत्ययः, धातोरिकारादेशश्च । निदनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम् । धेना दधातेः (निरु० ६।१७) इति निरुक्त-वचनात् दधातेरपि बाहुलकाद् 'नः' प्रत्ययो धातोश्चेत्वं द्रष्टव्यम् ॥

(पूयमानाः) पूङ् पवने (भ्वा० आ०) कर्मणि 'शानच्' यक् च । तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे यक्स्वरः ॥

(धाराः) धारा प्रपाते (गणसूत्र ३।१।

---

* इतोऽग्रे संस्कृते भाषायां च भिन्न एव पदार्थ आसीत्, स च गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

मनुष्यों को कैसे होके वाणी धारण करनी चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (अग्नेः) बिजुली के (मध्ये) बीच में वर्त्तमान (हिरण्ययः) तेजोभाग के समान तेजस्वी कीर्त्ति चाहने और विद्या की इच्छा रखने वाला मैं, जो (घृतस्य) जल की (वेतसः) वेगवाली (धाराः) प्रवाहरूप (सरितः) नदियों के (न) समान (अन्तः) भीतर (हृदा) अन्तःकरण के (मनसा) विज्ञान रूप वाले चित्त से (पूयमानाः) पवित्र हुई (धेनाः) वाणी (सम्यक्) अच्छे प्रकार (स्रवन्ति) चलती हैं, उन को (अभिचाकशीमि) सन्मुख होकर सब के लिए शीघ्र प्रकाशित करता हूं, वैसे तुम लोग भी इन वाणियों को प्राप्त होओ ॥३८॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे अधिक वा कम चलती शुद्ध हुई नदियां समुद्र को प्राप्त होकर स्थिर होती हैं, वैसे ही विद्या शिक्षा और धर्म से पवित्र हुई निश्चल वाणी को प्राप्त होकर अन्यों को प्राप्त करावें ॥३८॥

ऋचे त्वेत्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्बृहती छन्दः।
मध्यमः स्वरः ॥

विद्वद्भ्य इतरैरपि विज्ञानं प्राप्यमित्याह ॥

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥३९॥

ऋचे। त्वा। रुचे। त्वा। भासे। त्वा। ज्योतिषे। त्वा ॥ अभूत्। इदम्। विश्वस्य। भुवनस्य। वाजिनम्। अग्नेः। वैश्वानरस्य। च ॥३९॥

पदार्थः—(ऋचे) स्तुतये (त्वा) त्वाम् (रुचे) प्रीतये (त्वा) (भासे) विज्ञानाय (त्वा) (ज्योतिषे) न्यायप्रकाशाय (त्वा) (अभूत्) भवेत् (इदम्) (विश्वस्य)

---

१०४) इत्यङि साधु। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादिषु पाठादाद्युदात्तत्वम् ॥

(चाकशीमि) कश गतिशासनयोः (अदा० प०) यङ्लुकि चङो ना (अ० ७।३।९४) इति 'ईट्'। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(हिरण्ययः) पूर्वं (य० ८।२९) व्याख्यातः ॥

(वेतसः) वेजस्तुट् च (उ० ३।११८) इत्यसच् 'तुट्' च। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। यथा तु भाष्यं तथा हलन्ताद् जसि छान्दसः स्वरः ॥३८॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

*सर्वाधिकारस्य जगतः (वाजिनम्) वाजिनां विज्ञानवतामिदमवयवभूतं विज्ञानम् (अग्नेः) विद्युदाख्यस्य (वैश्वानरस्य) अखिलेषु नरेषु राजमानस्य (च) । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।१२ व्याख्यातः] ।।३९।।

अन्वयः--हे विद्वन् ! यस्य तव विश्वस्य भुवनस्य वैश्वानरस्याग्नेश्च वाजिनमिदं विज्ञानमभूत् $जातं, [1]तमृचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा वयमाश्रयेम ।।३९।।

भावार्थः—यस्य मनुष्यस्य सर्वेषां जगत्पदार्थानां यथार्थो बोधः स्यात्, तमेव सेवित्वा पदार्थविज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैः प्राप्तव्यम् ।।३९।।

विद्वानों से अन्य मनुष्यों को भी ज्ञान लेना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।।

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष ! जिस तुझ को (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य) संसार के सब पदार्थों (च) और (वैश्वानरस्य) सम्पूर्ण मनुष्यों में शोभायमान (अग्नेः) विजुलीरूप (वाजिनम्) ज्ञानी लोगों का अवयवरूप (इदम्) यह विज्ञान (अभूत्) §प्रसिद्ध हुआ है, उस (ऋचे) स्तुति के लिए (त्वा) तुझ को, (रुचे) प्रीति के वास्ते (त्वा) तुझ को, (भासे) विज्ञान की प्राप्ति के अर्थ (त्वा) तुझ को, और (ज्योतिषे) न्याय के प्रकाश के लिये भी (त्वा) तुझ को हम लोग आश्रय करते हैं ।।३९।।

भावार्थः—जिस मनुष्य को जगत् के पदार्थों का यथार्थ बोध होवे, उसी के सेवन से सब मनुष्य पदार्थविद्या को प्राप्त होवें ।।३९।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ऋचे) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तिरुदात्ता ।।

(अभूत्) पादादित्वान्निघाताभावः । अडुदात्तः (अ० ६।४।७१) इति वचनादट्-स्वरः ।।

(वाजिनम्) वज गतौ (भ्वा० प०) भावे करणे वा 'घञ्' । वाजो विज्ञानम् । अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति मत्वर्थीय 'इनिः' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो 'वाजिन्' शब्दः । तस्यावयव इति विवक्षायाम् **अनुदात्तादेश्च** (अ० ४।३।१४०) इत्यञ् । ञित्वादाद्युदात्त-त्वम् । **नस्तद्धिते** (अ० ६।४।१४४) इति प्राप्ते टिलोपाभावः छान्दसः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

१. पूर्वं 'यस्य' इति वर्त्तमानात् 'तम्' इति ध्येयम् ।।३९।।

---

* 'समग्रस्य भुवनस्य' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् । तथैव च भाषायामपि ।।

$ 'जातमस्ति' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

§ 'प्रसिद्ध है' इति तु कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ।।

अग्निर्ज्योतिषेत्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते॥

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान् रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान्।
स॒ह॒स्र॒दाऽ अ॑सि स॒ह॒स्राय॑ त्वा॥४०॥

अ॒ग्निः। ज्योति॑षा। ज्योति॑ष्मान्। रु॒क्मः। वर्च॑सा। वर्च॑स्वान्॥ स॒ह॒स्र॒दा इति॑ सहस्र॒ऽदाः। अ॒सि॒। स॒ह॒स्राय॑। त्वा॥४०॥

पदार्थः—(अग्निः) पावकः (ज्योतिषा) दीप्त्या (ज्योतिष्मान्) प्रशस्तप्रकाशयुक्तः (*रुक्मः) सुवर्णमिव (वर्चसा) विद्यादीप्त्या (वर्चस्वान्) विद्याविज्ञानवान् (सहस्रदाः) सहस्रमसंख्यं सुखं ददातीति (असि) (सहस्राय) अतुलविज्ञानाय (त्वा) त्वाम्। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।१२ व्याख्यातः]॥४०॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यस्त्वं ज्योतिषा ज्योतिष्मानग्निरिव वर्चसा वर्चस्वान् रुक्म इव सहस्रदा असि, तं त्वा सहस्राय वयं †सत्कुर्याम॥४०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैर्योऽग्निसूर्यविद्यया प्रकाशमानो विद्वान् भवेत्, तस्मादधीत्य पुष्कला विद्याः स्वीकार्याः॥४०॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष! जो आप (ज्योतिषा) विद्या के प्रकाश से (अग्निः) अग्नि के तुल्य (ज्योतिष्मान्) प्रशंसित प्रकाशयुक्त, (वर्चसा) अपने तेज से (वर्चस्वान्) ज्ञान देने वाले, और (रुक्मः) जैसे सुवर्ण सुख देवे वैसे [(सहस्रदाः)] असंख्य सुख के देने वाले (असि) हैं, उन (त्वा) आप का (सहस्राय) अतुल विज्ञान की प्राप्ति के लिए हम लोग सत्कार करें॥४०॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ज्योतिष्मान्) ज्योतिः पदं पूर्वं (य० २।६) व्याख्यातः। ततो 'मतुप्'। तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः॥

(रुक्मः) पूर्वं (य० १२।१) व्याख्यातः॥

(सहस्रदाः) सहस्रोपपदाद् ददातेः 'विच्'। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥४०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

---

* '(रुक्मः) दीप्तिमान् सूर्यः (वर्चसा) स्वप्रकाशेन (वर्चस्वान्) बहुप्रकाशयुक्तः' इति ककोशे पाठः, गकोशे नास्त्येव। मुद्रणे संशोधितः पूरितो वा स्यात्। तथैव भाषापदार्थेऽपीति ध्येयम्॥

† 'सत्कुर्यामि' इत्यजमेरमुद्रिते तृतीयसंस्करणे पाठः। प्रथमसंस्करणे कगकोशयोश्च शुद्धः पाठः॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो अग्नि और सूर्य्य के समान विद्या से प्रकाशमान विद्वान् पुरुष हों, उन से विद्या पढ़ के पूर्ण विद्या के ग्राहक होवें ॥४०॥

आदित्यं गर्भमित्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्ते किं कुर्य्यु रित्याह॥

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्ग्धि हरसा माभिमंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥४१॥

आदित्यम्। गर्भम्। पयसा। सम्। अङ्ग्धि। सहस्रस्य। प्रतिमामिति प्रतिऽमाम्। विश्वरूपमिति विश्वऽरूपम्॥ परि। वृङ्ग्धि। हरसा। मा। अभि। मंस्थाः। शतायुषमिति शतऽआयुषम्। कृणुहि। चीयमानः॥४१॥

पदार्थः—(आदित्यम्) सूर्यम् (गर्भम्) स्तुतिविषयम् (पयसा) जलेनेव (सम्) (अङ्ग्धि) शोधय (सहस्रस्य) असंख्यपदार्थसमूहस्य (प्रतिमाम्) [1]प्रतीयन्ते सर्वे पदार्था यया ताम् (विश्वरूपम्) सर्वरूपवत्पदार्थदर्शकम् (परि) सर्वतः (वृङ्ग्धि) वर्जय (हरसा) ज्वलितेन तेजसा। हर इति ज्वलतो नामसु पठितम्। निघ० १।१७ (मा) (अभि) (मंस्थाः) मन्येथाः (शतायुषम्) शतवर्षपरिमितजीवनम् (कृणुहि) (चीयमानः) वृध्यमानः*। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।१७ व्याख्यातः]॥४१॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं यथा विद्युत्पयसा सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपं गर्भमादित्यं धरति, तथान्तःकरणं समङ्ग्धि, हरसा रोगान् परिवृङ्ग्धि, चीयमानः सन् शतायुषं तनयं कृणुहि, कदाचिन्माऽभिमंस्थाः॥४१॥

भावार्थः—हे स्त्रीपुरुषाः! यूयं सुगन्ध्यादिहोमेन सूर्यप्रकाशं जलं वायुञ्च शोधयित्वा अरोगा भूत्वा शतायुषस्तनयान् कुरुत। यथा विद्युन्निर्मितेन सूर्य्येण रूपवतां पदार्थानां दर्शनं परिमाणं च भवति, तथा विद्यावन्त्यपत्यानि भवन्ति, तस्मात् कदाचिदभिमानिनो भूत्वा प्रमादेन विद्याया आयुषश्च विनाशं मा कुरुत॥४१॥

---

१. कदाचिदत्र 'प्रतिमीयन्ते' इति शुद्धः पाठः स्यात्॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रतिमाम्) प्रतिपूर्वात् माङ् माने (जु० आ०) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३।४।७४) इति 'विच्'। गतिकारकोपपदात् कृत (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(विश्वरूपम्) पूर्वं (य० ६।१६) व्याख्यातः॥

(हरसा) हृञ् हरणे (भ्वा० उ०) सर्व-

---

* 'वर्ध्यमानः' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः॥

फिर वे विद्वान् स्त्रीपुरुष क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष ! आप जैसे बिजुली (पयसा) जल के (सहस्रस्य) असंख्य पदार्थों की (प्रतिमाम्) परिमाण करनेहारे सूर्य्य के समान निश्चय करनेहारी बुद्धि और (विश्वरूपम्) सब रूप विषय को दिखाने हारे (गर्भम्) स्तुति के योग्य (आदित्यम्) सूर्य्य को धारण करती है, वैसे अन्तःकरण को (समङ्धि) अच्छे प्रकार शोधिये। (हरसा) प्रज्वलित तेज से रोगों को (परि) सब ओर से (वृङ्धि) हटाइये, और (चीयमानः) वृद्धि को प्राप्त होके (शतायुषम्) सौ वर्ष की अवस्था वाले सन्तान को (कृणुहि) कीजिये, और कभी (मा) मत (अभिमंस्थाः) अभिमान कीजिए ॥४१॥

भावार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम लोग सुगन्धित पदार्थों के होम से सूर्य्य के प्रकाश जल और वायु को शुद्ध कर और रोगरहित होकर सौ वर्ष जीने वाले संतानों को उत्पन्न करो। जैसे †विद्युत् अग्नि से बनाए हुए सूर्य्य से रूप वाले पदार्थों का दर्शन और परिमाण होता है, वैसे विद्या वाले सन्तान सुख दिखाने हारे होते हैं, इस से कभी अभिमानी होके विषयासक्ति से विद्या और आयु का विनाश मत किया करो ॥४१॥

वातस्य जूतिमित्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः।
धैवतः स्वरः॥

पुनस्तेन किं कार्य्यमित्याह॥

वात॑स्य जू॒तिं वरु॑णस्य॒ नाभि॒मश्वं॑ जज्ञा॒नꣳ स॑रि॒रस्य॒ मध्ये॑।
शिशुं॑ न॒दीना॒ꣳ हरि॒मद्रि॑बुध्न॒मग्ने॒ मा हि॑ꣳसीः पर॒मे व्यो॑मन् ॥४२॥

वात॑स्य। जू॒तिम्। वरु॑णस्य। नाभि॑म्। अश्व॑म्। ज॒ज्ञा॒नम्। स॒रि॒रस्य॑। मध्ये॑ ॥ शिशु॑म्। न॒दीना॑म्। हरि॑म्। अद्रि॑बुध्न॒मित्यद्रि॑ बुध्नम्। अग्ने॑। मा। हि॒ꣳसीः। प॒र॒मे। व्यो॑म॒न्निति॒ विऽओ॑मन् ॥४२॥

पदार्थः—(वातस्य) वायोः (जूतिम्) वेगम् (वरुणस्य) जलसमूहस्य (नाभिम्) बन्धनम् (अश्वम्) व्याप्तुं शीलम् (जज्ञानम्) प्रादुर्भूतम् (सरिरस्य) सलिलस्योदकस्य।

धातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुन्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(शतायुषम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। शतशब्दोऽन्तोदात्तः पूर्वं (य० १।३) व्याख्यातः॥

(चीयमानः) यकि अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे यक्स्वरः ॥४१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वातस्य) वा गतिगन्धनयोः (अदा०

---

† 'विद्युत् अग्नि से बनाये हुये' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति। मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात्॥

सलिलमित्युदकनामसु पठितम् । निघ० १।१२ । कपिलकादित्वाद्रेफः (मध्ये) (शिशुम्) बालकम् (नदीनाम्) (हरिम्) हरमाणम् (अद्रिबुध्नम्) मेघाकाशम् (अग्ने) *पावकवद्वर्त्तमान (मा) (हिंसीः) (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि व्याप्ते आकाशे । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।१८ व्याख्यातः] ॥४२॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वँस्त्वं परमे व्योमन् वातस्य मध्ये जूतिमश्वं सरिरस्य वरुणस्य नाभिं नदीनां जज्ञानं शिशुं बालमिव वर्त्तमानं हरिमद्रिबुध्न मा हिंसीः ॥४२॥

$अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैः प्रमादेनावकाशे वर्त्तमानं वायुवेगं वृष्टिप्रबन्धं मेघमहत्वा जीवनं वर्धनीयम् ॥४२॥

फिर विद्वान् पुरुष को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्विन् विद्वन् ! आप (परमे व्योमन्) सर्वव्याप्त उत्तम आकाश में (वातस्य) वायु के (मध्ये) मध्य में (जूतिम्) वेगरूप (अश्वम्) अश्व को (सरिरस्य) जलमय (वरुणस्य) उत्तम समुद्र के (नाभिम्) बन्धन को और (नदीनाम्)

प०) अस्माद् हसिमृग्रिणवामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३।८६) इति 'तन्'। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(जूतिम्) पूर्वं (य० २।१३) व्याख्यातः ॥

(नाभिम्) पूर्वं (य० १।११) व्याख्यातः ॥

(सरिरस्य) सल गतौ (भ्वा० प०) सलिकल्यनि० (उ० १।५४) इति 'इलच्' प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । संज्ञाछन्दसोर्वा कपिकल्कादीनाम् (अ० ८।२।१८ भा० वा०) इति रेफादेशः ॥

(शिशुम्) शो तनूकरणे (दि० प०) शः कित्सन्वच्च (उ० १।२०) 'इत्युः' । सन्वद्भावात द्वित्वमभ्यासस्येत्वं च । कित्त्वादाकारलोपत । निदनुवर्तनादाद्युदात्तत्वम् ॥

(हरिम्) पूर्वं (य० ३।५१) व्याख्यातः॥

(अद्रिबुध्नम्) बहुव्रीहिसमासे **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । अद्रिशब्द आद्युदात्तो व्याख्यातः (य० १।१४) । यद्वा—'अद्रौ बुध्न' इति तत्पुरुषः, तत्र च तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(व्योमन्) नामन्सीमन्व्योमन्० (उ० ४।१५१) इत्यत्र मनिनन्तो निपातितः । अत्र प्रायेण सर्वेऽपि वृत्तिकारा व्येञ् संवरणे इत्यस्माद् मनिनि अकारस्य ओत्वं धात्वन्तलोपञ्च निपातयन्ति । श्वेतवनवासिनो वृत्तेरेकस्मिन् हस्तलेखे 'अव रक्षणे विपूर्वस्य ओकारो निपात्यते [इमनिचः] प्रत्ययादिलोपश्च मे' इत्येवं

* '(अग्ने) पावकवद्वर्त्तमान' इति गकोशे पाठः, ककोशे तु नास्ति । गकोशे परिवर्द्धितः । गकोशे पाठोऽप्यशुद्धोऽभिप्रायानवगमात् ॥

$ '(अत्र) वाचकलुप्तोपमालङ्कारः' अन्वये संगच्छेत, तत्र 'शिशुं बालमिव' इति वर्णनात् । तथैव भाषापदार्थेऽपि ॥

नदियों के प्रभाव से (जज्ञानम्) प्रकट हुए (शिशुम्) बालक के तुल्य वर्त्तमान (हरिम्§) नीलवर्णयुक्त (अद्रिबुध्नम्) सूक्ष्म मेघ को (मा) मत (हिंसीः) नष्ट कीजिए ॥४२॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिए कि प्रमाद को छोड़ के आकाश में वर्त्तमान वायु के वेग और वर्षा के प्रबन्धरूप मेघ का विनाश न करके अपनी अपनी अवस्था को बढ़ावें ॥४२

अजस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरयं किं कुर्यादित्याह ॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥४३॥

अजस्रम्। इन्दुम्। अरुषम्। भुरण्युम्। अग्निम्। ईडे। पूर्वचितिमिति पूर्वऽचितिम्$। नमोभिरिति नमःऽभिः॥ सः। पर्वभिरिति पर्वऽभिः। ऋतुश इत्यृतुऽशः। कल्पमानः। गाम्। मा। हिंसीः। अदितिम्। विराजमिति विऽराजम् ॥४३॥

पदार्थः—(अजस्रम्) निरन्तरम् (इन्दुम्) जलम् [इन्दुः, इति जलनामसु पठितम् निघ० १।१२] (अरुषम्) अश्वम् [अरुषमित्यश्वनामसु पठितम्। निघ० १।१४] (भुरण्युम्) पोषकम्। अत्र भुरणधातोर्युः प्रत्ययः (अग्निम्) विद्युतम् (ईडे) अध्यन्विच्छामि (पूर्वचितिम्) पूर्वा चितिश्चयनं यस्य तम् (नमोभिः) अन्नैः (सः) (पर्वभिः) पूर्णैः साधनाङ्गैः (ऋतुशः) *बहूनृतून् (कल्पमानः) समर्थः सन् (गाम्)

पाठो दृश्यते। वस्तुतस्त्वस्मिन् सूत्रे 'व्योमन् व्यवने' (निरु० ११।४०) इति निरुक्तवचनाद् विपूर्वाद् अवधातोर्मनिनि ज्वरत्वर० (अ० ६।४।२०) इत्युभयोर्वकारोपधयोरूठ्। गुणे यणादेशे 'व्योमन्' इति रूपम्। अत्र गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३६) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते निपातनादेव पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इत्योकारः स्वरितः॥

यत्तु सायणेन ऋ० १।५२।१२ भाष्ये अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३।२।७५) इति 'मनिन्'। दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमुक्तं तदुक्तोणादिसूत्रविस्मरणमूलकम् ॥४२

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अजस्रम्) (इन्दुम्) (अरुषम्) अजस्रम् (य० ११।२८) इन्दुम् (य० ७।८) अरुषम्

§ संस्कृतानुसारं तु—'(हरिम्) हरण करने वाले को' इति स्यात् ॥

* 'बहूनृतून्' इत्यजमेरमुद्रिते कणकोशयोश्च पाठः। प्रकृतव्याख्यानुसारं तु 'अन्यृतु' इत्येव साधीयान् स्यात् भाषापदार्थोऽप्यत्रैवानुकूलः॥

$ मन्त्रपाठ में पूर्वचित्ति ही पाठ है। ग्रन्थकार ने पदपाठ और पदार्थ आदि में 'पूर्वचितिम्' पाठ माना है। इस पाठभेद के लिये वेबर सम्पादित महीधरभाष्य द्रष्टव्य है॥

पृथिवीम् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (अदितिम्) अखण्डिताम् (विराजम्) विविधैः पदार्थैं राजमानाम्। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।१६ व्याख्यातः] ॥४३॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यथाहं पर्वभिर्नमोभिः सह वर्त्तमानमिन्दुमरुषं भुरण्युं पूर्वचितिमग्निमजस्रमीडे, तमृतुशः कल्पमानः सन्नदितिं विराजं गां न नाशयामि, तथैव स त्वमेतमेनां च मा हिंसीः ॥४३॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।]

भावार्थः—मनुष्यैर्ऋत्वनुकूलतया क्रिययाऽग्निर्जलमन्नं† च संसेव्य राजभूमिः सदैव रक्षणीया, यतः सर्वाणि सुखानि स्युः ॥४३॥

फिर वह विद्वान् क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष! जैसे मैं (पर्वभिः) पूर्ण साधनयुक्त (नमोभिः) अन्नों के साथ वर्त्तमान (इन्दुम्) जलरूप (अरुषम्) घोड़े के सदृश (भुरण्युम्) पोषण करने वाली (पूर्वचितिम्) प्रथम निर्मित (अग्निम्) बिजुली को (अजस्रम्) निरन्तर (ईडे) अधिकता से खोजता हूं, उस को (ऋतुशः) प्रति ऋतु में (कल्पमानः) समर्थ होके करता हुआ (अदितिम्) अखण्डित (विराजम्) विविध प्रकार के पदार्थों से शोभायमान (गाम्) पृथिवी को नष्ट नहीं करता हूं, वैसे ही (सः) सो आप इस अग्नि और पृथिवी को (मा) मत (हिंसीः) नष्ट कीजिए ॥४३॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।]

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि ऋतुओं के अनुकूल क्रिया से अग्नि जल और अन्न का सेवन करके राज्य और पृथिवी की सदैव रक्षा करें, जिस से सब सुख प्राप्त होवें ॥४३॥

(य० ११।३७) इत्येते पूर्वं व्याख्याताः ॥

(**भुरण्युम्**) भुरण धारणपोषणयोः (कण्ड्वा०) अस्मात् **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (अ० ३।१।२७) इति 'यक्'। **सनाद्यन्ता धातवः** (अ० ३।१।३२) इति धातुसंज्ञायां बाहुलकादौणादिक 'उः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(**पूर्वचितिम्**) चयनं चितिः। भावे 'क्तिन्'। बहुव्रीहिसमासे **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पूर्वशब्दोऽन्तोदात्तः पूर्वं (य० ८।४६) व्याख्यातः ॥

(पर्वभिः) **स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्** (उ० ४।११३) इति 'वनिप्', गुणः। प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(ऋतुशः) **संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्** (अ० ५।४।४३) इति 'शस्'। प्रत्ययस्वरः ॥

(कल्पमानः) **कृपू सामर्थ्ये** (भ्वा० आ०) लटः शानच्, 'शप्'। **पुगन्तलघूपधस्य च** (अ० ७।३।८६) इति गुणः। **कृपो रो लः** (अ० ८।२।१८) इति लत्वम्। **तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशात्०** (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥४३॥

॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

---

† '...जलमन्तम्' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। '...जलमन्नम्' इति उभयोः कगकोशयोः शुद्धः पाठः ॥

वरूत्रीमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तेन किं न कार्य्यमित्याह ॥

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाᳬं रजसः परस्मात् ।
महीᳬं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिᳬंसीः परमे व्योमन् ॥४४॥

वरूत्रीम् । त्वष्टुः । वरुणस्य । नाभिम् । अविम् । जज्ञानाम् । रजसः । परस्मात् ॥ महीम् । साहस्रीम् । असुरस्य । मायाम् । अग्ने । मा । हिᳬंसीः । परमे । व्योमन्निति विऽओमन् ॥४४॥

पदार्थः—(वरूत्रीम्) [1]वरयित्रीम् (त्वष्टुः) छेदकस्य सूर्य्यस्य (वरुणस्य) जलस्य (नाभिम्) बन्धिकाम् (अविम्) रक्षणादिनिमित्ताम् (जज्ञानाम्) प्रजाताम् (रजसः) लोकात् (परस्मात्) श्रेष्ठात् (महीम्) महतीं भूमिम् (साहस्रीम्) असंख्यातां बहुफलप्रदाम् (असुरस्य) मेघस्य (मायाम्) प्रज्ञापिकां *विद्युतम् (अग्ने) विद्वन् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) आकाशवद् व्याप्ते ब्रह्मणि । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।२० व्याख्यातः] ॥४४॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं त्वष्टुर्वरूत्रीं वरुणस्य नाभिं परस्माद्रजसो जज्ञानामसुरस्य मायां साहस्रामविं परमे व्योमन्वर्त्तमानां महीं मा हिंसीः ॥४४॥

---

१. आकर्षणसम्बन्धेनेति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वरूत्रीम्) पूर्वं (य० ११।६१) व्याख्यातः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र वृणोतिरित्येतावान् विशेषः ॥

(अविम्) अवते रक्षणाद्यर्थाद् इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४।११८) इति 'इन्' । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(जज्ञानाम्) पूर्वं (य० १२।६) व्याख्यातः ॥

(परस्मात्) पॄ पालनपूरणयोः (जु०प०) पचाद्यचि चित्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । यद्वा—ऋदोरप् (अ० ३।३।५७) इत्यपि धातुस्वरः । ततो विभक्तिरनुदात्ता । वेदे 'पर' शब्दोऽन्तोदात्त आद्युदात्तश्चोभयथाऽप्युपलभ्यते ॥

(साहस्रीम्) तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण्, प्रत्ययस्वरः । स्त्रियां टिड्ढाणञ्० (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्' । यस्येति च (अ० ६।४।१४८) इत्यकारलोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इति ङीप उदात्तत्वम् ॥

(माया) पूर्वं (य० ११।६९) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'विद्युतम्' इति ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित इति । अत्र चेदिदं पदं न भवेत्, तदा सर्वोऽपि मन्त्रः पृथिवीपरः सत्यग्व्याख्यातः स्यात् ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्येयं पृथिवी परस्मात्कारणाज्जाता, सूर्य्याकर्षणसम्बन्धिनी, जलाधारा, मेघनिमित्ता∫, असंख्यसुखप्रदा परमेश्वरेण निर्मिताऽस्ति, तां[1] गुणकर्मस्वभावतो विज्ञाय [सा] सुखाय समुपयोक्तव्या ॥४४॥

फिर उस विद्वान् को क्या नहीं करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! आप (त्वष्टुः) छेदनकर्त्ता सूर्य्य के (वरूत्रीम्) §ग्रहण करने योग्य (वरुणस्य) जल की (नाभिम्) रोकनेहारी, (परस्मात्) श्रेष्ठ (रजसः) लोक से (जज्ञानाम्) उत्पन्न हुई, (असुरस्य) मेघ की (मायाम्) जताने वाली बिजुली को, और (साहस्रीम्$) बहुत फल देने हारी, (अविम्) रक्षा आदि का निमित्त, (परमे) सब से उत्तम (व्योमन्) आकाश के समान व्याप्त जगदीश्वर में वर्त्तमान (महीम्) विस्तारयुक्त पृथिवी को (मा) मत (हिंसीः) नष्ट कीजिए ॥४४॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिए कि जो यह पृथिवी उत्तम कारण से उत्पन्न हुई, सूर्य्य जिसका आकर्षणकर्त्ता, जल का आधार, मेघ का निमित्त, असंख्य सुख देनेहारी परमेश्वर ने रची है, उसको गुण कर्म और स्वभाव से जान के सुख के लिए उपयुक्त करें ॥४४॥

योऽअग्निरित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनरनेन किं कार्यमित्याह ॥

योऽ अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्याऽ उत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥४५॥

यः । अग्निः । अग्नेः । अधि । अजायत । शोकात् । पृथिव्याः । उत । वा । दिवः । परि ॥ येन । प्रजा इति प्रऽजाः । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । जजान । तम् । अग्ने । हेडः । परि । ते । वृणक्तु ॥४५॥

पदार्थः—(यः) (अग्निः) चाक्षुषः (अग्नेः) विद्युदाख्यात् (अधि) (अजायत) जायते (शोकात्) [2]शोषकात् (पृथिव्याः) (उत) (वा) (दिवः) सूर्यात् (परि) सर्वतः

१. 'तां विज्ञाय' इति सम्बन्धोऽत्रावगन्तव्यः ॥४४॥

२. पूर्वापरसम्बन्धेन भाष्यकारेण अग्निविशेषणमिति व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अधि) नायं गतिसंज्ञः । किं तर्हि ? अधिपरी अनर्थकौ (अ० १।४।९३) इति कर्म-

∫ इतोऽग्रे 'बहुभूगोलाकाराऽसंख्यसुखप्रदा' इति गकोशे अजमेरमुद्रिते च पाठः । ककोशे तु 'बहुभूगोलाकारा' इति नास्ति, प्रकरणे च नाञ्जसा समन्वेति ॥

§ 'ग्रहण करने वाली' इति तु संस्कृतानुसारी स्यात् ॥

$ इतोऽग्रे 'असंख्यभूगोलयुक्त' इति गकोशे अजमेरमुद्रिते च पाठः, ककोशे तु नास्ति । अनावश्यकं चैतत् ॥

(येन) (प्रजाः) (विश्वकर्मा) विश्वानि कर्माणि यस्य सः (जजान) जनयति (तम्) (अग्ने) विद्वन् (हेडः) अनादरः (परि) (ते) तव (वृणक्तु) *छिन्नो भवतु। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।२१ व्याख्यातः] ।।४५।।

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ! यः पृथिव्याः शोकादुत वा दिवोऽग्नेरग्निरध्यजायत, येन विश्वकर्मा प्रजाः परिजजान, तं ते हेडः परिवृणक्तु ।।४५।।

भावार्थः—हे विद्वांसः ! यूयं योऽग्निः पृथिवीं भित्त्वोत्पद्यते यश्च सूर्यादेः, तस्माद्विघ्नकारिणोऽग्नेः सर्वान् प्राणिनः पृथग्रक्षत । येनाग्निनेश्वरः सर्वान् रक्षति, तद्विद्यां विजानीत ।।४५।।

फिर इस विद्वान् को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् जन ! (यः) जो (पृथिव्याः) पृथिवी के (शोकात्) सुखाने हारे अग्नि (उत वा) अथवा (दिवः) सूर्य्य से (अग्नेः) बिजुलीरूप अग्नि से (अग्निः) प्रत्यक्ष अग्नि (अध्यजायत) उत्पन्न होता है, (येन) जिस से (विश्वकर्म्मा) सब कर्मों का आधार ईश्वर (प्रजाः) प्रजाओं को (परि) सब ओर से (जजान) रचता है, (तम्) उस अग्नि को (ते) तेरा (हेडः) क्रोध (परिवृणक्तु) सब प्रकार से (छेदन) करे ।।४५।।

भावार्थः—हे विद्वानो ! तुम लोग जो अग्नि पृथिवी को फोड़ के और जो सूर्य्य के प्रकाश से बिजुली निकलती है, उस विघ्नकारी अग्नि से सब प्राणियों को रक्षित रक्खो। और जिस अग्नि से ईश्वर सब की रक्षा करता है, उस अग्नि की विद्या जानो ।।४५।।

प्रवचनीयसंज्ञः। तथा च उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ भा० वा०) इति समासोऽपि न भवति। गतित्वे तु उदात्तवता 'अजायत' इति तिङन्तेन समासः स्यादेव। तदभावे पृथक् पदं पृथक् स्वरः। तत्र निपाता आद्युदात्ता (फिट्० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ।।

(अजायत) यद्वृत्तत्वान्निघाताभावेऽट्स्वरः। लडर्थे लङ् ।।

(शोकात्) शुच शोके (भ्वा० प०) भावे 'घञ्'। चजोः कु घिण्ण्यतोः (अ० ७। ३।५२) इति कुत्वम्। ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

(दिवस्परि) ऊडिदंपदाद्यप्० (अ० ६। १।१७१) इति पञ्चम्या उदात्तत्वम्। 'परि' इति निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) इत्याद्युदात्तः। पञ्चम्याः परावध्यर्थे (अ० ८। ३।५१) इति संहितायां सकारः ।।

(विश्वकर्मा) पूर्वं (य० १।४) व्याख्यातः ।।

(जजान) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१। ६६) इति निघाताभावे णलो लित्वात् लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम् ।।

(हेडः) हेडृ अनादरे (भ्वा० आ०) भावे 'घञ्'। ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।४५।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

* छिनत्तु' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः ।।

चित्रं देवानामित्यस्य विरूप ऋषिः । सूर्यो देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरः कीदृशोऽस्तीत्याह ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवीऽ अन्तरिक्षꣳ सूर्य्यऽ आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥४६॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः । आ । अप्राः । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । अन्तरिक्षम् । सूर्य्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च ॥४६॥

पदार्थः—(चित्रम्) अद्भुतम् (देवानाम्) पृथिव्यादीनां मध्ये (उत्) (अगात्) उदितोऽस्ति (अनीकम्) सेनेव किरणसमूहम् (चक्षुः) दर्शकम् (मित्रस्य) प्राणस्य (वरुणस्य) *उदानस्य (अग्नेः) प्रसिद्धस्य (आ) (अप्राः) व्याप्नोति (द्यावापृथिवी) प्रकाशाप्रकाशे जगती (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सूर्य्यः) सविता (आत्मा) सर्वस्यान्तर्यामी (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य (च)। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।२७ व्याख्यातः] ॥४६॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! भवन्तो यद् ब्रह्म देवानां चित्रमनीकं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चक्षुः सूर्य इवोदगात्, जगतस्तस्थुषश्चात्मा सद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं चाप्राः, तज्जगन्निर्मातृ पातृ संहर्तृ व्यापकं सततमुपासीरन् ॥४६॥[1]

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—न खल्विदं निष्कर्तृकमनधिष्ठातृकमनीश्वरं जगदस्ति । यद् ब्रह्म सर्वान्तर्य्यामि सर्वेषां जीवानां पापपुण्यफलदानव्यवस्थापकमनन्तज्ञानप्रकाशं वर्त्तते, तदेवोपास्य धर्मार्थकाममोक्षफलानि मनुष्यैराप्तव्यानि ॥४६॥

अब ईश्वर कैसा है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! आप लोग, जो जगदीश्वर (देवानाम्) पृथिवी आदि दिव्य पदार्थों के बीच (चित्रम्) आश्चर्यरूप (अनीकम्) सेना के समान किरणों से युक्त

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अनीकम्) पूर्वं (य० ५।३४) व्याख्यातः ॥

(अप्राः) प्रा पूरणे (अदा० प०) लुङि व्यत्ययेन मध्यमैकवचनम् । मन्त्रे घसह्वरणश० (अ० २।४।८०) इति च्लेर्लुक् । अटि तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(तस्थुषः) क्वसौ प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. मन्त्रोऽयं पूर्वं य० ७।४२ अन्वयभेदेन, ऋ० १।११५।१ च स्वल्पभेदेन व्याख्यातः ॥४६॥

---

* 'अपानस्य' इति ककोशे संस्कृते भाषापदार्थे च पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

(मित्रस्य) प्राण (वरुणस्य) उदान और (अग्नेः) प्रसिद्ध अग्नि के (चक्षुः) दिखाने वाले (सूर्य्यः) सूर्य्य के समान (उदगात्) उदय को प्राप्त हो रहा है, उस के समान (जगतः) चेतन (च) और (तस्थुषः) जड़ जगत् का (आत्मा) अन्तर्य्यामी हो के (द्यावापृथिवी) प्रकाश अप्रकाशरूप जगत् और (अन्तरिक्षम्) आकाश को (आ) अच्छे प्रकार (अप्राः) व्याप्त हो रहा है, उसी जगत् के रचने, पालन करने और संहार-प्रलय करनेहारे व्यापक ब्रह्म की निरन्तर उपासना किया करो ।।४६।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—यह जगत् ऐसा नहीं कि जिसका कर्त्ता अधिष्ठाता वा ईश्वर कोई न होवे । जो ईश्वर सब का अन्तर्य्यामी, सब जीवों के पाप पुण्यों के फलों की व्यवस्था करनेहारा, और अनन्त ज्ञान का प्रकाश करनेहारा है, उसी की उपासना से धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष के फलों को सब मनुष्य प्राप्त होवें ।।४६।।

इमं मेत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ।।

पुनर्मनुष्येण किं कार्य्यमित्याह ।।

इमं मा हिꣳसीर्द्विपादं पशुꣳ सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः ।
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ।।४७।।

इमम् । मा । हिꣳसीः । द्विपादमिति द्विऽपादम् । पशुम् । सहस्राक्ष इति सहस्रऽअक्षः । मेधाय । चीयमानः ।। मयुम् । पशुम् । मेधम् । अग्ने । जुषस्व । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद ।। मयुम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ।।४७।।

पदार्थः—(*इमम्) (मा) (हिꣳसीः) हिंस्याः (द्विपादम्) मनुष्यादिकम् (पशुम्) चतुष्पादं गवादिकम् (सहस्राक्षः) असंख्यदर्शनः (मेधाय) सुखसंगमाय (चीयमानः) वर्धमानः (मयुम्) जाङ्गलम् (पशुम्) प्रसिद्धम् (मेधम्) पवित्रकारकम् (अग्ने) पावक

* (क) अत्र ककोशे त्वित्थं पाठ उपलभ्यते—

'(इमम्)······चतुष्पाद (सहस्राक्षः) असंख्यदर्शनः (मेधाय) सुखसंगमाय (चीयमानः) (मयुम्) (पशुम्) दुःखस्य दूरे क्षेप्तारम् (मेधम) पवित्रकारकम् (अग्ने) पावक इव मनुष्यजन्मप्राप्त (जुषस्व) प्रीणीहि (तेन) (चिन्वानः) वर्धमानः (तन्वः) शरीरस्य मध्ये (नि) नितराम् (सीद) तिष्ठ (मयुम्) प्रक्षेप्तारम् (ते) तव सकाशात् (शुक्) यः पवित्रः शोचते (ऋच्छतु) प्राप्नोतु (यम्) शत्रुम् (द्विष्मः) अप्रीतयामः (तम्) (ते) (शुक्) ऋच्छतु' । स च गकोशे संशोधितः ।।

(ख) संस्कृतान्वयेऽपि स्वल्पभेदः ककोशे ।।

इव मनुष्यजन्मप्राप्त (जुषस्व) प्रीणीहि (तेन) (चिन्वानः) वर्धमानः (तन्वः) शरीरस्य मध्ये पुष्टः सन् (नि) नितराम् (सीद) तिष्ठ (मयुम्) शस्यादिहिंसकं पशुम् (ते) तव (शुक्) शोकः। भावे क्विप् (ऋच्छतु) प्राप्नोतु (यम्) शत्रुम् (द्विष्मः) [1]अप्रीतयामः (तम्) (ते) तव सकाशात् (शुक्) शोकः (ऋच्छतु)। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।३२ व्याख्यातः] ॥४७॥

अन्वयः—हे अग्ने ! पावक इव मनुष्य मेधाय चीयमानः सहस्राक्षस्त्वमिमं द्विपादं मेधं मयुं पशुं च मा हिंसीः, तं पशुं जुषस्व। तेन चिन्वानः सन् तन्वो मध्ये निषीद। इयं ते शुङ् मयुमृच्छतु। ते तव यं शत्रुं वयं द्विष्मस्तं शुगृच्छतु ॥४७॥

भावार्थः—केनापि मनुष्येणोपकारकाः पशवः कदाचिन्न हिंसनीयाः, किन्त्वेतान् संपाल्यैतेभ्य उपकारं संगृह्य सर्वे मनुष्या आनन्दयितव्याः। †यैर्जांगलैर्हिंसकैः पशुशस्यमनुष्याणां हानिः स्यात्ते तु राजपुरुषैर्हन्तव्या निग्रहीतव्याश्च ॥४७॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

§पदार्थः—हे (अग्ने) मनुष्य के जन्म को प्राप्त हुए (मेधाय) सुख की प्राप्ति के लिए (चीयमानः) बढ़े हुए (सहस्राक्षः) हजारह प्रकार की दृष्टि वाले राजन् ! तू (इमम्) इस (द्विपादम्) दो पग वाले मनुष्यादि और (मेधम्) पवित्रकारक फलप्रद[2] (मयुम्) जंगली (पशुम्) गवादि पशु जीव को (मा) मत (हिंसीः) मारा कर, उस (पशुम्) पशु की

---

१. अप्रीतिं कुर्मः, तत्करोतीति 'णिच्' ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(द्विपादम्) संख्यासुपूर्वस्य (अ० ५।४।१४०) इति पादस्यान्त्याकारलोपः। **द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्द्धसु बहुव्रीहौ** (अ० ६।२।१९७) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(सहस्राक्षः) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् (अ० ५।४।११३) इति 'षच्' प्रत्ययः समासान्तः। चित्करणं बहुव्रीहिपूर्वपदप्रकृतिस्वरं बाधते, तेनान्तोदात्तत्वम् ॥

(मेधाय) मेधृ संगमे च (भ्वा० उ०) 'घञ्'। ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(चीयमानः) चिनोतेः कर्मणि 'यक्' शानच् च। **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे यक्स्वरः ॥

(मयुम्) भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १।७) इत्युः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(चिन्वानः) चिनोतेः 'शानच्' श्नुश्च। **सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते** (अ० ६।१।१५८ परि०) इति नियमेन शानचश्चित्स्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(शुक्) शोचतेः क्विपि धातुस्वरः। **चोः कुः** (अ० ८।२।३०) इति कुत्वम् ॥

(द्विष्मः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे प्रत्ययस्वरः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. 'फलप्रद' इति संस्कृते नास्ति ॥४७॥

---

† 'यैर्जांगलैर्हिंसकैः······निग्रहीतव्याश्च'। इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे परिवर्द्धितः स्यात् ॥

§ भाषापदार्थे भाषाभावार्थे च भूतपूर्वसंस्कृतानुसारी भिन्नः पाठः ककोशेऽस्तीति ध्येयम् ॥

(जुषस्व) सेवा कर (तेन) उस पशु से (चिन्वानः) बढ़ता हुआ तू (तन्वः) शरीर में (निषीद) निरन्तर स्थिर हो, यह (ते) तेरे से (शुक्) शोक (मयुम्) शस्यादिनाशक जंगली पशु को (ऋच्छतु) प्राप्त होवे, (ते) तेरे (यम्) जिस शत्रु से हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें (तम्) उस को (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥४७॥

भावार्थः—कोई भी मनुष्य सब के उपकार करनेहारे पशुओं को कभी न मारे, किन्तु इनकी अच्छे प्रकार रक्षा कर और इन से उपकार लेके सब मनुष्यों को आनन्द देवे। जिन जंगली पशुओं से ग्राम के पशु खेती और मनुष्यों की हानि हो उन को राजपुरुष मारें और बन्धन करें$ ॥४७॥

$ **विशेष**—इस मन्त्र के विषय में 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पत्र सं० ४८६, द्वि० सं० पृष्ठ ३९४) में इस प्रकार लिखा है—

'जैसा इस को शोध के भेजते हैं, वैसा पुनः कम्पोज करके छपवा दो और जो कहीं शोधने में भूल रह गई हो, तो तुम वहां शोध लेना, जिस से मांसभक्षण का अभिप्राय कुछ भी न रहे। बाकी सब पत्रों के उत्तर कल भेजेंगे और अगले अङ्क के पत्रे तथा थोड़े से सत्यार्थप्रकाश के पत्रे भी भेजेंगे'॥

यह लेख श्री स्वामी जी ने यजुर्वेदभाष्य के १३वें अध्याय की प्रेस कापी के पृ० ४५९ के दूसरी ओर (पीठ पर) अपने हाथ से लिखा है। यह लेख १६ मार्च १८८३ (फा० शु० ८ सं० १९३९) को लिखा, परन्तु भेजा गया १७ मार्च १८८३ (फा० शु० ९ सं० १९३९) को। देखो पूर्णसंख्या ४८७ के पत्र का ८वां अंश (अन्तिम पैराग्राफ पृ० ३९६) जो निम्न प्रकार है—

'हमने आज [अ० १३] ४७ मन्त्र से लेकर ५२ मन्त्र तक के पत्रे शोध कर आज आये और आज ही रजिस्ट्री करा कर भेज दिये हैं। उन में से जहां जहां मांस खाने का विषय [था] काट दिया और उचित अर्थ कर दिया है। परन्तु राजा और राजपुरुषों को हानिकारक सिंहादि जांगल पशुओं को मारना तो रहने ही दिया है, क्योंकि उन मन्त्रों में **अनुदिशामि। आरण्यम्। तेन। तन्वम्। पुष्यस्व।** आदि पदों के अर्थ के अनुरोध से राजपुरुषों को उन का मारना तो अवश्य ही सिद्ध होता है। तथा युक्ति से भी सिद्ध है, क्योंकि यदि डाकू चोर आदिकों को भी राजधर्म में मारना उचित है तो वैसे प्रजा के हानिकारक पशुओं को मारने में राजाओं को कुछ भी अपराध नहीं हो सकता। यदि वे न मारे जांय तो प्रजा के खेती आदि के नाश से बड़ी ही हानि होवे इत्यादि। यदि शीघ्रता से शोधने में मांस खाने [के सम्बन्ध] में कोई रह गया हो तो उस को तुम कटवा देना और उचित धरवा देना। और उन्हीं पत्रों को शोवा है कि जिस से तुम्हारा कम्पोज व्यर्थ न जाय किन्तु उसके बराबर सही करवा कर ग्राहकों के पास भेज दो। अब आगे वेदभाष्य के पत्रे उचित समय पर सदा भेजे जायेंगे। और बम्बई से टैप आने का क्या समाचार है। तीन महीने तो हो गये होंगे। उन से तकादा करो कि शीघ्र टैप भेज देवें। मिति फा० शु० ९ शनिवार सं० ॥

यजुर्वेद १३।४७—५१ मन्त्रों में हानिकर पशुओं के मारने का उल्लेख है। उन से भूलकर भी कोई मांस खाने का विधान न मान ले, इस लिए स्वामी जी ने समर्थदान के निवेदन पर सारा प्रकरण अति स्पष्ट करके प्रूफ भेजा। इसी विषय का संकेत समर्थदान ने अपने १३-७-१८८३ के पत्र में किया था॥

इमं मेत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनरयं मनुष्यः किं कुर्यादित्याह ॥

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु ।
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४८॥

इमम् । मा । हिंसीः । एकशफमित्येकऽशफम् । पशुम् । कनिक्रदम् । वाजिनम् । वाजिनेषु ॥ गौरम् । आरण्यम् । अनु । ते । दिशामि । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद ॥ गौरम् ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥४८॥

पदार्थः—(इमम्) (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (एकशफम्) एकखुरमश्वादिकम् (पशुम्) द्रष्टव्यम् (कनिक्रदम्[1]) भृशं विकलं प्राप्तव्यथम् (वाजिनम्) वेगवन्तम् (वाजिनेषु) वाजिनानां संग्रामाणामवयवेषु कर्मसु [2]कार्यसिद्धिकरम् (गौरम्) गौरवर्णम् (आरण्यम्) अरण्ये भवम् (अनु) (ते) तुभ्यम् (दिशामि) उपदिशामि (तेन) (चिन्वानः) वर्द्धमानः (तन्वः) शरीरस्य मध्ये (नि) (सीद) (गौरम्) (ते) इत्यादि पूर्ववत् । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।३३ व्याख्यातः] ॥४८॥

---

१. कनीक्रदद् इति दाधर्त्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्ते-लर्ष्यापनीफणत्संसनिष्यदत्करिक्रत्कनिक्रदद्० (अ० ७।४।६५) इति निपात्यते । अत्र च काशिकाकारः —'कनिक्रददिति - क्रन्देर्लुङि च्लेरङादेशो द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च निपात्यते । तथा चास्य विवरणं कृतम् (ब्राह्मणे इति पदमञ्जरीकारः)' । अत्र च न्यासकारोऽप्याह—'क्रन्देरिति । कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने चेत्येतस्य । कथं पुनर्ज्ञायते लुङीत्येतन्निपातनमित्याह अस्य हीत्यादि । यस्माल्लुङन्तेन क्रन्दतेरर्थो निर्दिश्यते ततो ज्ञायते लुङ्येतन्निपातनमिति' ॥

अत्र च यास्कः—'कनिक्रदद् न्यक्रन्दीत्' निरु० ६।४ । अत्र च दुर्गः – 'पुनः पुनः भृशं वा क्रन्दसीति मध्यमपुरुषेण नुतिरुत्तरमर्द्धर्चमपेक्ष्य' । निरु० ६।४ । 'कनिक्रद्' इति यङन्तो धातुः । ततो 'अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४) इति कनिक्रद्धातोः अचि=कनिक्रदः, चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

२. 'कार्यसिद्धिकरम्' इत्यध्याहारः । स च सम्यक् ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(एकशफम्) शफः—भोजेन शिफाशफकफादयः (स० २।२।२१८) इत्यनेन शयतेर्ह्रस्वत्वे फक्प्रत्ययान्तो निपातितः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ऋग्वेदभाष्ये (१।११७।६) शं फणति प्रापयतीति शफो वेगस्तस्मात्, अत्र अन्येष्वपि दृश्यते (अ० ३।२।१०१) इति डः । पृषोदरादित्वाद् उपपदस्य मलोपश्च । अस्मिन्नपि पक्षे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । क्षीरस्वामी तु 'शण्यते भुवा घृष्यते शफम्' इति शणते र्निर्वक्ति (अमरटीका २।८।५०) तस्यैकपदेन बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृति-

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वं वाजिनेष्विममेकशफं कनिक्रदं वाजिनं पशुं मा हिंसीः। ईश्वरोऽहं ते तुभ्यं यमारण्यं गौरं पशुमनु दिशामि तेन चिन्वानः सँस्तन्वो मध्ये निषीद। ते तव सकाशाद् गौरं शुगृच्छतु यं वयं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४८॥

भावार्थः—मनुष्यैरेकशफा अश्वादयः पशवः कदाचिन्नो हिंस्याः, न चोपकारका आरण्याः। येषां हननेन जगतो हानी रक्षणेनोपकारश्च भवति, ते सदैव पालनीया* हिंस्राश्च हन्तव्याः ॥४८॥

फिर वह मनुष्य क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे †राजन् ! तू (वाजिनेषु) संग्राम के कामों में (इमम्) इस (एकशफम्) एकखुरयुक्त (कनिक्रदम्) शीघ्र विकल व्यथा को प्राप्त हुए (वाजिनम्) वेगवाले (पशुम्) देखने योग्य घोड़े आदि पशु को (मा) (हिंसीः) मत मार। मैं ईश्वर (ते) तेरे लिये (यम्) जिस (आरण्यम्) जङ्गली (गौरम्) गौर पशु की (अनुदिशामि) शिक्षा करता हूं (तेन) उसके रक्षण से (चिन्वानः) वृद्धि को प्राप्त हुआ (तन्वः) शरीर में (निषीद) निरन्तर स्थिर हो। (ते) तेरे से (गौरम्) श्वेत वर्ण वाले पशु के प्रति (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे और (यम्) जिस शत्रु को हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें (तम्) उस को (ते) तुझ से (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥४८॥

भावार्थः—§मनुष्यों को उचित है कि एक खुर वाले घोड़े आदि पशुओं और उपकारक वन के पशुओं को भी कभी न मारें। जिनके मारने से जगत् की हानि और न मारने से सब का उपकार होता है उनका सदैव पालन पोषण करें, और$ जो हानिकारक पशु हों उनको मारें ॥४८॥

स्वरः। एकशब्द इण्भीकापा० (उ० ३।४३) इति कनि नित्वादाद्युदात्तः ॥

(कनिक्रदम्) 'कनिक्रदद्' इति शतृ प्रत्ययान्तः पूर्वं (य० ११।४३) व्याख्यातः। अत्र तु क्रन्दतेयङ्लुगन्तात् अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ वा०) इत्यच्। तथा च शतपथेऽकारान्त प्रयोगः—कनिक्रदो वा एष वाज्यु वाजिनेषु (७।५।२।३३) चित्वादन्तोदात्तः। यत् पुनः पाणिनिना दाधर्त्तिदर्धर्त्ति (अ० ७।४।६५) सूत्रे शतृप्रत्यये निपातितः तत्तूपलक्षणार्थम्। तेन अचि 'कनिक्रदम्' इति, क्विपि च 'कनिक्रत्' (ऋ० ९।६३।२०) पदं सिध्यति ॥

(गौरम्) गुङ् अव्यक्ते शब्दे (भ्वा० आ०) ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २।२८) इत्यादिना 'रन्' प्रत्ययान्तो निपातितः। निपातनाद् वृद्धिः। नित्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तत्वम्। फिट्सूत्रेषु तु शुक्लगौरयोरादिः (फिट्० १३) इति विकल्पेनाद्युदात्तत्वमुच्यते। हरदत्तस्तु— गुरी उद्यमने इत्यस्मात् पचाद्यचि, तदन्तात् प्रज्ञाद्यणि गौरपदं साधयति। (द्र० पदमञ्जरी अ० ६।२।१९४)॥

(आरण्यम्) पूर्वं (य० ६।६) व्याख्यातः ॥४८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'हिंस्राश्च हन्तव्याः' इति ककोशे नास्ति। स च मुद्रणे संशोधितः ॥

† 'हे मनुष्य' इति तु कगकोशयोः पाठः। मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

§ 'राजा और राजपुरुषों को उचित है' इति ककोशे पाठः, मुद्रणे संशोधितः ॥

$ 'और जो हानिकारक पशु हों, उन को मारें' इति ककोशे नास्ति। मुद्रणे संशोधितः ॥

इमꣳ साहस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । कृतिश्छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः के पशवो नो हिंसनीया *हिंसनीयाश्चेत्याह ॥

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये ।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ।
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४९॥

इमम् । साहस्रम् । शतधारमिति शतऽधारम् । उत्सम् । व्यच्यमानमिति विऽअच्यमानम् । सरिरस्य । मध्ये ॥ घृतम् । दुहानाम् । अदितिम् । जनाय । अग्ने । मा । हिꣳसीः । परमे । व्योमन्निति विऽओमन् ॥ गवयम् । आरण्यम् । अनु । ते । दिशामि । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद ॥ गवयम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥४९॥

पदार्थः—(इमम्) (साहस्रम्) सहस्रस्यासंख्यातानां सुखानामयं साधकस्तम् (शतधारम्) शतमसंख्याता दुग्धधारा यस्मात्तम् (उत्सम्) कूपमिव पालकं गवादिकम् (व्यच्यमानम्) विविधप्रकारेण [1]पालनीयम् (सरिरस्य) अन्तरिक्षस्य (मध्ये) (घृतम्) आज्यम् (दुहानाम्) प्रपूरयन्तीम् (अदितिम्) अखण्डनीयां गाम् (जनाय) मनुष्याद्याय प्राणिने (अग्ने) विवेकप्राप्तोपकारप्रकाशक राजन् (मा) (हिंसीः) (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि व्याप्तेऽन्तरिक्षे[2] वर्त्तमानाम् (गवयम्) गोसदृशम् (आरण्यम्) (अनु) (ते) (दिशामि) (तेन) (चिन्वानः) पुष्टः सन् (तन्वः) (नि) (सीद) (गवयम्) (ते) (शुक्) शोकः (ऋच्छतु) (यम्) (द्विष्मः) (तम्) (ते) (शुक्) (ऋच्छतु) । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।३४ व्याख्यातः] ॥४९॥

---

१. धातूनामनेकार्थत्वात्, प्रकरणवशाद् वायमर्थोऽञ्चतेरत्र बोध्यः । यद्वा—पूजार्थोऽत्राञ्चतिः, पूजा च पशूनां पालनमेवेति तात्पर्यार्थः ॥

२. 'परमात्मा' इति तु हिन्दीभाषानुसारमत्र बोध्यः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(साहस्रम्) पूर्वं (य० १३।४४) व्याख्यातः ॥

(शतधारम्) पूर्वं (य० १।३) व्याख्यातः ॥

(व्यच्यमानम्) विपूर्वाद् अञ्चु गतिपूजनयोः (भ्वा० प०) इत्यस्मात् कर्मणि शानच् । यक् । अनिदिताम्० (अ० ६।४।२४) इति न लोपः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे तास्यनुदात्तेन्ङिदद्रुपदेशाल्ल० (अ० ६।१।१८६) इति शानचोऽनुदात्तत्वे यक्स्वरः ॥

(सरिरस्य) पूर्वं (य० १३।४२) व्याख्यातः ॥

(दुहानाम्) पूङ्यजोः शानन् (अ० ३।

---

* 'हिंसनीयाश्च' इति ककोशे नास्ति । गकोशे संशोधितः ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं जनायेयं साहस्रं शतधारं व्यच्यमानमुत्समिव वीर्य्यसेचकं[3] वृषभं घृतं दुहानामदितिं धेनुं च मा हिंसीः,स ते तुभ्यमपरमारण्यं गवयमनुदिशामि तेन परमे व्योमन् सरिरस्य मध्ये चिन्वानः संस्तन्वो निषीद । तं गवयं ते शुगृच्छतु यन्ते शत्रुं वयं द्विष्मस्तमपि शुगृच्छतु शोकः प्राप्नोतु ॥४६॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—†राजमनुष्याः ! येभ्यो वृषादिभ्यः कृष्यादीनि कर्माणि भवन्ति, याभ्यो गवादिभ्यो दुग्धादिपदार्था जायन्ते, यैः सर्वेषां रक्षणं भवति ते कदाचिन्नैव हिंसनीयाः । य एतान् हिंस्युस्तेभ्यो राजादिन्यायेशा अतिदण्डं दद्युः, ये§ च जाङ्गला गवयादयो प्रजाहानिं कुर्युस्ते हन्तव्याः ॥४६॥

फिर मनुष्यों को कौन पशु न मारने और $कौन मारने चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) ∫दया को प्राप्त हुए परोपकारक राजन् ! तू (जनाय) मनुष्यादि प्राणी के लिये (इमम्) इस (साहस्रम्) असंख्य सुखों का साधन (शतधारम्) असंख्य दूध की धाराओं के निमित्त (व्यच्यमानम्) अनेक प्रकार से पालन के योग्य (उत्सम्) कुए के समान रक्षा करने हारे वीर्य्यसेचक बैल और (घृतम्) घी को(दुहानाम्) पूर्ण करती हुई (अदितिम्) नहीं मारने योग्य गौ को (मा हिंसीः) मत मार और (ते) तेरे राज्य में जिस(आरण्यम्)वन में रहने वाले(गवयम्)गौ के समान नीलगाय से खेती की हानि होती हो तो उस को (अनुदिशामि) उपदेश करता हूं (तेन) उसके मारने से सुरक्षित अन्न से (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा और (सरिरस्य) विस्तृत व्यापक आकाश के (मध्ये) मध्य में (चिन्वानः) वृद्धि को प्राप्त हुआ तू (तन्वः) शरीर

२।१२८) इति विहितः शानन् दोग्धेरपि भवति । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । शानचि तु चित्त्वादन्तोदात्तः । सोऽपि ऋग्वेदे (६।४२। ४॥६।१०७।४) प्रयुज्यते ॥

(अग्ने) पादादित्वान्निघाताभावे आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ॥

(गवयम्) गौरिव अयो गमनं प्राप्तिर्वाऽस्येति गवय इत्युणादिकोशे आचार्यपादाः । अस्मिन् पक्षे बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते 'परादिश्च परान्तश्च' इति वचनेन परान्तोदात्तत्वम् । भोजस्तु किसलयगयगवयमुकयकेकयादयः (स० २।३।७) इत्यनेन गुङ्धातोरयनप्रत्ययान्तं निपातयति । 'गुवोऽन्तोदात्तत्वं च' इति तदीयवृत्त्यनुसारमन्तोदात्तत्वमपि निपात्यते ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

३. गवादिकमिति तु पदार्थे ॥४६॥

---

† हे राजन्' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे सशोधितः स्यात् ॥

§ ये च जांगला गवयादयो यदि प्रजाहानि कुर्युस्ते हन्तव्याः' इति ककोशे नास्ति । गकोशे संशोधितः इति ध्येयम् । भाषापदार्थेऽपि तथैवेति ॥

$ 'कौन मारने चाहियें' इति ककोशे नास्ति । गकोशे संशोधितः स्यात् ॥

∫ संस्कृतपदार्थानुसारं 'विवेक' इति स्यात् ॥

मध्य में (निषीद) निवास कर (ते) तेरा (शुक्) शोक (तम्) उस (गवयम्) §रोझ को (ऋच्छतु) प्राप्त होवे और (यम्) जिस (ते) तेरे शत्रु का (द्विष्मः) हम लोग द्वेष करें उस को भी (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥४९॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—हे राजपुरुषो ! तुम लोगों को चाहिये कि जिन बैल आदि पशुओं के प्रभाव से खेती आदि काम, जिन गौ आदि से दूध घी आदि उत्तम पदार्थ [प्राप्त] होते हैं कि जिन के दूध से सब प्रजा की रक्षा होती है उन को कभी मत मारो, और जो जन इन उपकारक पशुओं को मारें उनको राजादि न्यायाधीश अत्यन्त दण्ड देवें, और जो जङ्गल में रहने वाले नीलगाय आदि प्रजा की हानि करें वे मारने योग्य हैं ॥४९॥

इममूर्णायुमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । कृतिश्छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

पुनः के पशवो न हिंस्या *हिंस्याश्चेत्याह ॥

इ॒मामू॑र्णा॒युं वरु॑णस्य॒ नाभिं॒ त्वचं॑ पशू॒नां द्वि॒पदां॒ चतु॑ष्पदाम् ।
त्वष्टुः॑ प्र॒जानां॑ प्रथ॒मं ज॒नित्र॒मग्ने॒ मा हि॑ꣳसीः पर॒मे व्यो॑मन् ।
उष्ट्र॑मार॒ण्यमनु॑ ते दिशामि॒ तेन॑ चिन्वा॒नस्त॒न्वो॒ निषी॑द ।
उष्ट्रं॑ ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥५०॥

इ॒मम् । ऊ॒र्णा॒युम् । वरु॑णस्य । नाभि॑म् । त्वच॑म् । प॒शू॒नाम् । द्वि॒पदा॒मिति॑ द्वि॒ऽपदा॑म् । चतु॑ष्पदाम् । चतुः॑पदा॒मिति॒ चतुः॑ऽपदाम् ॥ त्वष्टुः॑ । प्र॒जाना॒मिति॑ प्र॒ऽजाना॑म् । प्र॒थ॒मम् । ज॒नित्र॑म् । अग्ने॑ । मा । हि॒ꣳसीः॒ । प॒र॒मे । व्यो॑म॒न्निति॒ विऽओ॑मन् ॥ उष्ट्र॑म् । आ॒र॒ण्यम् । अनु॑ । ते॒ । दि॒शा॒मि॒ । तेन॑ । चि॒न्वा॒नः । त॒न्वः॒ । नि । सी॒द॒ ॥ उष्ट्र॑म् । ते॒ । शुक् । ऋ॒च्छ॒तु॒ । यम् । द्वि॒ष्मः । तम् । ते॒ । शुक् । ऋ॒च्छ॒तु॒ ॥५०॥

पदार्थः—(इमम्) (ऊर्णायुम्) अविम् (वरुणस्य) वरस्य प्राप्तव्यस्य सुखस्य (नाभिम्) निबन्धनम् (त्वचम्) (द्विपदाम्) (चतुष्पदाम्) (त्वष्टुः) सुखप्रकाशकस्य

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ऊर्णायुम्) ऊर्णाया युस् (अ० ५।२।१२३) इति 'युस्' प्रत्ययः । सिति च (अ० १।४।१६) इति पदसंज्ञाविधानात् यस्येति च (अ० ६।४।१४८) इति आकारलोपो न भवति । अस्यां व्युत्पत्ताववग्रहः प्राप्नोति । पदकारैस्त्ववग्रहो न प्रदर्श्यते । तत्र विश्वाभ्यः आशाभ्यः इत्यादिषु यथाऽवग्रहो न भवति तथाऽत्रापि ज्ञेयम् ॥

(द्विपदाम्) बहुव्रीहौ संख्यासुपूर्वस्य (अ०

---

§ अर्थात् नीलगाय ॥ * 'हिंस्याश्च' इति ककोशे नास्ति । गकोशे प्रवर्द्धितः ॥

(प्रजानाम्) (प्रथमम्) आदिमम् (जनित्रम्) उत्पत्तिनिमित्तम् (अग्ने) (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (परमे) (व्योमन्) (उष्ट्रम्) (आरण्यम्) अरण्ये भवम् (अनु) (ते) (दिशामि) (तेन) (चिन्वानः) (तन्वः) (नि) (सीद) (उष्ट्रम्) इत्यादि पूर्ववत् । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।३५ व्याख्यातः] ॥५०॥

अन्वयः—हे अग्ने ! प्राप्तविद्य राजंस्त्वमिमं वरुणस्य नाभिं द्विपदां चतुष्पदां पशूनां त्वचं त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रं परमे व्योमन्वर्त्तमानमूर्णायुं मा हिंसीः । ते यं धान्यहिंसकमारण्यमुष्ट्रं हन्तुमनुदिशामि तेन चिन्वानः सँस्तन्वो मध्ये निषीद । ते शुगारण्यमुष्ट्रमृच्छतु यं ते द्वेष्टारं वयं द्विष्मस्तं शुगृच्छतु ॥५०॥

भावार्थः—हे †राजन् ! येषामव्यादीनां लोमानि त्वगपि मनुष्याणां सुखाय प्रभवति, य उष्ट्रा [ग्राम्या] भारं वहन्तो मनुष्यान् सुखयन्ति, तान् ये हन्तुमिच्छेयुस्ते जगत्पीडका विज्ञेयाः सम्यग् दण्डनीयाश्च, ये§ चारण्या उष्ट्रा हानिकरास्तेऽपि दण्डनीयाः ॥५०॥

फिर किन पशुओं को न मारना और $किन को मारना चाहिये,

यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्या को प्राप्त हुये राजन् ! तू (वरुणस्य) प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ सुख के (नाभिम्) संयोग करनेहारे (इमम्) इस (द्विपदाम्) दो पगवाले मनुष्य पक्षी आदि (चतुष्पदाम्) चार पगवाले (पशूनाम्) गाय आदि पशुओं की (त्वचम्) चमड़े से ढांकने वाले और (त्वष्टुः) सुखप्रकाशक ईश्वर की (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रथमम्) आदि (जनित्रम्) उत्पत्ति के निमित्त (परमे) उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्त्तमान (ऊर्णायुम्) भेड़ आदि को (मा हिंसीः) मत मार (ते) तेरे लिये मैं ईश्वर (यम्) जिस (आरण्यम्) बनेले (उष्ट्रम्) हिंसक ऊंट को (अनुदिशामि) बतलाता हूं (तेन) उस से सुरक्षित अन्नादि से (चिन्वानः) बढ़ता हुआ (तन्वः) शरीर में (निषीद) निवास कर। (ते) तेरा (शुक्) शोक, उस जङ्गली ऊंट को (ऋच्छतु) प्राप्त हो और जिस द्वेषी-

---

५।४।१४०) इत्यकारलोपः । द्वित्रिभ्यां पाद्वन्मूर्द्धसु बहुव्रीहौ (अ० ६।२।१९७) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम । षष्ठीबहुवचने भसंज्ञायां पादः पत् (अ० ६।४।१३०) इति पदादेशोऽप्यान्तर्यात् तथाविध एव ॥

(चतुष्पदाम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । तत्र चतेरुरन् (उ० ५।५८) इत्युरन्प्रत्ययान्तः 'चतुर्' शब्दो नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(जनित्रम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ (उ० ४।१७३) इति इत्रः प्रत्ययः । अश्यादिराकृतिगणः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(उष्ट्रम्) उषिखनिभ्यां कित् (उ० ४।१६२) इति ष्ट्रन् । तितुत्रतथ० (अ० ७।२।९) इति इडभावः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥५०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'हे राजन्' इति ककोशे नास्ति ॥

§ 'ये चारण्या उष्ट्राः हानिकरास्तेऽपि दण्डनीयाः' इति ककोशे नास्ति । गकोशे प्रवर्धितः ॥

$ 'किन को मारना चाहिए' इति ककोशे नास्ति । गकोशे प्रवर्द्धितः ॥

जन से हम लोग (द्विष्मः) अप्रीति करें (तम्) उस को (ते) तेरा (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥५०॥

भावार्थः—हे राजन् ! जिन भेड़ आदि के रोम और त्वचा मनुष्यों के सुख के लिए होती हैं, और जो [ग्राम्य] ऊंट भार उठाते हुये मनुष्यों को सुख देते हैं, उन को जो दुष्टजन मारा चाहें उन को संसार के दुःखदायी समझो, और उनको अच्छे प्रकार दण्ड देना चाहिये, [∫तथा जो जङ्गली उष्ट्र आदि हानिकर पशु हैं, उन्हें भी दण्ड देना चाहिये]॥५०॥

❧

अज इत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक्कृतिश्छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः के पशवो न हन्तव्याः के* च हन्तव्या इत्याह ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सोऽअपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुपमेध्यासः ।
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥५१॥

अजः । हि । अग्नेः । अजनिष्ट । शोकात् । सः । अपश्यत् । जनितारम् । अग्रे ॥ तेन । देवाः । देवताम् । अग्रम् । आयन् । तेन । रोहम् । आयन् । उप । मेध्यासः ॥ शरभम् । आरण्यम् । अनु । ते । दिशामि । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद ॥ शरभम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥५१॥

पदार्थः—(**अजः**) छागः (**हि**) खलु (**अग्नेः**) पावकात् (**अजनिष्ट**) जायते (**शोकात्**) (**सः**) (**अपश्यत्**) पश्यति (**जनितारम्**) उत्पादकम् (**अग्रे**) (**तेन**) (**देवाः**) विद्वांसः (**देवताम्**[1]) दिव्यगुणताम् (**अग्रम्**) उत्तमं सुखम् (**आयन्**) यन्ति प्राप्नुवन्ति

१. नेह स्वार्थे तल् । किन्तर्हि ? **तस्य भावस्त्वतलौ** (अ० ५।१।११९) इति भावे तल् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**अजः**) पूर्वं (य० ५।३३) व्याख्यातः । इयांस्तु विशेषोऽवधेयः—**अज गतिक्षेपणयोः** (भ्वा० प०) अस्माद् अच् । चित्त्वादन्तोदात्तः । जन्मरहित इत्यर्थे न जायत इत्यजः । **अन्येष्वपि दृश्यते** ((अ० ३।२।१०१) इति 'डः' । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । श्वेतवनवासी तु **डन् अट् च** (उ० ५।५३) सूत्रेण जायतेः डन् प्रत्ययमडागमं चाह । जायत इत्यजः ॥

(**अजनिष्ट**) जनेर्लुङि प्रथमैकवचने अट्स्वरेणाद्युदात्तः । **हि च** (अ० ८।१।३४) इति निघाताभावः ॥

(**जनितारम्**)तृचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

∫ संस्कृतानुसारी पाठः इति ध्येयम् ॥　* 'के च हन्तव्याः' इति ककोशे नास्ति, गकोशे संशोधितः ॥

(तेन) (रोहम्) प्रादुर्भावम् (आयन्) प्राप्नुवन्तु (उप) (मेध्यासः) पवित्राः सन्तः (शरभम्) शल्यकम् (आरण्यम्) जंगलोत्पन्नम् (अनु) (ते) (दिशामि) (तेन) (चिन्वानः) अग्रे पूर्ववत् । [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।३६ व्याख्यातः] ॥५१॥

अन्वयः—†हे राजंस्त्वं यो ह्यजोऽजनिष्ट सोऽग्रे जनितारमपश्यत्, येन मेध्यासो देवा अग्र देवतां सुखमुपायन्, येन रोहमुपायन्, तेनोत्तमगुणतामग्रं सुखं तेन वृद्धिं च प्राप्नुहि। यमारण्यं शरभं तेऽनुदिशामि, तेन चिन्वानः संस्तन्वो निषीद । तं [शरभम्] ते शुगृच्छतु, यं ते तवारिं वयं द्विष्मस्तं शोकादग्नेः शुगृच्छतु ॥५१॥

भावार्थः—राजजनैरजादीनहत्वा संरक्ष्यैते उपकाराय संयोजनीयाः । ये शुभपशुपक्षि-हिंसका भवेयुस्ते भृशं ताडनीयाः । §यदि शल्यकी हानिकारिका स्यात्, तर्हि सा प्रजापालनाय हन्तव्या ॥५१॥

फिर मनुष्यों को कौनसे पशु न मारने $और कौनसे मारने चाहियें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे ∫राजन् ! तू जो (हि) निश्चित (अजः) बकरा (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है, (सः) वह (अग्रे) प्रथम (जनितारम्) उत्पादक को (अपश्यत्) देखता है, जिस से (मेध्यासः) पवित्र हुए (देवाः) विद्वान् (अग्रम्) उत्तम सुख और (देवताम्) दिव्यगुणों के (उपायन्) उपाय को प्राप्त होते हैं, और जिससे (रोहम्) वृद्धियुक्त प्रसिद्धि को (आयन्) प्राप्त होवें, (तेन) उस से उत्तम गुणों, उत्तम सुख तथा (तेन) उस से वृद्धि को प्राप्त हो । जो (आरण्यम्) बनैली (शरभम्) शेही (ते) तेरी प्रजा को हानि देने वाली है उस को (अनुदिशामि) बतलाता हूं, (तेन) उस से बचाए हुये पदार्थ से (चिन्वानः) बढ़ता हुआ (तन्वः) शरीर में (निषीद) निवास कर । और (तम्) उस (शरभम्) शल्यकी को (ते) तेरा (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त हो, और (ते) तेरे (यम्) जिस शत्रु से हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें, उसको (शोकात्) शोकरूप (अग्नेः) अग्नि से (शुक्) शोक अर्थात् शोक से बढ़ कर शोक=अत्यन्त शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥५१॥

(रोहम्) रुहेर्भवि 'घञ्' । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(मेध्यासः) मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयोः, मिधृ मेधृ संगमे च(भ्वा० उ०) । ऋहलोर्ण्यत् (अ० ३।१।१२४) इति ण्यति प्राप्ते लक्ष्यानुरोधात् छान्दसत्वाद् वा 'यत्' । यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् । यदा तु मेधेषु भवाय (यजुर्भाष्य १६।३८) इति व्युत्पत्तिस्तदा भवे छन्दसि (अ० ४।४।११०) इति 'यत्' । स्वरः पूर्ववत् ॥

(शरभम्) कृशृशलि० (उ० ३।११२) इत्यभच् प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥५१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'हे मनुष्य' इति ककोशे पाठः । यहां पदार्थ का पूर्व भाग अस्पष्ट है ॥

§ 'यदि शल्यकी हानिकारिका स्यात् तर्हि सा प्रजापालनाय हन्तव्या' इति पाठः ककोशे नास्ति । गकोशे संशोधितः ॥

$ 'और कौन से मारने चाहियें' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे संशोधितः ॥

∫ 'हे मनुष्य' इति ककोशे पाठः ॥

भावार्थः—राजपुरुषों§ को उचित है कि बकरे और मोर आदि श्रेष्ठ पक्षियों को न मारें, और इनकी रक्षा कर के उपकार के लिये संयुक्त करें। और जो अच्छे पशुओं और पक्षियों के मारने वाले हों, उनको शीघ्र ताड़ना देवें। हां, ‡जो खेती को उजाड़ने हारे शेही आदि पशु हैं, उन को प्रजा की रक्षा के लिये मारें ॥५१॥

त्वं यविष्ठेत्यस्योशना ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः कीदृशा रक्ष्या *हिंसनीयाश्चेत्याह ॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥५२॥

त्वम्। यविष्ठ। दाशुषः। नॄन्। पाहि। शृणुधि। गिरः॥ रक्ष। तोकम्। उत। त्मना ॥५२।

पदार्थः—(त्वम्) (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् (दाशुषः) सुखदातॄन् (नॄन्) धर्मनेतॄन्मनुष्यान्। अत्र नॄन् पे [अ० ८।३।१०] इति रुरादेशः पूर्वस्यानुनासिकत्वं च (पाहि) (शृणुधि) अत्र हेर्ध्यादेश अन्येषामपि० [अ० ६।३।१३६] इति दीर्घः (गिरः) सत्या वाचः [(रक्ष)] अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३४] इति दीर्घः (तोकम्) अपत्यम् (उत) अपि (त्मना) आत्मना। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।३९ व्याख्यातः] ॥५२॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दाशुषः) पूर्व (य० ३।३४) व्याख्यातः॥

(शृणुधि) श्रुवः शृ च (अ० ३।१।७४) इति 'शृ'आदेशः श्नुश्च विकरणः। सेर्ह्यपिच्च (अ० ३।४।८७) इति हिरपिच्च। श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि (अ० ६।४।१०२) इति हेर्धिरादेशः। सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६।१।१५८ भा० वा०) इति नियमाद्धेः प्रत्ययस्वरः। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इत्यत्रातिङ इति पर्युदासान्निघातो न प्रवर्तते॥

(गिरः) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इत्यत्र तृतीयादिरिति वचनाद् द्वितीयाबहुवचने विभक्त्युदात्तत्वं न प्रवर्तते। तेन प्रातिपदिकस्वरेणाद्युदात्तः॥

(रक्ष) लोटि मध्यमैकवचने अतो हेः (अ० ६।४।१०५) इति हेर्लुकि शपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥

(तोकम्) तु गतिवृद्धिहिंसासु (सौत्रो धातुः) कुदाधाराचिकलिभ्यः कः (उ० ३।३८) इति बाहुलकात् 'कः'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। यद्वा—ष्टुच् प्रसादे (भ्वा० आ०) अस्मात् पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३।३।११८) इति 'घः'। चजोः कु घिण्ण्यतोः (अ० ७।३।५२) इति कुत्वम्। पृषोदरादित्वाद् आदिसकारस्य लोपः। प्रत्ययस्वरः॥

§ 'राजपुरुषों' इति संस्कृतानुसारी पाठः। अजमेरमुद्रिते तु 'मनुष्यों' इति पाठः॥

‡ 'जो खेती को उजाड़नेहारे शेही आदि पशु हैं, उन को प्रजा की रक्षा के लिए मारें' इति ककोशे नास्ति, गकोशे संशोधितः॥

* 'हिंसनीयाश्च' इति पाठः ककोशे नास्ति॥

अन्वयः—हे यविष्ठ ! त्वं संरक्षितैरेतैः[1] पशुभिर्दाशुषो नृन्पाहि । इमा गिरः शृणुधि, त्मना मनुष्याणामुत पशूनां तोकं रक्ष ॥५२॥

भावार्थः—ये मनुष्या मनुष्यादिरक्षकान् पशून् वर्धयन्ते, करुणामयानुपदेशान् शृण्वन्ति श्रावयन्ति, त आत्मजं सुखं लभन्ते ॥५२॥

फिर कैसे पशुओं की रक्षा करना †और हनना चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ) अत्यन्त युवा ! (त्वम्) तू रक्षा किये हुए इन पशुओं से (दाशुषः) सुखदाता (नृन्) धर्मरक्षक मनुष्यों की (पाहि) रक्षा कर । इन (गिरः) सत्य वाणियों को (श्रृणुधि) सुन, और (त्मना) अपने आत्मा से मनुष्य (उत) और पशुओं के (तोकम्) बच्चों की (रक्ष) रक्षा कर ॥५२॥

भावार्थः—जो मनुष्य मनुष्यादि-प्राणियों के रक्षक पशुओं को बढ़ाते हैं, और कृपामय उपदेशों को सुनते सुनाते हैं, वे आन्तर्य सुख को प्राप्त होते हैं ॥५२॥

अपां त्वेमन्नित्यस्योशना ऋषिः । आपो देवताः । पूर्वस्य ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । सरिरे त्वेति मध्यस्य ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । गायत्रेणेत्युत्तरस्य निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथाध्येतृजनानध्यापकाः किमुपदिशेयुरित्याह ॥

अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपान्त्वा भस्मन्त्साद-
याम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे
त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि
सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा
सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे
सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे साद-
याम्यपां त्वा पाथसि सादयामि गायत्रेण त्वा छन्दसा

(त्मना) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उ० ४।१५३) इति 'मनिण्' । अन्तोदात्तः प्रत्ययस्वरेण 'आत्मन्' शब्दः । तृतीयैकवचने मन्त्रेष्वाङ्याादेरात्मनः (अ० ६।४।१०१) इत्यादिलोपः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. एतैः पूर्वमन्त्रेषु प्रतिपादितैरित्यर्थः ॥५२॥

† 'और हनना' इति पाठः ककोशे नास्ति ॥

सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन
त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि
पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥५३॥

अपाम् । त्वा । एमन् । सादयामि । अपाम् । त्वा । ओद्मन् । सादयामि । अपाम् । त्वा । भस्मन् । सादयामि । अपाम् । त्वा । ज्योतिषि । सादयामि । अपाम् । त्वा । अयने । सादयामि । अर्णवे । त्वा । सदने । सादयामि । समुद्रे ॥ त्वा । सदने । सादयामि । सरिरे । त्वा । सदने । सादयामि । अपाम् । त्वा । क्षये । सादयामि । अपाम् । त्वा । सधिषि । सादयामि । अपाम् । त्वा । सदने । सादयामि । अपाम् । त्वा । सधस्थ इति सधऽस्थे । सादयामि । अपाम् । त्वा । योनौ । सादयामि । अपाम् । त्वा । पुरीषे । सादयामि । अपाम् । त्वा । पाथसि । सादयामि । गायत्रेण । त्वा । छन्दसा । सादयामि । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन । त्वा । छन्दसा । सादयामि । जागतेन । त्वा । छन्दसा । सादयामि । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन । त्वा । छन्दसा । सादयामि । पाङ्क्तेन । त्वा । छन्दसा । सादयामि ॥५३॥

पदार्थः—(अपाम्) प्राणानां रक्षणे (त्वा) त्वाम् (एमन्) एति गच्छति तस्मिन् वायौ (सादयानि) स्थापयामि (अपाम्) जलानाम् (त्वा) (ओद्मन्) ओषधिषु (सादयामि) (अपाम्) प्राप्तानां काष्ठादीनाम् (त्वा) (भस्मन्) भस्मन्यभ्रे । अत्र सर्वत्र सप्तमीलुक् (सादयामि) (अपाम्) व्याप्नुवतां विद्युदादीनाम् (त्वा) (ज्योतिषि) विद्युति (सादयामि) (अपाम्) अन्तरिक्षस्य (त्वा) (अयने) भूमौ (सादयामि) (अर्णवे) प्राणे (त्वा) (सदने) स्थातव्ये (सादयामि) (समुद्रे) मनसि (त्वा) (सदने) गन्तव्ये (सादयामि) (सरिरे) वाचि (त्वा) (सदने) प्राप्तव्ये (सादयामि) (अपाम्) प्राप्तव्यानां पदार्थानाम् (त्वा) (क्षये) चक्षुषि (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (सधिषि[1]) समानान् शब्दान् शृणोति येन तस्मिन् श्रोत्रे (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (सदने) दिवि (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (सधस्थे) अन्तरिक्षे (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (योनौ) समुद्रे (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (पुरीषे) सिकतासु (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (पाथसि) अन्ने (सादयामि) (गायत्रेण) गायत्रीनिर्मितेन (त्वा)

---

१. यद्वा—'समान'पूर्वात् 'घिश शब्दे' इत्येतस्मात् करणे 'क्विप्' ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(एमन्) इण् गतौ (अदा० प०) सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४।१४५) इति 'मनिन्'। गुणः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम। सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इति सप्तम्या लुक्। संहितायां तु 'एमन्' इत्यत्र एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम् (अ० ६।१।९४ भा०वा०) इति पररूपम् ॥

(ओद्मन्) उन्दी क्लेदने (रु० प०) 'मनिन्'। अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः (अ० ६।४।२९) इति नलोपो गुणश्च निपातनात्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

वस्तुतस्तु ओदन्ती (ऋ० १।४८।६); ओदतीनाम् (ऋ० ८।६९।२) इत्यत्र गुणस्य शपश्च दर्शनाद् उद क्लेदने इति स्वतन्त्रो धातुर्भ्वादिको द्रष्टव्यः। अत्रापि संहितायाम् एमन्नादिषु छन्दसि० (अ० ६।१।९४ भा० वा०) इति पररूपम् ॥

(छन्दसा) स्वच्छेनार्थेन (सादयामि) (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप्प्रोक्तेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) (जागतेन) जगत्युक्तेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) (आनुष्टुभेन) अनुष्टुप्कथितेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) (पाङ्क्तेन) पङ्क्तिप्रकाशितेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) (संस्थापयामि। [अयं मन्त्रः श० ७।५।२।४६-६१ व्याख्यातः] ॥५३

अन्वयः—हे मनुष्य ! यथा शिक्षकोऽहमपामेमंस्त्वा सादयाम्यपामोद्मंस्त्वा सादयाम्यपां भस्मंस्त्वा सादयाम्यपां ज्योतिषि त्वा सादयाम्यपामयने त्वा सादयाम्यर्णवे सदने त्वा सादयामि, समुद्रे सदने त्वा सादयामि, सरिरे सदने त्वा सादयाम्यपां क्षये त्वा सादयाम्यपां सधिषि त्वा सादयाम्यपां सदने त्वा सादयाम्यपां सधस्थे त्वा सादयाम्यपां योनौ त्वा सादयाम्यपां पुरीषे त्वा सादयाम्यपां पाथसि त्वा सादयामि, गायत्रेण छन्दसा त्वा सादयामि, त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा सादयामि, जागतेन छन्दसा त्वा सादयाम्यानुष्टुभेन छन्दसा त्वा सादयामि, पाङ्क्तेन छन्दसा त्वा सादयामि, तथैव वर्त्तस्व ॥५३॥

भावार्थः—विद्वद्भिः सर्वान् *पुरुषान् स्त्रीश्च वेदानध्याप्य जगत्स्थानां वाय्वादिपदार्थानां विद्यासु निपुणीकृत्य [ते] तेभ्यः प्रयोजनसाधने प्रवर्त्तनीयाः ॥५३॥

अब पढ़ने वालों को पढ़ाने वाले क्या उपदेश करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! जैसे शिक्षा करने वाला मैं (अपाम्) प्राणों की रक्षा के निमित्त (एमन्) गमनशील वायु में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापित करता हूं, (अपाम्) जलों की (ओद्मन्) आर्द्रतायुक्त ओषधियों में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापन करता हूं, (अपाम्) प्राप्त हुये काष्ठों के (भस्मन्) राख में (त्वा) तुझ को (सादयामि) संयुक्त करता हूं, (अपाम्) व्याप्त हुये बिजुली आदि अग्नि के (ज्योतिषि) प्रकाश में (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं, (अपाम्) अवकाश वाले (अयने) स्थान में (त्वा) तुझ को (सादयामि) बैठाता हूं, (सदने) स्थिति के योग्य (अर्णवे) प्राणविद्या में (त्वा) तुझ को (सादयामि) संयुक्त करता हूं, (सदने) गमनशील (समुद्रे) मन के विषय में (त्वा) तुझ को (सादयामि) सम्बद्ध करता हूं, (सदने) प्राप्त होने योग्य (सरिरे) वाणी के विषय में (त्वा) तुझ को (सादयामि) संयुक्त करता हूं, (अपाम्) प्राप्त होने योग्य पदार्थों के सम्बन्धी (क्षये) घर में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापित करता हूं,

---

(भस्मन्) पूर्व (य० ६।२१) व्याख्यातः ॥

(अयने) करणाधिकरणयोश्च (अ० ३।३।११७) इति 'ल्युट्'। लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् ॥

(अर्णवे) पूर्व (य० १२।४८) व्याख्यातः ॥

(क्षये) क्षयो निवासे (अ० ६।१।२०१) इत्याद्युदात्तः । भाष्ये तु ज्योतिषो निवासकरणात् क्षयशब्देन चक्षुर्गृह्यते ॥

(सधिषि) समानपूर्वाद् धिष शब्दे (जु० प०) इत्यस्मात् करणे 'क्विप्'। समानस्य च्छन्दस्यमूर्द्ध० (अ० ६।३।८४) इति समानस्य सादेशः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते आद्युदात्तनिपातनाद्वा छान्दसत्वाद्वा 'स' उदात्तः ॥

(सधस्थे) पूर्व (य० ५।१८) व्याख्यातः ॥

(पाथसि) पा रक्षणे (अदा० प०) अस्मा

---

* 'पुरुषां स्त्रियश्च' इति सार्वत्रिकोऽपपाठ इति ध्येयम् ॥

(अपाम्) अनेक प्रकार के व्याप्त शब्दों के सम्बन्धी (सधिषि) उस पदार्थ में कि जिससे अनेक शब्दों को समान यह जीव सुनता है, अर्थात् कान के विषय में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थित करता हूं, (अपाम्) जलों के (सदने) अन्तरिक्षरूप स्थान में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापित करता हूं, (अपाम्) जलों के (सधस्थे) तुल्य स्थान में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापित करता हूं, (अपाम्) जलों के (योनौ) समुद्र में (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं, (अपाम्) जलों की (पुरीषे) रेती में (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं, (अपाम्) जलों के (पाथसि) अन्न में (त्वा) तुझ को (सादयामि) प्रेरणा करता हूं, (गायत्रेण) गायत्री छन्द से निकले (छन्दसा) स्वतन्त्र अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं, (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् मन्त्र से विहित (छन्दसा) शुद्ध अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं, (जागतेन) जगती छन्द में कहे (छन्दसा) आनन्ददायक अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं, (आनुष्टुभेन) अनुष्टुप् मन्त्र में कहे (छन्दसा) शुद्ध अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) प्रेरणा करता हूं, और (पाङ्क्तेन) पङ्क्ति मन्त्र से प्रकाशित हुए (छन्दसा) निर्मल अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) प्रेरित करता हूं, वैसे ही तू वर्त्तमान रह ।।५३।।

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि सब पुरुषों को और सब स्त्रियों को वेद पढ़ा और जगत् के वायु आदि पदार्थों की विद्या में निपुण करके उन को उन पदार्थों से प्रयोजन साधने में प्रवृत्त करें ।।५३।।

❦

अयं पुर इत्यस्योशना ऋषिः । प्राणा देवताः । स्वराड् ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।।

अथ मनुष्यैः सृष्टेः सकाशात् के क उपकारा ग्राह्या इत्याह ।।

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपाᳪशुरुपाᳪशो-स्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठऽ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ।।५४।।

च (उ० ४।२०५) इत्यसुन् थुडागमश्च । नित्स्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

(पाङ्क्तेन) पङ्क्तिशब्दस्योत्सादिषु (अ० ४।१।८६) पाठात् तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । नित्स्वादाद्युदात्तत्वं वृद्धिश्च ।।५३।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

§ इतोऽग्रे 'एक प्रकार के अनेक शब्दों के सुनने का हेतु कान के विषय में' इति कर्कोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ।।

अयम् । पुरः । भुवः । तस्य । प्राणः । भौवायन इति भौवऽआयनः । वसन्तः । प्राणायन इति प्राणऽआयनः । गायत्री । वासन्ती । गायत्र्यै । गायत्रम् । गायत्रात् । उपांशुरित्युपऽअंशुः । उपांशोरित्युपऽअंशोः । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । त्रिवृत इति त्रिऽवृतः । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । वसिष्ठः । ऋषिः । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । प्राणम् । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥५४॥

पदार्थः – (अयम्) अग्निः (पुरः) पूर्वम् (भुवः) यो भवति सः (तस्य) (प्राणः) येन प्राणिति सः (भौवायनः[1]) भुवेन *सत्तारूपेण कारणेन निर्वृत्तः (वसन्तः) यः सुगन्धादिभिर्वासयति (प्राणायनः) प्राणा निर्वृत्ता यस्मात् (गायत्री) या गायन्तं त्रायते सा (वासन्ती) वसन्तस्य व्याख्यात्री (गायत्र्यै) गायत्र्याः, अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (गायत्रम्) गायत्र्येव छन्दः (गायत्रात्) (उपांशुः) [2]उपगृहीता (उपांशोः) (त्रिवृत्) यस्त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैर्वर्त्तते सः (त्रिवृतः) (रथन्तरम्) यद्रथैः रमणीयैस्तारयति तत् (वसिष्ठः) अतिशयेन वासयिता (ऋषिः) प्रापको विद्वान् (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिगृहीतो यया स्त्रिया तया (त्वया) (प्राणम्) बलयुक्तं जीवनम् (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः) । [अयं मन्त्रः श० ८।१।१।४-६ व्याख्यातः] ।।५४।।

अन्वयः—हे स्त्रि ! यथाऽयं पुरो भुवोऽग्निस्तस्य भौवायनः प्राणः प्राणायनो वसन्तो वासन्ती गायत्री गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपांशुरुपांशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं वशिष्ठ ऋषिश्च प्रजापतिगृहीतया त्वया सह प्रजाभ्यः प्राणं †गृह्णन्ति, तथा त्वया साकमहं प्रजाभ्यो बलं गृह्णामि ।।५४।।

भावार्थः—स्त्रीपुरुषाः! अग्न्यादिपदार्थानामुपयोगं कृत्वा परस्परं प्रीत्याऽतिविषयासक्तिं विहाय सर्वस्माज्जगतो बलं संगृह्य प्रजा उत्पाद्याः ।।५४।।

---

१. तेन निर्वृत्तम् (अ० ४।२।६७) इति प्राप्तोऽण्, छान्दसत्वादत्र 'फग्' द्रष्टव्यः ।।

२. अस्पष्टार्थोऽयम् ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुरः) पुर अग्रगमने (तु० प०) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति 'कः' । यद्वा—पूर्वशब्दादस्तातेरर्थे पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (अ० ५।३।३९) इति 'असिः' प्रत्ययः 'पुर्' आदेशश्च । उभयत्र प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । असिपक्षे तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (अ० १।१।३८) इत्यव्ययत्वे सुपो लुक् ।।

(भुवः) पूर्वं (य० २।२) व्याख्यातः ।।

(भौवायनः, प्राणायनः) नडादिभ्यः फक् (अ० ४।१।९९) इति 'फक्' । आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (अ० ७।१।२) इत्यायन्नादेशः : कितः (अ० ६।१।१६५) इत्यन्तोदात्तत्वम् । पदकारस्तूभयत्रावग्रहं करोति । भसंज्ञायामवग्रहाभावात् तन्मते समासोऽत्रेति विज्ञायते ।।

(वासन्ती) तस्य व्याख्यान इति व्याख्यातव्यनाम्नः (अ० ४।३।६६) इत्यर्थे तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यर्थे वा वसन्ताच्च (अ० ४।३।२०) इति छन्दसि ठञि प्राप्ते सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते (अ० १।१।२० भाष्य०) इति वचनात् ऋत्वणे-

---

* 'सता रूपेण' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । कगकोशयोस्तु 'सत्तारूपेण' इति पाठः, स च सम्यक् ।।

† 'गृह्णामि' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ।।

अब मनुष्यों को सृष्टि से कौन कौन उपकार लेने चाहियें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! जैसे (अयम्) यह (पुरो भुवः) प्रथम होने वाला अग्नि है (तस्य) उसका (भौवायनः) सिद्ध कारण से रचा हुआ (प्राणः) जीवन का हेतु प्राण, (प्राणायनः) प्राणों की रचना का हेतु (वसन्तः) सुगन्धि आदि में वसाने हारा वसन्त ऋतु, (वासन्ती) वसन्त ऋतु का जिस में व्याख्यान हो वह (गायत्री) गाते हुए का रक्षक गायत्रीमंत्रार्थ§ ईश्वर, (गायत्र्यै) गायत्री मन्त्र का (गायत्रम्) गायत्री छन्द, (गायत्रात्) गायत्री से (उपांशुः) समीप से ग्रहण किया जाय (उपांशोः) उस जप से (त्रिवृत्) कर्म उपासना और ज्ञान के सहित वर्त्तमान फल, (त्रिवृतः) उस तीन प्रकार के फल से (रथन्तरम्) रमणीय पदार्थों से तारने हारा सुख, और (वसिष्ठः) अतिशय करके निवास का हेतु (ऋषिः) सुख प्राप्त करानेहारा विद्वान् (प्रजापतिगृहीतया) अपने सन्तानों के रक्षक पति को ग्रहण करने वाली (त्वया) तेरे साथ (प्रजाभ्यः) सन्तानोत्पत्ति के लिये (प्राणम्) बलयुक्त जीवन का ग्रहण करते हैं, वैसे तेरे साथ मैं सन्तान होने के लिये बल का (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥५४॥

भावार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों को उपयोग में ला के, परस्पर प्रीति के साथ अति $विषयसेवन को छोड़ और सब संसार से बल का ग्रहण करके सन्तानों को उत्पन्न करो ॥५४॥

वात्र भवति । स्त्रियां **टिड्ढाणञ्**० (अ० ४।१।१५) इति ङीपि उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(गायत्रम्) पूर्वं भाष्ये विवरणे च (य० १।२७) व्याख्यातः ॥

(उपांशुः) पूर्वं (य० ६।३८) व्याख्यातः ॥

(त्रिवृत्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(रथन्तरम्) पूर्वं (य० १०।१०) व्याख्यातः ॥

(वसिष्ठः) वसेर्ण्यन्तात् 'तृच्' । **बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः** (उ० २।२३) इतिणेर्लुक् । ततः **तुश्छन्दसि** (अ० ५।३।५९) इत्यातिशायिक 'इष्ठन्' । **तुरिष्ठेमेयस्सु** (अ० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः । नित्स्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(प्रजापतिगृहीतया) **तृतीया कर्मणि** (अ० ६।२।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । प्रजापतिशब्देऽपि **पत्यावैश्वर्ये** (अ० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । तत्र प्रजाशब्दो **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥५४॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ 'मन्त्रार्थ ईश्वर' अस्य मूलं तु संस्कृते नास्ति, अस्पष्टार्थश्चापि ॥

$ 'सेवा' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'सेवन' इति ककोशे पाठः, स च सम्यक् ॥

अयं दक्षिणेत्यस्योशना ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । निचृद्भुरिगतिधृतिश्छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैर्ग्रीष्म ऋतौ कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब् ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारᳪ स्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाजऽ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५५॥

अयम् । दक्षिणा । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । तस्य । मनः । वैश्वकर्मणमिति वैश्वऽकर्मणम् । ग्रीष्मः । मानसः । त्रिष्टुप् । त्रिस्तुबिति त्रिऽस्तुप् । ग्रैष्मी । त्रिष्टुभः । त्रिस्तुभ इति त्रिऽस्तुभः । स्वारम् । स्वारात् । अन्तर्याम इत्यन्तःऽयामः । अन्तर्यामादित्यन्तःऽयामात् । पञ्चदश इति पञ्चऽदशः । पञ्चदशादिति पञ्चऽदशात् । बृहत् । भरद्वाज इति भरत्ऽवाजः । ऋषिः । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । मनः । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥५५॥

पदार्थः—(अयम्) वायुः (दक्षिणा) दक्षिणतः (विश्वकर्मा) विश्वान्यखिलानि कर्माणि यस्मात्सः (तस्य) वायोः (मनः) मननशीलं प्रेरकं *कर्म (वैश्वकर्मणम्) यस्माद्विश्वानि [कर्माणि] निर्वृतानि भवन्ति तत् (ग्रीष्मः) यो रसान् †ग्रसते सः (मानसः) मनस ऊष्मेव वर्त्तमानः (त्रिष्टुप्) छन्दः (ग्रैष्मी) ग्रीष्मर्तुव्याख्यात्री ऋक् (त्रिष्टुभः) छन्दसः (स्वारम्) तापाज्जातं तेजः (स्वारात्) (अन्तर्यामः) अन्तर्मध्ये यामाः प्रहरा यस्मिन् समये सः (अन्तर्यामात्) (पञ्चदशः) पञ्चदशानां तिथीनां पूरकः (स्तोमः) (पञ्चदशात्) (बृहत्) महान् (भरद्वाजः) वाजोऽन्नं विज्ञानं वा बिभर्त्ति येन श्रोत्रेण तत्

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दक्षिणा) द्रुदक्षिभ्यामिनन् (उ० २। ५०) इतीनन्प्रत्ययान्तो नित्त्वादाद्युदात्तो दक्षिणशब्दः । तस्माद् दक्षिणादाच् (अ० ५। ३।३६) इत्याच् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(विश्वकर्मा) पूर्वं (यजु० १।४) व्याख्यातः ॥

(वैश्वकर्मणम्, मानसः) तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(ग्रैष्मी) ग्रीष्मादञ् छन्दसि (गणसूत्रं ४।१।८६) इत्यनेनाञ् । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । टिड्ढाणञ्० (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्' ॥

(स्वारम्) स्वृ शब्दोपतापयोः (भ्वा० प०) अस्माद् भावे 'घञ्' । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६।

* 'कर्म' इत्ययं व्यर्थः प्रतिभाति ॥

† साम्प्रतिकानां मते 'ग्रसति' इति स्यात् ॥

(ऋषिः) विज्ञापकः (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (मनः) मननात्मकविज्ञानयुक्तं चित्तम् (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः)। [अयं मन्त्रः श० ८।१।१।७-९ व्याख्यातः] ॥५५॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! यथा दक्षिणाऽयं विश्वकर्मा वायुरिवास्ति, तस्य वैश्वकर्मणं मनो मानसो ग्रीष्मो ग्रैष्मो त्रिष्टुप् त्रिष्टुभः स्वारं स्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद्भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया विद्यया सह राजा प्रजाभ्यो मनो गृह्णाति, तथा त्वया साकमहं विश्वस्माद्विज्ञानं गृह्णामि ॥५५॥

भावार्थः—§स्त्रीपुरुषैः प्राणस्य मनो नियन्तृ मनसश्च प्राणो नियन्तेति विदित्वा प्राणायामान् मनःशुद्धिं संपादयद्भिरखिलायाः सृष्टेः पदार्थविज्ञानं स्वीकार्यम् ॥५५॥

अब मनुष्यों को ग्रीष्म ऋतु में कैसे वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! जैसे (दक्षिणा) दक्षिण दिशा से (अयम्) यह (विश्वकर्मा) सब कर्मों का निमित्त वायु के समान विद्वान् चलता है, (तस्य) उस वायु के योग से (वैश्वकर्मणम्) जिस से सब कर्म सिद्ध होते हैं वह (मनः) विचारस्वरूप प्रेरक मन (मनसः) मन$ की गर्मी से उत्पन्न के तुल्य (ग्रीष्मः) रसों का नाशक ग्रीष्म ऋतु (ग्रैष्मी) ग्रीष्म ऋतु के व्याख्यान वाला (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् छन्द (त्रिष्टुभः) त्रिष्टुप् छन्द के (स्वारम्) ताप से हुआ तेज (स्वारात्) और तेज से (अन्तर्यामः) मध्याह्न के प्रहर में विशेष दिन और (अन्तर्यामात्) मध्याह्न के विशेष दिन से (पञ्चदशः) पन्द्रह तिथियों को पूरक, स्तुति के योग्य पूर्णमासी (पञ्चदशात्) उस पूर्णमासी से (बृहत्) बड़ा (भरद्वाजः) अन्न वा विज्ञान की पुष्टि और धारण का निमित्त (ऋषिः) शब्दज्ञान प्राप्त

१।१५९) इत्यन्तोदात्तत्वम्। ततः तत आगत (अ० ४।३।७४) इत्यण्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। यद्वा—तापाज्जातं तेजोऽपि अभेदोपचारात् स्वारपदेन गृह्यते, काकाज्जातः काक इति यथा। तेन तद्धितमन्तरेणैव भजन्ते स्वररूपसिद्धिर्बोध्या ॥

(अन्तर्यामः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **पराविश्च परान्तश्च** (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इति वचनादन्तोदात्तत्वम्। यजुः ७।५ मन्त्रे तु तत्पुरुषसमास आस्थित आचार्यैरिति बोध्यम् ॥

(पञ्चदशः) पूर्वं (यजु० ९।३४) व्याख्यातः ॥

(भरद्वाजः) भाष्यमर्थप्रदर्शनपरम्। भरन् वाजा येनेति विग्रहः कर्त्तव्यः। बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामित्येतच्छान्दसत्वान्नाश्रीयते। तथा च **शतपथकारोऽपि** निराह—'**मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति** सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः' (श० ८।१।१।९)। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।२।१०६ भा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥५५॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

§ 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः' इति पाठो भवेत्, अन्वये 'यथा' 'तथा' इत्युपलम्भात् ॥

$ 'मनस ऊष्मणो जातः' इति ककोशे संस्कृते पाठः। तदनुसार्ययं पाठः इति ध्येयम्। 'के तुल्य' इति ककोशे नास्ति, गकोशे परिवर्धितः स्यात् ॥

करानेहारा कान (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापालक से ग्रहण की विद्या से राजा (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (मनः) विचारस्वरूप विज्ञानयुक्त चित्त का ग्रहण करता है, वैसे मैं (त्वया) तेरे साथ सब से विज्ञान का (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥५५॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि प्राण का मन और मन का प्राण नियमन करने वाला है, ऐसा जान के प्राणायाम से आत्मा को शुद्ध करते हुए∫ सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान स्वीकार करें ॥५५॥

अयं पश्चादित्यस्योशना ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। निचृद्धृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथ स्त्रीपुरुषौ मिथः कथमाचरेतामित्याह॥

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्या ऋक्समम्ऋक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५६॥

अयम्। पश्चात्। विश्वव्यचा इति विश्वऽव्यचाः। तस्य। चक्षुः। वैश्वव्यचसमिति वैश्वऽव्यचसम्। वर्षाः। चाक्षुष्यः। जगती। वार्षी। जगत्याः। ऋक्सममित्यृक्ऽसमम्। ऋक्समादित्यृक्ऽसमात्। शुक्रः। शुक्रात्। सप्तदश इति सप्तऽदशः। सप्तदशादिति सप्तऽदशात्। वैरूपम्। जमदग्निरिति जमत्ऽअग्निः। ऋषिः। प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया। त्वया। चक्षुः। गृह्णामि। प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥५६॥

पदार्थः—(अयम्) आदित्यः (पश्चात्) पश्चिमायां दिशि वर्त्तमानः ([1]विश्वव्यचाः) विश्वं व्यचति प्रकाशेनाभिव्याप्य प्रकटयति सः (तस्य) सूर्यस्य (चक्षुः) नयनम् (वैश्व-

---

१. विश्वं व्यचति व्याप्नोति स विद्युद्रूपोऽग्निः। यजु १५।१७ द० भा०। विश्वस्मिन् सर्वस्मिन् जगति व्यचो व्याप्तिर्यस्य सः। यजु० १८।४ द० भा०। व्यच् संवरणे तुदादिः, तस्य विचतीति रूपम्, बाहुलकादत्र शप् द्रष्टव्यः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पश्चात्) पश्च पश्चा च च्छन्दसि (अ० ५।३।३३) आति निपात्यते। प्रत्ययस्वरः॥

(विश्वव्यचाः) विश्वं विचतीति विश्वव्यचाः। गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च (उ० ४।२२७) इत्यसिः प्रत्ययः। पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१०६ भा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वं। बोध्यम्। यद्वा—बाहुलकात् केवलादधिकरणेऽसिः। बहुव्रीहिः समासः। तत्र बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६।२।१०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। भाष्यस्वरप्रदर्शनपरम्। (द्र० यजु ५।३२)॥

∫ इतोऽग्रे 'पुरुषों से' इति पाठोऽनावश्यकोऽसम्बद्धो वा, संस्कृतेऽसद्भावात्॥

व्यचसम्) प्रकाशकम् (वर्षाः) यासु मेघा वर्षन्ति ताः (चाक्षुष्यः) चक्षुष इमा दर्शनीयाः (जगती) जगद्गता (वार्षी) वर्षाणां व्याख्यात्री (जगत्याः) (ऋक्समम्) ऋचः *सनन्ति संभजन्ति येन तद् ऋक्समम् (ऋक्समात्) (शुक्रः) पराक्रमः (शुक्रात्) वीर्य्यात् (सप्तदशः) सप्तदशानां पूरकः (सप्तदशात्) (वैरूपम्) विविधानि रूपाणि यस्मात्तस्येदम् (जमदग्निः) प्रज्वलिताग्निर्नयनम् (ऋषिः) रूपप्रापकः (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (चक्षुः) (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः) ॥५६॥

अन्वयः—हे वरानने ! यथाऽयमादित्य इव विद्वान् विश्वव्यचाः सन् पश्चादादित्यस्तस्य वैश्वव्यचसं चक्षुश्चाक्षुष्यो वर्षा वार्षी जगती जगत्या ऋक्सममृक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं यथा च जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया सह प्रजाभ्यश्चक्षुर्गृह्णाति तथाऽहं त्वया साकं संसाराद् बलं गृह्णामि ॥५६॥

भावार्थः—दम्पतिभ्यां सामवेदाध्ययनेन सूर्यादिप्रसिद्धं जगदर्थतो विज्ञाय सर्वस्याः सृष्टेः सुदर्शनचरित्रे संग्राह्ये ॥५६॥

अब स्त्रीपुरुष आपस में कैसा आचरण करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे उत्तम मुखवाली स्त्री ! जैसे (अयम्) यह सूर्य्य के समान विद्वान् (विश्वव्यचाः) सब संसार को चारों ओर के प्रकाश से व्यापक होकर प्रकट करता, (पश्चात्) पश्चिम दिशा में वर्त्तमान (तस्य) उस सूर्य्य का (वैश्वव्यचसम्) प्रकाशक किरणरूप (चक्षुः) नेत्र (चाक्षुष्यः) नेत्र से देखने योग्य (वर्षाः) जिस समय मेघ वर्षते

(वैश्वव्यचसम्) तस्येदम् (अ० ४।३। १२०) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(वर्षाः) वृषु सेचने (भ्वा० प०) भावे 'घञ्,' वर्षणं वर्षः, स आसु विद्यते इति अर्श आदिभ्योऽच् (अ० ५।२।१२७) इत्यच् । चित्वादन्तोदात्तत्वम् । स्त्रियां 'टाप्' ॥

(चाक्षुष्यः) तस्येदम् (अ० ४।३।१०२) इत्यण् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः चाक्षुष-शब्दः । स्त्रियां टिड्ढाणञ्० (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्' । उदात्तनिवृत्तिस्वरः । जसि यणादेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति स्वरितत्वम् ॥

(वार्षी) छन्दसि ठञ् (अ० ४।३।१९) इति ठञि प्राप्ते सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते (अ० १।४।२० भा०) इति वचनात् सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् (अ० ४।३।१६) इत्यण्, 'ङीप्' । उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(ऋक्समम्) ऋचः सनन्ति संभजन्ति येन तदृक्समम् इति भाष्यं स्वर्थप्रदर्शनपरम् । सन धातोरच्, पृषोदरादित्वात् नकारस्य मकारः=समम् । ऋचः समं येन बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(वैरूपम्) विविधानि रूपाणि यस्य तद् विरूपम् । तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(जमदग्निः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । जमच्छब्दो बाहुलकादौणादिकाति-प्रत्ययान्तः । प्रत्ययस्वरः ॥५६॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया**

---

* 'सन्ति' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'सनन्ति' इति ककोशे पाठः, स च सम्यक् । ऋचः सन्ति संभजन्ति येन तद ऋक्सामम् इत्यपपाठः ॥

है वह वर्षाऋतु (वार्षी) वर्षा ऋतु के व्याख्यान वाला (जगती) संसार में प्रसिद्ध जगती छन्द (जगत्याः) जगती छन्द से (ऋक्समम्) ऋचाओं के सेवन का हेतु विज्ञान (ऋक्समात्) उस विज्ञान से (शुक्रः) पराक्रम (शुक्रात्) पराक्रम से (सप्तदशः) सत्रह तत्वों का पूरक विज्ञान (सप्तदशात्) उस विज्ञान से (वैरूपम्) अनेक रूपों का हेतु जगत् का ज्ञान और जैसे (जमदग्निः) प्रकाशस्वरूप (ऋषिः) रूप का प्राप्त करानेहारा नेत्र (प्रजापतिगृहीतया) सन्तानरक्षक पति ने ग्रहण की हुई विद्यायुक्त स्त्री के साथ (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये [(†त्वया) तेरे साथ] (चक्षुः) विद्यारूपी नेत्रों का ग्रहण करता है, वैसे मैं तेरे साथ संसार से बल को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥५६॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि सामवेद के पढ़ने से सूर्य आदि प्रसिद्ध जगत् को स्वभाव से जान के सब सृष्टि के गुणों के दृष्टान्त से अच्छा देखें और चरित्र ग्रहण करें ॥५६॥

इदमुत्तरादित्यस्योशना ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

अथ शरदृतौ कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳ सौवꣳ शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभऽ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिनऽ एकविꣳशऽ एकविꣳशाद् वैराजं विश्वामित्रऽ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५७॥

इदम् । उत्तरात् । स्वरिति स्वः । तस्य । श्रोत्रम् । सौवम् । शरत् । श्रौत्री । अनुष्टुप् । अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप् । शारदी । अनुष्टुभः । अनुस्तुभ इत्यनुऽस्तुभः । ऐडम् । ऐडात् । मन्थी । मन्थिनः । एकविꣳश इत्येकऽविꣳशः । एकविꣳशादित्येकऽविꣳशात् । वैराजम् । विश्वामित्रः । ऋषिः । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । श्रोत्रम् । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥५७॥

पदार्थः—(इदम्) (उत्तरात्) सर्वेभ्य उत्तरम् (स्वः) सुखसंपादकदिग्रूपम् (तस्य) (श्रोत्रम्) कर्णम् (सौवम्[1]) स्वः सुखस्येदं साधनम् (शरत्) शृणाति *यया सा (श्रौत्री)

---

1. 'स्वर्' इत्यस्मात् तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इति 'अण्'। अव्ययानां भमात्रे टिलोपः (अ० ७।३।४ वा०) इति टेर्लोपः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उत्तरात्) सप्तम्यन्तादुत्तरशब्दात् उत्तराधरदक्षिणादातिः (अ० ५।३।३४) इत्यातिः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ॥

---

† '(त्वया) तेरे साथ' इति पाठः ककोशे सन्नपि प्रमादात् त्यक्तः स्यात् ॥

* 'येन' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स च प्रमादपाठः ॥

श्रोत्रस्येयं संबन्धिनी (अनुष्टुप्) (शारदी) शरदो व्याख्यात्री (अनुष्टुभः) (ऐडम्) इडाया वाचो व्याख्यातृ साम (ऐडात्) (मन्थी) पदार्थानां मन्थनसाधनः (मन्थिनः) (एकविंशः) एकविंशतेर्विद्यानां पूरकः (एकविंशात्) (वैराजम्) विविधानां पदार्थानामिदं प्रकाशकम् (विश्वामित्रः) विश्वं मित्रं येन भवति सः (ऋषिः) शब्दप्रापकः (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (श्रोत्रम्) शृणोति येन तत् (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः) प्रजाताभ्यो विद्युदादिभ्यः । [अयं मन्त्रः श० ८।१।२।४-६ व्याख्यातः] ॥५७॥

अन्वयः—हे सुभगे ! यथेदमुत्तरात्स्वस्तस्य सौवं श्रोत्र श्रौत्री शरच्छारद्यनुष्टुबनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिन एकविंश एकविंशाद्वैराजं साम प्राप्तो विश्वामित्र ऋषिश्च प्रजाभ्यः श्रोत्रं §गृह्णामि तथा प्रजापतिगृहीतया त्वया सहाहं प्रजाभ्यः श्रोत्रं गृह्णामि ॥५७॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्य्येणाधीतविद्यौ कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषौ बहुश्रुतौ भवेताम् । नह्याप्तानां सकाशाच्छ्रवणेन विना पठितापि विद्या फलवती जायते । तस्मात्सदा श्रुत्वा सत्यं धरेतामसत्यं त्यजेताम् ॥५७॥

अब शरद् ऋतु में कैसे वर्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे सौभाग्यवती ! जैसे (इदम्) यह (उत्तरात्) सब से उत्तर भाग में (स्वः) सुखों का साधन दिशारूप है, (तस्य) उस के (सौवम्) सुख का साधन (श्रोत्रम्) कान (श्रौत्री) कान की सम्बन्धी (शरत्) शरदृतु (शारदी) शरद् ऋतु के व्याख्यान वाला (अनुष्टुप्) प्रबद्ध अर्थ वाला अनुष्टुप् छन्द (अनुष्टुभः) उस से (ऐडम्) वाणी के व्याख्यान से युक्त मन्त्र (ऐडात्) उस मन्त्र से (मन्थी) पदार्थों के मथने का साधन (मन्थिनः) उस साधन से (एकविंशः) इक्कीस विद्याओं का पूर्ण करनेहारा सिद्धान्त (एकविंशात्) उस सिद्धान्त से (वैराजम्) विविध पदार्थों के प्रकाशक साम=सामवेद के ज्ञान को प्राप्त हुआ (विश्वामित्रः) सब से मित्रता का हेतु (ऋषिः) शब्द ज्ञान करानेहारा कान और (प्रजाभ्यः) उत्पन्न हुई बिजुली आदि के लिये (श्रोत्रम्) सुनने के साधन को ग्रहण करते हैं, वैसे (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापालक पति ने ग्रहण की (त्वया) तेरे

(श्रोत्रम्) पूर्वं (यजु ४।१५) व्याख्यातः ॥

(सौवम्) तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । अव्ययानां भमात्रे टिलोपः (अ० ६।४।१४४ वा०) इति टिलोपः । द्वारादीनाञ्च (अ० ७।३।४) इत्यैजागमः ॥

(शरत्) पूर्वं (यजु० १०।१३) व्याख्यातः ॥

(श्रौत्री) (शारदी) तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः । टिड्ढाणञ्० (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्' । उदात्तनिवृत्तिस्वरः ॥

(ऐडम्) तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(मन्थी) अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति 'इनिः' । प्रत्ययस्वरः ॥

(विश्वामित्रः) बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६।२।१०६) इति पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम् । परत्वात् संज्ञायां मित्राजिनयोः (अ०

---

† 'व्याख्यात्री' इति तु सार्वत्रिकः पाठः ॥

§ 'गृह्णन्ति' इति ककोशे पाठः । तदनुसारमेव भावार्थपदार्थेऽप्यस्ति ॥

साथ में प्रसिद्ध हुई बिजुली आदि से (श्रोत्रम्) सुनने के साधन कान को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ।।५७।।

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या पढ़ और विवाह करके बहुश्रुत होवें। और सत्यवक्ता आप्त जनों से सुने विना पढ़ी हुई भी विद्या फलदायक नहीं होती, इसलिये सदैव सज्जनों का उपदेश सुन के सत्य का धारण और मिथ्या को छोड़ देवें। ५७।।

इयमुपरीत्यस्योशना ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। विराडाकृतिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ।।

अथ हेमन्ते कथं वर्तितव्यमित्याह ।।

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ्मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवतऽ आग्रयणऽ आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याᳬं शाक्वररैवते विश्वकर्मऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः ।।५८।।

इयम्। उपरि। मतिः। तस्यै। वाक्। मात्या। हेमन्तः। वाच्यः। पङ्क्तिः। हैमन्ती। पङ्क्त्यै। निधनवदिति निधनऽवत्। निधनवत इति निधनऽवतः। आग्रयणः। आग्रयणात्। त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ। त्रिनवत्रयास्त्रिंशाविति त्रिनवत्रयास्त्रिंशौ। त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्। त्रिनवत्रयस्त्रिंशाभ्यामिति त्रिनवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्। शाक्वररैवते इति शाक्वरऽरैवते। विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा। ऋषिः। प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया। त्वया। वाचम्। गृह्णामि। प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ।।५८।।

पदार्थः—(इयम्) (उपरि) सर्वोपरि विराजमाना (मतिः) प्रज्ञा (तस्यै) तस्याः *अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (वाक्) वक्ति यया सा (मात्या) मतेर्भावः कर्म वा (हेमन्तः) हन्त्युष्णतां येन सः। अत्र हन्तेर्हि मुट् च। उ० ३।१२७ (वाच्यः) वाचो भाव. कर्म वा

६।२।१६५) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं तु न भवति, ऋषिप्रतिषेधो मित्रे (अ० ६।२।१६५ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन प्रतिषेधात्। मित्रे चर्षौ (अ० ६।३।१३०) इति पूर्वपददीर्घत्वम् ।।५७।। **इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।**

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उपरि) उपर्युपरिष्टात् (अ० ५।३।३१) इत्यत्र रिलप्रत्ययान्तो निपातितः। लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्यादात्तत्वम् ।।

* अत्र 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी इति पाठो 'वक्ति यया सा' इत्यतोऽग्र आसीत्। अस्थानेऽयमिति कृत्वाऽस्माभिरत्रानीतः ।।

(पङ्क्तिः) छन्दः (हैमवती) हेम्नो व्याख्यात्री (पङ्क्त्यै) पङ्क्त्याः (निधनवत्) निधनं प्रशस्तं मृत्युव्याख्यानं विद्यते यस्मिंस्तत् साम (निधनवतः) (आग्रयणः) अङ्गति प्राप्नोति येन तस्यायम् (आग्रयणात्) (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) त्रिनवं च त्रयस्त्रिंशं च ते साम्नी (त्रिनवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्) (शाक्वररैवते) शक्तिधनप्रतिपादके (विश्वकर्मा) विश्वानि कर्माणि यस्य सः (ऋषिः) वेदार्थवेत्ता (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (वाचम्) विद्यासुशिक्षान्वितां वाणीम् (गृह्णामि) प्रजाभ्यः ।।

अत्र लोकन्ता इन्द्रमिति द्वादशाध्यायस्थानां त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिद्धृतानि शतपथेऽव्याख्यातत्वादत्र न गृह्यन्ते ।।५८।।

अन्वयः—हे विदुषि पत्नि ! य§ इयमुपरि मतिस्तस्यै मात्या वाग्वाच्यो हेमन्तो हैमन्ती पङ्क्तिः पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत आग्रयण आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां शाक्वररैवते विदित्वा विश्वकर्मर्षिर्वर्त्तते, तथाहं प्रजापतिगृहीतया त्वया *सह प्रजाभ्यो वाचं गृह्णामि ।।५८।।

भावार्थः—पतिपत्नीभ्यां विदुषां वाचं श्रुत्वा प्रज्ञा वर्द्धनीया । तया हेमन्तर्तुकृत्यं

(मतिः) **मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः** (अ० ३।३।९६) इति 'क्तिन्' स चोदात्तः, इत्यन्तोदात्तत्वम् ।।

(मात्या) मति शब्दात् **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (अ० ५।१।१२८) इति 'यक्' । **किति च** (अ० ७।२।११८) इत्यादिवृद्धिः । **यस्येति च** (अ० ६।४।१४८) इतीकारलोपः । **कितः** (अ० ६।१।१६५) इत्यन्तोदात्तत्वम् । स्त्रीत्वविवक्षायां 'टाप्' ।।

(हेमन्तः) **हन्तेर्मुट् हि च** (उ० ३।१२९) इति 'झच्' । चित्त्वादन्तोदात्तः ।।

(वाच्यः) **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (अ० ५।१।१२८) इति 'यक्' । **कितः** (अ० ६।१।१६५) इत्यन्तोदात्तः ।।

(पंक्तिः) **पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्०** (अ० ५।१।५९) इत्यत्र तिप्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तो निपातितः ।।

(हैमन्ती) **सर्वत्राण् च तलोपश्च** (अ० ४।३।२२) अत्र चकारेण यथाप्राप्तोऽणपि समुच्चीयते । तस्य च योगे तलोपोऽपि न भवति (द्र० काशिका ४।३।२२), तेन 'हैमन्ती' इति सिद्धम् । अणि प्रत्ययस्वरे ङीपि उदात्तनिवृत्तिस्वरः ।।

(निधनवत्) **कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः** (उ० २।८१) इति 'क्युः' । अनादेशे कित्त्वादाकारलोपः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तो निधनशब्दः। ततो मतुपि तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे च स एव स्वरः ।।

(आग्रयणः) **तस्येदम्** (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ।।

(त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) **विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्** (अ० ५।२।५६) इति पाक्षिको 'डः' प्रत्ययः । टिलोपे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।।

(शाक्वररैवते) **समासस्य** (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।।५८।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

§ अत्र 'यथा' इति पदं त्यक्तमिव प्रतिभाति ।।

* इतोऽग्रेऽजमेरमुद्रिते 'अहम्' इति व्यर्थः पाठः, पूर्वं सद्भावात् ।।

सामानि च विदित्वा महर्षिवद्वर्त्तित्वा विद्यासुशिक्षासंस्कृतां वाचं स्वीकृत्य प्रजाभ्योऽप्येताः सदोपदेष्टव्येति ॥५८॥

अत्रेश्वरजायापतिव्यवहारस्य प्रतिपादनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेदितव्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्य्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
त्रयोदशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१३॥

अथ हेमन्त ऋतु में किस प्रकार वर्त्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे *विदुषी स्त्री! जैसे§ (इयम्) यह (उपरि) सब से ऊपर विराजमान (मतिः) बुद्धि है, (तस्यै) उस (मात्या) बुद्धि का होना वा कर्म (वाक्) वाणी और (वाच्यः) उस का होना वा कर्म (हेमन्तः) गर्मी का नाशक हेमन्त ऋतु (हैमन्ती) हेमन्त ऋतु के व्याख्यान वाला (पङ्क्तिः) पङ्क्ति छन्द (पङ्क्त्यै) उस पङ्क्ति छन्द का (निधनवत्) मृत्यु का प्रशंसित व्याख्यान वाला सामवेद का भाग (निधनवतः) उससे (आग्रयणः) प्राप्ति का साधन ज्ञान का फल (आग्रयणात्) उससे (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) बारह और तेतीस सामवेद के स्तोत्र (त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्) उन स्तोत्रों से (शाक्वररैवते) शक्ति और धनके साधक पदार्थों को जान के (विश्वकर्मा) सब सुकर्मों के सेवने वाला (ऋषिः) वेदार्थ का वक्ता पुरुष वर्त्तता है, वैसे मैं (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापालक पति ने ग्रहण की (त्वया) तेरे साथ (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (वाचम्) विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त वाणी को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥५८॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि विद्वानों की शिक्षारूप वाणी को सुन के अपनी बुद्धि बढ़ावें। उस बुद्धि से हेमन्त ऋतु में कर्त्तव्य कर्म और सामवेद के स्तोत्रों को जान महात्मा ऋषि लोगों के समान वर्त्ताव कर विद्या और अच्छी शिक्षा से शुद्ध की वाणी का स्वीकार करके अपने सन्तानों के लिये भी इन वाणियों का उपदेश सदैव किया करें ॥५८॥

इस अध्याय में ईश्वर, स्त्रीपुरुष और व्यवहार का वर्णन करने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जानो ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्य्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
त्रयोदशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१३॥

✻ इति त्रयोदशोऽध्यायः ✻

* अत्र 'विद्वान्' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

§ अत्र 'जो' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। पूर्वापरदृष्ट्याऽत्र 'जैसे' इति सम्यक्तरः पाठः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव ।।

य० ३०।३।।

ध्रुवक्षितिरित्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते । त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ।।

अथादिमे मन्त्रे स्त्रीभ्य उपदेशमाह ।।

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया ।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ।।१।।

ध्रुवक्षितिरिति ध्रुवऽक्षितिः । ध्रुवयोनिरिति ध्रुवऽयोनिः । ध्रुवा । असि । ध्रुवम् । योनिम् । आ । सीद । साधुयेति साधुऽया ।। उख्यस्य । केतुम् । प्रथमम् । जुषाणा । अश्विना । अध्वर्यूऽइत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ।।१।।

पदार्थः—(ध्रुवक्षितिः) ध्रुवा निश्चला क्षितिर्निवसति[1] र्जनपदो यस्याः सा (ध्रुवयोनिः) ध्रुवा योनिर्गृहं[2] यस्याः सा (ध्रुवा) निश्चलधर्मा (असि) (ध्रुवम्) (योनिम्) गृहम् (आ) (सीद) (साधुया) साधुना धर्मेण सह (उख्यस्य) उखायां स्थाल्यां भवस्य पाकसमूहस्य (केतुम्[3]) प्रज्ञाम् (प्रथमम्) [4]विस्तीर्णम् (जुषाणा) प्रीत्या सेवमाना (अश्विना) व्याप्तसकलविद्यावध्यापकोपदेशकौ* (अध्वर्यू) आत्मनोऽ

---

१. वसतिः, वसन्त्यस्यामिति, वहिवस्यर्तिभ्यश्चित् (उ० ४।६०) इति 'अति' प्रत्ययः ।।

२. योनिरिति गृहनामसु । निघ० ३।४ ।।

३: 'केतुः' इति प्रज्ञानाम । निघ० ३।९ ।।

४. धात्वर्थेनात्रायमर्थो बोध्यः । प्रथधातोः विस्तारार्थत्वे तु प्रथने वावशब्दे (अ० ३।३।३३) इति पाणिनिसूत्रमनुसन्धेयम । अत्र 'प्रथनं विस्तीर्णता' इति काशिकाकारः ।।

---

* यथात्र भावार्थस्तथा तु 'अध्यापिकोपदेशिके' इति भवेत् ।।

ध्वरमहिंसनीयं गृहाश्रमादिकं यज्ञमिच्छू[1] (सादयताम्) †अवस्थापयताम् (इह) गृहाश्रमे (त्वा) त्वाम् । [अयं मन्त्रः श० ८।२।१।४ व्याख्यातः] ॥१॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या त्वं साधुयोख्यस्य प्रथमं केतुं जुषाणा ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि, सा त्वं ध्रुवं योनिमासीद । [त्वा] त्वामिहाध्वर्यू अश्विना सादयताम् ॥१॥

भावार्थः—कुमारीणां ब्रह्मचर्याऽवस्थायामध्यापिकोपदेशिके विदुष्यौ गृहाश्रमधर्मशिक्षां कृत्वैताः साध्वीः संपादयेताम् ॥१॥

अब चौदहवें अध्याय का आरम्भ है, इस के पहिले मन्त्र में
स्त्रियों के लिये उपदेश किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! जो तू (साधुया) श्रेष्ठ धर्म के साथ (उख्यस्य) बटलोई में पकाये अन्न की सम्बन्धी और (प्रथमम्) विस्तारयुक्त (केतुम्) बुद्धि को (जुषाणा) प्रीति से सेवन करती हुई (ध्रुवक्षितिः) निश्चल वास करने और (ध्रुवयोनिः) निश्चल घर में रहने वाली (ध्रुवा) दृढ़धर्म्म से युक्त (असि) है, सो तू (ध्रुवम्) निश्चल (योनिम्) घर में (आसीद) स्थिर हो । (त्वा) तुझको (इह) इस गृहाश्रम में (अध्वर्यू) अपने लिये रक्षणीय गृहाश्रम आदि यज्ञ के चाहनेहारे (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक (सादयताम्) अच्छे प्रकार स्थापित करें ॥१॥

भावार्थः—§विदुषी पढ़ाने और उपदेश करनेहारी स्त्रियों को योग्य है कि कुमारी कन्याओं को ब्रह्मचर्य अवस्था में गृहाश्रम और धर्म्मशिक्षा दे के इनको श्रेष्ठ करें ॥१॥

---

१. अध्वरं कामयत इति वा । निरु० १।८॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ध्रुवक्षितिः, ध्रुवयोनिः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । ध्रुवशब्दोऽन्तोदात्तो व्याख्यातः (यजु० १।१) ॥

(साधुया) सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इति तृतीयैकवचनस्य 'याच्' आदेशः । सुबादेशस्य सुप्त्वादनुदात्तत्वे प्राप्ते चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(उख्यस्य) उखायां भवः उख्यः । **भवे छन्दसि** (अ० ४।४।११०) इति 'यत्' । **यतोऽनावः** (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अश्विना) 'अश्विन्' शब्दो मत्वर्थीयेनिप्रत्ययान्तः,प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । **सुपां सुलुक्०** (अ० ७।१।३९) इति प्रथमाद्विवचनस्य आकारादेशः । तस्य सुप्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः ॥१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'अवस्थापयतम्' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, सादयताम् इत्यर्थे तु प्रथमपुरुषद्विवचनमेवात्र साधु । लेखकप्रमादोऽत्र प्रतिभाति ॥

§ 'विद्वान्' इति तु सार्वत्रिकः पाठः । तृतीयसंस्करणे तु सर्वत्र विदुषी इत्येव दृश्यते ॥

कुलायिनीत्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते । ब्राह्मी बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ॥

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः ।
अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि
सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥२॥

कुलायिनी । घृतवतीति घृतऽवती । पुरन्धिरिति पुरम्ऽधिः । स्योने । सीद । सदने । पृथिव्याः ॥ अभि । त्वा । रुद्राः । वसवः । गृणन्तु । इमा । ब्रह्म । पीपिहि । सौभगाय । अश्विना । अध्वर्यूऽइत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ॥२॥

पदार्थः—(कुलायिनी) कुलं यदेति तत्कुलायं तत्प्रशस्तं विद्यते यस्याः सा (घृतवती) घृतं बहूदकमस्ति यस्याः सा ([1]पुरन्धिः) या पुरूणि बहूनि सुखानि दधाति सा (स्योने[2]) सुखकारिके (सीद) (सदने) गृहे (पृथिव्याः) भूमेः (अभि) (त्वा) त्वाम् (रुद्राः) मध्या विद्वांसः (वसवः) आदिमा विपश्चितः (गृणन्तु) प्रशंसन्तु (इमा) इमानि (ब्रह्म[3]) *विद्याधनम् (पीपिहि) ‡प्राप्नुहि । अत्र पि गतावित्यस्माच्छपः श्लुः, तुजादित्वाद-भ्यासदीर्घश्च (सौभगाय) शोभनैश्वर्य्याणां भावाय (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वाम् ॥२॥

1. 'पुरन्धिः=बहुधीः पुरां च दारयितृतमः' । निरु० ६।१३॥
2. 'स्योनम्' इति सुखनाम । निघ० ३।६॥
3. 'ब्रह्म' इति धननामसु पठितम् । निघ० २।१०॥ तच्चानेकविधम् । विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् इति सुभाविनोक्तिरत्रानुसंधेया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(कुलायिनी) अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति मत्वर्थीय 'इनिः' । प्रत्ययस्वरः । ततो 'ङीप्'। पित्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः ॥

(पुरन्धिः) पुरूपपदाद् दधातेः कर्मण्यधिकरणे च (अ० ३।३।९३) इति 'कि' प्रत्ययोऽधिकरणे विधीयमानोऽपि कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति वचनाद् द्रष्टव्यः। पृषोदरादित्वादुकारस्य अम्भावः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१६७ भा० वा०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'वेदान्' इति ककोशे पाठः ॥

‡ 'विजानीहि' इति ककोशे पाठः ॥

अन्वयः—हे स्योने ! यां [त्वा] त्वां वसवो रुद्राश्चेमा ब्रह्म [1]दातॄन्§ गृहीतॄनभि-गृणन्तु सा त्वं सौभगायैतानि पीपिहि । घृतवती पुरन्धिः कुलायिनी सती पृथिव्याः सदने सीद । अध्वर्यू अश्विना त्वेह सादयताम् ॥२॥

भावार्थः—$स्त्रियः साङ्गोपाङ्गागमैश्वर्यसुखभोगाय स्वसदृशान् पतीनुपयम्य ∫विद्या-सुवर्णादिधनं प्राप्य सर्वर्त्तुसुखसाधकेषु गृहेषु निवसन्तु । विदुषां सङ्गं शास्त्राभ्यासं च सततं कुर्युः ॥२॥

फिर पूर्वोक्त विषय का अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

पदार्थः—हे (स्योने) सुख करनेहारी ! जिस (त्वा) तुझ को (वसवः) प्रथम कोटि के विद्वान् और (रुद्राः) मध्य कक्षा के विद्वान् (इमा) इन (ब्रह्म) विद्याधनों के देने वाले ‡गृहस्थों की (अभि) अभिमुख होकर (गृणन्तु) प्रशंसा करें, सो तू (सौभगाय) सुन्दर संपत्ति होने के लिये इन ‡विद्याधन को (पीपिहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो । (घृतवती) बहुत जल और (पुरन्धिः) बहुत सुख धारण करनेवाली (कुलायिनी) प्रशंसित कुल की प्राप्ति से युक्त हुई (पृथिव्याः) अपनी भूमि के (सदने) घर में (सीद) स्थित हो । (अध्वर्यू) अपने लिये रक्षणीय गृहाश्रम आदि यज्ञ चाहने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में §§व्यापक अध्यापक और उपदेशक पुरुष (त्वा) तुझको (इह) इस गृहाश्रम में (सादयताम्) स्थापित करें ॥२॥

भावार्थः—स्त्रियों को योग्य है कि साङ्गोपाङ्ग पूर्ण विद्या और धन ऐश्वर्य का सुख भोगने के लिये अपने सदृश पतियों से विवाह करके विद्या और सुवर्ण आदि धन को पाके सब ऋतुओं में सुख देनेहारे घरों में निवास करें, तथा विद्वानों का संग और शास्त्रों का अभ्यास निरन्तर किया करें ॥२॥

---

१. 'ब्रह्म दातॄन्' इति 'तृन्' प्रत्ययान्तोऽयं प्रयोगः । **न लोकाव्यय०** (अष्टा० २।३।६९) इति कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधे द्वितीया । 'दातॄन् गृहीतॄन्' इत्यत्र तु 'अभिगृणन्तु' इत्यस्य कर्मणि द्वितीया ॥२॥

---

§ 'दातॄन् ग्रहीतॄन्' इत्यंशस्तु ककोशे नास्ति । 'गृहस्थों की' इति भाषापदार्थेऽस्ति, स च सम्यक् प्रतिभाति ॥

$ 'स्त्रियः साङ्गोपाङ्गान् वेदानधीत्य...' इति ककोशे पाठः । तथैव च ककोशे भाषापदार्थेऽपि ॥

∫ 'विद्यासुवर्णादिधनं प्राप्य' इति ककोशे नास्ति । तथैव च ककोशे भाषापदार्थेऽपि नास्ति ॥

‡ 'वेदों की' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ॥

‡ 'वेदों को' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ॥

§§ 'विद्याओं के व्यापक अध्यापक' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे मुद्रिते च प्रमादेन नष्ट इति ध्येयम् ॥

स्वैर्दक्षैरित्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते । निचृद् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

स्वैर्द॒क्षैर्दक्ष॑पिते॒ह सी॑द दे॒वाना॑ꣳ सु॒म्ने बृ॑ह॒ते रणा॑य ।
पि॒तेवै॑धि सू॒नव॒ऽआ सु॒शेवा॑ स्वावे॒शा त॒न्वा॒ सं वि॑श-
स्वा॒श्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दयतामि॒ह त्वा॑ ॥३॥

स्वैः । दक्षैः । दक्ष॑पि॒तेति॒ दक्ष॑ऽपिता । इ॒ह । सी॒द॒ । दे॒वाना॑म् । सु॒म्ने । बृ॒ह॒ते । रणा॑य ॥ पि॒तेवेति॑ पि॒ताऽइ॑व । ए॒धि॒ । सू॒नवे॑ । आ । सु॒शेवेति॑ सु॒ऽशेवा॑ । स्वा॒वे॒शेति॑ सु॒ऽआ॒वे॒शा । त॒न्वा॒ । सम् । वि॒श॒स्व॒ । अ॒श्विना॑ । अ॒ध्व॒र्यू॒ऽइत्य॑ध्व॒र्यू । सा॒द॒य॒ता॒म् । इ॒ह । त्वा॒ ॥३॥

पदार्थः—(स्वैः) स्वकीयैः (दक्षैः[1]) बलैश्चतुरैर्भृत्यैर्वा (दक्षपिता) दक्षस्य बलस्य चतुराणां भृत्यानां वा पिता पालक (इह) अस्मिन् लोके (सीद) (देवानाम्) धार्मिकाणां विदुषां मध्ये (सुम्ने[2]) सुखे (बृहते) महते (रणाय) संग्रामाय (पितेव) (एधि) भव (सूनवे) अपत्याय (आ) (सुशेवा) सुष्ठु सुखा (स्वावेशा[3]) सुष्ठु [आ] समन्ताद् वेशो यस्याः सा (तन्वा) शरीरेण (सम्) एकीभावे (विशस्व) (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वाम् । [अयं मन्त्रः श० ८।१।२।६ व्याख्यातः] ॥३॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! त्वं यथा स्वैर्दक्षैः सह वर्तमानो देवानां बृहते रणाय सुम्ने दक्षपिता *विजयेन वर्धते, तथेहैधि । सुम्न आसीद, पितेव सूनवे सुशेवा स्वावेशा सती तन्वा संविशस्व । अध्वर्यू अश्विना त्वेह सादयताम् ॥३॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—स्त्रियो युद्धेऽपि पतिभिः सह तिष्ठेयुः, स्वकीयभृत्यपुत्रपश्वादीन्§ पितर इव पालयेयुः । सदैवात्युत्तमैर्वस्त्रभूषणैः शरीराणि संसृज्य वर्तेरन् । विद्वांसश्चैवमेताः सदोपदिशेयुः, स्त्रियोऽप्येतांश्च ॥३॥

---

१. 'दक्षः' इति बलनामसु । निघ० २।९॥

२. 'सुम्नाय' इति तु शतपथे (८।१।२।६) व्याख्यातम् ॥

३. 'स्वावेशेन' इति तु शतपथे (८।१।२।६) व्याख्यातम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दक्षपिता) षष्ठी तत्पुरुषे समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते दासीभाराणाञ्च (अ० ६।२।४२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । दक्षशब्दो घञन्तो ञित्वादाद्यु-

---

* 'विजयेन वर्धते तथेह' इति गकोशे प्रवर्धितः पाठः ॥

§ 'पश्वादीनां पितृवत्' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥

फिर भी पूर्वोक्त विषय को ही अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! तू जैसे (स्वैः) अपने (दक्षैः) बलों और भृत्यों के साथ वर्तता हुआ (देवानाम्) धर्मात्मा विद्वानों के मध्य§ में वर्त्तमान (बृहते) बड़े (रणाय) संग्राम के लिये (सुम्ने) सुख के विषय (दक्षपिता) बलों वा चतुर भृत्यों का पालन करनेहारा हाके $विजय से बढ़ता है, वैसे (इह) इस लोक के मध्य में (एधि) बढ़ती रह। (सुम्ने) सुख में (आसीद) स्थिर हो, और (पितेव) जैसे पिता (सूनवे) अपने पुत्र के लिये सुन्दर सुख देता है, वैसे (सुशेवा) सुन्दर सुख से युक्त (स्वावेशा) अच्छी प्रीति से ∫सुन्दर शुद्ध शरीर वस्त्र अलंकार को धारण करती हुई अपने पति के साथ प्रवेश करनेहारी हो के (तन्वा) शरीर के साथ [(संविशस्व)] प्रवेश कर। और (अध्वर्यू) गृहाश्रमादि यज्ञ की अपने लिये इच्छा करने वाले (अश्विना) पढ़ाने और उपदेश करनेहारे जन (त्वा) तुझ को (इह) इस गृहाश्रम में (सादयताम्) स्थित करें ॥३॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—स्त्रियों को चाहिये कि युद्ध में भी अपने पतियों के साथ स्थित रहें। अपने नौकर पुत्र और पशु आदि की पिता के समान रक्षा करें, और नित्य ही वस्त्र और आभूषणों मे अपने शरीरों को संयुक्त करके वर्त्तें। विद्वान् लोग भी इन को [ऐसा] सदा उपदेश करें और स्त्री‡ भी इन विद्वानों के लिए सदा उपदेश करें ॥३॥

पृथिव्याः पुरीषमित्यस्योशना ऋषिः। अश्विनौ देवते। *भुरिग् ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥४॥

दात्तः। बहुव्रीहौ तु **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **ऋतश्छन्दसि** (अ० ५।४।१५८) इति समासान्तस्य कपो निषेधः॥

(सुम्ने) पूर्वं (यजु २।१९) व्याख्यातः॥

(सुशेवा) पूर्वं (यजु ४।१२) व्याख्यातः॥

(स्वावेशा) शोभन आवेशो यस्याः सेति बहुव्रीहिः। **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥३॥

॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

---

§ 'मध्य में वर्त्तमान' इति गकोशे प्रवर्द्धितः पाठः॥

$ 'विजय से बढ़ता है, वैसे' इति गकोशे प्रवर्द्धितः पाठः॥

∫ 'सुन्दर शुद्ध शरीर वस्त्र अलङ्कार को धारण करती हुई' इति गकोशे प्रवर्द्धितः पाठः॥

‡ 'स्त्री लोग' इति कगकोशयोः पाठ॥

* 'स्वराड् ब्राह्मी' इति तु सार्वत्रिकः पाठः, स चापपाठः, पञ्चपञ्चाशदक्षरत्वात्॥

पृथिव्याः । पुरीषम् । असि । अप्सः । नाम । ताम् । त्वा । विश्वे । अभि । गृणन्तु । देवाः ॥ स्तोमपृष्ठेति स्तोमऽपृष्ठा । घृतवतीति घृतऽवती । इह । सीद । प्रजावदिति प्रजाऽवत् । अस्मेऽइत्यस्मे । द्रविणा । आ । यजस्व । अश्विना । अध्वर्यूऽइत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ॥४॥

पदार्थः—(पृथिव्याः) (पुरीषम्) पालनम् (असि) (अप्सः[1]) रूपम् (नाम) आख्याम् (ताम्) (त्वा) त्वाम् (विश्वे) सर्वे (अभि) (गृणन्तु) अर्चन्तु सत्कुर्वन्तु । गृणातीत्यर्चतिकर्मा । निघ० ३।१४ । (देवाः) विद्वांसः (स्तोमपृष्ठा) स्तोमानां पृष्ठं ज्ञीप्सा यस्याः सा (घृतवती) प्रशस्तान्याज्यादीनि विद्यन्ते यस्याः सा (इह) गृहाश्रमे (सीद) वर्तस्व (प्रजावत्) प्रशस्ताः प्रजा भवन्ति [2]यस्मात्तत् (अस्मे) अस्मभ्यम् (द्रविणा) धनानि, अत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७।१।३९] इत्याकारादेशः (§आ) समन्तात् (यजस्व) देहि (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) सत्ये व्यवहारे (त्वा) त्वाम् । [अयं मन्त्रः श० ८।२।१।७ व्याख्यातः] ॥४॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या स्तोमपृष्ठा त्वमिह पृथिव्याः पुरीषमप्सो नाम च घृतवत्यसि, तां त्वा विश्वे देवा अभिगृणन्त्विवह सीद । [यां] त्वाऽध्वर्यू अश्विनेह सादयतां, सा त्वमस्मे प्रजावद् द्रविणा यजस्व ॥४॥

भावार्थः—याः स्त्रियो गृहाश्रमविद्याक्रियाकौशलयोर्विदुष्यः स्युस्ता एव सर्वेभ्यः सुखानि दातुमर्हन्ति ॥४॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! जो (स्तोमपृष्ठा) स्तुतियों को जानने की इच्छायुक्त तू (इह) इस गृहाश्रम में (पृथिव्याः) पृथिवी की (पुरीषम्) रक्षा (अप्सः) सुन्दररूप और (नाम) नाम और (घृतवती) बहुत घी आदि प्रशंसित पदार्थों से युक्त (असि) है, (ताम्) उस (त्वा) तुझको (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (अभिगृणन्तु) सत्कार करें, (इह) इसी गृहाश्रम में (सीद) वर्त्तमान रह । और जिस (त्वा) तुझ को (अध्वर्यू) अपने लिये

---

१. 'अप्सः' इति रूपनाम । निघ० ३।७ ॥

२. अर्थप्रदर्शनमेतत् । विग्रहस्तु — प्रशस्ताः प्रजा विद्यन्ते यस्येति बोध्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुरीषम्) पूर्वं (यजु० ५।१३) व्याख्यातः ॥

(अप्सः) अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति । निरु० ५।१३ ॥ अत्र अप्सातेः घजर्थे कविधानम् (अष्टा० ३।३।५८ वा०) इति कर्मणि 'क' प्रत्ययः । आप्नोतेर्वा वृतृवदि० (उ० ३।५९) इति 'सः', उपधाह्रस्वत्वं च बाहुलकाद् बोध्यम् । उभयथाऽपि प्रत्ययस्वरे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम् । अत्राऽकारान्तमिदं पदम् । 'उषा हस्नेव नि रिणीते अप्सः' (ऋ० १।१२४।७) इति कर्मणि 'अप्सः' इति दर्शनात् सकारान्तमपि द्रष्टव्यम् । सकारान्तपक्षे सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुन्, धातोराकारलोपश्च बाहुलकात् ॥

(स्तोमपृष्ठा) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्

---

§ '(आ) समन्तात्' इति पाठः ककोशे नास्ति । स च गकोशे प्रवर्धित इति ज्ञेयम् ॥

अपने लिये रक्षणीय गृहाश्रमादि यज्ञ चाहने वाले (अश्विना) व्यापक बुद्धि बढ़ाने और उपदेश करनेहारे (इह) §इस गृहाश्रम में (सादयताम्) स्थित करें सो तू (अस्मे) हमारे लिये (प्रजावत्) प्रशंसित सन्तान होने का साधन (द्रविणा) धन (यजस्व) दे ॥४॥

भावार्थः—जो$ स्त्रियां गृहाश्रम की विद्या और क्रिया-कौशल में ʃविदुषी हों, वे ही सब प्राणियों को सुख दे सकती हैं ॥४॥

आदित्यास्त्वेत्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते । स्वराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अदि॑त्यास्त्वा पृ॒ष्ठे सा॑दयाम्य॒न्तरि॑क्षस्य ध॒र्त्रीं वि॒ष्टम्भ॑नीं
दि॒शामधि॑पत्नीं॒ भुव॑नानाम् ।
ऊ॒र्मिर्द्र॒प्सोऽअ॒पाम॑सि वि॒श्वक॑र्मा त॒ऽऋषि॑र॒श्विना॑ध्व॒र्यू
सा॑दयतामि॒ह त्वा॑ ॥५॥

अदि॑त्याः । त्वा॒ । पृ॒ष्ठे । सा॒द॒या॒मि॒ । अ॒न्तरि॑क्षस्य । ध॒र्त्रीम् । वि॒ष्टम्भ॑नीम् । दि॒शाम् । अधि॑पत्नी॒मित्यधि॑ऽपत्नीम् । भुव॑नानाम् । ऊ॒र्मिः । द्र॒प्सः । अ॒पाम् । अ॒सि॒ । वि॒श्वक॒र्मेति॑ वि॒श्वऽक॑र्मा । ते॒ । ऋषि॑ः । अ॒श्विना॑ । अ॒ध्व॒र्यू॒ऽइत्य॑ध्व॒र्यू॒ । सा॒द॒य॒ता॒म् । इ॒ह । त्वा॒ ॥५॥

पदार्थः—(आदित्याः) भूमेः (त्वा) त्वाम् (पृष्ठे) उपरि (सादयामि) स्थापयामि (अन्तरिक्षस्य) [1]अन्तरक्षयविज्ञानस्य (धर्त्रीम्) (विष्टम्भनीम्) (दिशाम्) पूर्वादीनाम्

(अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। स्तोमशब्दः पूर्वं (य० ३।५३) व्याख्यातः ॥

(प्रजावत्) प्रजाशब्दोऽन्तोदात्तः (य० १।१) व्याख्यातः। ततो मतुप्। तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः ॥

(अस्मे) पूर्वं (य० ३।११) व्याख्यातः ॥

(द्रविणा) पूर्वं (य० ८।६१) व्याख्यातः ॥४॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

1. **शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा । (निरु० २।१०)॥**

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(धर्त्रीम्) धर्तृ शब्दः तृजन्तोऽन्तोदात्तः। तत ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४।१।५) इति ङीपि, पित्त्वादनुदात्तत्वे यणादेशे उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६।१।१७४) इति ङीप उदात्तत्वम् ॥

(विष्टम्भनीम्) विपूर्वात् स्तभ्नातेः

---

§ 'सत्य व्यवहार में' इति तु संस्कृतानुसारम् ॥

$ 'जो स्त्री' इति तु सार्वत्रिकः पाठः। 'जो स्त्रियां' इति संस्कृतानुसारी पाठः ॥

ʃ 'विद्वान्' इति तु सार्वत्रिकः पाठः। तृतीयसंस्करणे तु 'विदुषी' इत्येवोपलभ्यते ॥

(अधिपत्नीम्) अधिष्ठातृत्वेन *पालिकाम् (भुवनानाम्) भवन्ति भूतानि येषु तेषां गृहाणाम् (ऊर्मिः) तरङ्ग इव (द्रप्सः) हर्षः (अपाम्) जलानाम् (असि) (विश्वकर्मा) शुभाखिलकर्मा (ते) तव (ऋषिः) विज्ञापकः पतिः (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वाम्। [अयं मन्त्रः श० ८।१।१।१० व्याख्यातः]।५॥

अन्वयः—हे स्त्रि! यस्ते विश्वकर्मर्षिः पतिरहमन्तरिक्षस्य धर्त्रीं दिशां विष्टंभनीं भुवनानामधिपत्नीं सूर्य्यामिव त्वादित्याः पृष्ठे सादयामि योपामूर्मिरिव ते द्रप्स आनन्दस्तेन युक्तासि तां त्वेहाध्वर्यू अश्विना सादयताम् ॥५॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—याः स्त्रियोऽक्षयसुखकारिण्यः प्रसिद्धदिक्कीर्त्तयो विद्वत्पतयः सदानन्दिताः सन्ति ता एव गृहाश्रमधर्मपालनोन्नतये प्रभवन्ति। मधुश्चेति [य० १३।२५] मन्त्रसारभ्यैतन्मन्त्रपर्य्यन्तं वसन्तर्त्तुगुणव्याख्यानं प्राधान्येन कृतमिति ज्ञेयम् ॥५।

फिर भी पूर्वोक्त विषय ही अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे स्त्रि! जो (ते) तेरा (विश्वकर्मा) सब शुभ कर्मों से युक्त (ऋषिः) विज्ञानदाता पति मैं (अन्तरिक्षस्य) अन्तःकरण के नाशरहित विज्ञान को (धर्त्रीम्) धारण करने (दिशाम्) पूर्वादि दिशाओं की (विष्टम्भनीम्) आधार और (भुवनानाम्) सन्तानोत्पत्ति के निमित्त घरों की (अधिपत्नीम्) अधिष्ठाता होने से पालन करने वाली (त्वा) तुझको सूर्य की किरण के समान (अदित्याः) पृथिवी के (पृष्ठे) पीठ पर (सादयामि) घर की अधिकारिणी स्थापित करता हूं जो तू (अपाम्) जलों की (ऊर्मिः) तरङ्ग के सदृश (द्रप्सः) आनन्दयुक्त (असि) है उस (त्वा) तुझ को (इह) इस गृहाश्रम में (अध्वर्यू) रक्षा के निमित्त यज्ञ को करने वाले (अश्विना) विद्या में व्याप्त बुद्धि[मान्] अध्यापक और उपदेशक पुरुष (सादयताम्) स्थापित करें।५॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जो स्त्री अविनाशी सुख देनेहारी सब दिशाओं में प्रसिद्ध कीर्ति वाली विद्वान् पतियों से युक्त सदा आनन्दित हैं वे ही गृहाश्रम का धर्म पालने और उस की

करणे ल्युट्। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। स्त्रियां टित्त्वान्ङीप्॥

(**अधिपत्नीम्**) **कुगतिप्रादयः** (अ० २।२।१८) इति समासे **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **विभाषा सपूर्वस्य** (अ० ४।१।३४) इति ङीप् नुक् च॥

(**ऊर्मिः**) पूर्व (यजु० ६।२७) व्याख्यातः॥

(**द्रप्सः**) पूर्व (यजु० १।२६) व्याख्यातः ॥५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

---

* 'पालयिकाम्' इति सार्वत्रिकोऽपपाठः॥

उन्नति के लिये समर्थ होती हैं। तेरहवें अध्याय में जो (मधुश्च० मं० २५) कहा है वहां से यहां तक वसन्त ऋतु के गुणों की प्रधानता से व्याख्यान किया है ऐसा जानना चाहिये ॥५॥

शुक्रश्चेत्यस्योशना ऋषिः। ग्रीष्मर्तुर्देवता। निचृदुत्कृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः॥

[1]अथ ग्रीष्मर्तुवर्णनमाह॥

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽ अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽ ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः।
येऽ अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे ग्रैष्मावृतूऽ अभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥६॥

शुक्रः। च। शुचिः। च। ग्रैष्मौ। ऋतू। अग्नेः। अन्तःश्लेष इत्यन्तःऽश्लेषः। असि। कल्पेताम्। द्यावापृथिवी इति द्यावाऽपृथिवी। कल्पन्ताम्। आपः। ओषधयः। कल्पन्ताम्। अग्नयः। पृथक्। मम। ज्यैष्ठ्याय। सव्रता इति सऽव्रताः। ये। अग्नयः। समनस इति सऽमनसः। अन्तरा। द्यावापृथिवी इति द्यावाऽपृथिवी। इमेऽइतीमे। ग्रैष्मौ। ऋतूऽइत्यृतू। अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः। इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव। देवाः। अभिसंविशन्त्वित्यभिऽसंविशन्तु। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवे इति ध्रुवे। सीदतम्॥६॥

पदार्थः—(शुक्रः) य आशु पांसुवर्षातीव्रतापाभ्यामन्तरिक्षं मलिनं करोति स ज्येष्ठः (च) (शुचिः) पवित्रकारक आषाढः (च) (ग्रैष्मौ) ग्रीष्मे भवौ (ऋतू) यावृच्छतस्तौ

---

१. अत्र 'पुनस्तमेव विषयमाह' इति सार्वत्रिकः पाठः, स चासम्यक् मन्त्रे 'ग्रैष्मावृतू' शब्दयोः श्रवणात्। तस्मादत्र यथा १३।२५ मन्त्रे 'अथ वसन्तर्तुवर्णनमाह'इत्येव युक्तः पाठो ज्ञेयः। 'शुक्रश्च शुचिश्च ग्रीष्मावृतू' इतोऽग्रे यो मन्त्रभागः स तु शतपथब्राह्मणे नास्त्येवेति ध्येयम्॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(शुक्रः) शुच् शब्दात् 'लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः' (अ० ४।४।१२८ भा० वा०) इति मत्वर्थे मासेऽभिधेये 'र' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। यथा तु पदार्थस्तथा आशुवाचिनः शूपपदात् करोतेः ड्ः प्रत्ययो भाष्यकारस्य मते। अत्र पक्षे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(शुचिः) लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (अ० ४।४।१२८ भा० वा०) इति इकारः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम्। यद्वा—शोचतेः इगुपधात् कित् (उ०

(अग्नेः) पावकस्य (अन्तःश्लेषः) मध्य आलिङ्गनम् (असि) अस्ति (कल्पेताम्) समर्थयेताम् (द्यावापृथिवी) प्रकाशान्तरिक्षे (कल्पन्ताम्) (आपः) जलानि (ओषधयः) यवसोमाद्याः (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठयाय) अतिशयेन प्रशस्यस्य भावाय (सव्रताः) सत्यैर्नियमैः सह वर्तमानाः (ये) (अग्नयः*) (समनसः) मनसा सह वर्तमानाः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) (इमे) (ग्रैष्मौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) आभिमुख्येन समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथा विद्युतम् (देवाः) विद्वांसः (अभिसंविशन्तु) अभितः सम्यक् प्रविशन्तु (तया) (देवतया) दिव्यगुणया (अङ्गिरस्वत्) अङ्गानां रसः कारणं तद्वत् (ध्रुवे) निश्चले (सीदतम्) विजानीतम्। [अयं मन्त्रः श० ८।२।१।१६ व्याख्यातः] ॥६॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ ! यथा मम ज्यैष्ठ्याय यो शुकश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ययोरग्नेरन्तःश्लेषोऽस्यस्ति† याभ्यां द्यावापृथिवी कल्पेतामापः कल्पन्तामोषधयोऽग्नयश्च ये पृथक् कल्पन्तां यथा समनसः सव्रता अग्नयोऽन्तरा कल्पन्ते तैर्ग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना देवा भवन्त इन्द्रमिव तानग्नीनभिसंविशन्तु तथा§ तया देवतया सह युवामिमे द्यावापृथिवी ध्रुवे एतौ चाङ्गिरस्वत् सीदतम् ॥६॥

अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—वसन्तर्त्तुव्याख्यानानन्तरं ग्रीष्मर्त्तुर्व्याख्यायते। हे मनुष्याः ! यूयं ये पृथिव्यादिस्थाः $शरीरात्ममानसाश्चाग्नयो वर्त्तन्ते यैर्विना ग्रीष्मर्त्तुसंभवो न जायते तां विज्ञायोपयुज्य सर्वेभ्यः सुखं प्रयच्छत ॥६॥

फिर भी ग्रीष्म ऋतु का व्याख्यान अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषों ! जैसे (मम) मेरे (ज्यैष्ठयाय) प्रशंसा के योग्य होने के लिये जो (शुक्रः) शीघ्र धूली की वर्षा और तीव्र ताप से आकाश को मलीन करनेहारा ज्येष्ठ (च) और (शुचिः) पवित्रता का हेतु आषाढ़ (च) ये दोनों मिल के प्रत्येक (ग्रैष्मौ) ग्रीष्म (ऋतू) ऋतु कहाते है। जिस (अग्नेः) अग्नि के (अन्तःश्लेषः) मध्य

४।१२०) इति इन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। धातूनामनेकार्थत्वात् शौचार्थकः॥

(**ग्रैष्मौ**) ग्रीष्मशब्दात् **तत्र भवः** (अ० ४।३।५३) इत्यर्थे **ग्रीष्मादञ्छन्दसि** (अ० ४।१।८६ ग० सू०) इति अञ्, ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(**पृथक्**) **प्रथेः कित्संप्रसारणं च** (उ० १।१३७) इत्यजिः प्रत्ययः सम्प्रसारणं च। प्रत्ययस्वरे प्राप्ते **निपाता आद्युदात्ताः** (फिट्० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम्। **काशिकायां** स्वरादिषु अन्तोदात्तेषु पाठः प्रामादिकः सर्वत्राद्युदात्तस्योपलम्भात्॥

* '(अग्नयः) विद्युदादयः' इति गकोशे पाठः॥

† 'अस्ति' इति गकोशे नास्ति, संशोधितः स्यात्॥

§ 'तथा' इति गकोशे प्रवर्धितः॥

$ 'आत्म' शब्दो गकोशे नास्ति॥

में कफ के रोग का निवारण (असि) होता है जिस से ग्रीष्म∫ ऋतु के महिनों से (द्यावापृथिवी) प्रकाश और अन्तरिक्ष (कल्पेताम्) समर्थ होवें (आपः) जल (कल्पन्ताम्) समर्थ हों (ओषधयः) यव वा सोमलता आदि ओषधियां और (ये) जो (अग्नयः) बिजुली आदि अग्नि (पृथक्) अलग अलग (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें। जैसे (समनसः) विचारशील (सव्रताः) सत्याचरणरूप नियमों से युक्त (अग्नयः) ‡अग्नि के तुल्य तेजस्वी को (अन्तरा) (ग्रैष्मौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) सन्मुख होकर समर्थ करते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (इन्द्रमिव) बिजुली के समान उन अग्नियों की विद्या में (अभिसंविशन्तु) सब ओर से अच्छे प्रकार प्रवेश करें वैसे (तया) उस (देवतया) परमेश्वर देवता के साथ तुम दोनों (इमे) इन (द्यावापृथिवी) प्रकाश और पृथिवी को (ध्रुवे) निश्चलस्वरूप से इन का भी (अङ्गिरस्वत्) अवयवों के कारणरूप रस के समान (सीदतम्) विशेष कर के ज्ञान कर प्रवर्त्तमान रहो ॥६॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—वसन्त ऋतु के व्याख्यान के पीछे ग्रीष्म ऋतु की व्याख्या करते हैं। हे मनुष्यो! तुम लोग जो पृथिवी आदि पञ्चभूतों के शरीर [तथा आत्मा] सम्बन्धी वा वा मानस अग्नि हैं कि जिन के विना ग्रीष्म ऋतु नहीं हो सकता उन को जान और उपयोग में ला के सब प्राणियों को सुख दिया करो ॥६॥

सजूर्ऋतुभिरित्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः। वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः। सजूर्ऋतुभिरित्यस्य [प्रथमस्य] भुरिक्[प्र]कृतिश्छन्दः। धैवतः स्वरः॥ सजूर्ऋतुभिरिति द्वितीयस्य स्वराट्पङ्क्तिश्छन्दः। सजूर्ऋतुभिरिति तृतीयस्य निचृदाकृतिश्छन्दः। [उभयोः] पञ्चमः स्वरश्च॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजू-

(ज्यैष्ठचाय) पूर्वं (यजु० ९।३९) व्याख्यातः॥

शिष्टं १३ २५ यजुषि व्याख्यातम् ॥६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

∫ 'ग्रीष्म ऋतु के महीनों से' इति गकोशे नास्ति॥

‡ 'पवित्र अग्नि आदि पदार्थों के' इति गकोशे पाठः। 'तेजस्वी जन होते हैं वैसे ही (ग्रैष्मौ) (ऋतू) ग्रीष्म ऋतु के ज्येष्ठ आषाढ़ दोनों महीनों को' इति ककोशे पाठः॥

विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥७॥

सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । सजूरिति सऽजूः । [देवैः ।] वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यूऽइत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । वसुभिरिति वसुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यूऽ इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सऽजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । रुद्रैः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यूऽइत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजू । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । आदित्यैः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यूऽइत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । विश्वैः । देवैः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यूऽइत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ॥७॥

पदार्थः—(सजूः) यः समानं प्रीणाति सेवते वा (ऋतुभिः) वसन्तादिभिश्च सह (सजूः) (विधाभिः) अद्भिः[1] (सजूः) (देवैः) दिव्यैर्गुणैः (सजूः) (देवैः)* दिव्यसुखप्रदैः (वयोनाधैः) वयांसि जीवनादीनि गायत्र्यादिछन्दांसि वा नह्यन्ति यैः [2]प्राणैस्तैः (अग्नये) पावकाय (त्वा) त्वाम् (वैश्वानराय) अखिलानां पदार्थानां नयनाय प्रापणाय (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वां स्त्रियं पुरुषं वा (सजूः) (ऋतुभिः) (सजूः)

१. आपो वै विधाः, अद्भिर्हीदꣳ सर्वं विहितम् । श० ८।२।२।८॥ २. प्राणा वै देवा वयोनाधाः, प्राणैर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम् । श० ८।२।२।८॥

* 'देवैः' इति पदम् अजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्तम्, कगकोशयोरुपलम्भात् ॥

(विधाभिः) (सजूः) (वसुभिः) अग्न्यादिभिरष्टभिः (सजूः) (देवैः) दिव्यैः (वयोनाधैः) वयांसि विज्ञानानि नह्यन्ति यैर्विद्वद्भिः (अग्नये) विज्ञानाय (त्वा) (वैश्वानराय) विश्वस्य सर्वस्य जगतो नायकाय (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) (सजूः) (ऋतुभिः) (सजूः) (विधाभिः) विविधानि वस्तूनि दधति याभिः प्राणचेष्टाभिस्ताभिः (सजूः†) (रुद्रैः) प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयजीवैः (सजूः) (देवैः) विद्वद्भिः (वयोनाधैः) वेदादिशास्त्रप्रज्ञापनप्रबन्धकैः (अग्नये) शास्त्रविज्ञानाय (त्वा) (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणामिदं सुखसाधकं तस्मै (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) (सजूः) (ऋतुभिः) सहचरितैः सुखैः (सजूः) (विधाभिः) विविधाभिः सत्यक्रियाधारिकाभिः क्रियाभिः (सजूः) (आदित्यैः) संवत्सरस्य द्वादशमासैः (सजूः) (देवैः) पूर्णविद्यैः (वयोनाधैः) पूर्णविद्याविज्ञानप्रचारप्रबन्धकैः (अग्नये) पूर्णाय विज्ञानाय (त्वा) (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणामिदं पूर्णसुखसाधनं तस्मै (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) (सजूः) (ऋतुभिः) सर्वैः कालावयवैः (सजूः) (विधाभिः) समस्ताभिः सुखव्यापिकाभिः [क्रियाभिः] (सजूः) (विश्वैः) समस्तैः (देवैः) परोपकाराय सत्यासत्यविज्ञापयितृभिः (सजूः) (देवैः§) (वयोनाधैः) ये वयः कामयमानं जीवनं नह्यन्ति तैः (अग्नये) सुशिक्षाप्रकाशाय (त्वा) (वैश्वनराय) विश्वेषां नराणामिदं हितं तस्मै (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा)। [अयं मन्त्रः श० ८।२।२।८ व्याख्यातः] ।।७।।

अन्वयः--हे स्त्रि पुरुष वा यं [यां वा] त्वा त्वामिहाध्वर्यू अश्विना वैश्वानरायाग्नये सादयतां वयं च यं त्वा सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्देवैस्सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूश्च भव। हे पुरुषार्थयुक्ते स्त्रि वा पुरुष ! यं त्वा त्वामिह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्वसुभिः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह च सजूर्भव। हे विद्याध्ययनाय प्रवृत्ते ब्रह्मचारिणि वा ब्रह्मचारिन् ! यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजू रुद्रैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवै सह च सजूर्भव। हे पूर्णविद्ये स्त्रि पुरुष वा यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूरादित्यैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह च सजूर्भव। हे सत्यार्थोपदेशिके स्त्रि पुरुष वा यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्विश्वैर्देवैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह च सजूर्भव। ७।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(विधाभिः) विपूर्वाद् दधातेः **आतश्चोपसर्गे** (अ० ३।१।१३६) इति 'कः'। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। स्त्रियां टाप्। एकादेशः। विभक्तेरनुदात्तत्वम् ।।

(वयोनाधैः) कर्मण्युपपदे नह्यतेः **कर्मण्यण्** (अ० ३।२।१) इति अण्। स च **कृतो बहुलम्**

---

† इतोऽग्रे '(रुद्रैः) प्राणचेष्टाभिः ताभिः (सजूः)' इति पाठ आसीत्, स च द्विरुक्तत्वात्, ककोशे च नास्तीति कृत्वा पृथक् कृत इति ध्येयम् ।।

§ 'देवैः सत्योपदेशकैरतिथिभिः' इति ककोशे पाठः ।।

भावार्थः—अस्मिन् जगति मनुष्यजन्म प्राप्य स्त्रियो विदुष्यः पुरुषा विद्वांसश्च भूत्वा येषु ब्रह्मचर्यविद्यासुशिक्षाग्रहणादिषु शुभेषु कर्मसु स्वयं प्रवृत्ता भूत्वा यानन्यान् प्रवर्त्तयेयुस्तेऽत्र प्रवर्त्तित्वा§ परमेश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां यथार्थेन विज्ञानेनोपयोगं संगृह्य सर्वेष्वृतुषु स्वयं सुखयन्त्वन्यांश्च ॥७॥

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि वा पुरुष ! जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस जगत् में (अध्वर्यू) रक्षा करनेहारे (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक पढ़ाने और उपदेश करने वाले पुरुष और स्त्री (वैश्वानराय) सम्पूर्ण पदार्थों की प्राप्ति के निमित्त (अग्नये) अग्निविद्या के लिये (सादयताम्) नियुक्त करें और हम लोग भी जिस (त्वा) तुझ को स्थापित करें सो तू (ऋतुभिः) वसन्त और वर्षा आदि ऋतुओं के साथ (सजूः) एकसी तृप्ति वा सेवा से युक्त (विधाभिः) जलों के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त (देवैः) अच्छे गुणों के साथ (सजूः) प्रीति वाली वा प्रीति वाला और (वयोनाधैः) जीवन आदि वा गायत्री आदि छन्दों के साथ सम्बन्ध के हेतु (देवैः) दिव्य सुख देनेहारे प्राणों के साथ (सजूः) समान सेवन से युक्त हो। हे पुरुषार्थयुक्त स्त्रि वा पुरुष ! जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस गृहाश्रम में (वैश्वानराय) सब जगत् के नायक (अग्नये) विज्ञानदाता ईश्वर की प्राप्ति के लिये (अध्वर्यू) रक्षक (अश्विना) सब विद्याओं में व्याप्त अध्यापक और उपदेशक (सादयताम्) स्थापित करें और जिस (त्वा) तुझ को हम लोग नियत करें सो तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सजूः) समान सेवन वाले (वसुभिः) अग्नि आदि आठ पदार्थों के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त और (वयोनाधैः) विज्ञान का सम्बन्ध करानेहारे (देवैः) सुन्दर विद्वानों के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले हों। हे विद्या पढ़ने के लिये प्रवृत्त हुये ब्रह्मचारिणी वा ब्रह्मचारी ! जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस ब्रह्मचर्य्याश्रम में (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के सुख के साधन (अग्नये) शास्त्रों के विज्ञान के लिये (अध्वर्यू) पालनेहारे (अश्विना) पूर्णविद्यायुक्त अध्यापक और उपदेशक लोग (सादयताम्) नियुक्त करें और जिस (त्वा) तुझ को हम लोग स्थापित करें सो तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सजूः) अनुकूल सेवन वाले (विधाभिः) विविध प्रकार के पदार्थों के धारण के निमित्त प्राण की चेष्टाओं से (सजूः) समान प्रीति वाले (रुद्रैः) प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा इन ग्यारहों के (सजूः) अनुसार सेवा करनेहारे और (वयोनाधैः) वेदादि शास्त्रों के जनाने का प्रबन्ध करानेहारे (देवैः) विद्वानों के साथ (सजूः) बराबर प्रीति वाले हों। हे पूर्णविद्या वाले स्त्री वा पुरुष ! जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस संसार में (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के लिये पूर्ण सुख के साथ (अग्नये) पूर्ण विज्ञान के लिये (अध्वर्यू) रक्षक

(अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति वचनात् करणे द्रष्टव्यः। छान्दसो हकारस्य धकारः। **गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९)** इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥७॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ साम्प्रतिकानां मते 'प्रवर्त्त्य' इति स्यात् ॥

(अश्विना) शीघ्र ज्ञानदाता लोग (सादयताम्) नियत करें, और जिस (त्वा) तुझ को हम नियुक्त करें, सो तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सजू) अनुकूल आचरण करने वाले (विधाभिः) विविध प्रकार की सत्यक्रियाओं के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले (आदित्यैः) वर्ष के बारह महीनों के साथ (सजूः) अनुकूल आहारविहार युक्त और (वयोनाधैः) पूर्ण विद्या के विज्ञान और प्रचार के प्रबन्ध करनेहारे (देवैः) पूर्णविद्या-युक्त विद्वानों के (सजूः) अनुकूल प्रीति वाले हों। हे सत्य अर्थों का उपदेश करनेहारी स्त्री वा पुरुष ! जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस जगत् में (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के हितकारी (अग्नये) अच्छी शिक्षा के प्रकाश के लिये (अध्वर्यू) ब्रह्मविद्या के रक्षक (अश्विना) शीघ्र पढ़ाने और उपदेश करनेहारे लोग (सादयताम्) स्थित करें, और जिस (त्वा) तुझ को हम लोग नियत करें, सो तू (ऋतुभिः) काल क्षण आदि सब अवयवों के साथ (सजूः) अनुकूलसेवी (विधाभिः) सुखों में व्यापक सब क्रियाओं के (सजूः) अनुसार होकर (विश्वैः) सब (देवैः) सत्योपदेशक पतियों के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले और (वयोनाधैः) कामयमान जीवन का सम्बन्ध करानेहारे (देवैः) परोपकार के लिये सत्य असत्य के जनाने वाले जनों के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले हों ॥७॥

भावार्थः—इस संसार में मनुष्य का जन्म पाके स्त्री तथा पुरुष विद्वान् होकर जिन ब्रह्मचर्य्य-सेवन, विद्या और अच्छी शिक्षा के ग्रहण आदि शुभ गुण कर्मों में आप प्रवृत्त होकर जिन अन्य लोगों को प्रवृत्त करें, वे उन में प्रवृत्त होकर परमेश्वर से लेके पृथिवी-पर्यन्त पदार्थों के यथार्थ विज्ञान से उपयोग ग्रहण करके सब ऋतुओं में आप सुखी रहें, और अन्यों को सुखी करें ॥७॥

प्राणम्म इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । दम्पती देवते । *भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

प्राणम्मे पाह्यपानम्मे पाहि व्यानम्मे पाहि चक्षुर्मऽउर्व्या
विभाहि श्रोत्रम्मे श्लोकय ।
अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि
दिवो वृष्टिमेरय ॥८॥

प्राणम् । मे । पाहि । अपानमित्यपऽआनम् । मे । पाहि । व्यानमिति विऽआनम् । मे । पाहि । चक्षुः । मे । उर्व्या । वि । भाहि । श्रोत्रम् । मे । श्लोकय ॥ अपः । पिन्व । ओषधीः । जिन्व ।

* 'निचृदतिजगती' इत्यजमेरमुद्रिते, कगकोशयोश्च पाठः । स चापपाठः ॥

द्विपादिति द्विऽपात् । अव । चतुष्पात् । चतुःपादिति चतुःऽपात् । पाहि । दिवः । वृष्टिम् । आ । ईरय ॥८॥

पदार्थः—(प्राणम्) नाभेरूर्ध्वगामिनम् (मे) मम (पाहि) रक्ष (अपानम्) यो नाभेरर्वाग्गच्छति तम् (मे) मम (पाहि) (व्यानम्) यो विविधेषु शरीरसंधिष्वनिति तम् (मे) (पाहि) (चक्षुः) नेत्रम् (मे) (उर्व्या) बहुरूपयोत्तमफलप्रदया पृथिव्या सह । उर्वीति पृथिवीनामसु० । निघ० १।१ (वि) (भाहि) (श्रोत्रम्) (मे) (श्लोकय) शास्त्रश्रवणाय सम्बन्धय (अपः) प्राणान् (पिन्व) §पुष्णीहि सिञ्च (ओषधीः) सोमयवादीन् (जिन्व) प्राप्नुहि । जिन्वतीति गतिकर्मा । निघं० २।१४ (द्विपात्) मनुष्यादीन् (अव) रक्ष (चतुष्पात्) गवादीन् (पाहि) (दिवः) सूर्य्यप्रकाशात् (वृष्टिम्) (आ) (ईरय) प्रेरय । [अयं मन्त्रः श० ८।२।३।३ व्याख्यातः] ।।८।।

अन्वयः—हे पते स्त्रि पुरुष वा ! त्वमुर्व्या सह मे प्राणं पाहि मेऽपानं पाहि मे व्यानं पाहि मे चक्षुर्विभाहि मे श्रोत्रं श्लोकयापः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि । यथा सूर्यो दिवो वृष्टिं करोति तथा गृहकृत्यमेरय ।।८।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—स्त्रीपुरुषौ स्वयंवरं विवाहं विधायातिप्रेम्णा परस्परं प्राणप्रियाचरणं शास्त्रश्रवणमोषध्यादिसेवनं कृत्वा यज्ञाद् वृष्टिं च कारयेताम् ।।८।।

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे पते वा स्त्री ! तू (उर्व्या) बहुत प्रकार की उत्तम क्रिया से (मे) मेरे (प्राणम्) नाभि से ऊपर को चलने वाले प्राणवायु की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (अपानम्) नाभि के नीचे गुह्येन्द्रिय मार्ग से निकलने वाले अपान वायु की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (व्यानम्) विविध प्रकार की शरीर की संधियों में रहने वाले व्यान वायु की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (चक्षुः) नेत्रों को (विभाहि) प्रकाशित कर, (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कानों को (श्लोकय) शास्त्रों के श्रवण से सयुक्त कर, (अपः) प्राणों को (पिन्व) पुष्ट कर, (ओषधीः) सोमलता वा यव आदि ओषधियों को (जिन्व) प्राप्त हो, (द्विपात्) मनुष्यादि दो पगवाले प्राणियों की (अव) रक्षा कर, (चतुष्पात्) चार पग वाले गौ आदि की (पाहि) रक्षा कर । और जैसे सूर्य्य (दिवः) अपने प्रकाश से (वृष्टिम्) वर्षा करता है, वैसे घर के कार्यों को (एरय) अच्छे प्रकार प्राप्त कर ।।८।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उर्व्या) उर्वी शब्दो 'ङीष्' प्रत्ययान्तः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (अ० ६।१।१७४) इति विभक्तिरनुदात्ता ।।८

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

§ साम्प्रतिकानां मते 'पुषाण' इति स्यात् ।।

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि स्वयंवर विवाह करके अति प्रेम के साथ आपस में प्राण के समान प्रियाचरण, शास्त्रों का सुनना, ओषधि आदि का सेवन और यज्ञ के अनुष्ठान से वर्षा करावें ॥८॥

मूर्धा वय इत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । प्राजापत्यादयो देवताः । पूर्वस्य निचृद्ब्राह्मी पङ्क्तिः, पुरुष इत्युत्तरस्य ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो बस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः सिꣳहो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड् वयो बृहती छन्दऽ उक्षा वयः ककुप् छन्दऽ ऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः ॥९॥

मूर्धा । वयः । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । छन्दः । क्षत्रम् । वयः । मयन्दम् । छन्दः । विष्टम्भः । वयः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । छन्दः । विश्वकर्म्मेति विश्वऽकर्म्मा । वयः । परमेष्ठी । परमेस्थीति परमेऽस्थी । छन्दः । बस्तः । वयः । विवलमिति विऽवलम् । छन्दः । वृष्णिः । वयः । विशालमिति विऽशालम् । छन्दः । पुरुषः । वयः । तन्द्रम् । छन्दः । व्याघ्रः । वयः । अनाधृष्टम् । छन्दः । सिꣳहः । वयः । छदिः । छन्दः । पष्ठवाडिति पष्ठऽवाट् । वयः । बृहती । छन्दः । उक्षा । वयः । ककुप् । छन्दः । ऋषभः । वयः । सतोबृहतीति सतःऽबृहती । छन्दः ॥९॥

पदार्थः—(मूर्धा) मूर्धावदुत्तमं ब्राह्मणकुलम् (वयः) कमनीयम् (प्रजापतिः) प्रजापालकः (छन्दः) विद्याधर्मशमादिकर्म (क्षत्रम्) क्षत्रियकुलम् (वयः) न्यायविनयपराक्रमव्याप्तम् (मयन्दम्) यन्मयं सुखं ददाति तत् (छन्दः) बलयुक्तम् (विष्टम्भः)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मूर्धा) पूर्वं (यजु० ३।१२) व्याख्यातः ॥

(क्षत्रम्) पूर्वं (यजु० ५।२७) पदार्थे व्याख्यातः ॥

(मयन्दम्) कर्मण्युपपदे ददातेः आतो-

विशो वैश्यस्य विष्टम्भो रक्षणं येन (वयः) प्रजनकः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (छन्दः) स्वाधीनः (विश्वकर्मा) अखिलोत्तमकर्मकर्ता राजा (वयः) कमिता **(परमेष्ठी) सर्वेषां स्वामी (छन्दः) स्वाधीनः (बस्तः) व्यवहारैराच्छादितो युक्तः (वयः) विविधव्यवहारव्यापी (विवलम्) विविधं बलं यस्मात् (छन्दः) (वृष्णिः) सुखसेचकः (वयः) सुखप्रापकम् (विशालम्) विस्तीर्णम् (छन्दः) स्वाच्छन्द्यम् (पुरुषः) पुरुषार्थयुक्त (वयः) कमनीयं कर्म्म (तन्द्रम्) कुटुम्बधारणम्** । अत्र तत्रि कुटुम्बधारण इत्यस्मादच्, वर्णव्यत्ययेन तस्य दः (छन्दः) **बलम् (व्याघ्रः) यो विविधान समन्ताज्जिघ्रति (वयः) कमनीयम् (अनाधृष्टम्) धाष्टर्च्यम् (छन्दः) बलम् (सिंहः) यो हिनस्ति पश्वादीन्** सः (वयः) **पराक्रमम्** (छदिः) **अपवारणम् (छन्दः) प्रदीपनम् (*पष्ठवाट्)** यः पष्ठेन पृष्ठेन **वहत्युष्ट्रादिः । वर्णव्यत्ययेन ऋकारस्यात्राकारादेशः (वयः) बलवान् (बृहती) महत्त्वम् (छन्दः) पराक्रमम् (उक्षा) सेचको वृषभः (वयः) बलिष्ठः (ककुप्)** दिशः (छन्दः) **आनन्दम्** (ऋषभः) **गतिमान् पशुः (वयः) बलिष्ठः (सतोबृहती) (छन्दः) स्वातन्त्र्यम्** । [अयं मन्त्रः श० ८।२।३।१०-१३; ८।२।४।१-८ व्याख्यातः] ॥९॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा ! मूर्धा प्रजापतिरिव त्वं †वयो मयन्दं छन्द क्षत्रमेरय, विष्टम्भोऽधिपतिरिव त्वं वयश्छन्दः एरय, विश्वकर्मा परमेष्ठीव त्वं वयश्छन्द **एरय**, बस्त **इव त्वं** वयो विवलं छन्द एरय वृष्णिरिव **त्वं** विशालवयश्छन्द एरय । पुरुष **इव त्वं** वयस्तन्द्रं छन्द **एरय**, व्याघ्र **इव त्वं** वयोनाधृष्टं छन्द एरय, सिंह **इव त्वं** वयश्छदिश्छन्द **एरय**, पष्ठवाडिव **त्वं** बृहती वयश्छन्द **एरय**, उक्षेव त्वं वयः ककुप्छन्द **एरय**, ऋषभ **इव त्वं** वयः सतोबृहती छन्द **एरय प्रेरय** ॥९॥

ऽनुपसर्गे कः (अ० ३।२।३) इति 'कः'। उपपदसमासे छान्दसो विभक्तेरलुक्, 'वशंवद' आदिवद् मुमागमो वा द्रष्टव्यः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **दासीभाराणाञ्च** (अ० ६।२।४२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। मयशब्दोऽच् प्रत्ययान्तो **वृषादित्वादाद्युदात्तः** ॥

(विष्टम्भः) 'विश्' उपपदात स्तम्भतेः **अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्** (अ० ३।३।१९) इति करणे 'घञ्'। **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४४) इति उत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वम्। उपपदशकारस्य षकारः, तद्योगे धातोः ष्टुत्वम्, एकस्य षकारस्य लोपः। पदकारास्तु व्युत्पत्तेरनेकार्थत्वान्नावगृह्णन्ति ॥

(परमेष्ठी) पूर्वं (यजु० ८।५४) व्याख्यातः ॥

(बस्तः) वस आच्छादने (अदा० आ०) कर्मणि 'क्तः'। छान्दस इडभावः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(विबलम्) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम्। पदकारास्तु 'विवलम्' पाठमाहुः। पर पदपाटस्यैकस्मिन् प्राचीने कोशे 'विबलम्' इति बकारवान् पाठ एवोपलभ्यते। द्र० माध्यन्दिनपदपाठ पृष्ठ २३७ यु० मी० सम्पादितः ॥

(वृष्णिः) 'वृष' धातोः **सृवृषिभ्यां कित्** (उ० ४।४९) इति 'निः' प्रत्ययः, कित्त्वाद्गुणाभावः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनात्राद्युदात्तत्वम् वेदेषु। वृष्णिशब्द आद्यु-

---

* 'पृष्ठवाट्' इति तु निर्णयसागरसंस्करणे पाठः। उवटभाष्येऽपि तथैव। महीधरभाष्ये तु 'पष्ठवाट्' इत्येव पाठः, शतपथब्राह्मणेऽपि 'पष्ठवाट्' इत्येव पाठः ॥

† अत्रान्वये 'वयः' 'छन्दः' इति मन्त्रगतं पदद्वयं नास्तीति ध्येयम् ॥

अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—एरयेति पूर्वस्मान्मन्त्रादनुवर्त्तते । स्त्रीपुरुषैर्ब्राह्मणादिवर्णान् स्वच्छन्दान् संपाद्य वेदादीन् प्रचार्य्यालस्यादिकं त्यक्त्वा शत्रून्निवार्य्य महद्बलं सदा वर्द्धनीयम् ॥९॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! (मूर्धा) शिर के तुल्य उत्तम ब्राह्मण का कुल (प्रजापतिः) प्रजा के रक्षक राजा के समान तू (वयः) कामना के योग्य [(छन्दः) विद्या धर्मशमादि कर्म को प्रेरित कर, (वयः) न्याय विनय पराक्रम से युक्त] (मयन्दम्) सुखदायक (छन्दः) बलयुक्त (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल को प्रेरणा कर, (विष्टम्भः) वैश्यों की रक्षा का हेतु (अधिपतिः) अधिष्ठाता पुरुष नृप के समान तू (वयः) न्याय विनय को प्राप्त हुए (छन्दः) स्वाधीन पुरुष को प्रेरणा कर, (विश्वकर्मा) सब उत्तम कर्म करने हारे (परमेष्ठी) सब के स्वामी राजा के समान तू (वयः) चाहने योग्य (छन्दः) स्वतन्त्रता को§ बढ़ाइये । (बस्तः) व्यवहारों से युक्त पुरुष के समान तू (वयः) अनेक प्रकार के व्यवहारों में व्यापी (विवलम्) विविध बल के हेतु (छन्दः) आनन्द को बढ़ा, (वृष्णिः) सुख के सेचने वाले के सदृश तू (विशालम्) विस्तारयुक्त (वयः) सुखदायक (छन्दः) स्वतन्त्रता को बढ़ा, (पुरुषः) पुरुषार्थयुक्त जन के तुल्य तू (वयः) चाहने योग्य (तन्द्रम्) कुटुम्ब के धारणरूप कर्म्म और (छन्दः) बल को बढ़ा, (व्याघ्रः) जो विविध प्रकार के पदार्थों को अच्छे प्रकार सूंघता है, उस जन्तु के तुल्य राजा तू (वयः)

दात्तः (यजु० १४।९), अन्तोदात्तः (ऋ० १।१०।१२; ऋ० ८।६।६) उभथाप्युपलभ्यते ॥

(विशालम्) 'वि' इत्यस्मात् **वेः शालच्छङ्कटचौ (अ० ५।२।२८)** इति 'शालच्' प्रत्ययः चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(तन्द्रम्) तत्रि कुटुम्बधारणे (चु०) अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ भा० वा०) इत्यच् । वर्णव्यत्ययेन तकारस्य दकार । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम । काशिकाकारस्तु 'तन्द्रालु' पदव्याख्याने (अ०३।२।१५८) तत्पूर्वे द्रातौ नकारान्तत्वनिपातनमाह । हंसराजस्तु 'तन्द्रा' इति सौत्रं धातुं मनुते । द्र० न्यायसंग्रह पृष्ठ १२२) ॥

(व्याघ्रः) 'वि' 'आङ्' पूर्वाद् जिघ्रतेः **आतश्चोपसर्गे (अ० ३।१।१३६)** इति 'कः' प्रत्ययः । कित्त्वादाकारलोपः । **गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९)** इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सिंहः) हिसि हिंसायाम् (रुधा० प०) पचाद्यच् । 'हिंसः' इति जाते वर्णविपर्ययेण सिंहः । तथा च महाभाष्ये पतञ्जलिः—**'हिंसेः सिंह ' (नवाह्निक हयवरट् सूत्रभाष्ये)** चित्त्वादन्तोदात्तः । काशकृत्स्नस्तु सिंहि धात्वन्तरं पठति ॥

(छदिः) पूर्वं (यजु० ५।२८) व्याख्यातः ॥

(पष्ठवाट्) पृष्ठ उपपदे **वहश्च (अ० ३।२।६४)** इति 'ण्विः' । वर्णव्यत्ययेन ऋकारस्याकारः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(उक्षा) उक्ष सेचने (भ्वा० प०) अस्मात् **श्वन्नुक्षन्पूषन्० (उ० १।१५९)** इतिकनिनप्रत्ययान्तो निपातितः । निपातनादन्तोदात्तः ॥

(ककुप्) कक लौल्ये (भ्वा० आ०)

§ इतोऽग्रेऽजमेरमुद्रिते '(एरय)' इति पाठः । स चापपाठः ॥

चाहने योग्य (अनाधृष्टम्) दृढ़ (छन्दः) बल को बढ़ा, (सिंहः) पशु आदि को मारनेहारे सिंह के समान पराक्रमी राजा तू (वयः) पराक्रम के साथ (छदिः) निरोध और (छन्दः) प्रकाश को बढ़ा, (पष्ठवाट्) पीठ से बोझ उठाने वाले ऊंट आदि के सदृश वैश्य तू (बृहती) बड़े (वयः) बलयुक्त (छन्दः) पराक्रम को प्रेरणा कर, (उक्षा) सींचनेहारे बैल के तुल्य शूद्र तू (वयः) अति बल का हेतु (ककुप्) दिशाओं और (छन्दः) आनन्द को बढ़ा, (ऋषभः) शीघ्रगन्ता पशु के तुल्य भृत्य तू (वयः) बल के साथ (सतोबृहती) उत्तम बड़ी (छन्दः) स्वतन्त्रता की प्रेरणा कर ॥९॥

इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—और पूर्व मन्त्र से 'एरय' पद की अनुवृत्ति आती है। स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि ब्राह्मण आदि वर्णों को स्वतन्त्र, वेदादि शास्त्रों का प्रचार, आलस्यादि त्याग और शत्रुओं का निवारण करके बड़े बल को सदा बढ़ाया करें ॥९॥

अनड्वानित्यस्य विश्वदेव ऋषिः। विद्वांसो देवताः। स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अनड्वान् वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्द-
स्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड् वयो विराट् छन्दः
पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वयऽ उष्णिक्
छन्दस्तुर्यवाड् वयोऽनुष्टुप् छन्दः ॥१०॥

अनड्वान्। वयः। पङ्क्तिः। छन्दः। धेनुः। वयः। जगती। छन्दः। त्र्यविरिति त्रिऽअविः। वयः। त्रिष्टुप्। त्रिस्तुबिति त्रिऽस्तुप्। छन्दः। दित्यवाडिति दित्यऽवाट्। वयः। विराडिति विऽराट्। छन्दः। पञ्चाविरिति पञ्चऽअविः। वयः। गायत्री। छन्दः। त्रिवत्स इति त्रिऽवत्सः। वयः। उष्णिक्। छन्दः। तुर्यवाडिति तुर्यऽवाट्। वयः। अनुष्टुप्। अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप्। छन्दः ॥१०॥

अस्माद् बाहुलकादौणादिक 'उभच्' प्रत्ययः। चित्स्वरः। सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इति द्वितीयाविभक्तेर्लुक्। यद्वा—केन प्रजापतिना स्कुभ्यन्ते विस्तीर्यन्ते धार्यन्ते वेति ककुभः। के उपपदे स्कुम्नातेः सौत्राद् धातोः 'क्विप्'। पृषोदरादित्वात् सलोपः। उपपदसमासः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। विभक्तिलुक् पूर्ववद् बोध्यः ॥

(सतोबृहती) सच्चासौ बृहती। छान्दसः पूर्वपदस्यासुगागमः, पूर्वपदान्तोदात्तत्वं च ॥९

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

पदार्थः—(अनड्वान्) वृषभः (वयः) बलम् (पङ्क्तिः) (छन्दः) (धेनुः) दुग्धप्रदा (वयः) कामनाम् (जगती) जगदुपकारकम् (छन्दः) [1]आह्लादनम् (त्र्यविः) त्रयोऽव्यादयो[2] यस्मात्तम् (वयः) प्रजननम् (त्रिष्टुप्) त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तुवन्ति यया सा (छन्दः) ([3]दित्यवाट्) दितिभिः खण्डनैर्निर्वृत्तान् यवादीन् वहति (वयः) प्रापणम् (विराट्) (छन्दः) आनन्दकरम् (पञ्चाविः) पञ्चेन्द्रियाण्यवन्ति येन सः (वयः) विज्ञानम् (गायत्री) (छन्दः) (त्रिवत्सः) त्रयः कर्मोपासनाज्ञानानि वत्सा इव यस्य सः (वयः) पराक्रमम् (उष्णिक्) यद् दुःखानि दहति तम् (छन्दः) (तुर्यवाट्) तुर्यान् चतुरो वेदान् वहति येन सः [(वयः) कान्तिम्] (अनुष्टुप्) अनुस्तौति यया सा (छन्दः) सुखसाधकम्। अत्र पूर्ववत् मंत्रत्रयप्रतीकानि लोकन्ता इन्द्रमिति लिखितानि *निवारितानि। [अयं मन्त्रः श० ८।२।४।९-१५ व्याख्यातः] ॥१०॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा! अनड्वानिव त्वं पङ्क्तिश्छन्दो वय एरय, धेनुरिव त्वं जगती छन्दो वय एरय, त्र्यविरिव त्वं त्रिष्टुप् छन्दो वय एरय, दित्यवाडिव त्वं विराट् छन्दो वय एरय, पञ्चाविरिव त्वं गायत्री छन्दो वय एरय, त्रिवत्स इव त्वमुष्णिक् छन्दो वय एरय, तुर्य्यवाडिव त्वमनुष्टुप्छन्दो वय एरय ॥१०॥

अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ।

भावार्थः—एरयपदानुवृत्तिश्च। यथाऽनडुहादीनां रक्षणेन कृषीवला अन्नादीन्युत्पाद्य सर्वान् सुखयन्ति, तथैव विद्वांसः स्त्रीपुरुषा विद्याः प्रचार्य्य सर्वानानन्दयन्ति ॥१०॥

---

१. 'चदि आह्लादने दीप्तौ च' इति धातोः, चदेरादेश्च छः। उ० ४।२१९ ॥

२. आदिशब्दात्। अजा गौश्चेत्यपि ॥

३. दित्यदित्यादित्यप-युत्तरपदाण्ण्यः (अ० ४।१।८५) इति 'दिति' शब्दात् छान्दसत्वाददेशनाम्न्यप्यत्र सामान्येन 'ण्यः' प्रत्ययः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अनड्वान्) अनः शकटं वहतीति अनड्वान्। 'अनस्' शब्दे उपपदे वहतेः वहेः क्विबनसो डश्च (दश० उ० ६।१०७) इति 'क्विप्' प्रत्ययः, सकारस्य च डकारः। सम्प्रसारणम्। गतिकारकोपपदात् कृत (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः—'अनडुह्' शब्दः। ततः प्रथमैकवचने सौ चतुरनडुहोरामुदात्तः (अ० ७।१।९८) इत्यामागमः, स चोदात्तः। सावनडुहः (अ० ७।१।८२) इति 'नुम्'। पदत्वे संयोगान्तस्य लोपः (अ० ८।२।२३) इति हकारलोपः। आम् स्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(पङ्क्ति) पूर्वं (यजु० १०।१४) व्याख्यातः ॥

(त्र्यविः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पराविश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(पञ्चाविः) अवनम् अविः। भावे औणादिक 'इन्'। पञ्चानाम् अविः रक्षणं येनेति बहुव्रीहिः। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पञ्चन् शब्द आद्युदात्तः पूर्वं (यजु० १।९) व्याख्यातः ॥

(त्रिवत्सः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पराविश्च परान्तश्च० (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इति परस्यान्तोदात्तत्वम् ॥

---

* 'निवारितानि' इति गकोशे प्रवर्द्धितः पाठः ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! (अनड्वान्) गौ और बैल के समान बलवान् हो के तू (पङ्क्तिः) प्रकट (छन्दः) स्वतन्त्र (वयः) बल की प्रेरणा कर, (धेनुः) दूध देनेहारी गौ के समान तू (जगती) जगत् के उपकारक (छन्दः) आनन्द की (वयः) कामना को बढ़ा, (त्र्यविः) तीन भेड़ बकरी और गौ के अध्यक्ष के तुल्य वृद्धियुक्त हो के तू (त्रिष्टुप्) कर्म्म उपासना और ज्ञान की स्तुति के हेतु (छन्दः) स्वतन्त्र (वयः) उत्पत्ति को बढ़ा, (दित्यवाड्) पृथिवी खोदने से उत्पन्न हुए जौ आदि को प्राप्त करानेहारी क्रिया के तुल्य तू (विराट्) विविध प्रकाशयुक्त (छन्दः) आनन्दकारक (वयः) प्राप्ति को बढ़ा, (पञ्चाविः) पञ्च इन्द्रियों की रक्षा के हेतु ओषधि के समान तू (गायत्री) गायत्री (छन्दः) मन्त्र के (वयः) विज्ञान को बढ़ा, (त्रिवत्सः) कर्म उपासना और ज्ञान को चाहनेहारे के तुल्य तू (उष्णिक्) दुःखों के नाशक (छन्दः) स्वतन्त्र (वयः) पराक्रम को बढ़ा, और (तुर्य्यवाट्) चारों वेदों की प्राप्ति करानेहारे पुरुष के समान तू (अनुष्टुप्) अनुकूल स्तुति का निमित्त (छन्दः) सुखसाधक (वयः) इच्छा को प्रतिदिन बढ़ाया कर ।।१०।।

इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं ।

भावार्थः—जैसे खेती करनेहारे लोग बैल आदि साधनों की रक्षा से अन्नादि पदार्थों को उत्पन्न करके सब को सुख देते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग विद्या का प्रचार करके सब प्राणियों को आनन्द देते हैं ।।१०।।

इन्द्राग्नी इत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । इन्द्राग्नी देवते । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

इन्द्राग्नीऽ अव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम् ।
पृष्ठेन द्यावापृथिवीऽ अन्तरिक्षं च विबाधसे ।।११।।

(उष्णिक्) ऋत्विग्दधृक्० (अ० ३।२।५९) इत्यत्र उत्पूर्वात् स्निहः क्विन्नुपसर्गान्त-लोपः षत्वं च निपात्यते । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृति-स्वरेण इकार उदात्तः ।।

यथा तु भाष्यपदार्थस्तथा 'उष दाहे' (दि० प०) इत्यस्मादभिप्रेतम् । तत्र उच्यते-बाहुलकादौणादिको 'निजिक्' प्रत्ययः । प्रत्यय-स्वरेणान्तोदात्तः । उत्तरत्र यजु० १४।१८ भाष्ये स्निह्यतेरपि व्युत्पत्तिराचार्यैः प्रदर्शिता । सोऽयं व्युत्पत्तिभेदो न दोषायेत्यभिहितं प्राक् । तथा हि भर्तृहरिः—

अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु ।
बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते ।।
(वाक्यपदीये)

निरुक्ते ७।१२ तु स्नातेरपि व्युत्पादितम्—उष्णिक् उत्स्नाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः इति ।।१०।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । अव्यथमानाम् । इष्टकाम् । दृꣳहतम् । युवम् ॥ पृष्ठेन । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । अन्तरिक्षम् । च । वि । बाधसे ॥११॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) इन्द्रो विद्युच्चाग्निः सूर्यश्चैव (अव्यथमानाम्) अपीडितामचलिताम् (इष्टकाम्) इष्टं कर्म यस्यास्ताम् (दृꣳहतम्) [1]वर्धेताम् (युवम्) युवाम् (पृष्ठेन) (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (च) (वि) (बाधसे)। [अयं मन्त्रः श० ८।३।१।८ व्याख्यातः] ॥११॥

अन्वयः—हे इन्द्राग्नी इव वर्त्तमानौ स्त्रीपुरुषौ! युवं युवामव्यथमानां प्रज्ञां प्राप्येष्टकामिव गृहाश्रमं दृꣳहतम्। यथा द्यावापृथिवी पृष्ठेनान्तरिक्षं बाधेते, तथा दुःखानि शत्रूंश्च बाधेथाम्। हे पुरुष! यथा त्वमेतस्याः स्वपत्न्याः पीडां विबाधसे, तथा चेयमपि *तव पीडां बाधताम् ॥११॥

अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ।

भावार्थः—यथा विद्युत्सूर्य्यावपो वर्षित्वौषध्यादीन् वर्धयतस्तथैव स्त्रीपुरुषौ कुटुम्बं वर्धयेताम्। यथा प्रकाशः पृथिवी [च] आकाशमाच्छादयतस्तथैव गृहाश्रमव्यवहारमलङ्कुर्याताम् ॥११॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (इन्द्राग्नी) बिजुली और सूर्य के समान वर्त्तमान स्त्रीपुरुषो! (युवम्) तुम दोनों (अव्यथमानाम्) [अविचल=] जमी हुई बुद्धि को प्राप्त होके (इष्टकाम्) ईंट के समान गृहाश्रम को (दृꣳहतम्) दृढ़ करो। जैसे (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि (पृष्ठेन) पीठ से [(अन्तरिक्षम्)] आकाश को बांधते हैं, वैसे तुम दुःख [(च)] और शत्रुओं की बाधा करो। हे पुरुष! जैसे तू इस अपनी स्त्री की पीड़ा को (विबाधसे) विशेष करके हटाता है, वैसे यह स्त्री भी तेरी† सकल पीड़ा को हरा करे ॥११॥

इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

---

१. पूर्वापरपरामर्शेन 'वर्धेतम्' इति मध्यमपुरुषः स्यात् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अव्यथमानाम्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(युवम्) पूर्वं (यजु० ८।५३) व्याख्यातः ॥

(पृष्ठेन) पूर्वं (यजु० ६।२१) व्याख्यातः ॥११॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'तव पीडां बाधताम्' इति स्थाने 'त्वयि वर्त्तताम्' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः इति ध्येयम् ॥

† 'तेरी सकल पीड़ा को हरण करे' इति स्थाने 'तेरे विषय में बर्त्ते' इति ककोशे पाठः स च गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

भावार्थः—जैसे बिजुली और सूर्य्य जल वर्षा के ओषधि आदि पदार्थों को बढ़ाते हैं, वैसे ही स्त्रीपुरुष कुटुम्ब को बढ़ावें। जैसे प्रकाश और पृथिवी आकाश का आवरण करते हैं, वैसे ही गृहाश्रम के व्यवहारों को पूर्ण करें ॥११॥

विश्वकर्मेत्यस्य विश्वकर्मर्षिः। वायुर्देवता। [भुरिग्]विकृतिश्छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१२॥

विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा। त्वा। सादयतु। अन्तरिक्षस्य। पृष्ठे। व्यचस्वतीमिति व्यचःऽवतीम्।* प्रथस्वतीम्। अन्तरिक्षम्। यच्छ। अन्तरिक्षम्। दृꣳह। अन्तरिक्षम्। मा। हिꣳसीः ॥ विश्वस्मै। प्राणाय। अपानाय। व्यानाय। उदानाय। प्रतिष्ठायै। चरित्राय ॥ वायुः। त्वा। अभि। पातु। मह्या। स्वस्त्या। छर्दिषा। शन्तमेन। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवा। सीद ॥१२॥

पदार्थः—(विश्वकर्मा) अखिलशुभक्रियाकुशलः (त्वा) त्वाम् (सादयतु) संस्थापयतु (अन्तरिक्षस्य) आकाशस्य (पृष्ठे) भागे (व्यचस्वतीम्) प्रशस्तं [1]व्यचो विज्ञानं सत्करणं विद्यते यस्यास्ताम् (प्रथस्वतीम्) उत्तम[2]विस्तीर्णविद्यायुक्ताम् (अन्तरिक्षम्) जलम्। अन्तरिक्षमित्युदकनामसु पठितम्। निघ० १।१२ (यच्छ) (अन्तरिक्षम्) प्रशस्तं शोधितमुदकम् (दृंह) (अन्तरिक्षम्) मधुरादिगुणयुक्तं रोगनाशकमुदकम् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (विश्वस्मै) समग्राय (प्राणाय) (अपानाय) (व्यानाय) (उदानाय) (प्रतिष्ठायै) (चरित्राय) शुभकर्माचाराय (वायुः) प्राण इव (त्वा) (अभि) (पातु)

---

१. विपूर्वाद् 'अञ्चू गतिपूजनयोः' इत्यस्माद् व्यचः ॥

२. प्रथधातोर्विस्तारार्थत्वं पूर्वमुक्तम् (द्र० यजु० १३।१७) ॥

---

* पदकारास्तु पदमिदं नावगृह्णन्ति। द्रष्टव्यं यजुः अ० १३। मं० १७। पूर्वं गतत्वात् पदपाठे नात्र पुनः प्रदर्शितम् ॥

(मह्या) महत्या (स्वस्त्या) सुखक्रियया (छर्दिषा[1]) प्रकाशेन (शन्तमेन) अतिशयेन सुखकारकेण (तया) (देवतया) दिव्यसुखप्रदानक्रियया सह (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मवायुवत् (ध्रुवा) निश्चलज्ञानयुक्ता (सीद) स्थिरा भव। [अयं मन्त्रः श० ८।३।१।६-१० व्याख्यातः] ॥१२॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! विश्वकर्मा **पतिर्यां** व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षस्य पृष्ठे त्वा सादयतु, **सा त्वं** विश्वस्मै प्राणायाऽपानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्रायान्तरिक्षं यच्छाऽन्तरिक्षं दृंहान्तरिक्षं मा हिंसीः। यो वायुः **प्राण इव प्रियस्तव स्वामी** मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन [त्वा] त्वामभिपातु, सा त्वं तया **प्रत्यास्यया** देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१२॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा पुरुषः स्त्रियं सत्कर्मसु नियोजयेत्तथा स्त्र्यपि स्वपतिं च प्रेरयेत्, **यतः सततमानन्दो वर्द्धेत** ॥१२॥

फिर वही विषय अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! (विश्वकर्मा) सम्पूर्ण शुभ कर्म करने में कुशल पति जिस (व्यचस्वतीम्) प्रशंसित विज्ञान वा सत्कार से युक्त (प्रथस्वतीम्) उत्तम विस्तृत विद्या वाली (अन्तरिक्षस्य) *प्रकाश के (पृष्ठे) एक भाग में (त्वा) तुझ को (सादयतु) स्थापित करे, सो तू (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यान और (उदानाय) उदानरूप शरीर के वायु तथा (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा (चरित्राय) और शुभ कर्मों के आचरण के लिये (अन्तरिक्षम्) जलादि को (यच्छ) दिया कर। (अन्तरिक्षम्) प्रशंसित शुद्ध किये जल से युक्त अन्न और घनादि को (दृंह) बढ़ा, और (अन्तरिक्षम्) मधुरता आदि गुणयुक्त रोगनाशक आकाशस्थ सब पदार्थों को (मा हिंसीः) नष्ट मत कर। जिस (त्वा) तुझ को (वायुः) प्राण के तुल्य प्रिय पति (मह्या) बड़ी (स्वस्त्या) सुखरूप क्रिया (छर्दिषा) प्रकाश और (शन्तमेन) अति सुखदायक विज्ञान से§ (अभिपातु) सब ओर से रक्षा करे, सो तू (तया) उस (देवतया) दिव्य सुख देने वाली क्रिया के साथ वर्त्तमान पतिरूप देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) व्यापक वायु के समान (ध्रुवा) निश्चल ज्ञान से युक्त (सीद) स्थिर हो ॥१२॥

इस मन्त्र में श्लेष† और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे पुरुष स्त्री को अच्छे कर्मों में नियुक्त करे, वैसे स्त्री भी अपने पति को अच्छे कर्मों में प्रेरणा करे, जिस से निरन्तर आनन्द बढ़े ॥१२॥

---

१. 'उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः' इत्येतस्य रूपम् ॥ सर्वाणि व्याख्येयपदानि पूर्वं (यजु० १३। १७-१९) **व्याकरण-प्रक्रियायां** व्याख्यातानि ॥१२॥

---

* 'आकाश के' इति ककोशे पाठः ॥

§ इतोऽग्रेऽजमेरमुद्रिते 'तुझको' इति पाठः। स चापपाठः, वाक्ये पूर्वं सद्भावात् ॥

† 'श्लेष' इति संस्कृते नास्ति ॥

राज्ञ्यसीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । दिशो देवताः । विराट् पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि
प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥१३॥

राज्ञी । असि । प्राची । दिक् । विराडिति विऽराट् । असि । दक्षिणा । दिक् । सम्राडिति सम्ऽराट् । असि । प्रतीची । दिक् । स्वराडिति स्वऽराट् । असि । उदीची । दिक् । अधिपत्नीत्यधिऽपत्नी । असि । बृहती । दिक् ॥१३॥

पदार्थः—(राज्ञी) राजमाना (असि) (प्राची) पूर्वा (दिक्) दिगिव* (विराट्) विविधविनयविद्याप्रकाशयुक्ता (असि) (दक्षिणा) (दिक्) दिगिव* (सम्राट्) सम्यक्-सुखे भूगोले राजमाना (असि) (प्रतीची) पश्चिमा (दिक्) (स्वराट्) या स्वयं राजते सा (असि) (उदीची) उत्तरा (दिक्) (अधिपत्नी) गृहेऽधिकृता स्त्री (असि) (बृहती) महती (दिक्) अध ऊर्ध्वा । [अयं मन्त्रः श० ८।३।१।१४ व्याख्यातः] ॥१३॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या त्वं प्राची दिगिव राज्ञ्यसि, दक्षिणा दिगिव विराडसि प्रतीची दिगिव सम्राडस्युदीची दिगिव स्वराडसि, बृहती दिगिवाधिपत्न्यसि, सा त्वं सर्वान् पत्यादीन् प्रीणीहि ॥१३॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा दिशः सर्वतोऽभिव्याप्ता विज्ञापिका अक्षुब्धाः सन्ति, तथैव स्त्री शुभगुणकर्मस्वभावैः सहिता स्यात् ॥१३॥

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! जो तू (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा के तुल्य (राज्ञी) प्रकाशमान (असि) है, (दक्षिणा) दक्षिण (दिक्) दिशा के समान (विराट्) अनेक प्रकार का विनय और विद्या के प्रकाश से युक्त (असि) है, (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा के सदृश (सम्राट्) चक्रवर्ती राजा के सदृश अच्छे सुखयुक्त पृथिवी पर प्रकाशमान (असि) है, (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा के तुल्य (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असि) है, (बृहती)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(राज्ञी) राजतेऽसौ राजा, स्त्री चेद् राज्ञी । युवृषितक्षिराजि० (उ० १।१५६) इति 'कनिन्' । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । स्त्रियाम् ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४।१।५) इति 'ङीप्' । भसंज्ञायाम् अल्लोपोऽनः (अ० ६।४।१३४) इत्यकारलोपः । स्तोः श्चुना श्चुः (अ० ८।४।४०) इति ञकारः । ङीपोऽनुदात्तत्वे स

---

* 'दिगिव' इत्युभयत्र ककोशे नास्ति । गकोशे प्रवर्द्धितो भवेत् ॥

बड़ी (दिक्) ऊपर नीचे की दिशा के तुल्य (अधिपत्नी) घर में अधिकार को प्राप्त हुई (असि) है, सो तू सब पति आदि को तृप्त कर ॥१३॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे दिशा सब ओर से अभिव्याप्त, बोध करानेहारी, चञ्चलतारहित हैं, वैसे ही स्त्री शुभ गुण कर्म और स्वभावों से युक्त होवे ॥१३॥

विश्वकर्मेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । वायुर्देवता । स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायाऽपानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१४॥

विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । त्वा । सादयतु । अन्तरिक्षस्य । पृष्ठे । ज्योतिष्मतीमिति ज्योतिःऽमतीम् ॥ विश्वस्मै । प्राणाय । अपानाय । व्यानाय । विश्वम् । ज्योतिः । यच्छ ॥ वायुः । ते । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । सीद ॥१४॥

पदार्थः—(विश्वकर्मा) सकलेष्टक्रियः (त्वा) त्वाम् (सादयतु) (अन्तरिक्षस्य) जलस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (ज्योतिष्मतीम्) बहु ज्योतिर्विद्यते यस्यास्ताम् (विश्वस्मै) सर्वस्मै (प्राणाय) (अपानाय) (व्यानाय) (विश्वम्) संपूर्णम् (ज्योतिः) विज्ञानम् (यच्छ) गृहाण (वायुः) प्राण *इव प्रियः (ते) तव (अधिपतिः) (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) सूर्यवत् (ध्रुवा) दृढा (सीद) । [अयं मन्त्रः श० ८।३।२।२-४ व्याख्यातः] ॥१४॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या ज्योतिष्मतीं त्वा विश्वस्मै प्राणायाऽपानाय व्यानायाऽन्त-

---

एवाद्युदात्तः स्वरः ॥

(प्राची) पूर्वं (यजु० ५।१७) व्याख्यातः ॥

(प्रतीची) पूर्वं (यजु० १०।१२) व्याख्यातः ॥

(उदीची) पूर्वं (यजु० १०।१३) व्याख्यातः ॥१३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

पूर्वं व्याख्यातानि पदान्यस्य मन्त्रस्य ॥१४॥

---

* 'इव' इति पदेनात्र लुप्तोपमालङ्कारः स्यात्, इति ध्येयम् ॥

रिक्षस्य पृष्ठे विश्वकर्मा सादयतु, सा त्वं विश्वं ज्योतिर्यच्छ । यो वायुरिव तेऽधिपतिरस्ति, तया देवतया सह ध्रुवांगिरस्वत् सीद ॥१४॥

भावार्थः—स्त्री ब्रह्मचर्येण स्वयं विदुषी भूत्वा शरीरात्मबलवर्द्धनाय स्वापत्येभ्यो विज्ञानं सततं प्रदद्यादिति ग्रीष्मर्त्तु र्व्याख्यानं कृतम् ॥१४॥

फिर भी उक्त विषय ही अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! जिस (ज्योतिष्मतीम्) बहुत विज्ञान वाली (त्वा) तुझ को (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान और (व्यानाय) व्यान की पुष्टि के लिये (अन्तरिक्षस्य) जल के (पृष्ठे) ऊपरले भाग में (विश्वकर्मा) सब शुभ कर्मों का चाहनेहारा पति (सादयतु) स्थापित करे, सो तू (विश्वम्) सम्पूर्ण (ज्योतिः) विज्ञान को (यच्छ) ग्रहण कर । जो (वायुः) प्राण के समान प्रिय (ते) तेरा (अधिपतिः) स्वामी है, (तया) उस (देवतया) देवस्वरूप पति के साथ (ध्रुवा) दृढ़ (अङ्गिरस्वत्) सूर्य्य के समान (सीद) स्थिर हो ॥१४॥

भावार्थः—स्त्री को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम के साथ आप विदुषी* हो के शरीर आत्मा का बल बढ़ाने के लिये अपने सन्तानों को निरन्तर विज्ञान देवे । यहां तक ग्रीष्म ऋतु का व्याख्यान पूरा हुआ ॥१४॥

नभश्चेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । ऋतवो देवताः । स्वराडुत्कृतिश्छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

अथ वर्षर्त्तु र्व्याख्यायते ॥

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतूऽ अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां
द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽ ओषधयः कल्पन्तामग्नयः
पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
येऽ अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽ इमे ।
वार्षिकावृतूऽ अभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽ
अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥१५॥

नभः । च । नभस्यः । च । वार्षिकौ । ऋतूऽइत्यृतू । अग्नेः । अन्तःश्लेष इत्यन्तःऽश्लेषः । असि । कल्पेताम् । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । कल्पन्ताम् । आपः । ओषधयः । कल्पन्ताम् । अग्नयः । पृथक् । मम । ज्यैष्ठ्याय । सव्रता इति सऽव्रताः ॥ ये । अग्नयः । समनस इति सऽमनसः । अन्तरा ।

* अजमेरमुद्रिते तु 'विद्वान्' इति पाठः ॥

द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । इमेऽइतीमे ।। वार्षिकौ । ऋतूऽइत्यृतू । अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः । इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव । देवाः । अभिसंविशन्त्वित्यभिऽसंविशन्तु । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवे इति ध्रुवे । सीदतम् ॥१५॥

पदार्थः—(नभः) नह्यन्ति घना यस्मिन् स श्रावणो मासः (च) (नभस्यः) नभस्सु भवो भाद्रपदः (च) (वार्षिकौ) वर्षासु भवौ (ऋतू) वर्षर्त्तु सम्बन्धिनौ (अग्नेः) ऊष्मणः (अन्त श्लेषः) मध्ये स्पर्शो यस्य (असि) अस्ति (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आपः) (ओषधयः) (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) प्रशस्यभावाय (सव्रताः) समानानि व्रतानि नियमा येषान्ते (ये) (अग्नयः) (समनसः) समानं मनो ज्ञानं येभ्यस्ते (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) (इमे) (वार्षिकौ) वर्षासु भवौ (ऋतू) वृष्टिप्रापकौ (अभिकल्पमानाः) अभितः सुखाय समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथा विद्युतम् (देवाः) विद्वांसः (अभिसंविशन्तु) आभिमुख्येन सम्यक् प्रविशन्तु (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवे) (सीदतम्) । [अयं मन्त्रः श० ८।३।२।५ व्याख्यातः] ॥१५॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां यौ नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू मम ज्यैष्ठ्याय कल्पेतां,ययोरग्नेरन्तःश्लेषोऽस्यस्ति याभ्यां सह द्यावापृथिवी कल्पेतां, ताभ्यां युवां कल्पेताम् । यथाप ओषधयश्च कल्पन्तामग्नयः पृथक् कल्पन्ते तथा सव्रताः समनसोऽग्नयः कल्पन्ताम् । य इमे द्यावापृथिवी कल्पेते, तौ वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना देवा इन्द्रमिव तया देवतया सहाऽभिसंविशन्तु, तयोरन्तराङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥१५॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वद्वद्वर्षासु सामग्री संग्राह्या, यतो वर्षर्तौ सर्वाणि सुखानि भवेयुः ॥१५

अब वर्षा ऋतु का व्याख्यान अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों जो (नभः) प्रबन्धित मेघों वाला श्रावण (च) और (नभस्यः) वर्षा का मध्यभागी भाद्रपद (च) ये दोनों (वार्षिकौ) वर्षा (ऋतू) ऋतु के महीने (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसित होने के लिये हैं जिन में (अग्नेः) उष्ण तथा (अन्तःश्लेषः) जिन के मध्य में शीत का स्पर्श (असि) होता है, जिन के साथ (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि समर्थ होते हैं, उनके भोग में तुम दोनों (कल्पेताम्) समर्थ हो । जैसे ऋतु-योग से (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधि

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नभः) नभस् शब्द आद्युदात्तः पूर्वं (यजु० २।२२) व्याख्यातः । ततो मत्वर्थे मासतन्वोः (अ० ४।४।१२८) इति विहितस्य मतो 'लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः' (अ० ४।४।१२८ वा०) इति लुक् ॥

(नभस्यः) पूर्वं (यजु० ७।३०) व्याख्यातः ॥

(वार्षिकौ) वर्षासु भवौ वार्षिकौ । छन्दसि ठञ् (अ० ४।३।१९) इति शैषिकष्ठञ् प्रत्ययः । ठस्येकः (अ० ७।३।५०) इतीकादेशः । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

शिष्टं व्याख्यातं प्राक् ॥१५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

वा (अग्नयः) अग्नि (पृथक्) जल से अलग [(कल्पन्ताम्)] समर्थ होते हैं, वैसे (सव्रताः) एक प्रकार के श्रेष्ठ नियम (समनसः) एक प्रकार का ज्ञान देनेहारे (अग्नयः) तेजस्वी लोग (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें। (ये) जो (इमे) (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि वर्षाऋतु के गुणों में समर्थ होते हैं, उनको (वार्षिकौ) (ऋतू) वर्षा ऋतुरूप (अभिकल्पमानाः) सब ओर से सुख के लिये समर्थ करते हुये [(देवाः)] विद्वान् लोग (इन्द्रमिव) बिजुली के समान प्रकाश और बल को (तया) उस (देवतया) दिव्य वर्षा ऋतु के साथ (अभिसंविशन्तु) सन्मुख होकर अच्छे प्रकार स्थित होवें, (अन्तरा) उन दोनों महीनों में प्रवेश करके (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान परस्पर प्रेमयुक्त (ध्रुवे) निश्चल (सीदतम्) रहो ॥१५॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के समान वर्षा ऋतु में वह सामग्री ग्रहण करें, जिस से सब सुख होवें ॥१५॥

इषश्चेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः। ऋतवो देवताः। *उत्कृतिश्छन्दः।
षड्जः स्वरः॥

अथ शरदृतुर्व्याख्यायते॥

इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽ अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां
द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽ ओषधयः कल्पन्तामग्नयः
पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः।
येऽ अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽ इमे।
शारदावृतूऽ अभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽ
अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥१६॥

इषः। च। ऊर्जः। च। शारदौ। ऋतूऽइत्यृतू। अग्नेः। अन्तःश्लेष इत्यन्तःऽश्लेषः। असि। कल्पेताम्। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। कल्पन्ताम्। आपः। ओषधयः। कल्पन्ताम्। अग्नयः। पृथक्। मम। ज्यैष्ठ्याय। सव्रता इति सऽव्रताः॥ ये। अग्नयः। समनस इति सऽमनसः। अन्तरा। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। इमेऽइतीमे॥ शारदौ। ऋतूऽइत्यृतू। अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः। इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव। देवाः। अभिसंविशन्त्वित्यभिऽसंविशन्तु। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवेऽइति ध्रुवे। सीदतम् ॥१६॥

---

* 'भुरिगुत्कृतिश्छन्दः' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः, स चापपाठः इति ध्येयम्॥

पदार्थः—(इषः) इष्यतेऽसावाश्विनो मासः (च) (ऊर्जः) ऊर्जन्ति सर्वे पदार्था यस्मिन् स कार्त्तिकः (च) (शारदौ) शरदि भवौ (ऋतू) बलप्रदौ (अग्नेः) (अन्तःश्लेषः) मध्यस्पर्शः (असि) अस्ति (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आपः) (ओषधयः) (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) बहिःस्थाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) प्रशस्तसुखभावाय (सव्रताः) सनियमाः (ये) (अग्नयः) शरीरस्थाः (समनसः) मनसा सह वर्त्तमानाः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) (इमे) (शारदौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) (इन्द्रमिव) (देवाः) (अभिसंविशन्तु) (तया) (देवतया) सह (अङ्गिरस्वत्) आकाशवत् (ध्रुवे) निश्चलसुखे (सीदतम्) सीदतः, अत्र पुरुषव्यत्ययः । [अयं मन्त्रः श० ८।३।२।६ व्याख्यातः] ॥१६॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! याविषश्चोर्जश्च शारदावृतू यथा मम ज्यैष्ठ्याय भवतो, ययोरग्नेरन्तःश्लेषोऽस्यस्ति, तौ द्यावापृथिवी कल्पेतामाप ओषधयश्च कल्पन्ताम्, सव्रता अग्नयः पृथक् कल्पन्ताम्, येऽन्तरा समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी कल्पेताम्, शारदावृतू इन्द्रमिवाभि कल्पमाना देवा अभिसंविशन्तु, तथा तया देवतया सह [अङ्गिरस्वत्] ध्रुवे सीदतं गच्छतः† ॥१६॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! ये शरद्युपयुक्ताः पदार्थाः सन्ति, तान् यथायोग्यं संस्कृत्य सेवध्वम् ॥१६॥

अब शरद् ऋतु का व्याख्यान अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्या ! जैसे (इषः) चाहने योग्य क्वार महीना (च) और (ऊर्जः) सब पदार्थों के बलवान् होने का हेतु कार्त्तिक (च) ये दोनों (शारदौ) शरद (ऋतू) ऋतु के महीने (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसित सुख होने के लिये होते हैं, [जिनमें (अग्नेः) उष्ण तथा] जिन के (अन्तःश्लेषः) मध्य में किञ्चित् शीतस्पर्श (असि) होता है, वे (द्यावापृथिवी) अवकाश और पृथिवी को (कल्पेताम्) समर्थ करें, (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधियां (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें, (सव्रताः) सब कार्यों के नियम करनेहारे (अग्नयः) शरीर के अग्नि (पृथक्) अलग (कल्पन्ताम्) समर्थ हों, (ये) जो (अन्तरा) बीच में (समनसः) मन के सम्बन्धी (अग्नयः) बाहर के भी अग्नि (इमे) इन (द्यावापृथिवी) आकाश भूमि को (कल्पेताम्) समर्थ करें, (शारदौ) शरद् (ऋतू) ऋतु के दोनों महीनों में

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(इषः, ऊर्जः) 'इष्, ऊर्ज्' इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां मत्वर्थे मासतन्वोः (अ० ४।४।१२८) इत्यत्र लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (अ० ४।४।१२८ वा०) इत्युपसंख्यानात् 'अ' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

यद्वा—'**इष इच्छायाम्**' (तु० प०), '**ऊर्ज बलप्राणनयोः**' (चु० प०) इत्येताभ्यां **घञर्थे कविधानम्** (अ० ३।३।५८ भा० वा०) इति यथाक्रमं कर्मणि अधिकरणे च 'कः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(शारदौ) शरदि भवौ । **सन्धिवेलाद्यृतु-**

† इतोऽग्रे 'तथा युष्माकं ज्यैष्ठ्याय च सन्तु' इति पाठः ककोशेऽस्ति । स च गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

(इन्द्रमिव) परमैश्वर्य के तुल्य (अभिकल्पमानाः) सब ओर से आनन्द की इच्छा करते हुये (देवाः) विद्वान् लोग (अभिसंविशन्तु) प्रवेश करें, [वैसे] (तया) उस (देवतया) दिव्य शरद् ऋतु रूप देवता के नियम के साथ (अङ्गिरस्वत्) आकाश के समान (ध्रुवे) निश्चल सुख वाले (सीदतम्) प्राप्त होते हैं§ ॥१६॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो शरद् ऋतु में उपयोगी पदार्थ हैं, उन को यथायोग्य शुद्ध करके सेवन करो ॥१६॥

*आयुर्म इत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । दम्पती देवते । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥१७॥

आयुः । मे । पाहि । प्राणम् । मे । पाहि । अपानमित्यपऽआनम् । मे । पाहि । व्यानमिति विऽआनम् । मे । पाहि । चक्षुः । मे । पाहि । श्रोत्रम् । मे । पाहि । वाचम् । मे । पिन्व । मनः । मे । जिन्व । आत्मानम् । मे । पाहि । ज्योतिः । मे । यच्छ ॥१७॥

पदार्थः—(आयुः) जीवनम् (मे) मम (पाहि) (प्राणम्) (मे) (पाहि) (अपानम्) (मे) (पाहि) (व्यानम्) (मे) (पाहि) (चक्षुः) दर्शनम् (मे) (पाहि) (श्रोत्रम्) श्रवणम् (मे) (पाहि) (वाचम्) वाणीम् (मे) (पिन्व) सुशिक्षया सिंच (मनः) (मे) (जिन्व) प्रीणीहि (आत्मानम्) चेतनम् (मे) (पाहि) (ज्योतिः) विज्ञानम् (मे) मह्यम् (यच्छ) देहि । [अयं मन्त्रः श० ८।३।२।१४ व्याख्यातः] ॥१७॥

नक्षत्रेभ्योऽण् (अ० ४।३।१६) इति शैषिकोऽण् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥ शिष्टं प्राग्व्याख्यातम् ॥१६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

§ इतोऽग्रे 'वैसे तुम लोगों को (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसित सुख होने के लिये भी होने योग्य हैं' इत्ययमंशः ककोशसंस्कृतानुसारी । संस्कृतपाठश्च गकोशे संशोधितः, इत्यतोऽस्माभिरयं पृथक् कृतः ॥

* 'आयुर्म इत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । दम्पती देवते । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः' इति पाठः ककोशे उपलभ्यमानोऽप्यग्रे लेखकप्रमादात् त्यक्तः । अजमेरमुद्रिते तृतीयसंस्करणे तु 'आयुर्म इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । छन्दांसि देवताः । भुरिगतिजगती छन्दः । धैवतः स्वरः' इति पाठ उपलभ्यते, स केनाधारेण प्रवर्द्धित इति न ज्ञायते । पाठोऽयमत्यन्तं भ्रष्टः इत्यस्मन्मूलपाठानुसारं स्पष्टमेव ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा! त्वं शरदृतावायुर्मे पाहि, प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि, व्यानं मे पाहि, चक्षुर्मे पाहि, श्रोत्रं मे पाहि, वाच मे पिन्व, मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि, ज्योतिर्मे यच्छ ॥१७॥

भावार्थः—स्त्री पुरुषस्य पुरुषः स्त्रियाश्च यथाऽऽयुरादीनां वृद्धिः स्यात्तथैव नित्यमाचरेताम् ॥१७॥

फिर भी पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! तू शरद् ऋतु में (मे) मेरी (आयुः) अवस्था की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (प्राणम्) प्राण की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (अपानम्) अपान वायु की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (व्यानम्) व्यान की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (चक्षुः) नेत्रों की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कानों की (पाहि) रक्षा कर, (मे) मेरी (वाचम्) वाणी को (पिन्व) अच्छी शिक्षा से युक्त कर, (मे) मेरे (मनः) मन को (जिन्व) तृप्त कर, (मे) मेरे (आत्मानम्) चेतन आत्मा की (पाहि) रक्षा कर, और (मे) मेरे लिये (ज्योतिः) विज्ञान का (यच्छ) दान कर ॥१७॥

भावार्थः—स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की जैसे अवस्था आदि की वृद्धि होवे, वैसे परस्पर नित्य आचरण करें ॥१७॥

मा छन्द इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । छन्दांसि देवताः । भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

स्त्रीपुरुषैः कथं विज्ञानं वर्द्धनीयमित्याह ॥

मा छन्दः॑ प्र॒मा छन्दः॑ प्रति॒मा छन्दो॑ऽ अस्री॒वय॒श्छन्दः॑ प॒ङ्क्तिश्छन्द॑ऽ उ॒ष्णिक् छन्दो॑ बृह॒ती छन्दो॑ऽनु॒ष्टुप् छन्दो॑ वि॒राट् छन्दो॑ गाय॒त्री छन्द॑स्त्रि॒ष्टुप् छन्दो॒ जग॑ती॒ छन्दः॑ ॥१८॥

मा । छन्दः॑ । प्र॒मेति॑ प्र॒ऽमा । छन्दः॑ । प्र॒ति॒मेति॑ प्रति॒ऽमा । छन्दः॑ । अ॒स्री॒वयः॑ । छन्दः॑ । प॒ङ्क्तिः । छन्दः॑ । उ॒ष्णिक् । छन्दः॑ । बृ॒ह॒ती । छन्दः॑ । अ॒नु॒ष्टुप् । अ॒नु॒स्तु॒बित्य॑नु॒ऽस्तुप् । छन्दः॑ । वि॒राडिति॑ वि॒ऽराट् । छन्दः॑ । गा॒य॒त्री । छन्दः॑ । त्रि॒ष्टुप् । त्रि॒स्तु॒बिति॑ त्रि॒ऽस्तु॒प् । छन्दः॑ । जग॑ती । छन्दः॑ ॥१८॥

पदार्थः—(मा) यया मीयते सा (छन्दः) आनन्दकरी (प्रमा) यया प्रमीयते सा प्रज्ञा (छन्दः) बलम् (प्रतिमा) प्रतिमीयते यया क्रियया सा (छन्दः) (अस्रीवयः) यदस्यति कामयते च तदस्रीवयो[१]ऽन्नादिकम् (छन्दः) बलकारि (पङ्क्तिः) पञ्चावयवो

१ यवेषु लोकेष्वन्नं तदस्रीवयः ॥ श० ८।३।३।५ ॥

योगः[1] (छन्दः) प्रकाशः (उष्णिक्) स्नेहनम् (छन्दः) (बृहती) महती प्रकृतिः (छन्दः) (अनुष्टुप्) सुखानामनुष्टम्भनम् (छन्दः) (विराट्) विविधविद्याप्रकाशनम् (छन्दः) (गायत्री) या गायन्तं त्रायते सा (छन्दः) (त्रिष्टुप्) *यया त्रीणि सुखानि स्तोभति सा (छन्दः) (जगती) गच्छति सर्वं जगद्यस्यां सा (छन्दः)। [अयं मन्त्रः श० ८।३।३।१५ व्याख्यातः] ॥१८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! युष्माभिर्मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दोऽस्त्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्द उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः स्वीकृत्य विज्ञाय च सुखयितव्यम् ॥१८॥

भावार्थः—ये मनुष्याः प्रमादिभिः साध्यानि धर्म्याणि कर्माणि साध्नुवन्ति,ते सुखालङ्कृता भवन्ति ॥१८॥

स्त्रीपुरुषों को कैसे विज्ञान बढ़ाना चाहिये, इस विषय का उपदेश

अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (मा) परिमाण का हेतु (छन्दः) आनन्दकारक (प्रमा) प्रमाण का हेतु बुद्धि (छन्दः) बल (प्रतिमा) जिस से प्रतीति=निश्चय की क्रिया हेतु (छन्दः) स्वतन्त्रता (अस्त्रीवयः) बल और कान्तिकारक अन्नादि पदार्थ (छन्दः) बलकारी विज्ञान (पङ्क्तिः) पांच अवयवों से युक्त योग (छन्दः) प्रकाश (उष्णिक्) स्नेह (छन्दः) प्रकाश (बृहती) बड़ी प्रकृति (छन्दः) आश्रय (अनुष्टुप्) सुखों का आलम्बन (छन्दः) भोग (विराट्) विविध प्रकार की विद्याओं का प्रकाश (छन्दः) विज्ञान (गायत्री) गाने वाले का रक्षक ईश्वर (छन्दः) उसका बोध (त्रिष्टुप्) तीन [आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक] सुखों का आश्रय (छन्दः) आनन्द और (जगती) जिस में सब जगत् चलता है, उस (छन्दः) पराक्रम को ग्रहण कर और जान के सब को सुखयुक्त करो ॥१८॥

---

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाररूपाः । इमे साधनरूपाः, धारणाध्यानसमाधयस्त्वेषां साध्याः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३।२।७५) इत्यत्र 'अपि' ग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् निरुपपदादपि करणे कारके 'मा' धातोर्विच् । धातुस्वरेण चित्स्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वम् । यद्वा—आतश्चोपसर्गे (अ० ३।३।१०६) इत्यनुपसर्गादपि 'अङ्'प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । स्त्रियां 'टाप्' ।

(प्रमा-प्रतिमा) पूर्ववदत्रापि 'विच्' । यद्वा—आतश्चोपसर्गे (अ० ३।३।१०६) इत्यङ् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। स्त्रियां 'टाप्' ॥

(अस्त्रीवयः) अस्यते क्षिप्यते यद् तद् अस्त्रि । असु क्षेपणे (दि० प०)। वङ्कयादयश्च (उ० ४।६६) इति 'क्रिन्' । वीयते काम्यते इति वयः । वेतेरसुन् । अस्त्रि च तद् वयश्चेति कर्मधारयः । समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते परादिश्च परान्तश्च (अ० ६।२।१९९) इति

---

* 'यद् त्रीणि सुखानि स्तोभति तद्' इति ककोशे पाठः ॥

भावार्थः—जो मनुष्य निश्चय के हेतु प्रमा† आदि से साध्य धर्मयुक्त कर्मों को सिद्ध करते हैं, वे सुखों से शोभायमान होते हैं ॥१८॥

पृथिवी छन्द इत्यस्य विश्वदेव ऋषि । पृथिव्यादयो देवताः । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो
नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो
हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाच्छन्दोऽश्वश्छन्दः ॥१९॥

पृथिवी । छन्दः । अन्तरिक्षम् । छन्दः । द्यौः । छन्दः । समाः । छन्दः । नक्षत्राणि । छन्दः । वाक् । छन्दः । मनः । छन्दः । कृषिः । छन्दः । हिरण्यम् । छन्दः । गौः । छन्दः । अजा । छन्दः । अश्वः । छन्दः ॥१९॥

पदार्थः—(पृथिवी) भूमिः (छन्दः) स्वच्छन्दा (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (छन्दः) (द्यौः) प्रकाशः (छन्दः) (समाः) वर्षाणि (छन्दः) (नक्षत्राणि) (छन्दः) (वाक्) (छन्दः) (मनः) (छन्दः) (कृषिः) भूमिविलेखनम् (छन्दः) (हिरण्यम्) सुवर्णम् (छन्दः) (गौः) (छन्दः) (अजा) (छन्दः) (अश्वः) (छन्दः) । [अयं मन्त्रः श० ८।३।३।६ व्याख्यातः] ॥१९॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषाः ! यूयं यथा पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दोऽस्ति, तथा विद्याविनयधर्माचरणेषु स्वाधीनतया वर्त्तध्वम् ॥१९॥

उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । पूर्वपदस्य दीर्घत्वं च छान्दसम् ॥१८॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(समाः) षम ष्टम वैक्लव्ये (भ्वा० प०) पचाद्यच् । वृषादीनाञ्च (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तः । स्त्रियां 'टाप्' ॥

(नक्षत्राणि) णक्ष गतौ (भ्वा०प०) । अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् (उ० ३।१०५) इति 'अत्रन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । न क्षत्रम् = नक्षत्रम् इति व्युत्पत्त्यन्तरम् । तत्र क्षियः क्षरतेर्वा क्षत्रम् । नञ्समासः । नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या (अ० ६।३।७४) इति नञः प्रकृतिभावः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

---

† 'आनन्द आदि' इति सार्वत्रिकः पाठः । स च संस्कृताननुगत इति ध्येयम् ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—स्त्रीपुरुषैः स्वच्छविद्याक्रियाभ्यां स्वातन्त्र्येण पृथिव्यादिपदार्थानां गुणादीन् विज्ञाय कृष्यादिकर्मभिः सुवर्णादि प्राप्य गवादीन् संरक्ष्यैश्वर्यमुन्नेयम् ॥१६॥

फिर वही उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम लोग जैसे (पृथिवी) भूमि (छन्दः) स्वतन्त्र (अन्तरिक्षम्) आकाश (छन्दः) आनन्द (द्यौः) प्रकाश (छन्दः) विज्ञान (समाः) वर्ष (छन्दः) बुद्धि (नक्षत्राणि) तारे लोक (छन्दः) स्वतन्त्र (वाक्) वाणी (छन्दः) सत्य (मनः) मन (छन्दः) निष्कपट (कृषिः) जोतना (छन्दः) उत्पत्ति (हिरण्यम्) सुवर्ण (छन्दः) सुखदायी (गौः) गौ (छन्दः) आनन्द-हेतु (अजा) बकरी (छन्दः) सुख का हेतु और (अश्वः) घोड़े आदि (छन्दः) स्वाधीन हैं, वैसे विद्या विनय और धर्म के आचरण विषय में स्वाधीनता से वर्त्तो ॥१६॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि शुद्ध विद्या क्रिया और स्वतन्त्रता से पृथिवी आदि पदार्थों के गुण कर्म और स्वभावों को जान खेती आदि कर्मों से सुवर्ण आदि रत्नों को प्राप्त हों, और गौ आदि पशुओं की रक्षा करके ऐश्वर्य्य बढ़ावें ॥१६॥

अग्निर्देवतेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । अग्न्यादयो देवताः । भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒
वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑दि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒
विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥२०॥

अ॒ग्निः । दे॒वता॑ । वातः॑ । दे॒वता॑ । सूर्यः॑ । दे॒वता॑ । च॒न्द्रमाः॑ । दे॒वता॑ । वस॑वः । दे॒वता॑ । रु॒द्राः । दे॒वता॑ । आ॒दि॒त्याः । दे॒वता॑ । म॒रुतः॑ । दे॒वता॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः । दे॒वता॑ । बृह॒स्पतिः॑ । दे॒वता॑ । इन्द्रः॑ । दे॒वता॑ । वरु॑णः । दे॒वता॑ ॥२०॥

(कृषिः) कर्षतेः कृषतेर्वा । इक् कृष्यादिभ्यः (अ० ३।३।१०८ भा० वा०) इति 'इक्' प्रत्ययः । किस्वाद् गुणाभावः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(अजा) अज गतिक्षेपणयोः (भ्वा० ५०) । पचाद्यच् । चित्त्वादन्तोदात्तः । स्त्रियां 'टाप्', एकादेशः । एकादेशस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । पूर्वत्र (यजु० १३।५१) व्याकरण - प्रक्रियाऽपि द्रष्टव्या ॥१६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

पदार्थः—(अग्निः) *प्रकटः पावकः (देवता) देव एव दिव्यगुणत्वात् (वातः) पवनः (देवता) (सूर्य्यः) सविता (देवता) (चन्द्रमा.[1]) इन्दुः (देवता) (वसवः) वसुसंज्ञकाः प्रसिद्धाग्न्यादयोऽष्टौ (देवता) (रुद्राः) प्राणादय एकादश (देवता) (आदित्याः) द्वादशमासा वसुरुद्रादित्यसंज्ञका विद्वांसश्च (देवता) (मरुतः) †ब्रह्माण्डस्थाः प्रसिद्धा मनुष्या विद्वांस ऋत्विजः । मरुत इत्यृत्विङ्नामसु पठितम् । निघं० ३।१८ (देवता) (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणयुक्ता मनुष्याः पदार्थाश्च (देवता) (बृहस्पतिः) बृहतो वचनस्य ब्रह्माण्डस्य वा पालकः (देवता) (इन्द्रः) विद्युत् परमैश्वर्य्यं वा (देवता) (वरुणः) जलं वरगुणाढ्योऽर्थो वा (देवता) । [अयं मन्त्रः श० ८।३।३।६ व्याख्यातः] ॥२०॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषाः ! युष्माभिरग्निर्देवता वातो देवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता सम्यग्विज्ञेयाः ॥२०॥

भावार्थः—ये दिव्याः पदार्था विद्वांसः सन्ति, ते दिव्यगुणकर्मस्वभावत्वाद् देवतासंज्ञां लभन्ते । §यश्च देवतानां देवतात्वान्महादेवः[2] सर्वस्य धर्त्ता स्रष्टा पाता व्यवस्थापकः [3]प्रलायकः सर्वशक्तिमानजोऽस्ति, तमपि परमात्मानं सकलाधिष्ठातारं सर्वे मनुष्या जानीयुः ॥२०॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम लोगों को योग्य है कि (अग्निः) प्रसिद्ध अग्नि (देवता) दिव्य गुण वाला (वातः) पवन (देवता) शुद्धगुणयुक्त (सूर्यः) सूर्य्य (देवता) अच्छे गुणों वाला (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (देवता) शुद्ध गुणयुक्त (वसवः) प्रसिद्ध आठ अग्नि आदि वा प्रथम कक्षा के विद्वान् (देवता) दिव्यगुण वाले (रुद्राः) प्राण आदि ११ ग्यारह वा मध्यम कक्षा के विद्वान् (देवता) शुद्ध गुणों वाले (आदित्याः) बारह महीने वा उत्तम कक्षा के विद्वान् लोग (देवता) शुद्ध (मरुतः) मननकर्त्ता विद्वान् ऋत्विग् लोग (देवता) दिव्य गुण वाले (विश्वे) सब (देवता) अच्छे गुणों वाले विद्वान् मनुष्य वा दिव्य पदार्थ (देवता) देवसंज्ञा वाले हैं, (बृहस्पतिः) बड़े वचन वा ब्रह्माण्ड का रक्षक

१. चन्द्रमाः पूर्वं (यजु० १।२८) व्याख्यातः ॥

२. महादेवशब्दस्य महांश्चासौ देवः महादेव इत्येव विग्रहः। अत्र स्वर्थप्रदर्शनं ज्ञेयम । एवमेव सत्यार्थप्रकाशे प्रथमसमुल्लासेऽपि 'महतां देवानां देवः' इत्यर्थप्रदर्शनपरमेव, न तु विग्रहः ॥

३. 'प्रलापक' इति मुद्रितऽपपाठो लेखकप्रमादजः। प्रपूर्वात् लीङ् श्लेषणे (दि०आ०) इत्यस्मात् 'ण्वुल'। प्रशब्दोऽत्र धात्वर्थं विपरिणमते । यथा तिष्ठति प्रतिष्ठति (गच्छति) । तेन सर्गावस्थायां संसृष्टानां परमाणूनां विश्लेषकः प्रलयकर्त्तेत्यर्थोऽत्र ज्ञेयः ॥२०॥

* 'प्रकटः सन्' इति ककोशे पाठ। 'प्रसिद्ध अग्नि' इति ककोशे भाषार्थः। गकोशे 'विद्युत'—'बिजली' इति शब्दौ संशोधिताविति ध्येयम् ॥

† 'ब्रह्माण्डस्थाः प्रसिद्धा वायवः' इति ककोशे पाठः। अत एव भाषापदार्थेऽपि 'ब्रह्माण्ड के प्रसिद्ध वायु' इति पाठः। उभयत्र गकोशे संशोधितः इति ध्येयम् ॥

§ 'या च' इति तु सार्वत्रिकः पाठः। स च पूर्वापरदर्शनाद् असम्यग् इति ध्येयम् ॥

परमात्मा (देवता) (इन्द्रः) बिजुली वा उत्तम धन (देवता) दिव्य गुणयुक्त और (वरुणः) जल वा श्रेष्ठ गुणों वाला पदार्थ (देवता) अच्छे गुणों वाला है, इन को तुम निश्चय [=अच्छे प्रकार] जानो ॥२०॥

भावार्थः—इस संसार में जो अच्छे गुणों वाले पदार्थ हैं, वे दिव्य गुण कर्म और स्वभाव वाले होने से देवता कहाते हैं। और जो देवतों का देवता होने से महादेव सब का धारक रचक रक्षक, सब की व्यवस्था और प्रलय करनेहारा, सर्वशक्तिमान् दयालु न्यायकारी उत्पत्ति धर्म से रहित है, उस सब के अधिष्ठाता परमात्मा को सब मनुष्य जानें ॥२०॥

मूर्द्धासीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। विदुषी देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः ॥

किंप्रकारिकया विदुष्या भवितव्यमित्याह ॥

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥२१॥

मूर्द्धा। असि। राट्। ध्रुवा। असि। धरुणा। धर्त्री। असि। धरणी॥ आयुषे। त्वा। वर्चसे। त्वा। कृष्यै। त्वा। क्षेमाय। त्वा ॥२१॥

पदार्थः—(मूर्द्धा) उत्कृष्टा (असि) (राट्) राजमाना (ध्रुवा) दृढा स्वकक्षायां गच्छन्त्यपि निश्चला (असि) (धरुणा) पुष्टिकर्त्री (धर्त्री) धारिका (असि) अस्ति (धरणी) आधारभूता (आयुषे) जीवनाय (त्वा) त्वाम् (वर्चसे) अन्नाय (त्वा) त्वाम् (कृष्यै) कृषिकर्मणे (त्वा) त्वाम् (क्षेमाय) रक्षायै (त्वा) त्वाम्। [अयं मन्त्रः श० ८।३।४।६ व्याख्यातः] ॥२१॥

अन्वयः—हे स्त्रि! या त्वं सूर्य्यवन्मूर्द्धासि, राडिव ध्रुवासि, धरुणा धरणीव धर्त्र्यसि, तामायुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय [त्वा] त्वामहं परिगृह्णामि ॥२१॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(राट्) पूर्वं (य० ६।२२) व्याख्यातः ॥

(धर्त्री) पूर्वं (य० १३।१८) व्याख्यातः॥

(धरणी) अधिकरणे 'ल्युट्'। **लिति** (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। स्त्रियां **टिड्ढाणञ्०** (अ० ४।१।१५) इति 'ङीप्'। तस्य पित्त्वे स एव स्वरः ॥

(कृष्यै) पूर्वं (य० १४।१९) कृषिशब्दोऽन्तोदात्तो व्याख्यातः। ततो विभक्तावनुदात्ते यणादेशः। **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (अ० ६।१।१७४) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(क्षेमाय) पूर्वं (यजु० ३।४२) व्याख्यातः ॥२१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

भावार्थः—यथोत्तमाङ्गेन स्थितेन शिरसा सर्वेषां जीवनं, राज्येन लक्ष्मीः, कृष्या अन्नादिकं, निवासेन रक्षणं जायते, सेयं सर्वेषामाधारभूता मातृवन्मान्यकर्त्री भूमिर्वर्त्तते, तथा सती विदुषी स्त्री भवेदिति ॥२१॥

विदुषी स्त्री कैसी हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! जो तू सूर्य के तुल्य (मूर्द्धा) उत्तम (असि) है, (राट्) प्रकाशमान निश्चल के समान (ध्रुवा) निश्चल शुद्ध (असि) है, (धरुणा) पुष्टि करनेहारी (धरणी) आधार रूप पृथिवी के तुल्य (धर्त्री) धारण करनेहारी (असि) है, उस (त्वा) तुझे (आयुषे) जीवन के लिये, उस (त्वा) तुझे (वर्चसे) अन्न के लिये, उस (त्वा) तुझे (कृष्यै) खेती होने के लिये, और उस (त्वा) तुझ को (क्षेमाय) रक्षा होने के लिये मैं सब‡ ओर से ग्रहण करता हूं ॥२१॥

भावार्थः—जैसे स्थित उत्तमांग शिर [=उत्तम बुद्धि] से सब का जीवन, राज्य से लक्ष्मी, खेती से अन्न आदि पदार्थ, और निवास से रक्षा होती है, सो यह सब का आधारभूत माता के तुल्य मान्य करनेहारी पृथिवी है, वैसे ही §विदुषी स्त्री को होना चाहिये ॥२१॥

यन्त्रीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । विदुषी देवता । निचृदुष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

पुनः पत्नी कीदृशी स्यादित्याह ॥

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री ।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥२२॥

यन्त्री । राट् । यन्त्री । असि । यमनी । ध्रुवा । असि । धरित्री ॥ इषे । त्वा । उर्जे । त्वा । रय्यै । त्वा । पोषाय । त्वा ॥२२॥

पदार्थः—(यन्त्री) यन्त्रवत् स्थिता (राट्) प्रकाशमाना (यन्त्री) यन्त्रनिमित्ता (असि) (यमनी) आकर्षणेन नियन्तुं शीला (*ध्रुवा) आकाशवद् दृढा (असि)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(यन्त्री) यम उपरमे (भ्वा० प०)। तृन् (अ० ३।२।१३५) इति 'तृन्' । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४।१।५) इति 'ङीप्' । पित्त्वादनुदात्तः । संहितायां यणि स एव स्वरः ॥

‡ इतोऽग्रेऽजमेरमुद्रिते 'और' इत्यपपाठः ॥

§ 'विद्वान्' इति सार्वत्रिकः पाठः । स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

* 'आकाशवद् दृढा (ध्रुवा)' इत्यजमेरमुद्रिते पूर्वापरविपरीतः पाठः । ककोशे तु '(ध्रुवा) आकाशवद् दृढा' इति सम्यक् पाठः । स च गकोशे लेखकप्रमादाद् व्यस्तः स्यात् ॥

(धरित्री) सर्वेषां धारिका (इषे) इच्छासिद्धये (त्वा) त्वाम् (ऊर्जे) पराक्रमप्राप्तये (त्वा) त्वाम् (रय्यै) लक्ष्म्यै (त्वा) त्वाम् (पोषाय) (त्वा) त्वाम्। [अयं मन्त्रः श० ८।३।४।१० व्याख्यातः] ॥२२॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या त्वं यन्त्री राट् यन्त्री भूमिरिवाऽसि, यमनी ध्रुवा धरित्र्यसि, त्वेषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय चाऽहं स्वीकरोमि ॥२२॥

भावार्थः—या स्त्री भूमिवत् क्षमान्वितान्तरिक्षवदक्षोभा, यन्त्रवज्जितेन्द्रिया भवति, सा कुलदीपिकाऽस्ति ॥२२॥

फिर स्त्री कैसी होवे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! जो तू (यन्त्री) यन्त्र के तुल्य स्थित (राट्) प्रकाशयुक्त (यन्त्री) यन्त्र का निमित्त पृथिवी के समान (असि) है, (यमनी) आकर्षण शक्ति से नियम करनेहारी (ध्रुवा) आकाश-सदृश दृढ़ निश्चल (धर्त्री) सब शुभगुणों का धारण करने वाली (असि) है, (त्वा) तुझ को (इषे) इच्छासिद्धि के लिये, (त्वा) तुझ को (ऊर्जे) पराक्रम की प्राप्ति के लिये, (त्वा) तुझ को (रय्यै) लक्ष्मी के लिये, और (त्वा) तुझ को (पोषाय) पुष्टि होने के लिये मैं ग्रहण करता हूं ॥२२॥

भावार्थः—जो स्त्री पृथिवी के समान क्षमायुक्त, आकाश के समान निश्चल, और यन्त्रकला के तुल्य जितेन्द्रिय होती है, वह कुल का प्रकाश करने वाली है ॥२२॥

आशुस्त्रिवृदित्यस्य विश्वदेव ऋषिः। यज्ञो देवता। पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः। गर्भा इत्युत्तरस्य भुरिगति-जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

अथ संवत्सरः कीदृशोऽस्तीत्याह ॥

आशुस्त्रिवृद्भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुणऽ एकविꣳशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविꣳशो वर्चो द्वाविꣳशः

(यन्त्री) ण्वुल्तृचौ (अ० ३।१।१३३) इति 'तृच्'। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। 'ङीप्'। **उदात्तयणो हल्पूर्वात्** (अ० ६।१।१७४) इति ङीप उदात्तत्वम् ॥

(यमनी) **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३) इति बाहुलकात् ताच्छील्ये कर्त्तरि 'ल्युट्'। लित्स्वरः ॥

(धरित्री) **धृञ् धारणे** (भ्वा० उ०)। 'तृन्'। छान्दस इडागमः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। स्त्रियाम्, **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (अ० ४।१।५) इति 'ङीप्'।

यद्वा—**अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ** (उ० ४।१७३) इति 'इत्र'प्रत्ययः। गौरादेराकृतिगणत्वात् 'ङीष्'। वृषादित्वादाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥२२॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

सम्भरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो गर्भाः पञ्चविंशऽ ओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः षट्त्रिंशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशो धर्त्रं चतुष्टोमः ॥२३॥

आशुः । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । भान्तः । पञ्चदश इति पञ्चऽदशः । व्योमेति विऽओमा । सप्तदश इति सप्तऽदश । धरुणः । एकविंश इत्येकऽविंशः। प्रतूर्त्तिरिति प्रऽतूर्त्तिः। अष्टादश इत्यष्टाऽदशः । तपः । नवदश इति नवऽदशः । अभीवर्त्तः । अभिवर्त्त इत्यभिऽवर्त्तः। सविंश इति सऽविंशः। वर्चः । द्वाविंशः। सम्भरण इति सम्ऽभरणः। त्रयोविंश इति त्रयःऽविंशः। योनिः । चतुर्विंश इति चतुःऽविंशः । गर्भाः । पञ्चविंश इति पञ्चऽविंशः । ओजः । त्रिणवः । त्रिनव इतित्रिऽनवः । क्रतुः। एकत्रिंश इत्येकऽत्रिंशः । प्रतिष्ठा । प्रतिस्थेति प्रतिऽस्था । त्रयस्त्रिंश इति त्रयःऽत्रिंशः । ब्रध्नस्य । विष्टपम् । चतुस्त्रिंश इति चतुःऽत्रिंश.। नाकः । षट्त्रिंश इति षट्ऽत्रिंशः। विवर्त्त इति विऽवर्त्तः । अष्टाचत्वारिंश इत्यष्टाऽचत्वारिंशः । धर्त्रम् । चतुष्टोमः । चतुस्तोम इति चतुःऽस्तोमः ॥२३॥

पदार्थः—(आशुः) (त्रिवृत्) शीते चोष्णे द्वयोर्मध्ये च वर्त्तते सः (भान्तः) प्रकाशः (पञ्चदशः) पञ्चदशानां पूरणः पञ्चदशविधः (व्योमा) व्योमवद्विस्तृतः (सप्तदशः) सप्तदशविधः (धरुणः) धारणगुणः (एकविंशः) एकविंशतिधा (प्रतूर्त्तिः) शीघ्रगतिः (अष्टादशः) अष्टादशधा (तपः) संतापो गुणः (नवदशः) नवदशधा (अभीवर्त्तः) य आभिमुख्ये वर्त्तते सः (सविंशः) विंशत्या सह वर्त्तमानः (वर्चः) दीप्तिः (द्वाविंशः) द्वाविंशतिधा (संभरणः) सम्यग् धारकः (त्रयोविंशः) त्रयोविंशतिधा (योनिः) संयोजको वियोजको गुणः (चतुर्विंशः) चतुर्विंशतिधा (गर्भाः) गर्भधारणशक्तयः (पञ्चविंशः) पञ्चविंशतिधा (ओजः) पराक्रमः (त्रिणवः) सप्तविंशतिधा (क्रतुः) कर्म प्रज्ञा वा (एकत्रिंशः) एकत्रिंशद्धा (प्रतिष्ठा) *प्रतिष्ठन्ति यस्यां सा (त्रयस्त्रिंशः) त्रयस्त्रिंशत्

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(त्रिवृत्) तृतीयं वृणोतीत्यर्थे त्रिशब्दाद् वृणोतेः क्विपि, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(भान्तः) जृविशिभ्यां झच् (उ० ३। १२६) इति 'झच्' बाहुलकाद् भातेरपि । झोऽन्तः (अ० ७।१।३) इत्यन्तादेशे, चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(व्योमा) पूर्वं (यजुः १३।४२) व्याख्यातः ॥

(प्रतूर्त्तिः) पूर्वं (यजुः ६।६) व्याख्यातः ॥

(अभीवर्त्तः, विवर्त्तः) कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति कर्त्तर्यपि 'घञ्' । थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् । अभीवर्त्त इत्यत्र उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (अ० ६।३।१२२) इत्युपसर्गस्य दीर्घत्वम् । यद्वा—अचि थाथघञ्० सूत्रेणान्तोदात्तत्वम्, छान्दसं पूर्वपददीर्घत्वम् ॥

(अष्टादशः, द्वाविंशः, अष्टाचत्वारिंशः)

---

* साम्प्रतिकानां मते 'प्रतिष्ठन्ते' इति स्यात् ॥

प्रकारः (ब्रध्नस्य) महतः (विष्टपम्) व्याप्तिम्, अत्र विष् धातोर्बाहुलकादौणादिकस्तपः प्रत्ययः (चतुस्त्रिंशः) चतुस्त्रिंशद्विधः (नाकः) आनन्दः (षट्त्रिंशः) षट्त्रिंशत्प्रकारः (विवर्त्तः) विविधं वर्तते यस्मिन् सः (अष्टाचत्वारिंशः) अष्टाचत्वारिंशद्धा (धर्त्रम्) धारणम् (चतुष्टोमः) चत्वारः स्तोमाः स्तुतयो यस्मिन् संवत्सरे सः। [अयं मन्त्रः श० ८।४।१।९ व्याख्यातः] ॥२३॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यूयं यस्मिन् संवत्सर आशुस्त्रिवृद् भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुण एकविंशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविंशो वर्चो द्वाविंशः संभरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो गर्भाः पञ्चविंश ओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः षट्त्रिंशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशो धर्त्रं चतुष्टोमोऽस्ति, तं संवत्सरं विजानीत ॥२३॥

भावार्थः—यस्य संवत्सरस्य संबन्धिनो भूतभविष्यद्वर्त्तमानादयोऽवयवाः सन्ति तस्य संबन्धादेते व्यवहारा भवन्तीति यूयं बुध्यध्वम् ॥२३॥

अब संवत्सर कैसा है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग जिस वर्त्तमान संवत् में (आशुः) शीघ्र (त्रिवृत्) शीत और उष्ण [तथा इन दोनों] के बीच वर्त्तमान (भान्तः) प्रकाश (पञ्चदशः) पन्द्रह प्रकार का (व्योमा) आकाश के समान विस्तारयुक्त (सप्तदशः) सत्रह प्रकार का (धरुणः) §धारण गुण (एकविंशः) इक्कीस प्रकार का (प्रतूर्तिः) शीघ्र गति वाला (अष्टादशः) अठारह प्रकार का (तपः) सन्तापी गण (नवदशः) उन्नीस प्रकार का (अभीवर्त्तः) सन्मुख वर्त्तने वाला गुण (सविंशः) इक्कीस प्रकार की (वर्चः) दीप्ति (द्वाविंशः) बाईस प्रकार का (सम्भरणः) अच्छे प्रकार धारणकारक गुण (त्रयोविंशः) तेईस प्रकार का (योनिः) संयोग वियोगकारी गुण (चतुर्विंशः) चौबीस प्रकार की

तस्य पूरणे डट् (अ० ५।२।४८) इति डटि टिलोपः। 'द्वाविंश' इत्यत्र तु ति विंशतेर्डिति (अ० ६।४।१४२) इति तेर्लोपो विशेषः। सर्वत्र द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः (अ० ६।३।४७) इत्यात्वम्। नवदशादयस्तु एतेनैव निरुक्तप्रायाः॥

(सविंशः, त्रिणवः) विंशत्या सहितः, त्रिर्नव त्रिणवः। संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्या संख्येये (अ० २।२।२५) इति समासः। बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् (अ० ५।४।७३) इति 'डच्'। टिलोपः तिलोपश्च। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्॥

(त्रयोविंशः) त्रेस्त्रयः (अ० ६।३।४८) इति 'त्रयस्' आदेशः। शेषं प्राग्वत्॥

(सम्भरणः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्॥

(चतुष्टोमः) पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते परादिश्च परान्तश्च (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि (अ० ८।३।१०५) इति षत्वम् ॥२३॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

---

§ 'धारक' इति ककोशे पाठः॥

(गर्भाः) गर्भ धारण की शक्ति (पञ्चविंशः) पच्चीस प्रकार का (ओजः) पराक्रम (त्रिणवः) सत्ताईस प्रकार का (क्रतुः) कर्म्म वा बुद्धि (एकत्रिंशः) एकतीस प्रकार की (प्रतिष्ठा) सब की स्थिति का निमित्त क्रिया (त्रयस्त्रिंशः) तेंतीस प्रकार की (ब्रध्नस्य) बड़े ईश्वर की (विष्टपम्) व्याप्ति (चतुस्त्रिंशः) चौंतीस प्रकार का (नाकः) आनन्द (षट्त्रिंशः) छत्तीस प्रकार का (विवर्त्तः) विविध प्रकार से वर्त्तने का आधार (अष्टाचत्वरिंशः) अड़तालीस प्रकार का (धर्त्रम्) धारण और (चतुष्टोमः) चार स्तुतियों का आधार है, §उस संवत्सर को जानो ॥२३॥

भावार्थः—जिस संवत्सर के सम्बन्धी भूत भविष्यत् और वर्तमान काल आदि अवयव हैं, उस के सम्बन्ध से ही ये सब संसार के व्यवहार होते हैं, ऐसा तुम लोग जानो ॥२३॥

अग्नेर्भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। मेधाविनो देवताः। भुरिग्विकृतिश्छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः कथं विद्या अधीत्य किमाचरणीयमित्याह ॥

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमऽ इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रꣳ स्पृतं पञ्चदश स्तोमो नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रꣳ स्पृतꣳ सप्तदश स्तोमो मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृतऽ एकविꣳश स्तोमः ॥२४॥

अग्नेः। भागः। असि। दीक्षायाः। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। ब्रह्म। स्पृतम्। त्रिवृदिति त्रिऽवृत्। स्तोमः। इन्द्रस्य। भागः। असि। विष्णोः। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। क्षत्रम्। स्पृतम्। पञ्चदश इति पञ्चऽदश। स्तोमः। नृचक्षसामिति नृऽचक्षसाम्। भागः। असि। धातुः। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। जनित्रम्। स्पृतम्। सप्तदश इति सप्तऽदशः। स्तोमः। मित्रस्य। भागः। असि। वरुणस्य। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। दिवः। वृष्टिः। वातः। स्पृतः। एकविꣳश इत्येकऽविꣳशः। स्तोमः ॥२४॥

पदार्थः—(अग्नेः) सूर्य्यस्य (भागः) विभजनीयः (असि) (दीक्षायाः) ब्रह्मचर्यादेः (आधिपत्यम्) (ब्रह्म) ब्रह्मवित् कुलम् (स्पृतम्) [1]प्रीतं सेवितम् (त्रिवृत्) यत् त्रिभिः

---

१. 'स्पृ प्रीतिसेवनयोः' (स्वा० प०) ॥

---

§ 'उस को संवत्सर जानो' इति ककोशे पाठः ॥

कायिकवाचिकमानसैः साधनैः शुद्धं वर्त्तते (स्तोमः) यः स्तूयते (इन्द्रस्य) विद्युतः परमैश्वर्यस्य वा (भागः) (असि) (विष्णोः) व्यापकस्य जगदीश्वरस्य (आधिपत्यम्) (क्षत्रम्) क्षात्रधर्मप्राप्तं राजन्यकुलम् (स्पृतम्) (पञ्चदशः) पञ्चदशानां पूर्णः (स्तोमः) स्तोता (नृचक्षसाम्) येऽर्था नृभिः ख्यायन्ते तेषाम् (भागः) (असि) (धातुः) धर्त्तुः (आधिपत्यम्) अधिपतेर्भावः (जनित्रम्) जननम् (स्पृतम्) (सप्तदशः) (स्तोमः) स्तावकः (मित्रस्य) (भागः) (असि) (*वरुणस्य) श्रेष्ठस्योदकसमूहस्य वा (आधिपत्यम्) (दिवः) प्रकाशस्य (वृष्टिः) वर्षा (वातः) वायुः (स्पृतः) सेवितः (एकविंशः) (स्तोमः) स्तुवन्ति येन सः । [अयं मन्त्रः श० ८।४।२।३-६ व्याख्यातः] ॥२४॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यस्त्वमग्नेर्भागः संवत्सर इवाऽसि, स त्वं दीक्षायाः स्पृतमाधिपत्यं ब्रह्म प्राप्नुहि । यस्त्रिवृत्स्तोम इन्द्रस्य भाग इवासि, स त्वं विष्णोः स्पृतमाधिपत्यं क्षत्रं प्राप्नुहि । यस्त्वं पञ्चदश स्तोमो नृचक्षसां भाग इवासि, स त्वं धातुः स्पृतं जनित्रमाधिपत्यं प्राप्नुहि । यस्त्वं सप्तदश स्तोमो मित्रस्य भाग इवासि, स त्वं वरुणस्याधिपत्यं याहि । यस्त्वं वातः स्पृत एकविंशस्तोम इवासि, तेन त्वया दिवो वृष्टिर्विधेया । २४॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—ये बाल्यावस्थामारभ्य सज्जनोपदिष्टविद्याग्रहणाय प्रयत्नेनाधिपत्यं लभन्ते, ते स्तुत्यानि कर्माणि कृत्वोत्तमा भूत्वा सविधं कालं विज्ञाय विज्ञापयेयुः ॥२४॥

अब मनुष्य किस प्रकार विद्या पढ़ के कैसा आचरण करें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष ! जो तू (अग्नेः) सूर्य्य का (भागः) विभाग के योग्य संवत्सर के तुल्य (असि) है, सो तू (दीक्षायाः) ब्रह्मचर्य्य आदि की दीक्षा का (स्पृतम्) प्रीति से सेवन किये हुये (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञ कुल के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो । जो (त्रिवृत्) शरीर वाणी और मानस साधनों से शुद्ध वर्त्तमान (स्तोमः) स्तुति के योग्य (इन्द्रस्य) बिजुली वा उत्तम ऐश्वर्य्य के (भागः) विभाग के तुल्य (असि) है, सो तू (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के (स्पृतम्) प्रीति से सेवने योग्य (क्षत्रम्) क्षत्रियों के धर्म के अनुकूल राजकुल के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो । जो तू (पञ्चदशः)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आधिपत्यम्) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (अ० ५।१।१२८) इति यकि प्राप्ते ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाद् गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (अ० ५।१।१२४) इति 'ष्यञ्'। ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(स्पृतम्) स्पृ प्रीतिसेवनयोः (स्वा० प०) कर्मणि 'क्तः'। प्रत्ययस्वरः ॥

(नृचक्षसाम्) पूर्वं (यजु० १२।२०; १२।४८) व्याख्यातः ॥

(जनित्रम्) पूर्वं (यजु० १३।५०) व्याख्यातः ॥२४॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

* 'वरुणस्य श्रेष्ठोदकस्य' इत्यजमेरमुद्रिते गकोशे च पाठः। ककोशे तु सम्यक् पाठः इति ध्येयम् ॥

पन्द्रह का पूरक (स्तोमः) स्तुतिकर्त्ता (नृचक्षसाम्) मनुष्यों से कहने योग्य पदार्थों के (भागः) विभाग के तुल्य (असि) है, सो तू (धातुः) धारणकर्त्ता के (स्पृतम्) ईप्सित (जानत्रम्) जन्म और (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो। जो तू (सप्तदशः) सत्रह संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति के योग्य (मित्रस्य) प्राण का (भागः) विभाग के समान (असि) है, सो तू (वरुणस्य) श्रेष्ठ जलों के (आधिपत्यम्) स्वामीपन को प्राप्त हो। जो तू (वातः स्पृतः) सेवित पवन और(एकविंशः) इक्कीस संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति के साधन के समान (असि) है, सो तू (दिवः) प्रकाशरूप सूर्य्य से (वृष्टिः) वर्षा होने का हवन आदि उपाय कर ॥२४॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जो पुरुष बाल्यावस्था से लेकर सज्जनों ने उपदेश की हुई विद्याओं के ग्रहण के लिये प्रयत्न कर के अधिकारी होते हैं, वे स्तुति के योग्य कर्मों को कर और उत्तम हो के विधान के सहित काल को जान के दूसरों को जनावें ॥२४॥

वसूनां भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवताः।
स्वराट् संकृतिश्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विंश स्तोमऽआदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भा स्पृताः पञ्चविंश स्तोमोऽदित्यै भागोऽसि पूष्णऽआधिपत्यमोजं स्पृतं त्रिणव स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳ समीचीर्दिशं स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ॥२५॥

वसूनाम्। भागः। असि। रुद्राणाम्। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। चतुष्पात्। चतुःपादिति चतुःऽपात्। स्पृतम्। चतुर्विंश इति चतुःऽविंशः। स्तोमः। आदित्यानाम्। भागः। असि। मरुताम्। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। गर्भाः। स्पृताः। पञ्चविंश इति पञ्चऽविंशः। स्तोमः। अदित्यै। भागः। असि। पूष्णः। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। ओजः। स्पृतम्। त्रिणवः। त्रिनव इति त्रिऽनवः। स्तोमः। देवस्य। सवितुः। भागः। असि। बृहस्पतेः। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। समीचीः। दिशः। स्पृताः। चतुष्टोमः। चतुस्तोम इति चतुःऽस्तोमः। स्तोमः ॥२५॥

पदार्थः—(वसूनाम्) अग्न्यादीनामादिमानां विदुषां वा (भागः) (असि) (रुद्राणाम्) प्राणादीनां मध्यमानां विदुषां वा (आधिपत्यम्) चतुष्पात् गवादिकम् (स्पृतम्) सेवितम् (चतुर्विंशः) चतुर्विंशतिधा (स्तोमः) स्तोता (आदित्यानाम्) मासानामुत्तमानां विदुषां वा (भागः) (असि) (मरुताम्) मनुष्याणां पशूनां वा।

मरुत इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।५ (आधिपत्यम्) (गर्भाः) गर्भ इव विद्याशुभगुणैरावृताः (स्पृताः) प्रीतिमन्तः (पञ्चविंश) पञ्चविंशतिप्रकारः (स्तोमः) स्तोतव्यः (अदित्यै) *प्रकाशस्य (भागः) (असि) (पूष्णः) पुष्टिकर्त्र्या भूमेः । पूषेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १।१ (आधिपत्यम्) (ओजः) बलम् (स्पृतम्) सेवितम् (त्रिणवः) सप्तविंशतिधा (स्तोमः) स्तोतव्यः (देवस्य) सुखप्रदस्य (सवितुः) जनकस्य (भागः) (असि) (बृहस्पतेः) बृहत्या वेदवाचः पालकस्य (आधिपत्यम्) (समीचीः) याः सम्यगञ्चन्ते (दिशः) (स्पृताः) (चतुष्टोमः) चतुर्भिर्वेदैः स्तूयते चतुःस्तोमः स्तोता । [अयं मन्त्रः श० ८।४।२।७-१० व्याख्यातः] ॥२५॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यस्त्वं वसूनां भागोऽसि, स त्वं रुद्राणामाधिपत्यं गच्छ । य [स्त्वं] चतुर्विंशस्तोम आदित्यानां भागोऽसि, स त्वं चतुष्पात्स्पृतं कुरु, मरुतामाधिपत्यं गच्छ । यस्त्वं पञ्चविंशस्तोमोऽदित्यै भागोऽसि, स त्वं पूष्ण ओजः स्पृतमाधिपत्यं प्राप्नुहि । यस्त्वं त्रिणवः स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि, स त्वं बृहस्पतेराधिपत्यं याहि । यस्त्वं चतुष्टोमोऽसि, स त्वं गर्भाः स्पृता या जानन्ति ताः समीचीः स्पृता दिशो विजानीहि ॥२५॥

भावार्थः—ये सुशीलत्वादिगुणान् गृह्णन्ति, ते विद्वत्प्रियाः सन्तः सर्वाधिष्ठातृत्वं प्राप्नुवन्ति । येऽधिपतयो भवेयुस्ते नृषु पितृवद्वर्त्तन्ताम् ॥२५॥

फिर भी पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! जो तू (वसूनाम्) अग्नि आदि आठ वा प्रथम कक्षा के विद्वानों का (भागः) सेवने योग्य (असि) है, सो तू (रुद्राणाम्) दश प्राण आदि ग्यारहवां जीव वा मध्यमकक्षा के विद्वानों के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो । जो [तू] (चतुर्विंशः) चौबीस प्रकार का (स्तोमः) स्तुतिकर्त्ता (आदित्यानाम्) बारह महीनों वा उत्तम कक्षा के विद्वानों के (भागः) सेवने योग्य (असि) है, सो तू (चतुष्पात्) गौ आदि पशुओं का (स्पृतम्) सेवन कर, (मरुताम्) मनुष्य वा पशुओं के (आधिपत्यम्) अधिष्ठातृत्व [को प्राप्त] हो । जो तू (पञ्चविंशः) पच्चीस प्रकार का (स्तोमः) स्तुति के योग्य (अदित्यै) अखण्डित प्रकाश का (भागः) विभाग के तुल्य (असि) है, सो तू (पूष्णः) पुष्टिकारक पृथिवी के (स्पृतम्) सेवने योग्य (ओजः) बल को प्राप्त हो के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो । जो तू (त्रिणवः) सत्ताईस प्रकार का (स्तोमः) स्तुति के योग्य (देवस्य) सुखदाता (सवितुः) पिता का (भागः) विभाग (असि) है, सो तू (बृहस्पतेः) बड़ी वेदरूपी वाणी के पालक ईश्वर के दिये हुये (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो । जो तू (चतुष्टोमः) चार वेदों से कहने योग्य स्तुतिकर्त्ता है सो तू (गर्भाः) गर्भ के तुल्य विद्या और शुभ गुणों से आच्छादित (स्पृताः) प्रीतिमान् सज्जन लोग जिन को जानते हैं, उन (समीचीः) सम्यक् प्राप्ति के साधन (स्पृताः) प्रीति का विषय (दिशः) पूर्व [आदि] दिशाओं को जान ॥२५॥

---

* 'आकाशस्य' इति ककोशे पाठः । भाषापदार्थे च अजमेरमुद्रिते ककोशसंस्कृतानुसार्यर्थ उपलभ्यते । गकोशे संस्कृते संशोधितः पाठो भाषापदार्थे न संशोधित इति ध्येयम् । अस्माभिस्तु संशोधित-संस्कृतपाठानुसारं भाषापदार्थोऽपि शोधितः ॥

भावार्थः—जो सुन्दर स्वभाव आदि गुणों का ग्रहण करते हैं, वे विद्वानों के प्यारे होके सब के अधिष्ठाता होते हैं। और जो सब के ऊपर अधिकारी हों, वे मनुष्यों में पिता के समान वर्त्तें ॥२५॥

यवानां भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। ऋभवो देवताः। निचृदतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स शरदि कथं वर्त्ततेत्याह॥

यवानां भागोऽस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमऽ ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतꣳ स्पृतं त्रयस्त्रिꣳश स्तोमः ॥२६॥

यवानाम्। भागः। असि। अयवानाम्। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। प्रजा इति प्रऽजाः। स्पृताः। चतुश्चत्वारिꣳश इति चतुःऽचत्वारिꣳशः। स्तोमः। ऋभूणाम्। भागः। असि। विश्वेषाम्। देवानाम्। आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम्। भूतम्। स्पृतम्। त्रयस्त्रिꣳश इति त्रयःऽस्त्रिꣳशः। स्तोमः॥२६॥

पदार्थः—(यवानाम्) मिश्रितानाम् (भागः) (असि) (अयवानाम्) अमिश्रितानाम् (आधिपत्यम्) (प्रजाः) पालनीयाः (स्पृताः) प्रीताः (चतुश्चत्वारिंशः) एतत्संख्यायाः पूरकः (स्तोमः) ([1]ऋभूणाम्) मेधाविनाम् (भागः) (असि) (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (देवानाम्) विदुषाम् (आधिपत्यम्) (भूतम्) (स्पृतम्) सेवितम् (त्रयस्त्रिंशः) एतत्संख्यापूरकः (स्तोमः) स्तुतिविषयः। [अयं मन्त्रः श० ८।४।२।११-१३ व्याख्यातः] ॥२६॥

अन्वयः—हे मनुष्य! यस्त्वं यवानां भागः शरदृतुरिवासि, योऽयवानामाधिपत्यं प्राप्य प्रजाः स्पृताः करोति, यश्चतुश्चत्वारिंश स्तोम ऋभूणां भागोऽसि, विश्वेषां देवानां भूतं स्पृतमाधिपत्यं प्राप्य यस्त्रयस्त्रिंशः स्तोमोऽसि, स त्वमस्माभिः सत्कर्त्तव्यः॥२६॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैर्य इमे शरदृतोर्गुणा उक्तास्ते यथावत्सेवनीया इति॥२६॥

---

१. 'ऋभुः' इति मेधाविनाम। निघ० ३।१५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ऋभूणाम्) अत्र निरुक्तम्—ऋभवः उरु भान्तीति वर्त्तेन भान्ति इति वर्त्तेन भवन्तीति वा (निरु० ११।५)। तत्र उरुशब्दोपपदाद् ऋतोपपदात् च भातेर्भवतेश्च आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च (उ० १।१३) इति विधीयमानो डिद् 'उ' प्रत्ययो बाहुलकात्। डित्वाट्टिलोपः। उरुशब्दस्याद्यलोपः संप्रसारणं च, ऋतशब्दस्यापि तकारलोपः पृषोदरादित्वाद् बोध्यः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। ततो नामन्यतरस्याम् (अ० ६।१।१७७) इति 'नाम्' उदात्तः॥२६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

फिर वह शरद् ऋतु में कैसे वर्त्ते, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! जो तू (यवानाम्) मिले हुये पदार्थों का [(भागः)] सेवन करनेहारा शरद् ऋतु के समान (असि) है, जो (अयवानाम्) पृथक् पृथक् धर्म वाले पदार्थों के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त होकर* (प्रजाः) पालने योग्य प्रजाओं को (स्पृताः) प्रीति से प्रेमयुक्त करता है, जो (चतुश्चत्वारिंशः) चवालीस संख्या का पूर्ण करने वाला (स्तोमः) स्तुति के योग्य (ऋभूणाम्) बुद्धिमानों के (भागः) सेवने योग्य (असि) है (विश्वेषाम्) सब (देवानाम्) विद्वानों के (भूतम्) हो चुके (स्पृतम्) सेवन किये हुये (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो कर जो (त्रयस्त्रिंशः) तेंतीस संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति के विषय के समान है, सो तू हम लोगों से सत्कार के योग्य है ॥२६॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो ये पीछे के मन्त्रों में शरद् ऋतु के गुण कहे हैं, उन का यथावत् सेवन करें। यह शरद् ऋतु का व्याख्यान पूरा हुआ ॥२६॥

सहश्चेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। ऋतवो देवताः। पूर्वस्य भुरिगतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः। ये अग्नय इत्युत्तरस्य भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

अथ हेमन्तर्त्तु विधानमाह ॥

सह॑श्च सह॒स्य॑श्च॒ हैम॑न्तिकावृ॒तूऽ अ॒ग्नेर॑न्तःश्लेषो॒ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ऽ ओष॑धयः॒ कल्प॑न्ताम॒ग्नयः॒ पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः। येऽ अ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वीऽ इ॒मे। हैम॑न्तिकावृ॒तूऽ अ॑भि॒कल्प॑माना॒ऽ इन्द्र॑मिव दे॒वाऽ अ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥२७॥

सहः॑। च॒। स॒ह॒स्यः॑। च॒। हैम॑न्तिकौ। ऋ॒तू इत्यृ॒तू। अ॒ग्नेः। अ॒न्तः॒श्ले॒ष इत्य॑न्तःऽश्ले॒षः। अ॒सि॒। कल्पे॑ताम्। द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी। कल्प॑न्ताम्। आपः॑। ओष॑धयः। कल्प॑न्ताम्। अ॒ग्नयः॑। पृथ॑क्। मम॑। ज्यैष्ठ्या॑य। सव्र॑ता इति॒ सऽव्र॑ताः। ये। अ॒ग्नयः॑। सम॑नस इति॒ सऽम॑नसः। अ॒न्त॒रा। द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी। इ॒मे इती॒मे। हैम॑न्तिकौ। ऋ॒तू इत्यृ॒तू। अ॒भि॒कल्प॑माना॒ इत्य॑भिऽकल्प॑मानाः। इन्द्र॑मि॒वेतीन्द्र॑म्ऽइव। दे॒वाः। अ॒भि॒संवि॑श॒न्त्वित्य॑भि॒ऽसंवि॑शन्तु। तया॑। दे॒वत॑या। अ॒ङ्गि॒र॒स्वत्। ध्रु॒वे इति॑ ध्रु॒वे। सी॒द॒त॒म् ॥२७॥

---

* इतोऽग्रे '(स्पृताः) प्रीति से' इति पाठ अस्थाने आसीत्। अन्वयानुसारं यथास्थानं नीतोऽस्माभिः ॥

पदार्थः—(सहः) बलकारी *मार्गशीर्षः (च) (सहस्यः) सहसि बले भवः पौषः† (च) (हैमन्तिकौ) हेमन्ते भवौ मार्गशीर्षः पौषश्च मासौ (ऋतू) स्वलिङ्गप्रापकौ (अग्नेः) विद्युतः (अन्तःश्लेषः) मध्य स्पर्शः (असि) (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आप) (ओषधयः) (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) इवैत्येन युक्ताः पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठानां वृद्धानां भावाय (सव्रताः) नियमैः सहिताः (ये) (अग्नयः) (समनसः) समानं मनो येभ्यस्ते (अन्तरा) आभ्यन्तरे (द्यावापृथिवी) (इमे) (हैमन्तिकौ) उक्तौ (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) आभिमुख्येन समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथैश्वर्यम् (देवाः) दिव्यगुणाः (अभिसंविशन्तु) (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवे) दृढे (सीदतम्) तिष्ठेताम्। [अयं मन्त्रः श० ८।४।२।१४ व्याख्यातः] ॥२७॥

अन्वयः—हे मित्र! यौ मम ज्यैष्ठ्याय सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अङ्गिरस्वत् सीदतं, यस्याग्नेरन्तःश्लेष इवासि स त्वं तेन द्यावापृथिवी कल्पेतामाप ओषधयोऽग्नयश्च पृथक् कल्पन्तामिति जानीहि। येऽग्नय इवान्तरा सव्रताः समनस इमे ध्रुवे द्यावापृथिवी कल्पन्तामिन्द्रमिव हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना देवा अभिसंविशन्तु, ते तया देवतया सह युक्ताहारविहारा भूत्वा सुखिनः स्युः ॥२७॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—हे मनुष्याः! यथा विद्वांसः§ स्वसुखाय हेमन्तर्त्तौ पदार्थान् सेवेरन् तथैवान्यानपि सेवयेयुः ॥२७॥

अब हेमन्त ऋतु के विधान को अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे मित्रजन! जो (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) वृद्ध श्रेष्ठ जनों के होने के लिये (सहः) बलकारी अगहन (च) और (सहस्यः) बल में प्रवृत्त हुआ पौष (च) ये दोनों महीने (हैमन्तिकौ) हेमन्त ऋतु में हुए (ऋतू) अपने चिह्न जानने वाले (अङ्गिरस्वत्) उस ऋतु के प्राण के समान (सीदतम्) स्थिर हैं, जिस ऋतु के (अन्तः-

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सहः) सहस् शब्द आद्युदात्तः पूर्व (यजु० ३।३८) व्याख्यातः। ततो मत्वर्थे मासतन्वोः (अ० ४।४।१२८) इत्युत्पन्नस्य यतो लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (अ० ४।४।१२८ भा० वा०) इति लुक्। पूर्वोक्त एव स्वरः॥

(सहस्यः) मत्वर्थे मासतन्वोः (अ० ४।४।१२८) इति 'यत्'। तित् स्वरितम् (अ० ६।१।१८५) इत्यन्तस्वरितत्वम्॥

(हैमन्तिकौ) हेमन्ते भवौ। हेमन्ताच्च (अ० ४।३।२१) इति शैषिकष्ठञ् प्रत्ययः। इकादेशः। आदिवृद्धिः। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम्॥

शिष्टं प्राग्व्याख्यातम् ॥२७॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

* 'मार्गशीर्षः' इति गकोशे प्रवर्द्धितः पाठः॥

† 'पौषः' इति गकोशे प्रवर्द्धितः पाठः॥

§ 'विद्वांसो यथा स्युः' इति पाठः ककोशे। स च गकोशे संशोधितः॥

श्लेष:) मध्य में स्पर्श होता है उस के समान तू (असि) है, सो तू उस ऋतु से (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि (कल्पेताम्) समर्थ हों, (आप:) जल और (ओषधय:) ओषधियां और (अग्नय:) सफेदाई से युक्त अग्नि (पृथक्) पृथक् पृथक् (कल्पन्ताम्) समर्थ हों ऐसा जान ।(ये) जो (अग्नय:) अग्नियों के तुल्य (अन्तरा) भीतर प्रविष्ट होने वाले (सव्रता:) नियमधारी (समनस:) अविरुद्ध विचार वाले लोग (इमे) इन (ध्रुवे) दृढ़ (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि को (कल्पन्ताम्) समर्थित करें, (इन्द्रमिव) ऐश्वर्य्य के तुल्य (हैमन्तिकौ) (ऋतू) हेमन्त ऋतु के दोनों महीनों को (अभिकल्पमाना:) सन्मुख होकर समर्थ करने वाले (देवा:) दिव्य गुण बिजुली के समान (अभिसंविशन्तु) आवेश करें, वे सज्जन लोग (तया) उस (देवतया) प्रकाशस्वरूप परमात्मदेव के साथ §प्रेमबद्ध हो के नियम से आहार और विहार कर के सुखी हों ।।२७।।

इस मन्त्र में ∫वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थ:—‡हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् अपने सुख के लिये हेमन्त ऋतु में पदार्थों का सेवन करें, वैसे ही दूसरों को भी सेवन करावें ।।२७।।

एकयेत्यस्य विश्वदेव ऋषि । ईश्वरो देवता । निचृद्विकृतिश्छन्द: ।

मध्यम: स्वर: ।।

अथैतदृतुचक्रं केन सृष्टमित्याह ।।

एकयास्तुवत प्रजाऽ अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्तऽऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ।।२८।।

एकया । अस्तुवत । प्रजा इति प्रऽजा: । अधीयन्त । प्रजापतिरिति प्रजाऽपति: । अधिपतिरित्यधिऽपति: । आसीत् । तिसृभिरिति तिसृऽभि: । अस्तुवत । ब्रह्म । असृज्यत । ब्रह्मण: । पति: । अधिपतिरित्यधिऽपति: । आसीत् । पञ्चभिरिति पञ्चऽभि: । अस्तुवत । भूतानि । असृज्यन्त । भूतानाम् । पति: । अधिपतिरित्यधिऽपति: । आसीत् । सप्तभिरिति सप्तऽभि: । अस्तुवत । सप्तऋषय इति सप्तऽऋषय: । असृज्यन्त । धाता । अधिपतिरित्यधिऽपति: । आसीत् ।।२८।।

---

§ 'प्रेमबद्ध' इति गकोशे प्रवर्द्धित: पाठ: ।।

∫ 'इस मन्त्र में उपमा तथा वाचकलुप्तोपमालङ्कार है' इति कगकोशयो: पाठ:। स च मुद्रणे संशोधित: स्यात् ।।

‡ 'विद्वानों को योग्य है कि यथायोग्य सुख के लिये' इति ककोशे पाठ:, स चास्माभि: संशोधितसंस्कृतपाठानुसारं शोधित: ।।

पदार्थः-- (एकया[1]) वाण्या (अस्तुवत) स्तुवन्तु (प्रजाः) (अधीयन्त) अधीयताम् (प्रजापतिः) प्रजाया पालक ईश्वरः (अधिपतिः) (आसीत्) अस्ति (तिसृभिः) [2]प्राणोदानव्यानगतिभिः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (ब्रह्म) परमेश्वरेण वेदः (असृज्यत) सृष्टः (ब्रह्मणस्पतिः) वेदस्य पालकः (अधिपतिः) (आसीत्) अस्ति ([3]पञ्चभिः) समानचित्तबुद्ध्यहंकारमनोभिः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (भूतानि) पृथिव्यादीनि (असृज्यन्त) संसृष्टानि कुर्वन्तु (भूतानाम्) (पतिः) पालकः (अधिपतिः) पत्युः पतिः (आसीत्) भवति ([4]सप्तभिः) नागकूर्म्मकृकलदेवदत्तधनंजयेच्छाप्रयत्नैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (सप्त ऋषयः) पंच मुख्यप्राणा महत्तत्त्वमहंकारश्चेति (असृज्यन्त) सृज्यन्ते (धाता) धर्त्ता पोषको वा (अधिपतिः) सर्वेषां स्वामी (आसीत्) अस्ति। [अयं मन्त्रः श० ८।४।३।३-६ व्याख्यातः] ॥२८॥

अन्वयः— हे मनुष्याः! यः प्रजापतिरधिपतिः सर्वस्य स्वामीश्वर आसीत्तमेकयाऽस्तुवत। सर्वाः प्रजाश्चाधीयन्त, यो ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् येनदं सर्वविद्यामयं ब्रह्म वेदोऽसृज्यत तं तिसृभिरस्तुवत। येन भूतान्यसृज्यन्त यो भूतानां पतिरधिपतिरासीत्तं सर्वे मनुष्याः पञ्चभिरस्तुवत। येन सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त, यो धाताऽधिपतिरासीत्तं सप्तभिरस्तुवत ॥२८॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वस्य जगत उत्पादको न्यायाधीशः परमेश्वरः स्तोतव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य[श्च]। यथा हेमन्तर्त्तौ सर्वे पदार्थाः शीतला भवन्ति, तथैव परमेश्वरमुपास्य शान्तियुक्ता भवन्तु ॥२८॥

अब यह ऋतुओं का चक्र किसने रचा है, इस विषय का उपदेश
अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (प्रजापतिः) प्रजा का पालक (अधिपतिः) सब का अध्यक्ष परमेश्वर (आसीत्) है, उस की (एकया) एक वाणी से (अस्तुवत) स्तुति करो और जिसने सब (प्रजाः) प्रजा के लोगों को वेदद्वारा (अधीयन्त) विद्यायुक्त किये हैं, जो (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का रक्षक (अधिपतिः) सब का स्वामी परमात्मा (आसीत्) है,

---

१. वाग् वैका, वाचैव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।३ ॥

२. त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।४ ॥

३. य एवेमे मनः पञ्चमः प्राणास्तैरेव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।५ ॥

४. य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तैरेव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।६ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(एकया) इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ० ३।४३) इति एतेः 'कन्'। निस्वादाद्युदात्तत्वम्। टाप् विभक्तिश्चानुदात्ता ॥

(अस्तुवत) लोडर्थे लङ्। आत्मनेपद 'झः'। शपोऽदादित्वाल्लुकि आत्मनेपदेष्वनतः (अ० ७।१।५) इत्यतादेशः। उवङ्, अडागमः। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(तिसृभिः) त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (अ० ७।२।९९) इति 'तिसृ' आदेशः। तस्य स्थानिवद्भावात् त्रिग्रहणेन ग्रहणात् झल्युपोत्तमम् (अ० ६।१।१८०) इत्यन्त्यात्

जिसने यह (ब्रह्म) सकलविद्यायुक्त वेद को (असृज्यत) रचा है, उस की (तिसृभिः) प्राण उदान और व्यान वायु की गति से (अस्तुवत) स्तुति करो। जिस ने (भूतानि) पृथिवी आदि भूतों को (असृज्यन्त) रचा है, जो (भूतानाम्) सब भूतों का (पतिः) रक्षक (अधिपतिः) रक्षकों का भी रक्षक (आसीत्) है, उस की सब मनुष्य (पञ्चभिः) समान वायु चित्त बुद्धि अहंकार और मन से (अस्तुवत) स्तुति करें। जिस ने (सप्तऋषयः) पांच मुख्य प्राण, महत्तत्त्व समष्टि और अहंकार सात पदार्थ (असृज्यन्त) रचे हैं, जो (धाता) धारण वा पोषणकर्त्ता (अधिपतिः) सब का स्वामी (आसीत्) है, उस की (सप्तभिः) नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और इच्छा तथा प्रयत्नों से (अस्तुवत) स्तुति करो ॥२८॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि सब जगत् के उत्पादक न्यायकर्त्ता परमात्मा की स्तुति करें, सुनें विचारें और अनुभव करें। जैसे हेमन्त ऋतु में सब पदार्थ शीतल होते हैं वैसे ही परमेश्वर की उपासना करके शान्तिशील होवें ॥२८॥

नवभिरस्तुवतेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। ईश्वरो देवता। पूर्वस्यार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः। त्रयोदशभिरित्युत्तरस्य ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनः स जगत्स्रष्टा किंभूत इत्याह ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदे एकादशभिरस्तुवतऽ ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवाऽ अधिपतयऽ आसँस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासाऽ असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्

पूर्वस्योदात्तत्वम् ॥

(पञ्चभिः) पञ्चन् शब्द आद्युदात्तो व्याख्यातः (यजु० १।६)। तस्य ष्णान्ता षट् (अ० १।१।२४) इति षट् संज्ञा। ततः षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (अ० ६।१।१७६) इति विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते झल्युपोत्तमम् (अ० ६।१।१८०) इति अन्त्यात् पूर्वस्योदात्तत्वम् ॥

(सप्तभिः) सप्तन् शब्दो धृतादीनाञ्च (फिट् २२) इत्यन्तोदात्तः। अत्रापि स्वरः 'पञ्चभिः' इतिवत् द्रष्टव्यः ॥

(सप्तऋषयः) दिक्संख्ये संज्ञायाम् (अ० २।१।५०) इति समासः। ऋत्यकः (अ० ६।१।१२८) इति प्रकृतिभावः। संख्यापूर्वो द्विगुः (अ० २।१।५२) इति द्विगुसंज्ञा। इगन्तकालकपाल० (अ० ६।२।२९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम्। द्विगुसंज्ञाभावे तु समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। (द्र० महाभाष्ये 'संख्यापूर्वो द्विगुः' सूत्रभाष्यम्) ॥२८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥२९॥

नवभिरिति नवऽभिः । अस्तुवत । पितरः । असृज्यन्त । अदितिः । अधिपत्नीत्यधिऽपत्नी । आसीत् । एकादशभिरित्येकादशऽभिः । अस्तुवत । ऋतवः । असृज्यन्त । आर्त्तवाः । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । आसन् । त्रयोदशभिरिति त्रयोदशऽभिः । अस्तुवत । मासाः । असृज्यन्त । संवत्सरः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । पञ्चदशभिरिति पञ्चदशऽभिः । अस्तुवत । क्षत्रम् । असृज्यत । इन्द्रः । अधिपतिरित्यधिपतिः । आसीत् । सप्तदशभिरिति सप्तऽदशभिः । अस्तुवत । ग्राम्याः । पशवः । असृज्यन्त । बृहस्पतिः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् ॥२९॥

पदार्थः—(नवभिः[1]) प्राणविशेषैः (अस्तुवत) प्रशंसन्तु (पितरः) पालका वर्षादयः (असृज्यन्त) उत्पादिताः (अदितिः) मातेव पालिका भूमिः (अधिपत्नी) अधिपतिसहिता (आसीत्) अस्ति (एकादशभिः[2]) दश प्राणा एकादश आत्मा तैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (ऋतव.) वसन्तादयः (असृज्यन्त) सृष्टाः (आर्त्तवाः) ऋतुषु भवा गुणाः (अधिपतयः) (आसन्) भवन्ति (त्रयोदशभिः[3]) दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे त्रयोदश आत्मा तैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (मासाः) चैत्राद्याः (असृज्यन्त) सृष्टाः (संवत्सरः) (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) अस्ति ([4]पञ्चदशभिः) प्रतिपदादितिथिभिः (अस्तुवत) स्तुवन्तु संख्यायन्तु (क्षत्रम्) राज्यं क्षत्रियकुलम् वा (असृज्यत) सृष्टम् (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यहेतुः सूर्य्यः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) (सप्तदशभिः[5]) दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्य्यूर्ष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदर्वाङ् नाभेस्तत्सप्तदशं तैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (ग्राम्याः) ग्रामे भवाः (पशवः) गवादयः (असृज्यन्त) (बृहस्पति) बृहतां पालको वैश्यः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) अस्ति। [अयं मन्त्रः श० ८।४।३।७-११ व्याख्यातः] ॥२९॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं येन पितरोऽसृज्यन्त, यत्राधिपत्न्यदितिरासीत्तं यूयं नवभिरस्तुवत । येनर्त्तवोऽसृज्यन्त, यत्रार्त्तवा अधिपतय आसंस्तमेकादशभिरस्तुवत । येन मासा असृज्यन्त,पञ्चदशभिः अस्तुवत । संवत्सरोऽधिपतिः सृष्ट आसीत्,त्रयोदशभिरस्तुवत । यत्रेन्द्रोऽधिपतिरासीद्येन क्षत्रमसृज्यत, तं सप्तदशभिरस्तुवत । येन बृहस्पतिरधिपतिः सृष्ट आसीद्, ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त तं परमेश्वरं सप्तदशभिरस्तुवत ॥२९॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! *भवन्तो येन ऋत्वादयः प्रजापालका निर्मिताः पाल्याश्च, येन कालनिर्मापकाः सूर्य्यादयः सर्वे पदार्थाः सृष्टास्तं परमात्मानमुपासीरन्† ॥२९॥

---

१. नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत ।। श० ८।४।३।७ ॥

२. दश प्राणा आत्मैकादशस्तेनैव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।८ ॥

३. दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशस्तेनैव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।९ ॥

४. दश हस्त्या अङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेः तत् पञ्चदशं तेनैव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।१० ॥

५. दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्य्यूर्ष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ् नाभेस्तत् सप्तदशं तेनैव तदस्तुवत ॥ श० ८।४।३।११ ॥

---

* 'यूयम्' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ॥

† 'उपासीत' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ॥

फिर वह जगत् का रचने वाला कैसा है, इस विषय का उपदेश
अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग जिस ने (पितरः) रक्षक मनुष्य (असृज्यन्त) उत्पन्न किये हैं, जहां (अदितिः) रक्षा के योग्य (अधिपत्नी) अत्यन्त रक्षक माता (आसीत्) होवे, उस परमात्मा की (नवभिः) नव प्राणों से (अस्तुवत) गुण प्रशंसा करो। जिस ने (ऋतवः) वसन्त आदि ऋतु (असृज्यन्त) रचे हैं. जहां (आर्त्तवाः) उन उन ऋतुओं के गुण (अधिपतयः) अपने अपने विषय में अधिकारी (आसन्) होते हैं. उस की (एकादशभिः) दश प्राणों और ग्यारहवें आत्मा से (अस्तुवत) स्तुति करो। जिस ने (मासाः) चैत्रादि बारह महीने (असृज्यन्त) रचे हैं, (पञ्चदशभिः) पन्द्रह तिथियों के सहित (संवत्सर) संवत्सर (अधिपतिः) सब काल का अधिकारी रचा (आसीत्) है, उस की (त्रयोदशभिः) दश प्राण ग्यारहवां जीवात्मा और दो प्रतिष्ठाओं से (अस्तुवत) स्तुति करो। जिन से (इन्द्रः) परम सम्पत्ति का हेतु सूर्य्य (अधिपतिः) अधिष्ठाता उत्पन्न किया (आसीत्) है, जिस ने (क्षत्रम्) राज्य वा क्षत्रिय कुल को (असृज्यत) रचा है, उसकी (सप्तदशभिः) दश पांव की अंगुली, दो जंघा, दो जानु, दो प्रतिष्ठा और एक नाभि से ऊपर का अङ्ग, इन सत्रहों से (अस्तुवत) स्तुति करो। जिस ने (बृहस्पतिः) बड़े बड़े पदार्थों का रक्षक वैश्य (अधिपतिः) अधिकारी रचा (आसीत) है, और (ग्राम्याः) ग्राम के (पशवः) गौ आदि पशु (असृज्यन्त) रचे हैं, उस परमेश्वर की पूर्वोक्त सब पदार्थों से युक्त होके (अस्तुवत) स्तुति करो ॥२६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! आप लोग जिस ने [§ऋत्वादि प्रजा के रक्षक और रक्षा

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**नवभिः**) नवन् शब्दः नः संख्यायाः (फिट् २८) इत्याद्युदात्तः। ततो **झल्युपोत्तमम्** (अ० ६।१।१८०) इत्युपोत्तमस्योदात्तत्वम् ॥

(**एकादशभिः, त्रयोदशभिः, पञ्चदशभिः, सप्तदशभिः**) **संख्या** (अ० ६।२।३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः एकादशशब्दः। स च समासस्वरः सति शिष्टेन **झल्युपोत्तमम्** (अ० ६।१।१८०) इत्यनेन बाध्यते। **द्वन्द्वसमासो न संख्यां व्यभिचरतीति** षट्संज्ञा प्रवर्त्तते ॥

(**आर्त्तवाः**) **तत्र भवः** (अ० ४।३।५३) इत्यण्। **आदिवृद्धिः। ओर्गुणः** (अ० ६।४।१४६) इति गुणः। अवादेशः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(**मासाः**) **मा माने** (अदा० प०) **वृतृवदिवचि०** (उ० ३।६२) इति विहितः 'सः' प्रत्ययो बाहुलकादस्मादपि। प्रत्ययस्वरे प्राप्ते **वृषादीनां च** (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(**ग्राम्याः**) **तत्र भवः** (अ० ४।३।५३) इति विवक्षायां **ग्रामाद्यखञौ** (अ० ४।२।९४) इति 'यः' प्रत्ययः शैषिकः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥२६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ 'ऋत्वादि प्रजा के रक्षक और रक्षा के योग्य पदार्थ इस जगत् में रचे हैं, और जिस ने' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे व्यस्तः संशोधितो वा स्यादिति ध्येयम् ॥

के योग्य पदार्थ इस जगत् में रचे हैं, और जिस ने] काल के विभाग करने वाले सूर्य्य आदि पदार्थ रचे हैं, उस परमेश्वर की उपासना करो ॥२९॥

नवदशभिरित्यस्य विश्वदेव ऋषिः । जगदीश्वरो देवता । पूर्वस्य [स्वराड्] ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । पञ्चविंशत्येत्यस्य ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रेऽ अधिपत्नीऽ आस्तामेकविꣳशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविꣳशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् पञ्चविꣳशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् सप्तविꣳशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्राऽ आदित्याऽ अनुव्यायँस्तऽ एवाधिपतयऽ आसन् ॥३०॥

नवदशभिरिति नवदशऽभिः । अस्तुवत । शूद्रार्य्यौ । असृज्येताम् । अहोरात्रे इत्यहोरात्रे । अधिपत्नी इत्यधिऽपत्नी । आस्ताम् । एकविꣳशत्येत्येकऽविꣳशत्या । अस्तुवत । एकशफा इत्येकऽशफाः । पशवः । असृज्यन्त । वरुणः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । त्रयोविꣳशत्येति त्रयःऽविꣳशत्या । अस्तुवत । क्षुद्राः । पशवः । असृज्यन्त । पूषा । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । पञ्चविꣳशत्येति पञ्चऽविꣳशत्या । अस्तुवत । आरण्याः । पशवः । असृज्यन्त । वायुः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । सप्तविꣳशत्येति सप्तऽविꣳशत्या । अस्तुवत । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । वि । ऐताम् । वसवः । रुद्राः । आदित्याः । अनुव्यायन्नित्यनुऽव्यायन् । ते । एव । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । आसन् ॥३०॥

पदार्थः—(नवदशभिः) दश प्राणाः पञ्च महाभूतानि मनोबुद्धिचित्ताहंकारैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (शूद्रार्यौ) शूद्रश्चार्य्यो द्विजश्च तौ (असृज्येताम्) (अहोरात्रे) (अधिपत्नी) अधिष्ठात्र्यौ (आस्ताम्) भवतः (एकविंशत्या) [1]मनुष्याणामङ्गैः (अस्तुवत) (एकशफाः) अश्वादयः (पशवः) (असृज्यन्त) सृष्टाः (वरुणः) जलम् (अधिपतिः) (आसीत्) (त्रयोविंशत्या) पश्वङ्गैः (अस्तुवत) (क्षुद्राः) [2]नकुलपर्यन्ताः (पशवः)

---

१. शतपथे ८।४।३।१३ तु 'दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मा एकविंशः, तेनैव तदस्तुवत ॥

२. एवं तर्ह्यनस्थिकाः क्षुद्रजन्तवः । अथवा येषां स्वं शोणितं नास्ति, अथवा येषामासहस्राद-ञ्जलिर्न पूर्यते ते क्षुद्रजन्तवः । अथवा येषां गोचर्ममात्रं राशि हत्वा न पतति ते क्षुद्र-जन्तवः । अथवा नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः । (अ० २।४।८ महाभाष्ये) ॥

(असृज्यन्त) (पूषा) पुष्टिकर्त्ता भूगोल:[1] (अधिपतिः) (आसीत्) (पञ्चविंशत्या) क्षुद्रपश्ववयवैः (अस्तुवत) (आरण्याः) अरण्ये भवाः (पशवः) सिंहादयः (असृज्यन्त) (वायुः) (अधिपतिः) (आसीत्) (सप्तविंशत्या) आरण्यपशुगुणैः (अस्तुवत) (द्यावापृथिवी) (वि) विविधतया (ऐताम्) प्राप्नुतः (वसवः) अग्न्यादयोऽष्टौ (रुद्राः) प्राणादयः (आदित्याः) चैत्रादयो द्वादश मासाः, प्रथममध्यमोत्तमा[2] विद्वांसो वा(अनुव्यायन्) अनुकूलतयोत्पादिताः (ते) (एव) (अधिपतयः) (आसन्) । [अयं मन्त्रः श० ८।४।३।१२-१६ व्याख्यातः] ॥३०॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं येनोत्पादिते अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्, येन शूद्रार्याविसृज्येतां, तं नवदशभिरस्तुवत । येनोत्पादितो वरुणोऽधिपतिरासीद् येनैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त, तं परमात्मानमेकविंशत्यास्तुवत । येन निर्मितः पूषाऽधिपतिरासीद्, येन क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त तं त्रयोविंशत्यास्तुवत । येनोत्पादितो वायुरधिपतिरासीद्येनाऽऽरण्याः पशवोऽसृज्यन्त, तं पञ्चविंशत्यास्तुवत । येन सृष्टे द्यावापृथिव्यैताम्,येन *रचिता वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायंस्त एवाऽधिपतय आसंस्तं सप्तविंशत्यास्तुवत ॥३०॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! येनार्याः शूद्रा दस्यवश्च मनुष्याः सृष्टा, येन स्थूलसूक्ष्मा प्राणिदेहा महद्ध्रस्वाः पशव एतेषां पालनसाधनानि च, यस्य सृष्टावल्पविद्याः समग्रविद्याश्च विद्वांसो भवन्ति, तमेव यूयमुपास्यं मन्यध्वम् ॥३०॥

फिर वह कैसा है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम, जिसने उत्पन्न किये (अहोरात्रे) दिन और रात्रि (अधिपत्नी) सब काम कराने के अधिकारी (आस्ताम्) हैं, जिसने (शूद्रार्य्यौ) शूद्र और आर्य्य द्विज ये दोनों (असृज्येताम्) रचे हैं, उस की (नवदशभिः) दश प्राण पांच महाभूत मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार से (अस्तुवत) स्तुति करो । जिसने उत्पन्न किया (वरुणः) जल (अधिपतिः) प्राण के समान प्रिय अधिष्ठाता (आसीत्) है. जिसने

---

१. पूषा पृथिवीनामसु पठितम् । निघ० १।१ ॥
२. वसुरुद्रादित्यानां सम्मिलितोऽर्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नवदशभिः) संख्या (अ० ६।२।३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । नवशब्द आद्युदात्तः पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः । ततः झल्युपोत्तमम् (अ० ६।१।१८०) इत्युपोत्तममुदात्तम् ॥

(शूद्रार्यौ) चार्थे द्वन्द्वः (अ० २।२।२९) इति समासः । समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(अहोरात्रे) पूर्वं (यजु० ६।२१) व्याख्यातः ॥

(एकविंशत्या) एकं च विंशतिश्चेति द्वन्द्वः । संख्या (अ० ६।२।३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । एक शब्दः कनन्त आद्युदात्तो व्याख्यातः ॥

(एकशफाः) एकः शफो येषामिति बहुव्रीहिः । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । एकशब्द आद्युदात्तो व्याख्यातः ॥

(त्रयोविंशत्या) त्रयश्च विंशतिश्चेति द्वन्द्वः । संख्या (अ० ६।२।३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । त्रेस्त्रयः (अ० ६।३।४८) इति'त्रयस्' आदेशः । स चाद्युदात्तो विधीयते॥

---

* 'चरिताः' इति तु अजमेरमुद्रितेऽपपाठः । कगकोशयोस्तु 'रचिता' इत्येव शुद्धः पाठः ॥

(एकशफाः) जुड़े एक खुरों वाले घोड़े आदि (पशवः) पशु (असृज्यन्त) रचे हैं, उस की (एकविंशत्या) मनुष्यों के इक्कीस अवयवों से (अस्तुवत) स्तुति करो। जिसने बनाया (पूषा) पुष्टिकारक भूगोल (अधिपतिः) रक्षा करने वाला (आसीत्) है, जिसने (क्षुद्राः) अतिसूक्ष्म जीवों से लेकर नकुलपर्यन्त (पशवः) पशु (असृज्यन्त) रचे हैं, उस की (त्रयोविंशत्या) पशुओं के तेईस अवयवों से (अस्तुवत) स्तुति करो। जिसने बनाया हुआ (वायुः) वायु (अधिपतिः) पालने हारा (आसीत्) है, जिसने (आरण्याः) वन के (पशवः) सिंह आदि पशु (असृज्यन्त) रचे हैं, (पञ्चविंशत्या) अनेकों प्रकार के छोटे छोटे वन्य पशुओं के अवयवों के साथ अर्थात् उन अवयवों की कारीगरी के साथ (अस्तुवत) प्रशंसा करो। जिसने बनाये (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि (व्यैताम्) विविध प्रकार से प्राप्त हैं, जिस के बनाने से (वसवः) अग्नि आदि आठ पदार्थ वा प्रथम कक्षा के विद्वान् (रुद्राः) प्राण आदि वा मध्यम विद्वान् (आदित्याः) बारह महीने वा उत्तम विद्वान् (अनुव्यायन्) अनुकूलता से उत्पन्न हैं, (ते) (एव) वे अग्नि आदि ही वा विद्वान् लोग (अधिपतयः) अधिष्ठाता (आसन्) होते हैं, उस को (सप्तविंशत्या) सत्ताईस वन के पशुओं के गुणों से (अस्तुवत) स्तुति करो ।।३०।।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिसने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और डाकू मनुष्य भी रचे हैं, जिसने स्थूल तथा सूक्ष्म प्राणियों के शरीर अत्यन्त छोटे पशु और इन की रक्षा के साधन पदार्थ रचे, और जिसकी सृष्टि में न्यून विद्या और पूर्ण विद्या वाले विद्वान् होते हैं, उसी परमात्मा की तुम लोग उपासना करो ।।३०।।

नवविंशत्येत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। स्वराड् ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ।।

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ।।

नवविꣳशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदेकत्रिꣳशतास्तुवत

(**क्षुद्राः**) **क्षुद सम्पेषणे** (रु० प०)। **स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदि०** (उ० २। १३) इति 'रक्' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ।।

(**पञ्चविंशत्या**) **संख्या** (**अ० ६।२।३५**) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। **न्नः संख्यायाः** (**फिट्०** २८) इति पञ्चन् शब्द आद्युदात्तः ।।

(**आरण्याः**) पूर्वं (यजु० ९।६) व्याख्यातः ।।

(**सप्तविंशत्या**) पञ्चविंशत्या इति वत् । सप्तन् शब्दोऽन्तोदात्तो व्याख्यातः (यजुः १४। २८) ।।

(**अनुव्यायन**) 'अनु+वि+आयन्' इति स्थितौ **तिङ्ङतिङः** (**अ०** ८।१।२८) इति निघातः। **उदात्तगतिमता च तिङा**(**अ०** २।२। १८ भा०वा०)इति समासः। **गतिर्गतौ** (**अ०** ८।१।७०)इति पूर्वस्य गतेर्निघातः। यणादेशे **उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य** (**अ०** ८।२।४) इति आकारस्य स्वरितत्वम् ।।३०।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

प्रजाऽ असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतयऽ आसँस्त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूता-
न्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥३१॥

नवविꣳशत्येति नवऽविꣳशत्या । अस्तुवत । वनस्पतयः । असृज्यन्त । सोमः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । एकत्रिꣳशतेत्येकऽत्रिꣳशता । अस्तुवत । प्रजा इति प्रऽजाः । असृज्यन्त । यवाः । च । अयवाः । च । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । आसन् । त्रयस्त्रिꣳशतेति त्रयःऽत्रिꣳशता । अस्तुवत । भूतानि । अशाम्यन् । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । परमेष्ठी । परमेस्थीति परमेऽस्थी । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् ॥३१॥

पदार्थः—(नवविंशत्या) एतत्संख्याकैर्वनस्पतिगुणैः (अस्तुवत[१]) जगत्स्रष्टारं परमात्मानं प्रशंसत (वनस्पतय) अश्वत्थादयः (असृज्यन्त) सृष्टाः (सोमः) ओषधिराजः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) भवति (एकत्रिंशता) प्रजाङ्गैः (अस्तुवत) प्रशंसत (प्रजाः) (असृज्यन्त) निर्मिताः (यवाः) मिश्रिताः (च) (अयवाः) अमिश्रिताः (च) (अधिपतयः) अधिष्ठातारः (आसन्) सन्ति (त्रयस्त्रिंशता) महाभूतगुणैः (अस्तुवत) प्रशंसत (भूतानि) महान्ति तत्त्वानि (अशाम्यन्) शाम्यन्ति (प्रजापतिः) प्रजापालक ईश्वरः (परमेष्ठी) परमेश्वररूपे आकाशे वाऽभिव्याप्य तिष्ठतीति (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) । अत्राऽपि लोकन्ता इन्द्रमिति मन्त्रत्रयप्रतीकानि पूर्ववत्केनचित् क्षिप्तानीति वेद्यम् । [अयं मन्त्रः श० ८।४।३।१७-१९ व्याख्यातः] ॥३१॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं *येनोत्पादितः सोमोऽधिपतिरासीद्, येन ते वनस्पतयोऽसृज्यन्त, तं जगदीश्वरं नवविंशत्यास्तुवत । यासां यवा मिश्रिता पर्वतादयश्च त्रसरेण्वादयश्चाऽयवाः प्रकृत्यवयवाः सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः परमाण्वादयश्चाऽधिपतय आसन्, ताः [प्रजा येन] असृज्यन्त, तमेकत्रिंशतास्तुवत । यस्य प्रभावाद् भूतान्यशाम्यन्, यः प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्, त त्रयस्त्रिंशतास्तुवत ॥३१॥

१. 'अस्तुवत' इति मन्त्रपदस्य प्रत्यक्षकृतेऽर्थे तात्पर्यादेव प्रयोगः, न तु पुरुष-व्यत्यय इति भ्रमितव्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(नवविंशत्या) संख्या (अ० ६।२।३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। नवन् शब्द आद्युदात्तो व्याख्यातः (यजुः १४।२९) ॥

(एकत्रिंशता) संख्या (अ० ६।२।३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। एकशब्द आद्युदात्तो व्याख्यातः ॥

(त्रयस्त्रिंशता) त्रयोविंशतिवत् (द्र० यजुः १४।३०) ॥

(परमेष्ठी) परमे तिष्ठतीति । परमे कित् (उ० ४।१०) इति 'इनिः' किच्च । कित्त्वादाकारलोपः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणा-न्तोदात्तत्वम् ॥३१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'येनोत्पादितः' इति स्थाने 'येषाम्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः, भाषार्थस्तु तथैव स्थित इति ध्येयम् ॥

भावार्थः—येन जगदीश्वरेण लोकानां रक्षणाय वनस्पत्योषधीन् सृष्ट्वा [इमे] ध्रियन्ते व्यवस्थाप्यन्ते, स एव सर्वैर्मनुष्यैरुपासनीयः ॥३१॥

†अस्मिन्नध्याये वसन्ताद्यृतुगुणवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति ज्ञेयम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
चतुर्दशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१४॥

फिर भी वही उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग जिस के बनाने से (सोमः) ओषधियों में उत्तम ओषधि (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) है, जिसने उन (वनस्पतयः) पीपल आदि वनस्पतियों को (असृज्यन्त) रचा है, उस परमात्मा की (नवविंशत्या) उनतीस प्रकार के वनस्पतियों के गुणों से (अस्तुवत) स्तुति करो। और जिसने उत्पन्न किये (यवाः) समष्टिरूप बने पर्वत आदि (च) और त्रसरेणु आदि (अयवाः) भिन्न भिन्न प्रकृति के अवयव सत्त्व रजस् और तमोगुण (च) तथा परमाणु आदि (अधिपतयः) मुख्य कारण रूप अध्यक्ष (आसन्) हैं, उन (प्रजाः) प्रसिद्ध ओषधियों को जिसने (असृज्यन्त) रचा है, उस ईश्वर की (एकत्रिंशता) इकत्तीस प्रजा के अवयवों से (अस्तुवत) प्रशंसा करो। जिस के प्रभाव से (भूतानि) प्रकृति के परिणाम महत्तत्त्व के उपद्रव (अशाम्यन्) शान्त हों, जो (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (परमेष्ठी) परमेश्वर के समान [व्यापक] आकाश में व्यापक हो के स्थित परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) है, उस की (त्रयस्त्रिंशता) महाभूतों के तेतीस गुणों से (अस्तुवत) प्रशंसा करो ॥३१॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर ने लोकों की रक्षा के लिये वनस्पति आदि ओषधियों को रच के धारण और व्यवस्थित किया है उसी की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये ॥३१॥

इस अध्याय में वसन्तादि ऋतुओं के गुण-वर्णन होने से इस अध्याय के अर्थ की संगति पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ जाननी चाहिये ॥

§इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
चतुर्दशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१४॥

* इति चतुर्दशोऽध्यायः *

---

† अत्र 'ऋतूनां गुणवर्णन॰'......भाषाभावार्थेऽपि तथैवास्ति । स च मकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥ § 'इति श्रीमत्......समाप्तः' इत्ययपाठः कमकोशयोः सन्नपि मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽ आ सु॑व ।।१।।

य० ३०।३ ।।

अग्ने जातानित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

अस्य प्रथममन्त्रे राजराजपुरुषैः किं किं कर्त्तव्यमित्याह ।।

अग्ने॑ जा॒तान् प्रणु॑दा नः स॒पत्ना॒न् प्रत्यजा॑तान्नुद जातवेदः ।
अधि॑ नो ब्रूहि सु॒मना॒ऽ अहे॑डँ॒स्तव॑ स्याम॒ शर्मँ॑ स्त्रि॒वरू॑थऽ उ॒द्भौ॥१॥

अग्ने॑ । जा॒तान् । प्र । नु॒द॒ । न॒ः । स॒पत्ना॒निति॑ स॒ऽपत्ना॑न् । प्रति॑ । अजा॑तान् । नु॒द॒ । जा॒त॒वे॒द॒ इति॑ जात॒ऽवे॒दः ।। अधि॑ । न॒ः । ब्रू॒हि॒ । सु॒मना॒ इति॑ सु॒ऽमना॑ः । अहे॑डन् । तव॑ । स्या॒म॒ । शर्म॑न् । त्रि॒वरू॑थ॒ इति॑ त्रि॒ऽवरू॑थे । उ॒द्भावित्यु॒त्ऽभौ ॥१॥

पदार्थः—(अग्ने) राजन् वा सेनापते (जातान्) उत्पन्नान् प्रसिद्धान् (प्र) (नुद) दूरे प्रक्षिप । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३ १३५] इति दीर्घः (नः) अस्माकम् (सपत्नान्) सपत्नीव वर्तमानानरीन् (प्रति) (अजातान्) [1]अप्रकटान् (नुद) प्रेर्व (जातवेदः) जातबल (अधिः) (नः) अस्मान् (ब्रूहि) उपदिश (सुमनाः) प्रसन्नस्वान्तः (अहेडन्) अनादरमकुर्वन् (*तव) (स्याम) (शर्मन्) गृहे[2] (त्रिवरूथे) त्रीणि वरूथान्याध्या-

---

१. अन्तःकपटान्, बहिर्मैत्रीदर्शिन इति भावः ।।
अत्र भट्टभास्करः—अजातांश्च सपत्नान् प्रतिनुदस्व, उत्पत्तौ निवारय (तै० आ० २।५।२) । उत्पत्तिप्रतिबन्धेन निराकुरु इति सायणः (तै० आ० २।५।२) ।।

२. शर्म इति गृहनाम (निघ० ३।४) ।।

---

* 'तत्' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । ककोशे तु 'तव' इति शुद्ध पाठः । स च गकोशे मुद्रणे च व्यस्त इति ध्येयम् ।।

त्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानि सुखानि यस्मिन् (उद्रौ) उदुत्कृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिंस्तस्मिन् । [अयं मन्त्रः श० ८।५।१।६ व्याख्यातः] । १॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं नो जातान् सपत्नान् प्रणुद । हे जातवेदस्त्वमजातान् शत्रून्नुद । अस्मान् अहेडन् सुमनास्त्वं नोऽस्मान् प्रत्यधिब्रूहि । यतो वयं तवोद्रौ त्रिवरूथे शर्मन् सुखिनः स्याम ॥१॥

भावार्थः—राजादिसभ्यजनैर्गुप्तैश्चारैः प्रसिद्धाऽप्रसिद्धान् शत्रून् निश्चित्य वशं नेयाः । न कस्यापि धार्मिकस्यानादरोऽधार्मिकस्यादरश्च कर्त्तव्यः । यतः सर्वे सज्जना विश्वस्ताः सन्तो राष्ट्रे वसेयुः ॥१॥

अब पन्द्रहवें अध्याय का आरम्भ है । इस के प्रथम मन्त्र में राजा और राजपुरुषों को क्या क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश किया है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) राजन् वा सेनापते ! आप (नः) हमारे (जातान्) प्रसिद्ध (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र नुद) दूर कीजिये । हे (जातवेदः) प्रसिद्ध बलवान् राजन् ! आप (अजातान्) अप्रसिद्ध शत्रुओं को (नुद) प्रेरणा कीजिये, और हमारा (अहेडन्) अनादर न करते हुये (सुमनाः) प्रसन्नचित्त आप (नः) (प्रति) हमारे प्रति (अधिब्रूहि) अधिक उपदेश कीजिये । जिससे हम लोग (तव) आप के (उद्रौ) उत्तम पदार्थों से युक्त

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सपत्नान्) सपत्नीव वर्त्तते इति सपत्नः । **व्यन् सपत्ने** (अ० ४।१।१४५) इति निर्देशात् सपत्नीशब्दादिवार्थे 'अप्' प्रत्ययः । सपत्नीशब्दः समानः पतिरस्या इति विगृह्य **नित्यं सपत्न्यादिषु** (अ० ४।१।३५) इति निपातितः । निपातनादेव बहुव्रीहिपूर्वपदप्रकृतिस्वरं बाधित्वोत्तरपदप्रकृतिस्वरः । पतिशब्दः **पातेर्डतिः** (उ० ४।५७) इति डतिप्रत्ययान्तः। प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः । यद्वा—**पराविश्च परान्तश्च** (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । सपत्नशब्देऽपः पित्त्वे स एव स्वरः ॥

यद्वा — शब्दान्तरमिदमसम्बद्धं सपत्नीशब्देन । सहैकस्मिन्नर्थे पततीति सपत्नः । सहोपपदात् पततेर्बाहुलकादौणादिको नः प्रत्ययः, नित्च (द्र० उ० ३।१०) । **सहस्य सः संज्ञायाम्** (अ० ६।३।७८) इति सभावः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे (द्र० ६।२।१३९) नित्त्वाद् उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(सुमनाः) पूर्वं (यजु० ३।४१) व्याख्यातः ॥

(अहेडन्) हेडृ अनादरे (भ्वा० आ०) छान्दसः परस्मैपदव्यत्ययः । नञ्समासे **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(त्रिवरूथे) **जॄवृञ्भ्यामूथन्** (उ० २।६) इति 'ऊथन्' प्रत्ययान्तो नित्त्वादाद्युदात्तो वरूथशब्दः । बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दस उत्तरपदप्रकृतिस्वरः । यद्वा—**परादिश्छन्दसि बहुलम्** (अ० ६।२।१९९) इति पराद्युदात्तत्वम् ॥

(उद्रौ) भवतेः **विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्** (अ० ३।२।१८०) इति 'डुः', छान्दसत्वादुत् पूर्वादपि । यद्वा—**डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्** (अ० ३।२।१८० वा०) इति 'डुः' । टिलोपः । **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥१॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया॥**

(त्रिवरूथे) आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों सुखों के हेतु (शर्मन्) घर में (स्याम) सुखी होवें ।।१।।

भावार्थः—राजा आदि न्यायाधीश सभासदों को चाहिये कि गुप्त दूतों से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध शत्रुओं को निश्चय करके वश में करें, और किसी धर्मात्मा का तिरस्कार और अधर्मी का सत्कार भी कभी न करें। जिस से सब सज्जन लोग विश्वासपूर्वक राज्य में वसें ।।१।।

सहसा जातानित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयꣳ स्याम प्रणुदा नः सपत्नान् ।।२।।

सहसा । जातान् । प्र । नुद । नः । सपत्नानिति सऽपत्नान् । प्रति । अजातान् । जातवेद इति जातऽवेदः । नुदस्व ।। अधि । नः । ब्रूहि । सुमनस्यमान इति सुऽमनस्यमानः । वयम् । स्याम । प्र । नुद । नः । सपत्नानिति सऽपत्नान् ।।२।।

पदार्थः—(सहसा) बलेन सह (जातान्) प्रादुर्भूतान विरोधिनः (प्र) (नुद) विजयस्व । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (नः) अस्माकम् (सपत्नान्) सपत्नीव वर्त्तमानान् शत्रून् (प्रति) (अजातान्) युद्धेऽप्रकटान् *शत्रुसेविनो मित्रान् (जातवेदः) [१]जातप्रज्ञान् (नुदस्व) पृथक् कुरु (अधि) (नः) (ब्रूहि) विजयविधिमुपदिश (सुमनस्यमानः) सुष्ठु [२]विचारयन् (वयम्) (स्याम) भवेम (प्र) (नुद) हिन्धि । अत्रापि पूर्ववद्दीर्घः (नः) अस्माकम् (सपत्नान्) विरोधे वर्त्तमानान् सम्बन्धिनः । [अयं मन्त्रः श० ८।५।१।१८ व्याख्यातः] ।।२।।

---

१. जातवेदः कस्मात्······जातवित्तो वा जातप्रज्ञानः (निरु० ७।१६) ।।

२. मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे (निरु० ३।७) ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सुमनस्यमानः) सुमनस्शब्दात् भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः (अ० ३।१।१२) इति 'क्यङ्' प्रत्ययः । छान्दसत्वात् हलो लोपाभावः । सनाद्यन्ता धातवः (अ० ३।१।३२) इति धातुत्वे धातोः (अ० ६।१।१६२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततः शानचोऽदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे स एव स्वरः ॥

यद्वा—'मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे (निरु०

---

* 'सेवितो' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । ककोशे तु 'सेविनो' इति शुद्धः पाठः । स च गकोशे मुद्रिते वा व्यस्तः स्यात् । तृतीयसंस्करणे तु शुद्ध एव पाठो दृश्यते ।।

अन्वयः—हे जातवेदस्त्वं नः सहसा जातान् सपत्नान् प्रणुद, तान् प्रत्यजातान् नुदस्व । सुमनस्यमानस्त्वं नोऽधि ब्रूहि, वयं तव [1]सहायाः स्याम । यान्नः सपत्नान् त्वं प्रणुद, तान् वयमपि प्रणुदेम ॥२॥

भावार्थः—ये राजभृत्याः शत्रुनिवारणे यथाशक्ति न प्रयतन्ते, ते सम्यग्दण्डद्याः । ये स्वसहायाः स्युस्तान् राजा सत्कुर्यात् ॥२॥

फिर भी वही पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त हुये राजन् ! आप (नः) हमारे (सहसा) बल के सहित (जातान्) प्रसिद्ध हुये (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रणुद) जीतिये, और उन (प्रति) (अजातान्) युद्ध में छिपे हुये शत्रुओं के सेवक मित्रभाव से प्रसिद्धों को (नुदस्व) पृथक् कीजिये । तथा (सुमनस्यमानः) अच्छे प्रकार विचारते हुये आप (नः) हमारे लिये (अधिब्रूहि) अधिकता से विजय के विधान का उपदेश कीजिये, (वयम्) हम लोग आप के सहायक (स्याम) होवें । जिन (नः) हमारे (सपत्नान्) विरोध में प्रवृत्त सम्बन्धियों को आप (प्रणुद) मारें, उन को हम लोग भी मारें ॥२॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि जो राज्य के सेवक शत्रुओं के निवारण करने में यथाशक्ति प्रयत्न न करें, उन को अच्छे प्रकार दण्ड देवे । और जो अपने सहायक हों, उन का सत्कार करे ॥२॥

षोडशीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । दम्पती देवते । ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

अथ पतिपत्नीधर्म्ममाह ॥

षोडशी स्तोमऽओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमो वर्चो द्रविणम् ।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभिगृणन्तु देवाः ।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्व ॥३॥

षोडशी । स्तोमः । ओजः । द्रविणम् । चतुश्चत्वारिꣳश इति चतुःऽचत्वारिꣳशः । स्तोमः । वर्चः । द्रविणम् ॥ अग्नेः । पुरीषम् । असि । अप्सः । नाम । ताम् । त्वा । विश्वे । अभि । गृणन्तु । देवाः ॥ स्तोमपृष्ठेति स्तोमऽपृष्ठा । घृतवतीति घृतऽवती । इह । सीद । प्रजावदिति प्रजाऽवत् । अस्मे इत्यस्मे । द्रविणा । आ । यजस्व ॥३॥

३।७) इति निरुक्तप्रामाण्यात् स्वतन्त्रो 'मनस्' धातुः । तस्माद् कण्ड्वादेराकृतिगणत्वाद् 'यक्' । ततः 'शानच्' । गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वर एष्टव्यः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. नान्योऽन्य-सहायमन्तरा विजयलाभस्य सम्भवः, इत्यत उच्यते ॥२॥

पदार्थः—(षोडशी) प्रशस्ताः षोडश कलाः सन्ति यस्मिन् सः (स्तोमः) स्तोतुमर्हः (ओजः) पराक्रमः (द्रविणम्) [1]धनम् (चतुश्चत्वारिंशः) एतत्संख्यापूरको ब्रह्मचर्य-व्यवहारकरः (स्तोमः) स्तुवन्ति येन सः (वर्चः) अध्ययनम् (द्रविणम्) [2]बलं वा (अग्नेः) पावकस्य (पुरीषम्) पूर्त्तिकरम् (असि) (अप्सः) न विद्यते परपदार्थस्य प्सो [3]भक्षणं* यस्य सः (नाम) प्रसिद्धम् (ताम्) (त्वा) त्वाम् (विश्वे) (अभि) (गृणन्तु) प्रशंसन्तु (देवाः) विद्वांसः (स्तोमपृष्ठा) स्तोमाः पृष्ठा ज्ञापयितुमिष्टा यस्याः सा (घृतवती) प्रशस्ताज्यादियुक्ता (इह) गृहाश्रमे (सीद) (प्रजावत्) [4]बह्व्यः प्रजा यस्मात्तत् (अस्मे) अस्मभ्यम् (द्रविणा) द्रविणं धनम्। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इत्याकारादेशः (आ यजस्व) देहि। [अयं मन्त्रः श० ८।५।१।१० व्याख्यातः] ॥३॥

अन्वयः—यः षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं, यश्चत्वारिंशः स्तोमो नाम वर्चो द्रविणं च ददाति, योऽग्नेः पुरीषं प्राप्तोऽप्सोऽसि, तं [त्वा] त्वां तां च विश्वे देवा अभिगृणन्तु। सा त्वं स्तोमपृष्ठा घृतवती सतीह गृहाश्रमे सीद, अस्मे प्रजावद् द्रविणा आयजस्व ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यैः षोडशकलात्मके जगति विद्याबलं †विस्तीर्य्य गृहाश्रमं कृत्वा विद्यादानादीनि कर्माणि सततं कार्य्याणि ॥३॥

अब स्त्रीपुरुष का धर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (षोडशी) प्रशंसित सोलह कलाओं से युक्त (स्तोमः) स्तुति के योग्य (ओजः) पराक्रम (द्रविणम्) धन, जो (चतुश्चत्वारिंशः) चवालीस संख्या को पूरण करने वाला ब्रह्मचर्य का आचरण [करने वाला] (स्तोमः) स्तुति का साधन (नाम) प्रसिद्ध (वर्चः) पढ़ना और (द्रविणम्) बल को §देता है, जो (अग्नेः) अग्नि

---

१. द्रविणमिति धननाम (निघ० २।१०) ॥

२. द्रविणमिति बलनाम (निघ० २।९) ॥

३. यदप्स इत्यभक्षस्याप्सः (निघ० ५।१३) ॥

४. अत्र पूर्वं यजु० १४।४ टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(षोडशी) पूर्वं (यजु० ८।३३) व्याख्यातः ॥

(अप्सः) प्सानं 'प्सः'। अन्येष्वपि दृश्यते (अ० ३।२।१०१) इति विहितो 'डः' कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति भावेऽपि द्रष्टव्यः। नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः (अ० २।२।२४ वा०) इति समास उत्तरपदलोपश्च। नञ्-सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसः पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

यद्वा—प्साति भक्षयति परपदार्थान् इति 'प्सः'। डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते (अ० ३।२।४८ वा०) इति गमेर्विधीयमानो 'डः' कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति वचनात् निरुपपदात् प्सातेरपि द्रष्टव्यः। नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पूर्वं (यजु० १४।४) अपि प्रकारान्तरेण व्याख्यातमिद

---

* 'परपदार्थस्याप्सो भक्षणं' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'विस्तीर्य' इति ककोशे पाठः। अजमेरमुद्रिते तु 'विस्तार्य' इत्यपपाठः ॥

§ 'देती है' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। स च पूर्वापरानुरोधान्नात्र सम्यक् ॥

की (पुरीषम्) पूर्त्ति को प्राप्त (अप्सः) दूसरे के पदार्थों के भोग की इच्छा से रहित (असि) हो, उस (त्वा) पुरुष तथा (ताम्) स्त्री की (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (अभिगृणन्तु) प्रशंसा करें। सो तू (स्तोमपृष्ठा) इष्ट स्तुतियों को जानने वाली (घृतवती) प्रशंसित घी आदि पदार्थों से युक्त (इह) इस गृहाश्रम में (सीद) स्थित हो, और (अस्मे) हमारे लिये (प्रजावत्) बहुत सन्तानों के हेतु (द्रविणा) धन को (आ यजस्व) दिया कर ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सोलह कला रूप जगत् में विद्यारूप बल को फैला और गृहाश्रम करके विद्यादान आदि कर्मों को निरन्तर किया करें ॥३॥

❦

एवश्छन्द इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। विद्वांसो देवताः। निचृदाकृतिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्याः प्रयत्नेन साधनैः सुखानि वर्द्धयन्त्वित्याह ॥

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दऽ आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दोऽ अङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टार-पङ्क्तिश्छन्दः *क्षुरोभ्रजश्छन्दः ॥४॥

एवः। छन्दः। वरिवः। छन्दः। शम्भूरिति शम्ऽभूः। छन्दः। परिभूरिति परिऽभूः। छन्दः। आच्छदित्याऽछत्। छन्दः। मनः। छन्दः। व्यचः। छन्दः। सिन्धुः। छन्दः। समुद्रः। छन्दः। सरिरम्। छन्दः। ककुप्। छन्दः। त्रिककुबिति त्रिऽककुप्। छन्दः। काव्यम्। छन्दः। अङ्कुपम्। छन्दः। अक्षरपङ्क्तिरित्यक्षरऽपङ्क्तिः। छन्दः। पदपङ्क्तिरिति पदऽपङ्क्तिः। छन्दः। विष्टारपङ्क्तिः। विस्तारपङ्क्तिरिति विस्तारऽपङ्क्तिः। छन्दः। †क्षुरः। भ्रजः। छन्दः ॥४॥

पदम्, तत्रापि द्रष्टव्यम्। अर्थभेदाद् व्युत्पत्ति-भेदो व्याकृतिभेदश्च न दोषाय। तथा चाभि-युक्ताः—

अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।
बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते ॥
(वाक्यपदीये)

(स्तोमपृष्ठा) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। स्तोमशब्दो **अर्त्तिस्तुसुहु०** (उ० १।१४०) इति मन्प्रत्ययान्तो, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(**अस्मे**) पूर्वं (यजु० ३।११) व्याख्यातः ॥३॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया** ॥

---

* 'क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः, इति ध्येयम् ॥

† इतोऽग्रे पदपाठेऽपि पूर्ववदेव 'छन्दः' इति व्यर्थः पाठः, इति ध्येयम् ॥

पदार्थः—(एवः [1]) ज्ञानम् (छन्दः) आनन्दवम् (वरिवः) सत्यसेवनम् [2] (छन्दः) सुखप्रदम् (शम्भूः) सुखं भावुकः (छन्दः) आह्लादकारी §व्यवहारः (परिभूः) सवतः पुरुषार्थी (छन्दः) सत्यप्रदीपकः (आच्छत्) दोषापवारणम् (छन्दः) ऊर्जनम् (मनः) सङ्कल्पो विकल्पः (छन्दः) प्रकाशकरम् (व्यचः) [3]शुभगुणव्याप्तिः (छन्दः) आनन्दकारि (सिन्धुः) नदीव चलनम् (छन्दः) (समुद्र) सागर इव गाम्भीर्य्यम् (छन्दः) अर्थंकरम् (सरिरम्) जलमिव सरलता कोमलता (छन्दः) जलमिव शान्तिः (ककुप) दिगिव यशः (छन्दः) प्रतिष्ठाप्रदम (त्रिककुप्) त्रीणि कानि सुखानि स्कुभ्नाति येन कर्मणा तत् । अत्र छान्दसो वर्णलोपो वा [अ० ८।२।२५ वा०] इति सलोपः (छन्दः) आनन्दकरम् (काव्यम) कविभिर्निर्मितम् (छन्दः) प्रकाशकम (अङ्कुपम् [4]) अङ्कूनि कुटिलानि गमनानि पाति रक्षति तज्जलम् (छन्दः) तृप्तिकरं कर्म (अक्षरपङ्क्तिः) [5]असौ च लोकः (छन्दः) आनन्दकरः (पदपङ्क्तिः) अयं लोकः (छन्दः) सुखसाधकः (विष्टारपङ्क्तिः) सर्वा [6]दिशः (छन्दः) सुखसाधिकाः (क्षुरः) क्षुर इव छेदक आदित्यः$ (भ्रज) दीप्तम् । अत्र वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् (छन्दः) स्वच्छन्दानन्दकरः । [अयं मन्त्रः श० ८।५।२।३-४ व्याख्यातः] ।।४।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं परमप्रयत्नेनैवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप्छन्दः काव्यं छन्दोऽङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरो* भ्रजश्छन्दः सुखाय साध्नुत ।।४।।

भावार्थः—ये मनुष्या ∫धर्म्यकर्मपुरुषार्थानुष्ठानेन प्रिया भवन्ति ते सर्वेभ्यः सृष्टिस्थपदार्थेभ्यः सुखानि संग्रहीतुं शक्नुवन्ति ।।४।।

---

१. गत्यर्थाद् एतेर्वन् प्रत्ययः ।।

२. 'वरिव.' इति पदं पूर्वं यजु० ५।३७ व्याख्यातम्, तत्र द्रष्टव्यम् ।।

३. व्यचतिः व्याप्तिकर्मा ।।

४. आपो वै अङ्कुपं छन्दः । श० ८।१५।२।४ ।।

५. असौ लोकोऽक्षरपंक्तिश्छन्दः । श० ८।१५।२।४ ।। अयं वै लोकः पदपंक्तिश्छन्दः । श० ८।५।२।४१ ।।

६. दिशो वै विष्टारपंक्तिश्छन्दः । श० ८।५।२।४ ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(एवः) इण्शीभ्यां वन् (उ० १।१५२) इति 'वन्' । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

(वरिव) पूर्वं (यजु० ५।३७) व्याख्यातः ।।

(शम्भूः) शमुपपदेऽन्तर्भावितण्यर्थाद् भवतेः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ।।

(आच्छत्) आङ्पूर्वात् छद अपवारणे (चु०उ०) इति धातोः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्' । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।।

(सरिरे) पूर्वं (यजु० १३।४२) व्याख्यातः ।।

---

§ 'व्यवहारः' इति ककोशे नास्ति ।।

$ संस्कृत-पदार्थेऽपि इतोऽग्रे '(छन्दः) विज्ञानम्' इति पदे व्यर्थे एव पूर्ववत् ।।

* इतोऽग्रेऽन्वयेऽपि पूर्ववदेव 'छन्दः' इति व्यर्थः पाठः, इति ध्येयम् ।।

∫ 'धर्म्य कर्म' इति ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितः स्यात् ।।

मनुष्यों को चाहिये कि प्रयत्नपूर्वक साधनों से सुख बढ़ावें,

यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग उत्तम प्रयत्न से (एवः) (छन्दः) आनन्ददायक ज्ञान (वरिवः) सत्यसेवनरूप (छन्दः) सुखदायक (शम्भूः) सुख का अनुभव (छन्दः) आनन्दकारी (परिभूः) सब ओर से पुरुषार्थी (छन्दः) सत्य का प्रकाशक (आच्छत्) दोषों का हटाना (छन्दः) जीवन (मनः) संकल्प विकल्पात्मक (छन्दः) प्रकाशकारी (व्यचः) शुभ गुणों की व्याप्ति (छन्दः) आनन्दकारक (सिन्धुः) नदी के तुल्य चलना (छन्दः) स्वतन्त्रता (समुद्रः) समुद्र के समान गम्भीरता (छन्दः) प्रयोजनसिद्धिकारी (सरिरम्) जल के तुल्य कोमलता (छन्दः) जल के समान शान्ति (ककुप्) दिशाओं के तुल्य उज्ज्वल कीर्ति (छन्दः) प्रतिष्ठा देने वाला (त्रिककुप्) अध्यात्मादि तीन सुखों का प्राप्त करने वाला कर्म (छन्दः) आनन्दकारक (काव्यम्) दीर्घदर्शी कवि लोगों ने बनाया (छन्दः) प्रकाशक विज्ञानदायक (अङ्कुपम्) टेढ़ी गति वाला जल (छन्दः) उपकारी (अक्षरपङ्क्तिः) परलोक (छन्दः) आनन्दकारी (पदपङ्क्तिः) यह लोक (छन्दः) सुखसाधक (विष्टारपङ्क्तिः) सब दिशा (छन्दः) सुख का साधक (क्षुरः) छुरा के समान पदार्थों का छेदक सूर्य्य‡ (भ्रजः) प्रकाशमय (छन्दः) स्वच्छ आनन्दकारी पदार्थ सुख के लिये सिद्ध करो ॥४॥

(ककुप्) पूर्वं (यजु० १४।९) व्याख्यातः ॥

(त्रिककुप्) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(काव्यम्) पूर्वं (यजु० १०।३४) व्याख्यातः ॥

(अङ्कुपम्) **आतोऽनुपसर्गे कः** (अ० ३।२।३) इति पातेः 'कः', आकारलोपः। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अक्षरपङ्क्ति) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। अक्षरशब्दश्छन्दसि मध्योदात्त आद्युदात्तश्चोभयथाऽप्युपलभ्यते। तेन **अशे सरन्** (उ० ३।७०) इति विहितस्य प्रत्ययस्य नित्त्वविकल्पो द्रष्टव्यः। तेन 'सरन्' पक्षे नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। 'सर' पक्षे तु प्रत्ययाद्युदात्तत्वेन मध्योदात्तत्वम् ॥

(विष्टारपङ्क्तिः) **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। विष्टारशब्दः **छन्दोनाम्नि च** (अ० ३।३।३४) इति घञन्तः। **छन्दोनाम्नि च** (अ० ८।३।९४) इति षत्वम्। **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(क्षुरः) क्षुरतेः **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (अ० ३।१।१३५) इति 'क.'। प्रत्ययस्वरः ॥

(भ्रजः) **भ्राजृ दीप्तौ** (भ्वा० आ०)। **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८९) छान्दसं ह्रस्वत्वम्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥४॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

‡ इतोऽग्रे भाषापदार्थेऽपि '(छन्दः) विज्ञानस्वरूप' इति पदद्वयं व्यर्थमेवेति ध्येयम्। तच्च सर्वमनवधानपरमेव स्यात्, सर्वत्रैवास्य पाठस्याभावात् ॥

भावार्थः—जो मनुष्य धर्मयुक्त कर्म में पुरुषार्थ करने से सब के प्रिय होना अच्छा समझते हैं, वे सब सृष्टि के पदार्थों से सुख लेने को समर्थ होते हैं ॥४॥

आच्छच्छन्द इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विद्वांसो देवताः । भुरिगभिकृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः प्रयत्नेन स्वातन्त्र्यं विधेयमित्याह ॥

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरच्छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः स॒ꣳस्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्दऽ एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽ अङ्काङ्कं छन्दः ॥५॥

आच्छदित्याऽछत् । छन्दः । प्रच्छदिति प्रऽछत् । छन्दः । संयदिति सम्ऽयत् । छन्दः । वियदिति विऽयत् । छन्दः । बृहत् । छन्दः । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । छन्दः । निकाय इति निऽकायः । छन्दः । विवध इति विऽवधः । छन्दः । गिरः । छन्दः । भ्रजः । छन्दः । स॒ꣳस्तुबिति सम्ऽस्तुप् । छन्दः । अनुष्टुप् । अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप् । छन्दः । एवः । छन्दः । वरिवः । छन्दः । वयः । छन्दः । वयस्कृत् । वयःकृदिति वयःऽकृत् । छन्दः । विष्पर्द्धाः । विस्पर्द्धा इति विऽस्पर्द्धाः । छन्दः । विशालमिति विऽशालम् । छन्दः । छदिः । छन्दः । दूरोहणमिति दुःऽरोहणम् । छन्दः । तन्द्रम् । छन्दः । अङ्काङ्कमित्यङ्कऽ अङ्कम् । छन्दः ॥५॥

पदार्थः - (आच्छत्) समन्तात् पापनिवारकं कर्म (छन्दः) प्रकाशनम् (प्रच्छत्) प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म (छन्दः) उत्साहनम् (संयत्) संयमः (छन्दः) बलम् (वियत्) विविधैः प्रकारैर्यतते येन तत् (छन्दः) उत्साहः (बृहत्) महद्वर्धनम् (छन्दः) स्वातन्त्र्यम् (रथन्तरम्) यदस्मिन् [1]लोके तारकं वस्त्वस्ति तत् (छन्दः) स्वीकरणम् (निकायः) निचिन्वन्ति उपसमादधते येन वायुना तत् (छन्दः) स्वीकरणम् (विवधः) विशेषेण बध्नन्ति पदार्था यस्मिंस्तदन्तरिक्षम्[2] (छन्दः) प्रकाशनम् (गिरः) गीर्यते निगल्यते[3] यदेनं तत् (छन्दः) स्वीकरणम् (भ्रजः) भ्राजते प्रकाशते योऽग्निः[4] सः (छन्दः) स्वीकरणम् (संस्तुप्) सम्यक् स्तुभ्नाति शब्दार्थसम्बन्धान् यया सा वाक्[5] (छन्दः) आह्लादकारि (अनुष्टुप्) श्रुत्वा पश्चात् स्तुभ्नाति जानाति शास्त्राणि

---

१. पृथिवीलोक इत्यर्थः । अयं वै लोको रथन्तरच्छन्दः । श० ८।५।२।५ ॥

२. अन्तरिक्षं वै विवधच्छन्दः । श० ८।५।२।५ ॥

३. 'गल अदने' इत्यस्येदं रूपम् । अन्नं वै गिरः । श० ८।५।२।६ ॥

४. अग्निर्वै भ्रजश्छन्दः । श० ८।५।२।५ ॥

५. वागेव संस्तुप् छन्दः । श० ८।५।२।५ ॥

यया मननक्रियया सा (छन्दः) उपदेशः (एवः) प्रापणम् (छन्दः) प्रयतनम् (वरिवः) विद्वत्परिचरणम्[1] (छन्दः) स्वीकरणम् (वयः) जीवनम् (छन्दः) स्वाधीनम् (वयस्कृत) यद्वयस्करोति तज्जीवनसाधनम् (छन्दः) स्वीकरणम् (विष्पर्द्धाः) विशेषेण यः स्पर्ध्यते सः (छन्दः) प्रदीपनम् (विशालम्) विस्तीर्णं कर्म (छन्दः) परिग्रहणम् (छदिः) विघ्नापवारणम् (छन्दः) सुखावहम् (दूरोहणम्[2]) दुःखेन रोढुमर्हम् (छन्दः) ऊर्जनम् (तन्द्रम्[3]) स्वतन्त्रताकरणम् (छन्दः) प्रकाशनम् (अङ्काङ्कम्) गणितविद्या (छन्दः) संस्थापनम् । [अयं मन्त्रः श० ८।५।२।४-६ व्याख्यातः] ॥५॥

अन्वयः—मनुष्यैराच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः संस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप् छन्दः एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्दः स्वीकृत्य प्रचार्य प्रयतितव्यम् ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थेन पारतन्त्र्यहानिः स्वातन्त्र्यस्वीकरणं सततं विधेयम् ॥५॥

मनुष्यों को चाहिये कि प्रयत्न के साथ स्वतन्त्रता बढ़ावें,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि (आच्छत्) अच्छे प्रकार पापों की निवृत्ति करनेहारा कर्म (छन्दः) प्रकाश (प्रच्छत्) प्रयत्न से दुष्ट स्वभाव को दूर करने वाला कर्म (छन्दः) उत्साह (संयत्) संयम (छन्दः) बल (वियत्) विविध यत्न का साधक (छन्दः) धैर्य्य (बृहत्) बहुत वृद्धि (छन्दः) स्वतन्त्रता (रथन्तरम्) समुद्ररूप संसार से पार करने वाला पदार्थ (छन्दः) स्वीकार (निकायः) संयोग का हेतु वायु (छन्दः) स्वीकार (विवधः) विशेष करके पदार्थों के रहने का स्थान अन्तरिक्ष (छन्दः) प्रकाशरूप (गिरः) भोगने योग्य अन्न (छन्दः) ग्रहण (भ्रजः) प्रकाशरूप अग्नि (छन्दः) ले लेना (संस्तुप्) अच्छे प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्धों को जाननेहारी वाणी (छन्दः) आनन्द-

---

१. 'वरिवसः परिचर्यायाम्' इति ऋक् ३।१।१९ भाष्ये ॥

२. अन्येभ्योऽपि दृश्यते (अ० ३।३।१३०) इति स्वार्थे 'युच्' ॥

३. 'तत्रि कुटुम्बधारणे' इत्यस्य वर्णव्यत्येन दकार इति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रच्छत्, संयत्, वियत्) सर्वत्र क्विपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(रथन्तरम्) रथोपपदात् तरतेः संज्ञायां भृतॄवृजि० (अ० ३।२।४६) इति 'खच्'। स च छान्दसत्वादसंज्ञायामपि । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (अ० ६।३।६७) इति मुमागमः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । खचश्चित्त्वात् चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(निकायः) निपूर्वाच्चिनोतेः निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः (अ० ३।३।४१) इत्युपसमाधाने 'घञ्' ककारादेशश्च । थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(विवधः) हनश्च वधः (अ० ३।३।७६) इत्यप्प्रत्ययान्तो वधशब्दः । कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति समासे थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

कारक (अनुष्टुप्) सुनने के पीछे शास्त्रों को जनानेहारी मन की क्रिया (छन्दः) उपदेश (एवः) प्राप्ति (छन्दः) प्रयत्न (वरिवः) विद्वानों की सेवा (छन्दः) स्वीकार (वयः) जीवन (छन्दः) स्वाधीनता (वयस्कृत्) अवस्थावर्द्धक जीवन के साधन (छन्दः) ग्रहण (विष्पर्द्धाः) विशेष करके जिससे ईर्ष्या करे वह (छन्दः) प्रकाश (विशालम्) विस्तीर्ण कर्म (छन्दः) ग्रहण करना (छदिः) विघ्नों का हटाना (छन्दः) सुखों को पहुंचाने वाला (दूरोहणम्) दुःख से चढ़ने योग्य (छन्दः) बल (तन्द्रम्) स्वतन्त्रता करना (छन्दः) प्रकाश और (अङ्काङ्कम्) गणितविद्या का (छन्दः) सम्यक् स्थापन करना स्वीकार और प्रचार के लिये प्रयत्न करें ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ा के स्वाधीनता का निरन्तर स्वीकार करें ॥५॥

रश्मिनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विद्वांसो देवताः । विराडभिकृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ विद्वद्भिः पदार्थविद्या ज्ञातव्येत्याह ॥

र॒श्मिना॑ स॒त्याय॑ स॒त्यं जि॑न्व॒ प्रेति॑ना॒ धर्म॑णा॒ धर्मं॑ जिन्वा॒न्वि॑त्या दि॒वा दिवं॑ जिन्व स॒न्धिना॒न्तरि॑क्षेणा॒न्तरि॑क्षं जिन्व प्रति॒धिना॑ पृथि॒व्या पृ॑थि॒वीं जि॑न्व वि॒ष्टम्भे॑न॒ वृष्ट्या॒ वृष्टिं॑ जिन्व प्र॒वया॒ह्नाह॑र्जिन्वानु॒या रात्र्या॒ रात्रीं॑ जिन्वो॒शिजा॒ वसु॑भ्यो॒ वसू॑ञ्जिन्व प्रके॒तेना॑दि॒त्येभ्य॑ऽ आदि॒त्याञ्जि॑न्व ॥६॥

र॒श्मिना॑ । स॒त्याय॑ । स॒त्यम् । जि॒न्व॒ । प्रेति॒नेति॒ प्रऽइति॑ना । धर्म॑णा । धर्म॑म् । जि॒न्व॒ । अ॒न्वि॒त्येत्य॑नु॒ऽइ॒त्या । दि॒वा । दिव॑म् । जि॒न्व॒ । स॒न्धिनेति॑ स॒म्ऽधिना॑ । अ॒न्तरि॑क्षेण । अ॒न्तरि॑क्षम् ।

(गिरः) गॄ निगरणे (तु० प०)। ऋदोरप् (अ० ३।३।५७) इत्यप्। प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(भ्रजः) भ्राजतेः पूर्ववदसुन्, इह कर्त्तरीति विशेषः। शिष्टं पूर्ववत् ॥

(विष्पर्द्धाः) स्पर्द्धतेः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८६) इत्यसुन्। ततः प्रादिसमासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। भाष्यं त्वर्थप्रदर्शनपरम् ॥

(विशालम्) पूर्वं (यजु० १४।६) व्याख्यातः ॥

(छदिः) पूर्वं (यजु० ५।२८) व्याख्यातः ॥

(दूरोहणम्) दुरुपपदाद् रोहते अन्येभ्योऽपि दृश्यते (अ० ३।३।१३०) इति खलर्थे 'युच्'। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्य चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(अङ्काङ्कम्) मयूरव्यंसकादयश्च (अ० २।१।७२) इति समासः। समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

जिन्व । प्रतिधिनेति प्रतिऽधिना । पृथिव्या । पृथिवीम् । जिन्व । विष्टम्भेन । वृष्ट्या । वृष्टिम् । जिन्व । प्रवयेति प्रऽवया । अह्ना । अहः । जिन्व । अनुयेत्यनुऽया । रात्र्या । रात्रीम् । जिन्व । उशिजा । वसुभ्य इति वसुऽभ्यः । वसून् । जिन्व । प्रकेतेनेति प्रऽकेतेन । आदित्येभ्यः । आदित्यान् । जिन्व ॥६॥

पदार्थः—(रश्मिना) किरणसमूहेन (सत्याय) सति वर्त्तमाने भवाय स्थूलाय पदार्थसमूहाय (सत्यम्) अव्यभिचारि कर्म (जिन्व) प्राप्नुहि (प्रेतिना) प्रकृष्टविज्ञानयुक्तेन (धर्मणा) न्यायाचरणेन (धर्मम्) (जिन्व) जानीहि (अन्वित्या) [1]अन्वेषणेन (दिवा) धर्मप्रकाशेन (दिवम्) सत्यप्रकाशम् (जिन्व) (संधिना) सन्धानेन (अन्तरिक्षेण) आकाशेन (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (जिन्व) जानीहि (प्रतिधिना) प्रतिदधाति यस्मिंस्तेन (पृथिव्या) भूगर्भविद्यया (पृथिवीम्) भूमिम् (जिन्व) जानीहि (विष्टम्भेन) विशेषेण स्तभ्नोति शरीरं येन तेन (वृष्ट्या) वृष्टिविद्यया (वृष्टिम्) (जिन्व) जानीहि (प्रवया) कान्तिमता (अह्ना) अहर्विद्यया (अहः) दिनम् (जिन्व) जानीहि (अनुया) यानुयाति तया (रात्र्या) रात्रिविद्यया (रात्रीम्) रजनीम् (जिन्व) (उशिजा) *कामयमानेन (वसुभ्यः) अग्न्यादिभ्यः (वसून्) अग्न्यादीन् (जिन्व) (प्रकेतेन) प्रकृष्टेन विज्ञानेन (आदित्येभ्यः) मासेभ्यः (आदित्यान्) द्वादशमासान् (जिन्व) विजानीहि। [अयं मन्त्रः श० ८।५।३।३ व्याख्यातः] ॥६॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं रश्मिना सत्याय सूर्य इव नित्यसुखाय सत्यं जिन्व। प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्व। अन्वित्या दिवा दिवं जिन्व। सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व। पृथिव्या प्रतिधिना पृथिवीं जिन्व। विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व। प्रवयाऽह्नाहर्जिन्व। अनुया रात्र्या रात्रीं जिन्व। उशिजा वसुभ्यो वसून् जिन्व। प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्यान् जिन्व ॥६॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्यथा पदार्थपरीक्षणेन पदार्थविद्या विदिता कार्या, तथैवान्येभ्य उपदेष्टव्या ॥६॥

विद्वानों को पदार्थविद्या के जानने का उपाय करना चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष ! तू (रश्मिना) किरणों से (सत्याय) वर्त्तमान में हुये सूर्य्य के तुल्य नित्य सुख और स्थूल पदार्थों के लिये (सत्यम्) अव्यभिचारी कर्म को

---

१. अन्वेषण-साधनेनेत्यर्थः, करणे 'ल्युट्' ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रेतिना, अन्वित्या) इण् गतौ (अदा० ४०)। स्त्रियां क्तिन् (अ० ३।३।९४) इति 'क्तिन्'। गतिसमासे तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति गतेः प्रकृतिस्वरः। प्रेतिना इत्यत्र एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्येकार उदात्तः ॥

(सन्धिना, प्रतिधिना) दधातेः उपसर्गे घोः किः (अ० ३।३।९२) इति 'किः' प्रत्ययः, कित्त्वादाकारलोपः। उपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

---

* 'कामनया' इति ककोशे पाठः ॥

(जिन्व) प्राप्त हो। (प्रेतिना) उत्तम ज्ञान युक्त (धर्मणा) न्याय के आचरण से (धर्मम्) धर्म को (जिन्व) जान। (अन्वित्या) खोज के हेतु (दिवा) धर्म के प्रकाश से (दिवम्) सत्य के प्रकाश को (जिन्व) प्राप्त हो। (सन्धिना) सन्धिरूप (अन्तरिक्षेण) आकाश से (अन्तरिक्षम्) अवकाश को (जिन्व) जान। (पृथिव्या) भूगर्भविद्या के (प्रतिधिना) सम्बन्ध से (पृथिवीम्) भूमि को (जिन्व) जान। (विष्टम्भेन) शरीर धारण के हेतु आहार के रस से तथा (वृष्ट्या) वर्षा की विद्या से (वृष्टिम्) वर्षा को (जिन्व) जान। (प्रवया) कान्तियुक्त (अह्ना) प्रकाश की विद्या से (अहः) दिन को (जिन्व) जान। (अनुया) प्रकाश के पीछे चलने वाली (रात्र्या) रात्रि की विद्या से (रात्रीम्) रात्रि को (जिन्व) जान। (उशिजा) †कामना करने वाले के द्वारा (वसुभ्यः) अग्नि आदि आठ वसुओं की विद्या से (वसून्) उन अग्नि आदि वसुओं को (जिन्व) जान। और (प्रकेतेन) उत्तम विज्ञान से (आदित्येभ्यः) बारह महीनों की विद्या से (आदित्यान्) बारह महीनों को (जिन्व) तत्वस्वरूप से जान ॥६॥

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि जैसे पदार्थों की परीक्षा से अपने आप पदार्थ-विद्या को जानें, वैसे ही दूसरों के लिये भी उपदेश करें ॥६॥

तन्तुनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषि। विद्वांसो देवताः। ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

गृहाश्रमिणा केन किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

तन्तु॑ना रा॒यस्पोषे॑ण रा॒यस्पोषं॑ जिन्व स॒ꣳसर्पे॑ण श्रु॒ताय॑ श्रु॒तं जि॑न्वै॒डेनौ॑-षधी॒भिरोष॑धीर्जिन्वोत्त॒मेन॑ त॒नूभि॑स्त॒नूर्जि॑न्व वयो॒धसाधी॑ते॒नाधी॑तं जिन्वाभि॒जिता॒ तेज॑सा॒ तेजो॑ जिन्व ॥७॥

(**विष्टम्भेन**) पूर्वं (यजुः १४।६) व्याख्यातः ॥

(**प्रवया**) प्रपूर्वाद् वातेः **आतश्चोपसर्गे** (अ० ३।३।१०६) इत्यङ्। प्रत्ययस्वरः। 'टाप्'। **एकादेश उदात्तेनोदात्तः** (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(**अनुया**) अनुयातीति **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (अ० ३।२।७४) इति 'विच्'। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। तृतीयैकवचने **आतो धातोः** (अ० ६।४।१४०) इत्याकारलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(**प्रकेतेन**) कित निवासे रोगापनयने च (भ्वा० प०) इत्यस्य धातूनामनेकार्थत्वाद् ज्ञापनार्थत्वमपि। तथा च **निरुक्तम्**—**प्रकेतनं प्रज्ञाततमम्** (निरु० २।१६)। ततः भावे (अ० ३।३।१८) इति 'घञ्'। गतिसमासे **थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्** (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

† 'कामनाओं से' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। स च ककोशसंस्कृतानुसारीति ज्ञेयः ॥

तन्तुना । रायः । पोषेण । रायः । पोषम् । जिन्व । सꣳसर्पेणेति सम्ऽसर्पेण । श्रुताय । श्रुतम् । जिन्व । ऐडेन । ओषधीभिः । ओषधीः । जिन्व । उत्तमेनेत्युत्ऽतमेन । तनूभिः । तनूः । जिन्व । वयोधसेति वयःऽधसा । आधीतेनेत्याऽधीतेन । आधीतमित्याऽधीतम् । जिन्व । अभिजितेत्यभिऽजिता । तेजसा । तेजः । जिन्व ॥७॥

पदार्थः—(तन्तुना) विस्तृतेन (रायः) धनस्य (पोषेण) पुष्टया (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् (जिन्व) प्राप्नुहि (संसर्पेण) सम्यक् प्रापणेन (श्रुताय) श्रवणाय (श्रुतम्) श्रवणम् (जिन्व) प्राप्नुहि (ऐडेन) इडाया अन्नस्येदं[1] संस्करणं तेन (ओषधीभिः) यवसोमलतादिभिः (ओषधीः) ओषधिविद्याम् (जिन्व) प्राप्नुहि (उत्तमेन) धर्माचरणेन (तनूभिः) सुसंस्कृतैः शरीरैः (तनूः) शरीराणि (जिन्व) प्राप्नुहि (वयोधसा) वयो जीवनं दधाति येन तेन (आधीतेन) समन्ताद्धारितेन (आधीतम्) सर्वतो धारितम् (जिन्व) प्राप्नुहि रक्ष* वा (अभिजिता) आभिमुख्यगतान् शत्रून् जयति येन तेन (तेजसा) निशातेन तीव्रेण कर्मणा (तेजः) प्रागल्भ्यम् (जिन्व) प्राप्नुहि ॥७॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वं तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व । संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्व । ऐडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्व । उत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व । वयोधसाऽऽधीतेनाधीतं जिन्व । अभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥७॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विस्तृतेन पुरुषार्थेनैश्वर्य्यं प्राप्य सार्वजनिकं हितं संसाध्यम् ॥७॥

गृहाश्रमी पुरुष को किस साधन से क्या करना चाहिये,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य! तू (तन्तुना) विस्तारयुक्त (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि को (जिन्व) प्राप्त हो । (संसर्पेण) सम्यक् प्राप्ति से (श्रुताय) श्रवण के लिये (श्रुतम्) शास्त्र के सुनने को (जिन्व) प्राप्त हो । (ऐडेन) अन्न के संस्कार और (ओष-

१. इडा इत्यन्ननाम । निघ० २।७ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(संसर्पेण) सर्पणं सर्पः । भावे 'घञ्' । गतिसमासे थाथघञ्० (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(ऐडेन) इडाया इदम् ऐडम् । तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(उत्तमेन) पूर्वं (यजु० ६।३०) व्याख्यातः ॥

(वयोधसा) वयस्युपपदे दधातेः वयसि धाञः (उ० ४।२२९) इत्यसिः । डिदनुवृत्तेष्टिलोपः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो 'वयोधस्' शब्दः ॥

(आधीतेन) धीङ् आधारे (दिवा० आ०) इत्यस्मात् 'क्तः'। वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति (अ० १।४।९ भा०) इति ओदितश्च (अ० ८।२।४५) इति नत्वं न भवति । दधातेर्वा दधातेर्हिः (अ० ७।४।४२) इति हिरादेशो न भवति । गतिसमासे गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृति-

* 'रक्ष वा' इति ककोशे नास्ति । गकोशे प्रवर्धितः स्यात् ॥

धीभिः) जव तथा सोमलता आदि ओषधियों की विद्या से (ओषधीः) ओषधियों को (जिन्व) प्राप्त हो। (उत्तमेन) उत्तम धर्म के आचरणयुक्त (तनूभिः) शुद्ध शरीरों से (तनूः) शरीरों को (जिन्व) प्राप्त हो। (वयोधसा) जीवन के धारण करनेहारे (आधीतेन) अच्छे प्रकार पढ़े से (आधीतम्) सब ओर से धारण की हुई विद्या को (जिन्व) प्राप्त हो। (अभिजिता) सन्मुख शत्रुओं को जीतने के हेतु (तेजसा) तीक्ष्ण कर्म से (तेजः) दृढ़ता को (जिन्व) प्राप्त हो ॥७॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विस्तारयुक्त पुरुषार्थ से ऐश्वर्य को प्राप्त हो के सब प्राणियों का हित सिद्ध करें ॥७॥

प्रतिपदसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। स्वराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनरेतैः किं कर्त्तव्यमित्याह॥

प्रतिपर्दसि प्रतिपर्दे त्वानुपर्दस्यनुपर्दे त्वा सम्पर्दसि सम्पर्दे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥८॥

प्रतिपदिति प्रतिऽपत्। असि। प्रतिपद इति प्रतिऽपदे। त्वा। अनुपदित्यनुऽपत्। असि। अनुपद इत्यनुऽपदे। त्वा। सम्पदिति समऽपत्। असि। सम्पद इति समऽपदे। त्वा। तेजः। असि। तेजसे। त्वा ॥८॥

पदार्थः—(प्रतिपत्) प्रतिपद्यते प्राप्यते या सा (असि) (प्रतिपदे) ऐश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (अनुपत्) अनु पश्चात् प्राप्यते या सा (असि) (अनुपदे) पश्चात् प्राप्तव्याय (त्वा) (सम्पत्) सम्यक् प्राप्यते या सा (असि) (सम्पदे) ऐश्वर्याय (त्वा) (तेजः) प्रागल्भ्यम् (असि) (तेजसे) (त्वा) त्वाम् ॥८॥

अन्वयः—हे पुरुषार्थिनि विदुषि स्त्रि! यतस्त्वं प्रतिपदिवासि तस्यै प्रतिपदे त्वा, याऽनुपदिवासि तस्या अनुपदे त्वा, या संपदिवासि तस्यै संपदे त्वा, या तेज इवासि तस्यै तेजसे त्वा त्वां स्वीकरोमि ॥८॥

स्वरः। महीधरस्तु 'अधीतेन' इति छित्त्वाऽध्ययनायेत्यर्थापयामास। तत्र पदकारविरोधः स्पष्टः॥

(अभिजिता) अभिपूर्वाज्जयतेः सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजभिद० (अ० ३।२।६१) इति 'क्विप्'; स च कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति करणे बोध्यः॥

गद्वा — असिश्छिनत्तीतिवत् साधनेऽपि तेजसि कर्त्तृत्वविवक्षया यथाप्राप्त एव कर्त्तरि प्रयोगः साधुः। भाष्यपदार्थस्तु अर्थप्रदर्शनपरो द्रष्टव्यः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥७॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रतिपद्, अनुपद्, सम्पद्) सर्वत्र सम्पदा-

*भावार्थः—†सर्वसुखसिद्धये तुल्यगुणकर्मस्वभावैः स्त्रीपुरुषैः स्वयंवरेण विवाहेन परस्परं स्वीकृत्यानन्दितव्यम् ॥८॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे पुरुषार्थिनी विदुषी स्त्री ! जिस कारण तू (प्रतिपत्) प्राप्त होने के योग्य लक्ष्मी के तुल्य (असि) है, इसलिये [उस] (प्रतिपदे) ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझ को, जो (अनुपत्) पीछे प्राप्त होने वाली शोभा के तुल्य (असि) है, उस (अनुपदे) विद्याऽध्ययन के पश्चात् प्राप्त होने योग्य (त्वा) तुझ को, जो तू (संपत्) सम्पत्ति के तुल्य (असि) है, उस (सम्पदे) ऐश्वर्य के लिये (त्वा) तुझ को, जो तू (तेजः) तेज के समान (असि) है, इसलिये [उस] (तेजसे) तेज [के] होने के लिये (त्वा) तुझ को ग्रहण करता हूं ॥८

भावार्थः—सब सुख सिद्ध होने के लिये तुल्य गुण कर्म्म और स्वभाव वाले स्त्री पुरुष स्वयंवर विवाह से परस्पर एक दूसरे को स्वीकार कर के आनन्द में रहैं ॥८॥

त्रिवृदसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥९॥

त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । असि । त्रिवृत इति त्रिऽवृते । त्वा । प्रवृदिति प्रऽवृत् । असि । प्रवृत इति प्रऽवृते । त्वा । विवृदिति विऽवृत् । असि । विवृत इति विऽवृते । त्वा । सवृदिति सऽवृत् ।

दिम्यः क्विब्वक्तव्यः (अ० ३।३।१०८ भा० वा०) इति कर्मणि 'क्विप्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । यजु० ७।३८ मन्त्रे तु प्रतिपच्छब्दस्य व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् द्रष्टव्यम् ॥८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः' इति कगकोशयोर्मुद्रिते चोपलभ्यते । पाठोऽयमत्र न संगच्छते, तथार्थस्यादर्शनात् । ककोशे भाषापदार्थेऽपि 'इस मन्त्र में वाचकलु०' इति पाठ उपलभ्यते । स च गकोशे पृथक्कृतः । संस्कृतभावार्थे तु 'अत्र वाचकलु०' इति पाठः पृथक्करणीयोऽप्यनवधानेन न पृथक्कृतः । अस्माभिस्तु गकोशीयभाषानुसारं संस्कृतपाठोऽपीह निराकृतः ॥

† इतः पूर्वमजमेरमुद्रिते 'मनुष्यैः' पदमधिकं दृश्यते । तच्च ककोशे नास्ति । अनावश्यकं चापीदं पदम्, उत्तरत्र 'स्त्रीपुरुषैः' पदस्य विद्यमानत्वात् ॥

अ॒सि॒ । स॒वृत् इति॑ स॒ऽवृत् । त्वा॒ । आ॒क्र॒म इत्या॑ऽक्र॒मः । अ॒सि॒ । आ॒क्र॒माये॒त्या॑ऽक्र॒माय॑ । त्वा॒ । सं॒क्र॒म इति॑ स॒म्ऽक्र॒मः । अ॒सि॒ । सं॒क्र॒माये॒ति॑ स॒म्ऽक्र॒माय॑ । त्वा॒ । उ॒त्क्र॒म इ॒त्यु॑त्ऽक्र॒मः । अ॒सि॒ । उ॒त्क्र॒माये॒त्यु॑त्ऽक्र॒माय॑ । त्वा॒ । उत्क्रा॑न्ति॒रित्यु॒त्ऽक्रा॑न्तिः । अ॒सि॒ । उत्क्रा॑न्त्या॒ इ॒त्यु॒त्ऽक्रा॑न्त्यै । त्वा॒ । अधि॑पति॒नेत्यधि॑ऽपतिना । ऊ॒र्जा । ऊर्ज॑म् । जि॒न्व ॥९॥

पदार्थः—(त्रिवृत्) यत् त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैः सह वर्त्तते तस्याव्यक्तस्य वेत्ता (असि) (त्रिवृते) (त्वा) त्वाम् (प्रवृत्) यत्कार्य्यरूपेण प्रवर्त्तते तस्य ज्ञाता (असि) (प्रवृते) (त्वा) (विवृत्) यद्विविधैराकारैर्वर्त्तते तज्जगदुपकर्त्ता (असि) (विवृते) (त्वा) (सवृत्) यः समानेन धर्मेण सह वर्त्तते तस्य बोधकः (असि) (सवृते) (त्वा) (आक्रमः) समन्तात्क्रमन्ते पदार्था यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्य विज्ञापकः (असि) (आक्रमाय) (त्वा) (संक्रमः) सम्यक् क्रमन्ते यस्मिंस्तस्य (असि) (संक्रमाय) (त्वा) (उत्क्रमः) उदूर्ध्वं क्रमः क्रमणं यस्मात्तस्य (असि) (उत्क्रमाय) (त्वा) (उत्क्रान्तिः) उत्क्राम्यन्त्यु-ल्लंघयन्ति समान् विषमान् देशान् यया गत्या तद्विद्याज्ञात्री (असि) (उत्क्रान्त्यै) (त्वा) (अधिपतिना) अधिष्ठात्रा (ऊर्जा) पराक्रमेण (ऊर्जम्) बलम् (जिन्व) प्राप्नुहि ॥९॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यस्त्वं त्रिवृदसि तस्मै त्रिवृते त्वा, यत्प्रवृदसि तस्मै प्रवृते त्वा, यद्विवृदसि तस्मै विवृते त्वा, य आक्रमोऽसि तस्मा आक्रमाय त्वा, यत् सवृदसि तस्मै सवृते त्वा, यः संक्रमोऽसि तस्मै संक्रमाय त्वा, य उत्क्रमोऽसि तस्मा उत्क्रमाय त्वा [त्वामहं परिगृह्णामि । तथा हे स्त्रि !] योत्क्रान्तिरसि तस्या उत्क्रान्त्यै त्वा त्वामहं परिगृह्णामि । तेन मयाधिपतिना सह वर्त्तमाना त्वमूर्जोर्जं जिन्व ॥९॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—नहि पृथिव्यादिपदार्थानां गुणकर्मस्वभावविज्ञानेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवितुमर्हति । तस्मात् कार्य्यकारणसंघातं यथावद्विज्ञायान्येभ्यः [स] उपदेष्टव्यः । यथाऽध्यक्षेण सह सेना विजयं करोति, *तथा स्वस्वामिना सह स्त्री सर्वं दुःखं जयति ॥९॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत्, सवृत्) सर्वत्र वर्ततेः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्' । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । 'सवृत्' इत्यत्र तु समानस्य च्छन्दस्यमूर्द्ध० (अ० ६।३।८४) इति समानशब्दस्य सादेशो विशेषः ॥

(आक्रमः, संक्रमः, उत्क्रमः) सोपसर्गात् क्रमते हलश्च (अ० ३।३।१२१) इत्यधिकरणे 'घञ्' । गतिसमासे थाथघञ्० (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(उत्क्रान्तिः) क्रमतेः स्त्रियां क्तिन् (अ० ३।३।९४) इति 'क्तिन्' । तितुत्रतथ० (अ० ७।२।९) इतीडभावः । अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (अ० ६।४।१५) इत्युपधादीर्घत्वम् । तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति गतिस्वरः ॥

(ऊर्जा) भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जि० (अ० ३।२।१७७) इति 'क्विप्' । प्रत्ययलोपे धातुस्वरः । सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तिरुदात्ता ॥९॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'यथा' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । ककोशे तु 'तथा' इति सम्यक् पाठः ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! जो तू (त्रिवृत्) सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण के सह वर्त्तमान अव्यक्त कारण का जाननेहारा (असि) है, उस (त्रिवृते) तीन गुणों से युक्त कारण के ज्ञान के लिये (त्वा) तुझ को, जो तू (प्रवृत्) जिस कार्य रूप से प्रवृत्त संसार का ज्ञाता (असि) है, उस (प्रवृते) कार्यरूप संसार को जानने के लिये (त्वा) तुझ को, जो तू (विवृत्) जिस विविध प्रकार से प्रवृत्त जगत् का उपकारकर्त्ता (असि) है, उस (विवृते) जगदुपकार के लिये (त्वा) तुझ को, जो तू (सवृत्) जिस समान धर्म के साथ वर्त्तमान पदार्थों का जाननेहारा (असि) है, उस (सवृते) साधर्म्य पदार्थों के ज्ञान के लिये (त्वा) तुझ को, जो तू (आक्रमः) अच्छे प्रकार पदार्थों के रहने के स्थान अन्तरिक्ष का जनाने वाला (असि) है, उस (आक्रमाय) अन्तरिक्ष को जानने के लिये (त्वा) तुझ को, जो तू (संक्रमः) सम्यक् पदार्थों को जानता (असि) है, उस (संक्रमाय) पदार्थ-ज्ञान के लिये (त्वा) तुझ को, जो तू (उत्क्रमः) ऊपर मेघ मण्डल की गति का ज्ञाता (असि) है, उस (उत्क्रमाय) मेघमण्डल की गति जानने के लिये (त्वा) तुझ को [ग्रहण करती हूं ।] तथा हे स्त्रि ! जो तू (उत्क्रान्तिः) सम विषम पदार्थों के उल्लंघन के हेतु विद्या को जाननेहारी (असि) है, उस (उत्क्रान्त्यै) गमनविद्या के जानने के लिये (त्वा) तुझ को सब प्रकार ग्रहण करता हूं । [उस मुझ] (अधिपतिना) अपने स्वामी के सह वर्त्तमान तू (ऊर्जा) पराक्रम से (ऊर्जम्) बल को (जिन्व) प्राप्त हो ॥९॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—पृथिवी आदि पदार्थों के गुण कर्म और स्वभावों के जाने विना कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता । इसलिये कार्य कारण दोनों को यथावत् जान के अन्य मनुष्यों के लिये [उसका] उपदेश करना चाहिये । [†जिस प्रकार सेनापति के साथ सेना विजय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार स्वामी के साथ स्त्री सब दुःखों पर विजय प्राप्त करती है] ॥९॥

राज्ञ्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । वसवो देवताः । पूर्वस्य विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः । प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अग्न्यादिपदार्थाः कीदृशा इत्याह ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवाऽअधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्याᳫं श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳫं साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा

---

† कोष्ठान्तर्गतोऽयं पाठः संस्कृतभावार्थेऽस्ति, भाषापदार्थे कथञ्चित् त्यक्तः स्यात् ॥

प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१०॥

राज्ञी । असि । प्राची । दिक् । वसवः । ते । देवाः । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । अग्निः । हेतीनाम् । प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । त्वा । स्तोमः । पृथिव्याम् । श्रयतु । आज्यम् । उक्थम् । अव्यथायै । स्तभ्नातु । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । साम । प्रतिष्ठित्यै । प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै । अन्तरिक्षे । ऋषयः । त्वा । प्रथमजा इति प्रथमऽजाः । देवेषु । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथन्तु । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता । च । अयम् । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । च । ते । त्वा । सर्वे । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । नाकस्य । पृष्ठे । स्वर्ग इति स्वःऽगे । लोके । यजमानम् । च । सादयन्तु ॥१०॥

पदार्थः—(राज्ञी) राजमाना प्रधाना (असि) (प्राची) पूर्वा (दिक्) दिगिव (वसवः) अग्न्याद्याः (ते) तव (देवाः) देदीप्यमानाः (अधिपतयः) अधिष्ठातारः (अग्निः) विद्युदिव (हेतीनाम्) वज्रास्त्रादीनाम् । हेतिरिति वज्रनामसु पठितम् । निघं० २। २० (प्रतिधर्त्ता) प्रत्यक्षं धारकः (त्रिवृत्) यस्त्रिधा[1] वर्त्तते (त्वा) (स्तोमः) स्तोतुमर्हः (पृथिव्याम्) भूमौ (श्रयतु) सेवताम् (आज्यम्) घृतम् (उक्थम्) वक्तुमर्हम् (अव्यथायै) [2]अविद्यमानशरीरपीडायै (स्तभ्नातु) धरतु (रथन्तरम्) रथैस्तारकम् (साम) एतदुक्तं कर्म (प्रतिष्ठित्यै[3]) प्रतितिष्ठन्ति यस्यां तस्यै (अन्तरिक्षे) आकाशे (ऋषयः) प्रापकाः (त्वा) (प्रथमजाः) प्रथमतो जाता वायवः (देवेषु) कमनीयेषु पदार्थेषु (दिवः) विद्युतः (मात्रया) लेशविषयेण (वरिम्णा) (प्रथन्तु) उपदिशन्तु । अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम् (विधर्त्ता) विविधानां धारकः (च) (अयम्) (अधिपतिः) उपरिष्टात्पालकः (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) समाननिश्चयाः (नाकस्य) सुखप्रापकस्य भूगोलस्य (पृष्ठे) उपरि (स्वर्गे) सुखप्रापके (लोके) द्रष्टव्ये (यजमानम्) दातारम् (च) (सादयन्तु) अवस्थापयन्तु ॥१०॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! तेऽधिपतिर्यथा यस्या वसवो देवा अधिपतय आसन्, तथा प्राची दिगिव राज्यसि । यथा हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्स्तोमोऽग्निरस्ति, तथा त्वाऽहं धरामि । भवति पृथिव्यामव्यथाया उक्थमाज्यं श्रयतु, प्रतिष्ठित्यै रथन्तरं साम स्तभ्नातु । यथाऽन्तरिक्षे दिवो मात्रया वरिम्णा देवेषु प्रथमजा ऋषयस्त्वा प्रथन्तु, यथा चायं विधर्त्ता ते पतिर्वर्त्तेत, तथा तेन सह त्वं वर्त्तस्व । यथा च सर्वे संविदाना विद्वांसो नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके त्वा यजमानं च सादयन्तु, तथा युवां सीदेतम् ॥१०॥

---

१. सूर्याग्निविद्युद्रूपेणेत्यर्थः ॥

२. यद्यपि बहुव्रीहिरयम्, स चार्थबोधनपरः । स्वरस्तु नञ्तत्पुरुषस्येति ध्येयम् ॥

३. छान्दसत्वादधिकरणेऽपि 'अङ्' बाधित्वात्र 'क्तिन्' इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(हेतीनाम्) हन्तेः हिनोतेर्वा ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च (अ० ३।३।९७) इति क्तिनि हेतिशब्दो निपातितः । क्तिनश्चोदात्तानुवृत्तेरुदात्तत्वम् । नामन्यतरस्याम् (अ० ६।१।१७७) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(प्रतिधर्त्ता, विधर्त्ता) धरतेस्तृच् । गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्र तृचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—पूर्वा दिक् तस्मादुत्तमास्ति यस्मात् प्रथमं सूर्य्य उदेति । ये पूर्वस्या दिशो वायव आगच्छन्ति, ते कस्मिंश्चिद्देशे मेघकराः भवन्ति । अयमग्निरेव सर्वेषां धर्त्ता वायु-निमित्तो वर्धते । ये तं जानन्ति ते जगति सुखं संस्थापयन्ति ॥१०॥

अग्नि आदि पदार्थ कैसे गुणों वाले हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! (ते) तेरा (अधिपतिः) स्वामी जैसे जिस के (वसवः) अग्न्यादिक (देवाः) प्रकाशमान (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं, वैसे तू (प्राची) पूर्व (दिक) दिशा के समान (राज्ञी) राणी (असि) है। जैसे (हेतीनाम्) वज्रादि शस्त्रास्त्रों का (प्रतिधर्त्ता) प्रत्यक्ष धारण कर्त्ता (त्रिवृत्) विद्युत् भूमिस्थ और सूर्यरूप से तीन प्रकार वर्त्तमान (स्तोमः) स्तुतियुक्त गुणों से सहित (अग्निः) महाविद्युत् धारण करने वाली है, वैसे (त्वा) तुझ को तेरा पति मैं धारण करता हूं । तू (पृथिव्याम्) भूमि पर (अव्यथायै) पीड़ा न होने के लिये (उक्थम्) प्रशंसनीय (आज्यम्) घृत आदि पदार्थों को (श्रयतु) धारण कर । (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (रथन्तरम्) रथादि से तारने वाले (साम) सिद्धान्त कर्म को (स्तभ्नातु) धारण कर । जैसे (अन्तरिक्षे) आकाश में (दिवः) बिजुली का (मात्रया) लेश सम्बन्ध और (वरिम्णा) महापुरुषार्थ से (देवेषु) विद्वानों में (प्रथमजाः) पूर्व हुये (ऋषयः) वेदार्थवित् विद्वान् (त्वा) तुझ को शुभ गुणों से [(प्रथन्तु)] विशालबुद्धि करें, (च) और जैसे (अयम्) यह (विधर्त्ता) विविध रीति से धारणकर्त्ता [(ते)] तेरा पति तुझ से वर्त्ते, वैसे उस के साथ तू वर्ता कर । (च) और जैसे (सर्वे) सब (संविदानाः) अच्छे विद्वान् लोग (नाकस्य) अविद्यमान दुःख के (पृष्ठे) मध्य में (स्वर्गे) जो स्वर्ग अर्थात् अति सुख प्राप्ति (लोकः) दर्शनीय है, उस में (त्वा) तुझ को (च) और (यजमानम्) तेरे पति को (सादयन्तु) स्थापन करें, वैसे तुम दोनों स्त्रीपुरुष वर्त्ता करो । १०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—पूर्व दिशा इसलिये उत्तम कहाती है कि जिस से सूर्य प्रथम वहां उदय

(आज्यम्) पूर्वं (यजुः २।८) व्याख्यातः ॥

(उक्थम्) पूर्वं (यजु० ७।२२) व्याख्यातः ॥

(प्रतिष्ठित्यै) स्थागापापचो भावे (अ० ३।३।९५) इति भावे विहितोऽपि 'क्तिन्' कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ भा० वा०) इति वचनाच्छान्दसत्वाद् वाऽधिकरणेऽपि । तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति गतेः प्रकृतिस्वरे निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(प्रथमजाः) जनसनखनक्रमगमो विट् (अ० ३।२।६७) इति प्रथमोपपदाज्जन धातोर्विट् प्रत्ययः । वेरपृक्तलोपः । विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ६।४।४१) इत्याकारादेशः । समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(संविदानाः) पूर्वं (यजु० १२।६१) व्याख्यातः ॥१०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

को प्राप्त होता है। जो पूर्व दिशा से वायु चलता है, वह किसी देश में मेघ को उत्पन्न करता है किसी में नहीं। और यह अग्नि सब पदार्थों को धारण करता तथा वायु के संयोग से बढ़ता है। जो पुरुष इन वायु और अग्नि को यथार्थ जानते हैं, वे ससार में प्राणियों को सुख पहुंचाते हैं ॥१०॥

विराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। रुद्रा देवताः। पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः। प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषाः किं कुर्युरित्याह ॥

विराडसि दक्षिणा दिग् रुद्रास्ते देवाऽ अधिपतयऽ इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬं श्रयतु प्रऽउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽ अन्तरिक्षऽ ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥११॥

विराडिति विऽराट्। असि। दक्षिणा। दिक्। रुद्राः। ते। देवाः। अधिपतय इत्यधिऽपतयः। इन्द्रः। हेतीनाम्। प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता। पञ्चदश इति पञ्चऽदशः। त्वा। स्तोमः। पृथिव्याम्। श्रयतु। प्रऽउगम्। उक्थम्। अव्यथायै। स्तभ्नातु। बृहत्। साम। प्रतिष्ठित्यै। प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै। अन्तरिक्षे। ऋषयः। त्वा। प्रथमजा इति प्रथमऽजाः। देवेषु। दिवः। मात्रया। वरिम्णा। प्रथन्तु। विधर्त्तेति विऽधर्त्ता। च। अयम्। अधिपतिरित्यधिऽपतिः। च। ते। त्वा। सर्वे। संविदाना इति सम्ऽविदानाः। नाकस्य। पृष्ठे। स्वर्ग इति स्वःऽगे। लोके। यजमानम्। च। सादयन्तु ॥११॥

पदार्थः—(विराट्) विविधैः पदार्थैं राजमाना (असि) अस्ति (दक्षिणा) (दिक्) काष्ठा (रुद्राः) बलवन्तो वायवः[1] (ते) अस्याः (देवाः) मोदकाः (अधिपतयः) उपरिष्टात्पालकाः (इन्द्रः) सूर्यः (हेतीनाम्) वज्राणाम् (प्रतिधर्ता) (पञ्चदशः) पञ्चदशानां पूरकः (त्वा) त्वाम् (स्तोमः) स्तुवन्ति येन स* ऋचां भागः (पृथिव्याम्) भूमौ (श्रयतु) सेवताम् (प्रउगम्) †प्रयोगार्हम् (उक्थम्) उपदेष्टुं योग्यम् (अव्यथायै) अविद्यमानमानसभयायै (स्तभ्नातु) स्थिरीकरोतु (बृहत्) महदर्थम् (साम) (प्रतिष्ठित्यै)

१. प्राणा वै रुद्राः, प्राणा हीदं सर्वं शोभयन्ति। जैं० उ० ४।२।६ ॥

* 'सह' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'प्रयोगम्' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः स्यात ॥

प्रतिष्ठायै (अन्तरिक्षे) आकाशे (ऋषयः) ज्ञापकाः ¹प्राणाः (त्वा) (प्रथमजाः) आदौ विद्वांसो जाताः (देवेषु) कमनीयेषु पदार्थेषु (दिवः) द्योतनकर्मणोऽग्नेः (मात्रया) भागेन (वरिम्णा) [उरोः] बहोर्भावेन (प्रथन्तु) अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम् (विधर्त्ता) विविधाकर्षणेन पृथिव्यादिधारकः (च) (अयम्) (अधिपतिः) द्योतकानामधिष्ठाता (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) सम्यग् विचारशीलाः (नाकस्य) अविद्यमानदुःखस्याकाशस्य (पृष्ठे) ²सेचके भागे (स्वग) सुखकारके (लोके) विज्ञातव्ये (यजमानम्) एतद्विद्यादातारम् (च) (सादयन्तु) स्थापयन्तु ॥११॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या त्वं विराड् दक्षिणा दिगिवासि, यस्यास्ते पतौ रुद्रा देवा अधिपतय इव हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशः स्तोम इन्द्रस्त्वा पृथिव्यां श्रयतु । अव्यथायै प्रउगमुक्थं स्तभ्नातु, प्रतिष्ठित्यै बृहत्साम च स्थिरीकरोतु । यथा चान्तरिक्षे देवेषु प्रथमजा ऋषयो दिवो मात्रया वरिम्णा सह वर्तन्ते, तथा विद्वांसस्त्वा प्रथन्तु । यथा [च] विधर्त्ता पोषकश्चाऽयमधिपतिस्त्वा पुष्णातु, तथा संविदाना विद्वांसस्ते सर्वे नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके त्वां यजमानं च सादयन्तु ॥११॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा विद्वांसो वायुभिः सह वर्तमानं सूर्य्यं तद्विद्याविज्ञापकं विद्वांसं च समाश्रित्यैतद्विद्यां विज्ञापयन्ति,तथा स्त्रीपुरुषा ब्रह्मचर्य्येण विद्वांसो भूत्वाऽन्यानध्यापयन्तु ॥११

फिर स्त्रीपुरुषों को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! जो तू (विराट्) विविध पदार्थों से प्रकाशमान (दक्षिणा) (दिक्) दक्षिण दिशा के तुल्य (असि) है, जिस (ते) तेरा पति (रुद्राः) वायु (देवाः) दिव्य गुण युक्त वायु (अधिपतयः) अधिष्ठाताओं के समान (हेतीनाम्) वज्रों का (प्रतिधर्त्ता) निश्चय के साथ धारण करने वाला (पञ्चदशः) पन्द्रह संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति का साधक ऋचाओं के अर्थों का भागी और (इन्द्रः) सूर्य्य (त्वा) तुझ को (पृथिव्याम्) पृथिवी में (श्रयतु) सेवन करे ।(अव्यथायै) मानस भय से रहित तेरे लिये (प्रउगम्§) कथनीय (उक्थम्) उपदेश के योग्य वचन को (स्तभ्नातु) स्थिर करे,

१. प्राणा वा ऋषयः प्रथमजाः । श० ८।६।१।५॥
२. पृषु सेचने (भ्वा०) इत्यस्मान्निष्पत्तिरिति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रउगम्) देवतास्तृतीयसवनात् प्रातःसवनमभिप्रायुञ्जत, तद्यदभिप्रायुञ्जत तत् प्रउगस्य प्रउगत्वम् (कौ० १४।५) इति प्रामाण्यात् युजेः अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (अ० ३।३।१९) इति कर्मणि 'घञ्' । चजोः कु घिण्यतोः (अ० ७।३।५२) इति कुत्वम् । उञ्छादिषु गुणाभावो निपातितः । तथा चोक्तं काशिकायाम् —'युजेर्घञन्तस्य निपातनादगुणत्वमिति' । कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । छान्दसो यकारस्य लोपः ॥११॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

§ '(प्रउगम्) प्रयोग करने के योग्य' इति ककोशे पाठः । 'कथनीय' इति गकोशे संशोधितः ॥

तथा (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (बृहत्) बहुत अर्थ से युक्त (साम) सामवेद को स्थिर करे। और जैसे (अन्तरिक्षे) आकाशस्थ (देवेषु) कमनीय पदार्थों में (प्रथमजाः) पहिले हुये (ऋषयः) ज्ञान के हेतु प्राण (दिवः) प्रकाशकारक अग्नि के [(मात्रया)] लेश और (वरिम्णा) बहुत्व के साथ वर्त्तमान हैं, वैसे विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (प्रथन्तु) प्रसिद्ध करें। [(च) और] जैसे (विधर्त्ता) विविध प्रकार के आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों का धारण (च) तथा पोषण करने वाला (अयम्$) (अधिपतिः) सब प्रकाशक पदार्थों में उत्तम सूर्य (त्वा) तुझ को पुष्ट करे, वैसे (संविदानाः) सम्यक् विचारशील [जो] विद्वान् लोग हैं (ते) वे (सर्वे) सब (नाकस्य) दुःखरहित आकाश के (पृष्ठे) सेचक भाग में (स्वर्गे) सुखकारक (लोके) जानने योग्य देश में∫ तुझ को (च) और (यजमानम्) यज्ञविद्या के जाननेहारे पुरुष को (सादयन्तु) स्थापित करे॥११॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे विद्वान् लोग वायु के साथ वर्त्तमान सूर्य को, और सूर्य वायु की विद्या को जानने वाले विद्वान का आश्रय कर के इस विद्या को जनावें, वैसे स्त्रीपुरुष ब्रह्मचर्य के साथ विद्वान् हो के दूसरों को पढ़ावें॥११॥

सम्राडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। आदित्या देवताः। पूर्वस्य निचृद् ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः। प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वर॥

पुनस्तौ कीदृशौ स्यातामित्याह॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवाऽ अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳫं श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳫं साम प्रतिष्ठित्याऽ अन्तरिक्षऽ ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥१२॥

सम्राडिति सम्ऽराट्। असि। प्रतीची। दिक्। आदित्याः। ते। देवाः। अधिपतय इत्यधिऽपतयः। वरुणः। हेतीनाम्। प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता। सप्तदश इति सप्तऽदशः। त्वा। स्तोमः। पृथिव्याम्। श्रयतु। मरुत्वतीयम्। उक्थम्। अव्यथायै। स्तभ्नातु। वैरूपम्। साम। प्रतिष्ठित्यै। प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै। अन्तरिक्षे। ऋषयः। त्वा। प्रथमजा इति प्रथमऽजाः। देवेषु। दिवः। मात्रया।

$ (अयम्) इति पाठः ककोशेऽस्ति। अग्रे लेखने प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम्॥

∫ इतोऽग्रे '(त्वा)' इति पाठो व्यर्थः, स चान्वये नास्त्येव॥

वरिम्णा । प्रथन्तु । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता । च । अयम् । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । च । ते । त्वा । सर्वे । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । नाकस्य । पृष्ठे । स्वर्ग इति स्वःऽगे । लोके । यजमानम् । च । सादयन्तु ॥१२॥

पदार्थः—(सम्राट्) या सम्यक् प्रदीप्यते (असि) (प्रतीची) पश्चिमा (दिक्) विशन्ति यया सा दिक् तद्वत् (आदित्याः) विद्युद्युक्ताः प्राणा[1] वायवः (ते) तव (देवाः) दिव्यसुखप्रदाः (अधिपतयः) स्वामिनः (वरुणः) जलसमुदाय इव दुष्टानां बन्धकः (हेतीनाम्) विद्युताम् (प्रतिधर्त्ता) (सप्तदशः) एतत्संख्यापूरकः (त्वा) त्वाम् (स्तोमः) स्तोतुमर्हः (पृथिव्याम्) (श्रयतु) (मरुत्वतीयम्) बहवो मरुतो व्याख्यातारो मनुष्या विद्यन्ते यस्मिंस्तत्र भवम् (उक्थम्) वाच्यम् (अव्यथायै) अविद्यमानात्मसंचलनायै (स्तभ्नातु) गृह्णातु (वैरूपम्) विविधानि रूपाणि प्रकृतानि यस्मिंस्तत् (साम) (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठायै (अन्तरिक्षे) (ऋषयः) गतिमन्तः (त्वा) (प्रथमजाः) प्रथमाद्विस्तीर्णात्कारणाज्जाता वायवः (देवेषु) दानसाधकेषु (दिवः) प्रकाशस्य (मात्रया) भागेन (वरिम्णा) (प्रथन्तु) (विधर्त्ता) विविधानां रत्नानां धारकः (च) (अयम्) (अधिपतिः) (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) सम्यग्लब्धज्ञानाः (नाकस्य) (पृष्ठे) (स्वर्गे) (लोके) (यजमानम्) (च) (सादयन्तु) ॥१२॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या [त्वं] प्रतीची दिगिव सम्राडसि, तस्यास्ते पतिरादित्या देवा अधिपतय इवायं सप्तदशश्च स्तोमो वरुणो हेतीनां *प्रतिधर्त्ताधिपतिस्त्वा पृथिव्यां श्रयतु । अव्यथायै मरुत्वतीयमुक्थं प्रतिष्ठित्यै वैरूपं साम च स्तभ्नातु । ये च दिवो मात्रया वरिम्णा सहान्तरिक्षे प्रथमजा ऋषयो देवेषु वर्त्तन्ते, तद्वत्त्वा विद्वांसः प्रथन्तु । यथा विधर्त्ता† चाधिपतिश्च राजा प्रजाः सुखे स्थापयतु, तथा ते सर्वे संविदानाः सन्तस्त्वा यजमानं च नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके सादयन्तु ॥१२॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा विद्वांसः पश्चिमां दिशं तत्रस्थान् पदार्थांश्चान्येभ्यो विज्ञापयन्ति, तथा स्त्रीपुरुषाः स्वापत्यादीन् विद्ययाऽलंकुर्वन्तु ॥१२॥

१. प्राणा वा आदित्याः, प्राणा हीदं सर्वमाददते । जै० उ० ४।२।९ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मरुत्वतीयम्) मरुतोऽस्मिन् सन्तीति मरुत्वत् । झयः (अ० ८।२।१०) इति मतुपो मस्य वत्वम् । तत्र भवः (अ० ४।३।५३) इति भवार्थे गहादिभ्यश्च (अ० ४।२।१३८) इति 'छः' । आयनेयी० (अ० ७।१।२) इति ईयादेशः । प्रत्ययस्वरेण ईकार उदात्तः ॥१२॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'प्रतिधर्त्ताऽयमधिपति……' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

† 'विधर्त्ता चायमधिपतिः……' इति गकोशे पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः । ककोशे तु 'विधर्त्ताऽधिपतिः' इत्येव पाठः ॥

फिर वे स्त्रीपुरुष कैसे हों, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः– हे स्त्रि ! जो तू (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा के समान (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशित (असि) है, उस (ते) तेरा पति (आदित्याः) बिजुली से युक्त प्राण वायु (देवाः) दिव्य सुखदाता (अधिपतयः) स्वामियों के तुल्य (अयम्) यह (सप्तदशः) सत्रह संख्या का पूरक (च) और (स्तोमः) स्तुति के योग्य (वरुणः) जलसमुदाय के समान [दुष्टों का बन्धनकर्त्ता] (हेतीनाम्) बिजुलियों का (प्रतिधर्त्ता) धारण करने वाला (अधिपतिः) स्वामी (त्वा) तुझ को (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (श्रयतु) सेवन करे। (अव्यथायै) स्वरूप से अचल तेरे लिये (मरुत्वतीयम्) बहुत मनुष्यों के व्याख्यान से युक्त (उक्थम्) कथनयोग्य वेदवचन तथा (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (वैरूपम्) विविध रूपों के व्याख्यान से युक्त (साम) सामवेद को (स्तभ्नातु) ग्रहण करे और जो (दिवः) प्रकाश के (मात्रया) भाग से (वरिम्णा) बहुत्व के साथ (अन्तरिक्षे) आकाश में (प्रथमजाः) विस्तारयुक्त कारण से उत्पन्न हुये (ऋषयः) गतियुक्त वायु (देवेषु) दान के हेतु अवयवों में वर्त्तमान हैं, वैसे (त्वा) तुझ को विद्वान् लोग (प्रथन्तु) प्रसिद्ध उपदेश करें। जैसे (विधर्त्ता) जो विविध रत्नों का धारनेहारा है (च) यह भी (अधिपतिः) अध्यक्ष स्वामी राजा प्रजाओं को सुख में रखता है, वैसे (ते) तेरे मध्य में (सर्वे) सब (संविदानाः) अच्छे प्रकार ज्ञान को प्राप्त हुये (त्वा) तुझ को (च) और (यजमानम्) विद्वानों के सेवक पुरुष को (नाकस्य) दुःखरहित देश के (पृष्ठे) एक भाग में (स्वर्गे) सुखप्रापक (लोके) दर्शनीय स्थान में (सादयन्तु) स्थापित करें ।।१२।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे विद्वान् लोग पश्चिम दिशा और वहां के पदार्थों को दूसरों के लिये जनाते* हैं, वैसे स्त्रीपुरुष अपने सन्तानों आदि को विद्यादि गुणों से सुशोभित करें ।।१२।।

स्वराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। मरुतो देवताः। पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः। प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ।।

पुनस्तौ कीदृशावित्याह ।।

स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवाऽ अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविंश-स्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪ श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजᳪ साम

* 'जानते हैं' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। स चापपाठः ।।

प्रति॑ष्ठित्याऽ अ॒न्तरि॑क्षऽ ऋष॑यस्त्वा प्रथम॒जा दे॒वेषु॑ दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थन्तु विध॒र्त्ता चा॒यमधि॑पतिश्च॒ ते त्वा॒ सर्वे॑ संविदा॒ना नाक॑स्य पृ॒ष्ठे स्व॒र्गे लो॒के यज॑मानं च सादयन्तु ॥१३॥

स्व॒राडिति॑ स्व॒ऽराट् । असि॒ । उदी॑ची । दिक् । म॒रुतः॑ । ते॒ । दे॒वाः । अधि॑पतय॒ इत्यधि॑ऽपतयः । सोमः॑ । हे॒तीना॑म् । प्र॒ति॒ध॒र्त्तेति॑ प्रति॒ऽध॒र्त्ता । ए॒क॒वि॒ꣳश इत्येक॑ऽवि॒ꣳशः । त्वा॒ । स्तोमः॑ । पृ॒थि॒व्याम् । श्र॒य॒तु॒ । निष्के॑वल्यम् । निःके॑वल्य॒मिति॒ निःऽके॑वल्यम् । उ॒क्थम् । अव्य॑थायै । स्त॒भ्ना॒तु॒ । वै॒रा॒जम् । साम॑ । प्रति॑ष्ठित्यै । प्रति॑स्थित्या॒ इति॒ प्रति॑ऽस्थित्यै । अ॒न्तरि॑क्षे । ऋष॑यः । त्वा॒ । प्र॒थ॒म॒जा इति॑ प्रथम॒ऽजाः । दे॒वेषु॑ । दि॒वः । मात्र॑या । व॒रि॒म्णा । प्र॒थ॒न्तु॒ । वि॒ध॒र्त्तेति॑ विऽध॒र्त्ता । च॒ । अ॒यम् । अधि॑पति॒रित्यधि॑ऽपतिः । च॒ । ते॒ । त्वा॒ । सर्वे॑ । सं॒वि॒दा॒ना इति॑ सम्ऽवि॒दा॒नाः । नाक॑स्य । पृ॒ष्ठे । स्व॒र्ग इति॑ स्वः॒ऽगे । लो॒के । यज॑मानम् । च॒ । सा॒द॒य॒न्तु॒ ॥१३॥

पदार्थः—(स्वराट्) या स्वयं राजते (असि) अस्ति (उदीची) य उदङ्ङुत्तरं देशमञ्चति सा (दिक्) (मरुतः) वायवः (ते) तव (देवाः) दिव्यसुखप्रदाः (अधिपतयः) (सोमः) चन्द्रः (हेतीनाम्) वज्रवद्वर्त्तमानानां किरणानाम् (प्रतिधर्ता) (एकविंशः) एतत्संख्यापूरकः (त्वा) त्वाम् (स्तोमः) स्तुतिसाधकः (पृथिव्याम्) (श्रयतु) (निष्केवल्यम्) निरन्तरं केवलं स्वरूपं यस्मिंस्तत्र साधुम् । अत्र [1]केर्धातोर्बाहुलकादौणादिको वलच् प्रत्ययः (उक्थम्) वक्तुं योग्यम् (अव्यथायै) अविद्यमानेन्द्रियभयायै (स्तभ्नातु) (वैराजम्) विराट्प्रतिपादकम् (साम) (प्रतिष्ठित्यै) (अन्तरिक्षे) (ऋषयः) बलवन्तः प्राणाः (त्वा) (प्रथमजाः) (देवेषु) (दिवः) (मात्रया) (वरिम्णा) (प्रथन्तु) (विधर्त्ता) विविधस्य शीतस्य धर्त्ता (च) (अयम्) (अधिपतिः) अधिष्ठाता (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) सम्यक्कृतप्रतिज्ञाः (नाकस्य) (पृष्ठे) (स्वर्गे) (लोके) (यजमानम्) (च) (सादयन्तु) ॥१३॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! यथा स्वराडुदीची दिगस्यस्ति, तथा ते पतिर्भवतु । यस्या दिशो मरुतो देवा अधिपतयः सन्ति, तद्वद्य एकविंशः स्तोमः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्ता जनस्[त्वा]त्वां

---

१. 'कि ज्ञाने' (जु० प०) इत्यस्य केः पञ्चम्यन्तं रूपम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(निष्केवल्यम्) निरन्तर केवलं निष्केवलम् । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । तत्र साधुः (अ० ४।४।९८) इति 'यत्' । तित्स्वरितम् (अ० ६।१।१८५) इति स्वरितत्वे प्राप्ते छान्दसस्वरव्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । यद्वा—निष्केवलशब्दादाद्युदात्तात् यप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते (अ० ५।२।१२० वा०) इति 'यप्' । तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे पूर्व एव स्वरः । भाष्यपदार्थस्त्वर्थबोधनपरः ॥१३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

पृथिव्यां श्रयतु । अव्यथायै निष्केवल्यमुक्थं प्रतिष्ठित्यै वैराजं साम च स्तभ्नातु । यथा तेऽन्तरिक्षे स्थिता देवेषु प्रथमजा दिवो मात्रया वरिम्णा सह वर्त्तमाना ऋषयः सन्ति तथाऽयमेवैतेषां विधर्त्ता चाधिपतिरस्ति । तत्र विषये ते सर्वे संविदाना विद्वांसस्त्वा प्रथन्तु नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके त्वा यजमानं च सादयन्तु ॥१३॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा* विद्वांसः सोमं प्राणांश्च साधिष्ठानान् विदित्वा कार्येषूपयुज्य सुखं लभन्ते, तथा अध्यापका अध्यापिकाश्च शिष्यान् शिष्याश्च विद्याग्रहणायोपयुज्यानन्दयन्तु ॥१३॥

फिर वे दोनों कैसे हों, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! जैसे (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा (असि) है, वैसा (ते) तेरा पति हो । जिस दिशा के (मरुतः) वायु (देवाः) दिव्यरूप (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं, उन के सदृश जो (एकविंशः) इक्कीस संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति का साधक (सोमः) चन्द्रमा (हेतीनाम्) वज्र के समान वर्त्तमान किरणों का (प्रतिधर्त्ता) धारनेहारा पुरुष (त्वा) तुझ को (पृथियाम्) भूमि में (श्रयतु) सेवन करे। (अव्यथायै) इन्द्रियों के भय से रहित तेरे लिये (निष्केवल्यम्) जिस में केवल एक स्वरूप का वर्णन हो वह (उक्थम्) कहने योग्य वेदभाग तथा (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (वैराजम्) विराट् रूप का प्रतिपादक (साम) सामवेद का भाग (स्तभ्नातु) ग्रहण करे । (च) और जैसे तेरे मध्य में (अन्तरिक्षे) अवकाश में स्थित (देवेषु) इन्द्रियों में (प्रथमजाः) मुख्य प्रसिद्ध (दिवः) ज्ञान के (मात्रया) भागों से (वरिम्णा) अधिकता के साथ वर्त्तमान (ऋषयः) बलवान् प्राण हैं, वैसे (अयम्) यही इन प्राणों का (विधर्त्ता) विविध शीत को धारणकर्त्ता (च) और (अधिपतिः) अधिष्ठाता है। (ते) वे (सर्वे) सब इस विषय में (संविदानाः) सम्यक् बुद्धिमान विद्वान् लोग प्रतिज्ञा से (त्वा) तुझ को (प्रथन्तु) प्रसिद्ध करें। और (नाकस्य) उत्तम सुखरूप लोक के (पृष्ठे) ऊपर (स्वर्गे) सुखदायक (लोके) लोक में (त्वा) तुझ को (च) और (यजमानम्) यजमान पुरुष को (सादयन्तु) स्थित करें ॥१३॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे विद्वान् लोग आधार के सहित चन्द्रमा आदि पदार्थों, और आधार के सहित प्राणों को यथावत् जान के संसारी कार्यों में उपयुक्त करके सुख को प्राप्त होते हैं, वैसे अध्यापक स्त्रीपुरुष कन्या-पुत्रों को विद्या-ग्रहण के लिये उपयुक्त करके आनन्दित करें ॥१३॥

---

* गकोशे तु 'यथा विद्वांसः साधिष्ठानान् सोमं प्राणांश्च' इति पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः स्यात् ॥

अधिपत्न्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । पूर्वस्य ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । प्रतिष्ठित्या इत्युत्तरस्य ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवाऽ अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुतेऽ उक्थेऽ अव्यथायै स्तभ्नीताꣳ शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्याऽ अन्तरिक्षऽ ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१४॥

अधिपत्नीत्यधिऽपत्नी । असि । बृहती । दिक् । विश्वे । ते । देवाः । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । बृहस्पतिः । हेतीनाम् । प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता । त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ । त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशाविति त्रिनवऽत्रयस्त्रिꣳशौ । त्वा । स्तोमौ । पृथिव्याम् । श्रयताम् । वैश्वदेवाग्निमारुते इति वैश्वदेवाग्निमारुते । उक्थे इत्युक्थे । अव्यथायै । स्तभ्नीताम् । शाक्वररैवते इति शाक्वररैवते । सामनी इतिसामनी । प्रतिष्ठित्यै । प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै । अन्तरिक्षे । ऋषयः । त्वा । प्रथमजा इति प्रथमऽजाः । देवेषु । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथन्तु । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता । च । अयम् । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । च । ते । त्वा । सर्वे । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । नाकस्य । पृष्ठे । स्वर्ग इति स्वःऽगे । लोके । यजमानम् । च । सादयन्तु ॥१४॥

पदार्थः—(अधिपत्नी) सर्वासां दिशामुपरि वर्त्तमाना (असि) (बृहती) महती (दिक्) (विश्वे) अखिलाः (ते) तव (देवाः) द्योतकाः (अधिपतयः) अधिष्ठातारः (बृहस्पतिः) पालकः सूर्यः (हेतीनाम्) [1]वृद्धानाम् (प्रतिधर्त्ता) *प्रतीत्या धर्त्ता (त्रिणवत्रयस्त्रिशौ) (त्वा) (स्तोमौ) स्तुतिसाधकौ (पृथिव्याम्) (श्रयताम्) (वैश्वदेवाग्निमारुते) वैश्वदेवाग्निमरुद्व्याख्यायिके (उक्थे) वक्तव्ये (अव्यथायै) अविद्यमानसार्वजनिकपीडायै (स्तभ्नीताम्) (शाक्वररैवते) †शक्त्यैश्वर्य्यप्रतिपादिके (सामनी) (प्रतिष्ठित्यै) (अन्तरिक्षे) (ऋषयः) धनञ्जयादयः सूक्ष्मस्थूला वायवः प्राणाः (त्वा) (प्रथमजाः)

---

१. 'हि गतौ वृद्धौ च' इत्यस्मादिति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ) पूर्वं (यजु० १३। ५८) व्याख्यातः ॥

(वैश्वदेवाग्निमारुते) वैश्वदेवं च आग्निमारुतं चेति द्वन्द्वः । समासस्य (अ० ६।१। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥१४॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'प्रतीत्या धर्त्ता' इति गकोशे नास्ति । मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

† 'शक्त्यैश्वर्य' इति गकोशे नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

ऋादिजाः (देवेषु) दिव्यगुणेषु पदार्थेषु वा (दिवः) (मात्रया) (वरिम्णा) (प्रथन्तु) (विधर्त्ता) (च) (अयम्) (अधिपतिः) (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) कृतप्रतिज्ञाः (नाकस्य) (पृष्ठे) (स्वर्गे) (लोके) (यजमानम्) (च) (सादयन्तु) ।।१४।।

अन्वयः—हे स्त्रि ! या त्वं बृहत्यधिपत्नी दिगिवासि, तस्यास्ते पतिर्विश्वे देवा अधिपतयः सन्ति, -तद्वद्यो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्वा च त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ पृथिव्यामव्यथायै वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे च श्रयताम् । प्रतिष्ठित्यै शाक्वररैवते सामनी च स्तभ्नीताम् । यथा तेऽन्तरिक्षे प्रथमजा ऋषयो देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा त्वा प्रथन्ते तान् मनुष्याः प्रथन्तु । यथाऽयमधिपतिर्विधर्त्ता सूर्य्योऽस्ति, यथा संविदाना विद्वांसस्त्वा नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके सादयन्ति, यथा सर्वे ते यजमानं च सादयन्तु, तथा §त्वं पत्या सह वर्त्तेथाः ।।१४।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा सर्वासां मध्यस्था दिक् सर्वाभ्योऽधिकास्ति, तथा सर्वेभ्यो गुणेभ्यः शरीरात्मबलमधिकमस्तीति वेद्यम् ।।१४।।

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे स्त्रि ! जो तू (बृहती) बड़ी (अधिपत्नी) सब दिशाओं के ऊपर वर्त्तमान (दिक्) दिशा के समान (असि) है, उस (ते) तेरा पति (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशक सूर्य्यादि पदार्थ (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं, वैसे जो (बृहस्पतिः) विश्व का रक्षक (हेतीनाम्) बड़े लोकों का (प्रतिधर्त्ता) प्रतीति के साथ धारण करने वाले सूर्य्य के तुल्य वह तेरा पति (त्वा) तुझ को (च) और (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) सत्ताईस और तेंतीस (स्तोमौ) स्तुति के साधन (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अव्यथायै) पीड़ा-रहितता के लिये (वैश्वदेवाग्निमारुते) सब विद्वान् और अग्नि वायुओं के व्याख्यान करने वाले (उक्थे) कहने योग्य वेद के दो भागों का (श्रयताम्) आश्रय करे । और जैसे (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा होने के लिये (शाक्वररैवते) शक्वरी और रेवती छन्द से कहे अर्थों से (सामनी) सामवेद के दो भागों को (स्तभ्नीताम्) संगत करो । जैसे वे (अन्तरिक्षे) अवकाश में (प्रथमजाः) आदि में हुए (ऋषयः) धनञ्जय आदि सूक्ष्म स्थूल वायुरूप प्राण (देवेषु) दिव्य गुण वाले पदार्थों में (दिव) प्रकाश की (मात्रया) मात्रा और (वरिम्णा) अधिकता से (त्वा) तुझ को प्रसिद्ध करते हैं, उन को मनुष्य लोग (प्रथन्तु) प्रख्यात करें । जैसे (अयम्) यह (अधिपतिः) स्वामी (विधर्त्ता) विविध प्रकार से सब को धारण करनेहारा सूर्य है, जैसे (संविदानाः) सम्यक् सत्यप्रतिज्ञायुक्त ज्ञानवान् विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (नाकस्य) (पृष्ठे) सुखदायक देश के उपरि (स्वर्गे) सुखरूप (लोके) स्थान में स्थापित करते हैं, (ते) वे (सर्वे) सब (यजमानम्) तेरे पुरुष और तुझ को (सादयन्तु) स्थित करें, वैसे तुम स्त्री पुरुष दोनों वर्त्ता करो ।।१४।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

§ 'त्वं पत्या सह वर्त्तेथाः' इति पाठो मुद्रणे संशोधित इति ध्येयम् । कगकोशयोस्तु 'युवां वर्त्तेयाताम्' इति पाठ आसीत् ।।

भावार्थः—जैसे सब के बीच की दिशा सब से अधिक है, वैसे सब गुणों से शरीर और आत्मा का बल अधिक है, ऐसा निश्चित जानना चाहिये ।।१४।।

अयं पुर इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । वसन्ततुर्देवता । विकृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ।।

अथ रश्म्यादिदृष्टान्तेन सद्विद्योपदिश्यते ।।

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ । पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽ अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ।।१५।।

अयम् । पुरः । हरिकेश इति हरिऽकेशः । सूर्यरश्मिरिति सूर्यऽरश्मिः । तस्य । रथगृत्स इति रथऽगृत्सः । च । रथौजा इति रथऽओजाः । च । सेनानीग्रामण्यौ । सेनानीग्रामन्याविति सेनानीग्रामन्यौ । पुञ्जिकस्थलेति पुञ्जिकऽस्थला । च । क्रतुस्थलेति क्रतुस्थला । च । अप्सरसौ । दङ्क्ष्णवः । पशवः । हेतिः । पौरुषेयः । वधः । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ।।१५।।

पदार्थः—(अयम्) (पुरः) पूर्वस्मिन् काले वर्त्तमानः (हरिकेशः) हरणशीला *हरितवर्णाः केशा[1] इव केशाः प्रकाशा यस्य । अत्र विलशेरन् लो लोपश्च । उ० ५।३३ इत्यन् लकारलोपश्च (सूर्यरश्मिः) सूर्य्यस्य किरणः (तस्य) (रथगृत्सः) रथस्य प्रवेता गृत्सो मेधावीव [2]वर्त्तमानः । गृत्स इति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३।२५ । गृत्सो मेधावी गृणातेः स्तुतिकर्मणः । निरु० ६।५ । (च) (रथौजाः) रथेनौजो बलं यस्य (च) (सेनानीग्रामण्यौ) सेनानीश्च ग्रामणीश्च ताविव ([3]पुञ्जिकस्थला) समूहस्थाना दिक् (च) (क्रतुस्थला) प्रज्ञाकर्मज्ञापनोपदिक् (च) (अप्सरसौ[4]) ये अप्सु प्राणेषु[5] सरन्त्यौ गच्छन्त्यौ ते (दङ्क्षणवः) मांसघासादीनां दंशनशीला व्याघ्रादयः । अत्र दंश-धातोर्बाहुलकान्नुः[6] सुडागमश्च (पशवः) (हेतिः) वज्र इव घातुकः (पौरुषेयः) पुरुषाणां

---

१. केशा रश्मयः । निरु० १२।२६।।

२. अर्थप्रदर्शनमिदम् । विग्रहस्तु रथे गृत्स इति । तथा च सप्तमीपूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।।

३. अत्र शतपथ ८।६।१।१६ द्रष्टव्यम् ।।

४. अप्सरा अप्सारिणी । निरु० ५।१३ ।।

५. आपो वै प्राणाः । श० ३।८।२।४ ।।

६. स्थादशिभ्यां स्नुश्छन्दसि (अ० ३।२।१३९) इति वार्त्तिकं त्वत्र भाष्येऽनाश्रितमिति बहुल-वचनादेव सिद्धिरिति भावः ।।

---

* 'हरितवर्णाः केशा इव केशाः प्रकाशाः' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धित इति ।।

समूहः (वधः) हन्ति येन (प्रहेतिः) प्रकृष्टो हेतिर्वज्र[1] इव वर्त्तमानः (तेभ्यः) (नमः) वज्रः[2] (अस्तु) (ते) (नः) अस्मान् (अवन्तु) रक्षन्तु (ते) (नः) अस्मान् (मृडयन्तु) आनन्दयन्तु (ते) रक्षका वयम् (यम्) हिंसकम् (द्विष्मः) विरुन्ध्मः (यः) (च) (नः) अस्मान् (द्वेष्टि) विरुणद्धि (तम्) (एषाम्) पशूनाम् (जम्भे) †जम्भन्ति गात्राणि विनामयन्ति येन मुखेन तस्मिन् (दध्मः) संस्थापयामः। [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।१६ व्याख्यातः] ॥१५॥

अन्वयः—योऽयं पुरो हरिकेशः सूर्य्यरश्मिरस्ति, तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्याविवापरौ रश्मी वर्तेते। तस्य पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ वर्तेते। ये दंक्षणवः पशवः सन्ति तेषामुपरि हेतिर्वज्रः पततु। ये पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिव वर्तमानाः सन्ति, तेभ्यो नमोऽस्तु। ये धार्मिका राजादय सभ्या राजपुरुषाः सन्ति, ते नोऽवन्तु। ते नो मृडयन्तु, ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि, तमेषां जम्भे दध्मः ॥१५॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा सूर्य्यस्य रश्मिर्हरितोऽस्ति, तेन साकं रक्तपीतादयः किरणा वर्त्तन्ते, तथा सेनानीग्रामण्यौ वर्त्तित्वा रक्षकौ भवेताम्। यथा राजादयः सिंहादिहिंसकान् पशून्निरुध्य गवादीन् रक्षन्ति, तथैव विद्वांसः सुशिक्षयाऽस्मान् सर्वान् मनुष्यान् §अधर्मानुष्ठानान्निरुध्य धर्म्ये कर्मणि वर्त्तयित्वा द्वेष्टॄन् निवारयन्तु। इदमपि वसन्तर्तोर्व्याख्यानम् ॥१५॥

---

१. हेतिरिति वज्रनाम। निघ० २।२०॥

२. नम इति वज्रनाम। निघ० २।२०॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुर) सप्तम्यर्थे वर्त्तमानात् पूर्वशब्दात् पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (अ० ५।३।३९) इति 'असिः' प्रत्ययः 'पुर्' आदेशश्च। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (अ० १।१।३८) इत्यव्ययत्वेन विभक्तेर्लुक्॥

(हरिकेशः) हरितवर्णाः केशा हरिकेशाः। हरिकेशा इव केशा यस्येति सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च (अ० २।२।२४ भा० वा०) इति समासोत्तरपदलोपौ। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। हरिशब्द आद्युदात्तः पूर्वं (यजु० ३।५१) व्याख्यातः॥

(सूर्यरश्मि) षष्ठीतत्पुरुषे समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते दासीभाराणाञ्च (अ० ६।२।४२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। सूर्यशब्दः राजसूयसूर्य० (अ० ३।१।११४) इति 'क्यप्' प्रत्ययान्तो निपातितः। क्यपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः। बहुव्रीहिसमासे तु बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इत्येव पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

(रथगृत्सः) षष्ठीतत्पुरुषः समासः। समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तः॥

(रथौजाः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। रथशब्दो हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ०

---

† साम्प्रतिकानां मते 'जम्भयन्ति' इति स्यात्॥

§ 'अधर्मानुष्ठानान्निरुध्य धर्म्ये कर्मणि वर्त्तयित्वा' इति पाठः ककोशे नास्ति, ककोशे प्रवर्द्धितः। तथैव च भाषापदार्थेऽपि॥

अब किरण आदि के दृष्टान्त से श्रेष्ठ विद्या का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—जो (अयम्) यह (पुरः) पूर्वकाल में वर्त्तमान (हरिकेशः) हरितवर्ण केश के समान हरणशील और क्लेशकारी ताप से युक्त (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणें हैं, (तस्य) उनका (रथगृत्सः) बुद्धिमान् सारथि (च) और (रथौजाः) रथ के ले चलने के वाहन (च) इन दोनों के तथा (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्राम के अध्यक्ष के समान अन्य प्रकार के भी किरण होते हैं, उन किरणों की (पुञ्जिकस्थला) सामान्य प्रधान दिशा (च) और (क्रतुस्थला) प्रज्ञाकर्म को जताने वाली उपदिशा (च) ये दोनों (अप्सरसौ) प्राणों में चलने वाली अप्सरा कहाती हैं, जो (दङ्क्ष्णवः) मांस और घास आदि पदार्थों को खाने वाले व्याघ्र आदि (पशवः) हानिकारक पशु हैं, उनके ऊपर (हेतिः) बिजुली गिरे। जो (पौरुषेयः) पुरुषों के समूह (वधः) मारने वाले और (प्रहेतिः) उत्तम वज्र के तुल्य नाश करने वाले हैं (तेभ्यः) उनके लिये (नमः) वज्र का प्रहार (अस्तु) हो। और जो धार्मिक राजा आदि सभ्य राजपुरुष हैं (ते) वे उन पशुओं से (नः) हम लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें। (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें। (ते) वे रक्षक हम लोग (यम्) जिस हिंसक से (द्विष्मः) विरोध करें (च) और (यः) जो हिंसक (नः)

---

२१२) इति 'क्थन्'प्रत्ययान्तो, नित्त्वादाद्युदात्तः॥

(सेनानीग्रामण्यौ) द्वन्द्वे समासे **समासस्य** (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तः 'सेनानीग्रामणी' शब्दः। सुप्यनुदात्ते परतो यणादेशे कृते **उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य** (अ० ८।२।४) इति विभक्तेः स्वरितत्वम् ॥

(पुञ्जिकस्थला, क्रतुस्थला) षष्ठीसमासे **समासस्य** (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(अप्सरसौ) अप्सु प्राणेषु सरत इत्यप्सरसौ, **अप्सराः** (उ० ४।२३७) इति 'असिः' प्रत्ययान्तो निपातितः। **उपपदमतिङ्** (अ० २।२।१६) इति समासः। **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३६) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण रेफाकार उदात्तः। अजमेरमुद्रिते उणादिकोशे **सरतेरप्पूर्वादसिः** इति वृत्तिरूपः पाठो दृश्यते, सोऽपपाठः ॥

(दङ्क्ष्णवः) **स्यादंशिभ्यां स्नुश्छन्दसि** (अ० ३।२।१३६ वा०) इति 'स्नुः'। प्रत्ययस्वरः। वार्त्तिकमिममनाश्रित्य आचार्यपादैर्बाहुलकात् सिद्धिरुक्ता, इति बोध्यम् ॥

(हेतिः) पूर्वं (यजु० १५।१०) व्याख्यातः ॥

(पौरुषेयः) **पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्** (अ० ५।१।१० वा०) इति समूहार्थे 'ढञ्' प्रत्ययः। **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (अ० ७।१।२) इत्येयादेशः। **तद्धितेष्वचामादेः** (अ० ७।२।११७) इत्यादिवृद्धिः। **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अ० ६।१।१६७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(वधः) **हनश्च वधः** (अ० ३।३।७६) इत्यप् प्रत्ययो वधादेशश्च। प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरे प्राप्ते **उञ्छादीनां च** (अ० ६।१।१६०) इत्यन्तोदात्तत्वम्। तदुक्तं काशिकायां (अ०६।१।१६०) —'**जपव्यध इत्यबन्तौ तयोर्धातुस्वरः प्राप्तः। केचित्तु वध इति पठन्ति**' ॥

(प्रहेतिः) **तादौ च निति कृत्यतौ** (अ० ६।२।५०) इति पूर्वपदस्य गतेः प्रकृतिस्वरः॥

(द्विष्मः, द्वेष्टि) **यद्वृत्तान्नित्यम्** (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे प्रत्ययस्वरः। द्वेष्टि इत्यत्र तु प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

हम से (द्वेष्टि) विरोध करे, (तम्) उसको हम लोग (एषाम्) इन व्याघ्रादि पशुओं के (जम्भे) मुख में (दध्मः) स्थापन करें ॥१५॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे सूर्य के किरण हरे वर्ण वाले हैं, उस के साथ लाल पीले आदि वर्ण वाले भी किरण रहते हैं, वैसे ही सेनापति और ग्रामाध्यक्ष बल के रक्षक होवें। जैसे राजा आदि पुरुष मृत्यु के हेतु सिंह आदि पशुओं को रोक के गौ आदि पशुओं की रक्षा करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अच्छी शिक्षा अधर्माचरण से पृथक् रख धर्म में चला के हम सब मनुष्यों की रक्षा करके द्वेषियों का निवारण करें। यह भी सब वसन्त ऋतु का व्याख्यान है ॥१५॥

अयं दक्षिणेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। ग्रीष्मर्तुर्देवता। प्रकृतिश्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह॥

अ॒यं द॑क्षि॒णा वि॒श्वक॑र्मा॒ तस्य॑ रथस्व॒नश्च॒ रथे॑चित्रश्च सेनानीग्राम॒ण्यौ॑। मे॒नका॑ च॑ सहज॒न्या चा॑प्स॒रसौ॑ यातु॒धाना॑ हे॒ती रक्षा॑ᳫंसि॒ प्रहे॑ति॒स्तेभ्यो॒ नमो॑ऽ अस्तु ते नो॑ऽवन्तु ते नो॑ मृडयन्तु ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां॒ जम्भे॑ दध्मः॥१६॥

अ॒यम्। द॒क्षि॒णा। वि॒श्वक॒र्मेति॑ वि॒श्वऽक॑र्मा। तस्य॑। र॒थ॒स्व॒न इति॑ रथऽस्व॒नः। च॒। रथे॑चित्र॒ इति॑ रथे॑ऽचित्रः। च॒। से॒ना॒नी॒ग्रा॒म॒ण्यौ॑। से॒ना॒नी॒ग्रा॒म॒न्या॒विति॑ सेनानीग्राम॒न्यौ॑। मे॒नका॑। च॒। स॒ह॒ज॒न्येति॑ सहऽज॒न्या। च॒। अ॒प्स॒रसौ॑। या॒तु॒धाना॒ इति॑ या॒तु॒ऽधाना॑ः। हे॒तिः। रक्षा॑ᳫंसि। प्रहे॑ति॒रिति॑ प्रऽहे॑तिः। तेभ्यः॑। नमः॑। अ॒स्तु॒। ते। नः॒। अ॒व॒न्तु॒। ते। नः॒।। मृ॒ड॒य॒न्तु॒। ते। यम्। द्वि॒ष्मः। यः। च॒। नः॒। द्वेष्टि॑। तम्। ए॒षाम्। जम्भे॑। द॒ध्म॒ः॥१६॥

पदार्थः—(अयम्) (दक्षिणा[1]) दक्षिणतः (विश्वकर्मा) विश्वानि सर्वाणि कर्माणि

(एषाम्) इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ (अ० २।४।३२) इति 'अश्' आदेशोऽनुदात्तः। विभक्तिश्च अनुदात्तौ सुप्पितौ (अ० ३।१।४) इत्यनुदात्ता। तदेवं सर्वानुदात्तं पदम्॥

(जम्भे) जभिजृभि गात्रविनामे (भ्वा० आ०) हलश्च (अ० ३।३।१२१) इति करणे 'घञ्'। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम्॥१५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

१. दक्षिणादाच् (अ० ५।३।३६) इति 'आच्' प्रत्ययः॥

यस्मात्स [1]वायुः (तस्य) (रथस्वनः) [2]रथस्य स्वनः शब्द इव शब्दो यस्य सः (च) (रथेचित्रः) रथे रमणीये चित्राण्याश्चर्य्यरूपाणि चिह्नानि यस्य सः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) (मेनका[3]) यया मन्यते सा (च) (सहजन्या) सहोत्पन्ना (च) (अप्सरसौ) ये [4]अप्स्वन्तरिक्षे *सरतस्ते (यातुधानाः) प्रजापीडकाः (हेतिः) वज्रः (रक्षांसि) दुष्टकर्मकारिणः (प्रहेतिः) (तेभ्यः) (नमः) वज्रः (अस्तु) (ते) (नः) अस्मान् (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) सुखयन्तु (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (नः) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) वायूनाम् (जम्भे) व्याघ्रस्य मुख इव[5] कष्टे† (दध्मः) । [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।१७-१८ व्याख्यातः] ॥१६॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा योऽयं विश्वकर्मा वायुर्दक्षिणा [6]वाति, तस्य वायो रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्याविव वर्त्तमाने मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ वर्त्तेते । ये यातुधानाः सन्ति तेषामुपरि हेतिः, यानि रक्षांसि वर्त्तन्ते तेषामुपरि प्रहेतिरिव तेभ्यो

---

१. अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवते । श० ८।६।१।१७ ॥

२. रथः=रममाणोऽस्मिस्तिष्ठतीति वा । निरु० ६।११ ॥

३. नशिमन्योरलिट्येत्वं वक्तव्यम् (अ० ६।४।१२० वा०) इति वार्त्तिकेनात्र 'एत्वम्' । तथैव 'शब्दकल्पद्रुमकोशः' (पृ० ७८१) ॥

४. 'आपः' इत्यन्तरिक्ष नाम । निघ० १।३ ॥

५. औपमिकोऽयं जम्भशब्दप्रयोगः, तेन 'कष्टे' इति तात्पर्यम् ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दक्षिणा) पूर्व (यजु० १३।५५) व्याख्यातः ॥

(रथस्वनः) सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च (अ० २।२।२४ वा०) इति समासः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१९९ वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(रथेचित्रः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । रथशब्दः 'क्थन्' प्रत्ययान्तो, नित्स्वरेणाद्युदात्तो व्याख्यातः पश्चिमे मन्त्रे ! हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् (अ० ६।३।९) इत्यलुक् सप्तम्याः ॥

(मेनका) मन्यतेः बहुलमन्यत्रापि (उ० २।३७) इति 'क्वुन्' । युवोरनाकौ (अ० ७।१।१) इत्यकादेशः । नशिमन्योरलिट्येत्वं छन्दस्यमिपचोरपि (अ० ६।४।१२० वा०) इत्यकारस्यैत्वम् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते स्वरव्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम् । टाप्येकादेशः । न यासयोः (अ० ७।३।४५) इत्यत्र क्षिपकादीनां चोपसंख्यानम् (अ० ७।३।४५ वा०) इत्युक्तेरित्त्वाभावः ॥

(सहजन्या) जायते इति जन्या : भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा (अ० ३।४।६८) इति कर्त्तरि कृत्यः । 'सह सुपा' (अ० २।१।४) इति समासः । समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(यातुधानाः) पूर्व (यजु० १३।७) व्याख्यातः ॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

६. तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति । श० ८।६।१।१७ ॥१६॥

---

* 'चरतस्ते' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

† 'कष्टे' इति कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे एव संशोधितः स्यात् ॥

नेमोस्त्विति कृत्वा शिक्षका न्यायाधीशास्ते नोऽवन्तु, ते नो मृडयन्तु । ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां वायूनां जम्भे दध्मस्तथा प्रयतध्वम् ॥१६॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—ये स्थूलसूक्ष्ममध्यस्थस्य वायोरुपयोगं कर्त्तुं जानन्ति, ते शत्रून्निवार्य्य सर्वानानन्दयन्ति । इदमपि ग्रीष्मर्त्तोः शिष्टं व्याख्यानं वेद्यम् ॥१६॥

फिर भी वैसा ही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (अयम्) यह (विश्वकर्मा) सब चेष्टारूप कर्मों का हेतु वायु (दक्षिणा) दक्षिण दिशा से चलता है, (तस्य) उस वायु के (रथस्वनः) रथ के शब्द के समान शब्द वाला (च) और (रथेचित्रः) रमणीय रथ में चिह्नयुक्त आश्चर्य कार्यों का करने वाला (च) ये दोनों (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामाध्यक्ष के समान वर्त्तमान (मेनका) जिस से मनन किया जाय वह (च) और (सहजन्या) एक साथ उत्पन्न हुई (च) ये दोनों (अप्सरसौ) अन्तरिक्ष में रहने वाली किरणादि अप्सरा हैं, जो (यातुधानाः) प्रजा को पीड़ा देने वाले हैं, उन के ऊपर (हेतिः) वज्र, जो (रक्षांसि) दुष्ट कर्म करने वाले हैं उन के ऊपर (प्रहेतिः) प्रकृष्ट वज्र के तुल्य (तेभ्यः) उन प्रजापीड़क आदि के लिये (नमः) वज्र का प्रहार (अस्तु) हो। ऐसा करके जो न्यायाधीश शिक्षक हैं (ते) वे (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें। (ते) वे (नः) हमको (मृडयन्तु) सुखी करें। (ते) वे हम लोग (यम्) जिस दुष्ट से (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो दुष्ट (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे (तम्) उस को (एषाम्) इन वायुओं के (जम्भे) व्याघ्र के समान मुख [रूप कष्ट] में (दध्मः) धारण करते हैं, वैसा प्रयत्न करो ॥१६॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जो स्थूल सूक्ष्म और मध्यस्थ वायु से उपयोग लेने को जानते हैं, वे शत्रुओं का निवारण करके सब को आनन्दित करते हैं। यह भी ग्रीष्म ऋतु का शेष व्याख्यान है, ऐसा जानो ॥१६॥

अयं पश्चादित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । वर्षर्तुर्देवता । विराट् कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह ॥

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽ अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१७॥

अयम् । पश्चात् । विश्वव्यचा इति विश्वऽव्यचाः । तस्य । रथप्रोत इति रथऽप्रोतः । च । असमरथ इत्यसमऽरथः । च । सेनानीग्रामण्यौ । सेनानीग्रामण्याविति सेनानीग्रामण्यौ ।। प्रम्लोचन्तीति प्रऽम्लोचन्ती । च । अनुम्लोचन्तीत्यनुऽम्लोचन्ती । च । अप्सरसौ । व्याघ्राः । हेतिः । सर्पाः । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥१७॥

पदार्थः—(अयम्) (पश्चात्) (विश्वव्यचाः) विश्वं विचति व्याप्नोति स विद्युद्रूपोऽग्निः[1] (तस्य) (रथप्रोतः) रथो रमणीयस्तेज समूहः प्रोतो व्यापितो येन सः (च) (असमरथः) अविद्यमानः समो रथो यस्य सः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) एताविव (प्रम्लोचयन्ती) प्रकृष्टतया सर्वानोषध्यादिपदार्थान् म्लोचयन्ती (च) (अनुम्लोचन्ती) अनुम्लोचयन्ती दीप्तिः (च) (अप्सरसौ) (व्याघ्राः) सिंहाः (हेतिः) (सर्पाः) ये सर्पन्ति तेऽहयः (प्रहेतिः) (तेभ्यः) (नमः) (अस्तु) (ते) (नः) (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (नः) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) (जम्भे) (दध्मः) । [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।१८ व्याख्यातः] ।।१७।।

अन्वयः--हे मनुष्याः ! यथाऽयं पश्चाद्विश्वव्यचा अस्ति, तस्य सेनानीग्रामण्याविव रथप्रोतश्चासमरथश्च प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ स्तः । यथा हेतिः प्रहेतिर्व्याघ्राः सर्पाश्च सन्ति तेभ्यो नमोऽस्तु । य एतेभ्यो रक्षकास्ते नोऽवन्तु, ते नो मृडयन्तु । ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि यमेषां जम्भे दध्मस्तं तेऽपि धरन्तु ।।१७।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—इदं वर्षर्तोः शिष्टं व्याख्यानम्,अस्मिन् युक्ताहारविहारौ मनुष्यैः कार्य्यौ ।।१७

फिर वैसा ही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (अयम्) यह (पश्चात्) पीछे से (विश्वव्यचाः) विश्व में व्याप्त बिजुलीरूप अग्नि है, [(तस्य)] उस के (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामपति के समान (रथप्रोतः) रमणीय तेजःस्वरूप में व्याप्त (च) और (असमरथः) जिस के समान दूसरा रथ न हो वह (च) ये दोनों (प्रम्लोचन्ती) अच्छे प्रकार सब ओषधि आदि पदार्थों को शुष्क कराने वाली (च) तथा (अनुम्लोचन्ती) पश्चात् ज्ञान का हेतु प्रकाश (च) ये दोनों (अप्सरसौ*) क्रियाकारक आकाशस्थ किरण

१. शतपथे (८।६।१।१८) तु 'असौ वा आदित्यो विश्वव्यचाः' इत्युक्तम् । 'तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्याविति वार्षिकौ तावृतू' (श० ८।६।१।१८) इति शतपथवाक्येन सम्बन्धोऽनुसन्धेयः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पश्चात्, विश्वव्यचाः) पूर्व (यजु० १३।५६) व्याख्यातौ ।।

(रथप्रोतः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।

* '(अप्सरसौ) किरण क्रियाकारक (व्याघ्रः) सिंहों के तथा' इति पाठः कगकोशयोरासीत्, स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ।।

हैं, जैसे (हेतिः) साधारण वज्र के तुल्य तथा (प्रहेतिः) उत्तम वज्र के समान (व्याघ्राः) सिंहों के तथा (सर्पाः) सर्पों के समान प्राणियों को दुःखदायी जीव हैं, (तेभ्यः) उन के लिये (नमः) वज्रप्रहार (अस्तु) हो। और जो इन पूर्वोक्तों से रक्षा करें (ते) वे (नः) हमारे (अवन्तु) रक्षक हों। (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें। तथा (ते) वे हम लोग (यम्) जिस से (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो दुष्ट (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे, जिस को हम (एषाम्) इन सिंहादि के (जम्भे) मुख में (दध्मः) धरें, (तम्) उस को वे रक्षक लोग भी सिंहादि के मुख में धरें ॥१७॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—यह वर्षा ऋतु का शेष व्याख्यान है। इस में मनुष्यों को नियमपूर्वक आहार विहार करना चाहिये ॥१७॥

अयमुत्तरादित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। शरदृतुर्देवता। भुरिगतिधृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह ॥

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१८॥

अयम्। उत्तरात्। संयद्वसुरिति संयत्ऽवसुः। तस्य। तार्क्ष्यः। च। अरिष्टनेमिरित्यरिष्टऽनेमिः। च। सेनानीग्रामण्यौ। सेनानीग्रामन्याविति सेनानीग्रामन्यौ॥ विश्वाची। च। घृताची। च। अप्सरसौ।

रथशब्द आद्युदात्तः पूर्वं व्याख्यातः॥

(असमरथः) न समः असमः, असमः रथो यस्येति बहुव्रीहिः। **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। असमशब्दः **तत्पुरुषे तुल्यार्थ०** (अ० ६।२।२) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः॥

(प्रम्लोचन्ती, अनुम्लोचन्ती) अन्तर्भावितण्यर्थात् म्लोचतेः 'शतृ'। शप्। **तास्यनुदात्तेन्ङिदुप०** (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। गतिसमासे **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। ततो 'ङीप्'। तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः॥

(व्याघ्रः) पूर्वं (यजुः १३।९) व्याख्यातः॥

(सर्पाः) सर्पतेः पचाद्यच्। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥१७॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

आपः । हेतिः । वातः । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥१८॥

पदार्थः--(अयम्) ([1]उत्तरात्) (संयद्वसुः) यज्ञस्य संगतिकरणः[2] (तस्य) (तार्क्ष्यः) तीक्ष्णतेजःप्रापक आश्विनः (च) (अरिष्टनेमिः) अरिष्टानि दुःखानि दूरे नयति स कार्तिकः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) एतद्वद्वर्तमानौ (विश्वाची) या विश्वं सर्वं जगदञ्चति व्याप्नोति सा (च) (घृताची) घृतमाज्यमुदकं वाऽञ्चति प्राप्नोति सा दीप्तिः (च) (अप्सरसौ) अप्सु प्राणेषु सरन्त्यौ गती (आपः) (हेतिः) वृद्धिः[3] (वातः) प्रियः पवनः (प्रहेतिः[3]) प्रकर्षेण वर्द्धकः (तेभ्यः) (नमः) (अस्तु) (ते) (नः) (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (नः) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) (जम्भे) (दध्मः) । [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।१९ व्याख्यातः] ॥१८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथायमुत्तरात्संयद्वसुरिव शरदृतुरस्ति, तस्य सेनानी-ग्रामण्याविव तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ स्तः । यत्राऽऽपो हेतिरिव वर्तिका[4] वातः प्रहेतिरिवानन्दप्रदो भवति, तं ये युक्त्या सेवन्ते तेभ्यो नमोऽस्तु । ते नोऽवन्तु, ते नो मृडयन्तु । ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि, तमेषामब्वातानां जम्भे दध्मस्तथा यूयं वर्तध्वम् ॥१८॥

---

१. उत्तराधरदक्षिणादातिः (अ० ५।३।३४) इति 'आतिः' प्रत्ययः ॥

२. अथ यत् संयद्वसुरित्याह, यज्ञं हि संयन्तीति इदं वस्विति । श० ८।६।१।१९ ॥

३. हि गतौ वृद्धौ च (स्वा० प०) ॥

४. 'वर्तन्ते' इति वर्त्तिकाः, वर्त्तमाना इत्यर्थः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(उत्तरात्) उत्तराधरदक्षिणादातिः (अ० ५।३।३४) इत्यातिः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणा-न्तोदात्तत्वम् ॥

(संयद्वसुः) एतेः शतृप्रत्यये 'यत्' इति रूपम् । ततो गतिसमासः । संयत् वसु यस्मात् स संयद्वसुः । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । तत्र संयच्छब्दः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । व्यधिकरणोऽयं बहुव्रीहि शतपथानुरोधाद् व्याख्यातः ॥

(तार्क्ष्यः) तृक्ष गतौ (भ्वा० प०) तृक्षतीति तृक्षः । पचाद्यच् । तृक्ष एव तार्क्षः । स्वार्थिकोऽण् । तत्र साधुः (अ०४।४।९८) इति 'यत्' । यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अरिष्टनेमिः) नियो मिः (उ० ४। ४३) इति 'मिः' । नेमिः नयनम् । बाहुलकाद् भावे प्रत्ययः । अरिष्टानां नेमि येन यस्माद् वा सोऽरिष्टनेमि । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । भाष्यन्त्वर्थप्रदर्शनपरमिति बोध्यम् । यद्वा—तत्पुरुष एव समासः । दासिभाराणां च (अ० ६।२।४२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अरिष्ट शब्दः पूर्वं (यजु० २।१३) व्याकृतः ॥

(विश्वाची) ऋत्विग्दधृक् (अ० ३।२। ५९) इति 'क्विन्' । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् (अ० ४।१।६ भा० वा०) इति 'ङीप्' । अचः (अ० ६।४।१३८) इत्यकारलोपः । चौ (अ० ६।३।१३८) इति दीर्घत्वम् । उ॰ (अ० ६।१।२२२) इति वकारस्योदात्तत्वम् ॥

(घृताची) पूर्वं (यजु० २।६) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—इदं 'शरदृतोः शिष्टं व्याख्यानम् । अस्मिन्नपि मनुष्यैर्युक्त्या प्रवर्त्तितव्यम् ॥१८॥

फिर भी वैसा ही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (अयम्) यह (उत्तरात्) उत्तर दिशा से (संयद्वसुः) यज्ञ को संगत करनेहारे के तुल्य शरद ऋतु है, (तस्य) उस के (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामाध्यक्ष के समान (तार्क्ष्यः) तीक्ष्ण तेज को प्राप्त कराने वाला आश्विन (च) और (अरिष्टनेमिः) दुःखों को दूर करने वाला कार्त्तिक (च) ये दोनों (विश्वाची) सब जगत् में व्यापक (च) और (घृताची) घी वा जल को प्राप्त कराने वाली दीप्ति (च) ये दोनों (अप्सरसौ) प्राणों की गति हैं । जहां (आपः) जल (हेतिः) वृद्धि के तुल्य वर्त्तने और (वातः) प्रिय पवन (प्रहेतिः) अच्छे प्रकार बढ़ानेहारे के समान आनन्ददायक होता है । उस वायु को जो लोग युक्ति के साथ सेवन करते हैं (तेभ्यः) उनके लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो । (ते) वे (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें, (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें । (ते) वे हम (यम्) जिससे (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे, (तम्) उस को (एषाम्) इन जल वायुओं के (जम्भे) *दुःखदायी गुणरूप मुख में (दध्मः) धरें, वैसे तुम लोग भी वर्तो ॥१८॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—यह शरद् ऋतु का शेष व्याख्यान है । इस में भी मनुष्यों को चाहिये कि युक्ति के साथ कार्यों में प्रवृत्त हों ॥१८॥

अयमुपरीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । हेमन्तर्तुर्देवता । निचृत्कृतिश्छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह ॥

अयमुपर्य्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ । उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽ अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१९॥

१. 'तस्य (यज्ञस्य) तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्याविति शारदौ तावृतू' । श० ८।६।१।१९ ॥१८॥

* 'दुःखदायी गुणरूप' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्धितः ॥

अयम् । उपरि । अर्वाग्वसुरित्यर्वाक्ऽवसुः । तस्य । सेनजिदिति सेनऽजित् । च । सुषेणः । सुसेन इति सुऽसेनः । च । सेनानीग्रामण्यौ । सेनानीग्रामन्याविति सेनानीग्रामन्यौ ॥ उर्वशी । च । पूर्वचित्तिरिति पूर्वऽचित्तिः । च । अप्सरसौ । अवस्फूर्जन्नित्यवऽस्फूर्जन् । हेतिः । विद्युदिति विऽद्युत् । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥१९॥

पदार्थः—(अयम्) (उपरि) वर्त्तमानः (अर्वाग्वसुः) अर्वाग्वृष्टेः पश्चाद्वसु धनं यस्मात्स [1]हेमन्तर्तुः (तस्य) (सेनजित्) यः सेनया जयति सः । अत्र ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् [अ० ६।३।६३] इति ह्रस्वत्वं च (सुषेणः) शोभना सेना यस्य सः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) एतद्वद्वर्त्तमानौ मार्गशीर्षपौषौ मासौ (उर्वशी) उरु बहु अश्नाति यया सा दीप्तिः (च) (पूर्वचित्तिः) पूर्वा प्रथमा चित्तिः संज्ञानं यस्याः सा (च) (अप्सरसौ) (अवस्फूर्जन्) अर्वाचीनं घोषं कुर्वन् (हेतिः) [2]वज्रघोषः (विद्युत्) (प्रहेतिः) प्रकृष्टो वज्रइव (तेभ्यः) (नमः) (अस्तु) (ते) (नः) (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (न) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) (जम्भे) (दध्मः) । [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।२० व्याख्यातः] ॥१९॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽयमुपरि वर्त्तमानोऽर्वाग्वसुर्हेमन्तर्तुरस्ति, तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविव मार्गशीर्षपौषौ मासावुर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिश्चास्ति तेभ्यो नमोऽन्नमस्तु । ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु । ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मस्तं यूयमपि तथा विदधत ॥१९॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

---

१. अथ यदर्वाग्वसुरित्याहातो ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते, तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविति हैमन्तिकौ तावृतू । श० ८।६।१।२० ॥

२. हेतिरिति वज्रनाम । निघ० २।२० । उपचारादयमर्थो बोध्यः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अर्वाग्वसुः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । 'अर्वाच्' शब्दः ऋत्विग्दधृक्० (अ० ३।२।५९) इति क्विन्प्रत्ययान्तः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण धात्वकार उदात्तः । तत एकादेशोऽप्युदात्तः ॥

(सेनजित्) सत्सूद्विष० (अ० ३।२।६१)इति 'क्विप्' । तुगागमः ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (अ० ६।३।६३) इतिपूर्वपदह्रस्वत्वम । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सुषेणः) सह इनेन वर्त्तते इति सेना । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ३।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । वोपसर्जनस्य (अ० ३।३।८२) इति सादेशः, स चोदात्त इति सेनाशब्द आद्युदात्तः । शोभना सेना यस्येति सुषेणः । एति संज्ञायामगात् (अ० ८।३।९९) इति षत्वम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(पूर्वचित्तिः) चिती संज्ञाने अस्मात् 'क्तिन्' । ततः पूर्वशब्देन बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति

भावार्थः—इयमपि 'हेमन्तर्त्तोः शिष्टा व्याख्या। इममृतुं मनुष्या युक्त्या सेवित्वा बलिष्ठा भवन्तु ॥१६॥

फिर भी वैसा ही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (अयम्) यह [हेमन्त ऋतु] (उपरि) ऊपर वर्त्तमान (अर्वाग्वसुः) वृष्टि के पश्चात् धन का *हेतु है, (तस्य) उस के (सेनजित्) सेना से जीतने वाला (च) और (सुषेणः) सुन्दर सेनापति (च) ये दोनों (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामाध्यक्ष के तुल्य वर्त्तमान अगहन और पौष महीने, (उर्वशी) बहुत खाने का हेतु आन्तर्य दीप्ति (च) और (पूर्वचित्तिः) आदि ज्ञान का हेतु (च) ये दोनों (अप्सरसौ) प्राणों में रहने वाली (अवस्फूर्जन्) भयंकर घोष करते हुये (हेतिः) वज्र के तुल्य (विद्युत्) बिजुली के चलानेहारे और (प्रहेतिः) उत्तम वज्र के समान रक्षक प्राणी हैं, (तेभ्यः) उन के लिये (नमः) अन्नादि पदार्थ (अस्तु) मिलें। (ते) वे (नः) हम लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें, (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें। (ते) वे हम लोग (यम्) जिस दुष्ट से (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे, (तम्) उस को हम लोग (एषाम्) इन हिंसक प्राणियों के (जम्भे) मुख में (दध्मः) धरें, वैसे तुम लोग भी उस को धरो ॥१६॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—यह भी हेमन्त ऋतु की शेष व्याख्या है। मनुष्यों को चाहिये कि इस ऋतु का युक्ति से सेवन करके बलवान् हों ॥१६॥

पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पूर्वशब्दोऽन्तोदात्तः पूर्वं (यजु० ८।४६) व्याख्यातः। यजु० १३।४६ मन्त्रपाठे तु 'पूर्वचित्ति.' इत्येव दृश्यते, परन्तु भाष्यकृता 'पूर्वचितिः' इत्येवंविधः पाठस्तत्र व्याख्यातः ॥

(**अवस्फूर्जन्**) टुओस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे (भ्वा० प०) 'शतृ'। 'शप्'। तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे स एव स्वरः ॥

(**विद्युत्**) विपूर्वाद् द्योततेः भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जि० (अ० ३।२।१७७) इति 'क्विप्'। गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥ **इति व्याकरण प्रक्रिया ॥**

१. **तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविति हैमन्तिकौ तावृतू।** श० ८।६।१।२० ॥१६॥

---

* 'धन का हेतु हेमन्त ऋतु' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः स्यादिति ध्येयम्। अस्माभिः 'हेमन्त ऋतु' इत्येते पदे योग्यत्वात् पूर्वं प्रवर्द्धिते ॥

अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः।
षड्जः स्वरः॥

कथं जनैर्बलं वर्धनीयमित्याह॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽ अयम्।
अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति॥२०॥

अग्निः। मूर्द्धा। दिवः। ककुत्। पतिः§। पृथिव्याः। अयम्॥ अपाम्। रेताꣳसि। जिन्वति॥२०॥

पदार्थः—(अग्निः) प्रसिद्धः पावकः (मूर्द्धा) *शिर इव सूर्यरूपेण वर्त्तमानः (दिवः) प्रकाशस्य (ककुत्पतिः[1]) दिशां पालकः (पृथिव्याः) भूमेश्च (अयम्) (अपाम्) [2]प्राणानाम् (रेतांसि) वीर्य्याणि (जिन्वति) प्रीणाति॥२०॥

अन्वयः—यथा हेमन्तर्त्तावयमग्निर्दिवः पृथिव्याश्च मध्ये मूर्द्धा ककुत्पतिः सन्नपां रेतांसि जिन्वति, तथैव मनुष्यैर्बलिष्ठैर्भवितव्यम्॥२०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैर्युक्त्या जाठराग्निं वर्धयित्वा संयमेनाहारविहारौ कृत्वा सदा बलं वर्धनीयम्॥२०॥

मनुष्यों को किस प्रकार बल बढ़ाना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—जैसे हेमन्त ऋतु में (अयम्) यह प्रसिद्ध (अग्निः) अग्नि (दिवः) प्रकाश और (पृथिव्याः) भूमि के बीच (मूर्द्धा) शिर के तुल्य† सूर्य्यरूप से वर्त्तमान (ककुत्पतिः) दिशाओं का रक्षक हो के (अपाम्) प्राणों के (रेतांसि) पराक्रमों को (जिन्वति) पूर्णता से तृप्त करता है, वैसे ही मनुष्यों को बलवान् होना चाहिये॥२०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि युक्ति से जठराग्नि को बढ़ा संयम से आहार विहार करके नित्य बल बढ़ाते रहें॥२०॥

---

१. यजु० ३।१२; १३।१४ मन्त्रभाष्ये 'ककुत्' 'पतिः' पृथक् पदे व्याख्याते। द्व्युदात्तत्वदर्शनात् पृथगेवैते पदे। अत्रैकीकृत्य कथं व्याख्यानं दृश्यत इति चिन्तनीयम्। यजु० १३।१४ मन्त्रभाष्यस्य ककोशेऽपि 'ककुहां महतां पालकः' इति पुरा पाठ आसीत् स च पश्चात् शोधितः॥

२. आपो वै प्राणाः। श० ३।८।२।४॥२०॥

---

§ अजमेरमुद्रिते 'ककुत्ऽपतिः' इत्येवं पाठो दृश्यते। स चापपाठः। यद्येकपदत्वमभिप्रेतमभविष्यत्, तर्हि 'ककुत्पतिरिति ककुत्ऽपतिः' इत्येवं पदपाठोऽभविष्यत्॥

* 'शिर इव वर्त्तमानः' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः स्यात्॥

† 'शिर के तुल्य वर्त्तमान' इति कगकोशयो पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः॥

अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनर्मनुष्यः किं कुर्यादित्याह॥

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः।
मूर्द्धा कवी रयीणाम् ॥२१॥

अयम्। अग्निः। सहस्रिणः। वाजस्य। शतिनः। पतिः॥ मूर्द्धा। कविः। रयीणाम् ॥२१॥

पदार्थः—(अयम्) (अग्निः) हेमन्ते वर्त्तमानः (सहस्रिणः) प्रशस्तासंख्यपदार्थयुक्तस्य (वाजस्य) [1]अन्नस्य (शतिनः) प्रशस्तैर्गुणैः सह शतधा वर्त्तमानस्य (पतिः) पालकः (मूर्द्धा) उत्तमांगवद्वर्त्तमानः (कविः) [2]क्रान्तदर्शनः* (रयीणाम्) धनानाम् ॥२१॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथाऽयमग्निः सहस्रिणः शतिनो वाजस्य रयीणां च पतिर्मूर्द्धा कविरस्ति, तथैव यूयं भवत ॥२१॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा विद्यायुक्तिभ्यां सेवितोऽग्निः पुष्कले धनधान्ये प्रयच्छति, तथैव सेवितः पुरुषार्थो मनुष्यान् श्रीमतः संपादयति ॥२१॥

फिर मनुष्य क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (अयम्) यह (अग्निः) हेमन्त ऋतु में वर्त्तमान (सहस्रिणः) प्रशस्त असंख्य पदार्थों से युक्त (शतिनः) प्रशंसित गुणों के सहित अनेक प्रकार वर्त्तमान (वाजस्य) अन्न तथा (रयीणाम्) धनों का (पतिः) रक्षक (मूर्द्धा) उत्तम अङ्ग के तुल्य (कविः) समर्थ है, वैसे ही तुम लोग भी हो ॥२१॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे विद्या और युक्ति से सेवन किया अग्नि बहुत अन्न धन प्राप्त कराता है, वैसे ही सेवन किया पुरुषार्थ मनुष्यों को ऐश्वर्यवान् कर देता है ॥२१॥

---

१. वाज इत्यन्ननाम। निघ० २।७॥

२. कविः क्रान्तदर्शनो भवति। निरु० १२।१३॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सहस्रिणः) तपः सहस्राभ्यां विनीनी (अ० ५।२।१०२) इति 'इनिः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः॥

(शतिनः) अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति 'इनिः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः ॥२१

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* इतोऽग्रे 'समर्थः' इति कगकोशयोः पाठः। तथैव च भाषापदार्थेऽधुनाऽपि दृश्यते। स च मुद्रणकाले संस्कृते संशोधितः स्यात् ॥

त्वामग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ।।

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ।।

त्वाम॑ग्ने॒ पुष्क॑रा॒दध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत ।
मू॒र्ध्नो विश्व॑स्य वा॒घतः॑ ।।२२।।

त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । पुष्क॑रात् । अधि॑ । अथ॑र्वा । निः । अ॒म॒न्थ॒त॒ ।। मू॒र्ध्नः । विश्व॑स्य । वा॒घतः॑ ।।२२।।

पदार्थः—(त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् (पुष्करात्) अन्तरिक्षात् । पुष्करमित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं १।३ (अधि) (अथर्वा) अहिंसकः (निः) नितराम् (अमन्थत) मथित्वा गृह्णीयात् (मूर्ध्नः) शिरोवद्वर्त्तमानस्य (विश्वस्य) समग्रस्य जगतो मध्ये (वाघतः) सुशिक्षिताभिर्वाग्भिरविद्या हन्यते येन स मेधावी । वाघत इति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३।१५।।२२।।

अन्वयः—हे अग्ने ! यथाऽथर्वा वाघतो विद्वान् पुष्करादधि मूर्ध्नो विश्वस्य च मध्येऽग्निं विद्युतं निरमन्थत, तथैव त्वां बोधयामि ।।२२।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वदनुकरणेनाकाशात् पृथिव्याश्च विद्युतं संगृह्याश्चर्य्याणि कर्माणि साधनीयानि ।।२२।।

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! जैसे (अथर्वा) रक्षक (वाघतः) अच्छी शिक्षित वाणी से अविद्या का नाश करनेहारा बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष (पुष्करात्) अन्तरिक्ष के (अधि) बीच तथा (मूर्ध्नः) शिर के तुल्य वर्त्तमान (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् के बीच अग्नि को (निरमन्थत) निरन्तर मन्थन करके ग्रहण करे, वैसे ही (त्वाम्) तुझ को मैं बोध कराता हूं ।।२२।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पुष्करात्) पूर्वं (यजु० २।३३) व्याख्यातः ।।

(अथर्वा) थुर्वी हिंसार्थः (भ्वा० प०) अस्माद् बाहुलकादौणादिकः 'कनिन्' । ततो नञ्समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।।

(मूर्द्धनः) श्वनुक्षन्पूषन्० (उ० १।१५९) इति मूर्द्धन् शब्दोऽन्तोदात्तो निपातितः । षष्ठ्येकवचने अल्लोपोऽनः (अ० ६।४।१३४) इत्यल्लोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तः ।।

(वाघतः) पूर्वं (यजु० ११।३२) व्याख्यातः ।।२२।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों‡ के समान आकाश तथा पृथिवी के सकाश से बिजुली का ग्रहण कर आश्चर्य रूप कर्मों को सिद्ध करें ।।२२।

भुव इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

पुनः स कीदृशः स्यादित्याह ।।

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ।।२३।।

भुवः । यज्ञस्य । रजसः । च । नेता । यत्र । ‡नियुद्भिरिति नियुत्ऽभिः । सचसे । शिवाभिः ।। दिवि । मूर्धानम् । दधिषे । ‡स्वर्षाम् । स्वःसामिति स्वःऽसाम् । जिह्वाम् । अग्ने । चकृषे । ‡हव्यवाहमिति हव्यऽवाहम् ।।२३।।

पदार्थः—(भुवः) भवतीति तस्य (यज्ञस्य) संगतस्य कार्यसाधकस्य व्यवहारस्य (रजसः) लोकसमूहस्य (च) (नेता) नयनकर्त्ता (यत्र) अत्र ऋचितुनु०[अ० ६।३।१३३] इति दीर्घः (नियुद्भिः) मिश्रिकामिश्रिकाभिः क्रियाभिः (सचसे) *युनक्षि (शिवाभिः) मंगलकारिणीभिः (दिवि) द्योतनात्मके स्वस्वरूपे (मूर्द्धानम्) मूर्द्धेव वर्त्तमानं सूर्य्यम् (दधिषे) †धरसि (स्वर्षाम्) स्वः सुखं सनोति ददाति यया ताम् (जिह्वाम्) वाचम् । जिह्वेति वाङ्नामसु पठितम् । निघं १।११ (अग्ने) विद्वन् (चकृषे) करोति (हव्यवाहम्) यो हव्यान् दातुमादातुं च योग्यान् रसान् वहति तम् ।।२३।।

अन्वयः—हे अग्ने ! यथाऽयमग्निर्नियुद्भिः शिवाभिः सह वर्त्तमानः भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता सन् सचते, यत्र दिवि मूर्द्धानं दधाति, हव्यवाहं स्वर्षां जिह्वां चकृषे, तथा तत्र §त्वं दिवि सचसे विद्यां दधिषे ।।२३।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथाग्निरीश्वरेण नियुक्तः सन् सर्वस्य जगतः सुखकारी वर्त्तते, तथैव विद्याग्राहका अध्यापकाः सर्वेषां जनानां सुखकारिणः सन्तीति ज्ञेयम् ।।२३।।

---

‡ 'विद्वानों के समान' इत्येव ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ।।

‡ सर्वत्र अजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।।

* 'युनक्षि' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे परिवर्द्धितः, इति ध्येयम् ।।

† 'धरति' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ।।

§ 'त्वम्' इति कगकोशयोर्नास्ति, स च मुद्रणे परिवर्द्धितः ।।

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! जैसे यह प्रत्यक्ष अग्नि (नियुद्भिः) संयोग विभाग करानेहारी क्रिया तथा (शिवाभिः) मङ्गलकारिणी दीप्तियों के साथ वर्त्तमान (भुवः) प्रगट हुए (यज्ञस्य) कार्यों के साधक संगत व्यवहार (च) और (रजसः) लोकसमूह को (नेता) आकर्षण करता हुआ सम्बन्ध कराता है, और (यत्र) जिस (दिवि) प्रकाशमान अपने स्वरूप में (मूर्द्धानम्) उत्तमाङ्ग के तुल्य वर्त्तमान सूर्य को धारण करता, और (हव्यवाहम्) ग्रहण करने तथा देने योग्य रसों को प्राप्त कराने वाली (स्वर्षाम्) सुखदायक (जिह्वाम्) वाणी को (चकृषे) प्रवृत्त करता है, वैसे तू शुभ गुणों के साथ (सचसे) युक्त होता और सब विद्याओं को (दधिषे) धारण कराता है ॥२३॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे ईश्वर ने नियुक्त किया हुआ अग्नि सब जगत् को सुखकारी होता है, वैसे ही विद्या के ग्राहक अध्यापक लोग सब मनुष्यों को सुखकारी होते हैं, ऐसा$ सब को जानना चाहिये ॥२३॥

अबोधीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः।
धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ॥

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाऽइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥२४॥

अबोधि। अग्निः। समिधेति सम्ऽइधा। जनानाम्। प्रति। धेनुमिवेति धेनुम्ऽइव। आयतीमित्याऽयतीम्। उषासम्। उषसमित्युषसम् ॥ यह्वाऽइवेति यह्वाःऽइव। प्र। वयाम्। उज्जिहाना इत्युत्ऽजिहानाः। प्र। भानवः। सिस्रते। नाकम्। अच्छ ॥२४॥

पदार्थः—(अबोधि) प्रबुध्यते (अग्निः) (समिधा) प्रदीपनसाधनैः (जनानाम्) मनुष्याणाम् (प्रति) (धेनुमिव) यथा दुग्धदां गां तथा (आयतीम्) प्राप्नुवतीम् (उषासम्) उषसं प्रभातम्। अत्र अन्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घः (यह्वा इव) महान्तो धार्मिका जना इव (प्र) (वयाम्) व्यापिकां सुखनीतिम् (उज्जिहानाः) उत्कृष्टतया प्राप्नुवन्तः (प्र) (भानवः) किरणाः ([1]सिस्रते) *प्रापयन्ति। अत्र सृधातोर्लटि शपः

१. बहुलं छन्दसि (अ० ७।४।७८) इत्यभ्यासस्ये- त्वम् इत्यपि बोध्यम् ॥

$ 'ऐसा सब को जानना चाहिये' इति ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितः, इति दिक् ॥
* 'प्राप्नुवन्ति' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ॥

श्लुर्व्यत्ययेनात्मनेपदमन्तर्गतो* ण्यर्थश्च (नाकम्) अविद्यमानदुःखमाकाशम् (अच्छ) सम्यक् ॥२४॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा समिधायमग्निरबोध्यायतीमुषासं प्रति जनानां धेनुमिवास्ति, यस्य यह्वा इव प्रवयामुज्जिहानाः प्रभानवो नाकमच्छ सिस्रते, तं सुखाय यूयं संप्रयुङ्ग्ध्वम् ॥२४॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—यथा दुग्धदात्री धेनुर्गौः संसेविता सती दुग्धादिभिः प्राणिनः सुखयति, यथाऽऽप्ता विद्वांसो विद्यादानेनाविद्यां निवार्य्य मनुष्यानुन्नयन्ति, तथैवायमग्निर्वर्त्तत इति वेद्यम् ॥२४॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (समिधा) प्रज्वलित करने के साधनों से यह (अग्निः) अग्नि (अबोधि) प्रकाशित होता है, (आयतीम्) प्राप्त होते हुये (उषासम्) प्रभात

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अबोधि) बुध अवगमने (दि० आ०) लुङि प्रथमैकवचने दीपजनबुध० (अ० ३।१।६१) इति च्लेश्चिण् । चिणो लुक् (अ० ६।४।१०४) इति 'त' लुक् । लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (अ० ६।४।७२) इत्यट्, स चोदात्तः ॥

(धेनुमिव) इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च (अ० २।१।४ भा० वा०) इति समासः, पूर्वपदप्रकृति स्वरश्च । धेनुशब्दोऽन्तोदात्तो (यजुः ५।१६) व्याख्यातः ॥

(आयतीम्) आङ्पूर्वादेतेः 'शतृ', शपो लुक् । इणो यण् (अ०६।४।८१) इति यणादेशः। गतिसमासः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । तत्र शतुः प्रत्ययस्वरेण यकार उदात्तः। ततो 'ङीप्'। शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६।१।१७३) इति 'ङीबुदात्तः' ॥

(उषासम्) पूर्वं (यजु० ३।१०) व्याख्यातः । अत्र अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३७) इति दीर्घो विशेषः ॥

(यह्वाइव) 'धेनुमिव' इतिवत् समासः स्वरश्च । तत्र शेवायह्वाजिह्वा० (उ० १।१५४) इति यह्वाशब्दोऽन्तोदात्तो निपातितः॥

(वयाम्) वी गतिव्याप्तिप्रजन० (अ० प०) पचाद्यच् । प्रत्ययस्वरेण चित्स्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वम् । स्त्रियां 'टाप्' । एकादेशः । स च एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्युदात्तः ॥

(उज्जिहानाः) ओहाङ् गतौ (जु० आ०) लटः 'शानच्'। शपः 'श्लुः'। श्लौ (अ० ६।१।१०) इति द्वित्वम् । शानचश्चित्स्वरे प्राप्ते अभ्यस्तानामादिः (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तो जिहानशब्दः । गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे स एव स्वरः ॥

(अच्छ) निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥२४॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'अन्तर्गतो ण्यर्थश्च' इति ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितः, इति ध्येयम् ॥

समय के (प्रति) समीप (जनानाम्) मनुष्यों की (धेनुमिव) दूध देने वाली गौ के समान है. जिस अग्नि के (यह्वा इव) महान् धार्मिक जनों के समान (प्र) उत्कृष्ट (वयाम्) व्यापक सुख की नीति को (उज्जिहानाः) अच्छे प्रकार प्राप्त करते हुये (प्र) उत्तम (भानवः) किरण (नाकम्) सुख को (अच्छ) अच्छे प्रकार (सिस्रते) §प्राप्त कराते हैं, उस को तुम लोग सुखार्थ संयुक्त करो ।।२४।।

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे दुग्ध देने वाली सेवन की हुई गौ दुग्धादि पदार्थों से प्राणियों को सुखी करती है, और जैसे आप्त विद्वान् विद्यादान से अविद्या का निवारण कर मनुष्यों की उन्नति करते हैं, वैसे ही यह अग्नि है ऐसा जानना चाहिये ।।२४।।

अवोचामेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

पुनः स कीदृश इत्याह ।।

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे ।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत् ।।२५।।

अवोचाम । कवये । मेध्याय । वचः । वन्दारु । वृषभाय । वृष्णे ।। गविष्ठिरः§ । नमसा । स्तोमम् । अग्नौ । दिवीवेति दिविऽइव । रुक्मम् । उरुव्यञ्चमित्युरुऽव्यञ्चम् । अश्रेत् ।।२५।।

पदार्थः—(अवोचाम) *उच्याम ([1]कवये) मेधाविने (मेध्याय) सर्वशुभलक्षण-संगताय पवित्राय (वचः) वचनम् (वन्दारु) प्रशंसनीयम् (वृषभाय) बलिष्ठाय (वृष्णे) वृष्टिकर्त्रे (गविष्ठिरः) [2]गोषु किरणेषु तिष्ठतीति (नमसा) अन्नादिना (स्तोमम्) स्तुत्यं कार्य्यम् (अग्नौ) पावके (दिवीव) यथा सूर्य्यप्रकाशे (रुक्मम्) आदित्यम् (उरुव्यञ्चम्)

१. 'कविः' इति मेधाविनाम । निघं० ३।१५ ।। २. 'गावः' इति रश्मिनाम । निघं० १।१५ ।।

§ '(सिस्रते) प्राप्त होते हैं, उस को तुम लोग सुख प्राप्ति के लिये सयुक्त करो' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः ।।

§ इतोऽग्रेऽजमेरमुद्रिते 'गविष्ठिर् इति गविऽस्थिरः' इत्यपपाठः, पदपाठेऽदर्शनात् ।।

* वच धातो 'उच्याम' इति रूपं न सिद्ध्यति । विधिलिङि 'वच्याम' आशिषि च 'उच्यास्म' इति रूपं भवति । वस्तुतस्तु रूपमिदं वचः सम्प्रसारणेन सम्पन्नस्य 'उच' धातोर्विधिलिङि विद्यते । यत्र सम्प्रसारणं भवति स धातुद्विरूपाणां धातूनामुपलक्षक इति निरुक्तकारस्य मतम् । तेन यद्यसम्प्रसारणात्मकाद् धातोः प्रयोगो नोपपन्नो भवति, तर्हि सम्प्रसारणात्मकरूपाद्धातोर्निर्वक्तव्य इति । तदुक्तम्—**तत्र सिद्धाया-मनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्** । निरुक्त २।२।।

उरुषु बहुषु विशेषेणाञ्चति तम् (अश्रेत्) श्रयेत् । अत्र विकरणस्य लुक् लङ्-प्रयोगश्च ॥२५॥

अन्वयः—वयं यथा गविष्ठिरो दिवीवोरुव्यञ्चं रुक्ममश्रेत्, तथा मेध्याय वृषभाय वृष्णे कवये वन्दारु वचोऽग्नौ नमसा स्तोमं चावोचाम ॥२५॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—विद्वद्भिः सुशीलाय शुद्धधिये विद्यार्थिने परमप्रयत्नेन विद्या देया । †यतोऽसौ विद्यामधीत्य सूर्यप्रकाशे घटपटादीन् पश्यन्निव सर्वान् यथावज्ज्ञातुं शक्नुयात् ॥२५॥

फिर वह कैसा है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हम लोग जैसे (गविष्ठिरः) किरणों में रहने वाली विद्युत् (दिवीव) सूर्यप्रकाश के समान (उरुव्यंचम्) विशेष करके बहुतों में गमनशील (रुक्मम्) सूर्य का (अश्रेत्) आश्रय करती है, वैसे (मेध्याय) सब शुभ लक्षणों से युक्त पवित्र (वृषभाय) बली (वृष्णे) वर्षा के हेतु (कवये) बुद्धिमान् के लिये (वन्दारु) प्रशंसा के योग्य (वचः) वचन को और (अग्नौ) जाठराग्नि में (नमसा) अन्न आदि से (स्तोमम्) §प्रशस्त कार्यों को (अवोचाम) कहें ॥२५॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अवोचाम) वचेर्लुङ् । अस्यतिवक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् (अ० ३।१।५२) इति च्लेरङ् । वच उम् (अ० ७।४।२०) इत्युमागमः । लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (अ० ६।४।७२) इत्यडागमः, स चोदात्तः ॥

(वन्दारु) वदि अभिवादनस्तुत्योः (भ्वा० आ०) अस्मात् शृवन्द्योरारुः (अ० ३।२।१७३) इत्यारुः प्रत्ययः ताच्छील्ये । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(वृष्णे) वृषन् शब्द आद्युदात्तः पूर्वं (यजु० ८।१०) व्याकृतः । चतुर्थ्येकवचने ऽल्लोपोऽनः (अ० ६।४।१३४) इत्यल्लोपः॥

(गविष्ठिरः) तिष्ठतीति स्थिरः । अजिर-शिशिरशिथिलस्थिर० (उ० १।५३) इति किरच्प्रत्ययान्तो निपातितः । यद्वा—'स्थिर' इति स्वतन्त्रो धातुः । तथा च निरुक्तम्······ स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य (निरु० ६।११) ततः पचाद्यच् । गवि स्थिरो गविष्ठिरः । गवियुधिभ्यां स्थिरः (अ० ८।३।९५) इति षत्वम् । अतएव वचनाच्च सप्तम्या अलुक् (द्र० काशिका ६।३।९) तत्पुरुषे तुल्यार्थ-तृतीयासप्तम्युप० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । गोशब्दो डोप्रत्ययान्त आद्युदात्तः प्रत्ययस्वरेण । अनुदात्तौ सुप्पितौ (अ० ३।१।४) इति विभक्तिरनुदात्ता ॥

(दिवीव) पूर्वं (यजु० ६।५) व्याख्यातः ॥

(रुक्मम्) रोचतेः युजिरुचितिजां कुश्च (उ० १।१४६) इति 'मक्', ककारश्चान्तादेशः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(उरुव्यञ्चम्) विपूर्वादञ्चतेः अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३।२।७५) इति 'विच्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन धात्वकार उदात्तः । यणादेशः । तत सप्तमीसमासः ।

---

† 'यतोऽसौ' इति पाठः ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

§ 'स्तुति के योग्य' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि सुशील शुद्धबुद्धि विद्यार्थी के लिये परम प्रयत्न से विद्या देवें। जिससे वह विद्या पढ़ के सूर्य के प्रकाश में घटपटादि को देखते हुये के समान §सब को यथावत् जान सके ॥२५॥

अयमिहेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वर ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽ अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥२६॥

अयम्। इह। प्रथमः। धायि। धातृभिरिति धातृऽभिः। होता। यजिष्ठः। अध्वरेषु। ईड्यः ॥ यम्। अप्नवानः। भृगवः। विरुरुचुरिति विऽरुरुचुः। वनेषु। चित्रम्। विभ्वमिति विऽभ्वम्। विशेविश इति विशेऽविशे ॥२६॥

पदार्थः—(अयम्) (इह) (प्रथमः) विस्तीर्णोऽग्निः (धायि) ध्रियते (धातृभिः) धारकैः (होता) आदाता (यजिष्ठः) अतिशयेन यष्टा (अध्वरेषु) अहिंसनीयव्यवहारेषु (ईड्यः) अन्वेषितुं योग्यः (यम्) (¹अप्नवानः) रूपवन्तः। अप्नमिति रूपनामसु पठितम्। निघ० ३।५। अत्र छान्दसो वर्णलोप [अ० ८।४।२५ वा०] इति मतोस्तलोपः (भृगवः) परिपक्वविज्ञानाः (विरुरुचुः) विरोचन्ते प्रकाशन्ते (वनेषु) ²रश्मिषु (चित्रम्) अद्भुतम् (विभ्वम्) व्यापकम् (विशेविशे) प्रजायै प्रजायै ॥२६॥

अन्वयः—य इहाध्वरेष्वीड्यो यजिष्ठो होता प्रथमोऽयमग्निर्धातृभिर्धायि, यं वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशेऽप्नवानो भृगवो विरुरुचुः, तं सर्वे मनुष्या अङ्गीकुर्युः ॥२६॥

भावार्थः—विद्वांसोऽग्निविद्यां धृत्वाऽन्येभ्यः प्रदद्युः ॥२६॥

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इति बाधित्वा 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (परि० २९) इति परिभाषा-सहकारेण पुनः गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्यस्य प्रवृत्तौ स एव स्वरः। सुब्विभक्तिरनुदात्ता ॥

(अश्रेत्) श्रिञ् सेवायाम् (भ्वा० उ०) लङ्येकवचने 'शप्'। बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इति तस्य लुक्, गुणः, अडागमः। अट्स्वरे प्राप्ते तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥२५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'अप्नवानः' पूर्वं (य० ३।१५) व्याख्यातः ॥
२. 'वनम्' इति रश्मिनाम। निघं० १।५ ॥२६॥

§ 'सब विषयों को यथावत् जानने को समर्थ होवें' इति कगकोशयो पाठः, स च मुद्रणे सशोधितः, इति ध्येयम् ॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (इह) इस जगत् में (अध्वरेषु) रक्षा के योग्य व्यवहारों में (ईड्यः) खोजने योग्य (यजिष्ठः) अतिशय करके यज्ञ का साधक (होता) घृतादि का ग्रहणकर्त्ता (प्रथमः) सर्वत्र विस्तृत (अयम्) यह प्रत्यक्ष अग्नि (धातृभिः) धारणशील पुरुषों ने (धायि) धारण किया है, (यम्) जिस को (वनेषु) किरणों में (चित्रम्) आश्चर्यरूप से (विभ्वम्) व्यापक अग्नि को (विशेविशे) समस्त प्रजा के लिये (अप्नवानः) रूपवान् (भृगवः) पूर्णज्ञानी (विरुरुचुः) विशेष करके प्रकाशित करते हैं, उस अग्नि को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥२६॥

भावार्थः—विद्वान् लोग अग्निविद्या को आप धारके दूसरों को सिखावें ॥२६॥

जनस्येत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी जगती छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

जनस्य गोपाऽ अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः ॥२७॥

जनस्य । गोपाः । अजनिष्ट । जागृविः । अग्निः । सुदक्ष इति सुऽदक्षः । सुविताय । नव्यसे ॥ घृतप्रतीक इति घृतऽप्रतीकः । बृहता । दिविस्पृशेति दिविऽस्पृशा । द्युमदिति द्युऽमत् । वि । भाति । भरतेभ्यः । शुचिः ॥२७॥

पदार्थः—(जनस्य) जातस्य (गोपाः) रक्षकः (अजनिष्ट) जातः (जागृविः) जागरूकः (अग्निः) विद्युत् (सुदक्षः[1]) सुष्ठुबलः (सुविताय) उत्पादनीयायैश्वर्याय (नव्यसे) अतिशयेन नवीनाय । अत्र *छान्दसो वर्णलोपो वा [अ० ८।२।२५ वा०] इति ईलोपः (घृतप्रतीकः) प्रतीतिकरं †जलमाज्यं वा यस्य सः (बृहता) महता (दिविस्पृशा) दिवि प्रकाशे स्पृशति येन तेन (द्युमत्) §द्यौः प्रकाशोऽस्त्यस्मिन् [2]तद्वत् (वि) (भाति) (भरतेभ्यः) आदित्येभ्यः । भरत आदित्यः । निरु० ८।१३ (शुचिः) पवित्रः ॥२७॥

१. 'दक्षः' इति बलनाम । निघ० २।९ ॥

२. 'तद्वत्' अत्र 'मतुप्' प्रत्ययः । झयः (अ० ८।२। १०) इति वत्वम् । यद्वा—वतिः प्रत्ययः ॥

* 'छान्दसो वर्णलोपः' इति कगहस्तलेखयोः, प्रथमसंस्करणे च शुद्धः पाठः । स चाग्रे प्रमादेन 'छन्दसो' इत्येवं भ्रष्ट इति वेद्यम् ॥

† 'उदकमाज्यम्' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

§ 'प्रशस्ता द्यौः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् तद्वत्' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः । तथैव च भाषापदार्थेऽपि ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो जनस्य गोपा जागृविः सुदक्षो घृतप्रतीकः शुचिरग्निर्नव्यसे सुविताय ऽजनिष्ट, बृहता दिविस्पृशा भरतेभ्यो द्युमद्विभाति, तं यूयं विजानीत ।।२७।।

भावार्थः—मनुष्यैर्यदैश्वर्यप्राप्तेरसाधारणं निमित्तं $सृष्टिस्थानां सूर्याणां कारणं विद्युत्तेजस्तद्विज्ञायोपयोक्तव्यम् ।।२७।।

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (जनस्य) उत्पन्न हुये संसार का (गोपाः) रक्षक (जागृविः) जागने रूप स्वभाव वाला (सुदक्षः) सुन्दर बल का हेतु (घृतप्रतीकः) घृत से बढ़ने हारा (शुचिः) पवित्र (अग्निः) बिजुली (नव्यसे) अत्यन्त नवीन (सुविताय) उत्पन्न करने योग्य ऐश्वर्य के लिये (अजनिष्ट) प्रकट हुआ है, और (बृहता) बड़े

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(जनस्य) कर्मणि 'घञ्', **जनिवध्योश्च** (अ० ७।३।३५) इति वृद्ध्यभावः, ञित्स्वरेणाद्युदात्तः । यद्वा—अचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते **वृषादीनां च** (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तो जनशब्दः ।।

(गोपाः) पूर्वं (यजु० ३।२३) व्याख्यातः ।।

(जागृविः) पूर्वं (यजु० ७।३) व्याख्यातः ।।

(सुदक्षः) दक्षशब्दो घञन्तो ञित्त्वादाद्युदात्तः । बहुव्रीहिसमासे **आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि** (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ।।

(सुविताय) **षु प्रसवैश्वर्ययोः** (भ्वा० प०)। **नपुंसके भावे क्तः** (अ० ३।३।११४) इति 'क्तो' भावे । छान्दस इडागमः । **अचिश्नुधातुभ्रुवां०** (अ० ६।४।७७) इत्युवङादेशः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः सुवितशब्दः । यद्वा—बाहुलकादौणादिकः 'कितच्' प्रत्ययः (उ० ४।१८६) । उवङि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ।।

(नव्यसे) नवशब्दात् **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ** (अ० ५।३।५७) इतीयसुन् प्रत्ययः । छान्दसत्वादीकारलोपः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

(घृतप्रतीकः) प्रत्येति यो येन वा स प्रतीकः । प्रति पूर्वाद् **इण् गतौ** (अ० प०) इत्यस्माद् **अलीकादयश्च** (उ० ४।२५) इतीकन् प्रत्ययः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते **दासीभाराणां च** (अ० ६।२।४२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः प्रतीकशब्दः । ततो बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहिपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । घृतशब्दोऽन्तोदात्तो व्याख्यातः (यजु० २।२२)।।

(बृहता) **बृहन्महतोरुपसंख्यानम्** (अ० ६।१।१७३ वा०) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ।।

(दिविस्पृशा) दिवि स्पृशति येन । **स्पृशोऽनुदके क्विन्** (अ० ३।२।५८) इति 'क्विन्' प्रत्ययः, **कृतो बहुलम्** (अ० ३।३।११३ वा०) इति करणे द्रष्टव्यः । उपपदसमासे **हृद्द्युभ्यां ङेः** (अ० ६।३।९ वा०) इति विभक्त्यलुक् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।।

(द्युमत्) 'दिव्' इत्यस्मात् **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (अ० ५।२।९४) इति 'मतुप्' । **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (अ० १।४।१७) इति पदत्वे, **दिव उत्** (अ० ६।१।१३१) इति वकारस्योत्वम् । मतुपः पित्त्वादनुदात्तत्वे प्राप्ते **ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्** (अ० ६।१।१७६) इत्युदात्तत्वम् ।।

(भरतेभ्यः) भृमृदृशियजि० (उ० ३।

$ 'सृष्टिस्थानां बहूनां सूर्याणां कारणं विद्युदाख्यं तेजोऽस्ति···' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः । तथैव च भाषापदार्थेऽपि ।।

(दिविस्पृशा) प्रकाश में स्पर्श से (भरतेभ्यः) सूर्यों से (द्युमत्) प्रकाशयुक्त हुआ (विभाति) शोभित होता है, उस को तुम लोग जानो ॥२७॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो ऐश्वर्य प्राप्ति का विशेष∫ कारण, सृष्टि के ‡सूर्यों का निमित्त बिजुली रूप तेज है, उसको जान के उपकार लिया करें ॥२७॥

त्वामग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

त्वाम॑ग्नेऽ आङ्गि॑र॒सो॒ गुहा॑ हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रि॒या॒णं वनें॑वने ।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः॒ सहो॑ म॒हत् त्वामा॑हुः॒ सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥२८॥

त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । अङ्गि॑रसः । गुहा॑ । हि॒तम् । अनु॑ । अ॒वि॒न्द॒न् । शि॒श्रि॒या॒णम् । वनें॑व॒न् इति॑ वनेंऽवने ॥ सः । जा॒य॒से॒ । म॒थ्यमा॑नः । सह॑ः । म॒हत् । त्वाम् । आ॒हुः॒ । सह॑सः । पु॒त्रम् । अ॒ङ्गि॒रः॒ ॥२८॥

पदार्थः—(त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् (अङ्गिरसः) विद्वांसः (गुहा) गुहायां बुद्धौ । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इति ङेर्लुक् (हितम्) हितकारिणम् (अनु) (अविन्दन्) प्राप्नुयुः (शिश्रियाणम्) श्रयन्तम् (वनेवने) रश्मौ रश्मौ पदार्थे पदार्थे वा (सः) (जायसे) (मथ्यमानः) संघृष्यमाणः (सहः) [1]बलम् (महत्) (त्वाम्) [2]तम्*

११०) इति भरतेः 'अतच्' प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(शुचिः) पूर्वं (यजु० ४।२) व्याख्यातः ॥२७॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

१. 'बलवत्' इत्यर्थः । तद्वत्युपचारः, **वत्सांसाभ्यां कामबले** (अ० ५।२।९८) इति यथा । तदेवान्वये 'सहो युक्तम्' इति व्याख्यातम् ॥

२. अत्र पुरुषव्यत्ययः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(**अङ्गिरसः**) पूर्वं (यजु० १।२८) व्याख्यातः ॥

(**गुहा**) **गुहू संवरणे** (भ्वा० आ०) **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (अ० ३।३।१०४) इत्यङ्-प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते **वृषादीनां च** (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम् । यद्वा—**गुहः कन्** (उ० ५।४६ श्वेतवनवासी) इति 'कन्' । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(**शिश्रियाणम्**) **श्रिञ् सेवायाम्** (भ्वा० उ०) । **लिटः कानज्वा** (अ० ३।२।१०६) इति कानजादेशः । द्विर्वचनमभ्यासकार्यम् ।

∫ 'असाधारण कारण' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥
‡ 'बहुत सूर्यों' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥
* 'तम्' इति पाठः ककोशे नास्ति । स च गकोशे परिवर्द्धितः ॥

(आहुः) कथयन्ति (सहसः) बलवतो वायोः (पुत्रम्) उत्पन्नम् (अङ्गिरः) †प्राणवत् प्रिय ॥२८॥

अन्वयः—हेऽङ्गिरोऽग्ने ! त्वं स मथ्यमानोऽग्निरिव विद्यया जायसे, 'यथा महत्सहो युक्तं सहसस्पुत्रं वने वने शिश्रियाणं गुहाहितं त्वामाहुरङ्गिरसोऽन्वविन्दंस्तथा' त्वामहं बोधयामि ॥२८॥

भावार्थः—द्विविधोऽग्निर्मानसो बाह्यश्चास्ति । तयोराभ्यन्तरं युक्ताभ्यामाहारविहाराभ्यां बाह्यं मन्थनादिभ्यः सर्वे विद्वांसः सेवन्ताम् । तथेतरे§ भजन्तु ॥२८॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अङ्गिरः) प्राणवत्प्रिय (अग्ने) विद्वन् ! जैसे (सः) वह (मथ्यमानः) मथन किया हुआ अग्नि प्रसिद्ध होता है, वैसे तू विद्या से (जायसे) प्रकट होता है । जिस को (महत्) बड़े (सहः) बलयुक्त (सहसः) बलवान् वायु से (पुत्रम्) उत्पन्न हुए पुत्र के तुल्य (वनेवने) किरण किरण वा पदार्थ पदार्थ में (शिश्रियाणम्) आश्रित (गुहा) बुद्धि में (हितम्) स्थित हितकारी (त्वाम्) उस अग्नि को (आहुः) कहते हैं, (अङ्गिरसः) विद्वान् लोग (अन्वविन्दन्) प्राप्त होते हैं । उस का बोध (त्वाम्) तुझे कराता हूं ॥२८॥

भावार्थः—अग्नि दो प्रकार का होता है—एक मानस और दूसरा बाह्य । इस में आभ्यन्तर को युक्त आहार विहारों से, और बाह्य को मन्थनादि से सब विद्वान् सेवन करें । ∫वैसे इतर जन भी सेवन किया करें ॥२८॥

अचिश्नुधातु० (अ० ६।४।७७) इतीयङा-देशः । कानचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(वनेवने) नित्यवीप्सयोः (अ० ८।१।४) इति द्विर्वचनम् । अनुदात्तं च (अ० ८।१।३) इति परस्यानुदात्तत्वम् । वनशब्द आद्युदात्तः पूर्वं (यजु० ३।१५) व्याख्यातः ॥

(मथ्यमानः) तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशात्० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानु-दात्तत्वे यक्स्वरः ॥

(सहसस्पुत्रम्) संहितायां षष्ठ्याः पति-पुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु (अ० ८।३।५३) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. अन्वयगते 'यथा' 'तथा' इति पदे भाषापदार्थे 'यं' 'तं' इति रूपेण व्याख्याते ॥२८॥

---

† 'अञ्चनोऽङ्गाराख्यः' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

§ अन्वयः कगकोशयोः—'हेऽङ्गिरोऽग्ने यथा स मथ्यमानोऽग्निर्जायते तथा विद्यया जायते, महत्सहोयुक्तं सहसस्पुत्रं……' इति पाठोऽस्ति । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

§ अजमेरमुद्रिते तु 'तथोत्तरे' इति पाठः । ककोशे तु 'तथेतरे' इति शुद्धः पाठः । स च गकोशे भ्रष्टः स्यात्, भाषापदार्थे तथैवोपलम्भात् ॥

∫ 'उस का सेवन इतर जन भी सदा किया करें' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः॥

सखाय इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।।

मनुष्याः कीदृशा भूत्वाग्निं विजानीयुरित्याह ।।

सखा॑यः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिषꣳ॒ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑ ।
वर्षि॑ष्ठाय क्षि॒तीना॑मू॒र्जो नप्त्रे॑ सह॑स्वते ।।२९।।

सखा॑यः । सम् । वः॒ । स॒म्यञ्च॑म् । इष॑म् । स्तोम॑म् । च॒ । अ॒ग्नये॑ ।। वर्षि॑ष्ठाय । क्षि॒तीना॑म् । ऊ॒र्जः । नप्त्रे॑ । सह॑स्वते ।।२९।।

पदार्थः—(सखायः) सुहृदः (सम्) (व) युष्माकम् (सम्यञ्चम्) यः समीचीनमञ्चति तम् (इषम्) अन्नम् (स्तोमम्) स्तुतिसमूहम् (च) (अग्नये) पावकाय (वर्षिष्ठाय) अतिवृद्धाय (क्षितीनाम्) [1]मनुष्याणाम् (ऊर्जः) बलस्य (नप्त्रे) पौत्र इव वर्त्तमानाय (सहस्वते) [2]बहुबलयुक्ताय ।।२९।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा विद्वांसः सखायः सन्तः क्षितीनां वो युष्माकमूर्जो नप्त्रे सहस्वते वर्षिष्ठायाग्नये यं सम्यञ्चमिषं स्तोमं च समाहुः, तथा यूयमनुतिष्ठत ।।२९।।

भावार्थः—अत्र पूर्वमन्त्रादाहुरित्यनुवर्त्तते । शिल्पिनः सुहृदो भूत्वा विद्वदुक्तानुकूलतया पदार्थविद्यामनुतिष्ठेयुः । *या विद्युत् कारणाख्याद्बलाज्जायते सा पुत्रवत्, याः सूर्य्यादेः† सकाशादुत्पद्यते सा पौत्रवदस्तीति वेद्यम् ।।२९।।

---

१. 'क्षितयः' इति मनुष्यनाम । निघ० २।३ ।।
२. भूम्न्यर्थे मतुब्विधानाद् बहुत्वार्थलाभः ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वर्षिष्ठाय) वृद्धशब्दात् अतिशायने तमबिष्ठनौ (अ० ५।३।५५) इति 'ष्ठन्'। प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्र० (अ० ६।४।१५७) इति वृद्धशब्दस्य वर्ष् आदेशः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।

(क्षितीनाम्) क्षि निवासगत्योः (तु० प०) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (अ० ३।३।१७४) इति 'क्तिच'। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । ततो नामन्यतरस्याम् (अ० ६।१।१७७) इति नामविभक्ते रुदात्तत्वम् ।।

(नप्त्रे) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ० (उ० २।९७) इति तृन्नन्तो निपातितः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।।२९।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

* 'या' इति पदं प्रथमसंस्करणे, कगकोशयोश्चास्ति । उत्तरत्र मुद्रणे प्रमादेन त्यक्तमिति ।।

† 'सूर्यादेः विद्युतः सकाशात्' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः । तथैव भाषापदार्थेऽपीति ध्येयम् ।।

मनुष्य लोग कैसे होकर अग्नि को जानें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थ§:- हे (सखायः) मित्रो ! (क्षितीनाम्) मननशील मनुष्य (वः) तुम्हारे (ऊर्जः) बल के (नप्त्रे) पौत्र के तुल्य वर्त्तमान (सहस्वते) बहुत बल वाले (वर्षिष्ठाय) अत्यन्त बड़े (अग्नये) अग्नि के लिये जिस (सम्यञ्चम्) सुन्दर सत्कार के हेतु (इषम्) अन्न को (च) और (स्तोमम्) स्तुतियों को (समाहुः) अच्छे प्रकार कहते हैं, वैसे तुम लोग भी उस का अनुष्ठान करो ।।२६।।

भावार्थः- यहां पूर्व मन्त्र से (आहुः) इस पद की अनुवृत्ति आती है। कारीगरों को चाहिये कि सब के मित्र होकर विद्वानों के कथनानुसार पदार्थविद्या का अनुष्ठान करें। जो बिजुली कारणरूप बल से उत्पन्न होती है वह पुत्र के तुल्य है, और जो सूर्य्यादि के सकाश से उत्पन्न होती है सो पौत्र के समान है, ऐसा जानना चाहिये ।।२६।।

संसमिदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। विराडनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः ।।

*वैश्यन किं कार्यमित्युपदिश्यते ।।

सꣳसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य्यऽआ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ।।३०।।

सꣳसमिति सम्ऽसम्। इत्। युवसे। वृषन्। अग्ने। विश्वानि। अर्य्यः। आ ।। इडः। पदे। सम्। इध्यसे। सः। नः। वसूनि। आ। भर ।।३०।।

पदार्थः---(संसम्) सम्यक् (इत्) एव (युवसे) मिश्रय। अत्र विकरणात्मनेपदव्यत्ययौ (वृषन्) बलवन् (अग्ने) प्रकाशमान (विश्वानि) अखिलानि (अर्यः) वैश्यः। अर्यः स्वामीवैश्ययोः [अ० ३।१।१०३] इति वैश्यार्थे निपातितः (आ) (इडः) प्रशंसनीयस्य। इड इति पदनामसु पठितम्। निघं० ५।२। अत्रेडधातोर्बाहुलकादौणादिकः

---

§ भाषापदार्थः संस्कृतानन्वयीति। स च ककोशे भूतपूर्वस्य संस्कृतपाठस्यानुवादः प्रतिभाति। संशोधितसंस्कृतानुसारं त्वित्थं भाषापदार्थो ज्ञेयः—

'हे मनुष्यो ! जिस प्रकार विद्वान् [सब के] मित्र होते हुए (क्षितीनाम्) प्रजाओं के (वः) तुम्हारे (ऊर्जः) बल के (नप्त्रे) पौत्र के तुल्य वर्त्तमान (सहस्वते) बहुत बल वाले (वर्षिष्ठाय) अत्यन्त बड़े (अग्नये) अग्नि के लिये जिस (सम्यञ्चम्) सुन्दर सत्कार के हेतु (इषम्) अन्न को (च) और (स्तोमम्) स्तुतियों को (आहुः) अच्छे प्रकार कहते हैं, वैसे तुम लोग भी उसका अनुष्ठान करो ।।

* 'पुनः स कीदृश इत्याह, फिर वह कैसा है, यह वि०' इति कगकोशयोः पाठः। स च गकोशे (प्रेसकापीमध्ये) केन संशोधित इति वक्तुं न शक्यते ।।

क्विप्, आवेहु स्वश्च (पदे) प्रापणीये (सम्) (इध्यसे) प्रदीप्यसे (सः) (नः) अस्मभ्यम् (वसूनि) (आ) (भर) धर ॥३०॥

अन्वयः—हे वृषन्नग्ने अर्य [ो य]स्त्वं संसमायुवसे, इडस्पदे समिध्यसे, स त्वमिदग्निना नो विश्वानि वसून्याभर ॥३०॥

भावार्थः—राजभिः संरक्षिता वैश्या अग्न्यादिविद्याभ्यः स्वेभ्यो राजपुरुषेभ्यश्चाखिलानि धनानि संभरेयुः ॥३०॥

वैश्य को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (वृषन्) बलवन् (अग्ने) प्रकाशमान (अर्यः) वैश्य ! जो तू (संसमायुवसे) सम्यक्=अच्छे प्रकार सम्बन्ध करते हो, (इडः) प्रशंसा के योग्य (पदे) प्राप्ति के योग्य अधिकार में (समिध्यसे) सुशोभित होते हो, (सः) सो तू (इत्) ही अग्नि के योग से (नः) हमारे लिये (विश्वानि) सब (वसूनि) धनों को (आभर) अच्छे प्रकार धारण कर ॥३०॥

भावार्थः—राजाओं से रक्षा प्राप्त हुये वैश्य लोग अग्न्यादि विद्याओं के लिये और अपने राजपुरुषों के लिये सम्पूर्ण धन धारण करें ॥३०॥

त्वामित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

*मनुष्यैरग्निना किं साध्यमित्युपदिश्यते ॥

त्वां चित्रश्रवस्तम् हवन्ते विक्षु जन्तवः ।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ॥३१॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(संसम्) प्रसमुपोदः पादपूरणे (अ० ८।१।६) इति द्वित्वम् । अनुदात्तं च (अ० ८।१।३) इति परस्यानुदात्तत्वम् ॥

(अर्य्यः) ऋ गतौ (भ्वा० प०) अस्माद् अर्य्यः स्वामीवैश्ययोः (अ० ३।१।१०३) इति यति निपातितः । यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम् । स्वाम्यर्थे तु स्वामिन्यन्तोदात्तत्वञ्च (अ० ३।१।१०३ वा०) इतिवचनादन्तोदात्तत्वम् ॥

(इडः) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्त्युदात्तत्वम् । संहितायाम् 'इडस्पदे' इत्यत्र षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु (अ० ८।३।५३) इति विसर्जनीयस्य सकारः ॥

(इध्यसे) व्यत्ययो बहुलम् (अ० ३।१।८५) इति विकरणव्यत्ययेन 'श्यन्' । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८)इति निघातः ॥३०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते, फिर वह कैसा हो यह वि०' इति कगकोशयोः पाठः । स च गकोशे केनचित् संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

त्वाम् । चि॒त्रश्र॑वस्त॒मेति॑ चि॒त्रश्र॑वःऽतम । हव॑न्ते । वि॒क्षु । ज॒न्तव॑ः ॥ शो॒चिष्के॑शम् । शो॒चिःके॑श॒मिति॑ शो॒चिःऽके॑शम् । पु॒रु॒प्रि॒येति॑ पुरुऽप्रिय । अग्ने॑ । ह॒व्याय॑ । वोढ॑वे ॥३१॥

पदार्थः—(त्वाम्) (चित्रश्रवस्तम) चित्राण्यद्भुतानि श्रवांस्यतिशयितान्यन्नानि वा यस्य (हवन्ते) स्वीकुर्वन्तु (विक्षु) प्रजासु (जन्तवः[1]) जनाः (शोचिष्केशम्†) शोचिषः[2] केशाः सूर्य्यस्य रश्मय इव तेजांसि यस्य तम् (पुरुप्रिय) बहून् प्रीणाति बहूनां प्रियो वा तत्संबुद्धौ (अग्ने) विद्वन् (हव्याय) स्वीकर्त्तव्यमन्नादिपदार्थम्§ । अत्र सुब्व्यत्ययेन द्वितीयैक-वचनस्य चतुर्थ्येकवचनम् (वोढवे) वोढुम् । अत्र तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ॥३१॥

अन्वयः—हे पुरुप्रिय चित्रश्रवस्तमाग्ने ! विक्षु हव्याय वोढवे यं शोचिष्केशं त्वां जन्तवो हवन्ते, तं वयमपि हवामहे ॥३१॥

भावार्थः—मनुष्या यमग्निं जीवाः सेवन्ते, तेन भारवहनादीनि कार्य्याण्यपि साध्नुवन्तु ॥३१॥

मनुष्य लोग अग्नि से क्या सिद्ध करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (पुरुप्रिय) बहुतों के प्रसन्न करनेहारे वा बहुतों के प्रिय (चित्रश्रवस्तम) आश्चर्यरूप अन्नादि पदार्थों से युक्त (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् ! (विक्षु) प्रजाओं में (हव्याय) स्वीकार के योग्य अन्नादि उत्तम पदार्थों को (वोढवे) प्राप्ति के लिये जिस (शोचिष्केशम्) सुखाने वाली सूर्य की किरणों के तुल्य तेजस्वी (त्वाम्) आपको

---

१. 'जन्तवः' इति मनुष्यनाम । निघ० २।३ ॥

२. शोचिः सूर्यदीप्तिः, केश इति रश्मिवाची । उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिसमास इति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(हवन्ते) पादादित्वान्निघाताभावः । तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुक० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपश्च पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(विक्षु) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(जन्तवः) जनी प्रादुर्भावे (दिवा० आ०)। कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च (उ० १।७३) इति 'तुन्' । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(शोचिष्केशम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-पदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृति-स्वरः । 'शोचिस्' शब्द इसिप्रत्ययान्तः पूर्व (यजु० ३।२) व्याख्यातः । नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य (अ० ८।३।४५) इति विस-र्जनीयस्य षत्वम् ॥

(वोढवे) वह प्रापणे (भ्वा० उ०)। तुमर्थे सेसेनसे० (अ० ३।४।९) इति 'तवेन्' प्रत्ययः । ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपेषु कृतेषु सहिवहोरोदवर्णस्य (अ० ६।३।११२) इत्योकारः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥३१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'शोचिषः केशाः सूर्यरश्मयो यस्य तम्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

§ 'अन्नादिपदार्थम् ।......(वोढवे) वहनाय' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः । भाषापदार्थेऽपि तथैवेति ध्येयम् ॥

(जन्तवः) मनुष्य लोग (हवन्ते) स्वीकार करते हैं, उसी को हम लोग भी स्वीकार करते हैं ॥३१॥

भावार्थः—मनुष्य को योग्य है कि जिस अग्नि को जीव सेवन करते हैं, उससे भार पहुंचाना आदि कार्य भी सिद्ध किया करें ॥३१॥

एना व इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

एना वो॑ऽ अ॒ग्निं नम॑सो॒र्जो नपा॑त॒मा हु॑वे ।
प्रि॒यं चेति॑ष्ठमर॒तिꣳ स्व॑ध्व॒रं विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म् ॥३२॥

ए॒ना । वः॒ । अ॒ग्निम् । नम॑सा । ऊ॒र्जः । नपा॑तम् । आ । हु॒वे॒ ॥ प्रि॒यम् । चेति॑ष्ठम् । अ॒र॒तिम् । स्व॒ध्व॒रमिति॑ सुऽअ॒ध्व॒रम् । विश्व॑स्य । दू॒तम् । अ॒मृत॑म् ॥३२॥

पदार्थः—(एना) एनेन पूर्वोक्तेन, अत्राकारादेशः (वः) युष्मभ्यम् (अग्निम्) (नमसा) ग्राह्येणान्नेन* (ऊर्जः) पराक्रमान् (नपातम्) अपतनशीलम् (आ) (हुवे) आह्वये (प्रियम्) प्रीत्युत्पादकम् (चेतिष्ठम्) अतिशयेन †चेतयितारं संज्ञापकम् (अरतिम्§) नास्ति रतिश्चैतन्यमस्मिंस्तम् (स्वध्वरम्) सुष्ठ्वध्वरा अहिंसनीया व्यवहारा यस्मात्तम् (विश्वस्य) समग्रस्य जगतः (दूतम्[1]) सर्वत्राभिगन्तारं विद्युतम् (अमृतम्§) कारणरूपेण नित्यम् ॥३२॥

---

१. दु द्रु गतौ (स्वा० प०) इत्यस्मात् दुतनिभ्यां दीर्घश्च (उ० ३।९०) इति 'क्तः', धातोर्दीर्घश्च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(एना) द्वितीयाटौस्स्वेनः (अ० २।४।३४) इति इदमोऽन्वादेशे एनादेशः, स चानुदात्तः । टाविभक्तेः सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया० (अ० ७।१।३९) इत्याकारादेशः । छान्दसं विभक्त्युदात्तत्वम् । ऊडिदम्पदा० (अ० ६।१।१७१) इत्यस्य तु अन्तोदात्ताधिकारान्न प्रवृत्तिः । एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्याकार उदात्तः ॥

---

* 'अन्नेन' इत्येव ककोशे पाठः, 'ग्राह्येण' इत्यंशो गकोशे परिवर्द्धितः । तथैव च भाषापदार्थेऽपि ।

† 'चेतयितारम्' इत्येव ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः । तथैव च भाषापदार्थेऽपि ॥

§ '(अरतिम्) सुखप्रापकम्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः । तथैव च भाषापदार्थेऽपि ॥

§ '(अमृतम्) मृत्युरहितम्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः । तथैव च भाषापदार्थेऽपि ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽहं वो युष्मभ्यमेना नमसा नपातं प्रियं चेतिष्ठं स्वध्वर-मरतिममृतं विश्वस्य दूतमग्निमूर्जश्चाहुवे, तथा यूयं मह्यं जुहुत ∫ ॥३२॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! वयं युष्मदर्थं या अग्न्यादिविद्याः प्रकटयेम, ता यूयं स्वीकुरुत ॥३२॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं (वः) तुम्हारे लिये (एना) उस पूर्वोक्त (नमसा) ग्रहण के योग्य अन्न से (नपातम्) दृढ़ स्वभाव (प्रियम्) प्रीतिकारक (चेतिष्ठम्) अत्यन्त चेतनता करानेहारे (अरतिम्) चेतनता रहित (स्वध्वरम्) अच्छे रक्षणीय व्यवहारों से युक्त (अमृतम्) कारणरूप से नित्य (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् के (दूतम्‡) सब ओर चलनेहारे (अग्निम्) बिजुली को और (ऊर्जः) पराक्रमों को (आहुवे) स्वीकार करूं, वैसे तुम लोग भी मेरे लिये ग्रहण करो ॥३२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! हम लोग तुम्हारे लिये जो अग्नि आदि की विद्या प्रसिद्ध करें, उनको तुम लोग भी स्वीकार करो ॥३२॥

विश्वस्य दूतमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशः स्यादित्याह ॥

विश्वस्य दूतमृमृतं विश्वस्य दूतमृमृतम् ।
स योजतेऽ अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ॥३३॥

विश्वस्य । दूतम् । अमृतम् । विश्वस्य । दूतम् । अमृतम् ॥ सः । योजते । अरुषा । विश्वभोजसेति विश्वऽभोजसा । सः । दुद्रवत् । स्वाहुत इति सुऽआहुतः ॥३३॥

(नपातम्) न पातो अस्य स नपातः । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति नकारोदात्तत्वम् । नलोपाभावश्छान्दसः ॥

(चेतिष्ठम्) तुश्छन्दसि (अ० ५।३।५९) इति 'इष्ठन्' । तुरिष्ठेमेयस्सु (अ० ६।४।१५४) इति तृलोपः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अरतिम्, स्वध्वरम्) बहुव्रीहिसमासे नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(अमृतम्) पूर्वं (यजु० १।३१) व्याख्यातः ॥३२॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

∫ 'आह्वयत' इति ककोशे पाठः । स च ककोशे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

‡'(दूत ?) सब ओर व्यापक' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

पदार्थः—(विश्वस्य) समग्रस्य भूगोलसमूहस्य (दूतम्) [1]परितापकं विद्युदाख्यमग्निम् (अमृतम्) कारणरूपेणाविनाशिस्वरूपम् (विश्वस्य) अखिलपदार्थजातस्य (दूतम्) परितापेन दाहकम् (अमृतम्*) उदकेऽपि व्यापकं कारणम्। अमृतमित्युदकनामसु पठितम्। निघं० १।१२ (सः) (योजते) युनक्ति। अत्र व्यत्ययेन शप् (अरुषा‡) रूपवता पदार्थसमूहेन (विश्वभोजसा) विश्वस्य पालकेन (सः) (दुद्रवत्§) शरीरादौ द्रवति गच्छति। अत्र वर्तमाने §लुङ्। माङ्योगमन्तरेणाप्यडभावः (स्वाहुतः) सुष्ठु समन्ताद्धुत आदत्तः सन्॥३३॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथाऽहं विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतमग्निमाहुवे, $तथा विश्वभोजसाऽरुषा सर्वैः पदार्थैः सह वर्त्तते, स योजते। यः स्वाहुतः सन् दुद्रवत्, स युष्माभिर्वेद्यः॥३३॥

भावार्थः—अत्र पूर्वमन्त्रादाहुव इति पदमनुवर्त्तते। विश्वस्य दूतममृतमिति द्विरावृत्या द्विविधस्य स्थूलसूक्ष्मस्याग्नेर्ग्रहणम्। स सर्वः कारणरूपेण नित्य इति वेद्यम्॥३३॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे मैं (विश्वस्य) सब भूगोलों के (दूतम्) तपाने वाले

---

१. टुदु उपतापे (स्वा० प०) इत्यस्मात् पूर्ववत् सिद्धिः॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दूतम्) पूर्वमन्त्रविवरणे द्वितीया टिप्पणी द्रष्टव्या (पृष्ठ ५३७)॥

(अरुषा) ऋहनिभ्यामुषन् (दश० उ० ६।१३) इत्युषन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम् पञ्चपाद्युणादौ तु ऋहनिभ्यामूषन् (उ० ४।७३) इति पाठभेदो दृश्यते। तृतीयैकवचनस्य सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इत्याकारादेशः॥

(विश्वभोजसा) विदिभुजिभ्यां विश्वे (उ० ४।२३८) इति 'असि' प्रत्ययः। उत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पराविश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। यद्वा—'भुज' धातोः कर्मणि 'असुन्'। विश्वं भोजो यस्येति बहुव्रीहिः। बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६।२।१०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्॥

(दुद्रवत्) लुङि णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् (अ० ३।१।४८) इति 'चङ्'। चङि (अ० ६।१।११) इति द्विर्वचनम्। बहुलं

---

* '(अमृतम्) उदकम्' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः। तथैव भाषापदार्थेऽपि॥

‡ '(अरुषा) रूपेण' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः॥

§ '(दुद्रवत्) द्रवति गच्छति' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः। 'अत्र वर्त्तमाने लङ्। माङ्योगमन्तरेणाप्यडभावः' इति पाठः ककोशे नास्ति। गकोशे प्रवर्द्धित इति। वस्तुतोऽत्र 'लङ्' स्थाने 'लुङ्' पाठेन भाव्यम्, णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् (अ० ३।१।४८) सूत्रस्य साक्षाद् विद्यमानत्वात्। निघाताभावे दुद्रवत् पदस्य ऋग्वेदे (५।२०।४) चङः स्वरदर्शनाच्च। लङ्पाठे तु छान्दसं द्विर्वचन कल्पनीयं भवति। अतोऽस्माभिरिह 'लुङ्' पाठ एव धृतः॥

$ 'या' इति ककोशे पाठः, स च 'तथा' इति गकोशे संशोधितः॥

सूर्यरूप (अमृतम्) कारणरूप से अविनाशिस्वरूप (विश्वस्य) सम्पूर्ण पदार्थों को (दूतम्) ताप से जलाने वाले (अमृतम्) जल में भी व्यापक कारणरूप अग्नि को स्वीकार करूं, वैसे (विश्वभोजसा) जगत् के रक्षक (अरुषा) रूपवान् सब पदार्थों के साथ वर्त्तमान है (सः) वह (योजते) युक्त करता है। जो (स्वाहुतः) अच्छे प्रकार ग्रहण किया हुआ (दुद्रवत्) शरीरादि में चलता है (सः) वह तुम लोगों को जानना चाहिये ॥३३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से (आहुवे) इस पद की अनुवृत्ति आती है। तथा (विश्वस्य दूतममृतम्) इन तीन पदों की दो बार आवृत्ति से स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार के अग्नि का ग्रहण होता है। वह सब अग्नि कारणरूप से नित्य है, ऐसा जानना चाहिये ॥३३॥

स दुद्रवदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्याह॥

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳ राधो जनानाम्॥३४॥

सः। दुद्रवत्। स्वाहुत इति सुऽआहुतः। सः। दुद्रवत्। स्वाहुत इति सुऽआहुतः॥ सुब्रह्मेति सुऽब्रह्मा। यज्ञः। सुशमीति सुऽशमी। वसूनाम्। देवम्। राधः। जनानाम्॥३४॥

पदार्थः—(सः) अग्निः (दुद्रवत्) द्रवति (स्वाहुतः) सुष्ठु कृताह्वानः सखा (सः) (दुद्रवत्) गच्छति (स्वाहुतः) सुष्ठु निमन्त्रितो विद्वान् (सुब्रह्मा) *सुष्ठुतया चतुर्वेदवित् (यज्ञः) संगन्तुं योग्यः (सुशमी) सुष्ठु शमयितुमर्हः (वसूनाम्) पृथिव्यादीनाम् (देवम्) कमनीयम् (राधः†) सुखसाधनं धनम् (जनानाम्) ॥३४॥

छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अ० ६।४।७५) इत्यडभावः। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(स्वाहुतः) सुः पूजायाम् (अ० १।४।९४) इति कर्मप्रवचनीयत्वे स्वती पूजायाम् (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः। तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥३३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सुब्रह्मा) गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृति-

* 'शोभनप्रकारेण' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम्॥

† '(राधः) राध्नुवन्ति सुखानि येन तम्' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! स स्वाहुतः सखिवद् दुद्रवत् । स स्वाहुतो विद्वानिव दुद्रवत् । सुब्रह्मा यज्ञः सुशमीव यो वसूनां जनानां च देवं राधोऽस्ति, तं यूयं संप्रयुङ्ग्ध्वम् ॥३४॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यो वेगवानन्येभ्यो वेगप्रदः शान्तिकरः पृथिव्यादीनां प्रकाशकोऽग्निर्वर्त्तते, स कथं न विज्ञेयः§ ॥३४॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (सः) वह अग्नि (स्वाहुतः) अच्छे प्रकार बुलाये हुये मित्र के समान (दुद्रवत्) चलता है। तथा (सः) वह (स्वाहुतः) अच्छे प्रकार निमन्त्रण किये विद्वान् के तुल्य (दुद्रवत्) जाता है। (सुब्रह्मा) अच्छे प्रकार चारों वेदों के ज्ञाता (यज्ञः) समागम के योग्य (सुशमी) $अच्छे शान्तिशील पुरुष के समान जो (वसूनाम्) पृथिवी आदि वसुओं और (जनानाम्) मनुष्यों का (देवम्) अभीप्सित (राधः) धनरूप है, उस अग्नि को तुम लोग उपयोग में लाओ ? ॥३४॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जो वेगवान्, अन्य पदार्थों को वेग देने वाला, शान्तिकारक, पृथिव्यादि पदार्थों का प्रकाशक अग्नि है, उसका विचार क्यों न करना चाहिए ॥३४॥

अग्ने वाजस्येत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । उष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

अग्ने वाजस्य गोमतऽईशानः सहसो यहो ।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥३५॥

स्वरः । 'ब्रह्मन्' शब्दो बृंहेर्नोऽच्च (उ० ४। १४६) इति 'मनिन्' प्रत्ययान्तो नित्स्वरेणाद्युदात्तः । कर्मप्रवचनीयसमासे तु परादिश्च परान्तश्च० (अ० ६।२।१९९ भा०वा०) इति पराद्युदात्तत्वम् । बहुव्रीहिसमासे तु आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(सुशमी) पूर्वं (यजु० १।१५) व्याख्यातः ॥

(राधः) पूर्वं (यजुः ३।१३) व्याख्यातः ॥३४॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ 'विचारणीयः' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥

$ '(सुशमी) अच्छे शान्ति करने योग्य पुरुष के समान जो' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

अग्ने। वाजस्य। गोमत इति गोऽमतः। ईशानः। सहसः। यहो इति यहो॥ अस्मे इत्यस्मे। धेहि। जातवेद इति जातऽवेदः। महि। श्रवः॥३५॥

पदार्थः– (अग्ने) विद्वन् (वाजस्य) अन्नस्य (गोमतः) प्रशस्तधेनुपृथिवीयुक्तस्य (ईशानः) साधकः समर्थः (सहसः) बलवतः (यहो[1]) सुसन्तान (अस्मे) अस्मभ्यम् (धेहि) (जातवेदः) [2]जातं विज्ञानं यस्य सः (महि) महत् (श्रवः) धनम्॥३५॥

अन्वयः--हे सहसो यहो जातवेदोऽग्ने! त्वमग्निरिव [3]वाजस्य गोमत ईशानः सन्नस्मे महि श्रवो धेहि॥३५॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—साधुरीत्योपयुक्तोऽग्निः पुष्कलं धनं प्रयच्छतीति वेद्यम्।३५॥

फिर वह अग्नि कैसा है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे (सहसः) बलवान् पुरुष के (यहो) सन्तान! (जातवेदः) विज्ञान को प्राप्त हुए (अग्ने) तेजस्वी विद्वन्! आप अग्नि के तुल्य (गोमतः) प्रशस्त गौ और पृथिवी से युक्त (वाजस्य) *अन्न के (ईशानः) स्वामी समर्थ हुये (अस्मे) हमारे लिये (महि) बड़े (श्रवः) धन को (धेहि) धारण कीजिये॥३५॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—अच्छी रीति से उपयुक्त किया अग्नि बहुत धन देता है, ऐसा जानना चाहिये॥३५॥

---

१. 'यहुः' इत्यपत्यनाम। निघ० २।२॥
२. जातविद्यो वा, जातप्रज्ञानः। निरु० ७।१६॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(ईशानः) ईश ऐश्वर्ये (अदा० आ०) लटः 'शानच्'। चित्स्वरे प्राप्ते तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥

(सहसः) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे (अ० २।१।२) इति पूर्वसुबन्तस्य 'यहो' आमन्त्रितेऽनुप्रवेशाद् आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१६) इति सर्वनिघातः॥

(महि) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इतीन्। नित्त्वादाद्युदात्तस्वरः॥

(श्रवः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८६) इत्यसुन्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

३. अत्र वाजादिषु अधीगर्थदयेषाम्० (अ० २।३।५२) इति कर्मणि षष्ठी, इति ध्येयम्॥३५॥

---

* 'अन्न का (ईशानः) स्वामी साधक हुआ' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः, इति दिक्॥

स इधान इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

सऽ इ॒धा॒नो वसु॑ष्क॒विर॒ग्निरी॒डेन्यो॑ गि॒रा ।
रे॒वद॒स्मभ्यं॑ पुर्वणीक दीदिहि ॥३६॥

सः । इ॒धा॒नः । वसुः॑ । क॒विः । अ॒ग्निः । ई॒डेन्यः॑ । गि॒रा ॥ रे॒वत् । अ॒स्मभ्य॑म् । पु॒र्व॒णी॒क॒ । पु॒र्व॒नी॒केति॑ पुरुऽअनीक । दी॒दि॒हि॒ ॥३६॥

पदार्थः—(सः) पूर्वोक्तः* (इधानः) प्रदीप्तः (वसुः[1]) वासयिता (कविः) समर्थः (अग्निः) पावकः (ईडेन्यः[2]) अन्वेषणीयः (गिरा) वाण्या (रेवत्) प्रशस्तधनयुक्तम् (अस्मभ्यम्) (पुर्वणीक) पुरु बहु अनीकं सैन्यं यस्य तत्संबुद्धौ (दीदिहि) प्रकाशय ॥३६॥

अन्वयः—हे पुर्वणीक विद्वन् ! स [त्वम्] गिरेडेन्यो वसुः कविरिधानः सोऽग्निरिवाऽस्मभ्यं रेवद्दीदिहि प्रकाशय ॥३६॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—†विदुषाऽग्निगुणकर्मस्वभावप्रकाशनेन मनुष्येभ्य ऐश्वर्यमुन्नेयम् ॥३६॥

---

१. वसतेरन्तर्भावितण्यर्थाद् उप्रत्यये वसुरिति भावः । तथा ब्राह्मणम्—'एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते, ते यदिदं सर्वं वासयन्ते, तस्माद् वसवः' (शत० ११।६।३।६) ॥

२. ईडिरध्येषणकर्मा । निरु० ७।१५ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(इधानः) पूर्वं (यजु० १२।२२) व्याख्यातः ॥

(ईडेन्यः) ईड स्तुतौ (अदा० आ०) वृञ एण्य (उ० ३।९८) इति विहित एण्यः प्रत्ययो बाहुलकादस्मादपि । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् ॥

(गिरा) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(रेवत्) रयेर्मतौ बहुलम् (अ० ६।१।३७ वा०) इति रयिशब्दस्य संप्रसारणं मतुबुदात्तत्वे रे ग्रहणम् (अ० ६।१।१७६ वा०) इति मतुप उदात्तत्वम् ॥

(अस्मभ्यम्) अस्मच्छब्दः प्रातिपदिकस्वरेण प्रत्ययस्वरेण वान्तोदात्तः । भ्यसो भ्यम् (अ० ७।१।३०) इति भ्यमादेशः । शेषे लोपः (अ० ७।२।९०) इति दकारलोपः । विभक्त्युदात्तत्वे पूर्वोक्त एव स्वरः । टिलोपपक्षे तु अभ्यमादेशः । तेन अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण उदात्तः ॥३६॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'पूर्वोक्तः' इति ककोशे नास्ति । गकोशे प्रवर्द्धितः, ॥

† 'विद्वानग्निगुणकर्मस्वभावप्रकाशेन मनुष्येभ्य ऐश्वर्यमुन्नयेत्' । इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (पुर्वणीक) बहुत सेना वाले राजपुरुष विद्वन् ! (गिरा) वाणी से (ईड्यः) §खोजने योग्य (वसुः) निवास का हेतु (कविः) समर्थ (इधानः) प्रदीप्त (सः$) वह पूर्वोक्त आप (अग्निः) अग्नि के समान (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (रेवत्) प्रशंसित धनयुक्त पदार्थों को (दीदिहि) प्रकाशित कीजिये ॥३६॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—विद्वान्ʃ को चाहिये कि अग्नि के गुण कर्म और स्वभाव के प्रकाश के तुल्य मनुष्यों के लिये ऐश्वर्य की उन्नति करे ॥३६॥

क्षपो राजन्नित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥३७॥

क्षपः । राजन् । उत । त्मना । अग्ने । वस्तोः । उत । उषसः ॥ सः । तिग्मजम्भेति तिग्मऽजम्भ । रक्षसः । दह । प्रति ॥३७॥

पदार्थः—(क्षपः) रात्रीः (राजन्) राजमान (उत) (त्मना[1]) आत्मना । *अत्र छान्दसो वर्णलोपः [अ० ८।२।२५ वा०] इत्याकारलोपः (अग्ने) विद्वन् ! (वस्तोः)

---

१ मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः (अ० ६।४।१४१) इति 'आ' लोपः ॥

---

§ 'खोजने वा प्रशंसा करने योग्य' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

$ '(सः) उस पूर्वोक्त' इत्यजमेरमुद्रिते कगकोशयोश्च पाठः । स चानन्वितः, इति ध्येयम् ॥

ʃ 'विद्वान् पुरुष' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

* 'अत्र छान्दसो वर्णलोप इत्याकारलोपः' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति । स च मुद्रणे परिवर्द्धितोऽनावश्यकश्चेति ध्येयम् । यद्वा—'छान्दसो वर्णलोपः' इत्यनेन 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (अ० ६।४।१४१) इत्यनेन विहित एव 'आकारलोपः' संकेत्यते ॥

[1]दिनम्‡ (उत) (उषसः) प्रातः सायं समयान् (सः) §उक्तः (तिग्मजम्भ) तिग्मं तीव्रं जम्भो गात्रविनामनं यस्मात्तत्संबुद्धौ (रक्षसः) दुष्टान् (दह) भस्मीकुरु (प्रति) प्रत्यक्षे ॥३७॥

अन्वयः—हे तिग्मजम्भ राजन्नग्ने ! स त्वं यथा तीक्ष्णतेजा अग्निः क्षप उत वस्तोरुतोषसो जनयति, तथा सुशिक्षां जनय । रक्षसस्तम इव तीव्रत्मना प्रति दह ॥३७॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—[2]मनुष्यैर्यथा प्रभातस्य दिनस्य रात्रेश्च निमित्तमग्निर्विज्ञायते, तथा राजा न्यायप्रकाशस्यान्यायनिवृत्तेश्च हेतुरस्तीति वेद्यम् ॥३७॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (तिग्मजम्भ) तीक्ष्ण$ अवयवों के चलाने वाले (राजन्) प्रकाशमान (अग्ने) विद्वान् जन ! (सः) सो पूर्वोक्त गुणयुक्त आप जैसे तीक्ष्ण तेजयुक्त अग्नि (क्षपः) रात्रियों (उत) और (वस्तोः) दिन के (उत) ही (उषसः) प्रभात और सायंकाल के प्रकाश को उत्पन्न करता है, वैसे [सुशिक्षा को उत्पन्न कीजिये । और] (त्मना) तीक्ष्ण स्वभाव युक्त अपने आत्मा से (रक्षसः) दुष्ट जनों को रात्रि के समान (प्रतिदह) निश्चय करके भस्म कीजिये ॥३७॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जैसे प्रभात दिन और रात्रि का निमित्त अग्नि को जानते हैं, वैसे राजा न्याय के प्रकाश और अन्याय की निवृत्ति का हेतु है, ऐसा जानें ॥३७॥

❦

---

१. 'वस्तोः' इत्यहर्नाम । निघ० १।९ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(क्षपः) क्षप प्रेरणे (चु० प०) । क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्' । विभक्त्युदात्तत्वं छान्दसम् ॥

(वस्तोः) पूर्वं (यजु० ३।८) व्याख्यातः ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

२. कर्त्तरि तृतीया वेद्यमित्यपेक्ष्य ॥३७॥

---

‡ 'दिनस्य' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥

§ 'उक्तः' इति ककोशे नास्ति, स च गकोशे परिवर्द्धितः । तथा भाषापदार्थेऽपि 'पूर्वोक्त गुणयुक्त' इति पाठः ककोशे नास्ति ॥

$ 'शरीर अवयवों के चलानेहारे' इति कगकोशयो पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥

भद्रो न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

भद्रो नोऽ अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽ अध्वरः ।
भद्राऽ उत प्रशस्तयः ॥३८॥

भद्रः । नः । अग्निः । आहुत इत्याऽहुतः । भद्रा । रातिः । सुभगेति सुऽभग । भद्रः । अध्वरः ॥ भद्राः । उत । प्रशंस्तय इति प्रऽशंस्तयः ॥३८॥

पदार्थः—(भद्र) [1]भजनीयः (नः) अस्मभ्यम् (अग्निः) पावकः (आहुतः) संगृहीतो धर्म इव (भद्रा) सेवनीया (रातिः) दानम् (सुभग) शोभनैश्वर्य्य (भद्रः) [2]कल्याणकरः (अध्वर) अहिंसनीयो व्यवहारः (भद्राः) कल्याणप्रतिपादिकाः (उत) (प्रशस्तयः) प्रशंसाः ॥३८॥

अन्वयः— हे सुभग विद्वन् ! यथाऽऽहुतः सखाग्निर्भद्रः रातिर्भद्राऽध्वरो भद्र उत प्रशस्तयो भद्राः स्युः,तथा त्वं नो भव ॥३८॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा विद्यया सुसेविता जगत्स्थाः पदार्थाः सुखकारिणो भवन्ति, तथाऽऽप्ता विद्वांसः सन्तीति वेद्यम् ॥३८॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सुभग) सुन्दर ऐश्वर्य वाले विद्वान् पुरुष ! जैसे (आहुतः) धर्म्म के तुल्य सेवन किया मित्ररूप (अग्निः) अग्नि (भद्रः) सेवने योग्य (भद्रा) *कल्याणकारी (रातिः) दान (भद्रः) कल्याणकारी (अध्वरः) रक्षणीय व्यवहार (उत) और (भद्राः) कल्याण करने वाली (प्रशस्तयः) प्रशंसा होवें, वैसे आप (नः) हमारे लिये हूजिये ॥३८॥

---

१. 'भद्रं भगेन व्याख्यातम्, भजनीयम्' । निरु० ४।१० ॥

२. भद्रे भजनीये (निरु० ११।१९) । भदि कल्याणे सुखे च (भ्वा० आ०) इत्यपि ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आहुतः) गतिरनन्तरः (अ० ६।२। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(रातिः) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (अ० ३।३।१७४) इति 'क्तिच्' । चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(प्रशस्तयः) शंसु स्तुतौ (भ्वा० प०) । 'क्तिन्', गतिसमासः । तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति गतेः प्रकृतिस्वरः ॥३८॥ **इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥**

---

* 'सेवने योग्य' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे विद्या से अच्छे प्रकार सेवन किये जगत् के पदार्थ सुखकारी होते हैं, वैसे आप्त विद्वान् लोगों को भी जानें ॥३८॥

भद्रा उतेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनः स विद्वान् कीदृश इत्याह॥

भद्राऽ उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।
येना समत्सु सासहः ॥३९॥

भद्राः। उत। प्रशस्तय इति प्रऽशस्तयः। भद्रम्। मनः। कृणुष्व। वृत्रतूर्य्य इति वृत्रऽतूर्य्ये॥ येन। समत्स्विति समत्ऽसु। सासहः। सासह इति ससहः॥३९॥

पदार्थः—(भद्राः) भन्दनीयाः (उत) अपि (प्रशस्तयः) प्रशंसनीयाः प्रजाः (भद्रम्) भन्दनीयं कल्याणकरम् (मनः) मननात्मकम् (कृणुष्व) कुरु ([1]वृत्रतूर्य्ये) संग्रामे (येन) अत्र अन्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घः (समत्सु[2]) संग्रामेषु (सासहः) अतिशयेन सोढा ॥३९॥

अन्वयः—हे सुभग ! त्वं येन नोऽस्माकं वृत्रतूर्य्ये भद्रं मन उतापि भद्राः प्रशस्तयो येन च समत्सु सासहः स्यात्, तत् कर्म* कृणुष्व ॥३९॥

भावार्थः—अत्र (सुभग) (नः) इति पदद्वयं पूर्वमन्त्रादनुवर्त्तते। विदुषा राज्ञा तत्कर्मानुष्ठेयं, येन प्रजाः सेनाश्चोत्तमाः स्युः ॥३९॥

---

१. 'वृत्रतूर्ये' इति सङ्ग्रामनाम। निघ० २।१७॥

२. 'समत्सु' इति सङ्ग्रामनाम। निघ० २।१७॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वृत्रतूर्य्ये) पूर्वं (यजु० १।१३) व्याख्यातः॥

(समत्सु) सम्पूर्वाद् अर्त्तेः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्'। यद्वा—संपूर्वान्माद्यतेः 'क्विप्'। तत्र पृषोदरादित्वादुपसर्गान्त्यलोपः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(सासहः) सहतेर्यङ्लुगन्तात् 'अच्' प्रत्ययः। चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्ते प्राप्ते व्यत्ययेन मध्योदात्तत्वम् ॥३९॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'तत्कर्म कृणुष्व' इति कगकोशयोः पाठः। मुद्रणेऽनवधानात् 'कर्म' इति पदं नष्टं स्यात्॥

फिर वह विद्वान् कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सुभग) शोभन सम्पत्ति वाले पुरुष ! आप (येन) जिस से हमारे (वृत्रतूर्य्ये) युद्ध में (भद्रम्) कल्याणकारी (मनः) विचारशक्तियुक्त चित्त (उत) और (भद्राः) कल्याण करनेहारी (प्रशस्तयः) प्रशंसा के योग्य प्रजा और जिस से (समत्सु) संग्रामों में (सासहः) अत्यन्त सहनशील वीर पुरुष हों, वैसा कर्म (कृणुष्व) कीजिये ॥३९॥

भावार्थः—यहां (सुभग, नः) इन दो पदों की अनुवृत्ति पूर्व मन्त्र से आती है। विद्वान् राजा को चाहिये कि ऐसे कर्म का अनुष्ठान करे, जिस से प्रजा और सेना उत्तम हों ॥३९॥

येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदुष्णिक् छन्दः।
ऋषभः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहोऽव॑ स्थि॒रा त॑नुहि॒ भूरि॒ शर्ध॑ताम्।
व॒नेमा॑ तेऽ अ॒भिष्टि॑भिः ॥४०॥

येन॑। स॒मत्स्विति॑ स॒मत्ऽसु॑। सा॒स॒हः॑। स॒स॒हु इति॑ स॒स॒हः॑। अव॑। स्थि॒रा। त॒नु॒हि॒। भूरि॑। शर्ध॑ताम्॥ व॒नेम॑। ते॒। अ॒भिष्टि॑भि॒रित्य॒भिष्टि॑ऽभिः ॥४०॥

पदार्थः—(येन) अत्र संहितायाम् [अ० ६।३।११२] इति दीर्घः (समत्सु) संग्रामेषु (सासहः) भृशं सोढा (अव) (स्थिरा) स्थिराणि सैन्यानि (तनुहि) [1]विस्तृणु (भूरि) बहु (शर्द्धताम्) बलं कुर्वताम्। बलवाचिशर्धशब्दात् करोत्यर्थे क्विप्[2], ततः शतृ (वनेम) संभजेम। अत्र संहितायाम् [अ० ६।३।११२] इति दीर्घः (ते) तव (अभिष्टिभिः) इष्टाभिरिच्छाभिः ॥४०॥

---

१. विपूर्वस्य स्तृणोतेरिदं रूपम्। विपूर्वः स्तृणोतिर्विस्तारेऽर्थेऽत्र बोध्यः ॥

२. शर्ध इति बलनाम (निघं० २।९)। तस्मात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब् वक्तव्यः' (अ० ३।१।११ वा०) इत्यनेन 'क्विप्'। धातुसंज्ञायां लटः शतृप्रत्यये रूपम्। यद्वा—शृधु उन्दने (भ्वा० उ०)। अस्मात् 'शतृ' प्रत्ययः। धातूनामनेकार्थत्वादत्र बलार्थो बोध्यः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(भूरि) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४।६५) इति 'क्रिन्'। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(शर्धताम्) शर्धतेः 'शतृ' प्रत्ययः। शप्। तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात् (अ० ६।१।१८६) इति शतुरनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। शर्धशब्दात् क्विबन्ताच्छतरि शपः शतुश्चानुदात्तत्वे शर्धस्याद्युदात्तत्वमेव स्वरो ज्ञेयः। शर्ध-

अन्वयः—हे सुभग ! येन त्वं समत्सु सासहः स्यात्, स त्वं भूरि शर्धतामस्माकं स्थिरावतनुहि । तेऽभिष्टिभिः सह वर्त्तमाना वयं तानि वनेम ॥४०॥

भावार्थः—अत्रापि (सुभग) (नः) इति पदद्वयं पूर्वतोऽनुवर्त्तते । विद्वद्भिर्बहुबलयुक्तानां वीराणां नित्यमुत्साहो वर्धनीयः । येनोत्साहिताः सन्तो* राजप्रजाहितानि कर्माणि कुर्युः ॥४०॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सुभग) सुन्दर लक्ष्मीयुक्त पुरुष ! आप (येन) जिस के प्रताप से हमारे (समत्सु) युद्धों में (सासहः) शीघ्र सहना हो उस को तथा (भूरि) बहुत प्रकार (शर्धताम्) बल करते हुये हमारे (स्थिरा) स्थिर सेना के साधनों को (अवतनुहि) अच्छे प्रकार बढ़ाइये । (ते) आप की (अभिष्टिभिः) इच्छाओं के अनुसार वर्त्तमान हम लोग उस सेना के साधनों का (वनेम) सेवन करें ॥४०॥

भावार्थः—यहां भी (सुभग, नः) इन दोनों पदों की अनुवृत्ति आती है । विद्वानों को उचित है कि बहुत बलयुक्त वीर पुरुषों का उत्साह नित्य बढ़ावें, जिससे ये लोग उत्साही हुये राज और प्रजा के हितकारी काम किया करें ॥४०॥

अग्निं तमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्यादित्याह ॥

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
अस्तमर्वन्तऽ आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनऽ इषꣳ स्तोतृभ्यऽ आ भर ॥४१॥

अग्निम् । तम् । मन्ये । यः । वसुः । अस्तम् । यम् । यन्ति । धेनवः ॥ अस्तम् । अर्वन्तः । आशवः । अस्तम् । नित्यासः । वाजिनः । इषम् । स्तोतृभ्य इति स्तोतृऽभ्यः । आ । भर ॥४१॥

शब्दस्तु घञन्तो, ञित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(वनेम) वनु सम्भक्तौ (भ्वा० प०)। शपि प्राप्ते व्यत्ययेन 'शः'। तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इति सयासुट्कस्य लिङोऽनुदात्तत्वम् । विकरणस्वरः । पादादित्वान्निघाताभावः ॥

(अभिष्टिभिः) 'अभि इष्टिभिः' इति स्थिते शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् (अ० ६।१।९४ वा०) इति पररूपत्वम् । तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६।२।५०) इति गतिप्रकृतिस्वरः । उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८१) इति पर्युदासाद् 'अभि' अन्तोदात्तः ॥४०

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

* 'सन्त एते' इति ककोशे पाठः, स च गकोशे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

पदार्थः—(अग्निम्) (तम्) पूर्वोक्तम् (मन्ये) (यः) (वसुः) सर्वत्र निवस्ता (अस्तम्) [1]गृहम् (यम्) (यन्ति) गच्छन्ति (धेनवः) गावः (अस्तम्) गृहम् (अर्वन्तः) अश्वाः (आशवः) आशुगामिनः (अस्तम्) (नित्यासः) कारणरूपेणाविनाशिनः (वाजिनः) वेगवन्तः (इषम्) अन्नादिकम् (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यः विद्वद्भ्यः (आभर) ॥४१॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यो वसुरस्ति, यमग्निं धेनवोऽस्तं यन्तीव, नित्यासो वाजिन आशवोऽर्वन्तोऽस्तमिवाहं तं मन्ये । स्तोतृभ्य इषमाभरामि, तथैव त्वं तमग्निमस्तं मन्यस्वेषं चाभर ॥४१॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—विद्यार्थिनः प्रत्यध्यापक एवं वदेद्—यथाऽहमाचरेयं तथा यूयमप्याचरत । यथा गवादयः पशवः इतस्ततो दिने भ्रान्त्वा सायं स्वगृहं प्राप्य मोदन्ते, तथैव विद्यागृहं प्राप्य यूयमपि मोदध्वम् ॥४१॥

फिर वह क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष ! (यः) जो (वसुः) सर्वत्र रहने वाला *अग्नि है, (यम्) जिस (अग्निम्) वाणी के समान अग्नि को (धेनवः) गौ (अस्तम्) घर को (यन्ति) जाती हैं, तथा जैसे (नित्यासः) कारणरूप से विनाश रहित (वाजिनः) वेग वाले (आशवः) शीघ्रगामी (अर्वन्तः) घोड़े (अस्तम) घर को प्राप्त होते हैं, वैसे मैं (तम्) उस पूर्वोक्त अग्नि को (मन्ये) मानता हूं । और (स्तोतृभ्यः) स्तुतिकारक

---

१. 'अस्तम्' इति गृहनाम । निघ० ३।४ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(अस्तम्) अस गतिदीप्त्यादानेषु (भ्वा० प०) । हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३। ८६) इति 'तन्' बाहुलकात् । श्रियुक्तथ० (अ० ७।२।९) इतीडभावः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(यन्ति) इण् गतौ (अदा० प०) । धातोर्यणादेशः । प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः ॥

(अर्वन्तः) ऋ गतौ (भ्वा० प०) स्नामदिपद्यर्त्ति० (उ० ४।११३) इति 'वनिप्' । प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः । अर्वणस्त्रसावनञः (अ० ६।४।१२७) इति 'तृ' आदेशः । उगिदचां सर्वनामस्थाने० (अ० ७।१।७०) इति विभक्तौ नुमागमः । सुपोऽनुदात्तत्वे पूर्वोक्त एव स्वरः ॥

(आशवः) कृवापाजिमि० (उ० १।१) इत्युण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(नित्यासः) 'नि' इत्यस्मात् अव्ययात्त्यप् (अ० ४।२।१०४) इति 'त्यप्' । प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) इति 'नि' उदात्तः । विभक्तौ आज्जसेरसुक् (अ० ७।१।५०) इत्यसुगागमः ॥४१॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'अग्नि' इति ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितः ॥

विद्वानों के लिये (इषम्) अच्छे अन्नादि पदार्थों को धारण करता हूं, वैसे ही तू उस अग्नि को [(अस्तम्) गृह के समान मान, तथा अन्न को] (आभर) धारण कर ।।४१।।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—अध्यापक लोग विद्यार्थियों के प्रति ऐसा कहें कि जैसे हम लोग आचरण करें वैसा तुम भी करो । जैसे गौ आदि पशु दिन में इधर उधर भ्रमण कर सायङ्काल अपने घर आके प्रसन्न होते हैं, वैसे विद्या के स्थान को प्राप्त होके तुम भी प्रसन्न हुआ करो ।।४१।।

सोऽअग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ।।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ।।

सोऽ अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः ।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सꣳ सुजातासः सूरयऽ इषꣳ स्तोतृभ्यऽ आ भर ।।४२।।

सः । अग्निः । यः । वसुः । गृणे । सम् । यम् । आयन्तीत्याऽयन्ति । धेनवः ।। सम् । अर्वन्तः । रघुद्रुव इति रघुऽद्रुवः । सम् । सुजातास इति सुऽजातासः । सूरयः । इषम् । स्तोतृभ्य इति स्तोतृऽभ्यः । आ । भर ।।४२।।

पदार्थः—(सः) (अग्निः) (यः) (वसुः) (गृणे) स्तुवे (सम्) (यम्) (आयन्ति) (धेनवः[1]) वाण्यः (सम्) (अर्वन्तः) प्रशस्तविज्ञानवन्तः (रघुद्रुवः) ये रघु लघु द्रवन्ति गच्छन्ति ते । अत्र कपिलकादित्वात् [अ० ८।२।१८ वा०] लत्वम् (सम्) (सुजातासः) विद्यासु सुष्ठु जाताः प्रसिद्धाः (सूरयः) विद्वांसः (इषम्) ज्ञानम् (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यो विद्यार्थिभ्यः (आ) (भर) ।।४२।।

---

१. 'धेनुः' इति वाङ्नाम । निघं० १।११ ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(गृणे) गॄ शब्दे (क्र्या० प०) । लटचुत्तमैकवचने रूपम् । छान्दस आत्मनेपदव्यत्ययः । प्वादीनां ह्रस्वः (अ० ७।३।८०) इति धातोर्ह्रस्वत्वम् । 'गृ णा इ' इति स्थिते सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (महा० ६।१।१५८) इति इटः प्रत्ययस्वरः । एकादेशोऽप्येकादेशस्वरेणोदात्तः ।।

(आयन्ति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः । 'यन्ति' स्वरः पूर्वमन्त्रे (१५।४१) व्याकृतः । उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः । तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्तः ।।

(रघुद्रुवः) डुप्रकरणे मितद्र्वादीनामुपसंख्यानम् (अ० ३।२।१८० वा०) इति 'डु' । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम् (अ० ६।४।७७ वा०) इत्युवङ् । यद्वा—

अन्वयः—हे विद्वन् ! यथाऽहं यो वसुरग्निरस्ति तं गृणे, यं धेनवः समायन्ति, रघुद्रुवोऽर्वन्तः सुजातासः सूरयः स्तोतृभ्य इषं समाभरन्ति, स स्तौति च*, तथा त्वमेतानि समाभर ।।४२।।

भावार्थः—अध्यापका यथा धेनवो वत्सान् प्रीणयन्ति, तथा विद्यार्थिन आनन्दयेयुः । यथाऽश्वाः शीघ्रं ‡गमयन्ति, तथा सर्वविद्यापारगान् [1]कुर्य्युः ।।४२।।

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विद्यार्थी विद्वान् पुरुष ! जैसे मैं (यः) जो (वसुः) निवास का हेतु (अग्निः) अग्नि है उस की (गृणे) अच्छे प्रकार स्तुति करता हूं, (यम्) जिस को (धेनवः) वाणी (समायन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं, और (रघुद्रुवः) धीरज से चलने वाले (अर्वन्तः) प्रशंसित ज्ञानी (सुजातासः) अच्छे प्रकार विद्याओं में प्रसिद्ध (सूरयः) विद्वान् लोग (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेहारे विद्यार्थियों के लिये (इषम्) ज्ञान को (सम्) अच्छे प्रकार धारण करते हैं, और जैसे (सः) वह पढ़ानेहारा ईश्वरादि पदार्थों के गुण वर्णन करता है, वैसे तू भी इन पूर्वोक्तों को (समाभर) ज्ञान से धारण कर ।।४२।।

भावार्थः—अध्यापकों को चाहिये कि जैसे गौ अपने बछरों को तृप्त करती हैं, वैसे विद्यार्थियों को प्रसन्न करें । और जैसे§ घोड़े शीघ्र चल के पहुंचाते हैं, वैसे विद्यार्थियों को सब विद्याओं के पार शीघ्र पहुंचावें ।।४२।।

उभे इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।।

पुनः स किं कुर्यादित्याह ।।

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीषऽ आसनि ।
उतो नऽ उत्पुपूर्याऽ उक्थेषु शवसस्पतऽ इषꣳ स्तोतृभ्यऽ आ भर ।।४३।।

क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्', छान्दसत्वात् तुगभावश्च । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । **क्विबन्तो धातुत्वं न जहातीति** परिभाषया धातुत्वमाश्रित्य **अचि श्नुधातु०** (अ० ६।४।७७) **इति 'उवङ्'** ।।

(**सुजातासः**) **सूपमानात् क्तः** (अ० ६।२।१४५) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । **आज्जसेरसुक्** (अ० ७।१।५०) इत्यसुगागमः ।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

[1]. 'विद्यार्थिनः' इति शेषः ।।४२।।

* 'च' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे परिवर्द्धितः स्यात् ।।

‡ 'गमयन्ति' इति पदं ककोशे नास्ति, गकोशे प्रवर्द्धितम् ।।

§ 'जैसे घोड़े शीघ्र चलते हैं' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ।।

उभे इत्युभे । सुश्चन्द्र । सुचन्द्रेति सुऽचन्द्र । सर्पिषः । दर्वी इति दर्वी । श्रीणीषे । आसनि ॥ उतो इत्युतो । नः । उत् । पुपूर्याः । उक्थेषु । शवसः । पते । इषम् । स्तोतृभ्य इति स्तोतृऽभ्यः । आ । भर ॥४३॥

पदार्थः—(उभे) द्वे अध्ययनाध्यापनक्रिये (सुश्चन्द्र[1]) शोभनश्चासौ चन्द्र आह्लादकारकश्च तत्सम्बुद्धौ (सर्पिषः) घृतस्य (दर्वी) ग्रहणाग्रहणसाधने (श्रीणीषे) पचसि (आसनि) आस्ये (उतो) अपि (नः) *अस्मभ्यम् (उत्) (पुपूर्याः) पूर्णं कुर्य्याः (उक्थेषु) वक्तुं श्रोतुमर्हेषु वेदविभागेषु (शवसः) बलस्य (पते) पालक (इषम्) अन्नम् (स्तोतृभ्यः) विद्वद्भ्यः (आ) (भर) ॥४३॥

अन्वयः—हे सुश्चन्द्र ! त्वं सर्पिषो दर्वी श्रीणीष इवासन्युभे आ भर । हे शवसस्पते ! त्वमुक्थेषु नोऽस्मभ्यम्† उतो अपि स्तोतृभ्य इषं चोत्पुपूर्याः ॥४३॥

भावार्थः—यथर्त्विजो घृतं संशोध्य दर्व्याऽग्नौ हुत्वा वायुवृष्टिजले रोगनाशके कृत्वा सर्वान् सुखयन्ति, तथैवाध्यापका विद्यार्थिमनांसि सुशिक्षया संशोध्य तत्र विद्या हुत्वाऽऽत्मनः पवित्रीकृत्य सर्वान् प्राणिनः सुखयेयुः ॥४३॥

फिर वह क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सुश्चन्द्र) सुन्दर आनन्ददाता अध्यापक पुरुष ! आप (सर्पिषः) घी के (दर्वी) चलाने पकड़ने की दो कर्छी से (श्रीणीषे) पकाने के समान (आसनि) मुख में (उभे) पढ़ने पढ़ाने की दो§ क्रियाओं को (आभर) धारण कीजिये । हे (शवसः) बल के (पते) रक्षकजन ! तू (उक्थेषु) कहने सुनने योग्य वेदविभागों में (नः) हमारे (उतो) और (स्तोतृभ्यः) विद्वानों के लिये (इषम्) अन्नादि पदार्थों को (उत्पुपूर्याः) $उत्कृष्टता से पूरण कर ॥४३॥

---

१. ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे (अ० ६।१।१५१) इति 'सुट्' ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सुश्चन्द्र) आमन्त्रितस्य च (अ० ८। १।१९) इति निघातः ॥

(आसनि) पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्० (अ० ६।१।६३) इत्यास्यशब्दस्य आसन्नादेशः । स च निपातनात् प्रातिपदिकस्वराद्वाऽन्तोदात्तः ॥

(शवसस्पते) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे (अ० २।१।२) इति 'शवसः' इत्यस्य पराङ्गवद्भावः । तेन आमन्त्रितस्य च (अ० ८। १।१९) इत्याष्टमिको निघातः ॥४३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'अस्मान्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

† 'नोऽस्मान्' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

§ 'दो' इति ककोशे नास्ति, गकोशे परिवर्द्धितः ॥

$ 'उत्कृष्टता से' इति ककोशे नास्ति, गकोशे परिवर्द्धितः ॥

भावार्थः—जैसे ऋत्विज् लोग घृत को शोध कर्मों से अग्नि में होम कर और वायु तथा वर्षाजल को रोगनाशक करके सब को सुखी करते हैं, वैसे ही अध्यापक लोगों को चाहिये कि विद्यार्थियों के मन अच्छी शिक्षा से शोध कर उन को विद्यादान देके आत्माओं को पवित्र कर सब को सुखी करें ॥४३॥

अग्ने तमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी गायत्री छन्दः ।

षड्जः स्वर ॥

पुनः स कीदृशः स्यादित्याह ॥

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒स्पृश॑म् ।

ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑ ॥४४॥

अग्ने॑ । तम् । अ॒द्य । अश्व॑म् । न । स्तोमैः॑ । क्रतु॑म् । न । भ॒द्रम् । हृ॒दि॒स्पृश॒मिति॑ हृदि॒ऽस्पृश॑म् ॥ ऋ॒ध्याम॑ । ते॒ । ओहैः॑ ॥४४॥

पदार्थः—(अग्ने) अध्यापक ! (तम्) विद्याबोधम् (अद्य) अस्मिन् वर्त्तमाने समये (अश्वम्) सुशिक्षितं तुरङ्गम् (न) इव (स्तोमैः) विद्यास्तुतिविशेषैर्वेदभागैः (क्रतुम्[1]) *प्रज्ञानम् (न) इव (भद्रम्) कल्याणकरम् (हृदिस्पृशम्) यो हृद्यात्मनि स्पृशति तम् (ऋध्याम) वर्धेमहि । अत्र अन्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घः (ते) तव सकाशात् (ओहैः) विद्यासुखप्रापकैः ॥४४॥

अन्वयः—हे अग्नेऽध्यापक ! वयं ते तव सकाशादोहैः स्तोमैरद्याश्वं न भद्रं क्रतुं न तं †हृदिस्पृशं विद्याबोधं प्राप्य सततमृध्याम ॥४४॥

---

१. (क) क्रतुरिति प्रज्ञानाम । निघ० ३।९। वीर्यं प्रज्ञानं संशिशाधि । ऐ० २।१३। ऋग्वेदभाष्ये (१।६६।३) 'प्रज्ञा कर्म वा' इति दर्शनात् ॥

(ख) करोति कार्याणि येन सः । कृञः क्रतुः (उ० १।७७) अनेन कृञ्धातोः 'क्रतुः' प्रत्ययः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(हृदिस्पृशम्) पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्० (अ० ६।१।६३) इत्यनेन सप्तम्येकवचने हृदयस्य हृद्भावः । यद्वा हृत् प्रकृत्यन्तरम् (द्र० काशिका ६।३।५१)। तस्य सप्तम्यन्त उपपदे स्पृशोऽनुदके क्विन् (अ० ३।२।५८) इति 'क्विन्' । उपपदसमासः । हृद्द्युभ्यां ङेः (अ० ६।३।९ वा०) इति सप्तम्या अलुक् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(ऋध्याम) ऋधु वृद्धौ (स्वा० प०) ।

---

* 'प्रज्ञातम्' इति कगकोशयोरजमेरमुद्रितेषु च लेखकप्रमादजो व्यस्तः पाठः ॥

† 'हृदिस्पृशं विद्याबोधं प्राप्य' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे प्रमादाद्भ्रष्टः स्यात् ॥

अत्रोपमालङ्कारौ।

भावार्थः—अध्येतारो[1] यथा सुशिक्षितेनाश्वेन सद्योऽभीष्टं स्थानं गच्छन्ति, यथा [च] विद्वांसः सर्वशास्त्रबोधसंपन्नया कल्याणकर्या प्रज्ञया धर्मार्थकाममोक्षान् प्राप्नुवन्ति, तथा तेभ्योऽध्यापकेभ्यो विद्यापारं गत्वा प्रशस्तां प्रज्ञां प्राप्य स्वयं वर्धेरन्, अन्यांश्च वेदाध्यापनोपदेशाभ्यामेधयेयुः ॥४४।

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अध्यापक जन ! हम लोग (ते) आप से (ओहैः) विद्या का सुख देने वाले (स्तोमैः) विद्या की स्तुतिरूप वेद के भागों से (अद्य) आज (अश्वम्) घोड़े के (न) समान (भद्रम्) कल्याणकारक (क्रतुम्) बुद्धि के (न) समान (तम्) उस (हृदिस्पृशम्) आत्मा के साथ §सम्बन्ध करने वाले विद्याबोध को प्राप्त हो के निरन्तर (ऋध्याम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥४४॥

इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं।

भावार्थः—अध्येता लोगों को चाहिए कि जैसे अच्छे शिक्षित घोड़े से अभीष्ट स्थान में शीघ्र पहुंच जाते हैं, जैसे विद्वान् लोग सब शास्त्रों के बोध से युक्त कल्याण करनेहारी बुद्धि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को प्राप्त होते हैं, वैसे उन अध्यापकों से पूर्ण विद्या पढ़ प्रशसित बुद्धि को पा के आप उन्नति को प्राप्त हों, तथा वेद के पढ़ाने और उपदेश से अन्य सब मनुष्यों की भी उन्नति करें ॥४४॥

लिङ्युत्तमबहुवचने छन्दस्युभयथा (अ० ३।४।११७) इति लिङ आर्द्धधातुकत्वाद विकरणाभावः, सार्वधातुकत्वाच्च लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (अ० ७।२।७९) इति सकारलोपः। यद्वा — बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इति शपो लुक्। यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (अ० ३।४।१०३) इति यासुट उदात्तत्वे शेषनिघातः। पादादित्वान्निघाताभावः ॥

(ओहैः) वहतेः अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ भा० वा०) इति 'अच्' प्रत्ययः। पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६।३।१०९) इति वकारस्य ओकारः। वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

१. 'वर्द्धेरन्' इत्यस्याः दूरस्थायाः क्रियायाः कर्त्ता ॥४४॥

---

§ 'गन्ध' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः। गकोशे 'बन्ध' इति पाठः। 'संबन्ध' इति तु साधुः पाठोऽत्र ज्ञेयः ॥

अधा ह्यग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशः स्यादित्याह ॥

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः ।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥४५॥

अधं । हि । अग्ने । क्रतोः । भद्रस्यं । दक्षस्य । साधोः ॥ रथीः । ऋतस्यं । बृहतः । बभूथं ॥४५॥

पदार्थः—(अध) अथ *मङ्गले । अत्र निपातस्य च [अ० ६।३।१३६] इति दीर्घः । वर्णव्यत्ययेन थस्य धश्च (हि) खलु (अग्ने) विद्वन् (क्रतोः) प्रज्ञायाः (भद्रस्य) आनन्दकरस्य (दक्षस्य) शरीरात्मबलयुक्तस्य (साधोः) सन्मार्गे वर्त्तमानस्य (रथीः[1]) प्रशस्ता रथा रमणसाधनानि यानानि विद्यन्ते यस्य सः (ऋतस्य) प्राप्तसत्यस्य (बृहतः) महाविषयस्य (बभूथ) भवेः ॥४५॥

अन्वयः—हे अग्ने ! यथा त्वं भद्रस्य दक्षस्य साधोर्ऋतस्य बृहतः क्रतोः सकाशाद्रथीर्बभूथ, तथाऽध हि वयमपि भवेम ॥४५॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः– यथा शास्त्रयोगजां धियं प्राप्य विद्वांसो वर्धन्ते, तथैवाध्येतृभिरपि वर्धितव्यम् ॥४५॥

फिर वह कैसा हो, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् जन ! जैसे तू (भद्रस्य) आनन्दकारक (दक्षस्य) शरीर और आत्मा के बल से युक्त (साधोः) अच्छे मार्ग में प्रवर्त्तमान (ऋतस्य) सत्य

---

१. छन्दसि ईवनिपौ च वक्तव्यौ (अ० ५।२।१०९ वा०) इति 'ई' प्रत्ययः । महीधरस्तु ईरचा व्युत्पादयन् भ्रान्तः । मेधारथाभ्यामीरनीरचौ वक्तव्यौ (अ० ५।२।१०९ वा०) इत्यनेन तु मेधिरः रथिरः शब्दौ सिध्यत ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(रथीः) छन्दसि ईवनिपौ च वक्तव्यौ (अ० ५।२।१०९ वा०) इति रथशब्दान्मत्वर्थीय ईप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(बृहतः) बृहन्महतोरुपसंख्यानम् (अ० ६।१।१७३ वा०) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(बभूथ) छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३।४।६) इति लिट् । थल् । बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे (अ० ७।२।६४) इतीडभावः । लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम् (अ० ८।१।३५) इति निघाताभावः ॥४५॥

॥ इति व्याकरण प्रक्रिया ॥

---

* 'मङ्गले' इति पाठः ककोशे नास्ति, स च गकोशे परिवर्द्धितः ॥

को प्राप्त हुये पुरुष की (बृहतः) बड़े विषय वा ज्ञानरूप (क्रतोः) बुद्धि से (रथीः) प्रशंसित रमणसाधन §यानों से युक्त (बभूथ) हूजिये. वैसे (अध) मङ्गलाचरणपूर्वक (हि) निश्चय करके हम भी होवें ॥४५॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे शास्त्र और योग से उत्पन्न हुई बुद्धि को प्राप्त हो के विद्वान् लोग बढ़ते हैं, वैसे ही अध्येता लोगों को भी बढ़ना चाहिये ॥४५॥

एभिर्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

एभिर्नोऽ अर्कैर्भवा नोऽ अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमनाऽ अनीकैः ॥४६॥

एभिः । नः । अर्कैः । भव । नः । अर्वाङ् । स्वः । न । ज्योतिः ॥ अग्ने । विश्वेभिः । सुमना इति सुऽमनाः । अनीकैः ॥४६॥

पदार्थः—(एभिः) पूर्वोक्तैः (नः) अस्मभ्यम् (अर्कैः) पूज्यैर्विद्वद्भिः (भव) द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (नः) अस्मभ्यम् (अर्वाङ्) योऽर्वाचीनाननुत्कृष्टानुत्कृष्टान् कर्त्तुमञ्चति जानाति सः (स्वः) सुखम् (न) इव (ज्योतिः)

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(एभिः) ऊडिदंपदाद्यप्पुंरैद्युभ्यः (अ० ६।१।१७१) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(अर्कैः) 'अर्च' पूजायाम् (भ्वा० प०) । कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उ० ३।४०) इति 'कः' प्रत्ययः । बहुलवचनात् ककारस्येत्संज्ञाभावः । चो कुः (अ० ८।२।३०) इति कुत्वे झरो झरि सवर्णे (अ० ८।४।६५) इति ककारलोपः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(भव) लोण्मध्यमैकवचने अतो हेः (अ० ६।४।१०५) इति हेर्लुक् । शपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । छान्दसो निघाताभावः ॥

(सुमनाः) सोर्मनसी अलोमोषसी (अ० ६।२।११७) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । यद्वा—आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । 'मनस्' शब्द असुन्नन्तो नित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अनीकैः) अनिहृषिभ्यां किच्च (उ० ४।१७) इतीकन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥४६

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

§ 'यानों' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

प्रकाशकः (अग्ने) विद्याप्रकाशाढ्य (विश्वेभिः) समग्रैः (सुमनाः) सुखकारिमनाः (अनीकैः) सैन्यैरिव ॥४६॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं नोऽस्मभ्यं विश्वेभिरनीकै राजेव सुमना भव। एभिरर्कैर्नोऽस्मभ्यं ज्योतिरर्वाङ् स्वर्न भव ॥४६॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ।

भावार्थः—यथा राजा सुशिक्षितैर्बलयुक्तैः* सैन्यैः शत्रून् जित्वा सुखी भवति, तथैव प्रज्ञादिभिर्गुणैरविद्याक्लेशान् जित्वा मनुष्याः सुखिनः सन्तु ॥४६॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्याप्रकाश से युक्त पुरुष ! आप (नः) हमारे लिये (विश्वेभिः) सब (अनीकैः) सेनाओं के सहित राजा के तुल्य (सुमनाः) मन से सुखदाता (भव) हूजिये। (एभिः) इन पूर्वोक्त (अर्कैः) पूजा के योग्य विद्वानों के सहित (नः) हमारे लिये (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाशक (अर्वाङ्§) नीचों को उत्तम करने को जानने वाले (स्वः) सुख के (न) समान हूजिये ॥४६॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे राजा अच्छी शिक्षा बलयुक्त सेनाओं से शत्रुओं को जीत के सुखी होता है, वैसे ही बुद्धि आदि गुणों से अविद्या से हुये क्लेशों को जीत के मनुष्य लोग सुखी होवें ॥४६॥

अग्निं होतारमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अ॒ग्निꣳ होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसु॑ꣳ सू॒नुꣳ सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम्।
यऽ ऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा।
घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑ वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॑ ॥४७॥

---

* 'बलाढ्यैः' इति तु सार्वत्रिकोऽपपाठः। 'बलयुक्तैः' इति तु सम्यक् स्यात्। भाषापदार्थेऽपि तथैवार्थदर्शनात् ॥

§ '(अर्वाङ्) उत्तम निकृष्ट करने को जानने वाले' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः ॥

अ॒ग्निम् । होता॑रम् । म॒न्ये॒ । दास्व॑न्तम् । वसु॑म् । सू॒नुम् । सह॑सः । जा॒तवे॑दस॒मिति॑ जा॒तऽवे॑दसम् । विप्र॑म् । न । जा॒तऽवे॑दस॒मिति॑ जा॒तऽवे॑दसम् ॥ यः । ऊ॒र्ध्वया॑ । स्व॒ध्व॒र इति॑ सुऽअ॒ध्व॒रः । दे॒वः । दे॒वाच्या॑ । कृ॒पा ॥ घृ॒तस्य॑ । विभ्रा॑ष्टि॒मिति॒ विऽभ्रा॑ष्टिम् । अनु॑ । व॒ष्टि॒ । शो॒चिषा॑ । आ॒जुह्वा॑नस्ये॒त्या॒ऽजुह्वा॑नस्य । स॒र्पिषः॑ ॥४७॥

पदार्थः—(अग्निम्) (होतारम्) सुखदातारम् (मन्ये) सत्करोमि (दास्वन्तम्) दातारम् (वसुम्) धनप्रदम् (सूनुम्) पुत्रमिव (सहसः) बलिष्ठस्य (जातवेदसम्) [1]सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु विद्यमानम् (विप्रम्) [2]आप्तं मेधाविनम् (न) इव (जातवेदसम्) प्रसिद्धप्रज्ञम् (यः) (ऊर्ध्वया) उपरिगत्या (स्वध्वरः) शोभनकारित्वादहिंसनीयः (देवः) दिव्यगुणः (देवाच्या) देवानञ्चति तया (कृपा) [3]समर्थया क्रियया (घृतस्य) उदकस्य (विभ्राष्टिम्) विविधा भ्राष्टयः प्रकाशनानि यस्मिंस्तम् (अनु) (वष्टि) प्रकाशते (शोचिषा) दीप्त्या (आजुह्वानस्य) समन्ताद् धूयमानस्य (सर्पिषः) आज्यस्य ॥४७॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवाच्या कृपा देवः शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषो घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि, तं होतारं जातवेदसं सहसः सूनुमिव वसुं दास्वंतं जातवेदसमग्निं विप्रं न यथाऽहं मन्ये, तथा यूयमपि मन्यध्वम् ॥४७॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा सुसेविता विद्वांसो विद्याधर्मसुशिक्षाभिः सर्वानार्यान् संपादयन्ति, तथा युक्त्या सेवितोऽग्निः स्वगुणकर्मस्वभावैः सर्वानुन्नयति । ४७॥

---

१. जाते जाते विद्यते इति वा । निरु० ७।१९ ॥

२. विप्र इति मेधाविनाम । निघ० ३।१५ ॥

३. देवान् प्रत्यक्तया कृपा, कृपा कृपते र्वा कल्पतेर्वा । निरु० ६।८ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(दास्वन्तम्) दासृ दाने (भ्वा० उ०)। **सम्पदादिभ्यः क्विब्वक्तव्यः** (अ० ३।३।१०८ वा०) इति 'क्विप्'। धातुस्वरः । ततो 'मतुप्'। **तसौ मत्वर्थे** (अ० १।४।१९) इति भसंज्ञावशात् पदत्वाभावः। तेन **ससजुषो रुः** (अ० ८।२।६६) इति रुत्वं न भवति। **झयः** (अ० ८।२।१०) इति मतुपो वत्वम्। मतुपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणैवाद्युदात्तत्वम् ॥

(स्वध्वरः) **नञ्सुभ्याम्** (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । तत्पुरुषे तु समासे स्वरव्यत्ययो द्रष्टव्यः ॥

(देवाच्या) देवान अञ्चति **ऋत्विग्दधृक्स्रक्०** (अ० ३।२।५९) इति 'क्विन्'। **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (अ० ६।४।२४) इत्यनुनासिकलोपः। **अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्** (अ० ४।१।६ वा०) इति 'ङीप्'। **अचः** (अ० ६।४।१३८) इत्यकारलोपः। उदात्तनिवृत्तिस्वरे प्राप्ते **चौ** (अ० ६।१।२२२) इति पूर्वस्यान्तोदात्तत्वम ॥

(कृपा) **कृपू सामर्थ्ये** (भ्वा० आ०)। **क्विप् च** (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्'। **सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते** (परि० ३६) इति **कृपो रो लः** (अ० ८।२।१८) इति लत्वं न भवति। **सावेकाचस्तृतीयादि०** (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

यद्वा — कृपीटकृपणकृपाणकर्पूरादिशब्ददर्शनात् 'कृप' इति धात्वन्तरं द्रष्टव्यम् । तथा **च निरुक्ते** (६।८) **आचार्यो यास्कः** – **'कृप् कृपतेर्वा'** इति । अनेन व्यक्तमवगम्यते 'कृप्'

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यः) जो (ऊर्ध्वया) ऊर्ध्वगति के साथ (स्वध्वरः) शुभ कर्म करने से अहिंसनीय (देवाच्या) विद्वानों के सत्कार की हेतु (कृपा) समर्थ क्रिया से (देवः) दिव्य गुणों वाला पुरुष (शोचिषा) दीप्ति के साथ (आजुह्वानस्य) अच्छे प्रकार हवन किये (सर्पिषः) घी और (घृतस्य) §जल के सकाश से (विभ्राष्टिम्) विविध प्रकार की ज्योतियों को (अनुवष्टि) प्रकाशित करता है, उस (होतारम्) ‡सुख के दाता (जातवेदसम्) उत्पन्न हुये सब पदार्थों में विद्यमान (सहसः) बलवान् पुरुष के (सूनुम्) पुत्र के समान (वसुम्) धनदाता (दास्वन्तम्) दानशील (जातवेदसम्) बुद्धिमानों में प्रसिद्ध (अग्निम्) तेजस्वी अग्नि के (न) समान (विप्रम्) आप्त ज्ञानी का मैं (मन्ये‡) सत्कार करता हूं, वैसे तुम लोग भी उस को मानो ॥४७॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे अच्छे प्रकार सेवन किये विद्वान लोग विद्या धर्म और अच्छी शिक्षा से सब को आर्य करते हैं, वैसे युक्ति से सेवन किया अग्नि अपने गुण कर्म और स्वभावों से $सब के सुख की उन्नति करता है ॥४७॥

अग्ने त्वन्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

इति तौदादिकं धात्वन्तरमिति। तस्मात् पूर्ववत् 'क्विप्' ॥

(**विभ्राष्टिम्**) **भ्राजृ दीप्तौ** (भ्वा० आ०)। **स्त्रियां क्तिन्** (अ० ३।३।९४) इती 'क्तिन्'। **तितुत्रतथ०** (अ० ७।२।९) इति-डभावः। **व्रश्चभ्रस्ज०** (अ० ८।२।३६) इति षत्वम्। ष्टुत्वम्। **बहुव्रीहौ प्रकृत्या०** (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। तत्पुरुषे तु समासे **ताबौ च निति कृत्यतौ** (अ० ६।२।५०) इति पूर्वपदगतिस्वरः ॥

(**आजुह्वानस्य**) **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। जुह्वानशब्दः शानच्प्रत्ययान्तः। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। विकरणव्यत्ययेन कर्मण्यपि शबेव। तस्य श्लुः। द्विर्वचनमभ्यासकार्यम्। अभ्यस्तानामादिः (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तः ॥४७॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

§ 'जल के सकाश से' इति ककोशे नास्ति, गकोशे परिवर्द्धितः ॥

‡ 'सुख के ग्रहीता' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे सशोधितः ॥

‡ '(मन्ये) मानता हूं' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः ॥

$ 'सब को सुखी करता है' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः ॥

अग्ने त्वं नोऽ अन्तमऽ उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽ अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥४८॥

अग्ने । त्वम् । नः । अन्तमः । उत । त्राता । शिवः । भव । वरूथ्यः ॥ वसुः । अग्निः । वसुश्रवा इति वसुऽश्रवाः । अच्छ । नक्षि । द्युमत्तममिति द्युमत्ऽतमम् । रयिम् । दाः ॥ तम् । त्वा । शोचिष्ठ । दीदिव इति दीदिऽवः । सुम्नाय । नूनम् । ईमहे । सखिभ्य इति सखिऽभ्यः ॥४८॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् ! (त्वम्) (नः) अस्माकम् (अन्तमः) अतिशयेनान्तिकः । अन्तमानामित्यन्तिकनामसु पठितम् । निघं० २।१६ (उत) अपि (त्राता) रक्षकः (शिवः) मङ्गलकारी (भव) द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः (वरूथ्यः) *वरः श्रेष्ठ एव वरूथ्यः (वसुः) धनप्रदः (अग्निः) प्रापकः (वसुश्रवाः) वसूनिधनानि श्रवांस्यन्नानि च यस्मात्सः (अच्छ) अत्र संहितायाम् [अ० ६।३।११३] इति दीर्घः (नक्षि) प्राप्नोमि । अत्र नक्ष गतावित्यस्माल्लङुत्तमैकवचनेऽड्विकरणयोरभावः (द्युमत्तमम्) प्रशस्ता दिवः प्रकाशाः कामना वा विद्यन्ते यस्मिन् सोऽतिशयितस्तम् (रयिम्) धनम् (दाः) ददाति । अत्राप्यडभावः (तम्) (त्वा) त्वाम् (शोचिष्ठ) अतिशयेन तेजस्विन् (दीदिवः) ये [1]दीदयन्ति ते दीदयः प्रकाशास्ते बहवो विद्यन्ते यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ (सुम्नाय) सुखाय (नूनम्) निश्चितम् (ईमहे[2]) याचामहे (सखिभ्यः) मित्रेभ्यः ॥४८॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं यथाऽयं वसुर्वसुश्रवा अग्नी रयिन्दा ददाति, तथा नोऽस्माकमन्तमस्त्राता वरूथ्य उतापि शिवो भव । हे शोचिष्ठ दीदिवो विद्वन् ! यथा वयं त्वा सखिभ्यः सुम्नाय नूनमीमहे, तथा तं त्वां† सर्वे मनुष्या याचन्ताम् । यथाऽहं द्युमत्तमं त्वामच्छ नक्षि प्राप्नोमि, तथा त्वमस्मान् प्राप्नुहि ॥४८॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

---

१. 'दीदयति' इति ज्वलतिकर्मसु । निघ० १।१६ ॥ दीदयत् = दीप्यते । निरु० १०।१६ ॥

२. 'ईमहे' इति याच्ञाकर्मसु । निघ० ३।१९ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वरूथ्यः) वृञ् वरणे (स्वा० उ०) । अस्मात् जॄवृभ्यामूथन् (उ० २।६) इत्यूथन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः । ततः तत्र साधुः (अ० ४।४।९८) इति 'यत्'। तित्स्वरितम् (अ० ६।१।१७९) इत्यन्तस्वरितत्वम् । भाष्यं त्वर्थप्रदर्शनपरम् । यद्वा — छान्दसः स्वार्थे 'यत्' द्रष्टव्यः ॥

शिष्टा प्रक्रिया पूर्वत्र (यजु० ३।२५) व्याख्याता ॥४८॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'वरः' इत्येव अजमेरमुद्रिते पाठः । 'श्रेष्ठ एव वरूथः' इति ककोशे पाठः । स च लिपिकरप्रमादान्नष्टः । 'वरूथः' इत्यत्र 'वरूथ्यः' इति शुद्धः पाठो द्रष्टव्यः ॥

† 'त्वाम्' इति कगकोशयोर्नास्ति । स च मुद्रणे प्रवर्द्धितः स्यात् ॥

भावार्थः—यथा सुहृदो मित्राणीच्छन्ति§उन्नयन्ति, तथा विद्वान् सर्वस्य मित्रः सर्वान् सुखिनः सम्पादयेत् ॥४८॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! (त्वम्) आप जैसे यह (वसुः) धनदाता (वसुश्रवाः) अन्न और धन का हेतु (अग्निः) अग्नि (रयिम्) धन को (दाः) देता है, वैसे (नः) हमारे (अन्तमः) अत्यन्त समीप (त्राता) रक्षक (वरूथ्यः) श्रेष्ठ (उत) और (शिवः) मङ्गलकारी (भव) हूजिये। हे (शोचिष्ठ) अतितेजस्वी (दीदिवः) बहुत प्रकाशों से युक्त वा कामना वाले विद्वन् ! जैसे हम लोग (त्वा) तुझ को (सखिभ्यः) मित्रों से (सुम्नाय) सुख के लिये (नूनम्) निश्चय (ईमहे) मांगते हैं, वैसे (तम्) उस तुझ को सब मनुष्य चाहें। जैसे मैं (द्युमत्तमम्) प्रशंसित प्रकाशों से युक्त तुझ को (अच्छ) अच्छे प्रकार (नक्षि) $प्राप्त होता हूं, वैसे तू हम को प्राप्त हो ॥४८॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जैसे मित्र अपने मित्रों को चाहते और उनकी उन्नति करते हैं, वैसे विद्वान् सब का मित्र सब को सुख देवे ॥४८॥

येन ऋषय इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

येनऽ ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धानाऽ अग्निꣳ स्वराभरन्तः।
तस्मिन्नहं निदधे नाकेऽ अग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम् ॥४९॥

येन। ऋषयः। तपसा। सत्रम्। आयन्। इन्धानाः। अग्निम्। स्वः। आभरन्त इत्याऽभरन्तः। तस्मिन्। अहम्। नि। दधे। नाके। अग्निम्। यम्। आहुः। मनवः। स्तीर्णबर्हिषमिति स्तीर्णऽबर्हिषम् ॥४९॥

पदार्थः—(येन) कर्मणा (ऋषयः) वेदार्थवेत्तारः (तपसा) धर्माऽनुष्ठानेन (सत्रम्) सत्रा[1] सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने तत् (आयन्) प्राप्नुयुः (इन्धानाः) प्रकाशमानाः

१. 'सत्रा' इति सत्यनामसु। निघ० ३।१० ॥ अन्ये तु अग्निविशेषणतया योजयन्ति ॥

§ 'इच्छन्ति' इति कगकोशयोर्नास्ति। मुद्रणे परिवर्धितः स्यात् ॥

$ 'प्राप्त होके वैसे तू हम को प्राप्त हूजिये' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितो वेदितव्यः ॥

(अग्निम्) विद्युदादिम् (स्वः) सुखम् (आभरन्त) समन्ताद्धरन्त (तस्मिन्) (अहम्) (निदधे) (नाके[1]) अविद्यमानदुःखे सुखे प्राप्तव्ये सति (अग्निम्) उक्तम् (यम्) (आहुः) वदन्ति (मनवः[2]) मननशीला विद्वांसः (स्तीर्णबर्हिषम्) स्तीर्णमाच्छादितं [3]बर्हिरन्तरिक्ष येन तम्। [अयं मन्त्रः श० ८।६।३।१८ व्याख्यातः] ।।४६।।

अन्वयः—येन तपसेन्धानाः स्वराभरन्त ऋषयः सत्रमग्निमायन्, तस्मिन्नाके मनवो यं स्तीर्णबर्हिषमग्निमाहुस्तमहं निदधे ।।४६।।

भावार्थः—येन प्रकारेण वेदपारगाः सत्यमनुष्ठाय विद्युदादिपदार्थान् सम्प्रयुज्य समर्था भवन्ति, तेनैव मनुष्यैः समृद्धियुक्तैर्भवितव्यम् ।।४६।।

फिर भी उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—(येन) जिस (तपसा) धर्मानुष्ठानरूप कर्म से (इन्धानाः) प्रकाशमान (स्वः) सुख को (आभरन्तः) अच्छे प्रकार धारण करते हुये (ऋषयः) वेद का अर्थ जानने वाले ऋषि लोग (सत्रम्) सत्य विज्ञान से युक्त (अग्निम्) विद्युत् आदि अग्नि को (आयन्) प्राप्त हों, (तस्मिन्*) उस कम के होते (नाके) दुःखरहित प्राप्त होने योग्य सुख के निमित्त (मनवः) विचारशील विद्वान् लोग (यम्) जिस (स्तीर्णबर्हिषम्) आकाश को आच्छादन करने वाले (अग्निम्) अग्नि को (आहुः) कहते हैं उस को (अहम्) मैं (नि दधे) धारण करता हूं ।।४६।।

भावार्थः—जिस प्रकार से वेदपारग विद्वान् लोग सत्य का अनुष्ठान कर बिजुली आदि पदार्थों को उपयोग में ला के समर्थ होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों को समृद्धियुक्त होना चाहिये ।।४६।।

---

१. स्वर्गो वै लोको नाकः। श० ८।६।३।१८ ।।
२. ये विद्वांसस्ते मनवः। श० ८।६।३।१८ ।।
३. 'बर्हिः' इत्यन्तरिक्षनाम। निघ० १।३ ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सत्रम्) अर्श आदिभ्योऽच् (अ० ५।२।१२७) इत्यच्। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। इतरस्तु 'सत्र'शब्दो यजु० ८।५२ व्याख्यातः ।।

(आयन्) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे आट्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ।।

(इन्धानाः) पूर्वं (यजु० ३।१८) व्याख्यातः ।।

(आभरन्तः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। 'भरन्तः' इत्यस्य शत्रन्तत्वात् तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेण 'भ' उदात्तः ।।

(आहुः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।।

(स्तीर्णबर्हिषम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। 'स्तीर्ण' शब्दः क्तप्रत्ययान्तः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ।।४६।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

* '(तस्मिन्) उस (नाके) दुःखरहित सुख में' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः ।।

तं पत्नीभिरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वद्भिः कथं भवितव्यमित्याह ॥

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः ।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठेऽअधि रोचने दिवः ॥५०॥

तम् । पत्नीभिः । अनु । गच्छेम । देवाः । पुत्रैः । भ्रातृभिरिति भ्रातृऽभिः । उत । वा । हिरण्यैः ॥ नाकम् । गृभ्णानाः । सुकृतस्येति सुऽकृतस्य । लोके । तृतीये । पृष्ठे । अधि । रोचने । दिवः ॥५०॥

पदार्थः—(तम्) अग्निम् (पत्नीभिः) स्वस्वस्त्रीभिः (अनु) (गच्छेम) (देवाः) विद्वांसः (पुत्रैः[1]) वृद्धावस्थाजन्यदुःखात् त्रातृभिः (भ्रातृभिः) बन्धुभिः (उत) (वा[2]) अन्यैरनुक्तैः सम्बन्धिभिः (हिरण्यैः) सुवर्णादिभिः (नाकम्) आनन्दम् (गृभ्णानाः) गृह्णन्तः (सुकृतस्य) *सुष्ठुकृतस्य वेदोक्तकर्मणः (लोके) †द्रष्टव्ये स्थाने (तृतीये) विज्ञानजे (पृष्ठे[3]) ज्ञीप्सिते (अधि) उपरिभागे (रोचने) रुचिकरे (दिवः) द्योतनकर्मणः । [अयं मन्त्रः श० ८।६।३।१९ व्याख्यातः] ॥५०॥

अन्वयः हे देवा विद्वांसः ! यथा यूयं §तं गृभ्णाना दिवः सुकृतस्याधिरोचने तृतीये

---

१. पुत्र पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुं नरकं ततस्त्रायते इति वा । निरु० २।११ ॥

२. 'वा' शब्दस्य समुच्चयार्थत्वेनायमर्थोऽत्र समुच्चीयते, इति ध्येयम् । द्र० निरु० १।४॥ अपि समुच्चयार्थं । निरु० १।४ ॥

३. प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (तु० प०)। इत्यस्य रूपमिति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(पत्नीभिः) पातेर्डतिः (उ० ४।५७) इति 'डति' प्रत्ययान्तः पतिशब्दः । प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्त । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (अ० ४।१।३३) इति ङीम्नकारौ । ङीपः पित्त्वात् पूर्वोक्त एव प्रत्ययस्वरः ॥

(पुत्रैः) पूर्वं (यजु० ३।३३) व्याख्यातः ॥

(भ्रातृभिः) पूर्वं (यजु० ४।२०) व्याख्यातः ॥

(गृभ्णानाः) लटः शतृशानचावः (अ० ६।२।१२४) इति ग्रहधातोः (क्र्या० उ०) 'शानच' । चित्त्वात् चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य (अ० ८।२।३२ वा०) इति हकारस्य भकारः यद्वा—गृभ स्वतन्त्रो धातुः। तथा च निरुक्तम्—गर्भो गृभेः (निघ० १०।२३) ॥५०॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'धार्मिकस्य' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

† 'संघाते' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

§ 'तम्' इति तु कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे परिवर्धितः ॥

पृष्ठे लोके वर्त्तमानाः पत्नीभिः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः सह नाकं गच्छत, तथैतैः सहिता वयमनुगच्छेम ॥५०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा विद्वांसः स्वस्त्रीपुत्रभ्रातृदुहितृमातृपितृभृत्यपार्श्वस्थान् विद्यासुशिक्षाभ्यां धार्मिकान् पुरुषार्थिनः कृत्वा सन्तुष्टा भवन्ति, तथैव सर्वैरप्यनुवर्त्यम् ॥५०॥

विद्वानों को कैसा होना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (देवाः) विद्वान् लोगो! जैसे तुम लोग (तम्) उस पूर्वोक्त अग्नि को (गृभ्णानाः) ग्रहण करते हुये (दिवः) प्रकाशयुक्त (सुकृतस्य) सुन्दर वेदोक्त कर्म (अधि) में वा (रोचने) रुचिकारक (तृतीये) विज्ञान से हुये (पृष्ठे) जानने को इष्ट (लोके$) विचारने वा देखने योग्य स्थान में वर्त्तमान (पत्नीभिः) अपनी अपनी स्त्रियों (पुत्रैः) वृद्धावस्था में हुये दुःख से रक्षक पुत्रों (भ्रातृभिः) बन्धुओं (उत वा) और अन्य सम्बन्धियों तथा (हिरण्यैः) सुवर्णादि के साथ∫ (नाकम्) आनन्द को प्राप्त होते हो, वैसे इन सब के सहित हम लोग भी (अनु गच्छेम‡) अनुगत हों ॥५०॥

†इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे विद्वान् लोग अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, कन्या, माता, पिता, सेवक, पड़ोसियों को विद्या और अच्छी शिक्षा से धर्मात्मा पुरुषार्थी करके सन्तोषी होते हैं, वैसे ही सब मनुष्यों को होना चाहिये ॥५०॥

आ वाच इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ईश्वरवद्राज्ञा किं कार्य्यमित्याह ॥

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः ।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥५१॥

आ । वाचः । मध्यम् । अरुहत् । भुरण्युः । अयम् । अग्निः । सत्पतिरिति सत्ऽपतिः ।

$ '(लोके) संघात में' इति ककोशे पाठः । स च गकोशे संशोधितः ॥

∫ 'साथ जिस सुख को' इति गकोशे पाठः ।' (नाकम्) आनन्द को' इति गकोशे नास्ति । मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

‡ '(अनुगच्छेम) प्राप्त होवें' इति गकोशे पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

† 'इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है' इति गकोशे पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥

चेकितानः ।। पृष्ठे । पृथिव्याः । निहित इति निऽहितः । दविद्युतत् । अधस्पदम् । अधःपदमित्यधःऽपदम् । कृणुताम् । ये । पृतन्यवः ।।५१।।

पदार्थः—(आ) (वाचः) (मध्यम्) मध्ये भवम् (अरुहत्) रोहति (भुरण्युः[1]) पोषकः (अयम्) (अग्निः) विद्वान् (सत्पतिः[2]) सतां पालकः (चेकितानः) विज्ञानयुक्तः (पृष्ठे) उपरिभागे (पृथिव्याः) भूमेः (निहितः) नितरां धृतः (दविद्युतत्[3]) प्रकाशयति (अधस्पदम्) नीचाधिकारम् (कृणुताम्) करोतु (ये) (पृतन्यव) युद्धायात्मनः पृतनां सेनामिच्छवः । [अयं मन्त्रः श० ८।६।३।२० व्याख्यातः] ।।५१।।

अन्वयः—हे विद्वन् ! चेकितानः सत्पतिर्भवान् वाचो मध्यं प्राप्य यथाऽयं भुरण्युरग्निः पृथिव्याः पृष्ठे निहितो दविद्युतदारुहत्, तेनये पृतन्यवस्तानधस्पदं कृणुताम् ।।५१।।

भावार्थः—विद्वांसो *राजानो यथेश्वरो ब्रह्माण्डस्य मध्ये सूर्य्यं निधाय सर्वान् सुखेनोपकरोति, तथैव राज्यमध्ये विद्याबले धृत्वा शत्रून् जित्वा प्रजास्थान् मनुष्यानुपकुर्य्युः ।।५१।।

---

१. भुरण्युरिति भर्त्ता । श० ८।६।३।२० ॥

२. सत्पतिश्चेकितान इत्ययमग्निः सतां पतिश्चेतयमानः । श० ८।६।३।२० ।।

३. पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतत् इति पृष्ठे पृथिव्या निहितो दीपमानः । श० ८।६।३।२०। अनेन सुबन्तमिदमिति केचिदाशङ्कन्ते । तन्न, तिङन्तत्वस्यापि सम्भवात् । तत्कथमिति शृणुत—

(क) ऋग्वेदे—दविद्युतत् इति पदं सर्वनिघातम् । ऋ० १०।९५।३ इति दृश्यते । तेन सुव्यक्तं गम्यते तिङन्तमिदमिति । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इत्यनेनैव निघातस्य सम्भव इति । तथैव च सायणोऽपि अत्र मन्त्रभाष्ये 'न दविद्युतत् न विद्योतते' इत्याह ।।

(ख) तै० सं० ४।७।१३।३ भाष्येऽत्रापि सायणः—'दविद्युतत् अतिशयेन द्योतते' इत्याह ।।

(ग) अथर्व० २०।१७।४ भाष्येऽपि सायणः—'दविद्युतत् द्योतते' इत्याह । 'दाधर्त्ति- दर्धर्त्ति० (अ० ७।४।६५) इत्यादिना यङ्लुगन्ताद् द्युतेः शतरि, अभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावः, अभ्यासस्य अत्वं विगागमश्च निपात्यते' ।।

(घ) यत्तु काशिकाकारेण वामनेनोक्तम् (अ० ७।४।६५) — 'दविद्युतदिति । द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावोऽत्वं विगागमश्च निपात्यते' । अस्मिन् पक्षे अभ्यस्तानामादिः (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वमिति द्रष्टव्यम् ।।

तिङन्तपक्ष इह कथमाद्युदात्तस्वरसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां व्यत्ययेन निघातस्वराभाव इति मन्तव्यम् । तत्र च सायण आचार्यदयानन्दोऽप्युभौ सम्मताविति ध्येयम् ।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(मध्यम्) पूर्वं (यजु० ६।२) व्याख्यातः ।।

(भुरण्युः) पूर्वं (यजु० १३।४३) व्याख्यातः ।।

---

* 'राजानः' इति कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धित इति ।।

ईश्वर के तुल्य राजा को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष ! (चेकितानः) विज्ञानयुक्त (सत्पतिः) श्रेष्ठों के रक्षक आप (वाचः) वाणी के (मध्यम्) बीच हुये उपदेश को प्राप्त हो के जैसे (अयम्) यह (भुरण्युः) पुष्टिकर्त्ता (अग्निः) विद्वान् (पृथिव्याः) भूमि के (पृष्ठे) ऊपर (निहितः) निरन्तर स्थिर किया (दविद्युतत्) उपदेश से सब को प्रकाशित करता और धर्म पर (आ रुहत्) आरूढ़ होता है, उस के साथ (ये) जो लोग (पृतन्यवः) युद्ध के लिये सेना की इच्छा करते हैं, उन को (अधस्पदम्) अपने अधिकार से च्युत जैसे† हों वैसा (कृणुताम्) कीजिये ।।५१।।

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि जैसे ईश्वर ब्रह्माण्ड में सूर्यलोक को स्थापन करके सब को सुख पहुचाता है, वैसे ही राज्य में विद्या और बल को धारण कर शत्रुओं को जीत के प्रजा के§ मनुष्यों का सुख से उपकार करें ।।५१।।

अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

(सत्पतिः) **पत्यावैश्वर्ये** (अ० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । 'सत्' शब्दः शत्रन्तः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ।।

(चेकितानः) कित निवासे रोगापनयने च (भ्वा० प०)। इत्यस्य धातूनामनेकार्थत्वाद् ज्ञानार्थत्वमपि । अस्माद् यङ्लुगन्तात् लटः **शतृशानचा०** (अ० ३।२।१२४) इति 'शानच्' । **अभ्यस्तानामादिः**(अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ।।

(**निहितः**) **गतिरनन्तरः** (अ० ६।२।४९) इति गतिस्वरः ।।

(**दविद्युतत्**) नामपक्षे द्युत दीप्तौ (भ्वा० आ०) **दाधर्त्तिदर्धर्त्ति०** (अ० ७।४।६५) यङ्लुकि शतरि प्रत्यये **द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्** (अ० ७।४।६७) इति प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्याभावः, अत्वं विगागमश्च निपात्यते । यङ्लुकः 'चर्करीतं च' इत्यादौ पाठात् शपो लुक् । **अभ्यस्तानामादिः** (अ० ६।१।१८९)। इत्याद्युदात्तत्वम् । तिङन्तपक्षे शत्रन्तो दविद्युतच्छब्द उपलक्षणार्थो द्रष्टव्यः । शिष्टं पूर्वं तृतीयटिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ।।

(**अधस्पदम्**) पदस्याध इत्यधस्पदम् । **सुप्सुपेति योगविभागात्** (अ० २।१।३ भा० वा०) समासः । **समासस्य** (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।।

(**पृतन्यवः**) पृतनमिच्छतीति, **सुप आत्मनः क्यच्** (अ० ३।१।८) इति 'क्यच्' । **कव्यध्वरपृतनस्यर्चि०** (अ० ७।४।३९) इत्याकारलोपः । **क्याच्छन्दसि** (अ० ३।२।१७०) इत्युः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ।।५१।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

† 'जैसा हो वैसा' इति पाठः कगकोशयोर्नास्त्येव । मुद्रणे परिवर्द्धितः, इति ध्येयम् ।।

§ 'के मनुष्यों' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति, मुद्रणे प्रवर्द्धितः, इति ध्येयम् ।।

धार्मिकजनवदितरैर्वर्त्तितव्यमित्याह ॥

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन् ।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽ उप प्र याहि दिव्यानि धाम ॥५२॥

अयम् । अग्निः । वीरतम इति वीरऽतमः । वयोधा इति वयःऽधाः । सहस्रियः । द्योतताम् । अप्रयुच्छन्नित्यप्रऽयुच्छन् ॥ विभ्राजमान इति विऽभ्राजमानः । सरिरस्य । मध्ये । उप । प्र । याहि । दिव्यानि । धाम ॥५२॥

पदार्थः—(अयम्) (अग्निः) पावक इव सेनापतिः (वीरतमः) वेति स्वबलेन शत्रुबलं व्याप्नोति सोऽतिशयितः (वयोधाः) यः सर्वेषां जीवनं दधाति सः (सहस्रियः) सहस्रेणासङ्ख्यातेन योद्धृसमूहेन [1]सम्मितस्तुल्यः (द्योतताम्[2]) प्रकाशताम् (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् (विभ्राजमानः) विशेषेण विद्यान्यायाभ्यां देदीप्यमानः (सरिरस्य[3]) अन्तरिक्षस्य (मध्ये) (उप) (प्र) (याहि) प्राप्नुहि (दिव्यानि) (धाम) जन्मकर्मस्थानानि। [अयं मन्त्रः श० ८।६।३।२१ व्याख्यातः] ॥५२॥

अन्वयः—योऽयं वीरतमो वयोधाः सहस्रियः सरिरस्य मध्ये विभ्राजमानोऽप्रयुच्छन्नग्निरिव स* भवान् द्योतताम्, दिव्यानि धाम धामानि त्वमुपप्रयाहि ॥५२॥

भावार्थः—मनुष्या धार्मिकैर्जनैः सहोषित्वा प्रमादं विहाय जितेन्द्रियत्वेन जीवनं वर्धयित्वा विद्याधर्मानुष्ठानेन पवित्रा भूत्वा परोपकारिणः सन्तु ॥५२॥

धर्मात्माओं के तुल्य अन्य लोगों को वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो (अयम्) यह (वीरतमः) अपने बल से शत्रुओं को अत्यन्त व्याप्त

---

१. सहस्रेण सम्मितौ घः (अ० ४।४।१३५) इति 'घः' प्रत्ययः ॥

२. द्योततामप्रयुच्छन् दीप्यतामप्रमत्तः । श० ८। ६।३।२१ ॥

३. इमे वै लोकाः सरिरम् । श० ८।६।३।२१ ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वीरतमः) स्फायितञ्चि० (उ० २। १३) इति वेते 'रक्' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो वीरशब्दः । ततः 'तमप्' । तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वम् ॥

(वयोधाः) पूर्वं (यजु० १५।७) व्याख्यातः ॥

(सहस्रियः) सहस्रेण सम्मितौ घः (अ० ४।४।१३५) इति घ' । इयादेशः । प्रत्ययस्वरेण इकार उदात्तः ॥

(अप्रयुच्छन्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(विभ्राजमानः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपोऽनुदात्तत्वाद् धातुस्वरः ॥

(सरिरस्य) पूर्वं (यजु० १३।४२) व्याख्यातः ॥५२॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'अस्ति स भवान्' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

होने तथा (वयोधाः) सब के जीवन को धारण करने वाला (सहस्रियः) असंख्य‡ योद्धाजनों के समान योद्धा (सरिरस्य) आकाश के (मध्ये) बीच (विभ्राजमानः) विशेष करके विद्या और न्याय से प्रकाशित, सो (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होते§ हुये (अग्निः) अग्नि के तुल्य $सेनापति आप (द्योतताम्) प्रकाशित हूजिये, और (दिव्यानि) अच्छे (धाम) जन्म कर्म और स्थानों को (उप प्र याहि) प्राप्त हूजिये ॥५२॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि धर्मात्मा जनों के साथ निवास कर प्रमाद को छोड़ और जितेन्द्रियता से अवस्था बढ़ा के विद्या और धर्म के अनुष्ठान से पवित्र होके परोपकारी होवें ॥५२॥

संप्रच्यवध्वमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

कथं विवाहं कृत्वा किं कुर्य्यातामित्याह ॥

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम् ।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥५३॥

सम्प्रच्यवध्वमिति सम्ऽप्रच्यवध्वम् । उप । सम्प्रयातेति सम्ऽप्रयात । अग्ने । पथः । देवयानानिति देवऽयानान् । कृणुध्वम् ॥ पुनरितिपुनः । कृण्वाना । पितरा । युवाना । अन्वाताꣳसीदित्यनुऽआताꣳसीत् । त्वयि । तन्तुम् । एतम् ॥५३॥

पदार्थः - (संप्रच्यवध्वम्) सम्यग्गच्छत (उप) (संप्रयात) सम्यक् प्राप्नुत (अग्ने) विद्वन् ! (पथः) मार्गान् (देवयानान्) देवा धार्मिका यान्ति येषु तान् (कृणुध्वम्) कुरुत (पुनः) (कृण्वाना) कुर्वन्तौ (पितरा) पालकौ मातापितरौ (युवाना) पूर्णयुवावस्थास्थौ । अत्र सर्वत्र विभक्तेराकारादेशः (अन्वातांसीत्) पश्चात् समन्तात्तनुताम । अत्र वचनव्यत्ययेन द्विवचनस्थान एकवचनम् (त्वयि) पितामहे विद्यमाने सति (तन्तुम्) सन्तानम् (एतम्) गर्भाधानादिरीत्या यथोक्तम् । [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।२४ व्याख्यातः] ॥५३॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(सम्प्रच्यवध्वम्, संप्रयात) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति तिङन्तनिघाते निपातस्वरेण 'प्र' उदात्तः । तत उदात्तवता गतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः । गतिर्गतौ (अ० ८।१।७०) इति पूर्वो गतिर्निहन्यते ॥

(अग्ने) वाक्यादित्वादाष्टमिको निघातो

---

‡ 'असंख्य जनों के साथ' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

§ 'होते' इति पाठः कगकोशयोर्नास्ति, स च मुद्रणे परिवर्धितः ॥

$ 'सेनापति हो सो' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं विद्या उपसम्प्रयात, देवयानान् पथः सम्प्रच्यवध्वं, *धर्मं कृणुध्वम् । हे अग्ने ! त्वयि पितामहे विद्यमाने सति पितरा† ब्रह्मचर्यं कृण्वाना युवाना भूत्वा स्वयंवरं विवाहं कृत्वा पुनरेतं तन्तुमन्वातांसीत् ।५३ ।

भावार्थः—§कुमारा धर्म्येण सेवितब्रह्मचर्य्येण पूर्णा विद्या अधीत्य स्वयं धार्मिका भूत्वा पूर्णयुवावस्थायां प्राप्तायां कन्यानां पुरुषाः पुरुषाणां च कन्याः परीक्षां कृत्वाऽत्यन्त-प्रीत्याऽऽकर्षितहृदयाः $स्वेच्छया विवाहं विधाय धर्मेण सन्तानानुत्पाद्य सेवया मातापितरौ च सन्तोष्याप्तानां विदुषां मार्गं सततमन्वाययुः । यथा ∫सरलान् धर्ममार्गान्कुर्य्युस्तथैव भूमिजलान्तरिक्षमार्गानपि‡ निष्पादयेरन् ॥५३॥

स्त्रीपुरुष कैसे विवाह करके क्या करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग विद्याओं को (उपसंप्रयात) अच्छे प्रकार प्राप्त होओ, (देवयानान्) धार्मिकों के [गन्तव्य] (पथः) मार्गों से (संप्रच्यवध्वम्) सम्यक् चलो, §§धर्म को (कृणुध्वम्) करो। हे (अग्ने) विद्वान् पितामह ! (त्वयि) तुम्हारे बने रहते ही (पितरा) रक्षा करने वाले माता पिता तुम्हारे‡ पुत्र आदि ब्रह्मचर्य्य को (कृण्वाना) करते हुये (युवाना) पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो और स्वयंवर विवाह कर (पुनः) पश्चात् (एतम्) गर्भाधानादिरीति से यथोक्त (तन्तुम्) सन्तान को (अन्वातांसीत्) अनुकूल उत्पन्न करें ॥५३॥

भावार्थः—कुमार स्त्रीपुरुष धर्मयुक्त सेवन किये ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण विद्या पढ़ आप धार्मिक हो पूर्ण युवावस्था की प्राप्ति में कन्याओं की पुरुष और पुरुषों की कन्या परीक्षा

न भवति । तदभावे **आमन्त्रितस्य च** (अ० ६।१।१६८) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(**पथः**) पथिन् शब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । शसि **भस्य टेर्लोपः** (अ० ७।१।८८) इति टिलोपे, **अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः** (अ० ६।१।१६१) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(**देवयानान्**) पूर्वं (यजुः ५।३३) व्याख्यातः ॥

(**अन्वातांसीत्**) **तनु विस्तारे** (तना० उ०)। लुङि सिचि छान्दस इडभावः । **वदव्रजहलन्तस्याचः** (अ० ७।२।३) इति वृद्धिः । **तिङ्ङतिङः** (अ० ८।१।२८) इति निघातः । **उदात्तवता गतिमता च तिङा** (अ० २।२।१८ वा०) इति समासः । **गतिर्गतौ** (अ० ८।१।७०) इति पूर्वगतेर्निघातः ॥५३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'धर्मप्रचारम्' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥
† 'पुत्रौ ब्रह्मचर्यं कृण्वानौ इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥
§ 'कुमारैः' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥
$ 'सन्तः स्वेच्छया' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥
∫ 'शुद्धान सरलान्' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥
‡ अत्र 'मार्गान्' इति पदं कगकोशयोर्नास्ति, स च मुद्रणे परिवर्द्धितः ॥
§§ 'धर्म का प्रचार' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥
‡ यहां कुछ पाठ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है ॥

कर, अत्यन्त प्रीति के साथ चित्त से परस्पर आकर्षित होके अपनी इच्छा से विवाह कर, धर्मानुकूल सन्तानों को उत्पन्न [कर] और सेवा से अपने माता पिता का संतोष कर के आप्त विद्वानों के मार्ग से निरन्तर चलें। और जैसे धर्म के ʃमार्गों को सरल करें, वैसे ही भूमि जल और अन्तरिक्ष के मार्गों को भी बनावें ॥५३॥

उद्बुध्यस्वेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑ जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्त्ते सꣳसृ॑जेथाम॒यं च॑।
अ॒स्मिन्त्स॒धस्थे॒ऽ अध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ दे॒वा यज॑मानश्च सीदत ॥५४॥

उत्। बु॒ध्य॒स्व॒। अ॒ग्ने॒। प्रति॑। जा॒गृ॒हि॒। त्वम्। इ॒ष्टा॒पू॒र्त्ते इती॑ष्टाऽपू॒र्त्ते। सम्। सृ॒जे॒था॒म्। अ॒यम्। च॒॥ अ॒स्मिन्। स॒धस्थ॒ इति॑ स॒धऽस्थे॑। अधि॑। उत्त॑रस्मि॒न्नित्युत्ऽत॑रस्मिन्। विश्वे॑। दे॒वाः। यज॑मानः। च॒। सी॒द॒त॒ ॥५४॥

पदार्थः—(उत्) उत्कृष्टरीत्या (बुध्यस्व) जानीहि (अग्ने) विद्यया सुप्रकाशिते स्त्रि पुरुष वा (प्रति) (जागृहि) अविद्यानिद्रां त्यक्त्वा विद्यया चेत (त्वम्) स्त्री (इष्टापूर्त्ते[1]) इष्टं[2] सुखं विद्वत्सत्करणमीश्वराराधनं सत्संगतिकरणं सत्यविद्यादिदानं च पूर्त्तं पूर्णं बलं ब्रह्मचर्य्यं विद्यालंकरणं पूर्णं यौवनं पूर्णं साधनोपसाधनं च ते (सम्) सम्यक् (सृजेथाम्) निष्पादयेतम्। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् (अयम्) पुरुषः (च) (अस्मिन्) वर्त्तमाने (सधस्थे) सहस्थाने (अधि) उपरि (उत्तरस्मिन्) आगामिनि (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (यजमानः) पुरुषः (च) स्त्री (सीदत) अवस्थिता भवत। [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।२३ व्याख्यातः] ॥५४॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वमुद्बुध्यस्व, सर्वान् प्रति जागृहि, त्वमयं चास्मिन्सधस्थ उत्तरस्मिंश्च सदेष्टापूर्त्ते संसृजेथाम्। विश्वे देवा यजमानश्चैतस्मिन्नधि सीदत ॥५४॥

---

१. इष्टापूर्त्ते=इष्टं सुखम्, इषु इच्छायामित्यस्मात् ॥

२. यज धातोः 'इष्टम्' इति भावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(इष्टापूर्त्ते) समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(सधस्थे) पूर्वं (यजु० ८।१९) व्याख्यातः ॥५४॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

ʃ 'मार्गों को शुद्ध और पवित्र करें' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥

भावार्थः—*यथाऽग्नियजमानौ सुखं पूर्णां सामग्रीं च साध्नुतः, तथा कृतविवाहाः स्त्रीपुरुषा अस्मिन् जगति समाचरन्तु। यदा विवाहाय दृढप्रीती स्त्रिपुरुषौ भवेतां, तदा विदुष आहूयैतेषां सन्निधौ वेदोक्ताः प्रतिज्ञाः कृत्वा पतिः पत्नी च भवेताम् ॥५४॥

फिर वही पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अच्छी विद्या से प्रकाशित स्त्री वा पुरुष ! तू (उद्बुध्यस्व) अच्छे प्रकार ज्ञान को प्राप्त हो सब के प्रति (प्रति जागृहि) अविद्यारूप निद्रा को छोड़ के विद्या से †चेतन हो। (त्वम्) तू स्त्री (च) और (अयम्) यह पुरुष दोनों (अस्मिन्) इस वर्त्तमान (सधस्थे) एक स्थान में और (उत्तरस्मिन्) आगामी समय में सदा (इष्टापूर्त्ते) इष्ट सुख, विद्वानों का सत्कार, ईश्वर का आराधन, अच्छा सङ्ग करना, और सत्य विद्या आदि का दान देना यह इष्ट, और पूर्णबल, ब्रह्मचर्य्य, विद्या की शोभा, पूर्ण युवा अवस्था, साधन और उपसाधन यह सब पूर्त्त इन दोनों को (सं सृजेथाम्) सिद्ध किया करो। (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (च) और (यजमानः) यज्ञ करने वाले पुरुष, तू इस एक स्थान में (अधि सीदत) उन्नतिपूर्वक स्थिर होओ ॥५४॥

भावार्थः—जैसे अग्नि सुगन्धादि के होम से इष्ट सुख देता, और यज्ञकर्त्ता जन यज्ञ की सामग्री पूरी करता है, वैसे उत्तम विवाह किये स्त्रीपुरुष इस जगत् में आचरण किया करें। जब विवाह के लिये दृढ़ प्रीति वाले स्त्रीपुरुष हों, तब विद्वानों को बुला के उन के समीप वेदोक्त प्रतिज्ञा करके पति और पत्नी बनें ॥५४॥

येन वहसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥५५॥

येन॑। वह॑सि। स॒हस्र॑म्। येन॑। अ॒ग्ने॒। स॒र्व॒वे॒द॒समिति॑ सर्वऽवे॒द॒सम्॥ तेन॑। इ॒मम्। य॒ज्ञम्। नः॒। न॒य॒। स्वः॑। दे॒वेषु॑। गन्त॑वे ॥५५॥

पदार्थः—(येन) प्रतिज्ञातेन कर्मणा (वहसि) (सहस्रम्) असंख्यं गृहाश्रमव्यवहारम् (येन) विज्ञानेन (अग्ने) विद्वन् विदुषि वा (सर्ववेदसम्) सर्वैर्वेदैरुक्तं कर्म (तेन)

---

* इतः पूर्वं 'हे स्त्रीपुरुषौ' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम्। तथैव भाषापदार्थेऽपि ॥

† 'चेतन हो सब के लिये' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ॥

(इमम्) गृहाश्रमम् (यज्ञम्) संगन्तव्यम् (नः) अस्मान् (नय) (स्वः) सुखम् (देवेषु) विद्वत्सु (गन्तवे) गन्तुं प्राप्तुम्। [अयं मन्त्रः श० ८।६।१।२० व्याख्यातः] ।।५५।।

अन्वयः—हे अग्ने! त्वं देवेषु स्वर्गन्तवे येन सहस्रं वहसि, येन सर्ववेदसं वहसि, तेनेमं यज्ञं नोऽस्मांश्च* नय ।।५५।।

भावार्थः—विवाहप्रतिज्ञास्वियमपि प्रतिज्ञा कारयितव्या—हे स्त्रीपुरुषौ! युवां यथा स्वहितायाचरतं तथास्माकं मातापित्राचार्य्यातिथीनां सुखायापि सततं वर्त्तयाथामिति ।।५५।।

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष वा विदुषी स्त्री! तू (देवेषु) विद्वानों में (स्वः) सुख को (गन्तवे) प्राप्त होने के लिये (येन) जिस प्रतिज्ञा किये कर्म से (सहस्रम्) गृहाश्रम के असंख्य व्यवहारों को (वहसि) प्राप्त होते हो, तथा (येन) जिस विज्ञान से (सर्ववेदसम्) सब वेदों में कहे कर्म को यथावत् करते हो, (तेन) उससे (इमम्) इस गृहाश्रमरूप (यज्ञम्) संगति के योग्य यज्ञ को [और] (नः) हम को (नय) प्राप्त कीजिये ।।५५।।

भावार्थः—विवाह की प्रतिज्ञाओं में यह भी प्रतिज्ञा करानी चाहिये, कि हे स्त्री-पुरुषो! तुम दोनों जैसे अपने हित के लिये आचरण करो, वैसे हम माता पिता आचार्य्य और अतिथियों के सुख के लिये भी निरन्तर §वर्त्ताव करो ।।५५।।

अयं त इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽ अरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽ आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ।।५६।।

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(वहसि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः। शप्सिपोरनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ।।

(सर्ववेदसम्) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च (उ० ४।२२७) इत्यसिः। स्वरस्तु छान्दसः ।।

(गन्तवे) तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्० (अ० ३।४।९) इति 'तवेन्' प्रत्ययः। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ।।५५।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

* 'अस्मान्नय' इति मुद्रिते पाठः, 'अस्मांश्च नय' इति च कगकोशयोः पाठः, स च युक्तः ।।

§ 'वर्ताव करो' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ।।

अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः ॥ तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अर्थ । नः । वर्धय । रयिम् ॥५६॥

पदार्थः—(अयम्) (ते) तव (योनिः) [1]गृहम् (ऋत्वियः) ऋतुः प्राप्तोऽस्य सः (यतः) यस्य विद्याध्ययनस्याध्यापनस्य च सकाशात् (जातः) जाता च (अरोचथाः) प्रदीप्येथाः (तम्) (जानन्) जानन्ति च (अग्ने) विद्वन् विदुषि च (आ*) समन्तात् (रोह) आरूढ आरूढा वा (अथ) आनन्तर्य्ये । निपातस्य च [अ० ६।३।१३६] इति दीर्घः (नः) अस्माकम् (वर्धय) अन्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घः (रयिम्) संपत्तिम् । [अय मन्त्रः श० ८।६।१।२४ व्याख्यातः] ॥५६॥

अन्वयः—हे अग्ने ! योऽयं ते तव ऋत्वियो योनिरस्ति, यतो जातो जाता त्वं चारोचथाः, तं जानन् जानन्ति चारोहाथ, नो रयिं वर्धय ॥५६॥

भावार्थ—§विवाहे स्त्रीपुरुषाभ्यामियमपि द्वितीया प्रतिज्ञा कारयितव्या—येन ब्रह्मचर्य्येण यया विद्यया च युवां स्त्रीपुरुषौ कृतकृत्यौ भवथस्तत्तां च सदैव प्रचारयतम् । $पुरुषार्थेन धनादिकं च वर्धयित्वैतत् सन्मार्गे वीतम् । इत्येतत् सर्वं हेमन्तस्य ऋतोर्व्याख्यानं समाप्तम् ॥५६॥

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् वा विदुषि ! (अयम्) यह (ते) तेरा (ऋत्वियः) ऋतु अर्थात् समय को प्राप्त हुआ (योनि) घर है, (यतः) जिस विद्या के पठन पाठन से (जातः) प्रसिद्ध हुआ वा हुई तू (अरोचथाः) प्रकाशित हो, (तम्) उस को (जानन्) जानता वा जानती हुई (आ रोह) धर्म पर आरूढ़ हो । (अथ) इसके पश्चात् (नः) हमारी (रयिम्) सम्पत्ति को (वर्धय) बढ़ाया कर ॥५६॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों से विवाह में यह भी दूसरी प्रतिज्ञा करानी चाहिये कि—जिस ब्रह्मचर्य और जिस विद्या के साथ तुम दोनों स्त्रीपुरुष कृतकृत्य होते हो, उस उस को सदैव प्रचारित किया करो । और पुरुषार्थ से धनादि पदार्थ को बढ़ा के उस को अच्छे मार्ग में खर्च किया करो । यह सब हेमन्त ऋतु का व्याख्यान पूरा हुआ ॥५६॥

---

१. 'योनिः' इति गृहनाम । निघ० ३।४ ॥५६॥

---

* '(आ) समन्तात् (रोह) आरुढ आरूढा वा' इति कर्कोशे पाठः । स च लिपिकर-प्रमादाद् भ्रष्टः । भाषार्थे तथैव दर्शनात् ॥

§ 'विवाहे स्त्रीपुरुषाभ्याम्·········कारयितव्या' इति पाठो कगकोशयोर्नास्त्येव । मुद्रणे प्रवर्धितः, इति ध्येयम् । तथैव भाषापदार्थेऽपि ॥

$ 'पुरुषार्थेन धनादिकं वर्द्धयित्वैतत् सन्मार्गे व्येतम्, इति हेमन्त-ऋतोर्व्याख्यानम्' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

तपश्चेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । शिशिरर्त्तुर्देवता । स्वराडुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वर ॥

अथ शिशिरस्य ऋतोर्वर्णनमाह ॥

तप॑श्च तप॒स्य॒श्च शैशि॑रावृतूऽ अ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॑ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ऽ ओष॑धयः॒ कल्प॑न्ताम॒ग्नयः॒ पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः । येऽ अ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वीऽइ॒मे । शैशि॒रावृ॒तूऽ अ॑भि॒कल्प॑माना॒ऽ इन्द्र॑मिव दे॒वाऽ अ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥५७॥

तप॑ः । च॒ । त॒प॒स्यः॑ । च॒ । शैशि॒रौ । ऋ॒तू इत्यृ॒तू । अ॒ग्नेः । अ॒न्तः॒श्ले॒ष इत्य॑न्तःऽश्ले॒षः । अ॒सि॒ । कल्पे॑ताम् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी । कल्प॑न्ताम् । आप॑ः । ओष॑धयः । कल्प॑न्ताम् । अ॒ग्नय॑ः । पृथ॑क् । मम॑ । ज्यैष्ठ्या॑य । सव्र॑ता इति॒ सऽव्र॑ताः ॥ ये । अ॒ग्नय॑ः । सम॑नस॒ इति॒ सऽम॑नसः । अ॒न्त॒रा । द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी । इ॒मे इती॒मे ॥ शैशि॒रौ । ऋ॒तू इत्यृ॒तू । अ॒भि॒कल्प॑माना॒ इत्य॑भि॒ऽकल्प॑मानाः । इन्द्र॑मि॒वेतीन्द्र॑म्ऽइव । दे॒वाः । अ॒भि॒संवि॑श॒न्त्विव्य॑भि॒ऽसंवि॑शन्तु । तया॑ । दे॒वत॑या । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । ध्रु॒वे इति॑ ध्रु॒वे । सी॒द॒त॒म् ॥५७॥

पदार्थः—(तपः) *यस्तापहेतुः स माघो मासः (च) (तपस्यः) †तपो धर्मो विद्यतेऽस्मिन् स फाल्गुनो मासः (च) (शैशिरौ) शिशिरर्त्तौ भवौ (ऋतू) स्वलिङ्गप्रापकौ (अग्नेः) (अन्तःश्लेषः) §मध्यप्रवेशः (असि) (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आपः) (ओषधयः) (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) (सव्रताः) समाननियमाः (ये) (अग्नयः) (समनसः) समानमनोनिमित्ताः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी (इमे) (शैशिरौ) शिशिर[1]ऋतुसंपादकौ (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) संपादयन्तः (इन्द्रमिव) ऐश्वर्य्यमिव (देवाः) विद्वांसः (अभिसंविशन्तु)

---

१. ऋत्यकः (अ० ६।१।१२८) इति प्रकृतिभावः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(तपः) तप संतापे (भ्वा० ८०) । सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तः । मत्वर्थे मासतन्वोः (अ० ४।४।१२८) इति विहितस्य यतो लुगकाररेफाश्च वक्तव्याः (अ० ४।४।१२८ वा०) इति लुक् ॥

(तपस्यः) मत्वर्थे मासतन्वोः (अ० ४।४।१२८) इति 'यत्' । तित्स्वरितम् (अ० ६।१।१८५) इत्यन्तस्वरितत्वम् ॥

---

* 'यस्तपति' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

† 'तपसा निर्वृत्तः' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

§ 'मध्यस्पर्शः (असि) अस्ति' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

(तया) (देवतया) पूज्यतमया व्याप्तया ब्रह्माख्यया सह (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (ध्रुवे) दृढे (सीदतम्) §सीदतः। [अयं मन्त्रः श० ८।७।१।५, ६ व्याख्यातः] ।।५७।।

अन्वयः—∫हे ईश्वर ! मम ज्यैष्ठ्याय तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू सुखकारकौ भवतः। त्वं ययोरग्नेरन्तःश्लेषोऽसि, ताभ्यां द्यावापृथिवी कल्पेताम्, आप ओषधयश्च कल्पन्ताम्, सव्रता अग्नयः पृथक् कल्पन्ताम्। ये समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी अन्तरा शैशिरावृतू अभिकल्पमानाः सन्ति, तानिन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु‡। हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् वर्त्तमानौ ध्रुवे द्यावापृथिवी इव सीदतम् ।।५७।।

‡अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैः प्रत्यृतुसुखमीश्वरादेव याचनीयम्। ईश्वरस्य विद्युदन्तः प्रविष्टत्वात्सर्वे पदार्थाः स्वस्वनियमेन समर्था भवन्ति। विद्वांसः सर्वपदार्थगतविद्युदग्नीनां गुणदोषान् विजानन्तु। स्त्रीपुरुषौ गृहाश्रमे स्थिरमती शैशिरं सुखं भुञ्जाताम् ।।५७।।

अब अगले मन्त्र में शिशिर ऋतु का वर्णन किया है ॥

पदार्थः—§§हे ईश्वर ! (मम) मेरी (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठता के लिये (तपः) ताप बढ़ाने का हेतु माघ महीना (च) और (तपस्यः) तापवाला फाल्गुन मास (च) ये दोनों (शैशिरौ) शिशिर ऋतु में प्रख्यात (ऋतू∫∫) अपने चिह्नों को प्राप्त करने वाले सुखदायी होते हैं। आप जिनके (अग्नेः) अग्नि के भी (अन्तःश्लेषः) मध्य में प्रविष्ट (असि) हैं, उन दोनों से (द्यावापृथिवी) आकाश भूमि (कल्पेताम्) समर्थ हों, (आपः) जल (ओषधयः) ओषधियां (कल्पन्ताम्) समर्थ हों, (सव्रताः) एक प्रकार के नियमों में वर्त्तमान (अग्नयः) विद्युत् आदि अग्नि (पृथक्) अलग अलग (कल्पन्ताम्)

(शैशिरौ) सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् (अ० ४।३।१६) इति शैषिकोऽण्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।।

(शिष्टं प्राग् व्याख्यातम्) ।।५७।।

।। इति व्याकरण-प्रक्रिया ।।

---

§ 'सीदयत' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ।।

∫ 'हे मनुष्या यथा मम······' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ।।

‡ इतोऽग्रे—'तथा युवां तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् वर्त्तमानौ स्त्रीपुरुषौ इमे द्यावापृथिवी सीदतं तथैव युष्मभ्यमपि भवन्तु' इति कगकोशयोः पाठ उपलभ्यते। स च मुद्रणे संशोधितः,' इति ध्येयम् ।।

‡ 'अत्र वाचकलु०······सर्वे स्त्रीपुरुषाः शिशिरमृतुमपि युक्त्या सेवित्वा सुखिनः सन्तु' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ।।

§§ 'हे मनुष्य (मम)······(तपस्यः) तप से सिद्ध हुआ' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ।।

∫∫ '(ऋतू) अपने को प्राप्त करने वाले सुखदायी होते हैं जिन के (अग्नेः) अग्नि के सकाश से (अन्तःश्लेषः) बीच स्पर्श ज्ञान की विशेषता (असि) होती है' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ।।

समर्थ होवें। (ये) जो (*समनसः) एक प्रकार के मन के निमित्तवाले हैं वे (अग्नयः) विद्युत् आदि अग्नि (इमे) इन (द्यावापृथिवी) आकाश भूमि के (अन्तरा) बीच में होने वाले (शैशिरौ) शिशिर ऋतु के साधक (ऋतू) माघ फाल्गुन महीनों को (अभिकल्पमानाः) समर्थ करते हैं, उन अग्नियों को (इन्द्रमिव) ऐश्वर्य के तुल्य (देवाः) विद्वान् लोग (अभिसंविशन्तु‡) ज्ञानपूर्वक प्रवेश करें। हे स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों (तया) उस (देवतया) पूजा के योग्य सर्वत्र व्याप्त जगदीश्वर देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान वर्त्तमान इन आकाश भूमि के तुल्य (ध्रुवे) दृढ़ (सीदतम्) स्थिर होओ ॥५७॥

§इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब ऋतुओं में ईश्वर से ही सुख चाहें। ईश्वर विद्युत् अग्नि के भी बीच व्याप्त है, इस कारण सब पदार्थ अपने अपने नियम से कार्य में समर्थ होते हैं। विद्वान् लोग सब वस्तुओं में व्याप्त बिजुलीरूप अग्नियों के गुण दोष जानें। स्त्रीपुरुष गृहाश्रम में स्थिरबुद्धि होके शिशिर ऋतु के सुख को भोगें ॥५७॥

परमेष्ठीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। विदुषी देवता। भुरिग् ब्राह्मी बृहती छन्दः।
मध्यमः स्वरः॥

स्त्रिया किं कार्यमित्याह॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ।
सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५८॥

परमेष्ठी। परमेस्थीति परमेऽस्थी। त्वा। सादयतु। दिवः। पृष्ठे। ज्योतिष्मतीम्॥ विश्वस्मै। प्राणाय। अपानायेत्यपऽआनाय। व्यानायेति विऽआनाय। विश्वम्। ज्योतिः। यच्छ॥ सूर्यः। ते। अधिपतिरित्यधिऽपतिः। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवा। सीद ॥५८॥

---

* '(समनसः) एक प्रकार का मन निमित्त है, जिन का ऐसे' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः॥

‡ '(अभिसंविशन्तु) सम्मुख प्रवेश करें। वैसे तुम दोनों········प्राण के तुल्य वर्त्तमान स्त्रीपुरुष इन आकाश भूमि के बीच (ध्रुवे) दृढ़ (सीदतम्) स्थिर हो, वैसे तुम्हारे लिये भी हों'। इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः॥

§ 'इस मन्त्र में वाचकलु०······। सब स्त्रीपुरुष शिशिर ऋतु को भी युक्ति से सेवन कर के सुखी हों'। इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम्॥

पदार्थः—(परमेष्ठी) परम आकाशेऽभिव्याप्य स्थितः (त्वा) (सादयतु) स्थापयतु (दिवः) प्रकाशस्य (पृष्ठे) उपरि (ज्योतिष्मतीम्) प्रशस्तानि ज्योतींषि ज्ञानानि विद्यन्तेऽस्यां ताम् (विश्वस्मै) सर्वस्मै (प्राणाय) (अपानाय) (व्यानाय) (विश्वम्) सर्वम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (यच्छ) (सूर्य्यः) सूर्य्य इव वर्त्तमानः (ते) तव (अधिपतिः) स्वामी (तया) *पत्याख्यया (देवतया) दिव्यगुणयुक्तया (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवा) दृढा (सीद) स्थिरा भव। [अयं मन्त्रः श० ८।७।१।२१-२२ व्याख्यातः]।५८।।[1]

अन्वयः—हे स्त्रि! परमेष्ठी ज्योतिष्मतीं त्वा दिवस्पृष्ठे विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय सादयतु। त्वं विश्वं ज्योतिः सर्वाभ्यः स्त्रीभ्यो यच्छ। यस्यास्ते तव सूर्य्य इवाधिपतिरस्ति, तया देवतया सह वर्त्तमानाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ।।५८।।

[2]अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ।

भावार्थः—येन परमेश्वरेण §यः शरदृतू रचितस्तस्योपासनापुरस्सरं तं युक्त्या सेवित्वा स्त्रीपुरुषाः सुखं सदा वर्धयन्तु ।।५८।।

स्त्री को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे स्त्रि! (परमेष्ठी) महान् आकाश में व्याप्त होकर स्थित परमेश्वर (ज्योतिष्मतीम्) प्रशस्तज्ञानयुक्त (त्वा) तुझ को (दिवः) प्रकाश के (पृष्ठे) उत्तम भाग में (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान और (व्यानाय) व्यान आदि की यथार्थ क्रिया होने के लिये (सादयतु) स्थित करे। तू सब स्त्रियों के लिये (विश्वम्) समस्त (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाश को (यच्छ) दिया कर। जिस (ते) तेरा (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी (अधिपतिः) स्वामी है, (तया) उस (देवतया) अच्छे गुणोंवाले पति के साथ वर्त्तमान (अङ्गिरस्वत्) सूय के समान (ध्रुवा) दृढ़ता से (सीद$) स्थिर हो ।।५८।।

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—जिस परमेश्वर ने जो‡ शरद् ऋतु बनाया है, उस की उपासनापूर्वक इस ऋतु को युक्ति से सेवन करके स्त्रीपुरुष सदा सुख बढ़ाया करें।५८।।

---

१. सर्वं प्राग् व्याख्यातम् ।।

२. मन्त्रे 'वति' प्रयोगादुपमा। वाचकलुप्तोपमालङ्कारस्त्वन्वये 'सूर्य इवाधिपतिः' इत्येवं दर्शितः ।।५८।।

---

* 'पत्या' इति तु कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ।।

§ 'यदर्थम्' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधित ।।

$ '(सीद) शुभ गुणों को प्राप्त हो के स्थिर हो' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः ।।

‡ 'जिस लिये शरद् ऋतु' इति कगकोशयोः पाठः, स च मुद्रणे संशोधितः ।।

लोकं पृणेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ।।५९।।

लोकम् । पृण । छिद्रम् । पृण । अथो इत्यथो । सीद । ध्रुवा । त्वम् ।। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । त्वा । बृहस्पतिः । अस्मिन् । योनौ । असीषदन् । असीसदन्नित्यसीसदन् ।।५९।।

पदार्थः—(लोकम्) इमं परं च (पृण) सुखय (छिद्रम्) (पृण) *पिपूर्द्धि (अथो) (सीद) (ध्रुवा) निश्चला (त्वम्) (इन्द्राग्नी) इन्द्रः परमैश्वर्य्यश्चाग्निर्विज्ञाता च तौ (त्वा) त्वाम् (बृहस्पतिः) अध्यापकः (अस्मिन्) (योनौ) गृहाश्रमे (असीषदन्) सादयन्तु । [अयं मन्त्रः श० ८ ७।२।६ व्याख्यातः] ।।५९।।[1]

अन्वयः—हे स्त्रि ! त्वं †लोकं पृण, छिद्रं पृण, ध्रुवा सीद, अथो इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्चास्मिन् योनौ त्वाऽसीषदन् ।।५९।।

भावार्थः—सुदक्षया स्त्रिया गृहकृत्यसाधनानि पूर्णानि कृत्वा कार्य्याणि साधनीयानि । विदुषां विदुषीणां च§ गृहाश्रमकृत्येषु प्रीतिर्यथा स्यात्तथोपदेष्टव्यम् । ५९।।

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे स्त्रि ! (त्वम्) तू इस (लोकम्) लोक तथा परलोक को (पृण) सुखयुक्त कर, (छिद्रम्) अपनी न्यूनता को (पृण) पूरी कर, और (ध्रुवा) निश्चलता से (सीद) घर में बैठ । (अथो) इसके अनन्तर (इन्द्राग्नी) उत्तम धनी ज्ञानी तथा (बृहस्पतिः) अध्यापक (अस्मिन्) इस (योनौ) गृहाश्रम में (त्वा) तुझ को (असीषदन्) स्थापित करें ।।५९।।

भावार्थः—अच्छी चतुर स्त्री को चाहिये कि घर के कार्यों के साधनों को पूरे करके सब कार्यों को सिद्ध करे । जैसे विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुषों की गृहाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों में प्रीति हो, वैसा उपदेश किया करे ।।५९।।

---

१. मन्त्रोऽयं पूर्वं (यजु० १२।५४) व्याख्यातः ।।५९।।

---

* साम्प्रतिकानां मते तु 'पिपूर्हि' इति स्यात् । छन्दोवत् इति कृत्वा तु 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (अ० ६।४।१०२) इति हेर्धित्वम् ।।

† इतः पूर्वं 'इमम्' इति पदं गकोशे सदपि मुद्रणे त्यक्तम्, इति ध्येयम् ।।

§ 'च' इति कगकोशयोर्नास्ति । मुद्रणे परिवर्धितः ।।

ता अस्येत्यस्य प्रियमेधा ऋषिः । आपो देवताः । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

अथ राजप्रजाधर्ममाह ॥

ताऽ अस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः ॥६०॥

ताः । अस्य । सूददोहस इति सूदऽदोहसः । सोमम् । श्रीणन्ति । पृश्नयः ॥ जन्मन् । देवानाम् । विशः । त्रिषु । आ । रोचने । दिवः ॥६०॥

पदार्थः—(ताः) (अस्य) सभाध्यक्षस्य (सूददोहस) सूदाः पाककर्त्तारो दोहसः प्रपूरकाश्च यासु ताः (सोमम्) सोमवल्ल्याद्योषधिरसान्वितं पाकम् (श्रीणन्ति) पचन्ति (पृश्नयः) प्रष्टव्यः (जन्मन्) जन्मनि (देवानाम्) विदुषाम् (विशः) या विशन्ति (त्रिषु) वेदरीत्या कर्मोपासनाज्ञानेषु (आ) (रोचने) प्रकाशने (दिवः) द्योतनात्मकस्य परमात्मनः । [अयं मन्त्रः श० ८।७।३।२१ व्याख्यातः] ॥६०॥[1]

अन्वयः—या विद्यासुशिक्षान्विता देवानां जन्मन् पृश्नयः सूददोहसस्त्रिषु दिवो रोचने च प्रवर्त्तमाना विशः सन्ति, ता अस्य सोममाश्रीणन्ति । ६०॥

भावार्थः—प्रजापतिभिः सर्वाः प्रजाः विद्यासुशिक्षाग्रहणे नियोजनीयाः, प्रजाश्च नियुञ्जन्तु । नह्येतेन विना कर्मोपासनाज्ञानेश्वराणां यथार्थो बोधो भवितुमर्हति ॥६०॥

अब राजा प्रजा का धर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—जो विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त (देवानाम्) विद्वानों के (जन्मन्) जन्म विषय में (पृश्नयः) पूछनेहारी (सूददोहसः) रसोइया और *काय्यों के पूर्ण करने वाले पुरुषों से युक्त (त्रिषु) वेदरीति से कर्म उपासना और ज्ञानों तथा (दिवः) सब के अन्तःप्रकाशक परमात्मा के (रोचने) प्रकाश में वर्त्तमान (विशः) प्रजा हैं, (ताः) वे (अस्य) इस सभाध्यक्ष राजा के (सोमम्) सोमवल्ली आदि ओषधियों के रसों से युक्त भोजनीय पदार्थों को (आ) सब ओर से (श्रीणन्ति) पकाती है ॥६०॥

भावार्थः—प्रजापालक पुरुषों को चाहिये कि सब प्रजाओं को विद्या और अच्छी शिक्षा के ग्रहण में नियुक्त करें, और प्रजा भी स्वयं नियुक्त हों । इस के विना कर्म उपासना ज्ञान और ईश्वर का यथार्थ बोध कभी नहीं हो सकता ॥६०॥

---

१. मन्त्रोऽयं पूर्वं (यजु० १२।५५) व्याख्यातः ॥६०॥

* 'कार्यों को' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥

इन्द्रं विश्वा इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

इन्द्रं॒ विश्वा॑ऽ अवीवृधन्त्समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिरः॑ ।
र॒थीत॑मꣳ र॒थीनां॒ वाजा॑नाꣳ सत्प॑तिं॒ पति॑म् ।।६१।।

इन्द्र॑म् । विश्वाः॑ । अ॒वी॒वृ॒ध॒न् । स॒मु॒द्रव्य॑चस॒मिति॑ स॒मु॒द्रऽव्य॑चसम् । गिरः॑ ।। र॒थीत॑मम् । र॒थित॑म॒मिति॑ र॒थिऽत॑मम् । र॒थीना॑म् । र॒थिना॒मिति॑ र॒थिऽना॑म् । वाजा॑नाम् । सत्प॑ति॒मिति॒ सत्ऽप॑तिम् । पति॑म् ॥६१॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं सभेशम् (विश्वाः) अखिलाः (अवीवृधन्) वर्धयन्तु (समुद्रव्यचसम्) समुद्रस्यान्तरिक्षस्य [इव] व्यचो व्याप्तिर्यस्य तम् (गिरः) विद्यासुशिक्षान्विता वाण्यः (रथीतमम्) अतिशयितो रथी । *अत्र ईद्रथिनः । अ० ८।२।१७ इति वार्त्तिकेन ईकारादेशः (रथीनाम्) शूरवीराणां मध्ये । अत्र अन्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घः (वाजानाम्) विज्ञानवताम् (सत्पतिम्) सतां व्यवहाराणां विदुषां वा पालकम् (पतिम्) स्वामिनम् । [अयं मन्त्रः श० ८।७।३।७ व्याख्यातः] ।।६१।।[1]

अन्वयः—†विश्वा गिरः समुद्रव्यचसं रथीनां §रथीतमं वाजानां सत्पतिं प्रजानां पतिमिन्द्रमवीवृधन्$ ।।६१ ।

भावार्थः—राजप्रजाजना राजधर्मयुक्तमीश्वरमिव वर्त्तमानं न्यायाधीशं सभापतिं सततं प्रोत्साहयन्तु । एवं सभापतिरेतांश्च ।।६१।।

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—(विश्वाः∫) सब (गिरः) विद्या और शिक्षा से युक्त वाणी (समुद्रव्यचसम्) आकाश के तुल्य व्याप्तिवाले (रथीनाम्) शूरवीरों में (रथीतमम्) उत्तम शूरवीर (वाजानाम्) विज्ञानी पुरुषों के (सत्पतिम्) सत्यव्यवहारों और विद्वानों के रक्षक तथा प्रजाओं के (पतिम्) स्वामी (इन्द्रम्) परमसंपत्तियुक्त सभापति राजा को (अवीवृधन) बढ़ावें ।।६१।।

---

१. मन्त्रोऽयं पूर्वं (यजु० १२।५६) व्याख्यातः ।।६१।।

---

* 'अत्र ईद्रथिनः (अ० ८।२।१७) इति वार्त्तिकेन ईकारादेशः' इति पाठः कगकोशयोर्नास्त्येव, स च मुद्रणे परिवर्धितः, इति स्पष्टम् ।।

† इतः पूर्वं 'हे मनुष्या या जगतो' इति पाठः कगकोशयोः सन्नपि मुद्रणे परिशोधितः, इति ध्येयम् ।।

§ 'रथीतमम्' इति पाठः कगकोशयोः सन्नपि अजमेरमुद्रणे प्रमादात् त्यक्तः ।।

$ 'इतोऽग्रे 'ताः प्राप्नुत' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ।।

∫ इतः पूर्वं 'जनता के लोगों की' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ।।

भावार्थः—राज और प्रजा के जन राजधर्म से युक्त ईश्वर के समान वर्त्तमान न्यायाधीश सभापति को निरन्तर उत्साह देवें। ऐसे ही सभापति इन प्रजा और राज के पुरुषों को भी उत्साही करे ॥६१॥

प्रोथदश्व इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थात्।
आदस्य वातोऽ अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥६२॥

प्रोथत्। अश्वः। न। यवसे। अविष्यन्। यदा। महः। संवरणादिति सम्ऽवरणात्। वि। अस्थात् ॥ आत्। अस्य। वातः। अनु। वाति। शोचिः। अध। स्म। ते। व्रजनम्। कृष्णम्। अस्ति ॥६२॥

पदार्थः—(प्रोथत्) [1]पर्याप्नुयात् (अश्वः) वाजी (न) इव (यवसे[2]) बुसाद्याय (अविष्यन्) रक्षणादिकं कुर्वन्[3] (यदा) (महः) महतः (संवरणात्) आच्छादनात् (वि) (अस्थात्) तिष्ठेत् (आत्) (अस्य) (वातः) गन्ता (अनु) (वाति) गच्छति (शोचिः) प्रकाशः (अध) अथ (स्म) एव (ते) तव (व्रजनम्) गमनम् (कृष्णम्) कर्षकम् (अस्ति)। [अयं मन्त्रः श० ८।७।३।१२ व्याख्यातः] ॥६२॥

अन्वयः—हे राजन्! भवान् यवसेऽश्वो न प्रजाः प्रोथत्। यदा महः संवरणादविष्यन् व्यस्थादादस्य ते तव व्रजनं कृष्णं शोचिरस्ति। अध स्मास्य तव वातोऽनुवाति ॥६२॥

---

१. प्रोथृ पर्याप्तौ (भ्वा० आ०) ॥

२. सप्तम्येकवचनमिति तूवटमहीधरौ ॥

३. अत्र लडर्थे लृट् छान्दसः ॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रोथत्) प्रोथृ पर्याप्तौ (भ्वा० आ०)। छान्दसं परस्मैपदत्वम्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(यवसे) यु मिश्रणेऽमिश्रणे च (अदा० प०)। सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुन्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। ततश्चतुर्थ्येकवचने रूपम्। अकारान्तो 'यवस' शब्दस्तु यजु० ७.१० व्याख्यातः। तत एव वा छान्दसो विभक्तिव्यत्ययो बोध्यः ॥

(संवरणात्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः। वरणशब्दो ल्युडन्तो लित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(वि+अस्थात्) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघातप्रतिषेधः। पञ्चमीनिर्देशेऽप्यत्र व्यवहिते कार्यमिष्यते (द्र० काशिका ८।१।६६)। अट्स्वरः ॥

(आत्) निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(स्म) चादयोऽनुदात्ताः (फिट्० ८४)

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः– यथा पालनात्तुरंगाः पुष्टा भूत्वा कार्य्यसिद्धिक्षमा भवन्ति, तथैव न्यायेन संपालिताः प्रजाः सन्तुष्टा भूत्वा राज्यं वर्धयन्ति । ६२॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजन् ! आप (यवसे) भूसा आदि के लिये (अश्वः) घोड़े के (न) समान प्रजाओं को (प्रोषत्) समर्थ कीजिये । (यदा) जब (महः) बड़े (संवरणात्) आच्छादन से (अविष्यन्) रक्षा आदि करते हुये (व्यस्थात्) स्थित होवें, (आत्) पुनः (अस्य) इस (ते) आप का (व्रजनम्) चलने तथा (कृष्णम्) आकर्षण करने वाला (शोचिः) प्रकाश (अस्ति) है । (अध) इस के पश्चात् (स्म) ही आप का (वातः) चलने वाला भृत्य (अनु वाति) पीछे चलता है । ६२॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—जैसे रक्षा करने से घोड़े पुष्ट होकर कार्य्य सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही न्याय से रक्षा की हुई प्रजा सन्तुष्ट होकर राज्य को बढ़ाती हैं ॥६२॥

आयोष्ट्वेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विदुषी देवता । विराट्त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

विदुष्या किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

आयोष्ट्वा सद॑ने सादयाम्यव॑तश्छायायाँ॑ समुद्रस्य हृद॑ये ।
रश्मीवतीं भास्वंतीमा या द्यां भास्या पृ॑थिवीमोर्व॑न्तरि॑क्षम् ॥६३॥

आयोः । त्वा । सद॑ने । सादयामि । अव॑तः । छायायाम् । समुद्रस्य॑ । हृद॑ये ॥ रश्मीवतीम् । रश्मिवतीमिति॑ रश्मिऽवतीम् । भास्वंतीम् । आ । या । द्याम् । भासि॑ । आ । पृथिवीम् । आ । उरु । अन्तरि॑क्षम् ॥६३॥

पदार्थः—(आयोः) *न्यायानुगामिनो दीर्घजीवितस्य (त्वा) त्वाम् (सदने) स्थाने (सादयामि) (अवतः) रक्षणादि कुर्वतः (छायायाम्) आश्रये (समुद्रस्य) (हृदये) मध्ये

इत्यनुदात्तः ॥

(व्रजनम्) वज व्रज गतौ (भ्वा० प०)।
ल्युट च (अ० ३।३।११५) इति 'ल्युट्' ।

नित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥६२॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

* 'न्यायस्य गन्तुः दीर्घजीवितस्य' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे सशोधितः, इति ध्येयम् ॥

(रश्मीवतीम्) प्रशस्तविद्याप्रकाशयुक्ताम् । अत्र अन्येषामपि० [अ० ६।३।१३७] इति दीर्घः (भास्वतीम्) देदीप्यमानाम् (आ) (या) (द्याम्) प्रकाशम् (भासि) दीपयसि (आ) (पृथिवीम्) भूमिम् (आ) (उरु) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् । [अयं मन्त्रः श० ८।७।३।१३ व्याख्यातः] ॥६३॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! या त्वं द्यां पृथिवीमन्तरिक्षमुर्वाभासि, तां रश्मीवतीं भास्वतीं त्वा त्वामायोः सदनेऽवतश्छायायामा सादयामि, समुद्रस्य हृदयेऽहमा सादयमि ॥६३॥

भावार्थः—हे स्त्रि ! सम्यक्पालकस्य पत्युः सदने तदाश्रये समुद्रवदक्षोभां हृद्यां त्वां स्थापयामि । त्वं गृहाश्रमधर्मं प्रकाश्य पत्यादीन् सुखय, त्वां चैते सुखयन्तु ॥६३॥

विदुषी स्त्री को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे स्त्रि ! (या) जो तू (द्याम्) प्रकाश (पृथिवीम्) भूमि और (अन्तरिक्षम्) आकाश को (उरु) बहुत (आ भासि) प्रकाशित करती है, उस (रश्मी-वतीम्) शुद्ध विद्या के प्रकाश से युक्त (भास्वतीम्) शोभा को प्राप्त हुई (त्वा) तुझ को (आयोः) न्यायानुकूल चलने वाले चिरंजीवी पुरुष के (सदने) स्थान में और (अवतः) रक्षा आदि करते हुये के (छायायाम्) आश्रय में (आ सादयामि) अच्छे प्रकार स्थापित, तथा (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (हृदये) बीच (आ) शुद्ध प्रकार से मैं स्थित कराता हूं ॥६३॥

भावार्थः—हे स्त्रि ! अच्छे प्रकार पालनेहारे पति के आश्रयरूप स्थान में समुद्र के तुल्य चञ्चलतारहित †गम्भीरतायुक्त प्यारी तुझ को स्थित करता हूं । तू गृहाश्रम के धर्म का प्रकाश कर पति आदि को सुखी रख, और तुझ को भी पति आदि सुखी रक्खें ॥६३॥

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(आयोः) छन्सीणः (उ० १।२) इत्युण् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्त 'आयु' शब्दः ॥

(अवतः) अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे कृते धातुस्वरः ॥

(छायायाम्) छो छेदने (दि० ५०) । अस्माद् माछाशसिभ्यो यः (उ० ४।१०६) इति 'य.'। प्रत्ययस्वरः। विभक्त्यनुदात्तत्वम् ॥

(भासि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावः । सिपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥६३॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया ॥

---

† 'गम्भीर प्यारी' इति तु कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

परमेष्ठीत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । परमात्मा देवता । आकृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

दम्पतीभ्यां कथं भवितव्यमित्याह ॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृꣳह दिवं मा हिꣳसीः ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
सूर्य्यस्त्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥६४॥

परमेष्ठी परमेस्थीति परमेऽस्थी । त्वा । सादयतु । दिवः । पृष्ठे । व्यचस्वतीम् । प्रथस्वतीम् । दिवम् । यच्छ । दिवम् । दृꣳह । दिवम् । मा । हिꣳसीः ॥ विश्वस्मै । प्राणाय । अपानायेत्यपऽआनाय । व्यानायेति विऽआनाय । उदानायेत्युत्ऽआनाय । प्रतिष्ठायै । प्रतिस्थाया इति प्रतिऽस्थायै । चरित्राय ॥ सूर्य्यः । त्वा । अभि । पातु । मह्या । स्वस्त्या । छर्दिषा । शन्तमेनेति शम्ऽतमेन । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवे । सीदतम् ॥६४॥

पदार्थः—(परमेष्ठी) परमात्मा (त्वा) त्वां सतीं स्त्रियम् (सादयतु) (दिवः) कमनीयस्य गृहस्थव्यवहारस्य (पृष्ठे) आधारे (व्यचस्वतीम्) प्रशस्तविद्याव्यापिकाम् (प्रथस्वतीम्) बहुः प्रथः प्रख्यातिः प्रशंसा विद्यते यस्यां ताम् (दिवम्) न्यायप्रकाशम् (यच्छ) देहि (*दिवम्) विद्यासूर्यम् (दृंह) (दिवम्) धर्मप्रकाशम् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (विश्वस्मै) समग्राय (प्राणाय) जीवनसुखाय (अपानाय) दुःखनिवृत्तये (व्यानाय) विविधविद्याव्याप्तये (उदानाय) उत्कृष्टबलाय (प्रतिष्ठायै) सर्वत्र सत्काराय (चरित्राय) सत्कर्मानुष्ठानाय (सूर्यः) चराचरात्मेश्वरः (त्वा) त्वाम् (अभि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (मह्या) महत्या (स्वस्त्या) सत्क्रियया (छर्दिषा) सत्यासत्यदीप्तेन (शन्तमेन) अतिशयसुखेन (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवे) पुरुषः स्त्री च (सीदतम्)। [अयं मन्त्रः श० ८।७।३।१४-१९ व्याख्यातः] ॥६४॥[1]

अन्वयः—हे स्त्रि ! परमेष्ठी विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय दिवस्पृष्ठे प्रथस्वतीं व्यचस्वतीं यां त्वा त्वां सादयतु, सा त्वं दिवं यच्छ दिवं दृंह दिवं मा हिंसीः । सूर्यो मह्या स्वस्त्या शन्तमेन छर्दिषा त्वाभिपातु । स पतिस्त्वं च तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥६४॥

भावार्थः—परमेश्वर आज्ञापयति—यथा शिशिरर्त्तुः सुखप्रदो भवति, तथा स्त्रीपुरुषौ

---

१. अस्य मन्त्रस्य सर्वाणि पदानि व्याख्यातचराणि ॥६४॥

---

* '(दिवम्) विद्यार्थम्' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ॥

परस्परं संतुष्टौ भूत्वा सर्वाण्युत्तमानि कर्माण्यनुष्ठाय दुष्टानि त्यक्त्वा परमेश्वरोपासनया च सततं प्रमोदेताम् ।।६४।।

स्त्रीपुरुष परस्पर कैसे हों, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।।

पदार्थः—हे स्त्रि ! (परमेष्ठी) परमात्मा (विश्वस्मै) समग्र (प्राणाय) जीवन के सुख (अपानाय) दुःखनिवृत्ति (व्यानाय) नाना विद्याओं की व्याप्ति (उदानाय) उत्तम बल (प्रतिष्ठायै) सर्वत्र सत्कार और (चरित्राय) श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान के लिये (दिवः) कमनीय गृहस्थ व्यवहार के (पृष्ठे) आधार में (प्रथस्वतीम्) बहुत प्रसिद्ध प्रशंसा वाली (व्यचस्वतीम्) प्रशसित विद्या में व्याप्त जिस (त्वा) तुझ को (सादयतु) स्थापित करे, सो तू (दिवम्) न्याय के प्रकाश को (यच्छ) दिया कर, (दिवम्) विद्यारूप सूर्य को (दृंह) दृढ़ कर, (दिवम्) धर्म के प्रकाश को (मा हिंसीः) मत नष्ट कर। (सूर्यः) चराचर जगत् का स्वामी ईश्वर (मह्या) बड़े अच्छे (स्वस्त्या) सत्कार (शन्तमेन) अतिशय सुख और (छर्दिषा) सत्यासत्य के प्रकाश से (त्वा) तुझ को (अभिपातु) सब ओर से रक्षा करे। वह तेरा पति और तू दोनों (तया) उस (देवतया) परमेश्वर देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राण के तुल्य (ध्रुवे) निश्चल (सीदतम्) स्थिर रहो ।।६४।।

भावार्थः—परमेश्वर आज्ञा करता है कि– जैसे शिशिर ऋतु सुखदायी होता है, वैसे स्त्रीपुरुष परस्पर सन्तोषी हों। सब उत्तम कर्मों का अनुष्ठान कर और दुष्ट कर्मों को छोड़ के परमेश्वर की उपासना से निरन्तर आनन्द किया करें ।।६४।।

सहस्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । विद्वान् देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ।।

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ।।६५।।

सहस्रस्य । प्रमेति प्रऽमा । असि । सहस्रस्य । प्रतिमेति प्रतिऽमा । असि । सहस्रस्य । उन्मेत्युत्ऽमा । असि । साहस्रः । असि । सहस्राय । त्वा ।।६५।।

पदार्थः-- (सहस्रस्य) [1]असंख्यपदार्थयुक्तस्य जगतः (प्रमा) प्रमाणं †यथार्थविज्ञानम्

१. 'सहस्रम्' इति बहुनाम । निघ० ३।१।।

† 'यथार्थस्य ज्ञाता ज्ञानी वा' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः, इति ध्येयम् ।।

(असि) (सहस्रस्य) असंख्यपदार्थविशेषस्य (प्रतिमा) §प्रतिमीयन्ते परिमीयन्ते सर्वे पदार्था यया सा (असि) (सहस्रस्य) असंख्यातस्य स्थूलवस्तुनः (उन्मा) ऊर्ध्वं मिनोति यया तुलया तद्वत् (असि) (साहस्रः) सहस्रमसंख्याताः पदार्था विद्या वा विद्यन्ते यस्य सः (असि) (सहस्राय) असंख्यप्रयोजनाय (त्वा) त्वाम्। [अयं मन्त्रः श० ८।७।४।१० व्याख्यातः ॥६५॥

अन्वयः—हे विद्वन् विदुषि वा! यतस्त्वं सहस्रस्य प्रमेवासि, सहस्रस्य प्रतिमेवासि, सहस्रस्योन्मेवासि, साहस्रोऽसि, तस्मात् सहस्राय त्वा त्वां परमेष्ठी सत्ये व्यवहारे सादयतु ॥६५

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—पूर्वमन्त्रात् परमेष्ठी$सादयत्विति पदद्वयमनुवर्त्तते। मनुष्याणां त्रिभिः साधनैर्व्यवहाराः सिध्यन्ति—एकं प्रमा यथार्थविज्ञानम्, द्वितीया प्रतिमा ∫यानि परिमाणसाधनानि पदार्थतोलनार्थानि, तृतीयमुन्मा तुलादिकं चेति ॥६५॥

इति शिशिरर्त्तोर्वर्णनम्। अत्रर्त्तुविद्याप्रतिपादनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
पञ्चदशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१५॥

*फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष वा विदुषी स्त्रि! जिस कारण तू (सहस्रस्य) असंख्यात पदार्थों से युक्त जगत् के (प्रमा) प्रमाण ‡यथार्थ ज्ञान के तुल्य (असि) है, (सहस्रस्य) असंख्य विशेष पदार्थों के (प्रतिमा) तोलन साधन के तुल्य (असि) है, (सहस्रस्य) असंख्य

अथ व्याकरण-प्रक्रिया

(प्रमा-प्रतिमा-उन्मा) क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति 'क्विप्'। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(साहस्रः) अण् च (अ० ५।२।१०३) इत्यण् मत्वर्थे। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥६५॥

॥ इति व्याकरण-प्रक्रिया॥

---

§ 'प्रतिमीय परिमीय सर्वे पदार्थाः' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः॥

$ 'सादयतु' इति पाठः कगकोशयोः अजमेरमुद्रिते च प्रथमसंस्करणेऽस्ति। तृतीयसंस्करणे प्रमादेन भ्रष्टः॥

∫ 'यानि रक्तकादीनि' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः॥

* 'फिर मनुष्य क्या करें' इति ककोशे पाठः। स च गकोशे संशोधितः॥

‡ 'यथार्थ ज्ञाता वा ज्ञानी' इति कगकोशयोः पाठः। स च मुद्रणे संशोधितः॥

स्थूल वस्तुओं के (उन्मा) तोलने की तुला* के समान (असि) है, (साहस्रः) असंख्य पदार्थ और विद्याओं से युक्त (असि) है, इस कारण (सहस्राय) असंख्यात प्रयोजनों के लिये (§त्वा) तुझ को परमात्मा व्यवहार में स्थित करे ॥६५॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—यहां पूर्वमन्त्र से 'परमेष्ठी, सादयतु' इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। तीन साधनों से मनुष्यों के व्यवहार सिद्ध होते हैं—एक तो यथार्थविज्ञान; दूसरा पदार्थ तोलने के लिये तोल के साधन बाट; और तीसरा तराजू आदि । यह शिशिर ऋतु का वर्णन पूरा हुआ ॥६५॥

इस अध्याय में ऋतुविद्या का प्रतिपादन होने से इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ सङ्गति जाननी चाहिये ॥

§इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभू-
षिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
पञ्चदशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१५॥

※ इति पञ्चदशोऽध्यायः ※

---

* 'तराजू के समान विज्ञानयुक्त (असि)' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥

§ '(त्वा) तुझ को (परमेष्ठी) परमात्मा (सादयतु) सत्यकार्यों में स्थित करे' इति कगकोशयोः पाठः । स च मुद्रणे संशोधितः ॥

§ 'इति श्रीमद्······सम्पूर्णः' इति पाठः कगकोशयोः संस्कृतभावार्थान्ते आसीत्, मुद्रणेऽत्रानीत इति ध्येयम् ॥
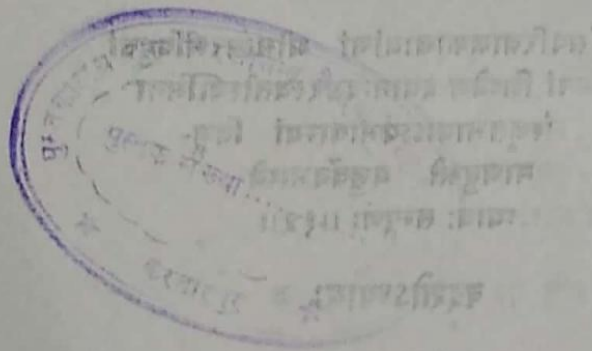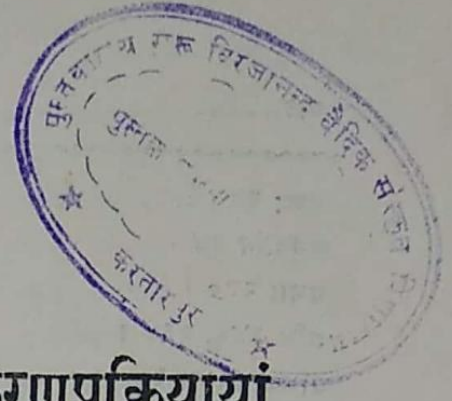
यजुर्वेदभाष्यविवरणान्तर्गतायां व्याकरणप्रक्रियायां व्याख्यातानां पदानामनुक्रमणिका

श

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद-विषयक-ग्रन्थ

१. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग)**—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा वेदविषयक विविध टिप्पणियों से युक्त। सुन्दर मुद्रण, सुदृढ़ जिल्द। मू० १६-००

यजुर्वेदभाष्य-विवरण (द्वितीय भाग) मूल्य १५-००

२. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती। पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संपादित, मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मू० १२-००

भूमिका पर किए गए आक्षेपों के उत्तर के लिए परिशिष्ट १-५०

३. **माध्यन्दिनपदपाठः**—सं० युधिष्ठिर मीमांसक। तीन अवान्तर पाठ, विस्तृत उपोद्‌घात एवं ५ परिशिष्ट सहित। मूल्य १५-००

४. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक-स्वर-विषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मू० ४-००

५. **वैदिक छन्दोमीमांसा**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। वैदिक छन्दः सम्बन्धी विवेचनात्मक सर्वोत्तम ग्रन्थ। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। ४-५०

६. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**— ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। ०-५०

७. **वेद में आर्य-दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्यमत का खण्डन**— ले० पं० रामगोपाल शास्त्री वैद्य। मूल्य ०-७५

८. **वेद में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य सजिल्द ३-०० अजिल्द १-५०,

कर्मकाण्ड-सम्बन्धी ग्रन्थ

९. **संस्कारविधि**—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अजमेर-मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित; टिप्पणियों से युक्त। मू० १-७५, सजिल्द २-२५

१०. **संस्कार-समुच्चय**—लेखक पं० मदनमोहन विद्यासागर। संस्कारविधि की व्याख्या तथा परिशिष्ट में अनेक समयोपयोगी कर्मों का संग्रह। सजिल्द मूल्य १२-००

११. **वैदिक नित्यकर्म विधि**—ले० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रातः से शयन पर्यन्त समस्त नैत्यिक कर्म, पञ्चमहायज्ञ, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, और बृहद्‌यज्ञ के मन्त्रों के विस्तृत सरल शब्दार्थ भावार्थ सहित, प्रार्थना के मन्त्र, पद्य एवं भजनों से युक्त। मूल्य लागतमात्र १-२५

१२. **पंचमहायज्ञविधि**—ले० ऋषि दयानन्द सरस्वती। मू० ०-३५

१३. **हवनमन्त्र**—ले० ऋषि दयानन्द सरस्वती। मूल्य ०-१०

१४. **सन्ध्योपासनविधि**— ,, भाषार्थ सहित मू० ०-१५

१५. **सन्ध्योपासनविधि**—दैनिक हवन-मन्त्र सहित। मू० ०-२०

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ

१६. **निरुक्त-शास्त्र**—पं० भगवद्दत्त कृत नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दीभाष्य सहित। मू० १५-००

१७. **निरुक्तसमुच्चयः**—आचार्य वररुचिकृत नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक मू० ५-००

१८. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा परिशोधित संस्करण। मूल्य ०-७५

१९. **धातुपाठः**—अकारादि क्रम से धातु सूची सहित। मू० १-००

२०. **संस्कृत-धातुकोषः**—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। अकारादि क्रम से पाणिनीय अर्थ सहित धातुओं के हिन्दी में विविध अर्थ, तथा उपसर्ग योग से प्रयुज्यमान विविध अर्थ सहित। मू० ३-००

२१. **अष्टाध्यायी भाष्य**—(प्रथमावृत्ति) ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति समास अनुवृत्ति, वृत्ति उदाहरण, उदाहरण-सिद्धि सहित संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में। **प्रथम भाग**—१२-००, **द्वितीय भाग**—१०-००, तृतीय भाग—१०-००।

२२. **संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। इस ग्रन्थ के द्वारा बिना रटे संस्कृत भाषा और पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है। प्रथम भाग ३-५०

द्वितीय भाग—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग के निर्देशों के अनुसार। मू० ५-५०

२३. **लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि**—ले० राजा गोविन्दलाल बंसीलाल। मूल्य १-५०

२४. **शब्दरूपावली**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ के द्वारा शब्दों के रूप बिना रटे समझ पूर्वक बड़ी सुगमता से स्मरण हो जाते हैं। ०-७५

अध्यात्मविषयक ग्रन्थ

२५. **अनासक्ति-योग—मोक्ष की पगदण्डी**—ले० पं० जगन्नाथ पथिक। नाम के अनुरूप योगविषयक अत्युत्तम ग्रन्थ। मूल्य १०-००

२६. आर्याभिविनय—लेखक ऋषि दयानन्द सरस्वती। दुरंगी छपाई गुटका आकार। मू० सजिल्द १-००

२७. वैदिक ईश्वरोपासना—पातञ्जल योगदर्शन के अत्युपयोगी सूत्रों की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या। आर्ट पेपर पर सुन्दर दुरङ्गी छपाई, मुख पृष्ठ पर आकर्षक ऋषि-चित्र। मू० ०-३०

२८. अगम्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन—ले० चंचल बहिन पाठक। मूल्य २-००

इतिहास व नीतिविषयक ग्रन्थ

२६. वाल्मीकि-रामायण—हिन्दी-अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द झरिया। बालकाण्ड मू० २-५०। अयोध्याकाण्ड मू० ३-५०। अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मू० ४-५०। सुन्दरकाण्ड मू० २-७५। युद्धकाण्ड छप रहा है।

३०. विदुरनीति—नीतिविषयक प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ पदार्थ तथा विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ४०० पृष्ठ, सुन्दर छपाई। प्रचारार्थ अल्प मूल्य। मू० ४-५०

३१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। मू० भाग १, १५-००, भाग २, अप्राप्य

३२. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित। मू० ०-५०

३३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन परिशिष्ट सहित—सं० पं० भगवद्दत्त। मू० ७-७५

३४. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन—ले० प्रो० भवानीलाल भारतीय एम० ए०, पी-एच० डी०। मू० सजिल्द ६-०० मात्र

३५. पूना-प्रवचन (उपदेश-मञ्जरी)—ऋषि दयानन्द सरस्वती के १५ व्याख्यान। मू० २-५०

३६. दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह—सं० भवानीलाल भारतीय एम० ए० पीएच०, डी०। मू० ३-००

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा)

रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स

गुरु बाजार अमृतसर।] [नई सड़क, देहली।

बारी मार्केट सदर बाजार, देहली।] [बिरहाना रोड़, कानपुर।

[५१ सुतारचाल, बम्बई।]